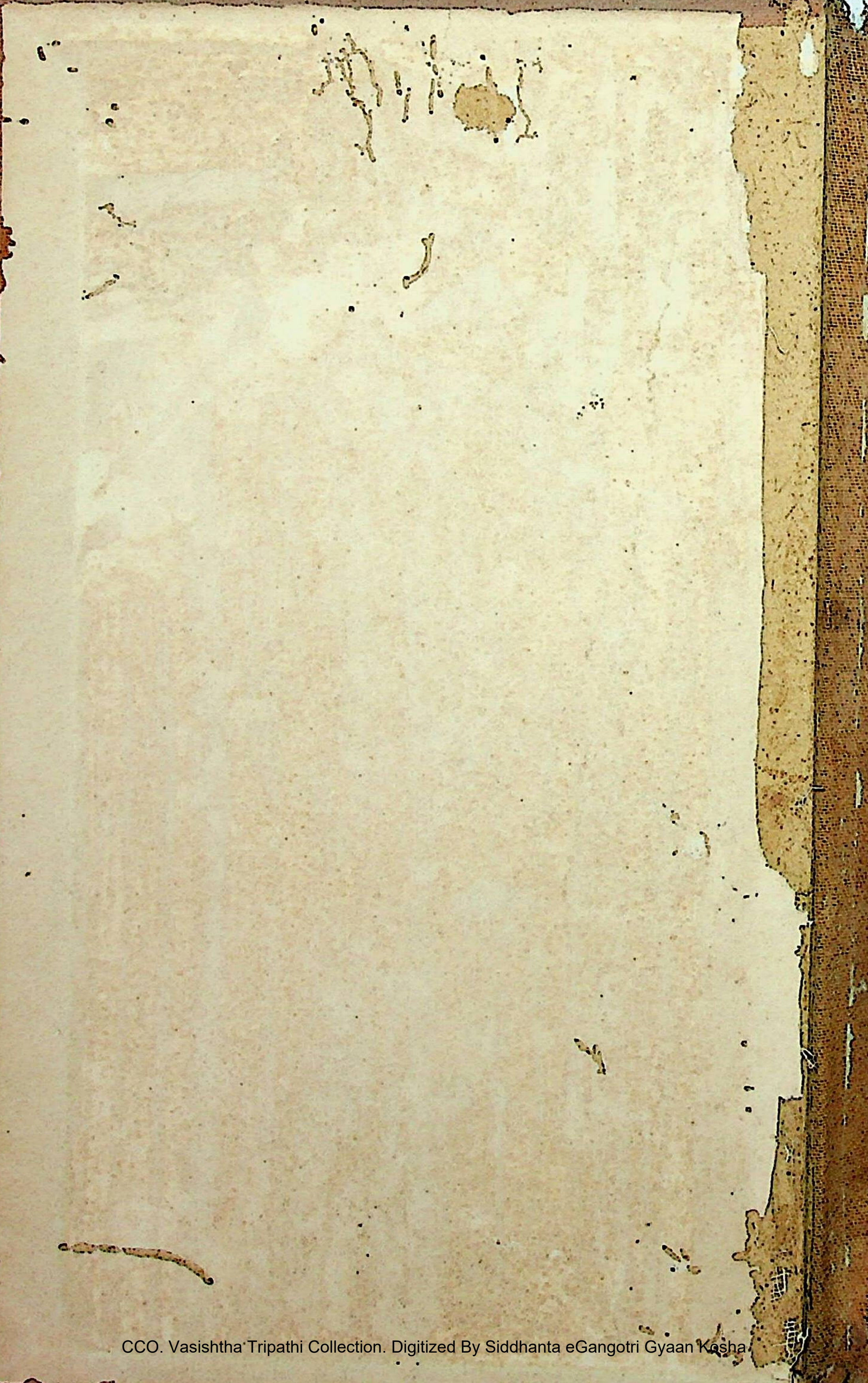
संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास

पी० वी० काणे

मोतीलाल बनारसीदास
दिल्ली :: पटना :: वाराणसी



संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास

महामहोपाध्याय
पी० वी० काणे
एम.ए., एल.एल.एम., डी. लिट् (इलाहाबाद व पूना)
नेशनल प्रोफेसर आफ इंडोलोजी; फेलो, बॉम्बे एसियाटिक सोसायटी तथा लंदन स्कूल आफ ओरिएंटल एंड एफ्रीकन स्टडीज।

अनुवादक
डॉ० इंद्रचंद्र शास्त्री
एम.ए., पी-एच.डी.,
शास्त्राचार्य, वेदांतवारिधि, न्यायतीर्थ भू. पू. अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, इंस्टीट्यूट आफ पोस्ट ग्रेज्युएट स्टडी, दिल्ली विश्वविद्यालय।

प्रकाशक
मोतीलाल बनारसीदास
दिल्ली :: पटना :: वाराणसी

बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-7
नैपाली खपरा, वाराणसी, (उ० प्र०)
बांकीपुर, पटना (बिहार)

प्रथम संस्करण 1966

मूल्य 15-00

श्री सुन्दरलाल जैन, मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, जवाहरनगर, दिल्ली-7 द्वारा प्रकाशित तथा श्री शांतिलाल जैन, श्री जैनेन्द्र प्रेस, बंगलो रोड, जवाहरनगर, दिल्ली-7 द्वारा मुद्रित।

प्राक्कथन

इस ग्रंथ का अंतिम संस्करण १९५१ में प्रकाशित हुआ था। सब प्रतियाँ बिक जाने के कारण नवीन संस्करण की माँग बढ़ गई। मैं अपनी 'धर्मशास्त्र का इतिहास' नामक पुस्तक के पंचम भाग के लेखन एवं संपादन में व्यस्त था, अतः कई मास तक प्रस्तुत पुस्तक के पुनर्निरीक्षण का समय नहीं मिला। पिछले नौ वर्षों में इस विषय पर बहुत-कुछ लिखा गया। मैंने यथासंभव उसका अध्ययन किया और प्रस्तुत संस्करण में संशोधन एवं परिवर्द्धन कर दिए। फिर भी मेरा यह दावा नहीं है कि गत नौ वर्षों में इस विषय पर जितना साहित्य प्रकाशित हुआ, मैंने सारा पढ़ लिया। किन्तु आशा करता हूँ, महत्त्वपूर्ण सामग्री नहीं छूटी।

जिन व्यक्तियों ने इस कार्य में सहायता की है, पिछले संस्करण में उनके आभार प्रदर्शन कर चुका हूँ। डा. राघवन् ने बहुत-से नए सुझाव दिए और अधिकतर प्रस्तुत संस्करण में सम्मिलित कर लिए गए। इस संस्करण में भी उनके प्रति आभार प्रदर्शन करना मैं अपना कर्तव्य मानता हूँ। मुझे इस बात का संतोष है कि काव्य-शास्त्र का यह इतिहास जो ५० वर्ष पहले लिखा था, अब भी छात्रप्रिय बना हुआ है।

—पी. वी. काणे

संकेत-सूची

अग्नि. अथवा अग्निपु—अग्निपुराण (आनंदाश्रम संस्करण)
अ. भा.—अभिनव भारती (गायकवाड़ ओरिएंटल सिरीज)
अभिधा. अथवा अ. भा.—अभिधावृत्तिमातृका (निर्णयसागर प्रेस)
अलं. स. अथवा अल. स.—अलंकारसर्वस्व (काव्यमाला संस्करण)
आ. गृ.—आश्वलायनगृह्यसूत्र
आप. ध. सू.—आपस्तंब धर्मसूत्र
आ. सं—आनंदाश्रम संस्करण
इं. ओ. के.—इंडिया आफिस केटलोग आफ संस्कृत मेन्युस्क्रिप्ट्स (एगलिंग द्वारा संपादित)
इं. एंटी.—इंडियन एंटीक्वेरी
इं. हि. क्वा.—इंडियन हिस्टोरिकल क्वाटरली
ए. इं.—एपिग्राफिक इंडिका
ए. एस. डब्ल्यू. आई.—आर्क्योलोजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इंडिया
कल. ओ. ज.—कलकत्ता ओरिएंटल जर्नल
काव्या.—दंडीविरचित काव्यादर्श
काव्यप्र.—काव्यप्रकाश (सं. वामनाचार्य)
काव्यमी.—राजशेखरविरचित काव्यमीमांसा (गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज)
काव्या. सू.—वामनविरचित काव्यालंकारसूत्र
कुव.—अप्पय्यदीक्षितविरचित कुवलयानंद
के. के.—केटलोगस केटलोग्रम
के. सी. वंवई—काव्यमाला सिरीज, वंवई
गाथा०—हालविरचित गाथासप्तशती (निर्णयसागर संस्करण)
गा. ओ. सी.—गायकवाड़ ओरिएंटल सिरीज
गोडे.—गोडे लिखित 'स्टडीज इन लिटरेरी हिस्ट्री', भाग १-३
चि. मि.—अप्पय्यदीक्षितविरचित चित्रमीमांसा
छा. उ.—छांदोग्योपनिषद्
ज. आ. हि. रि. सो.—जर्नल आफ आंध्र हिस्टोरिकल रिसर्च सोसायटी
ज. इ. हि.—जर्नल आफ इंडियन हिस्ट्री
ज. ए. सो. बं.—जर्नल, एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल

ज. ओ. रि.—जर्नल आफ ओरिएंटल रिसर्च
ज. रा. ए. सो. बंबई—जर्नल, बंबई ब्रांच रायल एशियाटिक सोसायटी
ज. रा. ए. सो. ब्रिटेन—जर्नल आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, ब्रिटेन
जे. डे. सो. गे.—जेतश्रिफ्ट डेटशेन मोरगेन्लेंडिशेन गेशलेशाफ्ट
त्रि. सं. सी.—त्रिवेंद्र संस्कृत सिरीज
ध्व. अथवा ध्वन्या.—ध्वन्यालोक (१९३५ का निर्णयसागर संस्करण)
नवसा.—नवसाहसाङ्कचरित
नाट्य.—भरतविरचित नाट्यशास्त्र (चौखंबा संस्करण)
ना. ल. र. को.—नाटकलक्षणरत्नकोश
निर्ण.—निर्णयसागर प्रेस, बंबई
न्यू. इं. एं.—न्यू इंडियन एंटीक्वेरी
प. ल. मं.—नागेशभट्ट कृत परमलघुमंजूषा
पा.—पाणिनीय अष्टाध्यायी
पू. ओ.—पूना ओरिएंटलिस्ट
बं. सं. सी.—बोंबे संस्कृत सिरीज
बालरा.—राजशेखर विरचित बालरामायण
बी. इं.—बिब्लियोथेका इंडिका सिरीज
बृह. उ. भा. वा.—सुरेश्वर कृत बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिक
भा. ओ. रि. इं.—भांडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट
भा. प्र. अथवा भावप्र.—भावप्रकाशन
या अथवा याज्ञ.—याज्ञवल्क्यस्मृति
रसग. अथवा रसगं—जगन्नाथविरचित रसगंगाधर (निर्णयसागर संस्करण)
रघु.—कालिदासविरचित रघुवंश
राज. अथवा राजत. अथवा राजतर.—राजतरंगिणी
रु.—रुद्रटकृत काव्यालंकार
वक्रोक्ति.—वक्रोक्तिजीवित
वि., विम. अथवा विमर्शिनी.—जयरथविरचित अलंकारसर्वस्वविमर्शिनी (काव्यमाला संस्करण)
वि. ओ. ज.—वियना ओरिएंटल जर्नल
विद्ध.—राजशेखर विरचित विद्धशालभंजिका
विष्णु पु.—विष्णुपुराण
शार्ङ्ग.—पीटर्सन द्वारा संपादित शार्ङ्गधरपद्धति

सं. र.—संगीतरत्नाकर
सर. क.—सरस्वतीकंठाभरण (निर्णयसागरीय)
सा. द.—साहित्यदर्पण
सा. मी.—साहित्यमीमांसा (त्रिवेंद्रम संस्कृत सिरीज)
सि. कौ.—भट्टोजिविरचित सिद्धांतकौमुदी
सुभा.—वल्लभदेवविरचित सुभाषितवल्ली
सूक्तिमु.—जल्हणकृत सूक्तिमुक्तावली (सं. पीटर्सन)
स्मृति च.—देवणभट्टविरचित स्मृतिचंद्रिका
से. बु. ई.—मेक्समूलर द्वारा संपादित 'सेक्रड बुक्स आफ द ईस्ट'
हर्ष.—बाण विरचित हर्षचरित
हि. ड्रा.—कीथ लिखित 'हिस्ट्री आफ संस्कृत ड्रामा'
हि. ध.—'हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र'
हि. सं. लि.—हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर
हि. सं. पो.—डे लिखित 'हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स'

विषय-सूची

प्रथम भाग

अध्याय | पृष्ठ

द्वितीय भाग

अलङ्कार-साहित्य का इतिहास

अलंकार-साहित्य का प्रस्तुत इतिहास दो भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में अलंकार-शास्त्र के प्रमुख ग्रंथों का वर्णन, विषयों का संक्षिप्त विवरण तथा विश्लेषण, अलंकार-शास्त्र पर लिखनेवालों का रचनाकाल तथा इसी प्रकार की अन्य सामग्री दी गई है। दूसरे भाग में अलंकार-शास्त्र से सम्बद्ध विषयों की विवेचना रहेगी और शास्त्र के क्रमिक विकास का सिंहावलोकन किया जायेगा कि किस प्रकार नगण्य प्रारम्भ से विकसित होकर काव्यशास्त्र तथा आलोचना के अनेक सिद्धान्त अस्तित्व में आये। इसी भाग में काव्यशास्त्र के सुविकसित सिद्धान्तों का विभिन्न पहलुओं से विचार होगा और साहित्य-विषयक भारतीय सिद्धान्तों का संक्षिप्त इतिहास रहेगा।

भाग १

१. संस्कृत-साहित्य की अन्य शाखाओं के समान अलङ्कार-शास्त्र में भी अनेक ऐसे लेखक हैं जिनकी कृतियाँ हम तक नहीं पहुँचीं और वे लेखक हमारे लिए नाममात्र हैं। राजशेखर की काव्यमीमांसा (पृ० १) में बताया गया है कि किस प्रकार ब्रह्मा ने शिव को अलङ्कार-शास्त्र का ज्ञान कराया और शिव ने दूसरों को इसकी शिक्षा दी, किस प्रकार यह १८ अधिकरणों में विभक्त हुआ और किस प्रकार प्रत्येक अधिकरण की शिक्षा भिन्न-भिन्न आचार्यों ने दी— "तत्र कविरहस्यं सहस्राक्षः समाम्नासीत्, औक्तिकमुक्तिगर्भः, रीतिनिर्णयं सुवर्णनाभः, आनुप्रासिकं प्रचेतायनः, यमकानि चित्रं चित्राङ्गदः, शब्दश्लेषं शेषः, वास्तवं पुलस्त्यः, औपम्यमोपकायनः, अतिशयं पाराशरः, अर्थश्लेषमुतथ्यः, उभयालङ्कारिकं कुबेरः, वैनोदिकं कामदेवः, रूपकनिरूपणीयं भरतः, रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः, दोषाधिकारिकं धिषणः, गुणौपादानादिकमुपमन्युः, औपनिषदिकं कुचुमारः, इति"। यह नहीं कहा जा सकता कि उपरोक्त सूची वास्तविक है या इसके अधिकांश लेखक कल्पित हैं। कामसूत्र (I. 1.13 और 17) में सुवर्णनाभ और कुचुमार को क्रमशः कामशास्त्र के सांप्रयोगिक और औपनिषदिक खण्डों का आचार्य बताया गया है, और भरत का नाट्यशास्त्र अभी तक उपलब्ध है। कामसूत्र में सुवर्णनाभ का बार-बार उल्लेख मिलता है (दे० I. 5.23, II. 2.23, II. 5.34, II. 8.7) आदि।

काव्यमीमांसा के उपरोक्त उद्धरण में नन्दिकेश्वर को रसों का प्रतिष्ठाता बताया गया है, और यह सम्भव भी है। काव्यमाला में प्रकाशित नाट्यशास्त्र के अन्तिम अध्याय की समाप्ति निम्नलिखित शब्दों के साथ होती है—"नन्दि-भरतसंगीतपुस्तकम्"। अभिनवभारती (गायकवाड़ संस्करण), द्वितीय खण्ड, भूमिका के पृष्ठ १० पर सम्पादक ने अभिनवगुप्त प्रणीत टीका, अध्याय २९, में से यह उद्धरण दिया है—"यत्कीर्तिधरेण नन्दिकेश्वरमतमत्रागमित्वेन दर्शितं तदस्माभिः साक्षान्न दृष्टं तत्प्रत्ययात्त लिख्यते संक्षेपतः ......एवं नन्दिकेश्वर... मतानुसारेणायं चित्रपूर्वरङ्गविधिरिति निबद्धः"। अभिनवगुप्त कहते हैं कि उन्हें नन्दिकेश्वर की कृति नहीं मिली तथापि वह कीर्तिधर की साक्षी पर भरोसा करके नन्दिकेश्वर के आशय का संक्षेप में वर्णन करेंगे। अभिनवगुप्त को नन्दिमत ज्ञात था और उन्होंने नन्दिमत से रेचित नामक अङ्गहार पर एक पद्य उद्धृत किया है (दे० गायकवाड़ संस्करण, खण्ड I, पृष्ठ १७१)। शारदातनय के भावप्रकाशन (अध्याय ३) में उल्लेख है कि नन्दिकेश्वर ने भरत को नाट्य की शिक्षा दी और आदेश दिया कि वह इसे भरतों (अभिनेताओं) को सिखाये। प्राध्यापक मनमोहन घोष ने ३२४ पद्यों के एक ग्रन्थ का सम्पादन किया है जो कलकत्ता संस्कृत ग्रन्थमाला (१९३४) में प्रकाशित हुआ है। उसका नाम है अभिनवदर्पण। सम्पादक ने उसका रचयिता नन्दिकेश्वर को बताया है। प्राध्यापक महोदय ने ग्रन्थ का अंग्रेजी अनुवाद भी किया है तथा विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना लिखी है। ग्रन्थ का प्रथम पद्य है—"आङ्गिकं भुवनं यस्य, वाचिकं सर्ववाङ्मयम् आहार्यं चन्द्रतारादि, तं नुमः सात्विकं शिवम्।"[1] इस ग्रन्थ में एक कथा द्वारा यह बताया गया है कि ब्रह्मा ने भरत को नाट्यशास्त्र का उपदेश दिया। अनेक स्थलों पर (जैसे पद्य १२, १२८, १४९, १५९, १६२ आदि में) भरत मुनि तथा उनके सिद्धान्तों का उल्लेख भी है। यह ग्रन्थ कई बातों में नाट्यशास्त्र से भिन्न है। प्रस्तुत पुस्तक में आए हुए उल्लेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इसकी रचना नाट्यशास्त्र के पश्चात् हुई है। भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट में सुरक्षित राजकीय हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची खण्ड XII, पृ० ४६०–४६३ पर भरतार्णव नामक ग्रन्थ का उल्लेख है। इस कृति में अभिनय और ताल का प्रतिपादन है। प्रतीत होता है कि किसी सुमति नामक विद्वान् ने नन्दिकेश्वर का सारांश लेकर इसकी रचना की थी। कश्यप मुनि को भरत का पूर्ववर्ती माना गया है और अभिनवगुप्त ने रागों पर कश्यप का

1. यही पद्य सङ्गीतरत्नाकर (VII. 1) में भी उपलब्ध है।

मत उद्धृत किया है (अभिनवभारती, गायकवाड़ संस्करण, द्वितीय खण्ड, भूमिका की प्रस्तावना, पृष्ठ X)। सङ्गीतरत्नाकर (II. २.३१) की टीका में कल्लिनाथ ने कश्यप के पद्य उद्धृत किए हैं। अग्निपुराण (३३६.२२) में कश्यप का छन्दकार के रूप में उल्लेख है (दे० डॉ० डे लिखित 'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स, खण्ड I, पृष्ठ २, टिप्पण २)। भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट में अभिनवभारती की हस्तलिखित प्रति (१९२४–२८ की हस्तलिखित प्रति न० ४१) के पृष्ठ ३८४–३९१ पर कश्यप मुनि के ७५ पद्य उद्धृत हैं।[1] भावप्रकाशन (I. पृ० २) में नाट्य के अनेक प्रतिपादकों का उल्लेख है, जैसे—सदाशिव, गौरी, वासुकी, नारद, अगस्त्य, व्यास, आञ्जनेय। इसमें भरत के शिष्यों का भी उल्लेख है। सङ्गीतरत्नाकर (I. 15–19) में अनेक देवताओं, मुनियों तथा विद्वानों का इस विषय के लेखक के रूप में उल्लेख है, जैसे—सदाशिव, ब्रह्मा, भरत, कश्यप, मतङ्ग, कोहल, नारद, तुम्बर, आञ्जनेय नन्दिकेश्वर। नान्यदेव ने भरतभाष्य या सरस्वतीहृदयालङ्कारहार नामक ग्रन्थ लिखा। यह कृति भरत-नाट्यशास्त्र के संगीत-विषयक अध्याय २८–३३ की पद्यबद्ध टीका है। इसमें मतंग, विशाखिल, काश्यप तथा वृद्धकाश्यप, नन्दिन् तथा दन्तिल को प्राचीन आचार्य बताया गया है। नान्यदेव को मिथिला का राजा (१०९७–११३३) बताया गया है। आगे चलकर हमने इस कृति की हस्त-लिखित प्रति पर विचार किया है (भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट में राजकीय हस्तलिखित ग्रन्थ सूची, खण्ड XII, पृष्ठ ३७७–३८३, ग्रन्थ संख्या १११, वर्ष १८६९–७०; तथा जर्नल ऑफ हिस्टोरिकल रिसर्च सोसाइटी, खण्ड I, पृष्ठ ५६–६३ में प्रकाशित इसी विषय पर श्री रामकृष्ण कवि का लेख)। काव्य-मीमांसा के उपरोक्त अंश में सम्भवतः पराशर शब्द से अभिप्राय बादरायण से है जिसे नाट्यशास्त्र I, 32 में भरतपुत्र कहा गया है (नाट्यशास्त्र के चौखम्बा संस्करण में पाठ है 'बादरायणि'; नान्दी तथा तोटक पर जिसके विचार सागरनन्दिन् ने उद्धृत किए हैं—(दे० नाटक-लक्षणरत्नकोष II. १०९१, २७७०, ३२०२–३ में)। काव्यादर्श की टीका हृदयङ्गमा से पता

1. 'अत्र टीकाकारः शङ्कते योऽयं जात्यंशकानां विनियोग उक्तः स कश्यप-मुनिमतादिभिर्विरुध्यते।.........अत्राहुः। काश्यपाद्यैस्तावन्मालव-कैशिकानां तत्तच्चित्तवृत्त्या जीवनौचित्यं दृष्ट्वा विनियोग उक्तः।' देखिए अभिनवभारती में पृष्ठ ३८४ पर अध्याय २९ की टीका। इसके बाद ७५ पद्य आते हैं जिनमें से आधा पद्य इस प्रकार है—"इत्येष कश्यपाद्युक्तो, विनियोगो निरूपितः।"

चलता है कि काव्यादर्श से पहले काश्यप और वररुचि ने अलङ्कारशास्त्र पर पुस्तक लिखी थी—"पूर्वेषां काश्यपवररुचिप्रभृतीनामाचार्याणां लक्षणशास्त्राणि संहृत्य पर्यालोच्य" (काव्यादर्श I २ की टीका) और "पूर्वसूरिभिः काश्यपवररुचि-प्रभृतिभिः" (काव्यादर्श II. 7 की टीका)। काव्यादर्श की अन्य टीका श्रुतानुपालिनी में काश्यप, ब्रह्मदत्त और नन्दिस्वामी दण्डी से पूर्ववर्ती आचार्य बताए गए हैं। सिंहली भाषा की कृति 'स्वीयभाषालङ्कार' में ब्रह्मा, शक्र तथा बृहस्पति की वन्दना के पश्चात् काश्यप ऋषि का उल्लेख है (जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, ब्रिटेन, १९०५, पृ० ८४१)। ये सब कृतियाँ अब अप्राप्य हैं। देखिये–मत्स्यपुराण X. 25 जहाँ वररुचि को नाट्यवेदपारग कहा गया है।

स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उपलब्ध अलंकार साहित्य में प्राचीनतम कृति कौनसी है? कुछ अपेक्षाकृत उत्तरकालीन ग्रंथकारों ने अग्निपुराण को काव्य-शास्त्र का मूलग्रंथ माना है। इस मत का सम्यक् पर्यालोचन आवश्यक है।[1]

२. अग्निपुराण

महेश्वर अपनी कृति काव्यप्रकाशादर्श में कहते हैं—"सुकमारान्राज-कुमारान् स्वादुकाव्यप्रवृत्तिद्वारा गहने शास्त्रान्तरे प्रवर्तयितुमग्निपुराणादुद्धृत्य काव्यरसास्वादकारणमलंकारशास्त्रं कारिकाभिः संक्षिप्य भरतमुनिः प्रणीतवान्"। इसी प्रकार विद्याभूषण-रचित साहित्यकौमुदी की टीका कृष्णानन्दिनी कहती है—"काव्यरसास्वादनाय वह्निपुराणादि दृष्टां साहित्यप्रक्रियां भरतः संक्षिप्ताभिः कारिकाभिर्निबवन्ध"।

अग्निपुराण अनेक बार मुद्रित हुआ है (बिब्लियोथेका इन्डिका ग्रन्थमाला, आनन्दाश्रम ग्रन्थमाला तथा बम्बई की वेंकटेश्वर ग्रन्थमाला में)। बिब्लि० इ० संस्करण के अध्याय ३३६–३४६ में अलङ्कार-सम्बन्धी विषयों का वर्णन है; आनन्दाश्रम संस्करण में उन अध्यायों की संख्या ३३७–३४७ है। दुर्भाग्यवश आनन्दाश्रम का पाठ बिब्लियोथिका इन्डिका संस्करण की तुलना में बहुत अशुद्ध है। हम बि० इ० संस्करण का ही उद्धरण प्रस्तुत करेंगे। वेंकटेश्वर मुद्रणालय बम्बई के संस्करण में भी अध्यायों का क्रम तथा संख्या आनन्दाश्रम संस्करण के समान है। मत्स्यपुराण ३५. २८–३० तथा स्कन्दपुराण १.२. ४७–५० के

---

1. इडियन एन्टिक्वेरी (खण्ड ४६, १९१७) पृष्ठ १७३ पर मैंने इस प्रश्न पर विस्तरपूर्वक विचार किया है।

अनुसार (यत्तदीशानकल्पस्य, वृत्तान्तमधिकृत्य च। वसिष्ठायाग्निना प्रोक्त-माग्नेयं तत्प्रचक्षते ॥······तच्च षोडशसाहस्रं सर्वक्रतुफलप्रदम् ॥) अग्निपुराण में १६००० पद्य हैं। इसमें ईशानकल्प की घटनाओं का वर्णन है जिन्हें वसिष्ठ को अग्नि ने सुनाया। उपलब्ध अग्निपुराण (२७१.११) में इसकी श्लोकसंख्या १२००० बताई गई है। यह भी कहा गया है कि इसमें सब विद्याओं का वर्णन है। प्रथम अध्याय में वसिष्ठ प्रार्थना करते हैं—हे अग्नि ! मुझे सब विद्याओं का सार बताओ जिन्हें जानने वाला सर्वज्ञ बन जाता है (पद्य १२)। उपलब्ध अग्निपुराण में लगभग ११५०० श्लोक हैं (१६००० नहीं)। इसके अन्तिम अध्याय (३८२.५१–६४) में बताया ·· ं है कि सब विद्याओं का वर्णन हो चुका है और फिर वर्णित विषयों को गिनाया गया है, उदाहरण के रूप में—अवतार, गीता, रामायण, भारत, हरिवंश, आगम, आशौच, प्रायश्चित्त, राजधर्म, व्यवहार, व्रत आदि। अध्याय १२२–१४८ में युद्धजयार्णव का सार है। ऐसा कोई उपाय नहीं है जिससे यह निर्णय किया जा सके कि अग्निपुराण में कौनसा अंश मौलिक है और कौनसा प्रक्षिप्त। जहाँ तक उपरोक्त महेश्वर द्वारा तथा विद्याभूषण द्वारा रचित टीकाओं का प्रश्न है अग्निपुराण तथा वह्निपुराण में परस्पर कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता। किन्तु ऐसे वह्निपुराण का भी उल्लेख मिलता है जो अग्निपुराण से भिन्न है, देखिये—इन्डिया ऑफिस संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थों की एगेलिंग (Eggeling) कृत सूची, भाग ६, पृष्ठ १२९४ और उसके आगे; इन्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, भाग XII, पृ० ६८३–६९१; वर्तमान अग्निपुराण पर प्रो० हजारा के लेख 'आवर हैरिटेज' (Our Haritage), भाग II, खण्ड I, पृ० ७०–१०९, स्टडीज़ इन जेन्विन आग्नेय एलियस वह्निपुराण (Studies in genuine Agneya alias vahni-purana), तथा जर्नल ऑफ ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट (बड़ौदा), भाग V (१९५६ ई०), पृ० ४११–४१६, डिस्कवरी ऑफ जेन्विन आग्नेयपुराण (Discovery of genuine Agneyapurana)। बल्लालसेन (१२वीं शताब्दी उत्तरार्ध) के दानसागर तथा अद्भुतसागर में अग्निपुराण के जो अंश उद्धृत हैं उनमें से अधिकतर अंश वर्तमान अग्निपुराण में नहीं हैं और कई उद्धरणों में वार्तालाप वसिष्ठ और राजा अम्बरीष के मध्य चलता है जब कि उपलब्ध अग्निपुराण में यह वार्तालाप वसिष्ठ और अग्नि के मध्य है। प्रतीत होता है कि मूल अग्निपुराण का पुनः संस्करण हुआ जिसमें उसने वर्तमान रूप धारण कर लिया—देखिये ज० ओ० रि०, मद्रास, भाग XII, खण्ड १२९, पृ० १३४–१३५ पर 'बल्लालसेन को ज्ञात पुराण' (Puranas known to

Ballalsen) शीर्षक लेख। जैसा कि ऊपर बता चुके हैं अग्निपुराण (बिबलियोथेका इन्डीका संस्करण) के अध्याय ३३६–३४७ में अलङ्कारशास्त्र के विषयों का वर्णन है। अध्याय ३३६ में (आनन्द ३३७) काव्य के लक्षण, प्राकृत और संस्कृत के रूप में उसके दो भेद, प्रत्येक के तीन प्रकार—गद्य, पद्य और मिश्र; सबके उपभेद, कथा, आख्यायिका तथा महाकाव्य के लक्षण। अध्याय ३३६ में नाट्य-सम्बन्धी विषयों का वर्णन है—रूपक के दस प्रकार, उपरूपक, प्रस्तावना, पाँच प्रकृतियाँ, पाँच सन्धियाँ इत्यादि। अध्याय ३३८ में निम्न-लिखित विषयों का विवेचन है—रस, स्थायीभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव, आलम्बन-विभाव, उद्दीपन-विभाव, नायक-भेद, नायक के सहचर, नायिका-भेद नायक के आठ गुण और नायिका के बारह विभाव। अध्याय ३३९ में चार रीतियों पाञ्चाली, गौडी, वैदर्भी, लाटी) और वृत्तियों भारती, सात्त्वती, कौशिकी (कैशिकी ?), तथा आरभटी का निरूपण है। अध्याय ३४० में नृत्त का निरूपण है और यह बताया गया है कि हाथ, पैर आदि स्थूल तथा पलक आदि सूक्ष्म अङ्गों का संचालन किस प्रकार होना चाहिए। अध्याय ३४१ में चार प्रकार के अभिनय (सात्त्विक, वाचिक, आङ्गिक और आहार्य) का विवेचन है। अध्याय ३४२ का विषय है शब्दालङ्कार, उसका लक्षण तथा भेद-प्रभेद अनुप्रास, यमक के दस प्रकार, चित्रकाव्य के सात भेद, प्रहेलिका के सोलह भेद, गोमूत्रिका, सर्वतोभद्र आदि बन्ध। अध्याय ३४३ के विषय हैं उपमा, रूपक, सहोक्ति आदि अर्थालङ्कार, अनेक लक्षण और उनके भेद। अध्याय ३४४ का प्रतिपाद्य विषय उभय अर्थात् शब्दार्थालङ्कार बताया गया है, किन्तु उसमें आक्षेप, समासोक्ति, पर्यायोक्ति आदि अलङ्कारों का विवेचन है। अध्याय ३४५ और ३४६ में काव्य के गुणों और दोषों का वर्णन है। इनमें कुल मिलाकर ३६२ श्लोक हैं।

अग्निपुराण के ११५०० श्लोकों में वर्णित विषयों का संक्षिप्त विवरण भी यहाँ स्थान संकोच के कारण शक्य नहीं है। मध्यकालीन भारत में जो विषय सर्वसाधारण में रुचिकर थे अग्निपुराण उनका विश्वकोष है।

विशेषरूप से एतदन्तर्गत साहित्य विभाग का इस पुराण द्वारा तिथिनिर्णय करने तथा इसे अलङ्कार शास्त्र का प्राचीनतम ग्रन्थ निर्धारित करने के लिए निम्नलिखित आधार प्रस्तुत किये जाते हैं —

(क) अग्निपुराण (३२७, I. ३३६, २२) में रामायण के सात खण्डों, हरिवंश और पिंगल का उल्लेख है। इसी प्रकार पालकाप्य, शालिहोत्र,

धन्वन्तरि तथा सुश्रुत का भी निर्देश है। ५८ श्लोकों में भगवद्गीता का सार भी दिया गया है जिसमें आधे श्लोक स्वयं गीता से उद्धृत हैं। अध्याय ३५९ से ३६६ तक शब्दकोष संबन्धी सामग्री है जिसका अधिकांश अमरकोष के पद्यों तथा पद्यांशों से अक्षरशः मिलता है। यह नहीं माना जा सकता कि इन सब कृतियों (गीता, अमरकोष आदि) में सामग्री अग्निपुराण से ली गई है। इसके विपरीत यही मानना पड़ेगा अग्निपुराण में साहित्य की प्रत्येक शाखा का सारांश देने का प्रयास किया गया है। और इस प्रयास में उस शब्दकोष के उद्धरण सम्मिलित कर लिए गए जो अग्निपुराण लिखने के समय सर्वाधिक लोकप्रिय थे। अमरसिंह के समय के विषय में कई अनुमान लगाए गए हैं। प्रो० मैकडानल (संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ. ३३३) का मत है कि सम्भवतः अमरसिंह ५०० ई. पू. अपने उत्कर्ष पर था। मैक्समूलर का मत है कि अमरकोष का छठी शताब्दी में चीनी भाषा में अनुवाद हुआ (इण्डिया, ह्वाट कैन इट टीच अस) प्रथम संस्करण पृष्ठ २३२। डा० होइर्नल (जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी १९०६ पृ० १४०) ने अमरकोष का समय ६२५ और ९४० ई० के मध्य बताया है, किन्तु उनका यह मत किसी निर्दोष प्रमाण पर अवलम्बित नहीं है। मि० ओक की धारणा में अमरकोष चौथी शताब्दी का है। यदि इस पुरानी तारीख को ही सही मानें तो भी अग्निपुराण, यदि उसमें अमरकोष से श्लोक लिए गए, छठी या सातवीं शताब्दी से पहले का नहीं हो सकता, क्योंकि अमरकोष को प्रसिद्ध होने में भी काफी समय लगा होगा।

(ख) अग्निपुराण में बताया गया है कि भारती नामक रीति का यह नाम इसलिए पड़ा कि उसका भरत ने प्रतिष्ठान किया था (भरतेन प्रणीतत्वा-द्भारती-रीतिरुच्यते, अध्याय ३३९.६)। भरत कहते हैं कि मैंने (भरत ने) ब्रह्मा के आदेश से चारों वृत्तियों का प्रतिपादन किया तथा भारती वृत्ति का प्रसार अपने ही नाम से किया। मया काव्यक्रियाहेतोः प्रक्षिप्ता द्रुहिणाज्ञया··· ···स्वनामधेयैः भरतैः प्रयुक्ता सा भारती-नाम मे भवेत्तु वृत्तिः ॥ नाट्य २२, २३ और २५, काव्यमाला गुच्छक २२, २३,२५ गायकवाड़ ओरियन्टल ग्रन्थमाला अध्याय २०, २४–२६। इससे पता चलता है कि भरत का नाट्य अग्निपुराण से पहले विद्यमान था (कम से कम वह भाग तो था ही जिसमें वृत्तियों का निरूपण है)। यद्यपि नाट्य में पुराणों का उल्लेख मिलता है (अन्येऽपि देशा प्राच्यां ये पुराणे संप्रकीर्तिताः। नाट्य० १४.४६ काव्यमाला संस्करण १३·४६), तथापि अग्निपुराण का निर्देश नहीं है।

(ग) नाट्यशास्त्र के कई पद्य अग्निपुराण में मिलते हैं। देखिये— नाट्यशास्त्र के ६,३६ का प्रथम आधा भाग और अग्निपुराण के ३३८, १२; नाट्य ६, ३९ और अग्नि ३३८ और ७–९; नाट्य २२, २८–२९ और अग्नि ३३७·११ —१२, नाट्य १७, ६३–६५ और अग्नि ३४२, १५–१७। अग्निपु० में स्पष्ट वताया गया है कि इसमें समस्त विद्याओं का संग्रह है। इसे ध्यान में रखें साथ ही इस पुराण तथा नाट्यशास्त्र की विशेषताओं पर ध्यान दें तो यह मानना पड़ेगा कि नाट्यशास्त्र के पद्य अग्निपुराण ने उद्धृत किए हैं।

(घ) अग्निपुराण में रूपक, उत्प्रेक्षा, विशेषोक्ति, विभावना, अपह्नुति तथा समाधि की जो परिभाषायें हैं (क्रमशः ३४३. २३, २४–२५, २६–२७, २७–२८, ३४४, १८,१३) वे काव्यादर्श से मिलती हैं (क्रमशः II. ६६, २२१ ३२३, ९९, ३०४, I. ९३) इनके अतिरिक्त अनेक वाक्यांश तथा पद्यांश भी ऐसे हैं जो दोनों ग्रन्थों में एक समान हैं, जैसे—"पद्यं चतुष्पदी तच्च, वृत्तं जातिरिति त्रिधा" (अग्निपु० ३३६, २१ और काव्यादर्श III ११) "सा विद्या नौस्तितीर्षूणां गम्भीरं काव्यसागरम्" (अग्निपुराण ३३६, २३ और काव्यादर्श I १२); अग्निपु० ३३६. २९ और काव्यादर्श I. १६; अग्निपुराण ३३६.२५ और काव्यादर्श I. १५। काव्यादर्श के प्रसिद्ध पद्य "लिम्पतीव तयो······ आदि" (II. २२६) तथा "अद्य या मम, आदि" (II. २७६) के अतिरिक्त हम यह नहीं कह सकते कि दण्डी ने अपनी परिभाषाएँ या उदाहरण भी अन्य ग्रन्थों से लिये हैं। जैसा कि आगे वताया जायेगा, दण्डी का समय सातवीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। यदि यह माना जाये कि अग्निपुराण ने काव्यादर्श से उद्धृत किया है तो उसे काव्यादर्श का उत्तरवर्ती मानना होगा।

(च) भामह के काव्यालङ्कार में रूपक, आक्षेप, अप्रस्तुत प्रशंसा, समासोक्ति तथा पर्यायोक्त की जो परिभाषाएँ हैं (II. २१.६८; III.२९.८; II.७९) लगभग वे ही अग्निपुराण में भी है (३४३.२२; ३४४.१५; ३४४.१६; ३४४. १८; ३४४.१७)। भामह ने स्पष्ट कहा है कि मैंने (भामह ने) अपने उदाहरणों की रचना स्वयं की और अलङ्कारों की परिभाषाएँ भी स्वयं निर्मित की है (स्वयंकृतेरेव निदर्शनैरियम् मया प्रक्लृप्ता खलु वागलंकृतिः। भामह II. ९६; गिरामलङ्कारविधिः सविस्तरः स्वयं विनिश्चित्य क्रिया मयोदितः। III ५८) जैसा कि आगे बताया गया है। भामह का समय ईसा की साँतवीं शताब्दी से पहले नहीं माना जा सकता।

(छ) प्रतीत होता है कि अग्निपुराण को ध्वनि सिद्धांत विदित था। यह सिद्धांत ध्वनिकारिकाओं में व्यक्त हुआ है और ध्वन्यालोक में इसकी विस्तृत

प्रतिष्ठापना हुई। अग्निपुराण में कहा गया है कि ध्वनि का पर्यायोक्त अपह्नुति, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा या आक्षेप में अन्तर्भाव हो जाता है। "स आक्षेपो ध्वनिः स्याच्च ध्वनिना व्यज्यते यतः "तथा" एषामेकतमस्येव (स्यैव ?) समाख्या ध्वनिरित्यतः"। अग्निपुराण ३४४.१४ और १८। इससे प्रकट है कि यद्यपि अग्निपुराण ध्वनिसिद्धान्त से परिचित था तथापि उसे स्वतन्त्र रूप से स्वीकार नहीं करता था। अग्निपुराण की यह मान्यता भामह तथा उद्भट की मान्यता के समान है जैसा कि अलङ्कार सर्वस्व में बताया गया है "इह हि तावद्भामहोद्भटप्रभृतयश्चिरन्तनालङ्कारकाराः प्रतीयमानमर्थं वाच्योपस्कारकतयालङ्कारपक्षनिक्षिप्तं मन्यन्ते। तथाहि—पर्यायोक्ताप्रस्तुतप्रशंसा-समासोक्त्याक्षेपव्याजस्तुत्युपमेयोपमानन्वयादौ वस्तुमात्रं गम्यमानं वाच्योपस्कारकत्वेन स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणमिति यथायोगं द्विविधया भङ्ग्या प्रतिपादितं तैः" (पृष्ठ ३) इसके लिए ध्वनयलोक भी द्रष्टव्य है—"पर्यायोक्तेऽपि यदि प्राधान्येन व्यंग्यत्वं तद्भवतु नाम तस्य ध्वनावन्तर्भावः। न तु ध्वनेस्तत्रान्तर्भावः।' (पृष्ठ ४५-४६)। इसलिए कह सकते हैं कि अग्निपुराण का अलङ्कारशास्त्र वाला भाग ध्वन्यालोक के बहुत बाद का नहीं है। जैसा कि हम आगे बताएंगे, ध्वन्यालोक की रचना नवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुई। "अपारे काव्यसंसारे आदि" और शृङ्गारी चेत्कविः, आदि" दो पद्य अग्निपुराण (३३८.१०—११—आनन्द ३३९.१०—११) और ध्वन्यालोक दोनों में मिलते हैं (पृष्ठ २७८)। ध्वन्यालोक में उनके पहले 'तथा चेदमुच्यते' शब्द आते हैं। इसलिए विद्वानों का कहना है ध्वन्यालोक ने उन्हें किसी अन्य ग्रन्थ से उद्धृत किया है। इन पद्यों के बाद संक्षिप्त उपसंहार है जिसका अन्त इन शब्दों से हुआ है "ध्वनिरेव प्राधान्येन काव्यमिति स्थितमेतत्" (पृष्ठ २७८—९)। स्मरण रहे कि इसके कुछ पहले (पृष्ठ २७७ पर) ध्वन्यालोक में दो पद्य हैं जो "तदिदमुक्तं" शब्दों से प्रारम्भ हुए हैं। अभिनवगुप्त ने इन शब्दों का अभिप्राय "मयैवेत्यर्थः" बताया है और इस प्रकार दिखाया है कि ये पद्य स्वयं आनन्दवर्धन के हैं। तदिदमुच्यते और तदिदमुक्तम् में कोई अन्तर नहीं दिखाई देता। इसलिये ध्वन्यालोक के पृष्ठ २७८ के दोनों पद्य भी आनन्दवर्धन के स्वरचित माने जा सकते हैं और यह भी निष्कर्ष निकलता है कि अभिनवकृत लोचन नामक टीका में "मुझ ध्वन्यालोक के रचयिता द्वारा" शब्द दो कारणों से नहीं जोड़े गये। प्रथम यह कि अभिनव उसी प्रकरण के दो अन्य पद्यों को आनन्दवर्धन की रचना बता ही चुका था और दूसरा कारण यह कि पृष्ठ २७८ पर लिखे दो पद्यों में च का प्रयोग होना (तथा चेदमुच्यते) और पृष्ठ २७७ पर

प्रयोग न होना (तदिदमुक्तम्) प्रकट करता है कि पृष्ठ २७८ के दोनों पद्यों का रचयिता आनन्दवर्धन ही है। इस आधार पर डा० डे (संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास खण्ड I पृष्ठ १०३ पर) कोई पर्याप्त कारण दिये बिना ही यह निष्कर्ष निकालते हैं कि आनन्दवर्धन ने अग्निपुराण से श्लोक लिये हैं। डा० डे (संस्कृत साहित्य का इतिहास खन्ड II पृष्ठ २५५ का फुटनोट में भी) कहते हैं कि आनन्दवर्धन ने पृष्ठ २७८ के दोनों पद्य अग्निपुराण से लिए हैं यद्यपि स्वर्गीय प्रो० सोवानी ने डा० डे को बता दिया था कि अभिनव ने नाट्य० VI. ३६–३७ की टीका में इनमें से एक पद्य का रचयिता आनन्वर्धन को स्पष्ट रूप से बताया है (अभिनव भारती गायकवाड़ संस्करण; खण्ड प्रथम पृष्ठ २९५) : कविर्हि सामाजिकतुल्य एव। तत एवोक्तं 'शृंगारी चेत्कविः' "इत्याद्यानन्दवर्धनाचार्येण"। इसलिये मेरा मत है कि अग्निपुराण को केवल ध्वनिसिद्धांत का पता ही न था बल्कि उसने ध्वन्यालोक से दो पद्य भी लिये हैं। प्रो० बटुकनाथ (साहित्यविभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय, खण्ड IX पृष्ठ १२९) कहते हैं कि 'अग्निपुराण में ध्वनि सिद्धान्त का पता नहीं चलता', किन्तु; जैसा कि उपरोक्त चर्चा से सिद्ध होता है, उनकी यह धारणा मिथ्या है। डा० डे (संस्कृत अलंकार साहित्य का इतिहास खण्ड II पृ० ३३४ पर) का कथन है कि भोज ने अपना व्यापक रस सिद्धान्त अग्निपुराण (अ० ३३८) के अस्पष्ट पद्यों के आधार पर खड़ा किया था। इस पर विश्वास करना संभव नहीं है। अग्निपुराण के अध्याय ३३४.५४ तथा ३३९ में (पद्य १–४) में रीति के चार प्रकारों का वर्णन है—पाञ्चाली, वैदर्भी गौडी और लाटी। इनके लक्षण भोज द्वारा शृङ्गार प्रकाश में वर्णित लक्षणों से बहुत मिलते हैं (देखिए जर्नल आफ ओरिन्टियल रिसर्च इन्स्टीट्यूट" मद्रास भाग X. पृ० ७६८–७७९ पर प्रकाशित डा० राघवन का लेख, जहाँ वे प्रो० पी० सी० लाहिडी के इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, भाग IX, पृ० ४४८ में प्रसारित लेख की आलोचना करते हैं। उसके अतिरिक्त डा० राघवन का शृङ्गार प्रकाश भाग I, खण्ड I पृ० १९६–२०१ भी अवलोकनीय है)। उपरोक्त प्रमाणों से सिद्ध होता है अग्निपुराण मौलिक कृति नहीं है किन्तु प्राचीन मान्यताओं का संग्रह मात्र है। अतः यही मानना उचित है कि उसे सम्भवतः भोज से प्रेरणा मिली।

मैंने धर्मशास्त्र का इतिहास' खण्ड I के पृ० १७०–१७३. में स्पष्ट किया है कि अग्निपुराण के व्यवहार अध्यायों (२५२–२५७) में से अध्याय २५२ में लगभग ३० पद्य नारदस्मृति से आए हैं और दूसरे अध्यायों में लगभग २८० याज्ञवल्क्य स्मृति से लिए गए हैं।

उपरोक्त विवेचनों से इस कथन कि पुष्टि होती है कि अग्निपुराण सातवीं शताब्दी से पहले का नहीं है और उसका अलङ्कार साहित्य वाला भाग नवीं शताब्दी से पहले नहीं रचा गया। विशेष संभावना यही है कि उसकी रचना दसवीं (दे० अग्निपुराण, आनन्दाश्रम में संस्करण अध्याय ३३९, रसों, स्थायी-भावों तथा सात्त्विकभावों अर्थात् रस सिद्धान्त का निरूपण है और अध्याय ३४५.१८ पर समासोक्ति, अपह्नुति, पर्यायोक्ति आदि अलङ्कारों का ध्वनि में अन्तर्भाव किया गया है। उदाहरण के रूप में 'पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते। एषामेकतमस्यैव समाख्या ध्वनिरित्यतः।

(ज) भोजकृत सरस्वती कण्ठाभरण, अ० ५ के प्रारम्भिक चार पद्यों में रस सिद्धान्त का संक्षिप्त वर्णन है। उन पद्यों में बताया गया है कि शृंगाररस ही आनन्द, अहङ्कार और अभिमान रस है। शृंगारप्रकाश के ग्यारहवें अध्याय में इसका विशद प्रतिपादन है। अग्निपुराण में इस रस सिद्धान्त का संक्षिप्त उल्लेख है—"अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम्। वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्॥ आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन। व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया॥ आद्यस्तस्य विकारो यः सोऽहङ्कार इति स्मृतः। ततोऽभिमानस्तत्रेदं समाप्तं भुवनत्रयम्॥ अभिमानाद्रतिः सा च परिपोषमुपेयुषी व्यभिचार्यादिसामान्याच्छृङ्गार इति गीयते॥ तद्भेदाः काममितरे हास्याद्या अप्यनेकशः' (अग्निपुराण ३३८·१–५); और अग्निपुराण ३४१·३ में भी। किन्तु अग्निपुराण ने अनेक सिद्धान्तों का निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए आनन्द—अहङ्कार—अभिमान और रति सिद्धान्तों का उपसंहार कर दिया और सातवें आठवें तथा नवें पद्यों में नाट्य पर आधारित आठ या नौ रसों का सर्वमान्य सिद्धान्त स्वीकार कर लिया।

अलङ्कार साहित्य के प्राचीन लेखकों में से किसी ने भी अग्निपुराण का उल्लेख नहीं किया हैं और न ही उसे उद्धृत किया है, यह भी ध्यान देने की बात है। मम्मट ने विष्णुपुराण के उद्धरण दिये हैं किन्तु अग्निपुराण का उल्लेख नहीं किया। विश्वनाथ (१४ वीं शताब्दी) ही सर्वप्रथम सम्मानित साहित्यिक हैं जिन्होंने अग्निपुराण को काव्य सिद्धान्त पर प्रमाण के रूप में उद्धृत किया है। उन्होंने अपने साहित्यदर्पण में (I. 2) अग्निपुराण का उल्लेख किया है (३३६.३–४)। इन्होंने इसका पद्य (अध्याय ३३७ श्लोक ७, त्रिवर्ग साधनं नाट्यं) भी उद्धृत किया है। यह ठीक है कि अपरार्क टीका जैसे धर्मशास्त्र ग्रन्थों में तथा बल्लालसेन के अद्भुतसागर (११६८ ई० में प्रारम्भकाल) में

अग्निपुराण का प्रमाण के रूप में उल्लेख है। किन्तु ध्वन्यालोक, लोचन तथा अन्य प्राचीन लेखकों ने भरत के नाट्यशास्त्र को ही आदरपूर्वक उद्धृत किया है। जैसा कि आगे बताएँगे, भामह तथा दण्डी भी भरत के नाट्यशास्त्र का प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में उल्लेख करते हैं। इसलिए अग्निपुराण वास्तव में भरत, भामह, दण्डी, ध्वन्यालोक और सम्भवतः भोज के बाद का है और उसे अलङ्कारशास्त्र का मूलग्रन्थ स्वीकार नहीं किया जा सकता। मध्यकालीन लेखक इसे अलङ्कारशास्त्र का प्राचीनतम ग्रन्थ केवल इसीलिये समझने लगे कि वे पुराणों को श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे क्योंकि वे रूढि के रूप में समस्त पुराण व्यास की रचना माने जाते हैं।

भरत-प्रणीत नाट्यशास्त्र

महर्षि भरत द्वारा प्रणीत नाट्यशास्त्र ही संस्कृत काव्यशास्त्र का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ है। इस मान्यता के पक्ष में कई युक्तियाँ हैं। इसमें ही सर्वप्रथम रससिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है (देखो भाग II)। अलङ्कार-शास्त्र के अन्य विषयों का भी विवेचन है।

१९२३ ई० में मैंने सर्वप्रथम साहित्यदर्पण का सम्पादन किया और उसकी भूमिका के रूप में अलङ्कारशास्त्र का विस्तृत इतिहास लिखा। उस समय नाट्यशास्त्र का एक ही संस्करण उपलब्ध था जो काव्यमाला सिरीज़ में प्रकाशित हुआ था। १९२९ ई० में काशी संस्कृत सिरीज़ में (बहुधा चौखम्बा संस्कृत सिरीज़ के रूप में उल्लिखित) नया संस्करण प्रकाशित हुआ। इसका संम्पादन पं० बटुकनाथ शर्मा तथा पं० बलदेव उपाध्याय ने किया था। यह संस्करण जिन दो हस्तलिखित प्रतियों पर आधारित है वे काव्यमाला संस्करण की आधारभूत प्रति से भिन्न प्रतीत होती हैं। उसी वर्ष गा० ओ० सि० से अभिनव-गुप्त की महत्वपूर्ण टीका के साथ इसका प्रथम भाग प्रकाशित हुआ जिसमें प्रारम्भ के सात अध्याय थे। उसका सम्पादन श्री रामकृष्ण कवि ने किया था। १९३४ ई० में अभिनवभारती के साथ द्वितीय भाग प्रकाशित हुआ जिसमें अष्ठम से लेकर अष्टादश तक अध्याय थे। प्रस्तुत टीका का अभिनवभारती नाम प्रत्येक अध्याय के अन्त में दी गई पुष्पिका से सिद्ध होता है। राघवभट्ट कृत अभिज्ञान शाकुन्तल की टीका में भी यह नाम मिलता है। १९५४ ई० में श्री रामकृष्ण कवि द्वारा सम्पादित इसका तृतीय भाग प्रकाशित हुआ जिसमें अभि-नवभारती के साथ १९ से लेकर २७ तक अध्याय थे। १९५० ई० में प्राध्यापक मदनमोहन घोष ने इसके सताइस अध्यायों का अंग्रेजी अनुवाद किया जो रॉ. ए.

सो बंगाल से प्रकाशित हुआ है । इसके पृष्ठ संख्या ३५-५० में नाट्य- के विभिन्न अध्यायों को प्रकाशित करने के लिए विभिन्न विद्वानों ने जो प्रयत्न किए हैं उनका वर्णन है । शेष पृष्ठों में अन्य अनेक विषयों पर विचार किया गया है, जैसे कि नाट्य का अर्थ, वृत्ति, रचना-क्रम, रूपकों के भेद, कथा-वस्तु तथा उसका विकास, प्रेक्षागृह, नेपथ्य, वेषभूषा, पूर्ववर्ती तथा उत्तरकालीन नाट्यकार तथा नाट्यशास्त्र के दो संस्करण एवं टीकाकार।

प्रस्तुत भूमिका में इतना स्थान नहीं है कि नाट्यशास्त्र का विस्तृत परिचय दिया जा सके। केवल कुछ महत्वपूर्ण विषयों का उल्लेख किया जायेगा । प्रत्येक अध्याय की श्लोक-संख्या, अध्यायों की संख्या तथा उनके क्रम के विषय में हस्त-लिखित प्रतियों एवं संस्करणों में ऐकमत्य नहीं है । काव्यमाला के नये संस्करण में ३७ अध्याय हैं और चौखम्बा सिरीज़ में ३६। वहाँ अन्तिम दो अध्यायों को एक साथ मिला दिया गया है । अभिनव गुप्त ने अपनी प्रस्तावना के द्वितीय श्लोक (षट्त्रिंशकं भरतसूत्रमिदं विवृण्वन्) में तथा प्र. संख्या ८, प्रथम भाग (मध्ये षट्त्रिंशाध्याय्यां) में अध्यायों की संख्या ३६ बताई गई है। अभिनव ने यह भी बताया है कि समग्र ग्रन्थ की श्लोक संख्या ६००० है (एक श्लोक का अर्थ है ३२ अक्षर) ; इसके अतिरिक्त दोनों संस्करणों में जो अध्याय परस्पर मिलते हैं उनकी श्लोकसंख्या एक सी नहीं है। का० मा० सि० के केवल ६ठा और १९ वाँ अध्याय मिलकर चौ. सि. के २१ वें अध्याय के समान हैं जो कि (२१ वाँ अध्याय) संध्यङ्गों पर लिखा गया है। का. माला का ९ वाँ अध्याय चौ. सि. के नवम और दशम दो अध्यायों में विभक्त है। परिणाम-स्वरूप उत्तरवर्ती अध्यायों की क्रमसंख्या एक दूसरे से भिन्न हो गई है। काव्य-माला के २४ वें अध्याय में आये हुए सामान्याभिनय-विषयक कुछ श्लोक चौ. सि. का ३४ वाँ अध्याय बन गए हैं और उस अध्याय के शेष श्लोक (९०-११५) चौ० सि० के ३५ वें अध्याय में सम्मिलित हैं। पिछले ८५ वर्षों में नाट्यशास्त्र के फुटकर अंश समय-समय पर प्रकाशित होते रहे हैं। हॉल ने धनञ्जय-कृत दश-रूपक का जो संस्करण प्रकाशित किया है उसके अन्त में नाट्यशास्त्र के चार अध्याय जोड़ दिये हैं। जिनकी क्रमसंख्या १८, १९ और २० है और वे का० मा० सं० के १८ से लेकर २० अध्यायों के समान हैं। किन्तु दशरूपक में श्लोक की संख्या क्रमशः १३२, १३३ और ६३ है, जबकि का० मा० सं० में १९८, १३३ और ६६ है। इसके अतिरिक्त ३४ वाँ अध्याय भी जोड़ा गया है जो कि काव्य माला के २४ वें अध्याय के समान है। दशरूपक में श्लोकसंख्या १२१ है और काव्यमाला में ११६। दशरूपक का यह अध्याय (३४) चौखम्बा संस्करण के

३४ वें तथा आँशिक रूप से ३५ वें अध्याय के साथ भी मिलता है। पी० रिग्नॉद ने. Annales du Musee guimet, vol II, पृ. ६९ ff में नाट्यशास्त्र के छन्द सम्बन्धी दो अध्याय प्रकाशित किए। वे अध्याय हैं १५ वाँ तथा १६ वाँ, जिनमें क्रमशः ६८ और १६० श्लोक हैं। वे का० मा० सं० के १४ वें और १५ वें अध्याय से मिलते हैं, किन्तु इसमें श्लोकसंख्या क्रमशः १२० और १७२ है। वे ही चौ० सं० के १५ वें और १६ वें अध्याय से मिलते हैं और यहाँ इनकी श्लोकसंख्या क्रमशः ११९ और १६९ है। गा० ओ० सि० के संस्करण में भी इनकी समानता १४ वें और १५ वें अध्यायों के साथ है। यहाँ इनकी श्लोक-संख्या क्रमशः १३३ और २२७ है। उसी विद्वान् पी. रिग्नॉद ने अपने रेटोरिक संस्क्राइट, (Rhetorique Sanskrite) १८८४, में इसके ६ठे और ७ वें अध्याय को भी फ्रेंच अनुवाद के साथ रोमन अक्षरों में प्रकाशित किया है। रिग्नॉद के संस्करण में इन अध्यायों की श्लोकसंख्या क्रमशः ८४ और १२३ है, जब कि का० मा० सं० में क्रमशः ८४ और १३० है। चौ० सं० में यह संख्या क्रमशः ८३ और १२४ है।

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि नाट्यशास्त्र का मूल पाठ परिनिष्ठित नहीं है तथा उसके प्रत्येक अध्याय में सम्मिश्रण और परिवर्तन होते रहे हैं। इन परिवर्तनों और परिवर्द्धनों का विशेष परिचय प्राप्त करने के लिए अभिनवभारती के कवि रामकृष्ण द्वारा सम्पादित संस्करण के प्रथम तथा द्वितीय भाग को देखना चाहिए। कुछ उल्लेखनीय परिवर्तनों का परिचय नीचे दिया जाता है।

१. विक्रमोर्वशीय (२·१८) के एक पद्य में बताया गया है कि भरत रसों की संख्या आठ मानते थे तथा उन्होंने इन्द्र की सभा में नाटक का अभिनय किया था जिसमें अप्सराएँ अभिनेत्रियाँ थीं (मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयः प्रयुक्तः ललिताभिनयं तमद्य भर्ता मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः)। इस पद्य में प्रतिपादित दोनों बातें उपलब्ध नाट्यशास्त्र में मिलती हैं (दे० चौ० संस्करण, भरत द्वारा दी गई नाट्यवेद की शिक्षा के लिए, अध्याय १, अप्सराओं द्वारा प्रदर्शित अभिनय के लिए श्लोक ४७-५०, शक्र और लोकपालों की उपस्थिति के लिए श्लोक ५५ff तथा आठ रसों के लिए ६·१५ शृंगारहास्यकरुणरौद्रवीर-भयानकाः। वीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः॥') । चौ० सं० का छठा अध्याय निम्नलिखित श्लोक के साथ समाप्त होता है—'एवमेते रसा ज्ञेयास्त्वष्टौ लक्षणलक्षिताः।८३। काव्यादर्श (२.२९२ इह त्वष्टरसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम्) से पता चलता है कि सप्तम शताब्दी में भी रसों की संख्या आठ

ही थी। अभिनवगुप्त ने उल्लेख किया है कि कुछ लोग रसों की संख्या नौ के स्थान पर आठ ही मानते हैं। किन्तु उसने किसी प्राचीन ग्रन्थ में शान्तरस तथा उसके स्थायी भाव शम का वर्णन देखा है—'ये पुनर्नव रसा इति पठन्ति तन्मते शान्त स्वरूपमभिधीयते।' गा० ओ० सि० जिल्द १. पृ० ३३३; और फिर "तस्मादस्ति शान्तो रसः। तथा च चिरन्तनपुस्तकेषु 'स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्यामः'—इत्यनन्तरं 'शान्तो नाम शमस्थायिभावात्मकः' इत्यादि शान्तलक्षणं पठ्यते।" गा० ओ० सि० जिल्द १, पृष्ठ ३४०। रिग्नॉद वाले संस्करण के छठे अध्याय में 'त्वष्टौ नाट्यरसाः स्मृताः' का उल्लेख है। इससे सिद्ध होता है कि कालिदास के समय तक (अधिक से अधिक ईस्वी सन् ३५० से लेकर ४५० तक पीछे) शान्त को रस के रूप में स्वीकार नहीं किया गया था, किन्तु अभिनवगुप्त से कई शताब्दियाँ पहले उसे मान लिया गया था। यह भी प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त को नाट्यशास्त्र के दोनों संस्करण परिज्ञात थे। उद्भट ने अपने काव्यालङ्कारसारसंग्रह (IV. 5) में नौ रसों का उल्लेख किया है (शृंगार-हास्य......... नकाः। बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसाः स्मृताः")। भावप्रकाशन (गा० ओ० सि० संस्करण, पृ० ४६-४८) की यह मान्यता प्रतीत होती है कि शान्तरस का परिवर्द्धन वासुकि ने किया था। इस वक्तव्य के प्रामाण्याप्रामाण्य का निर्णय न होने पर भी यह कहा जा सकता है कि नाट्यशास्त्र ने शान्तरस को ४०० ई० के पश्चात् तथा ७५० ई० के पूर्व स्वीकार किया।

२. पञ्चम अध्याय के अन्तिम ४० श्लोक (का० मा० १८१-२२०, चौ० १७६-२१५) बहुत सी प्रतिलिपियों में नहीं हैं, और यह उल्लेखनीय है कि अभिनवगुप्त ने उनपर टीका नहीं लिखी। सम्भवतया वे श्लोक नन्दिकेश्वर से लिये गए हैं (दे० पहली ज़िल्द की भूमिका, पृ० १०)।

३. चौखम्बा संस्करण के नवम (२०७ श्लोक) तथा दशम (५५ श्लोक) मिलकर का० मा० संस्करण का दशम अध्याय (२६७ श्लोक) बन गए हैं।

४. १५ वें छन्दविषयक अध्याय के प्रारम्भ में अभिनवगुप्त ने दो संस्करणों के अस्तित्व का निर्देश किया है : तत्रेहाध्याये भरतमुनिकृतमिति त्रिकैर्मकारादिभिः कैश्चित् किंचिल्लक्षणं स्वीकृतमिति द्विविधः पाठो दृश्यते। मध्ये च चिन्तनाय (? चिरन्तनेषु) पुस्तकेषूभयमपि पठ्यते इति। अभि०भा० जिल्द २, पृ० २५२—२५३। का० मा० का मूल संस्करण द्वितीय के साथ मेल खाता है।

५. का० मा० संस्करण के १६ वें तथा चौ० संस्करण के १७ वें अध्याय में नाट्य के ३६ लक्षण पाँच अनुष्टुप श्लोकों द्वारा गिनाए गए हैं, किन्तु गा० ओ०

सि० संस्करण में यह गणना १६ वें अध्याय में उपजाति छन्दों द्वारा की गई है। ३६ लक्षणों का क्रम भी दोनों संस्करणों में एक सा नहीं है। केवल १७ लक्षण ही ऐसे हैं जो दोनों संस्करणों में समानरूप से मिलते हैं। अभिनवभारती में बताया गया है कि लक्षणों के जो नाम वहाँ दिये गए हैं भरत द्वारा प्रस्तुत नाम उनसे भिन्न थे। इसका कारण बताते हुए कहा गया है कि विभिन्न प्रतियों में क्रम तथा नाम-विषयक परस्पर भेद है। परिणामस्वरूप उसने (अभिनवगुप्त ने) अपने गुरू भट्ट तोत की परम्परा का अनुसरण ही उचित समझा (तथा च मतान्तरेण भरतमुनिरेवान्यथाप्युद्देशलक्षणेन नामान्तरैरपि च व्यवहारं करोति तत एव पुस्तकेषु भेदो दृश्यते तं च दर्शयिष्यामः। पठितोद्देशक्रमस्त्वस्मदुपाध्याय-परम्परागतः XVI ४, जिल्द २, पृ० २९८)। इसका अर्थ है अभिनवगुप्त के समय लक्षणविषयक अध्याय के दो पाठ प्रचलित थे–दे० डॉ० राघवन् का लक्षणों पर निबन्ध, ज० ओ० रि०, मद्रास, जिल्द ७६, पृ० ५४–८२। धनिक ने दशरूपक (४,७८) में तथा राघवभट्ट ने अपनी अर्थद्योतनिका में उपजाति में प्रतिपादित गणना का अनुसरण किया है, जब कि साहित्यदर्पण तथा कुछ अन्य अलङ्कारिकों ने अनुष्टुप श्लोकों द्वारा प्रतिपादित गणना का अनुसरण किया है।

६. यह पहले बताया जा चुका है कि चौ० संस्करण के ३४ वाँ तथा ३५ वाँ अध्याय का० मा० सं में अकेले २४ अध्याय के रूप में मिलते हैं। इसी प्रकार काव्य माला के अध्याय संख्या ३६ तथा ३७ चौखम्बा संस्करण एवं अभिनवभारती के अकेले ३६ वें अध्याय में सम्मिलित हो गए हैं।

७. का० मा० संस्करण के ३१ वें अध्याय में ३३४ श्लोक हैं, किन्तु चौ० सं० के उसी अध्याय में ५४५ श्लोक हैं। का० मा० के नये संस्करण (पृ० ५२०) में टिप्पण दिया गया है कि 'आकारवृत्तमन्यत्स्यात् चतुष्कं त्रिकमेव वा।' के पश्चाद्वर्ती ९२ वें श्लोक प्रक्षिप्त हैं (का० मा० का श्लोक २९३ और चौ० सं० का श्लोक ३९७)। श्री रामकृष्ण कवि ने लिखा है (द्वितीय जिल्द की भूमिका, पृ० XIV) कि अभिनवगुप्त संस्करण में उपरोक्त ९२ वें श्लोकों में से आधे छोड़ दिये गए हैं। श्री कवि ने यह भी लिखा है (प्रथम ज़िल्द की भूमिका, पृ० ७) कि मैंने नाट्यशास्त्र की चालीस हस्तलिखित प्रतियाँ एकत्रित की किन्तु दो प्रतियाँ भी ऐसी नहीं मिलीं जो परस्पर पूर्णतया मिलती हो (वहीं, पृ० ९)। उनका यह भी कथन है कि नाट्यशास्त्र के प्रारम्भ से ही दो संस्करण हैं—उत्तरी और दक्षिणी। उनकी मान्यता में दक्षिणी संस्करण प्राचीन है और उत्तरी अर्वाचीन।

श्री कवि ने स्वसम्पादित दोनों भागों की भूमिकाओं तथा टिप्पणों में जो तथ्य दिए हैं उनसे प्रतीत होता है कि अभिनवभारती को सम्पादित करने के लिए जो सामग्री प्राप्त हुई वह सन्तोषजनक नहीं थी। एक भी हस्तलिखित प्रति ऐसी नहीं थी जिसमें पूरे ३६ अध्याय हों। कुछ स्थानों में स्वयं अभिनव भारती के दो पाठ मिलते हैं और वह नाट्यशास्त्र से भिन्न है (दे० इ० हि० क्वा० ज़िल्द १०, पृ० १६१–१६३ में प्रकाशित श्री मनमोहन घोष का निवन्ध)। श्री कवि को प्रारम्भ के कुछ श्लोकों को छोड़ सप्तम तथा अष्टम अध्यायों पर अभिनव भारती प्राप्त नहीं हुई। इस टीका का संघटन विभिन्न अधूरी हस्तलिखित प्रतियों में उद्धृत विखरे हुए पाठों को जोड़कर किया गया है अतः उसे विश्वसनीय आधार या प्रमाण के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। नाट्यशास्त्र, पञ्चम अध्याय, के अन्तिम कुछ श्लोकों पर अभिनव भारती नही मिली, परिणामस्वरूप उन पर स्वयं टीका लिखकर उस कमी को पूरा किया (ज़िल्द १, पृ० २५३–२६४)। इसके लिए श्री कवि ने पृ० २५३ के नीचे स्पष्ट रूप में टिप्पण भी दे दिया है। फिर भी बहुत से विद्वान् भ्रम में पड़ गए और इस टीका को अभिनवभारती मान लिया। अच्छा होता यदि वे अपनी टीका को अन्त में परिशिष्ट के रूप में देते। ज़िल्द १ की भूमिका के पृ० १० पर श्री कवि ने स्वीकार किया है कि चतुर्थ अध्याय में तीन अन्य स्थानों पर भी उन्होंने अपनी टीका लिखी है; यह अनुचित है। इससे साधारण पाठक, जिसने भूमिका नहीं पड़ी है, भ्रम में पड़ सकता है। नाट्यशास्त्र तथा अभिनवभारती के सम्बन्ध में जो परिस्थिति ऊपर बतायी गई है उससे दो प्रश्न खड़े होते हैं, जिनका समाधान अत्यन्त कठिन है। प्रथम प्रश्न है नाट्यशास्त्र का मौलिकरूप क्या है और दूसरा प्रश्न है वह किसकी रचना है?

वर्तमान नाट्यशास्त्र की महत्वपूर्ण बातें[1] निम्नलिखित हैं —

(१) अध्याय ६,७ तथा अनेक अध्यायों में गद्य भाग भी सम्मिलित है। ६ठे और ७वें में वह बहुत लम्बा है। १४वें में प्रवृत्ति पर ९ पंक्तियाँ हैं, जो कि का० मा० का १३ अध्याय है (दे० पृ० २१६)। १५ वें अध्याय के पृ० १७० पर चार पंक्तियाँ स्वर एवं व्यञ्जन के विषय में हैं, जो कि का० मा० में अध्याय १४ का पृ० २२१–२२२ में है। १९ वें अध्याय में गद्यांश पृ० २२१–

1. प्रस्तुत विवेचन में उद्धरण एवं निर्देश साधारणतया चौ० संस्करण से लिये गए हैं। जहाँ ऐसा नहीं है संस्करण का स्पष्ट उल्लेख कर दिया गया है।

२२२, २२४–२५ पर है। २८ वें अध्याय के पृ० ३१८–३२२, ३२६ पर अनेक लम्बे गद्य हैं, जो कि का० मा० संस्करण के अध्याय २८, पृ० ४३२–४३७ पर हैं। अध्याय ३३ के ४३३–४३५, ४३६, ४३८–४३९ पृष्ठों पर प्रत्येक में छोटे-छोटे कई गद्यांश हैं, जो कि का० मा० सं० के अध्याय ३४, पृ० ६११ एवं उससे आगे हैं। ३५ वें अध्याय के पृ० ४६६ पर सूत्रधार के गुणों पर दो पंक्तियाँ हैं, जो कि का० मा० सं० में २३ वें अध्याय के पृ० ४०० पर हैं।

(२) कम-से-कम १५ अनुष्टुप तथा १६ आर्या पद्य आनुवंश्य के रूप में वर्णित हैं।

(३) वहुत से पद्य नीचे लिखे शब्दों के द्वारा प्रस्तुत किये गए हैं—

'सूत्रानुबद्धे आर्ये भवतः'।

(४) लगभग १०० पद्यों को केवल नीचे लिखे शब्दों द्वारा प्रस्तुत किया गया है—

'भवन्ति चात्र श्लोका:' अथवा 'अत्रार्ये भवत:' अथवा 'अत्र श्लोका:'।

(५) इसमें ५००० से भी अधिक पद्य हैं। अधिकतर वे अनुष्टुप श्लोक में हैं। थोड़े से आर्या तथा उपजाति छन्दों में हैं।

उपरोक्त वात किसी विशेष तथ्य की ओर संकेत करती है जिसके पता लगाने की आवश्यकता है।

१. कुछ गद्यांश निरूक्त के गद्य से मिलते हैं और वे सूत्र तथा भाष्य की शैली में हैं। उदाहरण के रूप में छठे अध्याय का रससूत्र-विषयक गद्य प्रस्तुत किया जा सकता है—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः। को वा दृष्टान्त इति चेत्, उच्यते। यथा नानाव्यञ्जनौषधि······रसत्वमाप्नुवन्ति। ऋषय ऊचुः। रस इति कः पदार्थः। अत्रोच्यते। आस्वाद्यत्वात्।' यहाँ प्रथम वाक्य सूत्र के समान प्रतीत होता है और शेष गद्य भाष्य के समान। दूसरा उदाहरण निम्नलिखित है—'व्यभिचारिण इदानीं वक्ष्यामः। अत्राह व्यभिचारिण इति कस्मादुच्यन्ते। वि अभि इत्येतावुपसर्गौ। चर गतौ धातुः।' (अध्याय ७, पृ० ८४)। इन गद्यों की तुलना निरुक्त के निम्नलिखित गद्य के साथ की जा सकती है—'अपत्यं कस्मात् अपततं भवति नानेन पततीति वा' (३·१) अथवा इनकी तुलना जैमिनीय सूत्रों पर प्रसिद्ध शावर भाष्य के साथ भी की जा सकती है (जैसे-'को धर्मः कथंलक्षणः कान्यस्य साधनानि कानि साधनाभासानि किं परश्चेति'–आनन्दाश्रम संस्करण पृ०९)। यह उल्लेखनीय है कि

अभिनवगुप्त नाट्यशास्त्र का निर्देश भरतसूत्र के रूप में करते हैं। वर्तमान ग्रन्थ से भी यह प्रतीत होता है उसमें सूत्र, भाष्य, संग्रहश्लोक, निरुक्त आदि सभी सम्मिलित[1] हैं। अभिनव के कथनानुसार सूत्र का अर्थ है परिभाषा और भाष्य का अर्थ है सूत्र को स्पष्ट करने के लिए किया जाने वाला ऊहापोह तथा उसकी व्याख्या (सूत्रं लक्षणं भाष्यं तद्व्यक्तिकरणरूपा परीक्षा, जिल्द १, पृ० ६५)। कारिका शब्द की व्युत्पत्ति करते हुये अभिनवगुप्त ने कहा है कि सूत्र को भी कारिका या श्लोक कहा जा सकता है, जो कि सूत्र से सम्बद्ध तथा उसके साक्षात् अनन्तर सन्निहित है तथा सूत्र के अर्थ को स्पष्ट करनेवाली व्याख्या को भी कारिका कहा जाता है—'सूत्रतः सूत्रणेन तेन सूत्रमपि कारिका। तत्सूत्रमपेक्ष्य या अनुपश्चात्पठिता श्लोकरूपा सापि कारिका।'—जिल्द १, पृ० २६६। सूत्रग्रन्थविकल्पनम् (चौ० संस्करण का अध्याय ६ और गा० ओ० सि० संस्करण का अध्याय ३४) में अभिनवगुप्त का कथन है—'सूत्रं सूत्रकं लक्षणं वक्ष्यामि। तेनैव च कारिका संगृहीता। ग्रन्थो भाष्यं तत्कृतं च विकल्पनमाक्षेप प्रतिसमाधानात्मकमिति परीक्षा निरुक्तशब्दवाच्या प्रतिज्ञाता। सूत्रविवरणस्वभावा तु कारिका सूत्रमपि प्रकाशयन्ती बहुतराक्षेपसमाधानव्याकुलशिष्यजनस्थितिपक्षं निरूपणेनोपकरोतीति भाष्यस्य पश्चादस्याः पाठः।' (जिल्द १, पृ० २७३)। 'विभावानु···निष्पत्तिः' पर अभिनवभारती का कथन है—'एवं क्रमहेतुमभिधाय लक्षणसूत्रमाह—विभा०'। 'को दृष्टान्तः, अत्राह यथा हि०'···के सम्बन्ध में अ० भा० का कथन है—'अत्र प्रश्ने भाष्येण प्रतिवचनमाह यथेत्यादिना आप्नुवन्तीत्यन्तेन' (जिल्द १, पृ० २८९)। सूत्र और भाष्य के सम्बन्ध में दूसरा उदाहरण भी दिया जा सकता है। जिल्द १, अ० ५, पृ० ३०१–३०२ पर पाठ है—'तत्र शृंगारो नाम रतिस्थायिभावप्रभव उज्ज्वलवेषात्मकः'।

---

1. विस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां सूत्रभाष्ययोः।
   निबन्धो यः समासेन संग्रहं तं विदुर्बुधाः॥
   रसा भावा ह्यभिनया धर्मीवृत्तिप्रवृत्तयः।
   सिद्धिः स्वरास्तथातोद्यं गानं रङ्गञ्च संग्रहः॥

   अल्पाभिधानेनार्थो यः समासेनोच्यते बुधैः।
   सूत्रतः सा तु विज्ञेया कारिकार्थप्रयोगिनी॥
   ······एवमेषोऽल्पसूत्रार्थो ब्यादिष्टो नाट्यसंग्रहः।
   अतः परं प्रवक्ष्यामि सूत्रग्रन्थ विकल्पनम्॥

   नाट्यशा० VI ९–११ तथा ३१

आदि। अभिनवभारती (पृ० ३०३) में ऐसा कथन है—'अत्र रतिस्थायीति सूत्रभागं भाष्येण स्पष्टयति च चेत्यादिना।'

इस बात पर ध्यान देने की आवश्यकता है कि भवभूति ने अपने उत्तररामचरित (अङ्क ४) में भरत को 'तौर्यत्रिकसूत्रकार' कहा है। यह नहीं समझना चाहिए कि सूत्रग्रन्थ गद्य में ही हो सकता है। ऐतरेय तथा शतपथ ब्राह्मण एवं गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र (आपस्तम्ब, बौधायन और वसिष्ठ)[1] सरीखे प्राचीन ग्रन्थों में भी श्लोक सन्निहित हैं। मध्यकाल में भी काव्यप्रकाश सरीखे ग्रन्थों की कारिकायें सूत्र कही जाती थीं। अतः बहुत सम्भव है कि नाट्यशास्त्र के मूल ग्रन्थ में गद्य तथा पद्य दोनों का सम्मिश्रण रहा हो।

अब हमें 'आनुवंश्य' शब्द के अर्थ पर विचार करना है जिसका कुछ आर्याओं एवं श्लोकों को प्रस्तुत करते समय प्रयोग किया गया है। सर्वप्रथम इस बात पर ध्यान देने की आवश्यकता है कि इन शब्दों द्वारा प्रस्तुत श्लोक प्रायः छठे और सातवें अध्याय में हैं। अन्य अध्यायों में इनकी संख्या अत्यल्प है (उदाहरण के रूप में—चौ० सं०, १९ वें अ० का श्लोक ४६–५८ और का० मा० सं०, १७ वें अ० का श्लोक १०७–११९)। महाभारत, विशेषतया आदिपर्व (९५·९, २७, ३०–३१, ४६), में आनुवंश्य श्लोक बार-बार आते हैं। महाभारत में (वनपर्व ८७.१६—

'यत्रानुवंश भगवाञ्जामदग्न्यस्तथा जगौ।
विश्वामित्रस्य तां दृष्ट्वा विभूतिमतिमानुषीम्॥'

केवल आनुवंश शब्द का प्रयोग भी मिलता है। वनपर्व ८८·५ आनुवंश्या शब्द का प्रयोग गाथाओं के साथ किया गया है (दे० वनपर्व ११४·१०, १९२.२७–२९, १९३.१३–१५)। वनपर्व १२९.८ में निम्नलिखित पाठ है—'अत्रानुवंशं पठतः शृणु मे कुरुनन्दन'। टीकाकार नीलकण्ठ ने उसकी व्याख्या 'परम्परागतमाख्यानश्लोकम्' के रूप में की है। मत्स्यपुराण २७१·१५ में भी एक आनुवंश्यश्लोक है। अध्याय ६, श्लोक ३५–३६ के पहले आये

1. दे० आ० धर्मसूत्र १.४.१४.२३, १.६.१६.१३ (दो श्लोक), १.६.१९. १४–१५, १.९.२५.१०.११, १.९.२७.११.१७, २.४.९.१३। आश्व० गृ० सूत्र (१.३.१० और ४.७.१४ में श्लोक हैं और कौशिक गृह्यसूत्र ६.३४ (अत्रापि श्लोकौ), ६८.३७ (तत्र श्लोकौ) में भी।

'अत्रानुवंश्यौ श्लोकौ भवतः' पर अभिनव भारती का कथन है—'अत्रेति भाष्ये। अनुवंशभवौ शिष्याचार्यपरम्परासु वर्तमानौ श्लोकाख्यौ वृत्रविशेषौ सूत्रार्थसंक्षेपप्रकटीकरणेन कारिकाशब्दवाच्यौ भवन्तौ पठति यथेत्यादि।' जिल्द १, पृ० २९०। यह उल्लेखनीय है कि ३५–३६ श्लोकों (जो आनुवंश्य श्लौक भी कहे जाते हैं) में पूर्ववर्ती गद्य की व्याख्या करते हुए अभिनव भारती (जिल्द १, पृ० २९०) ने 'अत्र' शब्द का अर्थ 'भाष्य में' किया है। इसका अर्थ है 'विभावा……निष्पत्तिः' सूत्र पर जो गद्य व्याख्या है उसे अभिनवगुप्त भाष्य मानते हैं।

इसका अर्थ है कि आनुवंश्य शब्द से व्यवहृत होनेवाली कारिकाएँ बहुत पहले रची जा चुकीं थीं और उनका सम्बन्ध नाट्यकला से था। वे पितृ-परम्परा अथवा गुरु-परम्परा द्वारा उत्तरोत्तर प्राप्त होती रहीं। वे नाट्यशास्त्र में भी सम्मिलित कर ली गईं; किन्तु नाट्यशास्त्र के कर्ता की रचना नहीं है।

'सूत्रानुविद्धे (५·१ सूत्रानुबद्धे) आर्ये भवतः' का अर्थ है वे आर्यायें जिनका पूर्ववर्ती (अनुबद्ध) सूत्र के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है अथवा जो सूत्र के ही (अनुविद्ध) अर्थ को सरल भाषा में स्पष्ट करती हैं। हो सकता है ये पद्य स्वयं ग्रन्थकार द्वारा रचे गए हों। 'अपि च सुख०' (जिल्द १, पृ० ३११–१२) पर अभिनव भारती का टिप्पण है—'एवं सूत्रार्थे परीक्ष्य स्थापिते तदर्थस्य सुखग्रहणार्थं सूत्रार्थविवरणरूपत्वात्सूत्रसमीपेप्युपचितपाठात्कारिका-मधुना पठति अपि चेति। न केवलं सूत्रं परीक्षापि यावदियं कारिकेति एवं सर्वत्र मन्तव्यम्। तामेव कारिकां पठति सुखेति'। ये टिप्पण सूत्रानुबद्ध के रूप में प्रस्तुत आर्याओं पर भी लागू किये जा सकते हैं।

'अत्रार्याः' (जिल्द १, पृ० ३२७·२८) आदि पाठ पर अभिनवगुप्त का कथन है कि प्राचीन आचार्यों ने रस-सम्बन्धी तथा अन्य विषयक आर्याओं को रचा और संगृहीत किया। भरत ने उन्हें विभिन्न रसों के प्रकरण में यथास्थान निविष्ट कर दिया—'ता एता ह्यार्या एकप्रघट्टकतया पूर्वाचार्यैर्लक्षणत्वेन पठिताः'। मुनिना तु सुखसंग्रहाय यथास्थानं निवेशिताः' (जिल्द १, पृ० ३२८)। भरतनाट्यशास्त्र में प्रमुख पद्य अनुष्टुप है किन्तु स्थान-स्थान पर उपजाति (वृत्तियों की परिभाषा देते हुए अध्याय २०, २६, ४१, ५३), आर्या (अ० २०.६४, २२.२७४–७९, २३.४२–६२, २५.९५.१०३) आदि छन्दों का प्रयोग

किया गया है। यहाँ गा० ओ० सि० संस्करण काम में लाया गया है। १९५६ के संस्करण में अल्प अंशों में ही पृष्ठों की भिन्नता पाई जाती है।

इससे कम-से-कम यह सिद्ध होता है कि अभिनव के अनुसार नाट्यशास्त्र में प्रयुक्त आर्याएँ भरत की रचना नहीं हैं। भावप्रकाशन ने वासुकि की एक कारिका उद्धृत की है। नाट्यशास्त्र में वह कारिका ऐसे पाँच श्लोकों में सम्मिलित कर ली गई है जिन्हें संस्करणों और हस्तलिखित प्रतियों में 'भवन्ति चात्र श्लोकाः।' अथवा 'अत्र श्लोका,' शब्दों द्वारा प्रस्तुत किया गया है (दे० चौ० सं०, अ० ६·३४–३८, का० मा० सं०, अ० ६·३५–३९ और गा० ओ० सि० सं०, अ० ६·३८–४२)।

> नानाद्रव्योषधैः पाकैर्व्यञ्जनं भाव्यते यथा।
> एवं भावा भावयन्ति रसानभिनयैः सह।
> इति वासुकिनाप्युक्तो भावेभ्यो रससम्भवः।
>
> (भा० प्र०, पृ० ३६–३७)

चौ० संस्करण (६·३५) में इस प्रकार का पाठ है—'नानाद्रव्यैर्बहुविधैर्व्यञ्जनं ···यथा। एवं···सह॥'; दे० गा० ओ० सि० संस्करण ज़िल्द १, पृ० २९४ पर वही पद्य।

नाट्यशास्त्र के शेष अंश के विषय में यह बताया जा चुका है कि विभिन्न संस्करणों में परस्पर सैकड़ों श्लोकों का भेद है। अतः यह जानना कठिन है कि मौलिक नाट्यशास्त्र में कितना अंश था। स्थूल रूप में नीचे लिखे अनुसार कहा जा सकता है :—

वर्तमान छठा और सातवाँ अध्याय, विभिन्न प्रकार के अभिनय, अङ्ग-सञ्चालन तथा गतियों का निरूपण करनेवाले ८–१४ अध्याय, तथा १७ से लेकर ३५ तक अध्यायों का संकलन एक साथ हुआ। छठे तथा सातवें अध्याय का गद्यभाग तथा आर्याएँ जिनके लिए अभिनवगुप्त का कथन है कि वे पूर्वाचार्यों से ली गईं हैं, सम्भवतया ई० पूर्व २०० में रची गईं तथा दूसरे अध्यायों की रचनाओं के साथ ग्रन्थ में सम्मिलित कर ली गईं। काल सम्बन्धी इस मान्यता के निम्नलिखित आधार हैं—

गौतमधर्मसूत्र (९.१९) में उपवेदों का उल्लेख किया है। अत्यन्त प्राचीन काल से चार मुख्य वेदों के साथ चार उपवेदों का भी उल्लेख मिलता है, वे हैं—आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्र (कुछ लोग अर्थशास्त्र के स्थान

पर स्थापत्य को रखते हैं)[1]। वनपर्व (९१.१४–१५) में कहा गया है कि अर्जुन ने विश्वावसु के पुत्र चित्रसेन से गान्धर्ववेद सीखा जिसमें सामवेद, संगीत, नृत्य तथा वाद्य सभी सम्मिलित थे। शान्तिपर्व (१६८.५८) में भी इसी बात का प्रतिपादन है। जब कि शान्तिपर्व के अध्याय २१०.२१ में गान्धर्ववेद का प्रथम प्रवर्तक नारद को बताया गया है। नाट्यवेद से गान्धर्ववेद भिन्न है। गान्धर्व सामवेद का उपवेद है और उसका अध्ययन द्विजाति तक सीमित है, जब कि नाट्य को पञ्चम वेद कहा गया है। इसमें शूद्र आदि किसी वर्ण का प्रवेश वर्जित नहीं है। क्षेत्र की दृष्टि से यह बहुत अधिक व्यापक है। संगीत और नृत्य उसके अंशमात्र हैं। परिणामस्वरूप उसने गान्धर्वशिक्षा को भी अपने अन्तर्गत कर लिया है। किन्तु वह (गान्धर्वशिक्षा) पूर्णतया नाट्यशास्त्र का अनुसरण करती है। नाट्यशास्त्र का कथन है कि नारद को गान्धर्ववेद का प्रवर्तक इसी अर्थ में माना जाता है कि उन्होंने सर्वप्रथम इसकी घोषणा की थी[2]। नाट्यशास्त्र का कथन है कि उपवनविहार, पुष्पों की शय्या, काव्य तथा संगीत के द्वारा शृङ्गाररस की अभिव्यक्ति होती है[3]। अतः इस बात को बहुत महत्व नहीं देना चाहिए (जैसा कि इ० हि० क्वा० जिल्द ६, पृ० ७२–८० में दिया गया है) कि नाट्यशास्त्र में नाट्य और गान्धर्व का पृथक् पृथक् उल्लेख किया गया है (गान्धर्वं चैव नाट्यं च यः सम्यगनुपश्यति, अ० ३६.७८)। पृथक् उल्लेख सामान्य एवं विशेष के प्रतिपादन की दृष्टि से भी हो सकता है। इसे ब्राह्मणपरिव्राजकन्याय की दृष्टि से समझना चाहिए। प्रारम्भ में ही नाट्यशास्त्र ने प्रतिपादित किया है कि ब्रह्मा ने नाट्यवेद की रचना की जो कि वेदों

---

1. अर्थशास्त्र सहित चार उपवेदों के लिए देखो—विष्णुपुराण ३. ६.२८ और भागवत १२.३८, भागवत में चौथा अर्थशास्त्र ही है। अनुशासनपर्व १०४.४९ का कथन है—

गान्धर्वशास्त्रं च कलाः परिज्ञेया नराधिप।
पुराणमितिहासाश्च तथाख्यानानि यानि च॥

2. गान्धर्वमेतत्कथितं मया हि पूर्वं यदुक्तं त्विह नारदेन।
कुर्याद्य एव मनुजं प्रयोगं संमानमग्र्यं कुशलेषु गच्छेत्॥
नाट्य० ३२.४८४

3. ऋतुमाल्यालङ्कारैः प्रियजनगान्धर्वकाव्यसेवाभिः।
उपवनगमनविहारैः शृङ्गाररसः समुद्भवति॥
नाट्य० ६.४७

एवं उपवेदों के साथ संयुक्त था। उसके अन्तस्तत्व थे गरिमा और कोमलता (वेदोपवेदैः सम्बद्धो नाट्यवेदो महात्मना। एवं भगवता सृष्टो ब्रह्मणा ललितात्मकः ॥१.१८)।

हाथीगुम्फा के एक शिलालेख में कलिङ्गराज खारवेल को गान्धर्ववेदबुधः कहा गया है (E. I. vol. xx, पृ० ७१, ७९)। यह ई० पू० द्वितीय शतक का माना जाता है[1] इसका अर्थ है ईसा से कुछ शताब्दियाँ पूर्व गान्धर्व को स्वीकृति मिल चुकी थी तथा नाट्यवेद, जो कि गान्धर्व का सिद्धान्त एवं क्रिया दोनों दृष्टियों से अपने में अन्तर्भाव कर लेता है, ई० पू० द्वितीय शताब्दी में सुचारु रूप से अस्तित्व में आ चुका था।

प्रतीत होता है वर्तमान नाट्यशास्त्र का प्रथम अध्याय तथा सम्भवतया उत्तरवर्ती ४ अध्याय पञ्चम शताब्दी से कुछ पहले जोड़े गए। क्योंकि कालिदास, भवभूति तथा दामोदरगुप्त ने भरत को नाट्यशास्त्र का प्रवर्त्तक बतानेवाली कथा का उल्लेख किया है। नीचे लिखे प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि अधिकतर अध्याय, जो इस समय उपलब्ध हैं, तृतीय अथवा चतुर्थ शताब्दी में विद्यमान थे।

अभिनव गुप्त (१००० से १०३० ई०) ने अपनी अभिनव भारती में अनेक अन्य व्याख्याकारों का निर्देश किया है। उस में यह बताया गया है कि नवम अध्याय के एक श्लोक का पाठ उद्भट ने भिन्न प्रकार से किया है[2] १८ वें

---

1. डॉ० डी० सी० सरकार की मान्यता के अनुसार यह शिलालेख प्रथम ईस्वी का है, किन्तु उनकी युक्तियाँ अनिर्णयात्मक तथा अविश्वसनीय हैं। वे प्रायः उनकी अपनी कल्पना मात्र हैं। इनके मत के लिए दे० इ० हि० क्वा० जिल्द १५, पृ० ४१। शिलालेख के शब्द इस प्रकार हैं—ततिये पुन वसे गंधर्ववेदबुधो दपनटगीतवादितसंदसनाहि उसवसमाजकारापनाहि कीडापयति नगरिं। क्या 'दपनट' के स्थान पर 'रूपनट' पाठ अधिक उचित न होगा? रूप का अर्थ मूक प्रदर्शन भी हो सकता है, जैसा कि शाँतिपर्व २९५·४ में बताया गया है और इसका अर्थ 'मञ्च पर प्रदर्शन' हो सकता है।

2. पद्य इस प्रकार है—

उत्तानो वर्तुलस्त्र्यस्रः स्थितोऽधोमुख एव च।
पञ्च प्रचारा हस्तस्य नाट्यनृत्तसमाश्रयाः॥
नाट्य० ९·१८२ (गा० ओ० सि० सं)।

अध्याय में अभिनव का पाठ है—'वृत्तानि समवकारे कविभिस्तानि प्रयोज्यानि' (पद्य ७६), साथही उसने यह उल्लेख किया है कि उद्भट का पाठ है—'वृत्तानि समवकारे कविभिर्नैव प्रयोज्यानि (ज़िल्द २, पृ० ४४१)[1] १९ v. ४२ पर अ० भा० (जिल्द ३, पृ० २८) का कथन हैं कि उद्भट ने विमर्श के स्थान पर अवमर्श शब्द का प्रयोग किया है तथा उसकी व्याख्या की है। उसी अध्याय में v. ६९ पर अभिनव (३, पृ० ३६) ने सन्ध्यङ्गों के क्रम-विषयक उद्भट के मत की आलोचना की है। जैसा कि आगे सिद्ध किया गया है उद्भट का समय अष्टम शताब्दी का उत्तरार्ध है। इसका अर्थ है नवाँ तथा अठारहवाँ अध्याय ८ वीं शताब्दी से बहुत पहले विद्यमान थे। ६ठे अध्याय के १०वें श्लोक में अभिनव (जिल्द १, पृ० २६६) का कथन है कि लोल्लट ने उद्भट के मत की आलोचना की है। अभिनव भारती ने लोल्लट के पाठ का कई बार उद्धरण दिया है (दे०—जिल्द २· पृ० ४१५, ४२३, ४५२)। अ० भा० ने नाट्यशास्त्र (३· २१-२२) पर शंकुक की व्याख्या का भी उल्लेख किया हैं जिसमें चार श्लोकों को उद्धृत किया गया है। उनमें से दो में पाठभेद है। यह पाठ चौ० सं० (२९·१२३-१२४) से मिलता है। अभिनव भारती (ज़िल्द २, पृ० ४११, ४१४) ने शंकुक कृत अ० १८ के श्लोक १० तथा १२ (चौ० सं० २०, १० और १८) की व्याख्या का भी उल्लेख किया है। इसी प्रकार अभिनव ने अ० १९-४२ (?) (जिल्द ३, पृ० २८) में शंकुक का उल्लेख किया हैं। काव्यादर्श (२·२८१,२८३,२८६) के इस पर विचार किया जाय तो नाट्यशास्त्र के बहुत से अध्याय उद्भट से एक या दो शताब्दी पूर्व रखे जा सकते हैं। उसका कथन है कि रति, क्रोध और उत्साह क्रमशः शृङ्गार, रौद्र और वीर रस के स्थायी भाव हैं तथा अन्य परम्पराओं एवं प्रतिष्ठित ग्रन्थों में जिन्हें सन्ध्यङ्ग, वृत्त्यङ्ग तथा लक्षण बताया गया है वे सब इसकी दृष्टि में अलङ्कार हैं[2]।

अ० भा० में कहा गया है—

उत्तानोऽधस्तलस्त्र्यश्रोऽग्रगोधोमुख एव च।

पञ्च प्रचारा हस्तस्येति भट्टोद्भटः पठति ॥'

ज़िल्द २, पृ० ७०। इसी के लिए देखो चौ-संस्करण ९.१७१-१७२.

1. दे०-चौ० सं०, अध्याय २०.८० जहाँ 'नैव प्रयोज्यानि' पाठ है।

2. यच्च सन्ध्यङ्ग वृत्त्यङ्गलक्षणाद्यागमान्तरे। व्यावर्णितमिदं चेष्टमलङ्कारतयैव नः। काव्यादर्श II. ३६७. देखो नाट्यशास्त्र २१. ५८–६९ for ६४ सन्ध्यङ्ग २२.२५–६४, वृत्ति और उनके अङ्गों के लिए अध्याय १७;

यदि कालिदास कृत कुमारसंभव दो श्लोकों (VII ९१, ९५) पर विचार किया जाय तो इस तिथि को और भी पीछे ले जाया जा सकता है।[1] उन श्लोकों में वर्तमान नाट्यशास्त्र के अध्याय ६, २१ और २२ का उल्लेख है। यदि कालिदास का समय पञ्चम शताब्दी का पूर्वार्ध माना जाय (जिस पर अधिकतर विद्वान एकमत हैं) तो यह निष्कर्ष निकलता है कि नाट्यशास्त्र ३५०–४५० ई० से एक शताब्दी पूर्व रहा होगा। इसका अर्थ है कम-से-कम तृतीय अथवा चतुर्थ शताब्दी था या उससे भी पहले।

यह भी उल्लेखनीय है कि शारिपुत्र प्रकरण नामक नाटक की, जिसके कुछ अंशों का पता प्राध्यापक ल्यूडर्स ने लगाया था; शैली नाट्यशास्त्र के साथ वहुत अधिक मिलती है। उपरोक्त प्रकरण के रचयिता अश्वघोष का समय ई० प्रथम शताब्दी माना जाता है। अव तक हमारे सामने नाट्यविषयक जो उपलब्ध सामग्री है उसे मन में रखते हुए यही कहा जा सकता है कि उपरोक्त प्रकरण की रचना भरतकृत नाट्यशास्त्र के आधार पर हुई होगी। देखो प्रस्तुत तथा दो अन्य नाट्कों के लिए कीथ—हिस्ट्री ऑफ संस्कृत ड्रामा पृष्ठ ८२–८५ और अश्वघोष पर बी० सी० ला० का० लेख, पृष्ठ ३३ का टिप्पण।

जैसा कि प्रस्तुत पुस्तक के द्वितीय खण्ड में बताया जायेगा वैदिक समय में वाद्यों पर संगीत वहुत प्रचलित था। पाणिनि से पहले शिलालि तथा कृशाश्व ने नट्सूत्रों की रचना की थी (अष्टाध्यायी ४ अ० ४·३· ११०, १११)। किन्तु वे पूर्णतया विस्मृत हो चुके हैं। नाट्यशास्त्र के किसी ग्रन्थ में उनका उल्लेख नहीं मिलता। उनके नाम केवल अमरकोश में मिलते हैं जहां शिलालि कृशाश्वि तथा भरत नट् शब्द के पर्याय हैं। अमरकोश का श्लोक है (शैलालिनस्तु शैलूषा जायाजीवा कृशाश्विन; । भरता इत्यपि नटाश्चारणास्तु कुशीलवाः।

---

३६ लक्षणों के लिए १–४२। सभी टीकाकार इस बात में सहमत हैं कि आगमान्तरे का अर्थ है भरते।

1. तौ सन्धिषु व्यञ्जितवृत्तिभेदं रसान्तरेषु प्रतिवद्धरागम्। अपश्यतामप्सरसां मुहूर्तं प्रयोगमाद्यं ललिताङ्गहारम्। कुमारसम्भव VII ९१; प्रथममुखविकारैर्हासयामास गूढ़म्॥ VII, ९५. नाट्यशास्त्र में पाँच सन्धियों के नाम अध्याय २१ तथा ३७ में है, वृत्तियों के नाम अध्याय २२, २४–५७ और ६५ में (शृङ्गार में कौशिकी के लिए) नाट्यशास्त्र अध्याय २२, १७ में नीचे लिखे शब्द हैं सुललितैरङ्ग हारैः नाट्यशास्त्र VI; नाट्यशास्त्र VI ४४ का पाठ हैं—शृंङ्गारो विष्णुदैवत्यो हास्यः प्रमथदैवतः, अतः स्वभाविक रूप से हास्य का संबन्ध प्रमथों के साथ है।

पाणिनि ने स्वयं भी नट के अर्थ में शिलालिन् तथा कृशाश्विन् शब्दों का प्रयोग किया है। क्षीरस्वामी ने भरतशब्द का नट अर्थ निकालने के लिए नीचे लिखी व्युत्पत्ति की है—'भरतस्यापत्यं बिदाद्यञि बहुत्वे लुक्'। इसके अनुसार भरत ने नाट्यशास्त्र का प्रणयन किया और उसका अध्ययन करनेवाले भरत के पुत्र अथवा उसकी सन्तान भी भरत कहे गए। इस शब्द की व्युत्पत्ति करनेवाले पाणिनि सूत्र हैं—अनृष्यानन्तर्ये विदादिभ्योऽञ् (४, १.१०४) और यञञोश्च (२, ४, ६४)। इस विषय में एक सुझाव उपस्थित किया जाता है जो वाह्य रूप से आकर्षक होने पर भी वास्तविक नहीं है। कहा जाता है कि भरत शब्द का मूल अर्थ नट रहा होगा और क्रमशः उसकी कृति नट-शास्त्र को भी भरत कहा जाने लगा। परिणामस्वरूप जब नया नाट्य-शास्त्र रचा गया तो उसके रचयिता के रूप में भरत की कल्पना की गई। किन्तु प्रस्तुत लेखक इस दूर कल्पना को मानने के लिए तैयार नहीं है। भरत एक अत्यन्त प्राचीन वैदिक नाम है। देखो ऋग्वेद III ३३,११ और १२, III, ५३,१२ और २४ (भरतस्य पुत्राः) VII, ३३, ६ और भरतदौष्मन्ति (दौष्यन्ति ?) का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण VIII ५.४, ११ और १३ ऐ० ब्रा० ३९, ९ में भी है; याज्ञ० स्मृति में भरत शब्द का प्रयोग नट के अर्थ में किया गया है। यदि कल्पना करनी है तो यही मानना उचित होगा कि पाणिनि के पश्चात् और कालिदास से कुछ शताब्दियों पहले भरत नाम के किसी विद्वान् ने नाट्यविषय पर किसी ग्रन्थ की रचना की जिसने क्रमशः विकसित एवं परिवर्द्धित होकर वर्तमान नाट्यशास्त्र का रूप ले लिया। धीरे धीरे सामाजिक भावना अभिनेता, नर्त्तक, वादक तथा संगीतज्ञों के विरुद्ध होती गई जो धर्मसूत्र एवं प्राचीन स्मृतियों के समय परिपक्व हो गई। आ० धर्मसूत्र (१, १, ३.११–१२) में लिखा है कि विद्यार्थी को नाटक नहीं देखना चाहिए, इसी प्रकार सामाजिक समारोहों तथा सभाओं में भी नहीं जाना चाहिए। मनु० II १७८ ने विधान किया है कि विद्यार्थी को संगीत, नृत्य तथा नाट्य से दूर रहना चाहिए। गौतम धर्मसूत्र (१५, १८) में बताया गया है कि जो ब्राह्मण नृत्य, संगीत तथा वाद्य का अभ्यास करते हैं और इस प्रकार अपने समय को नष्ट करते हैं उन्हें देव एवं पितरों के लिये किये गए यज्ञ एवं श्राद्ध में आमन्त्रित नहीं करना चाहिए। मनु (VIII, १०२) ने विधान किया है कि जो ब्राह्मण तक्षक एवं अभिनेता हैं उनके साथ शूद्र के समान व्यवहार करना चाहिए। वे साक्षी होने के योग्य नहीं हैं तथा उन्हें धार्मिक

अनुष्ठानों में आमन्त्रित नहीं करना चाहिए (८, ६५)। महाभारत शान्ति पर्व. (२९५·४–५)· में शूद्र को स्त्री का अभिनय करने तथा मञ्च पर मूक प्रदर्शन करने की अनुमति दी गई है (रङ्गावतरण चैव तथा रूपोपजीवनम्)। नट एक निम्नजाति है जो कि सात प्रकार के अन्त्यजों में सम्मिलित है (देखो धर्मसूत्र का इतिहास भाग २ पृ० ७०, ८४)। नाट्यशास्त्र में अभिनय कला को सम्मानित एवं उच्च पद पर प्रतिष्ठित करने के लिए प्रवल प्रयत्न किया गया है तथा उसके साथ धार्मिक एवं आध्यात्मिक तत्व जोड़ दिए गए हैं। सम्भवतया इसी लक्ष्य को सामने रखकर प्रथम पाँच अध्याय जोड़े गए। प्रतिभाशाली विद्वान् तथा प्रसिद्ध शैव दार्शनिक अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र के विषय में अत्यन्त समुचित, व्यवहारिक एवं दार्शिनिक दृष्किोण अपनाया है (भाग I पृ० ३–४)·। स्थान संकोच के कारण यहाँ संक्षिप्त उद्धरण ही दिया गया हैं—'एतेन कामजो दशको गणः' इति वर्जनीयत्वेन नाट्यस्यानुपादेयतेति यत्केचिदाशशङ्किरे तदयुक्तीकृतम्। याज्ञवल्क्यस्मृतिपुराणादौ चास्य प्रशंसाभूयस्त्वश्रवणात् न चागमादृते धर्मोनुमानगम्य इति न्यायात्। एतत्तु वृथैवास्थानभीरून् प्रति शङ्काशमनार्थमभिधीयते नाम। तथाहि—नटानां तावदेतत्स्वधर्माम्नायरूपतयानुष्ठेयमेव। न चास्माकं तच्चेष्टितं विचार्यम्। सोमक्रयोपदेशिनो हि वाक्यस्य न तद्विक्रयिब्राह्मणान्तरगतकृत्याकृत्यविचारणोद्योगो युक्तः। न चाप्यस्योपदिश्यते गायेन्नृत्येदिति।" एतेन का अभिप्राय नाट्यशास्त्र (३६, ७४–७५) से है जिसमें नाट्यशास्त्र के अध्येताओं एवं श्रोताओं के लिए वही फल बताया है जो अन्य वेदों के अध्येताओं एवं धार्मिक अनुष्ठानों के कर्त्ताओं के लिए है अथवा जो फल दानदाताओं को प्राप्त होता है। मनु० (७, ४७) ने मनोरंजन रूप में दस बातों का निर्देश किया है और राजा को आदेश दिया है कि वह उनसे दूर रहे जैसे—मृगयाक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियोमदः। तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः।

उपरोक्त तथ्यों से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि तृतीय या चतुर्थ शताब्दी में नाट्यशास्त्र का ग्रन्थ तैयार हो चुका था और वह किसी एक कवि द्वारा रचा गया था[1] जिसमें सूत्र और भाष्य की शैली में गद्यांश, प्राचीन आर्याएँ तथा श्लोक सम्मिलित थे। साथ ही कुछ आर्याएँ ग्रन्थकर्त्ता द्वारा भी

---

1. नाट्यशास्त्र मूल पाठ पर उनके विचारों के लिए देखो डा० डे—हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत पोइटिक्स् भाग I पृ० २३–३६.

रची गई थीं। तत्पश्चात् समय-समय पर इस शास्त्र के विद्वानों द्वारा यत्र तत्र अनेक श्लोक जोड़ दिये गए।

जब तक कोहल, नन्दिकेश्वर आदि की रचनाओं तथा उद्भट आदि की टीकाओं का पता नहीं चलता तब तक नाट्यशास्त्र के तिथि निर्णय की समस्या उलझी ही रहेगी।

नाट्यशास्त्र के रचयिता का निर्णय करने में भी अनेक कठिनाइयाँ हैं। अ० गुप्त से बहुत पहले यह धारणा विद्यमान थी कि प्रथम अध्याय के छः श्लोक भरत के शिष्य द्वारा रचे गए हैं। इसी प्रकार यह भी मान्यता थी कि ग्रन्थ के अन्तर्गत प्रश्नोत्तर किसी शिष्य द्वारा रचे गए हैं। और मूलपाठं भरत द्वारा। अभिनवगुप्त ने इन मान्यताओं का खण्डन किया है और इस बात पर बल दिया है कि समस्त नाट्यशास्त्र एक ही व्यक्ति की कृति है। उनका कथन हैं कि नाट्यशास्त्र को अनेक व्यक्तियों की वृत्ति मानने में कोई आधार नहीं है, क्योंकि ग्रन्थ प्रणेता साधारणतया अपने लिए अन्य पुरुष का प्रयोग करते हैं[1]। कुछ नास्तिक आचार्यों की मान्यता थी कि नाट्यशास्त्र के तीन प्रवर्त्तक थे सदाशिव, ब्रह्मा और भरत और उनमें से ब्रह्मा को विशेष मान्यता देने के लिए ब्रह्मा ने नाट्यशास्त्र की रचना की। अभिनव गुप्त ने उपरोक्त नास्तिक आचार्यों के इस मत का भी खण्डन किया हैं (एतेन सदाशिवब्रह्मभरतमतत्रयविवेचनेन ब्रह्ममतसारताप्रतिपादनाय मतत्रयी-सारासारविवेचनं तद्ग्रन्थखण्डप्रक्षेपेण विहितमिदं शास्त्रं न तु मुनिविर-चितमिति यदाहुर्नास्तिक धुर्योपाध्यायास्तत्प्रत्युक्तम्, सर्वानपह्नवनीयाबाधित-शब्दलोकप्रसिद्धिविरोधाच्च। (अभि० भा० I पृ० ८)[2]। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि का० मा० सं के अन्त में कहा गया है कि यह

---

1. एकस्य ग्रन्थस्यानेकवक्तृवचनसन्दर्भमयत्वे प्रमाणाभावात् स्वपरव्यवहारेण पूर्वपक्षोत्तरपक्षादीनां श्रुतिस्मृतिव्याकरणतर्कादिशास्त्रेष्वेकविरचितेष्वपि दर्शनात्। अभिनवभारती भाग I पृ० ९।

2. श्री रामकृष्ण कवि का यह कथन है—अभिनवगुप्त ने स्पष्टरूप से लिखा है कि नाट्यशास्त्र में तीन प्रकार की विचारधाराएँ मिलती हैं जो कि क्रमशः ब्रह्मा, सदाशिव तथा भरत से सम्बन्ध रखती हैं। अन्तिम विचारधारा ग्रन्थ-कार की अपनी है। उपरोक्त उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत विचार अभिनवगुप्त के नहीं है किन्तु किसी नास्तिक धुर्योपाध्याय के हैं। अतः श्री कवि का कथन सम्यक् नहीं प्रतीत होता।

नन्दि (नन्दिकेश्वर ?) का० नाट्यशास्त्र से कुछ सम्वन्ध अवश्य रहा होगा। उसके पश्चात् कोहल का नाम आता है जिसका नाट्यशास्त्र के साथ सम्बन्ध स्पप्ट नहीं है। प्रथम अध्याय (श्लोक २६) में सौ पुत्रों अथवा शिष्यों (चौखम्वा संस्करण I श्लोक २६-३९ में वास्तव में कम से १०५ अथवा १०६ का उल्लेख मिलता है) का उल्लेख है जिन्हें भरत की नाट्यवेद तथा अभिनव की शिक्षा दी। उनमें प्रथम चार शाण्डिल्य वात्स्य, कोहल और दन्तिल हैं। अन्तिम अध्याय (३६-६५) में भविष्य-वाणी के रूप में यह बताया गया है कि जो विषय यहाँ छूट गए हैं उनका वर्णन उत्तरवर्त्ती ग्रन्थों में कोहल द्वारा किया जायेगा। पुनः (३६, ७१) में कहा गया है कि कोहल, वात्स्य, शाण्डिल्य और धूर्तिल ने नाट्य-शास्त्र का अभ्यास किया था। प्रतीत होता है नाट्यशास्त्र के संस्करण-कर्त्ताओं को कोहल की कृति अच्छी लगी होगी। और कोहल की तथा कथित रचनाओं के लिए देखो श्री कवि की प्रस्तावना भाग II पृष्ठ vi–VII और डा० डे (हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स भाग I पृ० २५)

अ० भा० ने अनेक स्थानों पर कोहल का निर्देश किया है और उसे भरत का समसामयिक माना है।[1] देखिए अ० भा० भाग १ पृष्ठ २५ (यहाँ भरत और कोहल का रत्नावली में प्रस्तुत नान्दी के साथ एक साथ बताया गया है), १७३ (जहाँ कोहल की कृति में से एक पाद उद्धृत किया गया है) १८२ (यहाँ कोहल के दो पद्यों का उद्धरण है। १८३ (यहाँ एक पद्य उद्धृत किया गया है) २६६ भाग २ पृ० ५५, १३०, १३३, १४२, १४४, १४६, १५१, १५५, ४०७, ४१०, ४१६–१७, ४२१, ४३४, ४५२, ४५९, स्थान संकोच के कारण इन उद्धरणों का विस्तृत वर्णन यहाँ संभव नहीं है। मैं केवल आ केवल अ० भा० के एक उद्धरण का स्पष्टीकरण करूँगा जिसे मनमोहन घोष ने गलत समझा है (इ० हि० ज० भाग १० पृ० १६१)। उनका विचार है कि भरत और अभिनव में परस्पर विरोध है, क्योंकि छटे अध्याय (श्लोक १०) में अभिनवगुप्त ने कहा है कि नाट्य के पाँच अङ्ग होते है और अभिनय तीन प्रकार का होता है[2] डा० मनमोहन घोष ने आठवें

1. भाग I पृ० ४८ ब्रह्मेव कविः शक्र इव प्रयोजयिता भरत इव नाट्यानामाचार्यः कोहलादय इव नटाः……। अध्याय II· १।

2. संग्रहं दर्शयति रसा भावा इत्यादिना।……अभिनयत्रयं गीतातोद्ये चेति पञ्चाङ्गं नाट्यम्…अनेन तु श्लोकेन कोहलमते एकादशाङ्गत्वमुच्यते न तु

अध्याय में नाटक को जो षडङ्ग बताया है वह मिथ्या है (का० शा० ८, १२)। वस्तुतः देखा जाय तो ८·१२ में निर्देश साधारण नाटक के लिए है जिसका कि पद्य में प्रतिपादन किया गया है। इसी प्रकार नाट्य के पूर्ववर्ती पञ्चाङ्ग, होने की मान्यता भी उनकी नहीं है किन्तु औद्भटों की है जो उसे भरत का मत मानते हैं साथ ही यह भी मानते हैं कि ६, १० कोहल के मत को प्रकट करता है, भरत के मत को नहीं। उपरोक्त उद्धरण के अन्तिम वाक्य से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त उद्भट अथवा लोल्लट के मत का समर्थन नहीं करते। दामोदरगुप्त के कुट्टनी मत में (आठवीं शताब्दी का उत्तरार्ध)[1] कोहल को भरत के समान नृत्यकला में निष्णात बताया गया था। राजशेखर के बालरामायण में कोहलनाम के नाट्याचार्य रावण को सम्बोधित करके कहते हैं 'परमेष्ठिनो मानसभुवः प्रथमपुत्रस्य नाट्ययोनेर्भरताचार्यस्य कृतिरभिनवं सीतास्वयंवर इति नाटकं प्रयोक्तव्यम्' (दृश्य III. १२ से पहले).[2] शिङ्गभूपालकृत रसार्णवसुधाकर में भरत, शाण्डिल्य, कोहल, दत्तिल और मतङ्ग का नाट्यसम्बन्धी ग्रन्थकर्त्ता के रूप में उल्लेख है। कुट्टनीमत (श्लोक १२२–१२३). ने दत्तकाचार्य, दन्तिलाचार्य का उल्लेख कामशास्त्र के लेखक वात्स्यायन के साथ तथा दन्तिल का उल्लेख भरत एवं विशाखिल के साथ किया है। कर्नाटिक के शिलालेखों (Epigraphia Carnatica) में भी किसी दत्तक सूत्रवृत्ति का उल्लेख आया है जिसे कोंगणिवर्मा के पुत्र माधव ने रचा था। उनकी वंश परम्परा में चौथा अविनीत हुआ जिसके पुत्र द्वारा दिए गए दान का उल्लेख कर्नाटकीय शिलालेखों में किया गया है। इन दोनों की एकता के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। दन्तिल भरतपुत्र थे (नाट्य० १, ६)। श्री कवि का मत है (ज० ए० हि० रा० सो० भाग III पृ०

भरते। तत्सङ्गृहीतस्यापि पुनरत्रोद्देशात् निर्देशे चैतत्क्रमण्यत्यासनादित्यौद्भटाः। नैतदिति भट्टलोल्लटः।······वयं त्वत्र तत्त्वमग्रे वितनिष्याम इत्यास्तां तावत्। भाग I पृ० २६५–२६६.

1. विटखटके का नृत्यति कोहल भरतोदितक्रियया ॥८१॥

2. देखो मेरा निबन्ध 'Fragments from Kohla' जो कि पटना (१९३०) ओरिएंटल कांग्रेस की रिपोर्ट में (पृ० ५७७–५८०) में प्रकाशित है।

3. अभिनवगुप्त ने (भाग १ पृ० २०५) दत्तिल की ध्रुवा विषयक एक कारिका उद्धृत की हैं (गा० ओ० सी० नाट्यशास्त्र पृ० ३२६.२०५–चौखम्बा-संस्करण IV ३१६–३१७).

२४) कि दन्तिल, ध्रुवा और ताल के विशेषज्ञ थे। उन्होंने गान्धर्ववेदसार नामक ग्रन्थ की रचना की जो अब भी प्राप्य है। श्री कवि ने यमलाशतक नामक तंत्र से (भूमिका, भाग I पृ० ६) एक उद्धरण दिया है जिसमें बताया है कि गन्धर्व नामक उपवेद के ३६००० श्लोक हैं। भावप्रकाशन (गा० ओ० सी० संस्करण X ३४–३५) का कथन है कि भरतों ने नाट्यवेद पर दो प्रकरणग्रन्थ लिखे—एक में १२००० श्लोक थे और दूसरे में ६००० श्लोक। श्री कवि (जर्नल आफ आन्ध्र हिस्टोरिकल रिसर्च सोसायटी भाग III पृष्ठ २३) बतलाते हैं कि वृद्धभारत ने १२०० ग्रन्थों में एक कृति की रचना की जिसका कुछ भाग अब प्राप्य है, जबकि भरत ने ६००० श्लोकों में नाट्यशास्त्र लिखा। शारदातनय का भाव प्रकाशन (११७५–१२५० ई०) कहता है कि नाट्यवेद के रसों के साथ भरत का संबन्ध था और भरत वृद्ध का नाट्यवेद के गद्य भाग के साथ संबन्ध रहा जिसका एक नमूना भी भावप्रकाशन देता है (एवं हि नाट्यवेदेऽस्मिन् भरतेनोच्यते रसः। तथा भरतवृद्धेन कथितं गद्यमीदृशम्॥ यथा नानाप्रकारैर्व्यञ्जननौषधैः पाकविशेषैश्च आदि)[1] भ० ओ० रि० इ० की पाण्डुलिपियों की सूचियों में (भाग XII पृ० ४५३) नाट्यसर्वस्वदीपिका नामक एक कृति है। जिसे आदिभरत पर टीका बताया गया है। इसमें पाँच स्कन्ध हैं (समवाय, शिक्षा, भाव, उल्लास, वैशेषिक) जो ३२ अध्यायों तथा २२१ प्रकरणों में विभक्त हैं। उसकी श्लोक संख्या ६००० है। नाटकों के बहुत से टीकाकारों ने आदिभरत तथा भरत दोनों के उद्धरण दिये हैं। राघवभट्ट ने शाकुन्तल पर अपनी अर्थद्योतनिका नामक टीका में आदिभरत से कम से कम सतरह बार कारिकाएँ उद्धृत की हैं (उनमें से कुछ कारिकाओं के स्थान में तत्समान अन्यकारिकाएँ दी हुई हैं)। इसी प्रकार भरत से ग्यारह बार उद्धृत हैं। यह उल्लेखनीय है कि भरत से उद्धृत करते समय उन्होंने प्रायः अध्यायों का उल्लेख किया है; किन्तु आदिभरत से उद्धृत करते समय उनका निर्देश नहीं किया। संभव है राघवभट्ट के सामने दो पुस्तकें हों एक में भरत का उल्लेख हो और दूसरी में आदिभरत का तथा दोनों में बहुत से पाठ समान हों। एक स्थान पर उन्होंने नीचे लिखा पाठ दिया है 'सूत्र—मूलभरतटीकाकाराभिनवगुप्ताचार्यसंमता अवान्तररूपाष्टपदा मूलकारेण स्वयमेव

---

1. यह गद्य चौखम्वा संस्करण के छटे अध्याय में पृ० ७१ पर रससूत्र के बाद वाले गद्यांश के समान है। वह गद्यांश है 'यथा नानाव्यञ्जनौषधि-द्रव्यसंयोगात्, आदि'।

द्वादशपदोदाहृता'। जो कई दृष्टियों से रोचक है। प्रतीत होता है कि उनकी दृष्टि में सूत्र और मूलभरत परस्पर भिन्न है। साधारणतया आदिभरत तथा भरत में परस्पर भेद अपेक्षाकृत परवर्ती लेखकों ने किया है। उदाहरणस्वरूप बहुरूपमिश्र ने बहुरूपक पर अपनी टीका में षट्सहस्रीकार (अर्थात् भरत के नाट्यशास्त्र) को उद्धृत किया है। 'सूत्रणं सकलाङ्कानां ज्ञेयमङ्कमुखं बुधैः—इति षट्सहस्रीकारः' और दूसरा द्वादशसहस्रीकार से 'समाप्यमान एतस्मिन्नितराङ्कस्य सूचनम्। समासतो हि नाट्यज्ञैरङ्कावतर इष्यते॥ इति द्वादशसहस्रीकारः' देखो ज० ओ० रि० मद्रास भाग ८ पृ० ३२१—३३४ (बहुरूपमिश्र या डा० राघवन का लेख) पृ० ३२९—३० पर। देखो जनरल आफ संगीत एकेडमी मद्रास पृ० ८ में डा० राघवन का 'उत्तरकालीन संगीत साहित्यं विषयकलेख तथा डा० एस० के० डे० आवर हैरिटेज I भाग २। साहित्य की दूसरी शाखाओं में भी ग्रंथों को वृद्ध या बृहत् शब्द के साथ प्रस्तुत किया गया है। उदाहरण स्वरूप याज्ञवल्क्य स्मृति II. १३५—१३६ की मिताक्षरा नामक टीका में विष्णुधर्मसूत्र (१७,४—१६ अपुत्रधनं पत्न्यभि आदि). का निर्देश वृद्धविष्णु के रूप में किया गया है। व्यवहारसार (पृ० २५२) में भी इसी प्रकार का निर्देश है। स्मृति च० II. २९८, व्यवहारप्रकाश तथा मदनरत्न में उसीका उल्लेख बृहद्विष्णु के रूप में है। संभव है नाट्यशास्त्र की विभिन्न दो पुस्तकें उपलब्ध हों और श्लोकसंख्या भी भिन्न-भिन्न हो। उन्हीं को क्रमशः आदिभरत तथा भरत की कृतियाँ मान लिया गया हो। आदि भरत तथा भरत के इस प्रश्न पर देखो डा० डी० आर० मान्कड का आदिभरत पर लेख तथा नाट्यसर्वस्वदीपिका' अनल्स आफ भंडारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट (Abori) भाग XIII, पृ० १७३, १७९। मैसूर गवर्नमेंट लायब्रेरी में 'आदि भरत का तथाकथित ग्रन्थ' विषय पर प्रो० पी० के गोड का लेख—ए० भा० ओ० रि० इ० भाग XIII. पृ० ९२—९३. तथा राघवभट्ट की टीका के आधार पर आदिभरत तथा भरत के प्रश्न पर श्री मनमोहन घोष का लेख, ए० भा० ओ० रि० इ० भाग XV पृ० ८९—९६. हमने पिछले वाक्य में जो मत प्रकट किया है उपरोक्त लेखों से उसीका समर्थन होता है।

स्वयं नाट्यशास्त्र में भरत शब्द अभिनेता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—पृष्ठे कृत्वास्य कुतपं नाट्यं युङ्क्ते यतोमुखं भरतः। सा पूर्वा मन्तव्या प्रयोगकाले तु नाठ्यज्ञैः॥ १४.६५ (काव्यमाला १३.६१, गायकवाड़ १३·६३)। उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा कि नाट्यशास्त्र के मूलपाठ के रचयिता का पता लगाना बड़ा कठिन है। मैं यह अवश्य कहता हूँ कि प्रथम पाँच अध्याय बाद में

जोड़े गए उस समय यह कहना आसान था कि भरत जो इस लोक तथा अन्य लोक दोनों के भेदी थे नाट्यशास्त्र के रचयिता थे। उस सम्बन्ध में इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है कि अपेक्षाकृत प्राचीन याज्ञवल्क्यस्मृति (III. १६२) में भरत का अर्थ अभिनेता है "यथा हि भरतो वर्णैर्वर्णयत्यात्मनस्तनुम्। नानारूपाणि कुर्वाणस्तथात्मा कर्मजास्तनूः ॥[1] इस पद की विश्वरूप सहित सभी टीकाकारों ने व्याख्या की है।

यह सर्वथा संभव है कि परम्परागत नाट्यकला के किसी पूर्ण ज्ञाता ने, जिसे भरत (अभिनेता) प्रिय थे, वर्तमान नाट्यशास्त्र का अधिकांश संगृहीत किया और भरतजा को सम्मानित करने के लिए उस संग्रह को एक पौराणिक ऋषि की रचना बता दिया। संस्कृत साहित्य में ऐसी बातें बाहुल्यसे पाई जाती हैं। विस्तृत पुराण साहित्य को व्यास की रचना बताया गया है किन्तु शायद ही कोई विश्वास कर सके कि १८ पुराण और १८ उपपुराण लिखना व्यास नाम के एक ही व्यक्ति का काम है। कुछ आर्याओं और श्लोकों को आनुवंश्य कहा गया है जिससे ऐसा लगता है कि पदों की एक भारी संख्या उपलब्ध थी जिसे नाट्य पर लिखे शास्त्र में सम्मिलित करना आसान था। उपलब्ध नाट्यशास्त्र कहता है कि इसमें शब्दलक्षण पर प्राचीन आचार्यों के मतों का सार दिया गया है पूर्वाचार्यैरुक्तं शब्दानां लक्षणं तु विस्तरशः। पुनरेव संहृतार्थं लक्षणतः संप्रवक्ष्यामि ॥' (चौ० सं० १५.२२. का० मा० सं० १४, २२, किन्तु गायकवाड़ संस्करण १४.२४ में पूर्वाचार्य का उल्लेख नहीं है)। भावप्रकाशन वे दसवें अधिकार में पृ० २८५–२८७ पर नाट्यवेद की उत्पत्ति की कथा है कि शिव ने नन्दिकेश्वर को आज्ञा दी कि ब्रह्मा को नाट्यवेद का शिक्षण दे। भरत अपने पाँच शिष्यों सहित ब्रह्मा की सेवा में उपस्थित हुए तो ब्रह्मा ने कहा "इस नाट्यवेद को धारण करो" (तानब्रवीन्नाट्यवेदं भरतेति पितामहः)। इसलिए प्रथम अभिनेता भरत कहलाए और उन्होंने मनु के समक्ष प्रथम बार नाटक खेला, मनु संसार के व्यवस्थापनकार्य से उत्पन्न थकान को उतारने के लिए मनोरंजन चाहते थे। भरतों ने नाट्यवेद से तत्त्व लेकर दो सार तैयार किये, एक १२००० पदों में और दूसरा ६००० पदों में और दूसरे का नाम भरतों पर पड़ गया "नाट्यवेदाच्च भरतः सारमुद्धृत्य सर्वतः। ···एकं द्वादशसाहस्रैः श्लोकैरेकं तदर्धतः। षड्भिः श्लोकसहस्रैर्यो नाट्यवेदस्य संग्रहः।

---

1. प्रायः इन्ही शब्दों में यह पद बृहत्पराशर पृ० २९४ (जिव०) में मिलता है।

भरतैर्नामितस्तेषां प्रख्याता भरताह्वया: ।। इस कथा में संभवत: स्पष्ट हो जाता है कि भाव प्रकाशन का रचयिता उपलव्ध नाट्यशास्त्र को भरतमुनि की कृतिं मानने को तैयार न था वल्कि वह इसके रचयिता भरतों को मानता था जिन्होंने नाट्य का अध्ययन किया था । इससे मेरे उपर्युक्त अनुमान की पुष्टि होती है। स्वाति और नारद को गान्धर्व और वाद्य का प्रतिपादक कहा गया है। (अध्याय ३३, ३ और ३२.४८४)। उपलव्ध नाट्यशास्त्र (चौ० सं० १६, ११२ का० मा० सं० १५, ११०, गायकवाड संस्करण के भाग II पृ० २८१ पर गुहादिना का भिन्न पाठ रखा है) में गुहनायक छंदोग्रन्थकार का उल्लेख है। ध्रुवाओं के संवन्ध में नारद का नाम लिया गया है (चौ० ३२, १ का० मा० ३२.१)। प्रस्तुत ग्रन्थ (चौ० सं० ४, १७–१९) में लिखा है कि तण्डु ने भरत को विभिन्न करणों तथा रेचकों सहित अंगहारों को प्रस्तुत करने की शिक्षा दी। अभिनवगुप्त का कहना है कि नाट्यशास्त्र ने तण्डु तथा मुनि शव्दों का अभिप्राय नन्दिन् तथा भरत से है (तण्डुमुनिशब्दौ नन्दिभरतयोर-परनामनी। अ० भा० भाग II पृ० ९०। नाट्यशास्त्र (चौ० सं० २४, १८२ और २५, ६५, का० मा० २२·१८३ और २३·५२) में कामतंत्र (काम-शास्त्र पर एक ग्रन्थ) का उल्लेख है चौखम्बा संस्करण (२४–१४२) में कामसूत्र का उल्लेख है किन्तु का० मा० स० में नहीं है। राजा, सेनापति; मंत्री, मुख्य न्यायाधीश आदि के गुण तथा योग्यता के वर्णन के लिए बृहस्पति के मत का सहारा लिया गया है (ब्रहस्पतिमतादेतान् गुणांश्चाप्यभि लक्षयेत् । चौ० सं० ३४·७९, का० मा० २४·७२) ब्रह्मा से भरत को नाट्य-शास्त्र का ज्ञान प्राप्त होने के भ्रम को वनाए रखने के लिए, माननीय लेखक कौटिल्य की संभवत: उपेक्षा की गई और देवताओं के गुरु ब्रहस्पति का अर्थशास्त्रकार के रूप में उल्लेख हुआ[1]। अन्यदेशों के नामों के सिलसिले में एक पुराण का जिक्र है "अन्येऽपि देशा: प्राच्यां या पुराणे संप्रकीतिता। तेषु प्रयुज्यते त्वेषा प्रवृत्तिश्चौड्रमागधी १४·४६ (का० मा० १३·४२, गा० ओ० सी०·१३.४८)· नाट्यशास्त्र में दूसरों के विचारों का उल्लेख 'अन्ये; 'अन्यैस्तु' शब्दों द्वारा किया गया है। जब प्रस्तुत ग्रन्थ छपने के लिए प्रेस में जा रहा था तो मुझे श्री के० एम० वर्मा का एक लेख "भरतनाट्यशास्त्र के सात शब्द और उनका तात्पर्य (ओरिअन्ट लोगं मैन्स, १९५८) देखने को मिला। लेखक ने

1. बृहस्पति की अर्थशास्त्र पर रचना के बारे में मेरी पुस्तक धर्मशास्त्र का इतिहास देखिए (खण्ड I पृ० १२३–१२५).

निम्नलिखित सात शब्दों को लिया है—सूत्र, भाष्य, संग्रह, निरुक्त, कारिका, आनुवंश्य और निदर्शन (जो नाट्यशास्त्र अ० ६ तथा ७). और उनके अर्थ की चर्चा करते हुए अपने निष्कर्ष निकाले हैं। उनकी विस्तृत चर्चा यहाँ संभव नहीं है। उनका मुख्य निष्कर्ष (पृ० ८०) यह है कि भरत से पहले नाट्यशास्त्र पर एक सूत्रग्रन्थ उस पर भाष्य तथा उन सूत्रों पर आधारित आनुवंश्य श्लोक विद्यमान थे। उनके कर्त्ता अज्ञात हैं। अन्त में उन्होंने एक लम्बी सूची द्वारा यह प्रकट किया है कि कौन-सा अंश सूत्र रूप है और कौन-सा भाष्य रूप। इस मान्यता के विरुद्ध प्रबल युक्तिं यह है कि जब भरत ने स्वाति, नारद, कोहल, वात्स्य, धूर्तिल आदि अनेक आचार्यों के नाम दिये हैं तो वे तीन क्यों छोड़ दिये। उनमें से एक भी नाम नाट्यशास्त्र में क्यों नहीं दिया गया।

यहाँ पर नाट्यशास्त्र की संक्षिप्त रूपरेखा देना अनुचित न होगा। हम उसे चौखम्बा संस्करण के अनुसार अध्याय क्रम से देते हैं। खेद है कि चौखम्बा संस्करण और गायकवाड़ संस्करण में अध्यायों के क्रम तथा श्लोक संख्या में पर्याप्त भेद है जहाँ किसी संस्करण का उल्लेख नहीं किया गया वहाँ चौखम्बा संस्करण समझना चाहिए किन्तु कहीं पर गलती भी हो सकती है जिसके लिए पाठक क्षमा करें। सर्वाधिक भेद गायकवाड़ संस्करण के तृतीय भाग में है।

नाट्यवेद की उत्पत्ति—(I) आत्रेय तथा अन्य ऋषि ब्रह्मा से पाँच प्रश्न करते हैं: नाट्यवेद की उत्पत्ति कैसे हुई, किसके लिए हुई, इसके अङ्ग कौन से हैं, निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचने के उपाय या साधन क्या हैं, और मंच पर इसका प्रदर्शन कैसे किया जाय (अभिनवगुप्त कहते हैं कि इन प्रश्नों के उत्तर एक जगह नहीं दिये गये हैं बल्कि पूरे ग्रन्थ में बिखरे हुए हैं); चूँकि शूद्रों के लिए वेद पढ़ना वर्जित है अतः ब्रह्मा ने भरत को पञ्चमवेद की रचना करने की आज्ञा दी जो सभी वर्णों के लिए उपयोगी हो[2]। भरत ने ऋगवेद से कथा-वस्तु, सामवेद से संगीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रसों को लेकर नाट्यवेद का प्रणयन किया और उसे अपने १०० पुत्रों शिष्यों को पढ़ाया।

---

1. वयं तु ब्रूमः—नात्र क्रमः कश्चित्। अपि तु यथावसरं महावाक्यात्मना षट्सहस्रीरूपेण प्रधानतया प्रश्नपञ्चकनिरूपणपरेण शास्त्रेण तत्त्वं निर्णीयते न तु क्रमः कश्चित्। अभिनव भारती I पृ० ८।

2. न वेदव्यवहारोयं संश्राव्यः शूद्रजातिषु। तस्मात्सृजापरं वेदं पञ्चमं सार्ववर्णिकम्। नाट्य I १२।

(२) **नाट्यशाला का निर्माण**—(श्लोक ३ तथा ६ नाट्यमण्डप श्लोक V ७ में पेक्षागृह)[1];—स्तम्भों का निर्माण करना चाहिए; इसमें दो पृथक भाग होने चाहिए, और वह पर्वतगुहा के आकार की होनी चाहिए, दीवारों पर चित्र होने चाहिए । दर्शकों के बैठने के लिए आसन काष्ठ अथवा ईंट के बनाने चाहिए ।

(३) **देवपूजा और वरप्राप्ति**—तीसरी बात है अनेक देवताओं यथा महादेव, ब्रह्मा, विष्णु, बृहस्पति, गुह की पूजा तथा उनसे वरदान की प्राप्ति ।

(४) **दो नाटकों का अभिनय**—अमृतमन्थन नामक नाटक[2] का देवताओं के सम्मुख तथा त्रिपुरदाह का महादेव के सम्मुख अभिनय; तण्डु द्वारा भरत को विभिन्न अङ्गहारों (अङ्गपरिचालन), करणों (अङ्गमुद्राओं)[3] तथा रेचकों

---

1. द्रष्टव्य डा० राघवन का 'थियेटर आर्किट्क्यर इन ऐंन्स्येष्ट इण्डिया' त्रिवेणी अंतिम भाग ६९–७७ तथा भाग ५ (१९३२–३३) पृ० ३५७–३६६ तथा श्री डी० आर० मनकड इण्डि० हि० क्वा० भाग ८ पृ० ४८०–४९९ 'दि हिन्द थियेटर'। नाट्य २.८–११ के अनुसार नाट्यशालाएँ तीन प्रकार की होती हैं विकृष्ट (=आयताकार), चतुरस्त्र (वर्गाकार) तथा त्र्यस्त्र (त्रिभुजाकार) तथा इनमें से प्रत्येक ज्येष्ठ अथवा मध्यम अथवा अवर होता था (१०८, ६४ अथवा ३२ हस्त अथवा दण्डी के मान के बराबर), तथा प्रत्येक को हस्तों अथवा दण्डों से मापा जाता था (दण्ड=४ हस्त) । मध्यम पुरुषों के लिए उपयुक्त होता था तथा इसका आयाम ६४ हस्त तथा विस्तार ३२ हस्त होता था क्योंकि अन्यथा पात्रों की वाणी अस्पष्ट रूप से सुनाई देगी । भावप्रकाशन के लेखक शारदातनय का कथन है कि उन्होंने दिवाकर नामक ब्राह्मण जो नाट्यशालापति था से नाट्यवेद पढ़ा था (भावप्रकाशन १ पृ० २ ।

2. पद्मपुराण (४।१२।८१) का कथन है कि भरत ने देवताओं के लिए लक्ष्मीस्वयंवर नामक नाटक का अभिनय प्रस्तुत किया जिसमें उर्वशी ने लक्ष्मी का अभिनय करते हुए पुरूरवा के ध्यान में रत रहने के कारण भूल कर बैठी और भरत ने उसे शाप दिया ।

3. अभिनव भारती (भाग १ अध्याय ४) गा० ओ० सी० के संस्करण में १०८ करणों के उदाहरण दिये गए हैं जिन्हें श्लोक ३४–५५ में गिनाया गया है । इन्हें चिदम्बरम के नटराज मन्दिर के पूर्वी तथा पश्चिमी गोपुरम में प्रत्येक मुद्रा के नीचे उत्कीर्ण शिलाओं से अनुकरण किया गया है । इनका

(भावमुद्राओं) का ज्ञान कराना। ताण्डव नृत्य की उत्पत्ति तथा तकनीक। अभिनय में नर्त्तन का स्थान–उसका अपने आप में कोई उद्देश्य नहीं। गीतों से सौन्दर्य की अभिवृद्धि।[1]

(५) पूर्वरङ्ग, नान्दी[2], ध्रुवा, प्रस्तावना के सम्बन्ध में टिप्पणियाँ।

(६) **ऋषियों द्वारा पूछे गये पाँच प्रश्न**—रसों के नामकरण का आधार; भाव, संग्रहकारिका आदि का स्वरूप; संक्षेप में (संग्रह) शास्त्र के ग्यारह तत्त्व; रस, भाव, अभिनय, धर्मी, वृत्ति, प्रवृत्ति, सिद्धि, स्वर, आतोद्य, गान तथा रङ्ग का वर्णन; कारिका के अर्थ, निरुक्त; आठ रस (अथवा नौ रस[3]), आठ स्थायी भाव, तैंतीस व्यभिचारी भाव, आठ सात्त्विक भाव, चार प्रकार के अभिनय (आङ्गिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्त्विक) दो प्रकार के धर्मी (अर्थात् लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी); चार प्रकार की वृत्तियाँ भारती, सात्वती,

---

उत्कीर्णन १३वीं शताब्दी ईस्वी में हुआ। चिदम्बर मन्दिर में उत्कीर्ण १०८ करणों के लिए 'द्रष्टव्य मार्ग' भाग ५ संख्या २ (पृ० ५२–७१)। भरत के नाट्यशास्त्र अध्याय ४ में वर्णित १०८ करण (नृत्य मुद्राएँ) क्रमबद्ध रूप से उत्कीर्ण हैं तथा प्रत्येक मूर्ति के नीचे (अध्याय ४ श्लोक) अभिलेख हैं (गा० ओ० सी० में श्लोक ६१–१६९ हैं)।

1. नाट्यशास्त्र का कथन है : अत्रोच्यते न खल्वर्थं नृत्तंकंचिदपेक्षते। किंतु शोभा जनयतीत्यतो नृत्तमिदं स्मृतम्॥ प्रायेण सर्वलोकस्य नृत्तमिष्टं स्वभावतः। मङ्गल्यमिति कृत्वा च नृत्तमेतत्प्रकीर्तितम्॥ विवाहप्रसवावाहप्रमोदाभ्युदयादिषु। विनोदकरणं चैव नृत्तमेमत् प्रकीर्तितम्॥ ······गीतप्रयोगमाश्रित्य नृत्यमेतत् प्रनृत्यताम्। अध्याय ४, पृ० २६०–२६३, २६५।

2. द्रष्टव्य० इण्डि० हिस्टा० क्वा० भाग १७ (१९४१) पृ० ३५९–३६९ यहाँ नान्दी का ऐतिहासिक विवेचन प्राप्त होता है।

3. अभिनव भारती से प्रतीत होता है कि नाट्यशास्त्र के दो पाठभेद थे, एक में नौ रसों (शान्तरस को लेकर) का जो गा० ओ० सी० के संस्करण में उपलब्ध होता है तथा दूसरा वह जिसमें केवल आठ ही रसों का (जिसमें शान्तरस नहीं गिनाया जाता) वर्णन मिलता है चौखम्बा संस्करण प्रो० सी०सी० पाण्डे का विद्वत्तापूर्ण लेख 'धनञ्जय एण्ड अभिनवगुप्त न्यू० इण्डि० एण्टिक्वायरी भाग २७२–२८२ जिसमें शान्त रस के पक्ष तथा विपक्ष में तर्क उपस्थित किये गए हैं।

कैशिकी, आरभटी); प्रवृत्तियाँ (आवन्ती, दाक्षिणात्या, ओड्रमागधी, पाञ्चाली), सिद्धियाँ (दो प्रकार की दैवी तथा मानुषी), सात स्वर (षडज, षटभज इत्यादि); चार प्रकार के वाद्य (तत, अवनद्ध, घन, सुषिर), पाँच प्रकार के गीत, रङ्गमञ्च (मण्डप—वर्गाकार, आयताकार तथा त्रिभुजाकार); विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारीभावों से रस की निष्पत्ति का प्रकार, रसों का पारस्परिक तथा भावों से सम्बन्ध, रंग तथा रसों के अधिदेवता; रसों तथा उनके स्थायी भावों का विस्तृत विवेचन।

(७) **रस तथा भावों का विवेचन**—भावों, विभावों, स्थायीभावों (अर्थात् रति इत्यादि का) तथा व्यभिचारीभावों अर्थात् निर्वेद, ग्लानि इत्यादि (कुल मिलाकर ३३) का विस्तृत विवेचन, आठ प्रकार के सात्त्विक भाव-स्तम्भ इत्यादि;

(८) चार प्रकार के अभिनयों यथा सात्त्विक (जिनका वर्णन पहले हो चुका है स्तम्भ, स्वेर, कम्पन, भय इत्यादि; आङ्गिक, वाचिक, तथा आहार्य।

(९) नाट्य में हाथ, कक्षा, कटि, जानु, पैरों का विविध प्रकार से संचालन तथा मुद्राएँ[1]; हाथ की २४ मुद्राएँ आदि जब वे मिलते नहीं यथा पताक, त्रिपताक आदि तथा बद्धहस्त की १३ मुद्राएँ यथा अञ्जलि, स्वस्तिक आदि; २७ प्रकार के नृत्तहस्त; ६४ प्रकार के अङ्गसंचालन तथा हस्तमुद्राओं की परिभाषाएँ तथा उनका प्रयोग; अन्य प्रकार के अङ्गसंचालन तथा हस्त-मुद्राओं का प्रयोग रस, भाव तथा अभिनय का देश काल अनुरूप होना, नृत्य में हस्तमुद्राएँ;

(१०) वक्षस्थल, बगल, कटि तथा शरीर के अन्य भागों का पाँच प्रकार से परिचालन, उनकी निरूपण व्याख्याएँ तथा विभिन्न अवसरों पर प्रयोग।

(११) चारी, खण्ड, करण तथा मण्डल की परिभाषाएँ; १६ प्रकार की भौम्य (भूमिकी) चारियों[2] तथा १६ की आकाशचारियों (चारी का बहुबचन)

---

1. नाट्य ९।२७ एवमेष प्रयोक्तव्यः स्त्रीपुंसाभिनयेकरः, के सम्बन्ध में अ०भा० (भाग २ पृ० ३१ की टीका है; स्त्रीपुंसयोरुभयोरपि अभिनेत्रोरभिनेययोर्वा, अतः अभिनव के काल में स्त्रियों को भी अभिनेत्रियों के पद पर नियुक्त किया जाता था। नाट्य ९।१५५ भी द्रष्टव्य।

2. एकपादप्रचारो यः सा चारित्यभिसंज्ञिता। द्विपादक्रमणं यत्तु करणं नाम तद्भवेत ॥......यदेतत्प्रस्तुतं नाट्यं तच्चारीष्वेव संज्ञितम् ॥

नाट्य ११. ३ तथा ६,

की परिभाषाएँ एवं उनका प्रयोग; नाटक में घनुर्विज्ञान का प्रदर्शन का प्रचार; जिन पात्रों को अभिनय में तीव्र गति नहीं चलना चाहिए तथा अधिक परिश्रम नहीं करना चाहिए उनका वर्णन।

(१२) मण्डलों की संख्या तथा उनकी परिभाषाएँ।

(१३) रसों के अनुसार पात्रों के चलने के ढंग, तथा ध्रुवागान के प्रारम्भ होने के पश्चात् वाद्यों के साथ पात्रों के प्रवेश करने के स्थान; देवताओं, राजाओं, मध्यवर्ग के पुरुषों तथा स्त्रियों, निम्नवर्ग के लोगों के द्वारा रंगमंच को पार करने में लगनेवाला समय; रौद्र, वीभत्स, वीर तथा अन्य रसों को प्रस्तुत करने के ढंग तथा आहत, शीतपीडित अथवा सन्यासी व्यक्ति, मदमत्त अथवा उन्मत्त व्यक्तियों के अंगपरिचालन प्रकार।

(१४) नाट्यमण्डप में वाद्यों के लिए उस्वितवाला स्थान, गृह, उपवन, वन, स्थल, जल आदि को दर्शाने में स्थान निर्णय; एक अङ्क से घड़ी, मुहूर्त, पहर अथवा अधिक से अधिक एक दिन से अधिक की घटना का चित्रण नहीं होना चाहिए। एक मास अथवा एक वर्ष में घटनेवाली घटनाओं के चित्रण के लिए नवीन अङ्क की योजना करनी चाहिए; चार प्रकार की प्रवृत्तियाँ जो कि देश, वेशभूषा, भाशा, व्यवहार के समुच्चय पर निर्भर करती हैं। ये प्रवृत्तियाँ आवन्ती, दाक्षिणात्या, पाञ्चाली ओड्र-मागधी हैं, उपरोक्त वर्गों के अन्तर्गत आने वाले देशों का वर्णन तथा उनकी वृत्तियाँ; दो प्रकार के नाट्य प्रयोग अर्थात् सुकुमार तथा आविद्ध; डिम, समवकार, व्यायोग तथा ईहामृग नामक रूपक आविद्ध हैं। दशरूपकों में से शेष छः रूपक सुकुमार कहलाते हैं, लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी की परिभाषाएँ तथा उदाहरण[1]।

---

1. लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी के सम्बन्ध में डा० राघवन का विस्तृत लेख (जनरल ऑफ़ ओरियन्टल रिसर्च मद्रास भाग ७ पृ० ३५९–३७५ तथा भाग पृ० ५७–७४। भरत ने इस प्रकार परिभाषा दी है : स्वभावभावोपगतं शुद्धं त्वविकृतं तथा। लोकवार्ताक्रियोपेतमङ्गलीलाविवर्जितम् ॥ स्वभावाभिनयोपेतं नानास्त्रीपुरुषाश्रयम्। यदीदृशं भवेन्नाट्यं लोकधर्मी तु सा स्मृता ॥······योयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखक्रियात्मकः। सोङ्गाभिनयसंयुक्तो नाट्यधर्मी तु सा स्मृता ॥ नाट्य १४.७०–७१ तथा ७८। कल्लिनाथ ने उदाहरण दिया है कि (सं० र० पृ० ६२९) वाक्याभिनये केवल–वाक्योच्चारणं लोकधर्मी रागयुक्त-वाक्योच्चारणं नाट्यधर्मी।

(१५) स्वर तथा व्यंजनों पर आधारित वाचिकाभिनय; वाणी ही नाट्य तथा अङ्गिक अभिनय का शरीर है; वेशभूषा तथा अन्य उपकरणों से कही जानेवाली बात का केवल संकेत मात्र होती है; स्वरों, व्यंजनों; संज्ञाओं, क्रियाओं, उपसर्गों, सन्धियों इत्यादि की विस्तृत आलोचना, नाटक में संस्कृत अथवा प्राकृत का प्रयोग होना चाहिए अथवा दोनों का, एक से लेकर २६ मात्राओं के छन्द, प्रत्येक छंद के अनेक उपभेद; जिनकी संख्या विशाल है; आठ गणों की प्रक्रिया (यथा भ० म० ज० गण); गुरु, लघु, यति के अर्थ।

(१६) यति नाटकों में प्रयुक्त होनेवाले वृत्त, उनकी परिभाषाएँ तथा उदाहरण; सम तथा विषम वृत्त आर्या छन्द;

(१७) रङ्ग मंच पर प्रस्तुत किये जाने वाली[1] कविता के ३६ लक्षण, उनकी परिभाषाएँ; नाटक के चार अलङ्कार अर्थात् उपमा, रूपक, दीपक तथा यमक, उनके उपभेद तथा उदाहरण; काव्य के दस दोष, दसगुण तथा उनकी परिभाषाएँ।

(१८) तीन प्रकार से प्राकृत का उच्चारण—ठीक संस्कृत की भाँति (संस्कृतसम), विभ्रष्ट (जिसमें संस्कृत के स्वर तथा व्यञ्जन वदल जाते हैं) तथा देशी; जिन पात्रों को संस्कृत तथा जिनको प्राकृत तथा अन्य बोलियों का प्रयोग करना चाहिये; सोरसेनी प्रमुख प्राकृत है किन्तु ६ अन्य भाषाएँ (प्राकृत) भी हैं यथा मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या, अर्धमागधी, वाह्लीका, दाक्षिणात्या—जिनका प्रयोग अभिनेताओं की इच्छा के अनुसार किया जा सकता है; इनका प्रयोग जिन्हें करना चाहिए; शबरों, अभीरों, चाण्डालों, सचरों (? शकारों)

---

1. द्रष्टव्य डा० राघवन का लेख 'दि कन्सेप्ट आफ लक्षणस् इन भरत; ज० ओ० रि० मद्रास, भाग ६ पृ० ५४–८२ तथा 'समकन्सेप्ट आफ अलङ्कार शास्त्र' (१९४२) पृ० १–४७; प्रो० भट्टाचार्य द्वारा लिखित 'डाक्ट्रिन आफ लक्षणस्' पूना ओरियन्टलिस्ट भाग १६ खण्ड १ पृ० ११-३३। अध्याय १६ की अंतिम पंक्ति में भरत लिखते हैं: काव्यबन्धास्तु कर्त्तव्याः षट्त्रिंल्लक्षणान्विता। जैसा कि अभिनवगुप्त ने लिखा है कि इनमें से कुछ लक्षणों का लोप हो गया तथा इनमें से कुछ यथा आशीः तथा दृष्टान्त अलङ्कार नाम से अभिहित हुए: तत्र गुणालङ्कारादिरिति वृत्तयश्चेति काव्येषु प्रसिद्धोलक्षणानि तु न प्रसिद्धानि। अ० भा० भाग २ पृ० २९४। इनके सम्बन्ध में दस पक्ष हैं: इदं तु दशपक्ष्यां वस्तु (भाग २ पृ० २९७।

द्रविड़ों, ओड्रों (उड़ीसा प्रदेश के निवासियों) तथा वनवासियों (इनकी वोली को विभाषा कहते हैं)।

(१९) उच्च, मध्य तथा निम्न वर्ग के पात्रों को सम्वोधन करने की विभिन्न प्रणालियाँ यथा व्राह्मण को आर्य, राजा को महाराज कहना; द्विजातियों के नामों का क्रमशः शर्मा, वर्मा तथा दत्तान्त होना चाहिये; भद्रवेश्याओं के नाम के आगे दत्ता, मित्रा तथा सेना; पाठ्य (अर्थात् गद्यभाग) के गुण; सङ्गीत के सप्त स्वर (षडज, ऋषभ इत्यादि); तीन स्थान (वक्षस्थल, कण्ठ तथा शीर्ष); चार स्वर उदात्त, अनुदात्त, स्वरित तथा कम्पित; काकु के दो प्रकार; अलङ्कार, उच्च, दीप्त, मन्द्र, नीच, द्रुत तथा विलम्बित।

(२०) दस रूपकों (निम्नलिखित[1]) की विस्तृत विवेचना; प्रथम प्रकार के रूपक विषय तथा वैशिष्ट्य; रङ्गमंच[2] पर किन घटनाओं को प्रस्तुत करना तथा किन को नहीं प्रस्तुत करना चाहिए; प्रवेशक तथा विष्कम्भक की प्रणाली प्रकरण तथा अन्य प्रकार के रूपकों की विशेषताएँ तथा उनके संघट के अंगों की परिभाषाएँ।

(२१) नाटक की कथावस्तु, इसमें आधिकारिक तथा प्रासंगिक भाग, पाँच प्रकार की सन्धिया, पाँच अवस्थाएँ (प्रारम्भ, प्रयत्न आदि) पाँच अर्थ प्रकृतियाँ—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकारी तथा कार्य, इनकी परिभाषाएँ; सन्ध्यन्तर; पाँच सन्धियों के ६४ अंग (अर्थात् मुख तथा गर्भ के १२, प्रतिमुख तथा विमर्श के १३ तथा निर्वहण के १४); तथा उनकी परिभाषाएँ; पाँच अर्थोक्षेपक (अङ्कों के मध्य घटनेवाली घटनाओं का परिचायक जिनको रङ्गमंच पर प्रस्तुत नहीं किया जाता है) अर्थात् विष्कम्भक, चूलिका, प्रवेशक, अङ्का-

---

1. नाटकं सप्रकरणमङ्को व्यायोग एव च। भाण, समवकारश्च वीथी प्रहसनं डिमः॥ ईहामृगं च विज्ञेयं दशमंनाट्यलक्षणम्। (नाट्य २०. २–३)

2. क्रोधप्रसादशोकाः शापोत्सर्गोऽथ विद्रवोद्वाहौ। अद्भुतसंश्रयदर्शनमङ्कप्रत्यक्षजानि स्युः। युद्धं राज्यभ्रंशोमरणं नगररोधनं चैव। अप्रत्यक्षकृतानि प्रवेशकैः संविधेयानि॥ अङ्कप्रवेशके वा प्रकरणमाश्रित्य नाटकं वापि। न वधः कर्त्तव्यः स्याद्योभ्युदयी नायकः ख्यातः॥ नाट्य २०. २०–२२ द्रष्टव्य अ० भा० भाग २ पृ० ४२६–४२७ (अध्याय १८) मृत्यु का प्रत्यक्ष अभिनय प्रस्तुत करने के सम्बन्ध में। अभिनव (भाग २ पृ० ४२६) स्वयं इसके विपक्ष में हैं (तस्माद्रङ्गे मरणप्रयोज्यमेव)।

वतार, तथा अङ्कमुख; ऐसा कोई कार्य, विद्या, शिक्षा, कला या शिल्प नहीं है जिसका नाटक में प्रदर्शन[1] न हो सकता हो या जो उसके लिए उपयोगी न हो।

(२२) (गा० ओ० सि० स, अध्याय २०) चार वृत्तियाँ—भारती, सात्वती, कौशिकी, आरभटी, उनकी पौराणिक उत्पत्ति—भगवान विष्णु का मधु तथा कैटभ नाम के दैत्यों के साथ युद्ध और उसमें चारो वृत्तियों[2] का प्रयोग, उनकी चार वेदों से उत्पत्ति—ऋग्वेद से भारती, यजुर्वेद से सात्वती, सामवेद से कैशिकी, आथर्ववेद से आरभटी; चारों वृत्तियों के उपभेद तथा उनकी परिभाषाएँ; चारों वृत्तियों का भिन्न-भिन्न रसों में विनियोग[3]।

(२३) नाट्य का प्रदर्शन आहार्य अभिनय पर आलम्वित है और आहार्य अभिनय नेपथ्य पर आश्रित है जिसका अर्थ है वेशभूषा, आभूषण तथा प्रदर्शन के विभिन्न उपाय[4]; नेपथ्य चार प्रकार का है–प्रस्तुत, अलङ्कार, अङ्गरचना, संजीव (गा० ओ० सि० संस्करण में २१।५ परे संजीव पाठ और २१।१।६१

---

1. न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला। न तत्कर्म न योगोऽसौ नाटके यत्र दृश्यते। नाट्य २१.१२२. यह नाट्य I ११३–११४ में भी है। अ० भा० (भाग इ, ४२) में उल्लेख है 'ज्ञानमित्युपादेयमात्मजानादि।...... विद्या दण्डनीत्यादि।...योगो योजनं तेषामेव ज्ञानादीनां कलान्तानां स्वभेदैरन्योन्यस्वभेदैः।...कर्मेति युद्धनियुद्धादिर्व्यापार;।'

2. या वाक्प्रधाना पुरुषप्रयोज्या स्त्रीवर्जिता संस्कृतवाक्ययुक्ता। स्वनामधेयैर्भरितैः प्रवृत्ता सा भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः॥ नाट्य २२।२५ (अथवा गा० ओ० सी संस्करण २०।२६) अलंकार शास्त्र के ग्रन्थों में वृत्ति के अनेक अर्थ होते हैं।

3. वृत्ति के संबन्ध में द्रष्टव्य डा० राघवन—ज० ओ० रि० मद्रास भाग ६, पृ० ३४६–३७० तथा भाग ७ पृ० ३३–५२ तथा ९१–११२ तथा सम कन्सेप्ट ओफ दि अलंकारशास्त्र पृ० १८२–१९३। रसार्णवसुधाकर (पृ० ६९-७१) में भारती इत्यादि नामों की काल्पनिक व्युत्पत्ति दी गई है। अध्याय १५ से २२ तक नाट्य में वाचिकाभिनय का विवेचन किया गया है।

4. आहार्याभिनयो नाम ज्ञेयो नेपथ्यजो विधिः। तत्र कार्यः प्रयत्नस्तु नाट्यस्य शुभमिच्छता॥ नाट्य २३.२, अथवा गा०ओ०सि० का नाट्य २१।३। अ० भा० की व्याख्या इस प्रकार है—समस्ताभिनयप्रयोगचित्रस्य भित्तिस्थानीयमाहार्यम्। दृष्टव्य डा. जी० एस घूरे की पुस्तक "भरतनाट्य एण्ड इट्स कोस्ट्यूम—पापुलर बुक डिपो बंबई से प्रकाशित १९५८.

पर सजीव पाठ है); उनकी परिभाषाएँ—पुस्त का अर्थ है पर्वत, रथ, आदि को प्रकट करने के लिए वस्त्र एवं चर्म की बनी हुई आकृतियाँ। अलङ्कार का अर्थ है—पुष्पमालाएँ, सिर से पैर तक के आभूषण तथा विभिन्न देशों तथा नगरों के स्त्री पुरुषों की वेशभूषा, तिलक, अंजन, दन्तराग एवं ओष्ठराग। अङ्गरचना का अर्थ है राजा, धनिक, किरात, आन्ध्र, शक, यवन, शूद्र आदि का वर्ण प्रकट करने के लिए शरीर को रंगना मूँछ तथा दाढी की बनावट आदि। संजीव का अर्थ है द्विपद, चतुष्पद, पक्षी, सर्प आदि को प्रदर्शित करने के ढंग, नाट्य के उपकरण तथा नकली शस्त्रास्त्र।

(२४) (अथवा गा० ओ० सी का २२).

सामान्य अभिनय—वह अभिनय जिसका अब तक वर्णन नहीं किया गया किन्तु आवश्यक है। सत्व की बाह्य अभिव्यक्ति।

तरुणियों के तीन अङ्गज अलङ्कार—भाव, हाव, हेला। दस स्वभावज लीला, विलास आदि। सात अयत्नज—शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, धैर्य, प्रागल्भ्य और औदार्य।

उनकी परिभाषाएँ—पुरुषों में सत्व की अभिव्यक्ति—शोभा आदि। रस और भावों के अनुसार शारीरिक अभिनय। बारह प्रकार के वाचिक अभिनय—अलाप, प्रलाप, विलाप आदि। ये सभी वाक्याभिनय हैं।

दर्शन, श्रवण, आस्वादन, स्पर्शन आदि का अभिनय। उचित एवं अनुचित घटनाओं के प्रदर्शन के प्रकार।

विभिन्न प्रकार की स्त्रियों के वर्णन।

काम की दस दशाएँ—अभिलाष, चिन्तन, अनुस्मृति, गुणकीर्तन, उद्वेग, विलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, मरण एवं उनके प्रदर्शन के प्रकार।

दूती प्रेषण

आठ प्रकार की नायिकाएँ—वासकसज्जा स्वाधीनपतिका, अभिसारिका आदि तथा उनके प्रदर्शन के प्रकार। दर्शकों में पिता, पुत्र, पुत्रवधू, सास[1] आदि सभी होते हैं उनका ध्यान रखना आवश्यक है।

---

1. न कार्यं शयनं रङ्गे नाट्यधर्मं विजानता।···चुम्बनालिङ्गनं चैव तथा गुह्यं च यद्भवेत्। दन्तं नखक्षतं छेद्यं नीवीस्रंसनमेव च। स्तनाधरविमर्दं च रङ्गमध्ये न कारयेत्। भोजनं सलिलक्रीडां तथा लज्जाकरं तु यत्।······ पितृपुत्रस्नुषाश्वश्रूदृश्यं यस्मात्तु नाटकम्। तस्मादेतानि सर्वाणि वर्जनीयानि यत्नतः॥ नाट्य २४. २८५–२८९ (२२ २९६–२९८ गा० ओ० सि०).

प्रेमिकाओं द्वारा प्रेम, क्रोध तथा ईर्ष्या के समय अपने प्रेमी को संबोधित करने के प्रकार।

(२५) (अथवा गा०ओ०सि० का २३) वैशिक अर्थात् वह व्यक्ति जो कलाओं में निष्णात है तथा वेश्याओं एवं अन्य स्त्रियों से प्रेम करने में पटु है। ऐसे व्यक्ति के स्वाभाविक तथा सम्पादित ३३ गुण। उसके मित्र तथा दूतियाँ।

प्रेम विह्वल तथा पुरुष से घृणा करनेवाली स्त्रियों की चेष्टाएँ।

स्त्रियों के यौवन की चार अवस्थाएँ।

प्रेमियों के पाँच प्रकार।

स्त्री को वश में करने के पाँच उपाय—साम, प्रदान, भद, दण्ड, उपेक्षा।

(२६) (अथवा गा० ओ० सी का २५) चित्राभिनय—आङ्गिक अभिनयों जिसका अभी तक वर्णन नहीं हुआ और अतएव जो सामान्य अभिनय के अन्तर्गत है।

आकाश, रात्री, सांयकाल, अन्धकार, उष्णता आदि को प्रदर्शन करने के प्रकार।

हर्ष, क्रोध, विषाद तथा शोक प्रकट करने का प्रकार।

आकाशवचन, आत्मगत, अपवारित तथा जनान्तिक का तात्पर्य।

वृद्ध तथा बालकों को कैसे बोलना चाहिए।

आसन्नभृत्य के प्रदर्शन का ढंग।

अन्य अभिनय जनसाधारण से सीख लेना चाहिए।[1]

(२७) सिद्धि अर्थात् अभिनय का सफल प्रदर्शन।

दैवी तथा मानुषी सिद्धियाँ।

दर्शकों द्वारा अभिनय की सफलता पर सन्तोष प्रकट करने के प्रकार—पारितोषिक के रूप में वस्त्र आदि का दान, स्मित (विदूषक की चालाकियों पर) अट्टहास, (चमत्कारपूर्ण तथा प्रेम के दृश्यों पर) साधुवाद अथवा अहोवाद, (करुण दृश्यों पर) कष्टम् वाद।

दैवी सिद्धि का अर्थ है—कोलाहल, विघ्न तथा अपशकुन का न होना एवं दर्शक कक्षका भरा हुआ होना।

---

1. नोक्ता ये च मया तत्र लोकग्राह्यास्तु ते बुधैः ॥ लोको वेदास्तथाध्यात्मं प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम् ।......तस्मान्नाट्यप्रयोगे तु प्रमाणं लोक उच्यते ।...... कृतानुकरणं लोके नाट्यमित्यभिधीयते। लोकस्य चरितं यत्तु नानावस्थान्तरात्मकम्। तदङ्गाभिनयोपेतं नाट्यमित्यभिसंज्ञितम् ॥ नाट्य २६·१११–११५.

दुर्घटनाएँ तथा अपशकुन का अर्थ है—आग लगना, तूफान आना, तथा हाथी, साँप आदि का उपद्रव। इसी प्रकार घृणा करनेवाले व्यक्तियों द्वारा ताली बजाना, अभिनेताओं पर गोबर तथा कीचड़ फेंकना, अभिनेता द्वारा पाठ का विस्मृत होना मुकुट अथवा किसी अन्य आभूषण का नीचे गिरना।

नाट्य के निर्णायकों अथवा परीक्षकों की योग्यता——

(२८) चार प्रकार के वाद्य——तत (वीणा के समान तारवाले), अवनद्ध (ढोलकी के समान चमड़े से मढे हुए), घन (ताल) सुषिर (बाँसुरी के समान अन्दर से खाली)

सात स्वर—षड्ज, ऋषभ आदि।

उनके चार प्रकार—वादी, संवादी, अनुवादी तथा विवादी एवं उनकी परिभाषाएँ।

ग्राम, मूर्च्छनाएँ, २७ श्रुतियाँ और जातियाँ।

(२९) किस रस में किस जाति और स्वर का प्रयोग करना चाहिए।

चारवर्ण—आरोही, अवरोही, स्थायी तथा संचारी एवं उन पर आश्रित ३३ अलंकार और उनकी परिभाषाएँ।

उपहार

(३०) बाँसुरी

(३१) ताल तथा लय

(३२) ध्रुवाओं का प्रतिपादन——अभिनेता के मंच पर प्रवेश तथा निर्गम[1] के समय, अङ्क के अन्त में या अभिनय के मध्य में अथवा किसी पात्र के गिर पड़ने पर, पाठ भूल जाने पर या मूर्छित होने पर गाये जाने वाली।

ध्रुवाओं की भाषा सामान्यतया[2] शौरसेनी होनी चाहिए (श्लोक ४०८–४१०), यद्यपि कुछ (अ० ३२.४७–५५) संस्कृत में भी हैं।

गायक तथा वीणा एवं वंशी बजानेवालों की योग्यता।

---

1. प्रावेशिकी तु प्रथमा द्वितीयाक्षेपिकी स्मृता। प्रासादिकी तृतीया च चतुर्थी चान्तरा ध्रुवा॥ नैष्क्रामिकी च विज्ञेया पंचकी च ध्रुवा बुधैः॥ नाट्य ३२.२३–२४; द्रष्टव्य ३२.३३४,३४०.

2. ध्रुवा श्लोकों की प्राकृत कुछ भ्रष्ट है, डा० मनमोहन घोष ने इस अध्याय के सभी प्राकृत श्लोकों का संपादन किया है; द्रष्टव्य इण्डि० हिस्ट० क्वा० भाग ८ अन्तमें पृ० १–५२ तक।

स्वाभाविक रूप से गायन स्त्रियाँ करती हैं और बजाने का कार्य पुंरुष[1]।

सगीताचार्य तथा संगीत सीखनेवाले की छः विशेषताएँ।

(३३) मृदङ्ग, पणव, दर्दुर आदि अवनद्ध वाद्यों का विवेचन।

स्वाति तथा नारद द्वारा गान्धर्व एवं वाद्य का प्रवर्त्तन।

ऐसे अवसर जब सभी प्रकार के वाद्य बजाये जाते हैं।

वाद्यों के अधिरक्षक देवता।

(३४) पुरुष तथा स्त्रियों[2] की तीन प्रकृतियों—उत्तम, मध्यम तथा अधम एवं उनकी विशेषताएँ।

चार प्रकार के नेता—धीरोद्धत, धीरललित, धीरोदात्त तथा धीरप्रशान्त तथा इन श्रेणियों में आनेवाले नेताओं का वर्णन।

स्त्रियों की विभिन्न श्रेणियाँ—महादेवी, देवी, नर्तिका, परिचारिका तथा उनका परिचय।

अन्तःपुर के परिचारक—कंचुकीय, वर्षवर।

नृप, सेनापति, पुरोहित, मन्त्रिन्, सचिव, प्राडविवाक तथा कुमार की विशेषताएँ।

(३५) नाट्यमण्डली के सदस्यों में पात्रों का विभाजन तथा उसके लिए आवश्यक विशेषताएँ।

मिट्टी, काष्ट तथा चर्म के द्वारा कृत्रिम आकृतियों एवं दृश्यों अर्थात् नाट्यधर्मीयों का निर्माण। उदाहरण के रूप में—रावण के समान अनेक सिर, अनेक हाथ आदि की रचनाएँ, सिंह, हाथी आदि पशुओं का प्रदर्शन, पुरुष के द्वारा स्त्रीपात्र का अभिनय तथा स्त्री के द्वारा पुरुषपात्र का अभिनय करने के लिए वेश विन्यास।

अभिनय दो प्रकार का होता है (१) सुकुमार अर्थात् नाटक, प्रकरण, भाण, वीथी और अङ्क में किया जानेवाला (२) आविद्ध अर्थात् डिम तथा रूपक के अन्य भेदों में किया जानेवाला।

सूत्रधार, पारिपार्श्विक, अभिनेता, विट, शकार[3], विदूषक, चेट, नायिका,

---

1. प्रायेण तु स्वाभावात्स्त्रीणां गानं नृणा च वाद्यविधिः। स्त्रीणां स्वभावमधुरः कण्ठो नृणां बलत्वं च। नाट्य ३२.४६५.

2. एवं च शीलतो नृणां प्रकृतिस्त्रिविधा स्त्रियः॥ नाट्य ३४.८.

3. उज्ज्वलवस्त्राभरणं क्रुध्यत्यनिमित्ततः प्रसीदति च। अधमो मागधभाषी भवति शकारो बहुविकारः॥ नाट्य ३५.५६.

गणिका, नट तथा शिलाकार एवं कलाकार, (मालाकार, वेषकर, रजक, कारुक) के गुण। आत्रेय तथा अन्य मुनियों ने भरत से कुछ प्रश्न पूछे हैं–पूर्वरङ्ग में किस देवता की पूजा की जाती है? नाट्यविद्या स्वर्ग से पृथ्वी पर कैसे आई और भरत के वंशज नट क्यों कहलाये? भरत ने उत्तर दिया कि उसके वंशजों को अपनी कला का अभिमान हो गया और वे ऋषियों की नकल उतारने लगे, उच्छृंखल एवं अनुचित रूपकों की रचना करने लगे; ऋषियों ने क्रुद्ध होकर भरत तथा उसके वंशजों को शाप दिया कि उनकी गणना शूद्रों में की जायगी। भरतों ने उत्तर दिया—भविष्य में नाट्यविद्या की शिक्षा उच्च चरित्र वाले व्यक्तियों को दी जायगी और वे अपने इस दोष के लिये प्रायश्चित करेंगे। उन्हीं दिनों नहुष स्वर्ग का अधिपति होगया और उसने भरतों से नाट्यविद्या का प्रचार पृथ्वी पर करने के लिये कहा। कोहल को नाट्यवेद का परिशिष्ट माना जायगा। तात्पश्चात् भरतों ने अपनी संतान को नाट्यविद्या की शिक्षा दी। कोहल, वात्स्य, शांडिल्य तथा धूर्तिल ने उसका विश्व में प्रचार किया। नाट्यशास्त्र मंगल तथा पवित्र है। देवता पुष्प एवं चंदन द्वारा की गई पूजा से उतने प्रसन्न नहीं होते जितने नाटक के अभिनय से।

नाट्यशास्त्र विशाल ग्रंथ है उसे देखते हुये प्रस्तुत विषयसूची अत्यंत संकुचित कही जायगी, फिर भी यह प्रकट होजाता है कि वह एक विश्वकोष है। रूपक को देखने पर जो सात्विक आनंद प्राप्त होता है उसका इसमें पर्याप्त विश्लेषण तथा विस्तार है। नाट्यशास्त्र तथा रंगमंच के निर्माण पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। रूपक के लिये उपयुक्त छंद अर्थात् आङ्गिक वाचिक तथा सात्त्विक अभिनय, नाटक के प्रकार, उनके संगठन, रचना तथा शैली आदि विषयों का भी विस्तृत विवेचन किया गया है। नाटक में प्रयुक्त होने वाले गीत एवं वाद्यों के विषय में भी पर्याप्त सूचनायें हैं, संगीत एवं छंदों के परस्पर सम्मिश्रण की भी सूक्ष्म चर्चा है। सबसे बढ़कर नाटक के उदात्त एवं उच्चतम लक्ष्य पर बल दिया गया है। अश्लील व्यवहार, दृश्य तथा भाषा का निषेध किया गया है। अभिनेताओं के सामने उच्च अध्यात्मिक आदर्श रक्खा गया है और बताया गया है कि यदि वे भक्तिपूर्वक अपने आपको कला के प्रति अर्पित कर देते हैं, उसमें दक्षता प्राप्त कर लेते हैं तो यह मानव समाज की बहुत बड़ी सेवा होगी और उन्हें महान् पुण्य प्राप्त होगा। नाट्यशास्त्र के अंतिम अध्याय से ज्ञात होता है कि उस समय नाट्यविद्या तथा अभिनेता अच्छी दृष्टि से नहीं देखे जाते थे, भरत ने दोनों की प्रतिष्ठा बढ़ाने का प्रयत्न किया। नाट्यविषयक

संभवतया विश्व के नाट्य-साहित्य में इस ग्रंथ का अद्वितीय स्थान है। नाट्यशास्त्र जितना सर्वस्पर्शी, तथा गंभीर है, उसमें कला का जितना सूक्ष्म तथा व्यापक विवेचन है उतना विश्व की अन्य भाषाओं के किसी एक ग्रंथ में शायद ही मिले। दुःख की बात है कि नाट्यशास्त्र के सामने उच्चतम लक्ष्य होने पर भी कुछ ही शताब्दियों में यह विद्या पुनः अपने स्तर से गिर गई, जैसा कि दामोदरगुप्त (आठवीं शताब्दी का उत्तरार्ध) कृत कुट्टनी मत[1] (श्लोक ८८१–९२८) से प्रकट होता है।

श्री हर्षकृत रत्नावली के प्रथम अंक का अभिनय किसी राजा के सामने हुआ था। दामोदरगुप्त ने अपनी बात को पुष्ट करने के लिये उसका उल्लेख किया है। वाराणसी के एक मंदिर में किसी नाटक का अभिनय हुआ था, जहां नाटकाचार्य के निर्देशन में स्त्री तथा पुरुष—समस्त पात्रों का अभिनय वेश्याओं ने किया था। उनमें एक का नाम मंजरी था (श्लोक ८०३–८०५) जिसने सागरिका (अथवा रत्नावली) का अभिनय किया था तथा एक अन्य वेश्या ने (जिसका नाम नहीं दिया गया), उदयन का अभिनय किया था। रत्नावली का I, २४ श्लोक कुट्टनीमत ने (V, ९२६) अक्षरशः उद्धृत किया है। वेश्याएँ धनलोलुप होती हैं, उनका उद्देश्य छिपा नहीं रहता। सारा ग्रन्थ पद्यों में है और उसमें सर्वसाधारण विशेषतया संगीत एवं नृत्तप्रेमियों की चरित्रहीनता का वर्णन है। आगे बताया जायेगा कि नाट्यशास्त्र की आठवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में जो स्थिति थी उसपर कुट्टनीमत पर्याप्त प्रकाश डालता है। राजतरंगिणी में स्पष्ट रूप से बताया गया है कि कश्मीर के राजा जयापीड ने कुट्टनीमत के रचयिता दामोदरगुप्त को अपना मुख्यमंत्री बनाया था। (स दामोदरगुप्ताख्यं कुट्टनीमतकारिणम्। कविं-कविं बलिरिव धुर्यं धीसचिवं व्यधात्॥ राजतरंगिणी IV. ४९६)। जयापीड का शासन ७७९ से ८१३ तक था।

नाट्य-शास्त्र का तिथि-निर्णय

नाट्यशास्त्र के सारांश तथा उसके कर्त्ता के सम्बन्ध में कुछ विवेचना की जा चुकी है जिसका नाट्यशास्त्र की तिथि से भी संबन्ध है। इस विषय में विवेचन करने से पहले एक बात को स्पष्ट कर लेना आवश्यक है। नाट्य-शास्त्र में प्रायः कुछ न कुछ जुड़ता रहा है। इसकी हस्तलिखित प्रतियों में भी परस्पर पर्याप्त अन्तर है। अतः इसके तिथि-निर्णय का अर्थ है उस काल का

1. वैद्य तनसुखराम द्वारा संपादित, बंबई संस्करण।

पर्यालोचन जबकि इसके प्रमुख शरीर तथा अध्यायों की रचना हुई। फुटकर श्लोकों के प्रक्षेप का विमर्ष यहाँ सम्भव नहीं है।

नाट्यशास्त्र की रचना के सम्वन्ध में अनेक तिथियाँ बताई गयी हैं। म० म०पं० हरप्रसाद शास्त्री ने इसकी रचना-तिथि ई०पू० द्वितीय शताब्दी बतायी है (ज० ए० सो० ब० १९१३, पृ० ३०७)। इन्डियन एन्टिक्वेरी भाग ३३, पृ० १६३ में अनूदित एक लेख में प्रो० लेवि महोदय ने नाट्यशास्त्र में संबोधन-वाची शब्दों—स्वामिन्, सुगृहीतनामन् तथा भद्रमुख के आधार पर यह स्थापित करने का प्रयास किया है कि भरत के नाट्यशास्त्र की रचना भारतीय शक समय में हुई जब चष्टन, नहपान आदि शासक अभिलेखों में अपने को स्वामी तथा भद्रमुख शब्दों से अभिहित करते हैं। (देखो एपी० इण्डि० भाग ९, पृ० २७४ तथा एपि० इण्डि० १६, पृ० २३८) लेवि महोदय ने अपने तर्क पूरे बल तथा विश्वास के साथ उपस्थित किये हैं। फिर भी यह मान्यता कि संस्कृत-नाट्य-कला सर्वप्रथम क्षत्रपों के समय में अस्तित्व में आयी पुष्ट प्रमाणों पर आधारित नहीं है। पहली बात यह है कि नाट्यशास्त्र में (१९.१२) स्वामी शब्द राजा के लिये नहीं बल्कि युवराज के लिये प्रयुक्त हुआ है। दूसरे तर्क के रूप में यह कहा जा सकता है कि अभिलेखों की रचना उन व्यक्तियों ने की होगी जो नाट्यशास्त्र की परिभाषाओं से परिचित थे। संबोधन-वाचक 'भद्रमुख' शब्द नाट्यशास्त्र में नहीं किन्तु साहित्यदर्पण में आता है। इन्डियन एन्टिक्वेरी भाग ४६ (१९१७) पृ० १७१–१८३ में मैंने तिथि—सम्बन्धी विवेचन किया है तथा इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि ई० ३०० में भरत—प्रणीत नाट्यशास्त्र विद्यमान था और उसमें सामान्य रूप से रस-सिद्धान्त तथा नाट्य-कला का विवेचन सम्मिलित था। कीथ का मत है कि ऐसा कोई आधार नहीं मिलता जिससे इसे ईस्वी तृतीय शताब्दी से पूर्व रखा जा सके। पिछले दिनों श्री मनमोहन घोष ने (डि० आफ ले०, कलकत्ता विश्वविद्यालय, भाग २५, आर्टिकिल ४ पृ० १–५४) इस प्रश्न का विस्तृत विवेचन किया है। उन्होंने भाषा—शास्त्रीय तथ्यों, (संस्कृत, प्राकृत अध्याय १८, ध्रुवाएँ अध्याय ३२) छंदों, केवल चार अलंकारों के उल्लेख, पौराणिक गाथाओं, भौगोलिक तथ्यों आदि के आधार पर कई दृष्टिकोण उपस्थित किये हैं। अन्त में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं (पृ० ५२) कि नाट्यशास्त्र की तिथि को ई० पू० १०० तथा ई० पश्चात् २०० के मध्य रखना चाहिये।

मैं उनकी अनेक बातों[1] से सहमत नहीं हूँ तथापि उनके द्वारा प्रस्तुत तिथि मेरे विचार में सत्य से दूर नहीं हैं। डा० दिनेशचन्द्र सरकार (ज० आन्ध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसाइटी, भाग १२, पृ० १०८ तथा आगे) का मत है कि प्रस्तुत पुस्तक में 'महाराष्ट्र' (१४।३८) तथा 'नेपाल' (१४।४३) का उल्लेख स्पष्टतया इसकी रचना-तिथि द्वितीय शताब्दी के पश्चात् होने की ओर संकेत करता है। क्योंकि 'नेपाल' शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख चतुर्थ शताब्दी ई० के पूर्वार्द्ध में समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में मिलता है। तथा 'महाराष्ट्र'

---

1. टिप्पण :—पृ० २५ पर इन्होंने लिखा है कि सात प्रकार की प्राकृतों में दाक्षिणात्या के नाम से जिस प्राकृत का उल्लेख अध्याय १८, श्लोक ३५-३६ में है वह महाराष्ट्री नहीं है। भरत के वाक्य यह हैं, "शौरसेनं समाश्रित्य भाषा कार्या तु नाटके।......नानादेशसमुत्थं हि काव्यं भवति नाटके। मागध्यवन्तिजा प्राच्या शूरसेन्यर्धमागधी। बाह्लिकादाक्षिणात्या च सप्त भाषाः प्रकीर्तिताः। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि घोष महोदय के मत में दाक्षिणात्य किस देश का नाम है। अध्याय ५, श्लोक ३६ में द्रविड़ और औड्र का पृथक्-पृथक् उल्लेख है। काव्यादर्श (१.३४) में महाराष्ट्री को सर्वश्रेष्ठ प्राकृत बताया गया है, साथ ही यह भी कहा है कि सेतुबन्ध की रचना उसमें की गई। इसका रचनाकाल ई० ५०० से अर्वाचीन नहीं है। शूरसेन (मथुरा के आसपास का प्रान्त) के निवासी थे। इसी प्रदेश में सर्वप्रथम नाट्यकला का विकास हुआ। इन कारणों से भरत ने भले ही शौरसेनी को अधिक महत्त्व दिया हो, किन्तु जिस भाषा में सेतुबन्ध सरीखे उत्तम काव्य की रचना हुई यह नहीं कहा जा सकता कि भरत के समय अर्थात् दो शताब्दियों पहले उसका अस्तित्व ही न था।

पृष्ठ ४३ पर उन्होंने लिखा है कि भरत नाट्यशास्त्र में विष्णु के अवतारों का उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु यह ठीक नहीं है। अध्याय १३ के श्लोक १५२ (चौखम्बा संस्करण) में नीचे लिखा पाठ है—

•या कृता नरसिंहेन विष्णुना प्रभविष्णुना.....इस पर अभिनवगुप्त की व्याख्या भी है (गा.ओ.सी. XII. P. 154, Vol. II., P. 162)।

उन्होंने महाराष्ट्री को शौरसेनी का ही रूपान्तर माना है (Dept. of Letters, Cal. Uni., vol. 23). श्री घाटगे ने 'महाराष्ट्री भाषा तथा साहित्य पर लिखे गये अपने खोजपूर्ण निबन्ध में उपरोक्त मत की आलोचना की है। इसके लिये डा० घाटगे द्वारा शौरसेनी पर लिखित निबन्ध (Journal Born. 14. vol. III part 6 pp. 44-62) भी पठनीय है।

शब्द का उल्लेख सर्वप्रथम महावंश (५वीं शताब्दी ई०) तथा ऐहोल अभिलेख (६३४ ई०) में मिलता है। यह तर्क विचित्र है और अविश्वसनीय भी। देशों के नाम अकस्मात् प्रयोग में नहीं आते। यह भी नहीं कहा जा सकता कि समुद्रगुप्त अथवा उसके प्रशस्तिकार हो ने सर्वप्रथम उन शब्दों को गढ़ा। यदि यह मान भी लिया जाय कि ३२५ ई० के ही आसपास सर्वप्रथम नेपाल का उल्लेख हुआ तो भी इस मान्यता का कोई आधार नहीं है कि दो शताब्दियाँ पूर्व उन शब्दों का अस्तित्व ही नहीं था। यही तर्क "महाराष्ट्र" के लिए भी उपस्थित किया जा सकता है। ६३४ ई० में (ऐहोल अभिलेख) 'महाराष्ट्र' एक विशाल प्रदेश के रूप में प्रसिद्ध हो चुका था जिसमें तीन प्रांत तथा ९९००० ग्राम थे।[1] नानाघाट के अभिलेख में (आर्क० सर्वे ऑफ वेस्ट० इण्डि० भाग ५, पृ० ६०) लगभग २०० ई० पूर्व 'महारठि' शब्द आता है जिसका अर्थ 'महाराष्ट्र निवासी' किया जा सकता है। भले ही विद्वानों ने इस शब्द की व्याख्या विभिन्न प्रकारों से की हो।

नाट्यशास्त्र की पूर्व-सीमा का निर्धारण अत्यन्त कठिन है। केवल कुछ संभावनाएँ की जा सकती हैं। नाट्यशास्त्र में गृहनिर्माण तथा वास्तुकला के आचार्य विश्वकर्मा का उल्लेख है (२।७ तथा १२)। इसी प्रकार पुराण (१४।४६ तथा २७।५९ गा० ओ० सी०) पूर्वाचार्य (१५।२२ शब्दलक्षण के सम्बन्ध में), कामतंत्र (२३।३७ तथा ५२ गा० ओ० सी०), बृहस्पति (२४।८८ गा० ओ० सी० तथा ३४।७९ अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में), नारद (३२।१ ध्रुवाओं के सम्बन्ध में, तथा ३२।४८४ गांधर्व के सम्बन्ध में), तण्डु (४।१७ अंगहारों के सम्बन्ध में), पाशुपत (१३।८५), शबर, आभीर तथा द्राविड़ (१८।३६), शक (१८।४०) का भी उल्लेख हैं। किन्तु ये उल्लेख नाट्यशास्त्र की तिथि के सम्बन्ध में किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुँचाते। फिर भी इस संभावना की ओर संकेत करते हैं कि नाट्यशास्त्र ईस्वी सन् से प्राचीन नहीं हो सकता उत्तर-सीमा का निर्धारण अपेक्षाकृत अधिक निश्चय के साथ किया जा सकता है। इसके लिये उपलब्ध आधारों की संक्षिप्त तालिका निम्नलिखित है—

(क) विक्रमोर्वशीय (२।१८) में कालिदास का एक श्लोक है जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। उससे प्रतीत होता है कि कम से कम ४५० ई० में भरत को नाट्यशास्त्र का प्रवर्तक माना जा चुका था। साथ ही यह भी

1. "अगमदधिपतित्वं यो महाराष्ट्रकाणां नवनवतिसहस्रग्रामभाजां त्रयाणाम् ॥" एपि० इण्डि० भाग ६, पृ० १, पृ० ४ पर।

ज्ञात होता है कि उसने आठ रसों का प्रतिपादन किया था तथा देवताओं के सम्मुख नाटक का अभिनय कराया था। इससे सिद्ध होता है कि उस समय प्रथम अध्याय की आख्यायिका तथा छठे अध्याय रस-पर्यालोचन का अस्तित्व था। रघुवंश (१९।२१) में खण्डिता-नायिका का एक उल्लेख है जो नाट्यशास्त्र ३१।१०९–११० तथा आगे गिनाई गई आठ नायिकाओं का स्मरण दिलाता है। इसी प्रकार रघुवंश (१९।३६) में 'अंग सत्त्ववचनाश्रयं मिथः स्त्रीषु नृत्यमुपधाय दर्शनम्' पाठ है जो कि नाट्यशास्त्र (२४।१) 'सामान्याभिनयो नाम ज्ञेयो वागङ्गसत्वजः' का अनुकरण है।

(ख) कुट्टनीमत (श्लोक ७५) नाट्यशास्त्र को ब्रह्मोक्त बताता है। यह स्पष्ट रूप से नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय की ओर संकेत है। इसी प्रकार उसके श्लोक ९४६ (भरतसुतैरुपदिष्टं क्षितिपतिनहुषावरोधनारीणाम्।) में नहुष तथा भरत के पुत्रों की आख्यायिका का निर्देश है जो नाट्यशास्त्र के अन्तिम अध्याय (३६.४८–६१) के अन्त में है। कुट्टनीमत में विविध स्थलों पर अनेक विषयों का उल्लेख है, जिनका विवेचन नाट्यशास्त्र के विभिन्न अध्यायों में प्राप्त होता है। उदाहरण—स्वरूप श्लोक ७९१–९२ में खण्डिता, कलहान्तरिता का उल्लेख है जिसकी तुलना नाट्यशास्त्र के २२।२१६–२१७ (गा० ओ० सी० भाग ३) तथा आगे के श्लोकों से की जा सकती है। श्लोक ८८१ तथा ९२८ में प्रावेशिकी, (जब सूत्रधार मंच पर प्रवेश करता है) तथा नैष्क्रामिकी (जिस समय सारे पात्र मंच छोड़ देते हैं) ध्रुवाओं का उल्लेख है जिसका प्रयोग रत्नावली के प्रथम अंक में हुआ है। यह स्पष्टतया अध्याय ३२, श्लोक ३३५ तथा ३३६ की ओर संकेत है जहाँ दोनों का वर्णन है। कुट्टनीमत के श्लोक संख्या ८०५ में सात्त्विक भावों का उल्लेख है और उसीके श्लोक ८०९ (सदृशेप्यनुभावगेण करुणरसं विप्रलम्भतो भिन्नम्) में नाट्यशास्त्र (भाग ६ पृ० ७३) का उल्लेख है जहाँ सात्त्विक भावों की चर्चा है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि नाट्यशास्त्र के १ से लेकर ३६ तक प्रमुख अध्याय आठवीं शताब्दी में विद्यमान थे।

(ग) ध्वन्यालोक में आनन्दवर्धन का कथन है 'यदि वा वृत्तीनां भरत-प्रसिद्धानां कैशिक्यादीनां' (पृ० २०२) तथा "यथा वेणीसंहारे विलासाख्यस्य प्रतिमुखसन्ध्यङ्गस्य प्रकृतरसनिबन्धनाननुगुणमपि भरतमतानुसरणमात्रेच्छया घटनं" (पृ० १५५); इसी प्रकार "अत एव च भरते प्रबन्धप्रख्यातवस्तुविष-यत्वं प्रख्यातोदात्तनायकत्वं च नाटकस्यावश्यकर्त्तव्यतयोपन्यस्तम् (पृ० १८०)

और 'एतच्च रसादितात्पर्येण काव्यनिबन्धनं भरतादावपि सुप्रसिद्धमेव' (पृ० २२६)। नाट्यशास्त्र (अध्याय २०, गा० ओ० सी० भाग ३ तथा अध्याय २२, दूसरे संस्करणों में) कैशिकी आदि वृत्तियों का वर्णन है तथा अध्याय २१.६१ तथा ७८– गा० ओ० सी०, भाग ३, २२.१५ में विलास नामक अंग का वर्णन है। नाटक (अध्याय १६, १६–२२ गा० ओ० सी०; अध्याय १८, १०–१२) के लक्षण के रूप में प्रथम श्लोकार्ध इस प्रकार है—'प्रख्यातवस्तु-विषयं प्रख्यातोदत्तनायकं चैव' (10)। आनन्दवर्धन का समय नवम्-शताब्दी का उत्तरार्ध है। वेणीसंहार उससे पहले रचा जा चुका था और उसके रचयिता भरत को सर्वश्रेष्ठ प्रमाण मानते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि आनन्द-वर्धन से कई शताब्दियाँ पहले नाट्यशास्त्र में रसों, नायकों, वृत्तियों तथा विलास सरीखे प्रतिमुखसन्धि के अंगों की चर्चा सम्मिलित हो चुकी थी।

(घ) काव्यप्रकाश में नाट्यशास्त्र का निम्नलिखित सूत्र उद्धृत किया है—"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" (अध्याय ६, पृ० ७१)। साथ ही भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त द्वारा की गयी इस सूत्र की व्याख्याओं का विवेचन है। इस बात की चर्चा आगे चल कर की जायगी कि इन चारों ने नाट्यशास्त्र पर टीका लिखी थी या नहीं। आगे चल कर यह भी बताया जायगा कि अभिनवगुप्त का साहित्यिक जीवन ई० ९८० से लेकर १०३० ई० तक रहा तथा भट्टनायक का समय ई० ९००–९२५ है। शंकुक संभवतया वे ही हैं जिन्होंने 'भुवनाभ्युदय' नामक महाकाव्य रचा था जिसका राजतरङ्गिणी (भाग ४, ७०५) में उल्लेख है—"कविबुधमनः सिन्धुशशाङ्कः शंकुकाभिधः। यमुद्दिश्याकरोत्काव्यं भुवनाभ्युदयाभिधम्॥" अतः शंकुक का समय लगभग ८४० ई० माना जा सकता है। काव्यप्रकाश के टीकाकार सोमेश्वर ने उपरोक्त सूत्र की व्याख्या करते हुए शंकुक की कुछ कारिकाएँ उद्धृत की हैं। साथ ही उन पर भट्ट तौत की आलोचना भी प्रस्तुत की है। लोल्लट की तिथि का निर्णय होना कठिन है। काव्यप्रकाश में शंकुक, नायक तथा अभिनवगुप्त का उल्लेख तिथि-क्रम के अनुसार है। अतः यह माना जा सकता है कि भट्टलोल्लट उनके पूर्ववर्त्ति थे। उन्होंने 'रसविवरण' लिखा जिसका उद्धरण सोमेश्वर ने दिया है—'यमकानुलोमतदितर-चक्रादिभिदा हि रसविरोधिन्यः। अभिधानमात्रभेद्गद्द (ड्ड?) रिकादिप्रवाहो वा॥' (Folio 155B) इस श्लोक को नमिसाधु (रुद्रट् ३, ५९) ने भी उद्धृत किया है किन्तु वहाँ निर्माता का उल्लेख नहीं है। अतः लोल्लट शंकुक के पूर्ववर्ती हैं। संभवतया उनका समय ७५०–८०० ई० है। उपसंहार के रूप

में कहा जायगा कि आठवीं शताब्दी में नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय की, जहाँ रस का निरूपण है, अनेक व्याख्यायें होने लगी थीं।

(ङ) भवभूति (७००–७४० ई० लगभग) ने तौर्यत्रिक सूत्र (अर्थात् नाट्यशास्त्र) के रचयिता भरत को तथा रामायण के रचयिता वाल्मीकि को समकालीन माना है (द्रष्टव्य, उत्तररामचरित ४)।

(च) बाणभट्ट ने कादम्बरी (पैरा ७१) में उन विद्याओं का वर्णन किया है जिनमें चन्द्रापीड ने पटुता प्राप्त की थी। उनमें भरतकृत नृत्तशास्त्र का भी उल्लेख है। हर्षचरित (भाग ३, अनुच्छेद ५) में भी संगीत का उल्लेख है जिसमें भरत द्वारा निर्दिष्ट पद्धति का अनुसरण बताया गया है।[1] अन्यत्र (हर्षचरित भाग २, पृ० ४) आरभटी वृत्ति वाले अभिनेताओं का उल्लेख है। (रैणवावर्तमण्डलीरेचकरासरभसारब्धनर्तनारभटीनटाः)। नाट्यशास्त्र में रेचक का प्रतिपादन ४.२४०–२४६ में तथा आरभटी का अध्याय २०·६५ भाग ३ (गा० ओ० सी०) में है।

(छ) याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा गया है कि साम-गीतों का नियमानुसार तथा दोषरहित गायन करने वाला ब्रह्मपद प्राप्त करता है तत्पश्चात् यहां बताया गया है कि वे व्यक्ति जो वैदिक गीतों के स्थान पर अपरान्तक, उल्लोप्यक, मद्रक, प्रकरी, ओवेणक, सरोबिन्दु तथा उत्तर नामक[2] सात प्रकार के अवैदिक

---

1. वंशानुगमविवादि स्फुटकरणं भरतमार्गभजनगुरु। श्रीकण्ठविनिर्यातं गीतमिदं हर्षराज्यमिव॥ हर्षचरित भाग ३, श्लोक ४; विवादी के लिये देखो नाट्यशास्त्र जहाँ चार प्रकार के स्वरों का वर्णन है—वादि, संवादि, अनुवादि तथा विवादि (२८.२०) और 'विवादिनस्तु ते येषां विंशतिस्वरमन्तरम्। तद्यथा वृषभगान्धारौ धैवतनिषादौ। (नाट्य० अध्याय २८, श्लोकसंख्या २१ के बाद, पृ० ३१८) करणों (हाथ के) के लिये देखो नाट्य. ९ पृ. १९८–२०७.

2. अपरान्तकमुल्लोप्यं मद्रकं प्रकरीं तथा। औवेणकं सरोबिन्दुमुत्तरं गीतकानि च। ऋग्गाथा पाणिका दक्षविहिता ब्रह्मगीतिका। गेयमेतत्तदभ्यासकरणान्मोक्षसंज्ञितम्॥ वीणावादनतत्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः तालज्ञश्च प्रयासेन मोक्षमार्गं नियच्छति॥ तुलना—याज्ञ० ३।११३–११५। तुलना—"ब्रह्मोक्तं सप्तरूपं हि समवेताद विनिःसृतम्। दैवताराधनं पुण्यमनन्तं गीतवादितम्॥···ऋग्गाथा-पाणिकानां च प्रमाणानां तथैव च। अनेनैव विधानेन युग्मौजस्त्वं विभावयेत्॥ नाट्य० ३१।४१९, ४२१; काव्यमाला ३१।३२४ अंतिम श्लोक से कुछ मिलता-जुलता है। फिर ३१।५२३ में "ऋग्गाथा पाणिका चैव सप्तरूपं प्रकीर्णकम्।" तथा ३२।२ में "या ऋचा पाणिका गाथा सप्तरूपाङ्गमेव च॥"

गीतों को गाते हैं वे भी ब्रह्म-पद को प्राप्त करते हैं। स्मृति में आगे चलकर यह भी प्रस्तुत किया गया है कि (निम्नलिखित) चार प्रकार के अन्य गीतों का गायन भी मोक्ष-पद दायक है। इससे मन स्वतः परब्रह्म के ध्यान में लीन हो जाता है। तथा वे व्यक्ति जो वेणुवादन का मर्म समझते हैं एवं जो (२२) श्रुति, (१८) जाति तथा ताल में निपुण हैं मोक्ष-पद प्राप्त करने के अधिकारी हैं। ध्यान देने की बात यह है कि इन श्लोकों की व्याख्या करते हुए मिताक्षरा तथा अपरार्क ने भरत का उल्लेख किया है। विश्वरूप ने नारद आदि आचार्यों का तथा दीपकलिका ने विशाखिल आदि का उल्लेख किया है। ये सात नाम नाट्यशास्त्र ३१।२८७ (काव्यमाला ३१।१८४) में कुछ परिवर्त्तन के साथ आते हैं। और इनका विवेचन एक सौ तीस से अधिक श्लोकों में किया है। प्रकरण का उपसंहार करते हुए कहा है, ब्रह्मा द्वारा प्रवर्तित ये सातों नाम अत्यन्त पुनीत हैं तथा देवताओं को संतुष्ट करने वाले हैं। अभिनव भारती में भी (भा० ओ० रि० इ० की हस्तलिखित प्रति में) सात प्रकार के अवैदिक गीतों की विशद व्याख्या अनेक पृष्ठों में (पाण्डुलिपि में पृ० ४७९ से लेकर) की गयी है। नाट्यशास्त्र के अनुसार वे सात नाम निम्नलिखित हैं: मन्द्रक, अपरान्तक, प्रकरी, रोविन्दक (याज्ञवल्क्य का सरोबिन्दु) ओवेणक, उल्लोप्यक तथा उत्तर। अनेक आधारों पर यह कहा जा सकता है कि याज्ञवल्क्यस्मृति ने नाट्यशास्त्र का अनुसरण किया है। प्रथम चार टीकाकार इस बात से सहमत हैं कि याज्ञवल्क्य के समय गीतवाद्य पर कोई ग्रन्थ अवश्य विद्यमान था। मिताक्षरा तथा अपरार्क ने केवल भरत का ही उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त यह भी उल्लेखनीय है कि उपरोक्त श्लोक याज्ञवल्क्यस्मृति में आकस्मिक आये हुए से प्रतीत होते हैं। किन्तु नाट्यशास्त्र में स्वाभाविक एवं यथास्थान हैं। हमारा यह मत है कि याज्ञवल्क्य में संगृहीत इन श्लोकों का मूल-स्रोत नाट्यशास्त्र है। ऐसी स्थिति में नाट्यशास्त्र को ईसा की पहली अथवा दूसरी शताब्दी के पश्चात् नहीं रखा जा सकता।

(ज) सातवाहन अर्थात् हाल ने अपनी गाथासप्तशती (गाथा सं ३४४, वेबर संस्करण में २७) में कहा है कि उपगूहन श्रृङ्गार-अभिनय का पूर्वरङ्ग है।[1] उनकी दृष्टि में नाट्यशास्त्र का पंचम अध्याय था जहाँ पूर्वरङ्ग की चर्चा

1. मानदुमपरुसपवणस्स मामि सव्वंगणिव्वुदिअरस्स।
अवऊहणस्स भद्दंरइनाड अपुव्वरंगस्स॥
सत्तसई (सप्तशती) ३४४ और IV. ४४ (निर्णयसागर संस्करण)

की गयी है। साधारणतया यह माना जाता है कि गाथासप्तशती की रचना २००–४०० ई० में हुई (देखो कीथ हि० आफ सं० लिटे; पृ० २२४)।

(झ) फ्लीट द्वारा संपादित प्राचीन संस्कृत तथा कन्नड़ी अभिलेखों में (इंडि० ऐंटि० भाग १० पृ० १६६–६७) पट्टदकल–स्थित स्तंभ पर उत्कीर्ण दो संस्कृत के श्लोकों (आठवीं अथवा नवीं शताब्दी की लिपि में) का निर्देश है जिनकी रचना किसी अचल (अथवा अचलद) नामक कवि ने की थी। इनमें से यहाँ द्वितीय श्लोक को उद्धृत किया गया है जिससे पता चलता है कि किस प्रकार भरत के अनुयायिओं ने नृत्यशास्त्र के किसी अन्य अथवा प्रतिद्वन्दी आचार्य के शिष्यों को पराजित किया ?

"नटसेव्यभरतमतयुतपटुतरवचनाशनिप्रपातेन ।
कुटिलोन्नतनटशैलः स्फुटिता नतमस्तकः पतति ॥"

(ञ) अलंकार-शास्त्र के निम्नांकित लेखकों (५९० तथा ६५० ई० के मध्य) भट्टि, दंडी, भामह तथा उद्भट ने तीस से अधिक अलंकारों की परिभाषा की है। भरत ने केवल सुगमतम चार अलङ्कारों (उपमा, दीपक, रूपक, यमक) की चर्चा की है। किन्तु उन्होंने छन्दों तथा प्राकृतों की विस्तृत विवेचना की है। यदि उस समय अधिक अलंकार प्रचलित होते तो उनकी परिभाषा अवश्य करते। अतः भरत का समय उपरोक्त आलङ्कारिकों से कई शताब्दियाँ पूर्व मानना होगा।

उपर्युक्त पर्यालोचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि नाट्यशास्त्र को ३०० ई० के बाद नहीं रखा जा सकता। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि आधुनिक पाठ अपने मूल रूप में उस समय से ही चला आ रहा है। साथ ही इस मत का प्रतिवाद नहीं किया जा सकता कि ३०० ई० के पूर्व भरत द्वारा रचित किसी ग्रन्थ का अस्तित्व अवश्य था, जिसमें रस-सिद्धान्त तथा नाट्य-कला का विवेचन था। चूंकि काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों का विवेचन करने वाला ३०० ई० पुराना कोई ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है, अतः जहाँ तक वर्त्तमान जानकारी का प्रश्न है। प्रस्तुत नाट्यशास्त्र को ही अलङ्कारशास्त्र का प्राचीनतम ग्रन्थ मानना पड़ेगा।

दशरूपक (३।५६–६०) की टीका में धनिक ने भरत का निम्न श्लोक उद्धृत किया है। "एतच्च 'इदं त्रिपुरदाहे तु लक्षणं ब्रह्मणोदितम्। ततस्त्रिपुरदाहश्च डिमसंज्ञः प्रयोजितः ॥' इति भरतमुनिना स्वयमेव त्रिपुरदाहेतिवृत्तस्य तुल्यत्वं दर्शितम्।" नाट्यशास्त्र (IV 10) में श्लोक का केवल उत्तरार्द्ध ही पाया जाता है। सरस्वतीकंठाभरण (२। पृ० २५४ वाराणसी संस्करण कारिका १०९ पर; निर्णयसागर संस्करण १९३४ पृ० २६८) के टीकाकार का कथन है कि जहाँ

तक मुरजबंध का संबन्ध है भरत ने अक्षरों के व्यवहार का उल्लेख किया है : 'पाठाक्षराणि मुरजे ल्हकारौ तथदधाच्छमौ रेफः । नणकखगघङाश्चेत्थं षोडश भरतादि कथितानि ॥' नाट्यशास्त्र में इस विषय पर कुछ भी उपलब्ध नहीं होता।

नाट्यशास्त्र की टीकायें

अब हम नाट्यशास्त्र की टीकाओं पर विचार करेंगे। उनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध तथा पाण्डित्यपूर्ण अभिनवगुप्त की नाट्यवेदविवृति नामक टीका है जिसे हस्तलिखित प्रतियों की पुष्पिकाओं में तथा राघवभट्ट[1] (शकुन्तला के टीकाकार) आदि ने अभिनवभारती नाम से व्यवहृत किया है। अभिनवगुप्त के विषय में स्वतंत्र रूप से विचार किया जायेगा। पहले बताया जा चुका है कि कवि महोदय ने अब तक गा०ओ०सी० में (सिद्धिलक्षण-विधान, २७ अध्याय) अभिनवभारती के तीन भागों को प्रकाशित किया है। शेष के लिये मैंने भण्डारकर ओरियण्टल इन्सटीटयूट में संगृहीत हस्तलिखित ग्रन्थ संख्या ४१ (१९२४-२८) का उपयोग किया है। किन्तु वह अशुद्ध एवं अपूर्ण है। अध्याय ३२, श्लोक ३७६ पर समाप्त हो जाता है। (चौखम्बा संस्करण के ध्रुवाध्याय तक) इसके बाद का अंश नहीं है। जहाँ तक मैं जानता हूँ सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र पर अभिनवभारती पूर्ण रूप में अब तक कहीं उपलब्ध नहीं है। फिर इसमें भरत के अन्य टीकाकारों तथा नाट्यकला के अन्य आचार्यों के विषय में बहुमूल्य सामग्री है। अगले पृष्ठों में नाट्यशास्त्र के टीकाकारों का संक्षिप्त विवरण दिया जायगा।[2]शार्ङ्गदेवकृत सङ्गीत-रत्नाकर के अनुसार लोल्लट, उद्भट, शंकुक, कीर्तिधर तथा अभिनवगुप्त भरत के टीकाकार हैं। (व्याख्याकारो भारतीये लोल्लटोद्भटशंकुकाः। भट्टाभिनवगुप्तश्च श्रीमत्कीर्तिधरोऽपरः॥ १.१९) उद्भट का वर्णन स्वतंत्ररूप से किया गया है। किन्तु यहाँ उनकी टीका को लक्ष्य में

---

1. उदाहरण के रूप में राघवभट्ट ने अभिज्ञान शाकुंतल पर अपनी टीका में, नाट्यशास्त्र (५. २४–२५, १०६–१०७) सूत्रधारः पठेन्नान्दीम् लङ्कृताम्) को उद्धृत करके लिखा है, 'इदं पद्यमभिनवगुप्ताचार्यैर्भरतटीकायामभिनव भारत्यां व्याख्यातम् ।'

2. अधिक जानकारी के लिये जर्नल ऑफ ओरियंटल रिसर्च मद्रास भाग ६ पृष्ठ १४९ से १७६, १९९ से २२३ में प्रकाशित डा० राघवन का "अभिनवभारती में उद्धृत ग्रंथकार" शीर्षक लेख देखिये।

रखकर कुछ विवेचन किया जायगा। अभिनवगुप्त ने निम्नलिखित स्थलों पर उद्भट का उल्लेख किया है—

(१) नाट्यशास्त्र ६।१० पर औद्भट सम्प्रदाय का मत उद्धृत किया गया है तथा इस पर अभिनवगुप्त का कथन है कि लोल्लट उससे सहमत नहीं है (द्रष्टव्य अभिनवभारती गा० ओ० सी० भाग १, पृ० २६६);

(२) नाट्य० ९।१८२ (भाग २ पृ० ७०) के सम्बन्ध में अभिनवभारती का कथन है कि उद्भट ने इस श्लोक का भिन्न पाठ किया है: "उत्तानोधस्त-लस्त्र्यश्रोग्रगोधोमुख एव च। पञ्च प्रचारा हस्तस्येति भट्टोद्भटः पठति";

(३) समवकार (एक प्रकार का रूपक) के लिये नाट्यशास्त्र में (१८।७६) निम्न पाठ है—"उष्णिग्गायत्र्याद्यान्यन्यानि च यानि बन्धकुटिलानि। वृत्तानि समवकारे कविभिस्तानि प्रयोज्यानि॥" अभिनवभारती का कथन है कि उद्भट ने तानि 'प्रयोज्यानि'[1] के स्थान पर 'नैव प्रयोज्यानि' पाठ किया है।

(४) वृत्तिचतुष्टय—भारती, सात्वती, कैशिकी तथा आरभटी के सम्बन्ध में उद्भट स्वयं भरत की आलोचना करते हैं। उत्सृष्टिकाङ्क नामक नाटक की परिभाषा करते हुए भरत (२०.९६-१००) कहते हैं कि यह स्त्री के रुदन से पूर्ण होता है तथा भारती वृत्ति को छोड़कर अन्य कोई वृत्ति नहीं होती। किन्तु करुणरस के अभिनय में जहाँ मूर्च्छा या मृत्यु का प्रदर्शन किया जाता है वहाँ वाणी एवं भारतीवृत्ति का प्रयोग नहीं होता। नाट्यशास्त्र २२.२५ में उसका वर्णन वाक्प्रधाना आदि के रूप में आया है। गा०ओ०सी० सं० में यह उल्लेख २०.२६ पर है। इन कारणों से उद्भट ने वृत्ति-चतुष्टय का मत त्याग दिया है तथा केवल तीन वृत्तियों का प्रतिपादन किया है—न्यायचेष्टावृत्ति, अन्यायचेष्टावृत्ति तथा फलसंवित्तिवृत्ति (मूर्च्छा अथवा मृत्यु के लिये) अथवा फल-वृत्ति। अभिनवगुप्त उद्भट के एक श्लोक को उद्धृत करते हैं[2] तथा कहते हैं कि शकलीगर्भ नामक किसी आचार्य के अनुयायियों का मत है कि वृत्तियाँ

---

1. नैव प्रयोज्यानीत्युद्भटः पठति स्रग्धरादीन्येव प्रयोज्यानि नाल्पाक्षराणीति स व्याचष्टे। अ. भा. भाग २ पृष्ठ ४४१. अध्याय (२०—८०) में उद्भट के समान पाठ है।

2. तस्मात्फलसंविच्याख्या वृत्तिः वाक्चेष्टयोः फलानुभव इति यस्या लक्षणं साभ्युपगन्तव्या। अवश्यं चैतत् अन्यथा मूर्च्छामरणादौ वाक्चेष्टयोरभावे निवृत्ति-कतैव स्यात्।......तस्माच्चेष्टात्मिका न्यायवृत्तिरन्यायवृत्तिर्वाग्रूपा तत्फलभूता

पाँच[1] प्रकार की होती हैं चार भरत की तथा आत्मसंवृत्ति नामक पाँचवीं (अथवा उद्भट की फलवृत्ति)। लोल्लट ने उद्भट तथा शकलीगर्भ के मतों का खण्डन किया है। अभिनवगुप्त इन तीनों आचार्यों से सहमत नहीं है। वे भरत-सम्मत वृत्ति-चतुष्टय के समर्थक हैं।

(५) एक अवतरण (गा० ओ० सी० संस्करण में अ० भा० का पाठ यासावन्वेषण) में अभिनव ने उद्भट द्वारा प्रतिपादित अवमर्श नामक चतुर्थ सन्धि (नाट्य २१।४२) का उल्लेख तथा खण्डन किया है।[2]

(६) उद्भट ने नाट्य० २१।१७ की व्याख्या इस प्रकार की है कि नाटक में विविध संधियाँ तथा उनके अंग भरत के कथनानुसार प्रदर्शित करने चाहिये। किन्तु अभिनवभारती ने उसका खण्डन किया है और कहा है कि यह न तो तर्क-संगत है और न कवि-परम्परा के अनुकूल[3]। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र के ६, ९ तथा १९ अध्यायों (गा० ओ० सी०) पर उद्भट की टीका का उल्लेख किया है। प्रतीत होता है कि

फलसंवित्तिरिति त्रयमेव युक्तमिति भट्टोद्भटो मन्यते। यदाह्य आद्ये वाक्चेष्टाभ्यां पुरुषार्थचतुष्टयेन चाष्टविधे। षोडशधा फलवृत्तिस्तद्द्वयतोऽनेकधा तु रसभेदात्।
अ. भा. भाग २ पृ. ४५१.

1. यच्छकलीगर्भमतानुसारिणो मूर्छादावात्मसंवित्तिलक्षणं पञ्चमीं वृत्तिं सकलकार्यनिवृत्त्यनुमेयां······आत्मव्यापाररूपां मन्यन्ते······तन्मतं भावानां बाह्यग्रहणस्वभावत्वमुपपादयद्भिः भट्टलोल्लटप्रभृतिभिः पराकृतम्। अ० भा० (गा० ओ० सी०, भाग २ पृ० ४५२) संपादक ने शकलीगर्भ उद्भट का ही नाम माना है किन्तु इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रथम तो इसलिए कि अ० भा० में लगभग आधे दर्जन बार उद्भट का उल्लेख हुआ है और यह कारण नहीं प्रस्तुत किया गया कि एक अन्य नाम का प्रयोग क्यों करना चाहिये। दूसरे वृत्ति के सम्बन्ध में शकलीगर्भ का मत उद्भट के मत से भिन्न है जिसका उल्लेख अ० भा० में है।

2. यदाह भट्टोद्भटः। नासान्वेषणभूमिरवमृष्टिरवमर्श इति तच्चेदं व्याख्यानं लक्ष्यविरुद्धं युक्तया च। २८, अध्याय १९ गा० ओ० सि० भाग ३.

3. पुनरेषामिति पुनः शब्दो विशेषद्योतको लक्षण एवायं क्रमो न निबन्धने इति यावत्। तेन यदुद्भटप्रभृतयो अङ्गानां सन्धौ क्रमे च नियममाहुस्तद्युक्त्या-गमविरुद्धमेव, पृ० ३६, भाग ३, गा० ओ० सी० संस्करण।

उद्भट ने सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र पर टीका लिखी होगी। आगे यह बताया जायेगा कि उद्भट की तिथि लगभग ८०० ई० है। आत्मसंवित्ति नामक वृत्ति पर उनके मत को, जिसकी लोल्लट ने आलोचना की शकलीगर्भ ने स्वीकार किया है। अतः लोल्लट की तिथि लगभग ८००–८४० ई० के मध्य होनी चाहिये। यह पहले बताया जा चुका है कि उन्होंने अनेक स्थलों पर उद्भट की आलोचना की है (उदाहरण-स्वरूप नाट्यशास्त्र ६।१० तथा १८।११२ पर)। उनके रस-सिद्धान्त का वर्णन जिसे अभिनवगुप्त (गा० ओ० सी०, भाग १ पृ० २७४) ने में संकलित किया है, द्वितीय खण्ड में किया जायेगा। उनकी कुछ अन्य रस सूत्र पर अपनी व्याख्या मान्यतायें निम्नलिखित हैं :—

(क) लोल्लट के मतानुसार रसों की संख्या सीमित नहीं है।[1] किन्तु परम्परागत शास्त्रों की मान्यतानुसार (मञ्च पर) आठ (या नौ) रसों का ही प्रदर्शन किया जाता है।

(ख) जान पड़ता है कि लोल्लट ने नीचे लिखे श्लोक को नहीं पढ़ा— "यः कश्चित्कार्यवशाद्गच्छति पुरुषः प्रकृष्टमध्वानम्। तत्राप्यङ्कच्छेदः कर्त्तव्यः पूर्ववत्तज्ज्ञैः॥" (गा०ओ०सी० १८।३२, अध्याय २०।३० काव्यमाला १८।३४)[2]

(ग) अभिनवभारती (भाग २, पृ० १३४) में ध्रुवताल के सम्बन्ध में गोपाल तथा लोल्लट के मतों का उल्लेख है।

(घ) अभिनवगुप्त ने नाट्य० १३।१ पर टीका में लोल्लट के मत का उल्लेख किया है।

(ङ) उनका यह भी कथन है कि (१८।१४) लोल्लट ने श्लोक का पाठ इस प्रकार किया है : 'अङ्क इति गूढ़शब्दो भावैश्च रसैश्च रोहयत्यर्थान्' जबकि अभिनव को 'रूढ़िशब्दो' पाठ अभिप्रेत है।

(च) नाट्य० (गा० ओ० सी० १८।६०; चौखम्बा सं० २०।६३) की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने इस बात का उल्लेख किया है कि लोल्लट के मत से नाटिका षट्पदा होती है और शङ्कुक के मत से अष्टपदा।[3]

---

1. तेनानन्त्येपि पार्षदप्रसिद्ध्यैतावतां प्रयोज्यत्वमिति यद्भट्टलोल्लटेन निरूपितं तदवलेपना परामृश्येत्यलम् (?)। अ० भा० भाग १ पृष्ठ २९९ के स्थान पर अवलेपनापराभृष्टेत्यलम् १ पाठ होना चाहिये इसका अर्थ होगा लोल्लट को मिथ्याभिमान हो गया।"

2. अतएवैतद्भट्टलोल्लटाद्यैर्न पठितमेव। अ० भा०, भाग २, पृ० ४२३।

3. षट्पदेयं नाटिकेति संग्रहानुसारिणो भट्टलोल्लटाद्या, श्रीशङ्कुकस्तु अयुक्तमेतदित्यभिधायाष्टधेति व्याचष्टे। अ० भा० भाग २, पृ० ४३६।

(छ) नाट्यशास्त्र २१।२९ (चौखम्बा सं०) के संबन्ध में लोल्लट का मत है कि पताका-नायक के जीवन तथा कर्त्तव्यों का अंश अनुसंधि कहलाता है ।[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि लोल्लट ने भी नाट्यशास्त्र के कुछ अध्यायों यथा ६, १३, १८ तथा २१ पर (यदि संपूर्ण पर नहीं) टीका अवश्य लिखी थी ।

हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन (अ० ५, पृ० २१५) में लोल्लट के दो श्लोकों को उद्धृत किया है : 'यस्तु सरिदद्रिसागरनगतुरगपुरारिवर्णने यत्नः । कविशक्तिख्यातिफलो विततधियां नो मतः प्रवन्धेषु ।। यमकानुलोमतदितर-चक्रादिभिदा हि रसविरोधिन्यः । अभिमानमात्रमेतद्गड्डरिकादिप्रवाहो वा ।।' काव्यमीमांसा में प्रथम श्लोक को आपराजिति का बताया गया है । (पृ० ४५); दूसरे श्लोक को सोमेश्वर ने काव्यप्रकाश की टीका में (Folio 105 b) लोल्लट का कहकर तथा नमिसाधु ने रुद्रट (३।५९) पर व्याख्या करते हुए रचयिता का नाम दिये विना उद्धृत किया है । माणिक्यचन्द्र, (मैसूर संस्करण पृ० ८२) ने ११५९–६० ई० में काव्य-प्रकाश-संकेत नामक टीका लिखी । उनका कथन है कि लोल्लट के रसविवरण तथा अन्य आचार्यों द्वारा प्रतिपादित रस सिद्धान्त का अध्ययन करना चाहिये । पृ० १४७ पर वे लोल्लट, शङ्कुक तथा नायक तीनों का संकेत करते हैं : "न वेत्ति यस्य गाम्भीर्यं गिरितुङ्गोपि लोल्लटः । तत्तस्य रसपाथोधेः कथं जानातु शंकुकः ।। भोगरत्यादि-भावानां भोगं स्वस्योचितं ब्रुवन् । सर्वथा रससर्वस्वमर्मास्प्राक्षीन्न नायकः ।।

प्रतीत होता है कि लोल्लट ने अपने तर्कों को पूर्वमीमांसा के आधार पर प्रस्तुत किया है । उदाहरणस्वरूप द्रष्टव्य अ० भा० भाग २, पृ० १९६ : "प्रत्येकप्रसङ्गत्वलाभात् क्रमस्यापदार्थत्वान्नार्थप्रमाणकत्वान्मुख्यश्रौतपदार्थ-बाधकत्वमयुक्तं श्रुत्या वाक्यप्रमाणस्य बाधनादिति तु भट्टलोल्लटोक्तं प्रकृते सिध्यति विरोधाभावाद् ।" देखो जैमिनि का प्रसिद्ध सूत्र—"श्रुतिलिङ्गवाक्य-प्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यं०" (३, ३, १४) ।

पूना में आनन्दाश्रम-संग्रहालय की हस्तलिखित प्रतियों में लोल्लटाचार्य द्वारा श्राद्धप्रकरण नामक एक ग्रन्थ है (नं ३१७५) वहाँ श्लोकों में मेधातिथि के मत का उल्लेख है । यह उल्लेख संभवतया मेधातिथि के स्मृति-विवेक का है जिसका उन्होंने अपने मनुभाष्य में उल्लेख किया है । यह संदेहास्पद है कि

1. तथा लोल्लटाद्यास्तु मन्यन्ते परार्थे साधयितव्ये पताकानायकस्येतिवृत्त-भागा अनुसन्धयः । पृ० १७, अ० भा०, भाग ३ (गा० ओ० सी०) ।

श्राद्धप्रकरण का रचयिता लोल्लट रस-मीमांसक लोल्लट ही है क्योंकि प्रथम लोल्लट की तिथि ९०० ई० के वाद ही संभव है।

शंकुक के रस-संवन्धी मत का विवेचन द्वितीय खंड में किया जायगा। उनकी तिथि पहले दी जा चुकी है (पृ० ४३)। वे लोल्लट के वाद हुए। उन्होंने लोल्लट के रस-संवन्धी सिद्धान्तों की आलोचना की है (द्रष्टव्य अ० भा० भाग १, पृ० २७४)। प्रतीत होता है कि उन्होंने भी नाट्यशास्त्र की टीका लिखी थी।

(क) अभिनव भारती भाग १ पृ० ७५ में, अध्याय ३, श्लोक २१–२२ की व्याख्या करते हुए रङ्गपीठ पर शंकुक के मत का उल्लेख किया गया है। "अतः चतुर्हस्तं रङ्गपीठपृष्ठे एव मण्डलमित्युक्तं भवति। शंकुकादिभिः षोडशहस्ताव-काशाभावः आसनस्तम्भादिवशात्रस्मादकृत एव रङ्गपीठे इत्यादि वृथैव वहुतर-मुपन्यस्तम्।

(ख) अध्याय १८–१० (पृ० ४११. गा० ओ० सी०) (प्रख्यातवस्तुविषयं प्रख्यातोदात्तनायकम्) में नाटक के विषय में अभिनवगुप्त ने शंकुक के मत का उल्लेख तथा खण्डन किया है। (ग) १८।१२ (गा० ओ० सी०) श्लोक : "नृपतीनां यच्चरितं नानारसभावचेष्टितं बहुधा" में नृपतीनां शब्द के अर्थ के संवन्ध में शंकुक की व्याख्या का उल्लेख तथा खण्डन किया है।[1] (घ) नाटिका में (१८।६० भाग २, पृ० ४३६) के विषय में भी लोल्लट की चर्चा करते हुए शंकुक के मत का उल्लेख है। (ङ) अध्याय २१। ४० (=काव्यमाला १९।४०) में अभिनवगुप्त प्रतिमुख संधि का दिग्दर्शन कराते हुए शंकुक[2] द्वारा दिये गये उदाहरणों का उल्लेख करते हैं। (च) नाट्य० २१।४२=काव्यमाला १९।४२) पर अभिनवभारती ने विमर्श सन्धि के विपय में शंकुक का मत दिया है।

---

1. श्री शंकुकस्तु व्याचष्टे। विजिगीषुररिर्मध्यमौदासीनो मित्रं मित्रमित्र-मिति। एषांचरितमितिबहुवचनेन लभ्यते।

देखो हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र भाग ३ पृष्ठ २१८–२२२ विजिगीषु तथा अन्य बातों के लिये अ० भा० १८.१२. द्वितीय भाग (गा० ओ० सि०) वहां आया है नृपतीनां यच्चरितं नानारसभावचेष्टितं बहुधा। सुखदुःखोत्पत्तिकृतं भवतिहि तन्नाटकं नाम। शंकुक ने इसी श्लोक पर टीका की है।

2. उद्घाटितत्वाद् बीजस्य स्तोकमात्रं तु शंकुकादिभिरुदाहृतं यत्तदेकदेश-लक्षणमिति द्रष्टव्यम्। पृष्ठ २५, अ० भा० गा० ओ० सि० भाग ३.

(छ) नाट्य० २१।९१ (=काव्यमाला १९।८७) पर अभिनवभारती ने गर्भसन्धि के अंग-विद्रव की चर्चा करते हुए शंकुक द्वारा स्वीकृत पाठ, उसकी व्याख्या तथा उदाहरण का उल्लेख किया है। (अन्ये तु शङ्काभयत्रासैः कृतो यः स विद्रव इत्यादि तत्र च विशेष्यपदमन्वेष्यं, समुदाय एव विशेष्य इति श्रीशंकुकः, उदाहरति च कृत्यारावणे षष्ठंके गर्भसन्धौ)। (पृ. ५२ अ. भा. भाग ३ गा.ओ.सी.) (ज) नाट्य०अ० २४ (=काव्यमाला २२ सामान्याभिनय) की व्याख्या में भी शंकुक के मत को सविस्तार उद्धृत किया है (अ०भा० भाग ३, गा०ओ०सि० पृ० १४७); (झ) अभिनवगुप्त ने नाट्य० अध्याय २४।३ (=का० मा० २२।३) में भी शंकुक की व्याख्या को दिया है (अव्यक्तरूपमित्यादिकं प्रवन्धं श्रीशंकुकादय इत्थं नयन्ति इत्यादि, अ० भा० गा० ओ० सि० भाग ३ पृ० १५०)। (ञ) नाट्य० २४.६६–७१ (=का० मा० २२·६६–७१) के संवन्ध में अभिनवगुप्त ने वताया है कि किस प्रकार अभिनय के सैकड़ों भेद हो जाते हैं। उसी संवन्ध में उन्होंने यह भी वताया है कि शंकुक के मतानुसार अभिनय के भेदों की संख्या चालीस हजार है। (ननु यथा श्रीशंकुकेनोक्तं चत्वारिंशत्सहस्राणीत्यादि, अ० भा० भाग ३, गा०ओ०सि० पृ० १८०); (९) नाट्य० ५.२०–२१ में अभिनव भारती ने २९ अध्याय(चौ०सं०) के कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं और वताया है कि उनमें से कुछ का शंकुक अभिमत पाठ भिन्न प्रकार का है। शंकुक का पाठ है—'त्रिः शम्योपरिपाणौह्येष निर्दिष्टः।···भूयः शम्यातालानुगुणादुत्तरस्तथा द्विकलश्च।' जब कि अभिनव का पाठ—'तालावित्येवमेककल.' और व्वुत्तरस्तथा चैव हैं। ध्यान देने की बात है कि नाट्य०अ०(२९.१२३–१२४) में वही पाठ है जिसे शंकुक ने भी ग्रहण किया है। भाग १, रससूत्राध्याय में पृ० २९३, २९८ तथा ३१८ पर शंकुकको उद्धृत किया गया है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि नाट्य० में ३ से लेकर २९ अध्यायों तक शंकुक की टीका के उद्धरण हैं। अतः सहज अनुमान किया जा सकता है कि शंकुक ने संपूर्ण नाट्य० पर टीका की होगी।

अभिनवभारती ने भट्टनायक को बाहुल्य से उद्धृत किया है। किन्तु उन्होंने नाट्यशास्त्र पर टीका लिखी थी अथवा उस विषय पर स्वतंत्र ग्रन्थ की रचना की थी, इस प्रश्न पर स्वतंत्र रूप से विचार किया जायगा।

नाट्यशास्त्र के अध्याय ४ के अंतिम श्लोक (तथा उसमें आये 'एवं' शब्द पर) की व्याख्या में कीर्तिधर के मत का उल्लेख किया है। किन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि प्रस्तुत उल्लेख कीर्तिधर द्वारा विरचित किसी टीका का है। कीर्तिधर ने नंदिकेश्वर के मत का जो प्रतिपादन किया है उसकी

चर्चा पहले की जा चुकी है। वस्तुतः यह कहने के लिये अभी तक पर्याप्त सामग्री उपलब्ध नहीं है कि कीर्तिधर ने नाट्यशास्त्र पर क्रमबद्ध टीका लिखी थी।

अभिनवगुप्त ने किसी लेखक का उल्लेख बहुधा टीकाकार अथवा टीकाकृत के रूप में किया है। छठे अध्याय (भाग १, पृ० ३१८, ३२८) में उसके उद्धरण दो बार आये हैं तथा बीसियों बार उनके मत का उल्लेख एवं खण्डन किया गया है। जैसे:—

पृ० २८६ (अध्याय २१,३–५=अध्याय १९, अभिनवभारती, गा० ओ० सि०, पृ० ३, जो कि प्रासंगिक इतिवृत्त पर श्री उपाध्याय द्वारा प्रस्तुत मत के विरुद्ध है)।

पृ० ३८२ (अध्याय २८, श्लोक ८–१० जहाँ आतोद्य का प्रतिपादन है)।
पृ० ३९७ (२९.३२ पर)।
पृ० ३९९ (२९.७६ जहाँ श्रीपाद को उनका गुरु बताया गया है)।[1]
पृ० ४२० (अध्याय ३० जहाँ सुषिरवाद्य की चर्चा है)।
पृ० ४२३ (३०.४ जहाँ टीकाकार का डेढ़ श्लोक उद्धृत है)।

पृ० ४५८ (३१.२५२), इस प्रकार उनका उल्लेख सब अध्यायों में नहीं तो अधिकांश में अवश्य है। नाटकीय कथावस्तु में प्रयुक्त आलाप, प्रलाप, उपदेश, अतिदेश आदि बारह प्रकार के संभाषणों की चर्चा करते हुए अभिनव-गुप्त ने (२२.५१–५३ जी०ओ०सी०) आक्षेप किया है कि टीकाकारों ने उपदेश, अतिदेश तथा उपमान की व्याख्या करते हुए काव्य के क्षेत्र में तार्किकों एवं मीमांसकों की पद्धति को अपना लिया है और परिणामस्वरूप कोमल बुद्धि वाले भ्रम में पड़ जाते हैं और लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाते हैं। "अत्रोपदेशातिदेशयोरुप-मानस्य च साहित्यविषये तार्किकमीमांसकविषये विशेषप्रतिपादनं यत् टीकाकारैः कृतं तत्सुकुमारमनोमोहनं वृथाभ्रमणिकामात्रं प्रकृतानुपयोगादिहोपेक्ष्यमेव।"

अभिनवगुप्त ने निम्नाङ्कित स्थानों पर अन्य टीकाकारों का भी उल्लेख किया है। नाट्य तथा नृत्त के सम्बन्ध में (अ० भा० भाग १, पृ० २०८ पर) भट्टनायक का, सैन्धवक नामक लास्याङ्ग पर (भा० ओ० रि० इ० की प्रति,

1. टीकाकृद्भिस्तु सदाशिवमतादिग्रंथांतरालिखितं त्रयस्त्रिंशदिमे प्रोक्ता अलङ्कारा इत्यादितनं (?) लिखितं ग्रंथांतरपरिवर्तने अनिष्टप्रसङ्गात् श्रीपादप्रोक्तादिति स्वगुरुमताद्; तथा देखिये पृष्ठ ३९९ भ० ओ० रि० इ० की प्रति।

पृ० ३१७ पर) प्रियातिथि का; अध्याय ३१।४६–४८ आ० ओ० रि० इ० की व्याख्या करते हुए भट्टसुमनस का; भट्टवृद्धि[1] (अध्याय ३२।४५ ताल सम्बन्धी, चौखम्बा संस्करण; भ० ओ० रि० इ० प्रति पृ० ५१४ पर) का; अध्याय ३१, पृ० ४३४, भा ओ० रि० इ० की प्रति में ४६–४८ तक तीन गाथाओं की व्याख्या करते हुए भट्टसुमनस का; ध्रुवताल के सम्वन्ध में (गा० ओ० सि०, भाग २ पृ० १३४ पर; चौखम्बा संस्करण अध्याय ३१।५१० तथा भा० ओ० रि० इ० की प्रति पृ० ५०२ पर) भट्टगोपाल का; ताल के संबंध में (चौखम्बा संस्करण अध्याय ३१।३५७; भा० ओ० रि० इ० की प्रति में पृ० ४८८ पर) रुद्रक (रुद्रट ?) का; वृत्तप्रकरण के संबन्ध में (चौखम्बा सं० के ३२।३२९ तथा भा० ओ० रि० इ० की प्रति पृ० ५२४ पर) भगवान् शंकर के पुजारी, भट्टशंकर का; नाटिकाभेद के संबन्ध में (गा० ओ० सि० भाग २, पृ० ४३६) पर) घण्टक का। उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि उपरोक्त सभी आचार्यों ने जिन्होंने भरत के मत पर विवेचन किया है, नाट्यशास्त्र पर टीकाएँ लिखी थीं अथवा इस विषय पर स्वतंत्र ग्रन्थ रचे थे।

प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त ने (अध्याय ३२।३६०, चौखम्बा सं० तथा भा० ओ० रि० इ० की प्रति पृ० ५२९ पर) अष्टागम का उल्लेख किया हैं।[2] किन्तु यह अवतरण अशुद्ध है। 'अष्टागम' का अर्थ होगा 'नाट्यशास्त्र पर आठ प्रामाणिक अथवा परम्परागत ग्रन्थ'। यह शब्द 'अस्मदागम' का अशुद्ध पाठ है जो प्रतिलिपिकार की गलती से हो गया होगा। राहुल नाम के आचार्य को अभिनवभारती में अनेक बार उद्धृत किया गया है। उदाहरणस्वरूप उनका एक श्लोक नीचे दिया जाता है जिसमें भरत के नाम का उल्लेख है। अभिनवभारती (नाट्य० ४।२६७ गा० ओ० सि० भाग १, पृ० १७२)[3]

1. तथा च भट्टवृद्धितदत्तादिपाणितलयभंगलक्षणपुस्तकेषु सर्वत्र शता इति प्रस्तारो दृश्यते। पृ० ५१४. यह अनुच्छेद अशुद्ध है। इसका पाठ 'भट्टवृद्धि-दत्तिलादिप्राणीतलय,' अधिक संगत प्रतीत होता है।

2. प्रावेशिकीग्रहणमुपलक्षणार्थम्। नृणामिति चेष्टाबाहुल्यसम्भावनात्। अन्ये तु श्रियमपरत्वं व्याचक्षते तच्चाष्टागमपक्षविरुद्धमित्युपेक्ष्यमेव। पृ० ५२९. डा० राघवन ने कृपया मुझे सूचित किया है कि 'अष्टागम', 'अस्मदागम' का अशुद्ध रूप है। मैं उनसे सहमत हूँ तथा १९५१ के संस्करण में इसे संशोधन करने का प्रस्ताव दे चुका हूँ।

3. यथोक्तं भट्टमातृगुप्तेन। पुण्यं च जनयत्येको भूयोनुस्पर्शनान्वितः। इति। पृष्ठ ४०२ भ० ओ० रि० इ० की प्रति।

का कथन है—'यथाह राहुलः। परोक्षेऽपि हि वक्तव्यो नार्या प्रत्यक्षवत्प्रियः। सखी च नाट्यधर्मोऽयं भरतेनोदितं द्वयम्।' पृ० ११५ पर (गा० ओ० सि० भाग १) वैशाखरेचित के संबन्ध में भी राहुल का एक श्लोक उद्धृत है। अध्याय २४ में भरत (अध्याय २४, ५.३०) के बीस आभूषणों के अतिरिक्त मौग्ध्य, मद, भावविकृत तथा परितपन को नवयुवतियों का अलङ्कार माना है।[1] अभिनवगुप्त ने पुष्प नामक या पारिभाषिक शब्द पर मातृगुप्त का भी उल्लेख किया है। यह शब्द वीणा-वादन की एक शैली को प्रकट करता है। जिसका वर्णन नाट्यशास्त्र २९. ९३ (चौ० सं०) में है। प्रतीत होता है मातृगुप्त नाट्य तथा संगीत के आचार्य थे। भावप्रकाशन में उनके मत का उल्लेख इस प्रकार है—नाटक का कथावस्तु अतीत की घटनाओं पर आधारित होना चाहिये तथापि उसमें कवि द्वारा कल्पित घटनाओं का होना भी आवश्यक है।[2] राघवभट्ट ने अभिज्ञानशाकुन्तल पर अर्थद्योतनिका नामक अपनी टीका में लगभग बीस स्थानों पर उनके अनेक श्लोकों को उद्धृत किया है। उनके प्रतिपाद्य विषय निम्नलिखित हैं :—सूत्रधार के गुण, आर्यावर्त, शौरसेनी—जिसका नाटकों में सभी वर्णों की स्त्रियों द्वारा प्रयोग होता है, नाटकलक्षण (५½ श्लोक), वीज (३ श्लोक), नाटकों में संस्कृत के प्रयोक्ता (१ श्लोक), भूषण (नाटक के ३६ लक्षणों में प्रथम) की व्याख्या, यवन जातीय परिचारिकाओं का वर्णन (डेढ़ श्लोक), सेनापति का स्वरूप, हसित, स्मित, पताकास्थानक, कञ्चुकिन्, परिचारिका, कार्य का निरूपण; साधारणतया प्राकृत-भाषी भी किन अवस्थाओं में संस्कृत का प्रयोग कर सकता है। सागरनन्दी ने अपने 'नाटक-लक्षणरत्नकोष, में भी मातृगुप्त के अनेक श्लोकों को उद्धृत किया है (पृ० ५, १४, २०, २१, २३, ५० पर)। 'वक्रोक्तिजीवित' में (पृ० ५२) उसे एक महान् कवि बताया गया है तथा कहा गया है कि उनकी कविता अत्यंत सुकुमार है। 'औचित्यविचारचर्चा' में भी उनके श्लोक उद्धृत हैं (देखो पृ० १४२)। राजतरंगिणी (अध्याय ३, श्लोक १२५–३२३) में विस्तृत वर्णन है कि मातृगुप्त हर्षविक्रमादित्य के राजकवि तथा

---

1. तेन मौग्ध्यमदभावविकृतपरितपनादीनामपि शाक्याचार्यराहुलादिभिरभिधानं विरुद्धमित्यलं बहुना। पृ० १६४ अ० भा० (भाग ३, गा० ओ० सि०) सामान्याभिनय प्रकरण।

2. पूर्ववृत्ताश्रयमपि किंचिदुत्पाद्यवस्तु च। विधेयं नाटकमिति मातृगुप्तेन भाषितम्॥ भा० पृ० २३४।

भर्तृमेण्ठ के (राजतरंगिणी अध्याय ३, श्लोक २६०–२६२) समकालीन थे। हर्षविक्रम के पश्चात् पाँच वर्ष तक वे कश्मीर के शासक रहे और अन्त में वाराणसी जाकर संन्यासी हो गये। (राजतरंगिणी, अध्याय ३, श्लोक ३२०)।

ऐसा नहीं प्रतीत होता कि उन्होंने नाट्यशास्त्र पर टीका लिखी थी। किन्तु हर्षविक्रमादित्य के आश्रय में रहकर नाट्यकला पर स्वतंत्र श्लोकात्मक ग्रन्थ लिखा था। राजतरंगिणी में दो श्लोकों को (अध्याय ३० श्लोक १८१ और २५२) उनकी रचना बताया गया है। सुन्दरमिश्र ने अपने नाट्यप्रदीप (१६१३ ई०) में भरत के नाट्यशास्त्र (५-२५ और १-६) से नान्दी की व्याख्या उद्धृत की है तथा उस पर टिप्पण के रूप में लिखा है—'अस्य व्याख्याने मातृगुप्ताचार्यैः षोडशांघ्रिपदापीयमुदाहृता' (इण्डि० आ० हस्तलिखित प्रतियों की सूची भाग ३, पृ० ३४८, सं ११९९)। किन्तु एक उत्तरकालीन लेखक द्वारा दिया गया यह वक्तव्य अक्षरशः सत्य नहीं माना जा सकता। इसका इतना ही अर्थ है कि मातृगुप्त ने अपने नाट्य-विषयक ग्रन्थ में भरत द्वारा प्रतिपादित नान्दी की चर्चा की है। डा० डे (हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोइटिक्स भाग १ पृ० ३३) की मान्यता है कि राजतरंगिणी में निर्दिष्ट महाकवि मातृगुप्त नाट्यविषयक ग्रन्थ के लेखक मातृगुप्त से भिन्न हैं। किन्तु वे अन्यत्र लिख चुके हैं कि अभिनवगुप्त ने नाट्यविषयक ग्रन्थ के लेखक मातृगुप्त की पुष्प-विषयक एक कारिका उद्धृत की है। संभवतया उपरोक्त मत का प्रतिपादन करते समय वे अपने ही प्रस्तुत वक्तव्य को भूल गये। कुछ समय पहले डा० भाऊ दाजी (ज०बो०बु०र०ए०सो० वर्ष १८६१ पृ० २०८) सरीखे विद्वान् मातृगुप्त और कालिदास को एक ही मानते थे। किन्तु अब उस मत को कोई नहीं मानता। राजतरंगिणी के आधार पर मातृगुप्त का समय सप्तम शताब्दी का पूर्वार्ध माना जा सकता है। प्रो०टी०आर० चिन्तामणि ने ज० ओ० रि०, मद्रास, भाग २, पृ० ११८-१२८ में 'मातृगुप्त के उद्धरणों' का संग्रह किया है। अभिनव के गुरु भट्ट तौत ने नाट्यशास्त्र पर कोई टीका लिखी थी या नहीं, इसकी चर्चा बाद में की जायगी। अभिनव के परमगुरु उन्कलदेव को अभिनवभारती ने अनेक स्थानों पर (अध्याय २९, ३१, ३२) उद्धृत किया गया है। किन्तु यह बताना कठिन है कि उन्होंने उपरोक्त अध्यायों पर टीका लिखी थी या संगीत पर स्वतंत्र ग्रन्थ भा०ओ०रि०इ० की प्रति (पृ० ४३६ पर अभिनव ने उनसे अपना मतभेद प्रगट किया है। (उत्पलदेवपादास्तु अस्मत्परमगुरवो व्याचक्षते'''वयं तु मन्महे)।

ध्वन्यालोक के टीकाकार लोचन ने (पृ० २१७) भरत की निम्नलिखित

कारिका उद्धृत की है—'वहूनां समवेतानां रूपं यस्य भवेद्वहु। स मन्तव्यो रसः स्थायी शेषाः सञ्चारिणो मताः ॥" (नाट्यशास्त्र, गा० ओ० सि० २०,७६—चौखम्वा सं० २२.६८ जहाँ 'वहुनां' के स्थान पर सर्वेषां पाठ है।) और बताया है कि इसकी व्याख्या अनेक प्रकार से की गयी है। अन्त में उसने भागुरि के मत का समर्थन किया है। 'तथा च भागुरिरपि किं रसनामपि स्थायिसञ्चारिणामस्तीत्याक्षिप्याभ्युपगमेनैवोत्तरमवोचद्वाढमस्तीति' भागुरि भी भरत के टीकाकार थे, इस बात को जानने का अन्य कोई आधार नहीं है।

नाट्यशास्त्र के प्राचीन लेखकों के विषय में भी कुछ कहना आवश्यक है, जिनके ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हो सके हैं। संगीतरत्नाकर (अध्याय १, श्लोक १५–१८) में अनेक देवता तथा दैवी गुणों से सम्पन्न आचार्यों का उल्लेख है यथा सदाशिव, शिव, ब्रह्मा, भरत, कश्यपमुनि, मतंग, याष्टिक, कोहल, विशाखिल, दन्तिल, कम्बल, अश्वतर, नारद, तुम्बर, आञ्जनेय, मातृगुप्त, रावण, नन्दिकेश्वर, रुद्रट, नान्यभूपाल, भोज, सोमेश्वर मर्दी, जगदेकमहीपति। कोहल भी इन्हीं में से एक हैं। उनके विषय में पर्याप्त लिखा जा चुका है (पृ० ३८-४०, ४८; ५८-६४)। संभवतया उन्होंने नाट्यशास्त्र के समस्त अंगों विशेषतया संगीत, नाट्य तथा नर्तन पर लिखा था। (देखो आ०इ०ओ० कां० छठा सत्र, पटना, पृ० ५७७-५८०, में "फ्रैमेन्ट्स ऑफ कोहल" शीर्षक मेरा लेख)। कवि महोदय (ज० आ० हि० रि० सो० भाग ३, पृ० २४) का कथन है कि ताल तथा अभिनय के अतिरिक्त कोहल रचित 'संगीतमेरु' उपलब्ध नहीं है। कोहल ने ही सट्टक आदि (नाट्यदर्पण, पृ० २५ तथा अ०भा० भाग २, पृ० ४०७) उपरूपकों की परिभाषा का प्रारम्भ किया। यह बात ऊपर बताई जा चुकी है कि उद्भट-परम्परा के अनुसार 'रसा भावा' आदि कारिका में कोहल द्वारा प्रतिपादित ग्यारह सात्विक भावों का निरूपण किया गया है। इस बात का भी उल्लेख किया जा चुका है (पृ०३८-४०; ५८-६४) कि अभिनवभारती में कोहल के मत का उल्लेख बाहुल्य से है तथा उनके श्लोकों को भी उद्धृत किया गया है। नाट्य० ९·४—६ (भाग २, पृ० २६) में कोहल को नृत्ताचार्य कहा गया है। (शून्यभास्वरविद्युदाद्यभिनयविषये नृत्ताचार्यप्रवाहसिद्धः कोहललिखितोऽपि हस्तः संगतो भवतीति) उनके मत का उल्लेख निम्न स्थलों पर है:—नाट्य० ९.१२६ (भाग २, पृ० ५५); १२.२—३ (भाग २, पृ०१३०), भाग २, पृ० १४२ (सुभद्र नामक ध्रुवताल के विषय में), भाग २, पृ० १४४ (रौद्र रस में उत्फुल्लक तथा नर्तनक नामक चलने की विधियों के विषय में); भाग २, पृ० १४६ (जम्भटिका नामक एक लय के

विषय में); भाग २, पृ० १५१; नाट्य० १२.११३ (भाग २ पृ० १५५, खञ्जक, हेला, विलम्बित नामक चलने की विधियों के संबन्ध में); नाट्य १८.१ (भाग २, पृ० ४०७) जिसमें यह कहा गया है कि यदि 'प्रयोगतः' शब्द की पूरी व्याख्या की जाय तो तोटक, सट्टक, रासक तथा अन्य उपरूपकों को भी सम्मिलित करना होगा; १८.७–८ (भाग २, पृ० ४१०)। कोहल ने नाटकों के विविध प्रकारों को भिन्न-भिन्न नाम दिये हैं किन्तु वे सभी परिभाषा की दृष्टि से दश रूपकों में अन्तर्हित हो जाते हैं। नाट्य० १८.१४ (भाग २, पृ० ४१६–१७) में कोहल के ढाई श्लोक उद्धृत हैं उनमें अङ्क नामक रूपक के तीन भेद बताये गये हैं। १८।२६ (भाग २, पृ० ४२१ में कोहल द्वारा प्रतिपादित अर्थोपक्षेपकों का वर्णन है); भाग २, पृ० ४३४ पर एक आर्या द्वारा विष्कंपक के विषय में (कोहल का मत उद्धृत किया गया है। भाग २, पृ० ४५२ पर कोहल का मत उद्धृत है 'शृंगारहास्यकरुणैरिह कैशिकी स्यात्' यह भरत के विपरीत है) भाग २, पृ० ४५९ (वीथी के सम्बन्ध में कोहल की दो आर्याओं को उद्धृत किया गया है); भाग २, पृ० १३३ में द्विपदी के सम्बन्ध में कोहल का अनुष्टुप् श्लोक उद्धृत है। गा० ओ० सि० के अ० भा० भाग ३, पृ० ७२ में यह कहा गया है कि कोहल के अनुसार प्रयोग में लाई जाने वाली भाषाओं के आधार पर रूपक अनेक प्रकार के होते हैं। भरत का भी यही मत समझना चाहिये क्योंकि सैन्धव भाषा में उन्होंने एक सैन्धवक नामक रूपक भी माना है। तेन दशरूपकस्य यद्भाषाकृतं वैचित्र्यं कोहलादिभिरुक्तं तदिह मुनिना सैन्धवाङ्गनिरूपणे स्वीकृतमेव।[1] अ० भा० पृ० १४६ (अध्याय २२; चौखम्बा संस्करण के २४.१) में कहा गया है कि जिन प्राचीन आचार्यों ने कोहल के सिद्धान्तों का अनुसरण किया है उनके मतानुसार सामान्याभिनय छः प्रकार के होते हैं तथा इस सम्बन्ध में कोहल का एक श्लोक भी उद्धृत है। नाट्य० २५।१२४ पर अ० भा० पृ० २८९ का कथन है कि कोहल द्वारा प्रतिपादित नाट्यशास्त्र के

---

1. देखो नाट्य० ३१।५१३ (चौखम्बा सं०) सैन्धवीमाश्रितं भाषां ज्ञेयं सैन्धवकं बुधैः। रूपवाद्यादिसंयुक्तं सैन्धवं स्यादमोद्धतम्॥ का० मा० ३१।३१५ पर कुछ अधिक संगत पाठ—'रूपवाद्यादिसंयुक्तं युग्मतालंकृतं तथा' है।

2. 'कोहलमतानुसारिभिर्वृद्धैः. सामान्याभिनयस्तु षोढा भण्यते। तथाहि कोहलः। शिष्टं कामं मिश्रं वक्रं सम्भूतमेकयुक्तत्वम्। सामान्याभिनये यत् षोढा विदुरेतदेव बुधाः। इति।

प्रसिद्ध चित्राभिनयों का अध्ययन करना चाहिये। इसी स्थान पर उनके लगभग तीस श्लोक उद्धृत किये गये हैं।

भावप्रकाशन में कोहल का मत अनेक स्थानों पर उद्धृत किया गया है। (देखो पृ० २०४, २१०, २३६, २४५, २५१) प्राकृतसर्वस्व के लेखक मार्कण्डेय ने मङ्गलाचरण के तृतीय श्लोक[1] में कहा है कि शाकल्य, भरत, कोहल, वररुचि, भामह, वसन्तराज तथा अन्य आचार्यों के ग्रन्थों का सम्यक् अध्ययन कर लेने के पश्चात् उन्होंने अपने ग्रन्थ की रचना की है।

शिङ्गभूपाल के रसार्णवसुधाकर (पृ० ८ श्लोक ५२–५४) में कहा गया है कि शाण्डिल्य, कोहल, दत्तिल तथा मतङ्ग आदि भरतपुत्रों ने नाट्यशास्त्र पर अपने ग्रन्थ रचे[2]। कामसूत्र (१.१.११; भाग ६, २.५५; ६, ३.४४) दत्तक का उल्लेख मिलता है जिन्होंने पाटलिपुत्र की गणिकाओं की प्रार्थना पर कामशास्त्र के वैशिक भाग की व्याख्या की। कुट्टनीमत (श्लोक ७७, १२२) में दत्तकाचार्य (भाग १, दन्तिलाचार्य) उल्लेख मिलता है। अभिनवभारती (भाग १, पृ० २०५, अध्याय ४, ३२६–२७ ध्रुवा के सम्बन्ध में) में दत्तिलाचार्य का एक श्लोक उद्धृत है। आतोद्य तथा ताल विषयों पर भा० ओ० रि० इ० की प्रति में दत्तिलाचार्य के श्लोकों को अनेक बार उद्धृत किया गया है। देखो पृ० ३८३, (अध्याय २८.१०, ४०३) अध्याय २९.१०१ चौखम्बा संस्करण), ४३५, ४३९ (अध्याय ३१.३१), ४४२, ४४६, ४४७, ४५०, ४७८, ४८७, ४८९ (औवेणक विषयक एक श्लोक), ४९१। कवि महोदय (ज० आ० हि० रि० सो० भाग ३, पृ० २४) का कथन है कि दत्तिल रचित ग्रन्थ का नाम 'गान्धर्ववेदसार' है तथा अब वह उपलब्ध है। स्पष्टतया दत्तिल और दन्तिल एक ही नाम के दो रूप हैं। किन्तु इस बात में सन्देह है कि कामसूत्र में उल्लिखित दत्तक ही नाट्यशास्त्र का दत्तिल है। मतंग का उल्लेख दामोदरगुप्त ने सुषिरस्वरवाद्य के (यथा वेणु आदि) आचार्य के रूप में किया है[3]। अतः वे अभिनवगुप्त से बहुत प्राचीन

1. प्राकृतसर्वस्व १९२७, विजगापट्टम संस्करण

2. इसी प्रकार रसरत्नप्रदीपिका (संपादक डा० आर० एन० डांडेकर भारतीय विद्या भवन सीरीज) में ग्रंथकार ने आलोढित ग्रंथों की सूची में कश्यप, कोहल, मतङ्ग, दत्तिल विशाखिल, नारद, तुम्बर तथा रावण का उल्लेख किया है।

3. सुषिरस्वरप्रयोगे प्रतिपादनपण्डितो मतङ्गमुनिः। कुट्टनीमत, गाथा ८७७।

हैं। भा० ओ० रि० इ० की अभिनवभारती में (अध्याय ३०।१ पृ० ४२०) यह कथन है कि मतङ्ग आदि ने भगवान महेश्वर को बाँस की बनी हुई वेणु से प्रसन्न किया। अतः वेणु-मात्र का नाम 'वंश' हो गया। खदिर से बनी हुई भी खाली नली जो बजायी जा सकती हो 'वंश' कही जाती है।[1] आगे चलकर इसी सम्बन्ध में एक श्लोक उद्धृत है जिसमें कोहल ने बताया है कि धातु-निर्मित नली भी काम में लाई जा सकती है। 'तथाहि मतङ्गमुनिना' चत्वारो धातवो वंश इत्यादिना धातुविनियोगोऽपि प्रदर्शित एव।' भा० ओ० रि० इ० की प्रति अ० ३०.१९ की व्याख्या में (पृ० ४२६) मतङ्ग के दो श्लोक उद्धृत हैं। जगदेकमल्ल (११३८–११५० ई० सन्) के 'संगीतचूड़ामणि' में मतङ्ग तथा भोज को २ पूर्ववर्ती आचार्यों में गिनाया गया है (इ० हि०क्वा० भाग २०, पृ० ८७)। संगीतरत्नाकर (१।१५ तथा ५५) में अनेक आचार्यों का उल्लेख है। संगीतरत्नाकर (१.३.२४)—पृ० ३८ की टीका करते हुए कल्लिनाथ का कथन है कि मतङ्ग ने षड्ज तथा अन्य स्वरों की व्याख्या में उन्हें महत्त्वपूर्ण बताया है। तथा १.३.२५ की व्याख्या में: 'सरिगादीनां मतङ्गाभिमतः उद्धारकक्रमः उच्यते' टिप्पणी भी दी है। सं० र० १.४.९ की टीका में कल्लिनाथ का कथन है कि मतङ्ग तथा नन्दिकेश्वर ने द्वादश मूर्च्छनाओं का उल्लेख किया है। सं० र० १.८.१९ पृ० १४६ की व्याख्या में इन्होंने मतङ्ग के मत का वर्णन किया है: 'सामवेदे गीतप्रधाने आवृत्तिषु अर्था नाद्रियन्ते इति।' सं० र० २.१.७ की टीका करते हुए कहते हैं कि मतङ्ग ने भाषा तथा विभाषा को ध्यान में रखते हुए सात गीतियों की चर्चा की है। किन्तु भरत ने मागधी आदि केवल चार गीतियों को ही माना है[2]। कवि महोदय (ज० आ० हि० रि० सो० भाग ३,

---

1. पूर्वं भगवन्महेश्वराराधानं मतङ्गमुनिप्रभृतिभिर्वेणुमितं (वेणुना कृतं १) ततो वंश इति प्रसिद्धः, वस्तुस्तु छिद्रात्मकसुषिराभिव्यक्तस्वरविशेषरूपतयैवास्योपयोग इति खादिरादिनिर्मितव्यसनं (१) भवत्येव। तथा चोक्तम्। वंशे सृष्टं यदापूर्वं वंशसक्ता नु वैणवी। वंशास्तु खादिरारोप्याः शंशवायत्क···इति।

2. देखो नाट्य० २९.७६–७७ अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि गीतीनामपि लक्षणम्। प्रथमा मागधी ज्ञेया द्वितीया चार्धमागधी। सम्भाविता तृतीया च चतुर्थी पृथुला स्मृता॥ सं० र० १.८.१४–१६ में भी इन्हीं चार का उल्लेख प्राप्त होता है। तथा कल्लिनाथ का कथन: 'अस्या मगधदेशोद्भवत्वान्मागधीति निरुक्तिर्मतङ्गोक्ता।'

पृ० २४) का कथन है कि मतङ्ग बृहद्देशी नामक ग्रन्थ के रचयिता हैं जिसके लगभग २५०० श्लोक अब भी उपलब्ध हैं। नान्यदेवकृत भरतभाष्य में वृहद्देशी का बीसियों वार उल्लेख है। (हस्तलिखित प्रति १११, १८६९–७० भा० ओ० रि० इ०, फोलियो ८६ क, ८६ ख, १०७ इत्यादि)। कुछ दिन पहले नन्दिकेश्वरकृत भरतार्णव नामक ग्रन्थ अंग्रेजी तथा तमिल अनुवाद के साथ तंजोर सरस्वती महल सि० ७४ (१९५७) में प्रकाशित हुआ है। ग्रन्थ अपूर्ण है और उसमें पन्द्रह अध्याय हैं जिनमें केवल आठ सौ श्लोक हैं जबकि सम्पूर्ण ग्रन्थ की श्लोक-संख्या चार हजार है। वामन ने अपनी काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति में (१.३.७) विशाखिल को कला-विषयक ग्रंथकार के रूप में उद्धृत किया है। कुट्टनीमत (गाथा १२३) में निम्नलिखित श्लोक है—"भरतविशाखिलदन्तिलवृक्षायुर्वेदचित्रसूत्रेषु। पत्रच्छेदविधाने भ्रमकर्मणि पुस्तसूदशास्त्रेषु।" अभिनवभारती (भाग १, पृ० १९९ अध्याय ४.३१२) का कथन है कि लास्यगान का प्रतिपादन विशाखिल ने किया था। नाट्य० २८.१० पर अभिनवभारती (भ०ओ०रि० इ० की प्रति पृ० ३८३) का कथन है 'तथा च विशाखिलाचार्याः स्वरपदतालसमवायेगांधर्वमिति।' नाट्य० २९.८१–८३ भा० ओ० रि० इ० प्रति पृ० ४०१ में नीचे लिखा टिप्पण है और बताया गया है कि भरत को विशाखिल विदित थे—'एवकारेण चतुष्प्रहरणसत्रिप्रहरणमंगुलीनां विभागो द्वे वृत्ती समलेखा च त्रिलेखा इत्यादिकं विशाखिलाचार्यान्तरप्रोक्तं सर्वथैव ध्रुवागानज्ञानवैकल्प्योपयोगात् मया नोक्तमिति सूचयति।' विशाखिल का उल्लेख पृ० ४०८, ४२२ (३०.३ अतएव शारीरवद्ध्वंश्यानामारोहणमिवारोहणं वेति विशाखिलाचार्यः), ४२९, ४३१, ४३२, ४९७ (विशाखिलादिलक्षितं सर्वमेव लास्यगानं)।

प्रतीत होता है कि नाट्यशास्त्र पर एक वार्तिक भी था। इसकी रचना किसी श्रीहर्ष अथवा हर्ष नामक व्यक्ति ने की। बहुधा उसका उल्लेख कभी वार्तिककृत तथा कभी श्रीहर्ष नाम से होता है। (१) नाट्य० २।९७–९८ (अ० भा० भाग १, पृ० ६७) की व्याख्या में नाट्यमण्डप के विभिन्न भागों में खड़े किये जाने वाले स्तम्भों की संख्या के विषय में वार्तिककृत का डेढ़ आर्या श्लोकों में उद्धृत है जिनकी लिपि अस्पष्ट है। कुछ अन्तर (पृ० ६८) पर चार और आर्याएँ हैं जो संभवतया वार्तिक से ली गई हैं। (२) नाट्य० १।८४ नेपथ्यभूमौ मित्रस्तु की व्याख्या के सम्बन्ध में अ० भा० भाग १, पृ० ३१ पर भी वार्तिककार के मत का उल्लेख है जिसका अर्थ स्पष्ट नहीं होता क्योंकि उक्त अवतरण का पाठ अत्यन्त अशुद्ध है। (३) नाट्य० ४।२६७–६८ (भाग १, पृ० १७२)

वार्तिककृत का दावा है कि वस्तुतः नाट्य तथा वृत्त भिन्न नहीं है[1]—वाच्यानुगतेऽभिनये प्रतिपाद्येऽर्थे च गात्रविक्षेपैः। उभयोरपि हि समानः को भेदो नृत्तनाट्यगतः ॥ (४) वार्तिक (भाग १, पृ० १७४) से ली गई एक अन्य आर्या में भी इसी मत का दृढ़ता से प्रतिपादन किया गया है। (एवमवान्तरवाक्यैरुपदेशो रागदर्शनीयेषु। सिंहादिवर्णकैर्वा क्वचिदप्यर्थान्तरन्यासात्") । (५) आगे चलकर ४।३३१ (भाग १, पृ० २०७) में एक अशुद्ध पाठ द्वारा उसी मत का पुनः समर्थन किया गया है। (६) नाट्य० (५।७) पर श्रीहर्ष के पूर्वरङ्ग सम्बन्धी मन्तव्य का उल्लेख है, साथ ही एक गाथा भी उद्धृत है—'श्रीहर्षस्तु रङ्गशब्देन तौर्यत्रिकं ब्रुवन् नाट्याङ्गप्रयोगस्य तस्यैव पूर्वरङ्गतां मन्यमानः पूर्वश्चासौ रंग इति समासममंस्त। यदाह—दृष्टा येऽवस्थार्थे (वस्त्वर्थे ?) नाट्ये रंगाय पादभागाः स्युः। पूर्वं त एव यस्मिन् शुद्धाः स्युः पूर्वरंगोऽसौ ॥' (७) नाट्य० (५.८–१५) पर पूर्वरंग के अंगों का वर्णन है। वहाँ अभिनवगुप्त भाग १, पृ० २७२ ने वार्तिक का एक खण्डित गद्यांश को उद्धृत किया है! (८) नाट्य० ५।१८० पर पूर्वरंग की प्रस्तावना के सम्बन्ध में श्रीहर्ष को उद्धृत किया गया है (भाग १, पृ० २५१)—यदाह श्रीहर्षः— अतएव हासो नाम कविः कस्मिंश्चिन्नाटके 'दिवं यातश्चित्तज्वरेण कलिरित एवाभिवर्तते,

---

1. नाटच का अर्थ है सभी प्रकार के रूपक या अभिनय। अनुकृति, नृत्य तथा संगीत सभी इसमें सम्मिलित हैं। कुछ रूपकों में अनुकरण या अभिनय की प्रधानता रहती है, किसी में संगीत की और किसी में नृत्य की। अनेक स्थानों पर नाट्य, नृत्य और नृत्त में परस्पर भेद बताया गया है। नाट्य में कई अभिनेता होते हैं, इसके विपरीत नृत्य और नृत्त का प्रदर्शन केवल एक व्यक्ति द्वारा किया जाता है (वे एकहार्य कहे जाते हैं) नृत्य और नृत्त में भी परस्पर भेद किया गया है। देखो दशरूपक I ७. ९. अवस्थानुकृतिर्नाट्यं···दशधैव रसाश्रयम्। अन्यद् भावाश्रयं नृत्यं नृत्तं तालसमाश्रयम्।' भावप्रकाशन पृष्ठ २९८ पर आया है। 'पदार्थाभिनयो नृत्यं डोम्बीश्रीगदितादिषु। अङ्गविक्षेपात्रं मल्लयताल समन्वितम् ॥ तन्नृतं तथा देखो पृष्ठ ४५. नटकर्मैव नाट्यं स्यादिति नाट्यविदां मतम्। करणैरङ्गहारैश्च निवृत्तं नृत्तमुच्यते ॥ अनुकृति या अनुकरण ही एक ऐसा तत्त्व है जो तीनों में समान है। अमरकोश में आया है—'तौर्यत्रिकं नृत्यगीतवाद्यं नाट्यमिदं त्रयम्।'

अशक्यमस्य पुरतोऽवस्थातुम्' इत्यादि।[1]

उपर्युक्त विवरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हर्षवार्तिक ने संभवतया सभी अध्यायों पर टीका लिखी थी। इस टीका की रचना मुख्य रूप से आर्या छन्द में की गई और साथ ही गद्य भी दिये गये थे। इसमें नाटकीय साहित्य से उदाहरण भी लिये गये थे। कवि महोदय (दूसरे भाग की भूमिका, पृ. २३) का कथन है कि अंगहार पर वार्तिक का अधिकांश उपलब्ध हो चुका है। डा. राघवन ने आक्षेप किया है (ज. ओ. रि. मद्रास, भाग ६, पृ. २०५ पर अभिनव-भारती में उल्लिखित लेखकों के विषय में) कि यहाँ भी केवल प्रथम ६ अध्यायों में ही इनके मत का उल्लेख है। शेष पूरी अभिनवभारती में कुछ नहीं मिलता।' यह तर्क अन्य स्थानों पर वार्तिक का उल्लेख न होने के कारण उपस्थित किया गया है किन्तु इससे यह निष्कर्ष निश्चित रूप से नहीं निकाला जा सकता कि पुस्तक के किसी भी अन्य अध्याय पर वार्तिक नहीं लिखा गया। अभिनवगुप्त की टीका सातवें और आठवें अध्याय पर (प्रथम कुछ श्लोकों को छोड़कर) नहीं मिलती तथा अन्य परिच्छेदों में भी कहीं-कहीं अनुपलब्ध है। ३२ वें अध्याय के बाद तो कुछ भी नहीं मिलता। भावप्रकाशन (पृ. २३८) में हर्ष के मत का उल्लेख है कि त्रोटक, नाटक से भिन्न होता है क्योंकि त्रोटक में कोई विदूषक नहीं होता। डा. संकरन ने 'रस-सिद्धान्त का इतिहास' (पृ. १३) में कन्नौज के सम्राट् हर्षवर्द्धन और श्रीहर्ष को एक ही व्यक्ति बताया है। लेकिन यह कल्पना मात्र है।

भावप्रकाशन (पृ० २३८) में सुबन्धु को नाट्यशास्त्र का लेखक बताया गया है जिसने नाटक के पाँच भेदों का प्रतिपादन किया है—पूर्ण, प्रशान्त, भास्वर, ललित तथा समग्र। नाट्यशास्त्र (२४.४१) में शरीराभिनय को छः भागों में विभाजित किया है जिसका एक भाग नाट्यायित है (इसकी परिभाषा गाथा ४८ में दी गई है)। और उदाहरण के रूप में अभिनवभारती (भाग ३, पृ० १७२) में महाकवि सुबन्धुकृत 'वासवदत्तानाट्यधार' को प्रस्तुत किया गया है। (तत्रास्य बहुतरव्यापिनो बहुगर्भस्वप्नायिततुल्यस्य नाटचायितस्योदाहरणं महाकविसुबन्धुनिबद्धो वासवदत्तानाट्याधाराख्यः समस्त एव प्रयोगः। तत्र हि

---

1. सम्पादक महोदय का सुझाव है कि हास के स्थान पर भास होना चाहिये किन्तु इसके लिये कोई आधार नहीं है। हो सकता है अज्ञात नाटक-कार का नाम हास ही हो।

बिन्दुसारः प्रयोज्यवस्तुके उदयन चरिते इत्यादि।) प्रतीत होता है कि सुबन्धुकृत इसी नाटक का उल्लेख अभिनवभारती (भाग २, ४२७) ने "वासवदत्ता-नृत्तधार" के नाम से किया है। महाकवि सुबन्धु और नाट्यग्रंथ के लेखक सुबन्धु (जिनका उल्लेख भावप्रकाशन में हुआ है) एक ही व्यक्ति थे, यह संदेहास्पद है। संभवतया वे भिन्न हैं। भ० ओ० रि० इ० में हस्तलिखित ग्रन्थों का जो राजकीय संग्रह है उसमें एक हस्तलिखित ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है जिसका निर्देश हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची भाग १२, पृ० ३७७-३८३, सं० १११, १८६९-७० के रूप में किया गया है। पुस्तक का नाम है 'भारतभाष्य' अथवा 'सरस्वतीहृदयालङ्कार' (और अन्त में दी गई पुष्पिका में उसका नाम भरतवार्तिक भी दिया है) है। पुष्पिकाओं में उसके रचयिता का नाम नान्यपति अथवा नान्यदेव दिया गया है और उसके साथ महासामन्ताधिपति धर्मावलोक एवं मिथिलाधिपति विशेषण लगाये गये हैं। योजना के अनुसार ग्रन्थ विशालकाय होना चाहिये; उपरोक्त अंश में चार प्रकार के अभिनयों में से केवल वाचिक अभिनय की चर्चा है। प्रधानरूप से यह नाट्यशास्त्र के अध्याय २८–३३ की टीका है, जिसमें संगीत की चर्चा है। लेखक ने अपना नाम राजनारायण भी बताया है (Folio 12 a) तथा कहा है कि ये कीर्तिराज के अनुज थे (Folio 199 a)। उन्होंने 'ग्रन्थमहार्णव' नामक अपनी एक अन्य रचना का भी उल्लेख किया है। फोलियो २२१ पर अन्तिम श्लोक का उत्तरार्द्ध नीचे लिखे अनुसार है—"तेनायं मिथिलेश्वरेण रचितोऽध्यायोऽवनद्धाभिधः।" उन्होंने प्रारम्भ में प्रतिज्ञा की है कि सत्रह अध्यायों में वे वाचिकाभिनय की चर्चा करेंगे। साथ ही नाम तथा विषयों का संक्षिप्त विवरण दिया है। हस्तलिखित ग्रन्थ (२२१ फोलियों) अत्यंत प्राचीन है और उसमें पृष्ठमात्राओं का प्रयोग है। लिपि अत्यंत निविड होने पर भी स्पष्ट है। ग्रन्थ कुछ अस्त-व्यस्त है। अलङ्कार-विषयक पाँचवाँ तथा सोलहवाँ एवं सत्रहवाँ अध्याय लुप्त हैं। ग्रन्थ में भरत के प्रत्येक श्लोक पर टीका नहीं है किन्तु उन्हें सैकड़ों बार उद्धृत किया गया है। कश्यप, दत्तिल और नारद के भी सैकड़ों उद्धरण हैं; फोलियो १११ b तथा ११४ b पर बृहत्कश्यप एवं वृद्धकश्यप का उद्धरण है। बृहद्देशी, मतंग, याष्टिक तथा विशाखिल के बीसियों उद्धरण हैं। इनके अतिरिक्त निम्नलिखित ग्रन्थों एवं लेखकों के उद्धरण हैं:—नारदीयशिक्षा-विवरणकृत् (फोलियो 16 b), देवराज (जिनका पाठान्तर देदराज भी है, जैसे फोलियो 69 b, 70), मेर्वाचार्य (फोलियो 70 a), नन्दिमत (205 a, 210 b),

स्वरसंहिताचार्य (1: 7 b), स्वाति (२०1 a, जिन्हें स्वरमुनि कहा जाता है), याज्ञवल्क्यस्मृति, भाग ३, ११२–११६ (फोलियो १८२ क), तुम्बुरू (१८१ ख). कालिकापुराण (१३१ क), भगवतपुराण अथवा भागवतपुराण (१३८ क, १३८ ख). लेखक ने पूर्णतया अभिनवगुप्त का अनुसरण किया है किन्तु उनका उल्लेख प्रायः नहीं किया जैसे फोलियो १० क, १८४ ख। पाणिनि, नारद तथा अपिशालि (आपिशलि ?) का उल्लेख एक ही स्थान (८ ख) पर है। कहीं-कहीं पर अपने मत का भरत के मत से भेद प्रगट किया है, जैसे (१३ क)— "गान्धारग्रामश्च भरतेनालौकिकश्चात्रोपदर्शितः। अस्माभिश्चागमानुसारेण प्रदर्शितः"; १५ क "भरताचार्यस्यास्य शास्त्रे प्रयोगागता अस्माभिश्च कश्यप-मतंगतुम्बरविशाखिलाद्याचार्यनिखिलमुनिवचनात्" इत्यादि। बहुत से स्थानों पर सूत्र भी उद्धृत हैं (जैसे फोलियो २१ क, ३९ क, ४३ क, गान्धारपञ्चमीलक्षण पर, ४३ ख आन्ध्री लक्षण पर)। इसी प्रकार संस्कृत के ब्रह्मोक्त कहे जाने वाले चतुष्पद तथा चतुष्पदी भी उद्धृत हैं (फोलियो २२ ख, ४२ क, अस्यां ब्रह्मोक्तं चतुःपदी यथा—सोस्यां गौरीमुखांभोजरूहदिव्यतिलकपरिचुम्बितार्चित इत्यादि)।

भरतभाष्य के लेखक नान्यदेव का तिथि-निर्णय अपेक्षाकृत सरल है किन्तु एक कठिनाई है। चौथा प्रस्तावित श्लोक है—'लक्ष्यप्रधानं खलु शास्त्रमेतन्निःशङ्कदेवोऽपि तदेव वष्टि (वक्ति ?) प्रथम अध्याय का २३ वाँ श्लोक (जो उपजाति में है) भी निःशङ्क का उल्लेख करता है—'नोपाधि ददेघस्य (?) विकारभेदं निःशङ्कसूरिः खलु कूटताने। सर्वेषु तास्तेपि कृताश्च शुद्धाश्चतुर्दशैवेति मतं मदीयम्।' किसी लेखक का नाम निःशङ्क असाधारण सा प्रतीत होता है। संगीतरत्नाकर के लेखक ने भी इसी नाम को स्वीकार किया है जहाँ उन्हें निशंकशार्गदेव के रूप में बताया गया है। उसके पिता सोढल को देवगिरि के यादवनरेश भिल्लम और सिंघन ने आश्रय दिया था। सिंघण का राज्य १२१०–१२४७ ई० तक था। शार्ङ्गदेव का समय १२३३ से १२७० ई० तक है ऐसी स्थिति में यदि नान्यदेव ने निःशंक-शार्गदेव का उल्लेख किया है तो उसका समय १२८०–१३०० ई० तक होना चाहिये। किन्तु ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता जिससे यह कहा जा सके कि प्रस्तुत नान्यदेव ने तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मिथिला पर राज्य किया था। मिथिला के राजा नान्यदेव ही कर्णाटक के मैथिल राजवंश के संस्थापक थे और उनका शासनकाल १०९७–११४७ ई० तक है। (देखो इ० हि० कां० का कार्य-विवरण, १३०–१३५; । 'नान्यदेव तथा उसके

समकालीन', लेखक श्री राधाकृष्ण चौधरी)। उन्हें बंगाल के राजा विजयसेन ने हराया था जिनका शासनकाल १०९५–११५८ ई० तक है। (देखो देओपारा प्लेट (ए० इ०, भाग १, ३०५; पृ० ३१४ पर) और डा० आर० सी० मजुमदार का लेख इ० हि० क्व० भाग ७, पृ० ६७९–६८७) जहाँ उन्होंने बताया है कि विजयसेन १०९५ ई० में सिंहासनारूढ़ हुए। इससे प्रगट होता है कि प्रस्तुत नान्यदेव ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग विद्यमान थे। अतः या तो भरतभाष्य की हस्तलिखित प्रति में निःशंकदेव का उल्लेख प्रक्षिप्त है (जो कि बहुत संभव है क्योंकि प्रस्तुत हस्तलिखित प्रति अधूरी है और अन्य कोई प्रति तुलना के लिये उपलब्ध नहीं है) अथवा भरतभाष्य में उल्लिखित निःशंकदेव, शार्ंगदेव से भिन्न हैं अथवा मिथिला के नान्यदेव कोई और रहे होंगे जिनका अभी तक पता नहीं चला है। अतः भरतभाष्य के तिथि-निर्णय का प्रश्न इसी स्थिति में छोड़ना होगा, सागरनन्दी के नाटकलक्षणरत्नकोश के अन्त में नीचे लिखी कारिका है–'श्रीहर्षविक्रमनराधिप–मातृगुप्त–गर्ग–अश्मकुट्टनख–कुट्टकबादराणाम्। एषां मतेन भरतस्य मतं विगाह्य घ्रष्टं मया समनुगच्छत रत्नकोशम्॥' प्रतीत होता है सागरनन्दी द्वारा निर्दिष्ट उपरोक्त सात आचार्यों ने या तो भरत पर टीका लिखी थी या नाट्यशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाले विषयों पर स्वतंत्र प्रकरण-ग्रन्थ लिखे थे।

अभिनवगुप्त तथा अन्य आचार्यों ने (देखो ऊपर पृ० १०–११, २६ इत्यादि) नाट्यशास्त्र का निर्देश भरतसूत्र के नाम से किया है। अतः व्याकरण, तर्कशास्त्र, वेदान्त आदि की परम्परा के अनुसार प्रस्तुत सूत्र पर लिखी गई टीकाओं को भी भाष्य, वार्तिक आदि नाम दिये गये।

कवि महोदय तथा उनकी शैली के विषय में हम पहले लिख चुके हैं (पृ०१४)। डा. डे महोदय की आलोचना का उत्तर देते हुए कवि महोदय ने (इ० हि० क्वा० भाग ५, पृ० ५५८–५७७) अपने वक्तव्य को समीचीन सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। डे महोदय का प्रत्युत्तर इ० हि० क्वा० भाग ५, पृ० ७८६–७८९ में प्रकाशित हुआ है। देखो डा० राघवन का लेख "रसों की संख्या", अड्यार पुस्तकालय, पृ० ९२–१०६ और "भोज का श्रृंगारप्रकाश" पृ० ५३६–५४३ (कर्नाटक पब्लिशिंग हाउस) अभिनवभारती का संशोधित संस्करण के लिये और अड्यार लाइब्रेरी बुलेटिन, १८, खण्ड ३–४, पृ० १९६–२०९ कुछ अनुच्छेदों में सुधार के लिये देखो अभिनवभारती, भाग १ और २ (गा० ओ० सि०)।

४. मेधावी—भामह ने मेधावी नामक आलङ्कारिक का दो बार उल्लेख किया है जिसने उपमा के सात दोष बताये हैं। (त एत उपमादोषाः सप्त मेधाविनोदिताः, भाग २, ४०). उसी ने अन्य स्थान पर कहा है—"यथासंख्यम-थोत्प्रेक्षामलङ्कारद्वयं विदुः। संख्यानमिति मेधाविनोत्प्रेक्षाभिहिता क्वचित् ॥" (भाग २, ८८). उपरोक्त मुद्रित पाठ के उत्तरार्द्ध का अर्थ है कि 'मेधावी ने कुछ स्थानों पर उत्प्रेक्षा के बदले संख्यान नाम दिया है'। किन्तु यह ठीक नहीं है। दण्डी के मतानुसार अन्य आलङ्कारिकों ने संख्यान को यथासंख्य का दूसरा नाम माना है। ('यथासंख्यमिति प्रोक्तं संख्यानं क्रम इत्यपि' काव्यादर्श भाग २, पृ० २७३)। अतः भामह के ग्रन्थ में उपलब्ध पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है। यदि पाठ को 'मेधावी नोत्प्रेक्षा' के रूप में बदल दिया जाय तो दण्डी के साथ समन्वय हो सकता है। उसका अर्थ यह होगा कि मेधावी ने यथासंख्य के स्थान पर संख्यान लिखा है और अनेक स्थानों पर (कुछ अलङ्कार-ग्रन्थों में) उत्प्रेक्षा को अलङ्कार नहीं माना गया। नमिसाधु ने रुद्रट के काव्यालङ्कार (१,२) पर व्याख्या करते हुए लिखा है—"ननु दण्डिमेधाविरुद्रभामहादिकृतानि सन्त्येवा-लङ्कारशास्त्राणि'। प्रश्न यह है कि 'मेधाविरुद्र' एक ही नाम है अथवा 'मेधावि' और 'रुद्र' अलङ्कारशास्त्र के दो विभिन्न लेखक हैं। रुद्र द्वारा विरचित किसी अलङ्कार-ग्रन्थ का उल्लेख अन्य किसी आलङ्कारिक ने नहीं किया। रुद्रभट्ट का शृंगारतिलक, जैसा कि उसकी विषय-सूची से प्रतीत होता है, अलङ्कार-ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता। अतः संभव है कि पूरा नाम मेधाविरुद्र हो। धर्मकीर्ति और भर्तृहरि को प्रायः कीर्ति और हरि शब्द से उद्धृत किया जाता है। अतः यदि मेधाविरुद्र भी केवल मेधावी शब्द से निर्दिष्ट हुए हों तो कोई आश्चर्य नहीं है। (देखो ज० रो० ए० सी०, १९०८ पृ० ५४५ पर मेरा लेख भामह और दण्डिन्) शार्ङ्ग० ने मालवरुद्र (सं० १०९१) का एक श्लोक उद्धृत किया है। इसी प्रकार कपिलरुद्र (सं० ३७८७) का भी एक श्लोक तथा एक सुभाषित (१६६६) उद्धृत किया है। इससे प्रतीत होता है कि रुद्र नामक अनेक लेखक थे। रुद्रट (११, २४) पर टीका करते हुए नमिसाधु ने मेधावी को पुनः उद्धृत किया है जहां उपमा के सात दोषों की चर्चा है। चर्चा की शैली से प्रतीत होता है कि उदाहरण मेधावी के ग्रन्थ से लिये गये हैं। 'अत्र च स्वरूपोपादाने सत्यपि चत्वार इति ग्रहणाद्यन्मेधावि-प्रभृतिभिरुक्तं यथा लिंगवचनभेदौ हीनताधिक्यमसम्भवो विपर्ययोऽसादृश्यमिति सप्तोपमादोषाः···तदेतन्निरस्तम्।' नमिसाधु ने उपमा के सात दोषों का प्रति-

पादन करने वाली सात कारिकायें उद्धृत की हैं जिनका उल्लेख मेधावी ने भी किया है। इनमें से पाँच भामह के काव्यालङ्कार (भाग २; ४०, ४७, ५५, ५८, ६३) में उपलब्ध हैं। उपमानोपमेययोर्लिङ्गवचनभेद' तथा 'हीनता' का प्रतिपादन करने वाली निम्नलिखित दो कारिकायें भामह ने नहीं उद्धृत कीं।

'भक्षिताः सक्तवो राजन्शुद्धाः कुलवधूरिव।
परमातेव निःस्नेहा शीतलाः परकार्यवत्॥'

तथा

'स्फुरन्ति निखिला नीले तारका गगने निशि।
भास्कराभीशुसंस्पृष्टा कृमयः कर्दमे यथा॥'

नमिसाधु ने मेधावी का नाम देकर तुरंत सात श्लोकों को उद्धृत कर दिया तथा उनके विषय में भामह का निर्देश नहीं किया। नमिसाधु ने भामह का नाम रुद्रट (८.८४) पर टीका करते हुए दिया है। यदि उपरोक्त श्लोक भामह के होते तो तदनुसार निर्देश अवश्य होता। अतः यह मानना चाहिये कि भामह ने पाँच श्लोक मेधावी से उद्धृत किये हैं। पृ० ९ (रुद्रट २.२) पर नमिसाधु का कथन है कि मेधाविरुद्र आदि ने शब्दों के चार ही भेद किये हैं—'एत एव चत्वार; शब्दविधा इति येषां सम्यङ् मतं तत्र तेषु नामादिषु मध्ये मेधाविरुद्र-प्रभृतिभिः कर्मप्रवचनीया नोक्ता भवेयुः।' त्रिकाण्डशेष ने मेधाविरुद्र तथा कालिदास को पर्याय शब्द माना है। काव्यमी० (पृ० १२) का कथन है कि मेधाविरुद्र तथा कुमारदास जन्मांध कवि थे और साथ ही (पृ० १४ पर) कालिदास को आलङ्कारिक के रूप में उद्धृत किया है। मेधावी की कोई रचना अभी तक उपलब्ध नहीं हुई।

५. **धर्मकीर्ति** सुबन्धु कृत वासवदत्ता (हाल सं०, पृ० २३५) में निम्न-लिखित पंक्ति 'बौद्धसंगतिमिवालङ्कारभूषिताम्' है। इससे औफ्रेक्ट (इ० स्टी०, भाग १६, पृ० २०५–२०७), हाल, पेटर्सन (सुभा० की प्रस्तावना पृ० ४७ और ज० बी० बी० आर० ए० एस०, भाग १६, पृ० १७३) तथा तेलंग (ज० बी० बी० आर० ए० एस० भाग १८, पृ० १४८, १५०) आदि अनेक विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि धर्मकीर्ति अलङ्कार शास्त्र पर एक अत्यन्त प्राचीन लेखक हैं। उन्होंने शिवराम की व्याख्या का अनुसरण किया है जहाँ अलङ्कार को धर्मकीर्ति की रचना बताया गया है। किन्तु श्रीरंगम् संस्करण (पृ० ३०३) में निम्नलिखित पाठ है—'सत्कविकाव्यरचनामिवालङ्कार-प्रसाधिताम्।' साथ ही इस उद्धरण के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण नहीं है

जिससे यह माना जा सके कि धर्मकीर्ति ने किसी अलङ्कार-ग्रंथ की रचना की थी। प्राध्यापक वटुकनाथ ने अपने 'साहित्य-शास्त्र का संक्षिप्त परिचय' (Brief survey of Sahitya-Sastra) (ज० आफ डि. आफ लेटर्स, कलकत्ता, भाग ९, पृ० ११९), केवल औफ्रेक्ट के मत को दुहरा दिया है। बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति कवि भी थे। यह वात उन संग्रहों से भी प्रगट होती है जहाँ वे 'भदन्त धर्मकीर्ति' के नाम से उद्धृत हैं। (शार्ङ्ग० सं० ९४७, सुभा० ६५७; सुभा० ७३७, १५८७, १६१७, २२४६, ३२३२). ध्वन्यालोक (पृ० २७०) में नीचे लिखा श्लोक उद्धृत है—'लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः क्लेशो महानर्जितः, स्वच्छन्दं चरतो जनस्य हृदये चिन्ताज्वरो निर्मितः। एषापि स्वयमेव तुल्यरमणाभावाद्वराकी हता, कोऽर्थश्चेतसि वेधसा विनिहितस्तन्व्यास्तनुं तन्वता॥' साथ ही वताया है कि उपरोक्त श्लोक को कुछ आलङ्कारिकों ने व्याजस्तुति का उदाहरण माना है किन्तु वास्तव में यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा है। तदनन्तर यह टिप्पण है—'तथा चायं धर्मकीर्तेः श्लोक इति प्रसिद्धिः सम्भाव्यते च तस्यैव।' इसके लिये यह युक्ति प्रस्तुत की जाती है कि प्रस्तुत श्लोक में जो भाव हैं वे ही एक अन्य श्लोक में भी उपलब्ध हैं जो असन्दिग्ध रूप से धर्मकीर्ति का है। तदनन्तर वह श्लोक उद्धृत है (ध्व० पृ० २७२), क्षेमेन्द्र ('औचित्यवि०' में), सुभाषितावली अन्य संग्रहों में ध्वन्या० का ही अनुसरण किया गया है। 'लावण्यद्रविण'० कारिका को धर्मकीर्ति की रचना बताया गया है। अतः बौद्ध तार्किक एवं दार्शनिक धर्मकीर्ति कवि हो सकते हैं, किन्तु ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जो उन्हें आलङ्कारिक सिद्ध कर सके।

वहुत संभव है सुवन्धु ने 'बौद्धसंगीतिमिवालङ्कारभूषिताम्' लिखा होगा। संगीति का अर्थ है 'विचार-परिषद' (देखो धम्मपद की प्रस्तावना, एस० बी० ई०, भाग १०, पृ० ३१)। यह उस साहित्य का नाम भी है जिसमें अनुयायियों को सर्वप्रथम बुद्ध का परिचय दिया गया है। (देखो ए० आफ भा० ओ० रि० इ०, भाग १०, पृ० ५ न). श्रीमती राइस डेविड्स ने 'संगीति' का अर्थ किया है 'आगमों का यथानियम पाठ'। अलङ्कार नाम वाली दो रचनायें हैं—अश्वघोष का सूत्रालङ्कार जिसका कुमारजीव (४०५ ई० सन्) ने चीनी भाषा में अनुवाद किया तथा जिसमें कर्म-फल सम्बन्धी कथाएँ हैं। (देखो बी० सी० लॉ का 'अश्वघोष' पृ० ६ और ज० ए० १९२९, पृ० २७०—२८०; के० जी० सौण्डर्स 'Epochs in Buddhist History, पृ० ५६; इ० जे० थामस 'इण्डियन कल्चर', भाग १३, पृ० १४३—१४६). दूसरा महायानसूत्रालङ्कार है जिसका रचयिता असंग को माना जाता है तथा जिस पर वसुबन्धु (चौथी

शताब्दी) ने टीका लिखी है। प्राध्यापक उई ने सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि महायानसूत्रालङ्कार मैत्रेय की कृति है, असंग की नहीं। (देखो जे० इ० इ०, भाग ६, १९२८, पृ० २१५–२२५, प्रो० उई का लेख। सिलवां लेवि ने 'महायान-सूत्रालङ्कार' का सम्पादन किया है तथा फ्रेंच अनुवाद भी साथ में दिया है (१९०७ और १९११)। प्रस्तावना (पृ० १६) में उन्होंने नीचे लिखा पाठ दिया है—'बौद्धसंगीतिमिवालङ्कारभूषिताम्' तथा बताया है कि नरसिंह नामक टीकाकार ने इसका अर्थ 'बौद्ध-शास्त्र' किया है। उपरोक्त पंक्ति के बावजूद भी अभी तक ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ जिससे धर्मकीर्ति को किसी अलङ्कार-ग्रंथ का रचयिता माना जा सके। प्रा० एस० पी० भट्टाचार्य ने अपने 'न्योबुद्धिस्ट न्युक्लियस इन अलङ्कारशास्त्र', ज० ए० एस० बी० भाग २२, १९५६, अंश १ पृ० ४९–६६ शीर्षक लेख में आशा प्रगट की है कि किसी दिन हो सकता है कि धर्मकीर्ति को आलङ्कारिक मान लिया जाय (पृ० ६४)। उन्होंने (नाट्यशास्त्र २२.२६-३१, पृष्ठ १६४ गा०ओ०सी० भाग ३) शाक्याचार्य राहुल तथा शौद्धोदनि, जिसकी कारिकाओं पर केशवमित्र ने अलङ्कारशेखर (देखो पैरा ३७ नीचे) की रचना का भी उल्लेख किया है। किन्तु उससे भी लेख द्वारा प्रतिपाद्य विषय में विशेष सहायता नहीं मिलती। अ० भा० के तीन भागों में राहुल का उल्लेख केवल तीन बार है। इस मान्यता का कोई आधार नहीं है कि उनका समय दशम शताब्दी से बहुत पहले है, जबकि केशवमिश्र अत्यंत परवर्ती अर्थात् सोलहवीं शताब्दी के ग्रन्थकार हैं। शौद्धोदनि की रचना मानी जाने वाली कारिकायें, जैसा कि आगे चलकर बताया जायगा, एकादश शताब्दी से पूर्व की नहीं हैं। इन दो ग्रन्थकारों के पहले ही संस्कृत का अलङ्कार-शास्त्र पूर्णतया व्यवस्थित एवं विकसित हो चुका था।

६. **विष्णुधर्मोत्तरपुराण**—यह आश्चर्य की बात है कि अलङ्कार-शास्त्र की चर्चा करते समय अग्निपुराण का उल्लेख प्रायः सभी ने किया है किन्तु विष्णुधर्मोत्तरपुराण का किसी ने नहीं किया। इसके तृतीय खण्ड में अलङ्कार विष्णुधर्मोत्तर तृतीय खंड के कुछ भाग का सारांश यहाँ दिया जा रहा है तथा नाट्यविषयक महत्त्वपूर्ण सामग्री विद्यमान हैं। डा० राघवन् ने नाट्यशास्त्र तथा काव्यालङ्कार सम्बन्धी विभिन्न विषयों पर गम्भीर परिश्रम तथा मनन किया है। उन्होंने भी इस पुराण में आये हुए अलङ्कारों का उल्लेख एक या दो स्थानों पर ही किया है (देखो पृ० ९७, उनके लेख 'हिस्ट्री ऑफ स्वभावोक्ति' तथा 'सम कौन्सेप्टस ऑफ अलङ्कारशास्त्र,

पृ० ६७ पर विष्णुधर्मोत्तर में आये हुए वार्ता का उल्लेख करते हैं।[1] स्थान-संकोच के कारण इस ग्रन्थ की विस्तृत चर्चा सम्भव नहीं है। पुराण में नाट्य-शास्त्र तथा काव्यालङ्कार के सम्बन्ध में १००० श्लोक हैं। इसके अतिरिक्त चार अध्याय (१८, १९, ३२, ३६) गद्य में हैं जहाँ निम्नलिखित विषयों की चर्चा है—गीत, आतोद्य, मुद्राहस्त तथा प्रत्यङ्गविभाग। यह उल्लेखनीय है कि चित्र-कला, मूर्तिकला, नाट्यकला तथा काव्यशास्त्र के सम्बन्ध में जो प्रतिपादन किया गया है उसे चित्रसूत्र नाम दिया है।[2] बी० बी० आर० ए० एस०, भाउ दाजि संग्रह में संगृहीत तथा वेङ्कटेश्वर प्रेस द्वारा शक १८३४ में प्रकाशित प्रति के आधार पर उपरोक्त पुराण का निम्नलिखित परिचय दिया जा रहा है। प्रथम अध्याय वज्र और मार्कण्डेय के सम्वाद से प्रारम्भ होता है। मार्कण्डेय का कथन है कि देवता की उसी मूर्ति में देवत्व रहता है जिसकी रचना चित्रसूत्र के आदेशानुसार हुई है तथा जो प्रसन्नमुख है। बुद्धिमान् व्यक्तियों को ऐसी मूर्ति की ही पूजा करनी चाहिए। "चित्रसूत्रविधानेन देवतार्चां विनिर्मिताम्। सुरूपां पूजयेद्विद्वान् तत्र संनिहिता भवेत् ॥७॥" द्वितीय अध्याय में यह प्रतिपादन है कि चित्रसूत्र का ज्ञान हुए विना प्रतिमालक्षण (अर्थात् मूर्तिकला) समझ में नहीं आ सकती। और नृत्तशास्त्र का अध्ययन किये बिना चित्रसूत्र समझ में नहीं आ सकता। नृत्त वाद्य के विना सम्भव नहीं है और गीत के बिना वाद्य में पटुता नहीं आ सकती। ("विना तु नृत्तशास्त्रेण चित्रसूत्रं सुदुर्विदम्।··· आतोद्येन बिना नृत्तं विद्यते न कथंचन। न गीतेन विना शक्यं ज्ञातुमातोद्य-मप्युत ॥") सं० र० (१.२४) का भी कथन है—'नृत्यं वाद्यानुगं प्रोक्तं वाद्यं

---

1. कवि महोदय अभिनवभारती, भाग २, प्रस्तावना पृ० २० में वृत्तियों के सम्बन्ध में विष्णुधर्मोत्तर का उल्लेख करते हैं।

2. यह उल्लेखनीय है कि कुट्टनीमत में जिस पारिभाषिक चित्रसूत्र की चर्चा है उसका प्रारम्भ विष्णुधर्मोत्तर में ३.३५ से होता है तथा यह बताया गया है कि भरत, विशाखिल और दन्तिल के अतिरिक्त निष्णात गणिकाओं को चित्रसूत्र का अध्ययन भी करना चाहिये। दामोदरगुप्त ने चित्रकला पर किसी प्राचीन ग्रन्थ का उल्लेख किया है। सम्भवतया उनकी दृष्टि में प्रस्तुत पुराण था। कुट्टनीमत की कारिका सं० १२३ निम्नलिखित है—'भरत-विशाखिल-दन्तिल-वृक्षायुर्वेद-चित्रसूत्रेषु। पत्रच्छेदविधाने भ्रमकर्मणि पुस्तसूदशास्त्रेषु ॥' विष्णधर्मोत्तर एक प्रकार का विश्वकोष है। प्रतीत होता है उसके सामने चित्रसूत्र विषयक कोई ग्रन्थ रहा होगा।

गीतानुवृत्ति च।' गीत संस्कृत, प्राकृत या अपभ्रंश में होता है। अन्तिम अर्थात् अपभ्रंश के अनेक भेद हैं क्योंकि प्रान्तीय बोलियाँ अनेक हैं। "अपभ्रष्टं तृतीयं च तदनन्तं नराधिप। देशभाषाविशेषेण तस्यान्तो नेह विद्यते।" अध्याय २,९–१०) पाठ्य गद्य अथवा पद्य दोनों में होता है।

तृतीय तथा चतुर्थ अध्यायों में क्रमशः छन्द तथा वाक्य-परीक्षा की चर्चा है।

पञ्चम अध्याय में सूत्र की व्याख्या तथा निम्नलिखित विषय हैं:—

अनुमान के पाँच अवयव, सूत्र की छः व्याख्याएँ, तीन प्रमाण (प्रत्यक्षानुमानाप्तवाक्यानि) तथा उनकी परिभाषायें, आप्तवाच्य किसे मानना चाहिये, स्मृति, उपमान तथा अर्थापत्ति।

षष्ठ अध्याय तन्त्रयुक्ति पर है (ग्रन्थ का विषय तथा खण्डों में विभाजन)।[1]

सप्तम अध्याय में ग्यारह श्लोक हैं और विभिन्न प्राकृतों की चर्चा है।

अष्टम अध्याय में देवादि के पर्याय शब्दों का वर्णन है।

नवम् तथा दशम् अध्याय में शब्दकोष है। एकादश, द्वादश तथा त्रयोदश अध्याय में लिङ्गानुशासन है और प्रत्येक में पन्द्रह श्लोक हैं। चतुर्दश अध्याय में अलङ्कारों के नाम एवं परिभाषाएँ हैं (वे केवल सत्रह हैं जिनकी चर्चा आगे पृ० ७१ की जायेगी)। पञ्चदश अध्याय में काव्य का निरूपण है और उसका शास्त्र तथा इतिहास से भेद बताया गया है (तदेव काव्यमित्युक्तमुपदेशैर्विना कृतम्)। यह भी कहा गया है कि उसमें नौ रस होने चाहिये (रसैः कार्यं समन्वितम्, गाथा १४) षोडश अध्याय (पन्द्रह श्लोकों में) में २१ प्रहेलिकाओं का निरूपण है। सप्तदश अध्याय में रूपकों का निरूपण है और उनकी संख्या १२ बताई गई है जबकि भरत के अनुसार उनकी संख्या दस है। (नाट्य० २०. १–३=गा० ओ० सि०, भाग २, अध्याय १८, २–३)। श्लोक १२–१३ में

---

1. कौटिल्य अर्थशास्त्र के पन्द्रहवें अधिकरण का नाम तन्त्रयुक्ति है। वहाँ यह बताया गया है कि ग्रन्थ में ३२ युक्तियाँ हैं। उदाहरणस्वरूप—अधिकरण, विधान, योग, पदार्थ, हेत्वर्थ इत्यादि। इनमें से अधिकतर शब्द उपरोक्त षष्ठ अध्याय में मिलते हैं। देखो 'कौटिलीयतन्त्रयुक्तयः' पर एक लेख ज. ओ. र., मद्रास, भाग ४, १९३० पृ० ८२ तथा आगे। चरकसंहिता (सिद्धिस्थान, अध्याय १२, गाथा सं. ४०–४५) में ३६ तन्त्रयुक्तियों का उल्लेख है और सुश्रुत (उत्तरतन्त्र, अध्याय ६५) में उनकी संख्या ३२ है। आयुर्वेद के इन दो ग्रन्थों में दिये गये नाम कौटिल्य से मिलते हैं।

बताया गया है कि मृत्यु (नायक की), राज्य का पतन, नगर का अवरोध तथा युद्ध का साक्षात् प्रदर्शन नहीं करना चाहिये। उन्हें प्रवेशक द्वारा केवल वार्त्तालाप के रूप में प्रकट करना चाहिये।[1] इस अध्याय के श्लोक ५६–५९ में आठ प्रकार की नायिकाओं का निरूपण है। अष्टादश अध्याय अधिकतर गद्य में है और उसमें गीत, स्वर, ग्राम तथा मूर्छनाओं का निरूपण है। इसके निम्नलिखित दो श्लोक याज्ञ० तीसरा अध्याय, ११३–१४ के समान हैं।

"अपरान्तकमुल्लोप्यं मद्रकं प्रकरी तथा।
उवेणकं सरोबिन्दुमुत्तमं गीतकानि तु॥
ऋग्गाथा इत्यादि। (देखिये पृष्ठ टिप्पण २)

नाट्यशास्त्र (३१.२९०) में 'रोविन्दक' पाठ है उसके स्थान पर याज्ञवल्क्य में (जैसा कि विश्वरूप और मिताक्षरा ने किया है) 'सरोविन्दु' पाठ है। उन्नीसवाँ अध्याय गद्य में है और उसमें निम्नलिखित विषयों का निरूपण है—चार प्रकार के वाद्य। बीस मण्डल तथा प्रत्येक के दो प्रकार से दस-दस भेद। ३६ अङ्गहार (श्लोक संख्या २९–३५) जबकि नाट्यशास्त्र (अध्याय ४.२७) ने केवल ३२ का प्रतिपादन किया है। १०८ करण जिनका नाट्यशास्त्र (भाग ४, ६१–१६९) में वर्णन है। पिण्डीवन्ध, चार वृत्तियाँ तथा चार प्रवृत्तियाँ। वीसवें अध्याय के प्रथम श्लोक में यह कहा गया है कि नाट्य का अर्थ है दूसरे का अनुकरण और नृत्त उसे संस्कार एवं शोभा प्रदान करता है।

परस्यानुकृतिर्नाट्यं नाट्यज्ञैः कथितं नृप।
तस्य संस्कारकं नृत्तं भवेच्छोभाविवर्धनम्॥१॥

इसके अतिरिक्त इसमें लोकधर्मी एवं नाट्यधर्मी; चार प्रकार के अभिनय का भी प्रतिपादन है। २१-२३ अध्याय तक शय्या, आसन और स्थानक का प्रतिपादन है। अध्याय २४–२५ में आंगिक अभिनय। हास्य तथा अन्य अङ्गों के सञ्चालन एवं मुद्राओं के प्रकार) का वर्णन है। २६वें अध्याय में संयुक्त करके

---

1. मरणं राज्यविभ्रंशो नगरस्योपरोधनम्। एतानि दर्शयेन्नाङ्के तथा युद्ध च पार्थिव॥ प्रवेशकेन कर्तव्यं तेषामाख्यानकं बुधैः। विष्णुध० भाग ३, १७.१२–१३; देखो नाट्य० २०.२१=गा० ओ० सि०, भाग २, अध्याय १८.३८ तथा भावप्र० (७) पृ० २१६, इसी प्रकार के श्लोक के लिये।

१३ तथा असंयुक्त करके २२ संकेतों का वर्णन है। अन्त में कहा गया है—'सर्वं करायत्तमिदं हि नृत्तम्।' २७वाँ अध्याय आहार्याभिनय का प्रतिपादन करता है। वह चार प्रकार का है प्रस्त (पुस्त ?), अलंकार, अङ्गरचना तथा सञ्जीव (देखो नाट्यशास्त्र[1] २३.५)। २८वाँ अध्याय सामान्याभिनय पर है (६२वाँ अन्तिम श्लोक निम्नलिखित है—'नाट्यं हि विश्वस्य यतोनुकारं, कृत्स्नं ततो वक्तमशक्यमीश') । २९वाँ अध्याय गतिप्रचार पर है जिसमें विभिन्न पात्रों की गति का मञ्च पर प्रतिपादन है)। ३०वें अध्याय में रस वर्णन है और २८ श्लोक हैं। प्रथम श्लोक है—'हास्यश्रृङ्गार······नव नाट्ये रसाः स्मृताः। ३१वें अध्याय में ५८ श्लोक हैं और ४९ भावों का निरूपण है। ५३ वाँ श्लोक है—"बहूनां समवेतानां रूपं यस्य भवेद्बहु । स मन्तव्यो रसः स्थायी शेषाः सञ्चारिणाः स्मृताः")।[2] ३२वाँ अध्याय हस्तमुद्राओं पर है। यहाँ छन्दोविचिति वेदाङ्गों के भी हस्तमुद्राओं द्वारा प्रदर्शन का प्रकार बताया गया है। ३३ वाँ अध्याय नृत्यशास्त्र सम्बन्धी मुद्राओं पर है (१२४ श्लोकों में)। ३४ वें अध्याय में नृत्य की उत्पत्ति का वर्णन है और बताया गया है कि जब मधु और कैटभ नामक दैत्य वेदों को लेकर भाग गये तो भगवान विष्णु ने उनके साथ युद्ध किया।[3] उसी से नृत्य की उत्पत्ति हुई। श्लोक १७ निम्नलिखित है :—

नृत्तेनाराधयिष्यन्ति भक्तिमन्तस्तु मां शुभे।
त्रैलोक्यस्यानुकरणं नृत्ते देवि प्रतिष्ठितम् ॥

२८ वें श्लोक में नृत्य की आजीविका करने वालों अथवा दूसरों को नियुक्त करके नृत्य-विक्रय करने वालों की निन्दा है। किन्तु दूसरे श्लोकों में कहा गया है कि ईश्वर-भक्ति के लिये नृत्य करने वाला समस्त भोगों को प्राप्त करता है और अन्त में मोक्ष भी। इस प्रकार का नृत्य शुभ है। उससे दीर्घ जीवन तथा स्वर्ग प्राप्त होते हैं तथा दुःखी के दुःख दूर होते हैं। "देवताराधनं कुर्याद्यस्तु नृत्तेन धर्मवित्। स सर्वकामानाप्नोति मोक्षोपायं च विन्दति ॥ धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्गलोकप्रदं

---

1. इस अध्याय के श्लोक सं० २१–२५ नाट्यशास्त्र के २३. १०२-१०४ के समान है। विभिन्न देशों के पात्रों का वर्ण-भेद।

2. यह श्लोक नाटयशास्त्र भाग ७ पृष्ठ ११९ (गा० ओ० सी० भाग ७ पृष्ठ १८१) तथा भाग २२ पृष्ठ ६८ गा० ओ० सी० संस्करण में भी आया है। नाटयशास्त्र में बहूनाम् के स्थान पर सर्वेषाम् पाठ है।

3. देखो नाट्य० अध्याय २२. १-२३ = (गा० ओ० सि०, २० १-२५)

तथा। ईश्वराणां विलासं तु ष्मार्तानां दुःखनाशनम्। मूढानामुपदेशं तत् स्त्रीणां सौभाग्यवर्धनम् ।।[1] ३५वें अध्याय में नीचे लिखे अनुसार उपसंहार किया गया है। नारायण ने चित्रसूत्र की रचना की और उसे विश्वकर्मा को सिखाया। नृत्य के समान चित्रकला में भी तीनों लोकों का अनुकरण किया जाता है (यथा नृत्ते तथा चित्रे त्रैलोक्यानुकृतिः स्मृता। श्लोक ५)। शेष अध्याय चित्रकला (३६-४३) मूर्तिकला (४४–८५) तथा स्थापत्य पर हैं (अध्याय ८६ तथा आगे)। उसकी चर्चा यहाँ आवश्यक नहीं है।

विष्णुधर्मोत्तर ने प्रायः नाट्यशास्त्र का अनुसरण किया है। केवल कुछ बातों में अन्तर है जैसे कि रूपक तथा रसों की संख्या। अतः नाट्यशास्त्र की तुलना में यह बहुत परवर्ती है। विष्णुधर्मोत्तर के दान, श्राद्ध आदि विषयों पर जो अध्याय हैं उनके उद्धरण बारहवीं शती के ग्रन्थों में मिलते हैं। उदाहरण-स्वरूप अनिरुद्ध कृत हारलता में इसका एक श्लोक (विष्णुधर्मोत्तर १. १४२, १६-१७) उद्धृत है।[2] बल्लालसेन ने अपने दानसागर की प्रस्तावना (श्लोक १४) में स्पष्ट रूप से लिखा है कि उनका ग्रन्थ विष्णुधर्मोत्तर एवं अन्य पुराणों पर आधारित है। तीसरे खण्ड के पाँचवें अध्याय में निम्नलिखित श्लोकार्ध है—'सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वं यद्वृत्तं (यद्वृत्तौ ?) समुदाहृतम्।' यह श्लोक कुमारिल के तन्त्रवार्तिक में भी मिलता है (सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वं यद्वृत्तौ यच्च वार्तिके। सूत्रं योनिरिहार्थानां सर्वं सूत्रे प्रतिष्ठितम्।। इति ये वदन्ति तान्प्रत्युच्यते।।)[3] इसका अर्थ है विष्णुधर्मोत्तर का समय पाँचवीं ई० से पूर्व नहीं है। इसके अतिरिक्त भोज कृत युक्तिकल्पतरु कलकत्ता पृष्ठ ८५ में विष्णुधर्मोत्तर के रत्न–विषयक छः श्लोक उद्धृत हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि अलबेरुनि (लगभग १०३० ई०) ने अपने इतिहास में विष्णु धर्मोत्तर से लगभग तीस पाठ उद्धृत किये हैं उनमें से २२ का अनुसन्धान बुहलर कर चुके हैं। (इ० एन्टि० भाग १९, पृ० ३८१-४०९) उनका मत है कि अलबेरुनि ने विष्णुधर्म तथा विष्णुधर्मोत्तर

---

1. देखो नाट्य० १. ११०-१३ में नाट्य के भी वे ही लाभ बताये गये हैं।

2. "तथा च विष्णुधर्मोत्तरेमार्कण्डेयः। अच्छिन्ननाड्यां कर्त्तव्यं श्राद्धं वै पुत्रजन्मनि। अशौचोपरमे कार्यमथवापि नराधिप।" हारलता, पे० १९ (बी० इ० सं०)। हारलता तथा बल्लालसेन की तिथि के लिये देखो, एच ऑफ़ ध० भाग १, पृ० ३३७-३४१।

3. देखो तन्त्रवार्तिक, पृ० ६०२ (अ० सं०) जैमिनी भाग २, ३.१६ पर।

के जिस नाम से पुराणों को उद्धृत किया है वे उस समय कश्मीर में आगमिक साहित्य के रूप में विद्यमान थे। तथा उसने विष्णुधर्म से जितने उद्धरण दिये हैं उनमें से अधिकांश विष्णुधर्मोत्तर में मिलते हैं (सब नहीं)। देखो इ० एन्टि० भाग १९, पृ० ४०२, ४०७। इसका अर्थ है दशम शताब्दी में विष्णुधर्मोत्तर अत्यंत प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता था। हेमाद्रिकृत[1] 'व्रतखण्ड' में अकेले विष्णुधर्मोत्तर को लगभग डेढ़ सौ बार उद्धृत किया गया। मूर्तिकला विषयक तृतीय काण्ड के उद्धरण अधिक संख्या में हैं। स्थान-संकोच के कारण केवल दो-तीन उदाहरण दिये जाते हैं। व्रतखण्ड भाग १, पृ० १२३ में महादेव की मूर्ति के विषय में सात श्लोक उद्धृत हैं। वे विष्णुधर्मोत्तर भाग ३, अध्याय ४४, १४–२० में हैं। व्रतखण्ड, भाग १, पृ० ११० में विष्णु की मूर्ति के सम्बन्ध में पाँच श्लोक उद्धृत हैं जो विष्णुधर्मोत्तर भाग ३, ४४., ९–१३ में है। व्रतखण्ड के पृ० १०८ में आठ श्लोक उद्धृत हैं। उनमें यह प्रतिपादन किया गया है कि चार वेद तथा पाञ्चरात्र, पाशुपत, पातञ्जल, अर्थशास्त्र और कलाशास्त्र आदि शास्त्रों की मूर्तियाँ कैसे बनानी चाहिये। वे सब श्लोक विष्णुधर्मोत्तर के अन्त भाग ३, अध्याय ७३) में है। इसी प्रकार वरुण की मूर्ति के विषय में सात श्लोक व्रतखण्ड १, पृ० १४५–१४६ पर उद्धृत हैं जो कि विष्णुधर्मोत्तर के तृतीय भाग, अध्याय ५२, १–७ में है।

बल्लालसेन ने अपने दानसागर में विष्णुधर्मोत्तर के तृतीय खण्ड से अनेक श्लोक उद्धृत किये हैं। उ० स्वरूप अध्याय २९० के श्लोक १–५ तक प्रारम्भ में ही उद्धृत हैं जिनमें ब्राह्मणों की प्रशंसा है। इसी प्रकार अध्याय ३०७ के घृतधेनु विषयक सात श्लोक, और अध्याय ३०९ के जलधेनु विषयक १५ श्लोक; अध्याय ३०८ से तिलधेनु विषयक १५ श्लोक उद्धृत हैं। श्री भावतोष भट्टाचार्य ने दानसागर के तीन भागों में तथा प्रस्तावना चौथे भाग में लिखी है जो बी० आइ० सिरीज में प्रकाशित हुई है। उपरोक्त विवरण के लिये मैं उनका ऋणी हूँ। दानसागर की रचना ११६९ ई० में हुई थी। देखो, एच० ऑफ ध०, भाग १, पृ० ३४१)। इसका अर्थ है कि विष्णुधर्मोत्तर का तीसरा खण्ड भी प्रारम्भ से ही उसका मौलिक भाग रहा है।

---

1. देखो तंत्रवार्तिक पृष्ठ ६०२ (आनंदाश्रम संस्करण) जैमिनी के लिये १९–३–५६।

एक अन्य बात भी विचारणीय है जिसके आधार पर मैंने विष्णुधर्मोत्तर को भट्टि से पूर्वकालीन माना है। टीकाकारों की मान्यतानुसार भट्टि ने ३८ अलङ्कारों के उदाहरण दिये हैं। दण्डी, भामह, वामन तथा उद्भट सभी ने अलङ्कारों की संख्या ३० से ४० के बीच प्रस्तुत की है। जब कि विष्णुधर्मोत्तर ने अध्याय १४ में केवल १७ अलङ्कारों की चर्चा की है। वे सब श्लोक नीचे दिये जा रहे हैं—

एकैकस्य तु वर्णस्य विन्यासो यः पुनः पुनः। अर्थगतया तु संख्यातमनुप्रासं पुरातनैः ॥१॥ अत्यर्थं तत्कृतं राजन् ग्राम्यतामुपगच्छति। शब्दाः समानानु-पूर्व्या (पाठांतरसमाना भिन्नार्था) यमकं कीर्तितं पुनः ॥२॥ आदौ मध्ये तथैवान्ते पादस्य तु तदिष्यते। सन्दष्टकसमुद्गाख्यौ तथैव यमकौ मतौ ॥३॥ समस्तपादयमकं दुष्करं परिकीर्तितम्। उपमानेन तुल्यत्वमुपमेयस्य रूपकम् ॥४॥ रूपकाभ्यधिकं नाम तदेवैकगुणाधिकम्। गुणानां व्यतिरेकेण व्यतिरेकमुदाहृतम् ॥५॥ उपमानविरुद्धैश्च गुणैस्तदपरं मतम्। द्विन्यर्थवाचकैः शब्दैः श्लेष इत्यभिधीयते ॥६॥ अन्यरूपस्य चार्थस्य कल्पना यान्यथा भवेत्। उत्प्रेक्षाख्यो ह्यलंकारः कथितः स पुरातनैः ॥७॥ उपन्यासस्तथान्यः स्यात्प्रस्तुताद्यत् क्वचिद्भवेत्। ज्ञेयः सोर्थान्तिरन्यासः पूर्वार्थानुगतो यदि ॥८॥ उपन्यासेन चान्यस्य यदन्यः परिकीर्त्यते। उपन्यासमलङ्कारं तन्नरेन्द्र प्रचक्षते ॥ ९ ॥ हेतुं बिना विततंतां प्राप्ता सा तु विभावना। प्रोक्ता चातिशयोक्तिस्तु ह्यतुलैरूपमागुणः ॥१०॥ यथास्वरूप कथनं वार्तेति परिकीर्तितम् (पाठांतर-स्वभावोक्तिः प्रकीर्तिता। वेंकट संस्करण)। भूयसामुपदिष्टानां निर्देशः क्रमशस्तथा ॥११॥ यथासंख्यमिति प्रोक्तमलङ्कारं पुरातनैः। विशेषप्रथनायुक्ता (वेंकट संस्करण में विशेष प्रापणा० पाठ है) विशेषोक्तिस्तथा नृप ॥१२॥ या क्रिया चान्यफलदा विरोधस्तु स इष्यते। स्तुतिरूपेण या निन्दा निन्दास्तुति रिहोच्यते ॥१३॥ निन्दास्तुतिस्तथैवोक्ता निन्दारूपेण या स्तुतिः। वस्तु-नस्तूपमानेन (वेंकट संस्करण में वस्तुनारूप्यमाणेन पाठ है) दर्शनं तन्निदर्शनम् ॥१४॥ विना तया स्यादुपमा तु यत्रतेनैव तस्यैव भवेन्नृ वीर। अनन्वयाख्यं कथितं पुराणैरेतावदुक्तं तवलेशमात्रम् ॥१५॥ वे अलंकार हैं—अनुप्रास, यमक, रूपक, व्यतिरेक, श्लेष, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तिरन्यास, उपन्यास,[1] विभावना,

---

1. उत्तरवर्ती आचार्यों ने उपन्यास को व्याजोक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है, उसीको संभवतया मम्मट ने अतिशयोक्ति का प्रथमभेद बताया है; वार्ता और स्वभावोक्ति को एक ही माना जा सकता है।

अतिशयोक्ति, वार्ता, यथासंख्य, विशेषोक्ति, विरोध, निन्दास्तुति, निदर्शन, अनन्वय।

यह उल्लेखनीय है कि विष्णुधर्मोत्तर को उपमा परिज्ञात थी। फिर भी उसका निर्देश नहीं किया गया। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि विष्णुधर्मोत्तर ने केवल महत्त्वपूर्ण अठारह अलङ्कारों को सम्मिलित किया है। भामह (भाग २, ४) से पता चलता है कि उसके पूर्ववर्ती आचार्यों ने केवल पाँच अलङ्कारों का उल्लेख किया है। वे हैं—अनुप्रास, यमक, रूपक, दीपक और उपमा। उद्भटकृत काव्यालङ्कारसारसंग्रह के अनुसार कुछ पूर्ववर्ती आचार्यों ने आठ अलङ्कार[1] ही प्रस्तुत किये हैं—पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, अनुप्रास, लाटानुप्रास, रूपक, उपमा, दीपक और प्रतिवस्तूपमा। अतः विष्णुधर्मोत्तर को एक ओर चार, पाँच या आठ अलङ्कारों के वर्णन करने वाले भरत एवं भामह तथा उद्भट के पूर्ववर्ती आचार्यों के पश्चात् तथा दूसरी ओर ३० से ४० अलङ्कारों का वर्णन करने वाले भट्टि, दण्डी, भामह, उद्भट और वामन के पूर्व रखना चाहिये। विष्णुधर्मोत्तर ने गीता, मनुस्मृति तथा नाट्यशास्त्र को ही नहीं अपितु नारदस्मृति को भी उद्धृत किया है। उ० स्व० विष्णु० भाग ३, ३३३.१०=नारद० भाग ७, ९; विष्णुधर्मोत्तर भाग ३, ३३६.१=नारदभाग १३.२। यदि विष्णुधर्मोत्तर के प्रथम तथा द्वितीय खण्डों को एक ही समय का माना जाय तो कहना होगा कि इसकी रचना वराहमिहिर के पश्चात् हुई। विष्णुधर्मोत्तर भाग २, १७६, ९–११ के श्लोक वराहमिहिरकृत बृहद्योगयात्रा से उद्धृत हैं क्योंकि अद्भुतसागर में बृहद्योगयात्रा के सात श्लोक उद्धृत हैं उनमें से तीन विष्णुध० भाग २, १७६, ९–११ में भी हैं। इसके अतिरिक्त विष्णुध० भाग २, १२४.१५–२६ में आये हुए उत्पात विषयक श्लोक बृहत्संहिता (द्विवेदी सं०) ४५, ८२–९४ में भी उसी प्रकार मिलते हैं। अतः विष्णुधर्मोत्तर का तृतीय खण्ड ५७५–३५० ई० के मध्य की रचना मानना होगा। उसी समय अथवा उससे कुछ पूर्व भट्टि का समय माना जाता है। डा० कुमारी प्रियबाला

1. अनुप्रासः स यमको रूपकं दीपकोपमे। इति वाचामलंकाराः पंचैवान्यैरुदाहृताः॥ भामह II ४; पुनरुक्तवदाभासं छेकानुप्रास एव च। अनुप्रासस्त्रिधा लाटानुप्रासो रूपकं चतुः॥ उपमादीपकं चैव प्रतिवस्तूपमा तथा। इत्यत एवालंकारा वाचां कैश्चिदुदाहृताः॥ काव्यालंकारसारसंग्रह I. १.२ उद्भट की तिलक नामक टीका में आया है—'वर्गैर्वर्गैरलंकारो पादानं चिरन्तनालंकारकृतामल्पदर्शितां प्रकटयितुम्।' (गा० ओ० सी० संस्करण पृष्ठ 1).

शाह ने विष्णुधर्मोत्तर के तृतीय खण्ड (११८ श्लोक) का सम्पादन किया जो कि गा० ओ० सि० १९५८ में प्रकाशित हुआ है । वह चार हस्तलिखित प्रतियों पर आधारित है ।

श्री भावतोशभट्टाचार्य ने मेरा ध्यान कालिकापुराण (वेंकटेश्वर प्रेस द्वारा प्रकाशित) के निम्नलिखित श्लोक की ओर आकृष्ट किया है जिसके लिये मैं उनका ऋणी हूँ । वह श्लोक निम्नलिखित है—'विष्णुधर्मोत्तरे तन्त्रे बाहुल्यं सर्वतः पुनः । द्रष्टव्यस्तु सदाचारो द्रष्टव्यास्ते प्रसादतः ।'

७. भट्टिकाव्य—इस काव्य में २२ सर्ग हैं और उनकी रचना मुख्यतया व्याकरण के उदाहरण देने के लिये की गई थी । इसमें चार खण्ड हैं—प्रकीर्ण-काण्ड (१-५ सर्ग), अधिकारकाण्ड (६-९ सर्ग), प्रसन्नकाण्ड (१०-१३ सर्ग), और तिङन्तकाण्ड (१४–२२ सर्ग) । प्रसन्नकाण्ड में काव्यशास्त्र सम्बन्धी विषयों का वर्णन है । दसवें सर्ग में (७५ श्लोक, ७४ श्लोक मल्लिनाथ के अनुसार) ३८ अलङ्कारों के उदाहरण हैं जिनमें अनुप्रास और यमक नाम के दो शब्दालङ्कार भी सम्मिलित हैं । एकादश सर्ग में ४७ श्लोक हैं और माधुर्यगुण के उदाहरण दिये हैं ; द्वादस सर्ग के ८७ श्लोकों में भाविक नाम के अलङ्कार के उदाहरण हैं जोकि भामह (अध्याय ३ श्लोक ५३) एवं दण्डी (अध्याय २ श्लोक ६४) द्वारा प्रबन्धविषय माना गया है । त्रयोदश अध्याय में ५० श्लोक हैं और भाषासम के उदाहरण दिये हैं । वहाँ ऐसे श्लोक हैं जो संस्कृत तथा प्राकृत दोनों में समान हैं । इन चार सर्गों के कारण भट्टि का नाम भी काव्यशास्त्र के इतिहास में सम्मिलित हो गया है और उसका सामान्य उल्लेख आवश्यक हो जाता है । नीचे खण्ड १३ में जो तालिका दी गई है उससे स्पष्ट हो जाता है कि भट्टि ने उन्हीं अलङ्कारों के उदाहरण दिये हैं जिनके भामह तथा दण्डी ने लक्षण दिये हैं । भामह ने जिस क्रम से लक्षण दिये हैं भट्टि ने उसी क्रम से उदाहरण दिये हैं । यद्यपि कुछ उदाहरणों में भामह का अनुकरण नहीं किया गया । उ० के रूप में भामह ने पहले रूपक का लक्षण दिया है (अध्याय २ श्लोक २१) और फिर दीपक का (अध्याय २ श्लोक २५) इसी प्रकार आक्षेप का लक्षण अर्थान्तरन्यास से पहले दिया है । जबकि भट्टि ने दीपक और अर्थान्तरन्यास के उदाहरण क्रमशः रूपक और आक्षेप से पहले दिये हैं । भामह ने विरोध के अनन्तर तुल्ययोगिता (अध्याय ३ श्लोक २७) का लक्षण दिया है जबकि भट्टि ने तुल्ययोगिता का उदाहरण उपमारूपक के पश्चात् तथा विरोध (अध्याय ३, २५) के पूर्व दिया है । भट्टि ने अप्रस्तुत प्रशंसा का उदाहरण नहीं दिया जबकि भामह ने उसका लक्षण दिया है । भट्टि ने हेतु तथा वार्ता नामक

अलङ्कारों के उदाहरण दिये हैं किन्तु भामह ने उन्हें स्वीकार नहीं किया। भट्टि की हस्तलिखित (१०.४४) प्रति में 'निपुण' नामक अलङ्कार का उदाहरण दिया है जिसे भामह अथवा दण्डी किसी ने स्वीकार नहीं किया। भट्टि ने श्लेश और सूक्ष्म नामक अलङ्कारों के उदाहरण नहीं दिये जबकि दण्डी ने उन्हें तथा हेतु को उत्तम अलङ्कार माना है। भामह (२.८६) ने उपरोक्त तीनों को अलङ्कार नहीं माना। भट्टि ने यमक के उदाहरण में बीस श्लोक दिये हैं जोकि नाट्य-शास्त्र तथा काव्यादर्श में आयी हुई यमक की चर्चा के अनुसार हैं। किन्तु भामह ने इस चर्चा को बहुत संक्षिप्त कर दिया है। इससे सिद्ध होता है कि भट्टि ने भामह अथवा दण्डी ने किसी का अनुसरण नहीं किया। उसके उदाहरण किसी ऐसी एक या अनेक रचनाओं पर आश्रित हैं जो उन दोनों से पूर्ववर्ती हैं। श्री के० पी० त्रिवेदी ने अपनी भट्टिकाव्य की प्रस्तावना में तेरह टीकाओं का उल्लेख किया है। जयमङ्गला ने भामह (२ और ३ के लक्षण ३३ बार उद्धृत किये हैं। भामह ने (अध्याय २, कारिका २७) को भट्टि ने १०-२३ पर उद्धृत किया है। इसी प्रकार भामह का २.८७ श्लोक भट्टि १०.४६ पर उद्धृत है। प्रतीत होता है कि जयमंगला ने काव्यादर्श २.२७५ को केवल एक स्थान पर (भट्टि १०-४९) उद्धृत किया है जहाँ ऊर्जस्वि की चर्चा है। मल्लिनाथ पन्द्रहवीं शताब्दी में हुए और उन्होंने प्रतापरुद्रीय सरीखे अर्वाचीन ग्रन्थों को भी प्रमाण माना है। उन्होंने लगभग २० जगह जयमंगला से अपना मतभेद प्रकट किया है और उसकी कठोर आलोचना की है। उ० स्वरूप भट्टि के निम्नलिखित श्लोक को जयमंगला ने (मध्य) दीपक का उदाहरण माना है और मल्लिनाथ ने जयमंगला द्वारा प्रस्तुत नाम की कटु आलोचना की है। भट्टि का श्लोक निम्नलिखित है—

गरुडानिलतिग्मरश्मयः पततां यद्यपि समता जवे।
अचिरेण कृतार्थमागतं तममन्यन्त तथाप्यतीव ते॥

मल्लिनाथ ने अपनी आलोचना निम्नलिखित शब्दों में की है—

"अत्र गच्छन्नित्यादिश्लोकत्रये क्रमादाद्यन्तमध्यावसानेषु क्रियापदप्रयोगादाद्यन्तमध्यदीपकानीत्युक्तं जयमंगलाकारेण तत्परममंगलं लक्षणपरिज्ञानात्।" भट्टि और भामह के तुलनात्मक अध्ययन के लिये देखो डा० डे का हि० सं० पो० भाग १, पृ० ५०-५१ तथा प्रो० एच० आर० दिवेकर ज० रो० ए० सो० १९२९, पृ० ८२५-८४१ कुछ दिन पहले डा० सी० ह्यकास ने भट्टिकाव्य (१०) अलङ्कार भाग पर एक विद्वत्तापूर्ण निबन्ध लिखा है जो सर राल्फ टरनर के अभिनन्दन ग्रन्थ के पृ० ३५१-३६३ पर छपा है। पृ० ३५७ पर उन्होंने भट्टि दण्डी

तथा भामह द्वारा प्रस्तुत अलङ्कारों की विस्तृत तालिका दी है और विशिष्ट अलंकारों पर विद्वत्तापूर्ण टिप्पण भी दिये हैं। स्थान-संकोच के कारण उनके द्वारा प्रस्तुत अनुवाद एवं व्याख्याओं की चर्चा यहाँ सम्भव नहीं है। पृ० ३५१ पर उन्होंने लिखा है कि भट्टिकाव्य प्राचीन जावा भाषा में उपलब्ध रामायण का आदर्श था।

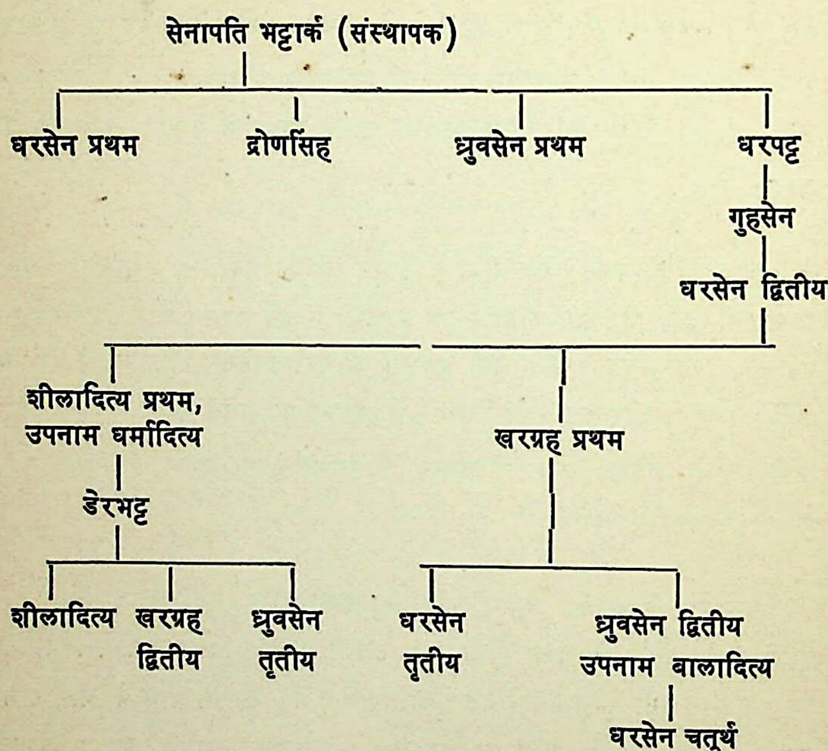
भट्टि की तिथि निश्चित सीमा में स्थिर की जा सकती है। अन्तिम श्लोक में उन्होंने लिखा है कि ग्रन्थ की रचना वल्लभी में जब धरसेन का शासन था की गई है। 'काव्यमिदं विहितं मया वलभ्यां श्रीधरसेननरेन्द्रपालितायाम्'। भट्टि ने अपने विषय में और कुछ नहीं लिखा। जयमंगला का कथन है कि भट्टि के पिता श्रीस्वामी थे जबकि अन्य टीकाकार विद्याविनोद का कथन है कि उनका नाम श्रीधरस्वामी था।

ग्रन्थकार ने अपना नाम कहीं भट्टस्वामी और कहीं भर्तृ[1] दिया है। इससे कई कल्पनायें प्रसूत होती हैं। उनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है। वल्लभी (आधुनिक बला, काठियावाड़ में) धरसेन नाम के चार राजा हुए। जयमंगला में निम्नलिखित पाठ है—'श्रीधरसूनुनरेन्द्रपालितायां।' किन्तु यह पाठ बहुत सी प्रतियों में नहीं मिलता और अनेक टीकाकारों को भी अभिमत नहीं है। वल्लभी के शासकों में श्रीधर का पुत्र नरेन्द्र नाम का कोई राजा नहीं हुआ। वल्लभी राजवंश के एक सौ ताम्रपत्र प्राप्त हो चुके हैं। उनमें से अकेले धरसेन द्वितीय के तेरह ताम्रपत्र हैं। चार धरसेनों को सम्मिलित करने वाली

---

1. रामवर्मा रिसर्च इन्स्टिट्यूट के बुलेटिन भाग १३, १९४६ जुलाई, पृ० २३-२४ में श्री पत्तर का कथन है कि त्रिचूर में भट्टिकाव्य की जो हस्तलिखित प्रतियां मलयालम लिपि में हैं उनमें इसका नाम भर्तृकाव्य दिया गया है तथा प्रत्येक सर्ग की टीका के अन्त में निम्नलिखित पुष्पिका है—'परमगुरुहरिविरचित काव्यटीकायां।' टीकाकार के भी तीन नाम हैं—जयेश्वर, जयदेव तथा जयमंगल।

वंश-परम्परा नीचे लिखे अनुसार है—



धरसेन द्वितीय के पालीताना गाले ताम्रपत्र जोकि गुप्त–वल्लभी–संवत् २५२ (अर्थात् ५७१ ई०) के हैं में भट्टार्क और धरसेन प्रथम को सेनापति बताया गया है तथा धरसेन द्वितीय को महाराज कहा गया है। देखो इ० एन्टि० भाग १५, पृ० ३३५ तथा आगे जहाँ धरसेन चतुर्थ द्वारा वल्लभी संवत् ३३० (६४८ ई०) में दिये गये दान का उल्लेख है। वहाँ धरसेन चतुर्थ को चक्रवर्ती कहा गया है। जिनभद्रकृत विशेषावश्यकभाष्य के अन्त में बताया गया है कि ग्रन्थ की समाप्ति वल्लभी में शीलादित्य के समय वल्लभी संवत् ५३१ (६०८–९ ई०) में हुई। देखो पी० ओ०, भाग ११, ३–४ पृ० २९.

धरसेन द्वितीय ने अपनी मुद्रा पर अपने आपको महाराजाधिराज लिखा है। देखो श्री ए० एस० गर्डे का लेख पाँच वल्लभी दोनों के सम्बन्ध में बम्बई विश्वविद्यालय का जनरल, भाग ३, १, पृ० ७४ तथा आगे। पञ्चम ताम्रपत्र लेखकों में मुख्य दिविरपति भट्टि के पुत्र स्कन्धभट्ट द्वारा लिखा गया है। धरसेन चतुर्थ ने अपने आपको महाराजाधिराज-परमेश्वर चक्रवर्ती लिखा है (देखो इ०

एन्टि० भाग १५, पृ० ३३५, वलभीसंवत् ३३० (६४९ ई०)। भट्टि ने अपने आश्रयदाता का उल्लेख केवल नरेन्द्र शब्द से किया है। अन्य कोई उपाधि या विशेषण नहीं लगाया। इससे हमारी धारणा है कि उनका संकेत प्रथम धरसेन की ओर नहीं है जिसे वल्लभी के दानपत्रों में केवल सेनापति शब्द से व्यवहृत किया है (देखो इ० एन्टि० भाग ६, पृ० ९, द्वितीय धरसेन का दान, वल्लभी संवत् २६९ (५८८ ई०)। जबकि उसके छोटे भाई द्रोणसिंह तथा धरपट्ट को महाराज कहा गया है और धरसेन द्वितीय को महासामन्तमहाराज। धरसेन प्रथम के छोटे भाई ध्रुवसेन के पालीताना ताम्रपत्र (ए० इ० भाग ११, पृ० १०९) तथा उसी के भावनगर ताम्रपत्र (ए० इ० भाग १५, पृ० २५५) में उनका उल्लेख महासामन्त—महाराज—ध्रुवसेन। उपरोक्त दोनों ताम्रपत्र वल्लभी संवत् २१० (५२९ ई०) में लिखे गये। एक अन्य दानपात्र में, वल्लभी संवत् २१७ (५३६ ई०), उसने अपने को 'महाप्रतीहारमहादण्डनायकमहाकार्तािकृतिक-महासामन्त (ज० रो० ए० सो० १८९५, पृ० ३७९). देखो हि० आफ ध० भाग ३, पृ० ९९५, ९९६, १००० इन उच्च पदों की व्याख्या के लिये। धरसेन प्रथम के उत्तराधिकारी तथा ध्रुवसेन प्रथम के अग्रज द्रोणसिंह के एक दानपत्र पर गुप्तसंवत् १८३ (५०२ ई०) है। इसका अर्थ है कि धरसेन प्रथम उससे कुछ समय पूर्व शासक रहे होंगे। धरसेन द्वितीय का शासन-काल बहुत लंबा अर्थात् ५६९–५९९ ई० तक है। धरसेन चतुर्थ का अन्तिम दान-पत्र वल्लभी संवत् ३३२ (६५१ ई०) का है। अतः यदि भट्टि को धरसेन प्रथम का समकालीन माना जाय तो उसका समय ५०० ई० के पश्चात् नहीं रखा जा सकता। यदि उसे धरसेन द्वितीय का समय माना जाय तो उसकी तिथि ६०० ई० के पूर्व रखनी होगी। यदि यह भी मान लिया जाय कि वे धरसेन चतुर्थ के समय हुए तो भी उनका रचना-काल ६५० के पश्चात् नहीं हो सकता। किन्तु धरसेन चतुर्थ अपने आपको चक्रवर्ती लिखते हैं। ऐसी स्थिति में यह संभव नहीं है कि भट्टि उन्हें केवल नरेन्द्र शब्द से व्यवहृत करते। अतः यही संभावना उचित प्रतीत होती है कि भट्टि धरसेन द्वितीय (५७०–६०० ई० के मध्य) या तृतीय के शासनकाल में हुये जो धरसेन प्रथम के उत्तराधिकारी खरग्रह प्रथम के पश्चात् सिंहासन पर आये। अतः बहुत सम्भव है कि भट्टि ५९० से ६५० ई० के मध्य हुए। वलभी के ताम्रपत्रों में भट्टि का नाम कई रूपों में मिलता है। किसी ने उसे प्रतिग्रहिता, किसी ने दिविरपति (लेखक-मुख्य) और किसी ने राजस्थानीय लिखा है। देखो इ० एन्टि भाग ६, पृ० १२ ध्रुवसेन उपनाम बालादित्य द्वारा दिविरपतिवत्सभट्टि को दिये गये दानपत्र के लिये; ज० रो०

ए० सी० १८९५, पृ० ३७९ (२१७ वलभीसंवत्=५३६ ई०) ध्रुवसेन प्रथम द्वारा दानपत्र दूतक-राजस्थानीयभट्टि को; इ० ए० १५, पृ० ३३५ (धरसेन चतुर्थ का दान) दिविरपति-वत्रभट्टिपुत्र-दिविरपति-स्कन्दभट्ट को; ए० इण्डि० भाट १, पृ० ८९–९२ भट्टिभट्ट को। इनमें से किसी को भट्टिकाव्य का लेखक सिद्ध करने के लिये उपरोक्त कल्पनाओं के अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं है। प्रो० कीथ ने इस मत का समर्थन किया है कि भट्टि धरसेन प्रथम के समय हुए। (देखो ज० रो० ए० सो० १९०९ पृ० ४३५ न)। नाट्यशास्त्र ने केवल चार अलङ्कारों का निरूपण किया है और भट्टि ने ३८ के उदाहरण दिये हैं। अतः इन दोनों में पर्याप्त व्यवधान होना चाहिये। इसके विपरीत दण्डी और भामह की अलङ्कार संख्या प्रायः उतनी ही है और प्रतिपादन शैली भी उतनी ही व्यवस्थित है। अतः भट्टि और इन दो आलङ्कारिकों का अन्तर्काल वहुत थोड़ा होना चाहिये। यह मानना तर्कसंगत या उचित नहीं है कि पाणिनी व्याकरण के नियमों के समान भट्टि अनेक अलंकारों को जानते थे किन्तु सबके उदाहरण नहीं दिये। यह सादृश्य दोषपूर्ण है। पाणिनी-सूत्रों की संख्या हजारों है जबकि आठवीं शताव्दी तक अलंकारों की संख्या ४० से अधिक नहीं थी।

भट्टि के सम्वन्ध में एक अन्य वात उल्लेखनीय है जिसकी ओर अब तक विद्वानों का ध्यान नहीं गया। पाणिनी सूत्रों पर जयादित्य एवं वामन की काशिका नामक वृत्ति है। उसकी प्रस्तावना में निम्नलिखित श्लोक है।—

वृत्तौ भाष्ये तथा धातुनामपारायणादिषु।
विप्रकीर्णस्य तन्त्रस्य क्रियते सारसंग्रहः॥

जिनेन्द्रबुद्धिकृत काशिकाविवरणपञ्जिका अथवा व्यास में इस श्लोक की व्याख्या करते हुए कहा है—चूल्लि, भट्टि और नल्लूर ने पाणिनी सूत्रों की व्याख्या काशिका से पहिले की थी। इत्सिग ने अपना वर्णन ६९१ ई० में लिखा था। तदनुसार जयादित्य का मृत्यु-काल ६६१ ई० है। संभवतया भट्टि ने पाणिनी सूत्रों के उदाहरणों के लिये जो महाकाव्य लिखा उस पर टीका भी लिखी थी। यदि यह वात प्रमाणित हो जाती है तो मानना होगा कि भट्टि काशिका से कुछ पूर्व अर्थात् ६००–६४० ई० तक हुए। भट्टि की तिथि के विषय में जो सीमा-निर्वारण ऊपर किया गया है उसकी अपेक्षा, प्रस्तुत निर्धारण अधिक संकुचित है। किन्तु यह न्यास में उल्लिखित भट्टि के साथ महाकवि भट्टि की एकता पर आधारित है।

जयमङ्गला नामक टीका अपेक्षाकृत् प्राचीन है। उसमें भामह और दण्डी सरीखे प्राचीन आलङ्कारिकों का ही उल्लेख मिलता है, मम्मट का नहीं। इसका अर्थ है कि इस टीका के रचयिता जिनके तीन नाम थे (देखो पृ० ७४, टिप्पण संख्या १) आठवीं के पश्चात् तथा दशम के पूर्ववर्ती हैं। भट्टिकाव्य पर जयमंगला के रचयिता से कामसूत्र की टीका जयमंगला के रचयिता भिन्न हैं। कामसूत्र की जयमंगला के रचयिता यशोधर माने जाते हैं जो गुरुदत्तेन्द्रपाद के नाम से भी व्यवहृत हैं। प्रस्तुत जयमंगला भी प्राचीन प्रतीत होती है; क्योंकि बी० बी० आर० ए० एस० में स्थित भाउ दाजी संग्रह में इसकी जो हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई है उसे चालुक्य वीसलदेव (१२४३–१२६१ ई०) भारतीभण्डार (पुस्तकालय) स्थित हस्तलिखित ग्रन्थ की प्रतिलिपि बताया गया है। देखो श्री त्रिवेदीजी की भट्टिकाव्य पर प्रस्तावना पृ० १५–१७, भट्टिकाव्य के लेखक के नाम-विषयक विवेचना के लिये जहाँ वे इस निष्कष पर पहुँचे हैं कि लेखक के तीन नाम थे—भट्टि, भट्टस्वामी तथा भर्तृस्वामी। अधिकतर टीकाकारों का मत है कि उनके पिता का नाम श्रीधरस्वामी अथवा श्रीस्वामी था। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि श्री त्रिवेदी के संस्करण की प्राचीनतम आधारभूत प्रति (शक १३२६=१४०४ ई०) की पुष्पिका निम्नलिखित है—"श्रीधरस्वामिसूनोर्भट्टिब्राह्मणस्य कृतौ" इत्यादि। कुछ विद्वानों के मतानुसार भट्टिकाव्य के रचयिता दान ग्रहण करने वाले भट्टिभट ही हैं जोकि वप्प के पुत्र थे, जिनका उल्लेख ध्रुवसेन के एक दानपत्र (वल्लभी संवत् ३४४=६५३ ई०) में है। डा० हुल्ट्स इससे असहमत हैं (ए० इण्डि० भाग १, पृ० ९२)। श्री बी० सी० मजूमदार (ज० रो० ए० सो०, १९०४, पृ० ३९५–९७) ने भट्टिकाव्य के रचयिता की मन्दसोर–सूर्य–मन्दिर में प्राप्त शिला-लेख (फ्लीट—'गुप्त शिलालेख', सं० १८)४७३ ई० में निर्दिष्ट वत्सभट्टि के साथ एकता बताई है। उनका यह निर्णय शिलालेख तथा भट्टिकाव्य (द्वितीय सर्ग) के शरद्-वर्णन की समानता पर आधारित है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि भट्टि धरसेन प्रथम के समय अथवा उससे भी पूर्व हुए। प्रो० ए० बी० कीथ (ज० रो० ए० सो०, १९०९, पृ० ४३५) ने इस मान्यता को भ्रमपूर्ण माना है तथा श्री मजूमदार (ज० रो० ए० सो० १९०९, पृ० ७५९) ने कीथ का उत्तर देते हुए उसे सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। कीथ तथा मजूमदार दोनों इस बात में एकमत हैं कि भट्टि, भारवी और दण्डी से पहिले हुए और वे वाक्यपदीय के रचयिता भर्तृहरि से भिन्न हैं। मेरी राय में केवल वर्णन की समानता के आधार पर मन्दसोर शिलालेख वाले वत्सभट्टि तथा महाकाव्य के

रचयिता भट्टि को एक मानना उचित नहीं है। भट्टिकाव्य पर अनेक टीकायें हैं। उनमें से जयमंगला निर्णयसागर से प्रकाशित हुई है और मल्लिनाथ की टीका बम्बई संस्कृत सीरीज में जिसका सम्पादन श्री के० पी० त्रिवेदी ने किया है।

८. **भामह का काव्यालंकार**—बहुमत के प्रति आदर होने के कारण पुस्तक के प्रथम संस्करण में मैंने भामह को दण्डी से पहले रखा था। प्रस्तुत संस्करण में भी वही क्रम रखा गया है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि मैं भामह को दण्डी का पूर्ववर्ती मानता हूँ जैसाकि अनेक विद्वानों ने माना है। अब भी मेरी यही मान्यता है कि यह बहुमत भ्रान्तिपूर्ण है। कारणों की चर्चा आगे की जायगी।

बहुत से विद्वानों ने इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार नहीं किया। खेद है कि अत्यंत उत्सुकता और निर्णय-शक्ति की कमी के कारण वे गलत निष्कर्ष निकाल रहे हैं। उ० स्वरूप नोबेल महोदय ने अपनी पुस्तक 'फाउण्डेसंस आफ इण्डियन पोइट्री (पृ० १६ टि०) में लिखा है कि श्री पाठक तथा अन्य विद्वानों ने दण्डी के भामह से पूर्ववर्ती होने का जो सिद्धान्त उपस्थित किया है, उसकी चर्चा भी अनावश्यक है। उन्होंने भामह को कालिदास (पृ० १४-१५) से भी पूर्ववर्ती सिद्ध करने की कोशिश की है। प्रो० बटुकनाथ ने भामह कृत-काव्यालङ्कार का सम्पादन किया है और नि० सं० १९८५ में सरस्वती भवन सीरीज भाग ७, पृ० १–७० (१९२९ ई०) से प्रकाशित हुआ है। उसकी प्रस्तावना में लेखक ने जो मन्तव्य प्रगट किये हैं वे भी विवादास्पद हैं और उनकी चर्चा करना आवश्यक है। भामह के विषय में १९२० ई० तक जो ऊहापोह हुआ उसके लिये उपरोक्त दो ग्रन्थों का अध्ययन उपयोगी है। यद्यपि श्री शर्मा ने अपनी प्रस्तावना (पृ० ३७) में मेरी प्रशंसा करते हुए निम्नलिखित शब्द दिये हैं—'काने महोदय ने पूर्णतया निष्पक्ष रहकर उपरोक्त मतों का उपस्थापन एवं परीक्षण किया है और यह निष्कर्ष निकाला है' इत्यादि। किन्तु खेद है कि प्रत्युत्तर में मैं उनके लिये वैसे शब्द नहीं लिख सकता। दुःख है कि इस विषय में जो प्रश्न उपस्थित हैं वे उनकी गहराई में नहीं गये। उन्होंने जो मन्तव्य प्रगट किये हैं (प्रस्तावना, पृ० ३९) वे न तो तर्कसंगत हैं और न इतिहास पर आधारित। उन्होंने कहा है कि सम्भवतया दण्डी के समय प्राकृतों का जितना प्रचार था, उतना भामह के समय नहीं था। अतः भामह और दण्डी में शताब्दियों का अन्तर है (प्रस्तावना, पृ० ४०)। श्री शर्मा ने अनेक कल्पनायें की हैं और उनके आधार पर यह कहने का प्रयत्न किया है कि भामह दण्डी

से कई शताब्दी पूर्व हुए। उन सबकी चर्चा यहाँ सम्भव नहीं है। जहाँ तक सेतुबन्ध का प्रश्न है वे तत्सबन्धी हर्षचरित के उल्लेख को सम्भवतया भूल गये या जानकर छोड़ गये। वह उल्लेख निम्नलिखित है—

"कीर्तिः प्रवरसेनस्य प्रयाता कुमुदोज्ज्वला।
सागरस्य परंपारं कपिसेनेव सेतुना॥"
(प्रस्तावना. गाथा सं० १४)

अतः सेतुबन्ध की रचना छठी शताब्दी से अधिक नहीं तो एक शताब्दी पूर्व अवश्य हो चुकी होगी। इसके अतिरिक्त हर्षचरित में ही श्लोक १३ में हालकृत गाथा-सप्तशती की प्रशंसा की गयी है और बताया गया है कि उसमें ७०० गाथाएँ हैं। यह ग्रन्थ निश्चित रूप से ४००—६०० ई० जो काल प्रो० शर्मा ने भामह के लिये पुरस्कृत किया है, से पूर्व का है। वे इस तथ्य को भूल गये हैं कि अशोक के अतिरिक्त उत्तर तथा दक्षिण भारत के अधिकतर शिलालेख, जो ई० पूर्व द्वितीय शताब्दी तथा उसके पश्चात् कई शताब्दियों तक लिखे गये, प्राकृत में हैं। भामह ने स्वयं काव्य को तीन भाषाओं में विभक्त किया है—संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश। काव्यादर्श (१, ३२) में भी वाङ्मय को चार भागों में विभक्त किया है—संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा मिश्र। नाट्यशास्त्र का कथन है कि नाटकों के गीत संस्कृत, विभ्रष्ट अथवा देशी बोली में होते हैं। उसने शौरसेनी, मागधी, दाक्षिणात्या आदि प्राकृतों के नाम का उल्लेख किया है। श्री शर्मा ने जो कल्पनायें प्रस्तुत की हैं उनका खण्डन करने के लिये उपरोक्त तथ्य पर्याप्त हैं। इसके अतिरिक्त हाल ने अपनी गाथा-सप्तशती की तृतीय गाथा में बताया है कि उन्होंने अपने ग्रन्थ की रचना करोड़ गाथाओं में से की है। अतिशयोक्ति को न भी माना जाय फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि हाल के समय प्राकृत में विशाल साहित्य विद्यमान था। डा० ए० संकरन ने अपनी पुस्तक 'सम आस्पेक्ट्स ऑफ लिटरेरी क्रिटीसिज्म इन संस्कृत' (संस्कृत आलोचना-शास्त्र के कुछ पहलू) (१९२९), पृ० २५ पर लिखा है कि संस्कृत साहित्य के इतिहास में दण्डी का तिथि—निर्णय सबसे बड़ी समस्या है। इस समस्या को सुलझाने के लिये अभी तक निश्चित आधार नहीं मिले। इस स्पष्ट कथन के पश्चात् डा० संकरन ने दण्डी और भामह के पौर्वापर्य के सम्बन्ध में पिछले २५ वर्षों से जो तर्क एवं आधार प्रस्तुत किये जा रहे हैं उनकी समीक्षा नहीं की और भोजकृत शृंगारप्रकाश की मद्रास में जो प्रति उपलब्ध हुई है केवल उसी के एक पाठ पर विश्वास करके अपना निर्णय दे दिया। उनका मत है कि उपरोक्त पाठ दण्डी का है। किन्तु

काव्यादर्श की विभिन्न हस्तलिखित प्रतियों पर आधारित सभी संस्करण इसके विपरीत सिद्ध करते हैं। अन्त में वे कहते हैं कि इस आधार पर भामह दण्डी से पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। वह पाठ निम्नलिखित है—'तदुक्तम्। वक्रत्वमेव काव्यानां परा भूषेति भामहः। श्लेषः पुष्णाति सर्वासु प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।' उत्तरार्द्ध काव्यादर्श भाग २, ३६३ पर है। किन्तु पूर्वार्द्ध काव्यादर्श के किसी संस्करण में नहीं है और न डा० संकरन ने किसी टीकाकार का उल्लेख किया है। पूर्वार्द्ध सम्भवतया भोज के किसी पूर्ववर्ती का उद्धरण है अथवा भोज की अपनी शक्ति है। भोज ने अपने अभीष्ट आलंकारिक दण्डी का एक उद्धरण देकर इसका समर्थन किया है। डा० संकरन के प्रति पूर्ण आदर-बुद्धि होने पर भी मुझे यह कहना पड़ता है कि किसी भी समस्या के समाधान का यह मार्ग अत्यन्त दोषपूर्ण है। इस पाठ पर अधिक टिप्पणों के लिये देखो डा० राघवन का शृंगारप्रकाश, भाग १, खण्ड १, पृ० १२२। प्रो० वटुकनाथ ने भामह का जो सम्पादन किया है उसकी भूमिका में प्रिन्सिपल ए० वी० ध्रुव ने दण्डी और भामह के पौर्वापर्य की चर्चा की है किन्तु जिस शीघ्रता और अधिकारपूर्ण शैली में उन्होंने इस चर्चा का उपसंहार किया है उसे देखकर आश्चर्य होता है। उन्होंने पहले भामह का श्लोक उद्धृत किया है और फिर दण्डी का जो निम्नलिखित है :—

'स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुञ्जते।
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटुभेषजम्॥'

(काव्यालंकार)

'प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्त हानिर्दोषो न वेत्यसौ।
विचार; कर्कशः प्रायस्तेनालीढेन किं फलम्॥"

(दण्डी, ३.१२७)

प्रिन्सिपल ध्रुव मानते हैं कि यह श्लोक दण्डी का कठोर उत्तर है। उन्होंने भी आलीढ शब्द का प्रयोग किया है और पूछा है क्या विचार कभी आलीढ हो सकता है? उनके मत में विचार के साथ आलीढ शब्द का प्रयोग नीतिं-विरुद्ध है। किन्तु प्रिन्सिपल ध्रुव भूल गये कि दण्डी ने काव्या० १.९५. पर स्वयं लिखा है—'निष्ठयूतोद्गीर्णवान्तादि गौणवृत्तिव्यपाश्रयम्। अतिसुन्दरमन्यत्र ग्राम्यकक्षां विगाहते।' व्यंग के रूप में विचार के साथ आलीढ शब्द का प्रयोग अनुचित नहीं है, प्रत्युत भावपूर्ण बन जाता है। काव्यमय मधुर शब्दों में उपदेश देना एक प्राचीन पद्धति है। देखो सौन्दरनन्द १८.६३. 'यन्मोक्षात्कृतमन्यदत्र हि मया तत् काव्यधर्मात्कृतं पातुं तिक्तमिवौषधं मधुयुतं हृद्यं कथंस्यादिति।' प्रि०

ध्रुव भूल गये हैं कि लिह् धातु अदादिगण की है जिसका अर्थ है स्वाद लेना और चर्व धातु भ्वादिगण की है जिसका अर्थ है चबाना तथा रस सिद्धान्त में रसास्वाद एवं रसचर्वणा शब्दों का प्रयोग अत्यधिक हुआ है। इसके आनन्दवर्धन सरीखे प्रमुख आलंकारिक का कथन है—"यथा वा वाणिअ अ हत्थिदन्ता 'इत्यादि गाथार्थस्य 'करिणीवेहव्वकरो···वहइ' एवमादिष्वर्थेषु सत्स्वपि अनालीढतैव" (ध्व० पृ० २३७)। उन्होंने अर्थ के साथ आलीढ शब्द का प्रयोग किया है। इन प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि विचार के साथ आलीढ शब्द का प्रयोग स्वाभाविक एवं रसाभिव्यञ्जक है।

चिरकाल तक भामह के काव्यालंकार का अस्तित्व उद्धरणों तक सीमित रहा। (देखो कर्नल जैकोब का लेख, ज० रो० ए० सो०, १८९७, पृ० २८५)। १९०६ ई० में प्रो० रंगाचार्य ने मुझे भामह के ग्रंथ की एक प्रतिलिपि भेजने की कृपा की। १९०९ में श्री के० पी० त्रिवेदी ने प्रतापरुद्र यशोभूषण के साथ परिशिष्ट संख्या आठ के रूप में भामह के ग्रन्थ को जोड़ दिया जोकि बो० सं० सिरीज से प्रकाशित हुआ है। १९२७ में पी० वी० नागनाथ शास्त्री, तंजोर ने इसके मूल पाठ का सम्पादन चार हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर किया और अंग्रेजी अनुवाद, टिप्पण तथा प्रस्तावना के साथ प्रकाशित किया। १९२८ में सर्वश्री बटुकनाथ शर्मा तथा बलदेव उपाध्याय ने विस्तृत भूमिका के साथ इसका सम्पादन किया और वह काशी संस्कृत सीरीज से प्रकाशित हुआ। खेद है कि उपरोक्त सभी संस्करण (जिनमें अन्त भी सम्मिलित है) त्रुटिपूर्ण हैं। उनमें उपयुक्त हस्तलिखित सामग्री अत्यल्प है तथा सम्पादकों ने बहुत से विवाद-ग्रस्त प्रश्नों का स्पष्टीकरण नहीं किया। विभिन्न ग्रन्थों में काव्यालंकार के जो पाठ उद्धृत हैं उन पर भी विचार नहीं किया गया। इसी प्रकार उद्भट से लेकर ध्वन्यालोक, लोचन आदि ने भामह पर जो व्याख्यात्मक टिप्पण दिये हैं उनकी भी समीक्षा नहीं की गयी। श्री बटुकनाथ तथा बलदेव उपाध्याय ने अपने संस्करण की प्रस्तावना में जो पद्धति अपनायी है प्रो० पाठक ने उसकी कटु आलोचना की है। मुद्रित पाठ में व्याकरण सम्बन्धी शुद्धियों का ध्यान भी नहीं रखा गया और न ही पाठ-शुद्धि के लिये कोई सुझाव दिया है। (देखो एनल्स भा० ओ० रि० इ० भाग १२, पृ० ३८५–३८८, ३९२–३९५). भामह के ग्रंथ का विद्वत्तापूर्ण सम्पादन अत्यंत आवश्यक है। मैंने अपने विवेचन में १९२८ के संस्करण का उपयोग किया है। तिरुवदि के प्रो० डी० टी० ताताचार्य ने १९३४ में एक संस्करण प्रकाशित किया है। उसमें उद्यानवृत्ति नामक संस्कृत टीका है जिसे सम्पादक ने स्वयं रचा है। साथ ही अंग्रेजी टिप्पण, संस्कृत तथा

अंग्रेजी में प्रस्तावना एवं अंग्रेजी परिशिष्ट के रूप में (पृ० १–३४) अलंकारों की सूची है जो कि पूर्ववर्ती विद्वानों द्वारा प्रस्तुत विवेचन का संक्षिप्त सार है। अंग्रेजी प्रस्तावना में बहुत-सा भाग अप्रासंगिक है जिसमें उन्होंने मैक्समूलर, गोल्डस्टूकर, मैकडोनल, प्रो० राजवाड़े तथा म० म० अनन्तकृष्ण शास्त्री की आलोचना की है। संस्कृत प्रस्त वना में उन्होंने प्रो० ए० संकरन, प्रो० के० एस० रामास्वामी शास्त्री तथा टिप्पण में मुझ पर भी आक्षेप किये हैं। सबसे अधिक उल्लेखनीय बात यह है कि उन्होंने अपने संस्करण की आधारभूत प्रति का कोई परिचय नहीं दिया।

भामह कृत काव्यालंकार छः परिच्छेदों में विभक्त है तथा उसमें लगभग ४०० श्लोक हैं। वास्तव में देखा जाय तो उनकी संख्या ३९६ हैं जिसमें अन्तिम दो श्लोक सम्मिलित नहीं हैं। उनमें केवल पाँच प्रमुख विषयों पर रचे गये श्लोकों की संख्या दी है—'षष्ट्या शरीरं निर्णीतं शतषष्ट्या त्वलंकृतिः। पञ्चाशता दोषदृष्टिः सप्तत्या न्यायनिर्णयः॥ षष्ट्या शब्दस्य शुद्धिः स्यादित्येवं वस्तुपञ्चकम्। उक्तं षड्भिः परिच्छेदैर्भामहेन क्रमेण वा)। काशी संस्करण के छः परिच्छेदों में क्रमशः श्लोकसंख्या निम्नलिखित है—६९, ९६, ५८, ५०, ६९, ६६ (अन्तिम दो श्लोक मिलाकर) अर्थात् कुल योग ३९८ श्लोक हैं। प्रत्येक परिच्छेद की अन्तिम तथा ग्रन्थान्तर्गत अन्य कुछ कारिका को छोड़कर सर्वत्र अनुष्टुप छन्द हैं। प्रथम परिच्छेद में सार्व को नमस्कार करके काव्य के प्रयोजन, कवि की योग्यता, काव्य का लक्षण एवं भेद गिनाये गये हैं। भेदों का निरूपण कई दृष्टियों से किया है गद्य और पद्य; संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश। उन्होंने काव्य का विभाजन, नीचे लिखे अनुसार किया है–वृत्तदेवादिचरितशंसि, उत्पाद्यवस्तु, कलाश्रय और शास्त्राश्रय। पुनः निम्नोक्त पाँच प्रकारों में विभाजन किया है—सर्गबन्ध, अभिनेयार्थ, आख्यायिका, कथा तथा अनिबद्ध। तत्पश्चात् सर्गबन्ध का लक्षण दिया है। अभिनेयार्थ (नाटक, रासक आदि) की चर्चा छोड़ दी है क्योंकि उस पर दूसरे लिख चुके हैं। तदनन्तर कथा तथा आख्यायिका में परस्पर भेद का प्रतिपादन किया है; तथा वैदर्भी और गौड़ी रीतियों का उल्लेख करते हुए कहा है कि दोनों का तथाकथित परस्पर भेद अर्थहीन है। इसके पश्चात् नेयार्थ क्लिष्ट आदि दोषों का वर्णन है। द्वितीय परिच्छेद के प्रारम्भ में माधुर्य, प्रसाद और ओज नामक तीन गुणों का वर्णन है। तत्पश्चात् तृतीय परिच्छेद के अन्त तक अलंकारों की चर्चा है। उन्होंने क्रमशः निम्नलिखित अलंकारों के लक्षण दिये हैं—अनुप्रास (ग्राम्यानुप्रास तथा लाटीयानुप्रास), यमक (पाँच भेद), रूपक (दो भेद), दीपक, उपमा (सात दोषों के साथ),

प्रतिवस्तूपमा (उपमा का एक भेद), आक्षेप (दो भेद), अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति, प्रेयस्, रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त (दो भेद), श्लिष्ट, अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, उपमा-रूपक, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति, ससन्देह, अनन्वय, उत्प्रेक्षावयव, संसृष्टि, भाविक, आशीः। उन्होंने हेतु, सूक्ष्म और लेश को अलंकार-कोटि में नहीं रखा क्योंकि उनमें वक्रोक्ति नहीं है। प्रतीत होता है भामह के पूर्ववर्ती आलंकारिकों ने इन्हें अवश्य अलंकार के रूप में गिनाया होगा। उनका कथन है, (२.८३) कि वक्रोक्ति के विना किसी की अलंकारों में गणना नहीं हो सकती। हेतु, सूक्ष्म तथा लेश में वक्रोक्ति नहीं है। अतः वे अलंकार कोटि में नहीं आते (२.८६)। द्वितीय परिच्छेद के श्लोक ८७ में उनका कथन है कि कुछ लोग वार्ता को अलंकार मानते हैं और उसके लिये 'गतोस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः' को उदाहरण के रूप में उपस्थित करते हैं। किन्तु इस प्रकार का वर्णन काव्य-कोटि में नहीं आता। तदनन्तर भामह का कथन है कि कुछ लोग स्वभावोक्ति को अलंकार मानते हैं उसका लक्षण निम्नलिखित है—"अर्थस्य तदवस्थत्वं स्वभावोभिहितो यथा" (२.९३) और उदाहरण है—"आक्रोशन्नाह्वयन्नन्यानाधावन्मण्डलैर्नुदन्। गा वारयति दण्डेन डिम्भः शस्यावतारणीः (२.९४)।" स्वभावोक्ति अलंकार के लिये यह आवश्यक है कि स्वाभाविक वर्णन में भी कुछ चमत्कार एवं आकर्षण होना चाहिये, जैसाकि उपरोक्त उदाहरण में है, जहाँ गायों को खेती में घुसने से रोकने के लिये बालक द्वारा किये जाने वाले प्रयत्नों का वर्णन है। उसने चिल्लाना तथा शोर मचाना शुरू किया, दूसरों को सहायता के लिये पुकारा, चारों ओर दौड़ना शुरू किया और गाय को हाँक दिया। यह चमत्कार 'सूर्य अस्त हो गया, चाँद निकल आया तथा पक्षी अपने-अपने घोसलों में चले गये' में नहीं है। भामह इस प्रकार के भूतवस्तु प्रतिपादन को काव्य-कोटि में रखने के लिये तैयार नहीं हैं। दूसरों ने इसे वार्ता संज्ञा दी है। (उदाहरण स्वरूप विष्णुधर्मोत्तर, पृ० ६९)। इसका अर्थ है कि इस प्रकार का कथन समाचार मात्र है। मेरी दृष्टि में प्रथम व्याख्या अधिक संगत है क्योंकि भामह ने अर्थालंकारों का प्रतिपादन एवं अन्य लेखकों का मत प्रदर्शित करते समय 'प्रचक्षते' शब्द का अनेक बार व्यवहार किया है (२.५; २.९३; ३.५४)। चतुर्थ परिच्छेद में उन्होंने ग्यारह प्रकार के दोषों की चर्चा की है (उ० स्वरूप अपार्थ, व्यर्थ) तथा उनमें से प्रथम दश के लक्षण एवं उदाहरण दिये हैं। पञ्चम परिच्छेद में ग्यारहवें दोष का लक्षण

एवं उदाहरण दिये हैं । यह दोष प्रतिज्ञा, हेतु अथवा दृष्टान्त के सदोष होने पर उत्पन्न होता है। यह चर्चा न्याय-वैशेषिक दर्शन में प्रस्तुत प्रमाणों की संख्या, प्रतिज्ञा का लक्षण तथा उसके भेद, हेतु तथा उसके भेद, दृष्टान्त आदि विषयों पर अवलम्बित है । षष्ठ परिच्छेद में सौशब्द (व्याकरण शुद्धि) प्राप्त करने के लिये कवियों को सूचनायें दी गई हैं। वामन ने भी अपने काव्यालंकार के पञ्चम परिच्छेद में इसी विषय की विस्तृत चर्चा की है ।

काव्यशास्त्र के उपलब्ध आचार्यों में भामह को अलंकार सम्प्रदाय का प्राचीनतम आचार्य माना जाता है। उनके वैयक्तिक जीवन के विषय में कुछ भी विदित नहीं है। अन्तिम श्लोक में उन्होंने अपने को रक्रिलगोमिन् का पुत्र बताया है—'अवलोक्य मतानि सत्कवीनामवगम्य स्वधिया च काव्यलक्ष्म । सुजनावगमाय भामहेन ग्रथितं रक्रिलगोमिसुनुनेदम् ।।' इस नाम को लेकर एक विवाद चल पड़ा है और कुछ लोगों की धारणा है कि भामह बौद्ध थे। प्रो० एम० टी० नरसिंहिगर (ज० रो० ए० सो० १९०५, पृ० ५३५–५४५) की धारणा है कि भामह बौद्ध थे क्योंकि रक्रिल जोकि उनके पिता का नाम है, बौद्ध परम्परा में प्रचलित नामों से मिलता है; उ० स्व० राहुल, पोतल तथा गोमिन् जो कि बुद्ध के एक शिष्य का नाम है। इस मत के विरुद्ध देखिये ज० रो० ए० सो० १९०८, पृ० ५४३। प्रो० पाठक (इ० एण्टि० १९१२, पृ० २३५) का मत है कि गोमिन् गोस्वामिन् का विकृत रूप नहीं है किन्तु उसका अर्थ है पूज्य तथा रक्रिल बौद्ध थे। उनका मत चान्द्रव्याकरण के सूत्र 'गोमिन् पूज्ये' पर अवलम्बित है (४.२; १४४, गोमान् अन्यः।)। वास्तव में देखा जाय तो नाम का विशेष महत्त्व नहीं है। जब बौद्ध तथा ब्राह्मण धर्म के अनुयायी हजारों वर्षों तक एक साथ रहे तो बौद्ध परम्परा में प्रचलित नाम का किसी ब्राह्मण द्वारा अपनाया जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है, जबकि स्वयं बुद्ध को विष्णु का अवतार मान लिया गया। इस प्रकार का आदान-प्रदान दशम शताब्दी के पूर्व होता रहा है। यह बात वर्तमान भारत में भी विद्यमान है जबकि हिन्दू और मुसलमान परस्पर एक दूसरे के नाम तथा उपाधियों को अपना रहे हैं। गुप्त संवत् २०९ (५२८–५२९ ई०) के खोद ताम्रपत्र ("गुप्त इन्स्क्रिप्सन्स' फ्लीट, सं० २५, पृ० ११३) में उल्लेख है कि छोडुगोमिन् ने महाराज संक्षोभ से भगवती पिष्टपुरी के मन्दिर को एक ग्राम दान करने के लिये प्रार्थना की। देवराज के सिरोद ताम्रपत्र में (ए० इण्डि भाग २४, पृ० १४३, लगभग चौथी शताब्दी) उल्लेख है कि गोमिन् वंश के राजा देवराज ने दो ब्राह्मणों को कर-मुक्त किया था। उपरोक्त प्राचीन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि चतुर्थ ई० में

भी गोमिन् शब्द का व्यवहार बौद्धों तक सीमित नहीं था। ग्रन्थकार के धम का निर्णय उसके ग्रंथ से ही किया जा सकता है, नाम से नहीं। काव्यालंकार में कोई भी ऐसी बात नहीं है जिसे पूर्णतया बौद्ध कहा जा सके। बुद्ध के जीवन तथा बौद्ध कथाओं का उल्लेख भी नहीं है। प्रथम श्लोक में सार्व सर्वज्ञ को नमस्कार किया गया है। सर्वज्ञ शिव तथा बुद्ध दोनों की उपाधि है। सार्व शब्द का अर्थ है 'सब के लिये हितकर'। अमरकोष ने उसे बुद्ध के नामों में नहीं गिना। भामह ने सार्व तथा सर्वीय शब्दों की व्याख्या ६.५३ पर दी है—'हितप्रकरणे णं च सर्वशब्दात् प्रयुञ्जते। ततश्छमिष्टया च यथा सार्वः सर्वीय इत्यपि ॥ (तुलना—'सर्वपुरुषाभ्यां णढओ' पाणिनि ५.१.१०)। भामह ने बौद्धों के अपोहवाद का निषेध किया है (६.१६–१७. 'अन्यापोहेन शब्दोर्थमाहेत्यन्ये प्रचक्षते।···यदि गौरित्ययं शब्दः कृतार्थोऽन्यनिराकृतौ। जनको गवि गोबुद्धर्मृग्यतामपरो ध्वनिः।) भामह ने जिन तीन श्लोकों में अपोहवाद का खण्डन किया है (६.१७–१९) शान्तरक्षित ने तत्त्वसंग्रह (पृ० २९१, श्लोक ९१२–९१४) में उन्हें उद्धृत किया है। टीकाकार कमलशील ने स्पष्ट शब्दों में उन्हें भामह की रचना बताया है और खण्डन किया है। शान्तरक्षित ने अपोहवाद का खण्डन करने वाले भामह तथा कुमारिल को कुदृष्टया तथा दुरात्मानः शब्दों से लाञ्छित किया है। ('अन्यापोहापरिज्ञानादेवमेते कुदृष्टयः। स्वयं तुष्टा दुरात्मानो नाशयन्ति परानपि ॥ श्लोक सं० १००३, तत्त्वसंग्रह, गा० ओ० सि० में प्रकाशित)। अतः प्रसिद्ध बौद्ध' विद्वान् शान्तरक्षित के मतानुसार भामह बौद्ध नहीं थे। शान्तरक्षित ७०५–७६२ ई० में हुए; देखो तत्त्वसंग्रह पर प्रस्तावना पृ० २३, गा० ओ० सि०)। इससे यह सिद्ध होता है कि भामह ७५० से पूर्ववर्ती हैं। भामह ने अपोहवाद का निषेध किया तथा शान्तरक्षित सरीखे कट्टर बोद्ध विद्वान् ने उसके लिये कुदृष्टि और दुरात्मा शब्दों का प्रयोग किया। यह उसके बौद्ध होने के विरुद्ध प्रबल प्रमाण है। चन्द्रगोमिन् बौद्ध थे। उन्होंने सर्वज्ञ को नमस्कार किया है—'सिद्धं प्रणम्य सर्वज्ञं सर्वीयं जगतो गुरुम्।' इसी प्रकार भामह ने भी सर्वज्ञ को प्रणाम किया है। अतः उसे भी बौद्ध होना चाहिये। इस युक्ति का उपरोक्त निश्चित प्रमाण के सामने कोई महत्त्व नहीं है। भामह द्वारा अपोहवाद के निषेध तथा किसी ऐसी बात का, जिसे स्पष्ट रूप से बौद्ध कहा जा सके, उल्लेख न होने पर भी दिवंगत प्रिन्सिपल ध्रुव ने भामह को बौद्ध माना है। उनका मुख्य आधार हेमचन्द्र कृत काव्यानुशासन है जहाँ समस्त उदाहरण ब्राह्मण साहित्य से लिये गये हैं। और उनका कथन है कि हेमचन्द्र ने जैन होने पर भी ब्राह्मण साहित्य का प्रश्रय लिया। इसी प्रकार भामह ने स्वयं

बौद्ध होने पर भी ब्राह्मण परम्परा का अनुसरण किया होगा। किन्तु यह सादृश्य विचार करने पर उचित नहीं प्रतीत होता। हेमचन्द्र ने अपने धर्म के विषय में कोई सन्देह नहीं छोड़ा और अपने मंगलाचरण में जैनधर्म के संस्थापक को नमस्कार किया है—'सर्वभाषापरिणतां जैनीं वाचमुपास्महे। संभवतया भामह उस समय हुए जब बुद्ध को अवतार माना जा चुका था। परिणामस्वरूप उन्होंने अपने मंगलाचरण में श्लोक द्वारा बुद्ध और शिव दोनों को नमस्कार किया है। संभवतया वे हिन्दू थे और संस्कृत साहित्य की समस्त प्राचीन शाखाओं में पारंगत थे। साथ ही बुद्ध के उदात्त जीवन के प्रति आदर रखते थे। इसीलिये द्व्यर्थक मंगलाचरण किया है। सम्भवतया उन्होंने बौद्ध तर्क का भी अध्ययन किया था जिसे ५ वीं से लेकर आठवीं शताब्दी तक बहुत महत्त्व प्राप्त था। भाग ४, ४९ वें श्लोक में उन्होंने आगमविरोधी वर्णन का उदाहरण दिया है—'भूभृतां पीतसोमानां न्याय्ये वर्त्मनि तिष्ठताम्'। सोम-पान का अधिकार केवल ब्राह्मणों को है। यदि वह अधिकार किसी राजा को दे दिया जाता है और यह वर्णन किया जाता है कि वह सारा सोम पीकर मदमत्त रहता था तो यह वेद और धर्मशास्त्र के विरुद्ध है। इससे प्रतीत होता है कि भामह प्राचीन वैदिक प्ररम्परा के विद्वान् थे। उनके द्वारा प्रस्तुत अधिकतर उदाहरणों में ब्राह्मण परम्परा के देवता तथा वीर-पुरुषों का वर्णन है। रामायण तथा महाभारत के पात्रों एवं घटनाओं का बाहुल्येन उल्लेख है। उदाहरणस्वरूप ३.७ (कर्ण, पार्थ, शल्य), ३.११ 'उदात्तं शक्तिमान् रामो गुरुवाक्यानुरोधकः। विहायोपवनं राज्यं यथावनमुपागमत्।' ३.५ ('अद्य या मम गोविन्द' इत्यादि)। २ ४१ (यदुप्रवीर तथा शार्ङ्ग), २.५५ (युगादौ भगवान् ब्रह्मा विनिर्मित्सुरिव प्रजाः), ३.२४ (शम्भु तथा कुसुमायुध), ३.३२ (रामः सप्ताभिनत् तालान् गिरिं क्रौञ्चं भृगूत्तमः), ४.२१ (रथाङ्गशूले बिभ्राणौ पातां वः शम्भुशार्ङ्गिणौ), ५.३९ (भीम और उनका रुधिरपान), ५.४१—४३ (दुर्योधन, युधिष्ठिर तथा भीष्म की प्रतिज्ञायें), ५.४४ (परशुराम और राम का मिलन), ५.३७ (हनुमान और सीता). भामह एक प्रकार से मध्यस्थ वृत्ति के व्यक्ति थे। चतुर्थ परिच्छेद के अन्त में काव्य-दोषों की गणना के पश्चात् उनका कथन है—न दूषणायायमुदाहृतो विधिर्न चाभिमानेन किमु प्रतीयते। कृतात्मनां तत्त्वदृशां च मादृशो जनोभिसंधि क इवावभोत्स्यते (४.५०)। किन्तु कभी-कभी वे उग्र बन जाते हैं और मार्मिक उपहास भी करने लगते हैं (देखो १.३१., ४.४५)। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की सहायता ली है। उनमें से मेधावी का नामोल्लेख भी किया है। उनके समक्ष आलोचना सम्बन्धी जो सामग्री थी उनका भी संक्षिप्त विवरण

दिया है और कहा है—अलंकारों का विवेचन करने के लिये मैंने अनेक ग्रन्थों का परिशीलन किया है और उन पर स्वयं विचार किया है। 'समासेनोदितमिदं धीखेदायैव विस्तर:। असंगृहीतमप्यन्यदभ्यूह्यमनया दिशा ॥' (२.९५) और 'इति निगदितास्तास्ता वाचामलंकृतयो मया बहुविधिकृतोर्दृष्टवान्येषां स्वयं परितर्क्य च' (श्लोक सं० ६९)। देखो १.१३–१५ रूपकादिरलङ्कारस्तस्यान्यैर्बहुधोदित: । रूपकादिमलङ्कारं बाह्यमाचक्षते परे।' उपरोक्त उद्धरणों से प्रतीत होता है कि भामह से पूर्व अनेक ख्यातिप्राप्त आलङ्कारिक हो चुके थे और उनमें मेधावी भी थे जिनका नामोल्लेख भामह ने स्वयं किया है। सम्भवतया भामह ने मेधावी के पाँच श्लोक उद्धृत किये हैं जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है। द्वितीय परिच्छेद के निम्नलिखित अन्तिम श्लोक को विद्वानों ने बहुत महत्त्व दिया है—'स्वयंकृतैरेव निदर्शनैरियं मया प्रक्लृप्ता खलु वागलंकृति:।' (पृ० ९६)। 'इयं वागलंकृति:' का क्या अर्थ है ? यदि इस उद्धरण का संकेत समस्त काव्यालङ्कार की ओर है (जिस पर 'एवं' शब्द के कारण बहुत बल दिया जाता है) तो इस वक्तव्य को मर्यादित करना आवश्यक है। ग्रन्थ में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जो निश्चित रूपेण अन्य ग्रंथों से उद्धृत हैं। डा० स्व० ४.८ 'दाडिमानि दशापूपा: षडित्यादि यथोदितम्; १.४१ 'हिमापहामित्रधरैर्व्याप्तं व्योमेत्यावाचकम्।' अत: यह नहीं कहा जा सकता कि पुस्तक का प्रत्येक उदाहरण भामह की अपनी रचना है। यदि यह उल्लेख केवल अलङ्कारों के उदाहरणों से ही सम्बन्ध रखता है ऐसा कहा जाय तो उपरोक्त श्लोक तृतीय परिच्छेद के अन्त में आना चाहिये था। इतना ही नहीं, दूसरे परिच्छेद में भी अनेक श्लोक अन्य लेखकों के हैं। लेखक ने उन का नामोल्लेख भी किया है। किन्तु उपरोक्त श्लोक 'स्वयंकृते'···इत्यादि में ऐसा कोई विशेषण नहीं लगाया गया जिससे उपरोक्त उद्धृत श्लोकों का परिवर्जन हो सके। सम्भवतया शताब्दियाँ बीतने पर बहुत से लेखकों के नाम लुप्त हो गये। काव्यालंकार की हस्तलिखित प्रतियाँ उस विशाल संख्या में उपलब्ध नहीं हैं जिससे भामह के मूल पाठ का ठीक-ठीक निर्णय किया जा सके। उदाहरण के रूप में लोचन (पृ० ८७) का कथन है—"भामहेन हि गुरुदेवनृपतिपुत्रविषयप्रीतिवर्णनं प्रेयोलङ्कार इत्युक्तम्'। किन्तु भामह ने 'प्रेम:' की व्याख्या कहीं नहीं की और केवल एक उदाहरण दिया है (३.५) जिसमें देव का उल्लेख है। राघव भट्ट ने अभिज्ञानशाकुन्तल (१.२) पर अपनी अर्थद्योतनिका नामक टीका में सर्वप्रथम भामह द्वारा प्रस्तुत पर्यायोक्त (३.८) का लक्षण उद्धृत किया है और साथ ही 'यं प्रेक्ष्य' इत्यादि उदाहरण दिया है। उसने बताया है कि भामह ने यह

श्लोक 'हयग्रीववध' से लिया है। मुद्रित ग्रन्थ में यह श्लोक नहीं मिलता। मम्मट ने इसे पर्यायोक्त के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है। सम्भव है राघवभट्ट मम्मट के स्थान पर भामह का नाम लिख गये हों। अभिज्ञानशाकुन्तल कृष्णसार की व्याख्या में राघवभट्ट ने कहा है—'नोपमानं तिङन्तेन' इति भामहोक्तेः। किन्तु ये शब्द काव्यादर्श २.२२७ में हैं, भामह में नहीं मिलते तथा पाणिनि सूत्र ३.१.७ के महाभाष्य से लिये गये हैं। यं प्रेक्ष्य इत्यादि श्लोक को उद्भटविवेक (पृ०४४) ने उद्धृत किया है किन्तु कोई नाम नहीं दिया। इस पर कोई टीका भी अभी तक उपलब्ध नहीं हुई। अब तक एक ही टीका का पता चला है जिसका नाम है भामहविवरण अथवा भामहवृत्ति किन्तु वह भी प्राप्त नहीं है। अतः 'स्वयं-कृतैरेव' इत्यादि शब्दों पर अधिक बल नहीं दिया जा सकता। सम्भव है अधिक-तर श्लोक उनकी अपनी रचना हों और स्वयंकृतैरेव शब्दों का प्रयोग छत्रिन्याय अनुसार किया हो।

ध्वन्यालोक ने पृ० ४६ (पर्यायोक्त के सम्बन्ध में) तथा पृ० २५९ (सैषा इत्यादि श्लोक के विषय में २.८५) दो स्थानों पर भामह का स्पष्ट उल्लेख किया है। देखो वामन विषयक चर्चा।

भामह ने निम्नलिखित ग्रन्थकारों एवं ग्रन्थों का उल्लेख किया है—राम-शर्मा का अच्युतोत्तर (२.१९ तथा ५८), अश्मकवंश (१.३३), कणभक्ष (५.१७), न्यास (६.३६), पाणिनी (जिनका उल्लेख सालातुरीय के नाम से भी हुआ है, ६.६२–६३), मेधाविन रत्नाहरण (३.८), राजमित्र (२.४५, ३.१०), शाखवर्धन (२.४७)। इनमें से पाँच अर्थात् अच्युतोत्तर, अश्मकवंश, रत्नाहरण, राजमित्र तथा शाखवर्धन ऐसे हैं जिनका उल्लेख अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। भामह ने अश्मकवंश से कोई उद्धरण नहीं लिया। यह संदिग्ध है कि रत्नाहरण किसी ग्रन्थ का नाम है। (उवाच रत्नाहरणे चैद्यं शार्ंगधनुर्यथा। गृहेष्वध्वसु वा नान्नं भुञ्जमहे यदधीतिनः। न भुञ्जते द्विजास्तच्च रसदान-निवृत्तये ॥) शाखवर्धन तथा रामशर्मा के उदाहरण केवल दोषों का प्रदर्शन करने के लिये दिये हैं। उन्हें नमिसाधु ने रुद्रट ११.२४ पर मेधावी से उद्धृत किया है तथा काव्यप्रकाश में कोई नाम नहीं दिया गया। क्योंकि ये लेखक तथा ग्रन्थ ऐसे माने जाते हैं जिनका उल्लेख अन्यत्र कहीं नहीं है। अतः कुछ लोगों का मत है कि भामह अत्यंत प्राचीन हैं। (देखो नोबेल, 'फाउण्डेसंस ऑफ इन्डियन पोइटिक्स पृ० १५)। किन्तु यह बात नहीं है। कुछ वर्ष पहिले भामह का ग्रन्थ भी उपलब्ध नहीं था। यह नहीं कहा जा सकता कि भविष्य में क्या-

क्या प्रकट होगा। अतः इस समय उपलब्ध अत्यल्प सामग्री के आधार पर कोई सिद्धान्त स्थापित नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि भामह ने जब उदाहरण प्रस्तुत करने के लिये स्वयं ही श्लोकों की रचना की है तो अन्य लेखकों को उद्धृत करने की अधिक गुंजाइश नहीं थी। जिन ग्रन्थों अथवा लेखकों को बिना नाम के उद्धृत किया है वे निम्नलिखित हैं—भरत (१.२४ 'उक्तं तदभिनेयार्थमुक्तोऽन्यैस्तस्य विस्तरः), महाभाष्य पतञ्जलि (६.३१)। इसी प्रकार के शब्द काव्यादर्श में भी मिलते हैं—काव्या० १.३१ 'मिश्राणि नाटकादीनि तेषामन्यत्र विस्तरः;' ४.२२ सूत्रकृत् (पाणिनि), पदकार (कात्यायन तथा इष्टप्रयोग (महाभाष्य)। अन्य जिन लेखकों के विषय में उद्धरण अथवा) उल्लेख की सम्भावना की जाती है उनके सम्बन्ध में निम्नलिखित भामह का तिथि-निर्णय देखना चाहिये। भामह ने वत्सेश (४.३९) तथा नरवाहनदत्त (४.४९) का उल्लेख किया है। दोनों बृहत्कथा के पात्र हैं। भामह ने प्रायः अन्य आलंकारिकों के उद्धरण अपरे, अन्ये, केषांचित् (२.६, ८, ८७; ३.१२, ५४) आदि शब्दों के साथ दिये हैं। व्याकरण तथा अन्य शास्त्रों पर भी इसी प्रकार अन्य लेखकों को उद्धृत किया है (४.६; ५.६, ११, ६०)। उन्होंने पाणिनीय शास्त्र को बहुत आदर दिया है—'श्रद्धेयं जगति मतं हि पाणिनीयं (६.६३)। षष्ठ परिच्छेद के प्रारम्भ में व्याकरण पर सुन्दर रूपक है—'सूत्राम्भसं पदावर्तपारायणरसातलम्। धातूणादिगणग्राहं ध्यानग्रहबृहत्प्लवम्॥ नापारयित्वा दुर्गाधममुं व्याकरणार्णवम्। शब्दरत्नं स्वयंगममलङ्कर्तुमयं जनः॥··· उन्होंने दण्डनीति (४.३८) तथा स्फोटवाद (शपथैरपि चादेयं वचो न स्फोटवादिनाम्। नभाकुसुममस्तीति श्रद्दध्यात्कः सचेतनः,' ६.१२) का भी उल्लेख किया है। अध्याय चार, श्लोक ७ 'पर 'गुरुभिः किं विवादेन' पाठ है। कहा नहीं जा सकता कि गुरु शब्द से उन्होंने किसका उल्लेख किया है। उनके श्लोक कोमल एवं परिष्कृत हैं। उनमें से लगभग सौ लोचन तथा उत्तरवर्ती लेखकों ने उद्धृत किये हैं।

कामधेनु (वाणीविलास सं०) ने भामह के अनेक श्लोक उद्धृत किये हैं। उनमें सूत्र एवं वृत्ति के लक्षण तथा काव्यशास्त्र सम्बन्धी अन्य विषयों का वर्णन है। किन्तु वे काव्यालङ्कार में नहीं मिलते। वृत्तरत्नाकर के टीकाकार नारायण ने भामह के कई लम्बे पाठ (पृ० ५–६) उद्धृत किये हैं। इसका अर्थ है उन्होंने छन्दशास्त्र पर भी ग्रन्थ रचना की होगी। राघवभट्ट ने अभिज्ञानशाकुन्तल १.१ पर अपनी टीका में भामह का निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—'क्षेमं

सर्वगुरुर्दत्ते मगणो भूमिदैवतः—इति भामहोक्तेः।' यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वररुचि के टीकाकार भामह और प्रस्तुत आलङ्कारिक भामह एक ही थे। पिशेल ने अपने प्राकृत व्याकरण (पृ० ३५) में तथा प्रो० पाठक ने कविराजमार्ग की प्रस्तावना (पृ० १६) में दोनों को एक ही बताया है। हेमचन्द्र कृत देशीनाममाला (सम्पा० पी० रामानुजस्वामी, १९३८ सं०) में ८.३९ पर भामह को नीचे लिखे अनुसार उद्धृत किया गया है 'अत्र सुगिम्हओ फाल्गुनोत्सव इति सुग्रीष्मकशब्दभवः। दृश्यते चायं संस्कृते। यद्भामहः। सुग्रीष्मकेन दृष्ट इति।' यह बताना कठिन है कि प्रस्तुत उद्धरण भामह के किस ग्रंथ का है। यह आर्या का एक पाद है।

गोपाल ने काव्यप्रकाश पर साहित्यचूडामणि नामक अपनी टीका (त्रि० सं० पृ० २) में कहा है—'उद्भटेनापि नम्रेण नायकेनोपलालितः। हृद्यो भाम इव स्त्रीणामल्पारम्भोपि भामहः। यह सुविदित है कि उद्भट ने भामह विवरण लिखा। किन्तु यह बताना कठिन है कि भट्टनायक का भामह के साथ क्या सम्बन्ध रहा है।

भामह के तिथि-निर्णय की चर्चा प्रारम्भ करने से पहले भूमिका के रूप में काव्यादर्श पर कुछ लिखना आवश्यक है। श्री बटुकनाथ शर्मा ने अपनी काव्यालङ्कार की प्रस्तावना (पृ० ५४) में भामह को ४००–६०० ई० के मध्य रखा है। उनके द्वारा प्रस्तुत प्रधान युक्तियों की चर्चा आगे की जायगी।

(९) **दण्डी का काव्यादर्श**—काव्यादर्श भारत तथा यूरोप में अनेक बार मुद्रित हुआ है—कलकत्ता से १८६३ ई० में प्रेमचन्द्र तर्कवागीश की टीका के साथ प्रकाशित हुआ; १८९० ई० में बोथलिंक द्वारा जर्मन अनुवाद के साथ; १९१० ई० में दो टीकाओं के साथ प्रो० रङ्गाचार्य द्वारा मद्रास में; १९३८ ई० में श्री बेलवेलकर रंगाचार्य शास्त्री तथा स्वरचित टीका के साथ रंगाचार्य रेड्डि द्वारा (भा० ओ० रि० इ० से)। पुस्तक में तीन परिच्छेद हैं। रङ्गाचार्य के संस्करण में चार परिच्छेद हैं। इसमें अन्य संस्करणों का तृतीय परिच्छेद दो परिच्छेदों में विभक्त है। मद्रास सं० का चतुर्थ परिच्छेद दोष-चर्चा से प्रारम्भ होता है। कलकत्ता तथा रेड्डी के सं० में कुल मिलाकर ६६० श्लोक हैं यद्यपि मद्रास सं० में ६६३ हैं। (द्वितीय परिच्छेद का लिम्पतीव तमो···इत्यादि प्रसिद्ध श्लोक छोड़ दिया गया है। दो तृतीय परिच्छेद के अंत में, एक चतुर्थ के आदि में तथा एक मध्य में जोड़ दिये गये हैं, उ० स्वरूप—'आधिव्याधिपरीताय अद्य श्वो वा

विनाशिने । को हि नाम शरीराय धर्मपितं समाचरेत् ।।' ३.१६० कलकत्ता सं० के पश्चात्) प्रस्तुत चर्चा में रङ्गाचार्य का संस्करण उद्धृत है।

प्रथम परिच्छेद में काव्य का लक्षण तथा उसका गद्य, पद्य एवं मिश्र तीन रूपों में विभाजन किया गया है। साथ ही सर्गबंध के लक्षण दिये गये हैं तथा गद्य के दो रूप आख्यायिका तथा कथा का निरूपण किया गया है। उसमें उन्होंने बताया है कि वस्तुतः इन दोनों में कोई भेद नहीं है। साहित्य को संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा मिश्र में विभाजित किया है। वैदर्भी तथा गौड़ी शैली की चर्चा की है और दश गुणों का भी वर्णन है। अनुप्रास के लक्षण तथा उदाहरण दिये हैं। कवि के तीन आवश्यक गुण-प्रतिभा, श्रुति तथा अभियोग की भी चर्चा है। द्वितीय परिच्छेद में अलङ्कार शब्द की व्याख्या दी है। उसमें ३५ अलंकार गिनाये हैं तथा उनके उदाहरण भी दिये हैं। निम्नलिखित अलंकारों का क्रमशः वर्णन है—स्वभावोक्ति, उपमा, रूपक, दीपक, आवृत्ति, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्पेक्षा, हेतु, सूक्ष्म, लेश (अथवा लव), यथासंख्य (अथवा क्रम), प्रेयः, रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, अपह्नुति, श्लेष, विशेषोक्ति, तुल्ययोगिता, विरोध, अप्रस्तुतप्रशंसा व्याजोक्ति, निदर्शना, सहोक्ति, परिवृत्ति, आशीः, संकीर्ण तथा भाविक। तृतीय परिच्छेद में यमक का विशद वर्णन है। गोमूत्रिका, अर्धभ्रम, सर्वतोभद्र, स्वरस्थानवर्णनियम आदि चित्रबन्धों के लक्षण तथा उदाहरण दिये हैं। साथ ही १६ प्रकार के प्रहेलिकाओं तथा दस प्रकार के दोषों का वर्णन है।

दण्डी का काव्यादर्श अंशतः रीति-सम्प्रदाय का समर्थक है और अंशतः अलंकार सम्प्रदाय का उसमें गुण और अलंकार दोनों का विस्तृत वर्णन है। अतः उसे किसी भी एक सम्प्रदाय में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। उनके भी वैयक्तिक जीवन के विषय में विशेष विदित नहीं है। केवल अवन्तिसुन्दरी-कथा ही, यदि उसे दण्डी की कृति माना जाय, तो कुछ सामग्री प्रस्तुत करती है। इसका प्रकाशन १९२४ ई० में दक्षिणभारती ग्रन्थमाला में कवि महोदय ने किया है। ग्रंथ अनेक स्थानों पर त्रुटित है। जिसकी चर्चा आगे की जायगी। अवन्तिसुन्दरी-कथा में प्रस्तुत वर्णन के अतिरिक्त भी यह प्रतीत होता है कि वे दक्षिण अथवा नर्मदा के दक्षिण भाग के निवासी थे। उदाहरणों में नीचे लिखे स्थानों का पुनः-पुनः निर्देश है—मलयानिल (२.१७४, ३.१६५), कावेरी (३.१६६), काञ्ची (३.११४; नाम न होने पर भी संकेत है), चोल

(३.१६६); कलिङ्ग (३.१६५), अवन्ती (२.२८०; वासवदत्ता का नाम)। पुस्तक में अनेक स्थानों पर 'पश्य' शब्द का प्रयोग है। उ०—

"आदिराजयशोविम्बमादर्शं प्राप्य वाङ्मयम्।
तेषामसन्निधानेऽपि न स्वयं पश्य नश्यति॥"

१.५

"भगवन्तौ जगन्नेत्रे सूर्याचन्द्रमसावपि।
पश्य गच्छत एवास्तं नियतिः केन लङ्घ्यते॥"

२. १७२।

अतः अनुमान किया जाता है कि दण्डी ने इसकी रचना किसी सुखार्थी राजकुमार के लिये की थी। किन्तु प्रतीत होता है कि इसका प्रयोग केवल अनुप्रास के लिये है (पश्य नश्यति)। डा० बेलवेलकर ने अलङ्कार-सूची (२, ४–७) के प्रक्षिप्त होने का संदेह किया है। संदेह का कारण है छन्दोभङ्ग दूर करने के लिये वत्ती के स्थान पर दीपकावृती तथा लेश के स्थान पर लव एवं प्रशंसा तथा विशेषोक्ति के लिये अप्रस्तुत-स्तोत्र तथा विशेष जोकि विचित्र सा प्रतीत होता है। यद्यपि उपरोक्त दोष संदेहोत्पादक हैं फिर भी इतने मात्र से कारिकाओं को प्रक्षिप्त मानना उचित नहीं है। प्राचीन ग्रन्थों में अलंकारों की चर्चा से पहले इस प्रकार की सूची सर्वत्र है। भामह, उद्भट तथा रुद्रट ने भी इसे दिया है। यद्यपि सब अलंकारों को एक स्थान पर नहीं दिया)। अलंकारों के लिये पर्याय शब्दों का प्रयोग कोई असाधारण बात नहीं है। उद्भट का कथन है— 'काव्यदृष्टान्तहेतु चेत्यलंकारान्परे विदुः' (६.१)। इसमें अलंकारों के नाम काव्यहेतु तथा काव्य-दृष्टान्त दिये हैं। किंतु लक्षण देते समय उन्होंने प्रचलित नामों का प्रयोग किया है अर्थात् काव्यहेतु के स्थान पर काव्यलिङ्ग और काव्य-दृष्टांत के स्थान पर केवल दृष्टान्त। इसी प्रकार लेश के स्थान पर लव, प्रशंसा के स्थान पर स्तोत्र तथा विशेषोक्ति के स्थान पर विशेष का प्रयोग सम्भव है।

काव्यादर्श की शैली सरल एवं सारगर्भित है। जहाँ तक कवित्व का प्रश्न है भामह की तुलना में दण्डी का स्थान ऊँचा है। किंतु विशद एवं तर्क-संगत विवेचन में भामह दण्डी से आगे बढ़े हुए हैं। दंडी के उदाहरण मौलिक हैं तथा दो-तीन स्थानों को छोड़कर, जिनकी चर्चा आगे की जायगी, उन्होंने कहीं से उद्धृत नहीं किया।

काव्यादर्श में नीचे लिखे ग्रंथों का उल्लेख है—छन्दोविचिति (१, १२), वृहत्कथा (१, ३८, भूतभाषामयीं प्राहुरद्‌भुतार्थां वृहत्कथाम्), सेतुबन्ध (१.३४ 'महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः। सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम्)[1]। वृहत्कथा का निर्देश निम्नलिखित है—'कथा हि सर्वभाषाभिः

---

1. डा० मनोमोहन घोष का मत है कि १००० ई० से पूर्व महाराष्ट्री नाम की कोई प्राकृत नहीं थी। अतः 'दण्डी ने महाराष्ट्री की जो प्रशंसा की है वह केवल प्रान्तीयता मूलक अतिशयोक्ति है (देखो पृ० ६७, ७५–७६ कर्पूरमञ्जरी पर प्रस्तावना, १९४८)। महाराष्ट्री और शौरसेनी के परस्पर सम्बन्ध की चर्चा यहाँ अप्रासंगिक है। किन्तु दण्डी के विषय में द्वितीय आक्षेप अर्थात् "यह केवल प्रान्तीयता है" की चर्चा आवश्यक है। डा० घोष की इस बात को कोई स्वीकार नहीं कर सकता कि दण्डी को प्राकृतों का ज्ञान नहीं था। उन्होंने महाराष्ट्री, शौरसेनी, गौडी तथा लाटी का विभिन्न प्राकृतों के रूप में उल्लेख किया है। दण्डी सरीखे प्रतिभाशाली विद्वान् के लिये यह कहना अनुचित है कि उन्हें महाराष्ट्री एवं शौरसेनी में परस्पर भेद का ज्ञान नहीं था। प्रान्तीयता और उसके नाम पर मिथ्या प्रचार केवल पिछले दो सौ वर्षों की परम्परा है। यदि अवन्तिसुन्दरीकथा तथा उसके सार को प्रमाण माना जाय तो कहना होगा कि दण्डी-परिवार आनन्दपुर, उत्तर-पश्चिमी आर्यदेश (वर्त्तमान उत्तर गुजरात), से प्रस्थान करके अचलपुर नासिक्यभूमि में आया तथा दण्डी के प्रपितामह ने काञ्ची में आकर भूमि प्राप्त की। उन्हें लेकर चार पीढ़ियों ने, जिनमें दण्डी भी सम्मिलित हैं, काञ्ची में निवास किया। इस स्थिति में दण्डी की प्रान्तीयता का लक्ष्य किस भूमि को कहा जायगा, आनन्दपुर, अचलपुर अथवा काञ्ची? ऐसा कोई आधार नहीं है जिससे यह कहा जा सके कि किसी दिन महाराष्ट्र का विस्तार काञ्ची अथवा आनन्दपुर तक था। साधारणतया यह माना जा सकता है कि उसकी भक्ति उसी प्रदेश के प्रति रही होगी जहाँ उन्होंने अपनी चार पीढ़ियाँ बिताई हैं। नासिक्यभूमि केवल मध्यवर्ती स्थान है जहाँ वे तीन पीढ़ियाँ पहले आये थे। उसे जीवित स्नेह का केन्द्र नहीं माना जा सकता। अतः प्रान्तीयता मूलक अतिशयोक्ति का सिद्धान्त केवल कपोल-कल्पना है। यदि किसी के सिद्धान्त अथवा वर्त्तमान ज्ञान का समर्थन तथ्यों द्वारा नहीं होता तो उस सिद्धान्त को छोड़ देना चाहिये और अधिक ज्ञान की प्रतीक्षा करनी चाहिये।

संस्कृतेन च वध्यते । भूतभाषामयीं प्राहुरद्भुतार्थां वृहत्कथाम् ॥' इसका अर्थ है कि कथा की रचना संस्कृत तथा प्राकृत सभी भाषाओं में हो सकती है। कहा है कि वृहत्कथा में अद्भुत सामग्री है (कथाएँ) और इसकी रचना भूतभाषा, (पैशाची) में हुई है। उत्तरार्द्ध में 'सर्वभाषाभि:' का उदाहरण है। नोवेल 'फाउण्डेसंस आफ इण्डियन पोइट्री', पृ० १३६ का मत है कि यह साक्षात् भामह १.२८ का निर्देश है। (न वक्त्रापरवक्त्राभ्यां युक्ता नोच्छ्वासवत्यपि । संस्कृतं संस्कृता चेष्टा कथापभ्रंशभाक् तथा)। किन्तु उनका कथन युक्तिसंगत नहीं है। इसी प्रकार का तर्क विपरीत निर्णय के लिये भी उपस्थित किया जा सकता है और कहा जा सकता है कि भामह ने दण्डी का निर्देश किया है। अपि च भामह का श्लोक स्पष्ट नहीं है। 'संस्कृतं' से क्या अपेक्षित है? उत्तरार्द्ध का अर्थ कि कथा संस्कृत में होनी चाहिये। किन्तु अपवादरूपेण अपभ्रंश में भी हो सकती है। भामह ने स्वयं कहा है (१, १६) कि काव्य के गद्य और पद्य दोनों रूप हो सकते हैं और वह संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश में रचा जा सकता है। दण्डी ने एक कलापरिच्छेद का उल्लेख किया है जिसे सम्भवतया काव्यादर्श के भाग के रूप में उन्होंने लिखने का निश्चय किया था। 'इत्थं कलाचतुष्षष्टि-विरोध; साधु नीयताम् । तस्याः कलापरिच्छेदे रूपमाविर्भविष्यति ।' (३.१७१)[1] कुछ समय पहिले विद्वानों की धारणा थी कि छन्दोविचिति

1. देखो इ० हि० क्वा०, भाग २४, पृ० ११८–१२२ में प्रो० एस० एल० कात्रे का लेख। उन्होंने मालतीमाधव की जगद्धर-कृत टीका से बहुत से उद्धरण एकत्रित किये हैं जोकि उपलब्ध काव्यादर्श में नहीं हैं। कामसूत्र, १.३.१६ में जहाँ ६४ कलाओं का निरूपण है, जयमङ्गला ने दुर्वचकयोग (जोकि ३० वीं कला है) का उदाहरण देते हुए काव्यादर्श का निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—'दंष्ट्राग्रद्धयां प्राग्योद्राक्क्ष्मामम्ब्वन्त:स्थामुच्चिक्षेप । देवध्रुट्क्षिद्ध्यृरिवक्-स्तुत्यो युष्मान् सोऽव्यात्सर्पात्केतु: ।" यहाँ सर्पात् का अर्थ है गरुड तथा सर्पात्केतु; का अर्थ है विष्णु। देवद्रुह का अर्थ है असुर तथा देवध्रुट्क्षित् का अर्थ है असुर-विनाशक। काव्यसमस्यापूरक नामक ३३ वीं कला का उल्लेख करते हुए जयमङ्गला ने काव्यादर्श से एक श्लोक का पाद उद्धृत किया है—'आश्वासं जनयति राजमुख्यमध्ये' जो समस्यापूर्ति के लिये निर्दिष्ट है तथा शेष तीन पादों की पूर्ति की है। इससे प्रतीत होता है कि जयमङ्गला के समक्ष जो काव्यादर्श था उसमें कलाओं का निरूपण भी था जोकि ग्रन्थ का एक परिच्छेद रहा होगा। श्री कात्रे ने आ० इ० ओरि० का० के पन्द्रहवें अधिवेशन में जयमङ्गला द्वारा प्रस्तुत काव्यादर्श के इन उद्धरणों की चर्चा की है।

दण्डी की अपनी रचना है। मैंने अपने लेख (इ० एण्टि० १९११, पृ० १७७) में चर्चा की है कि छंदोविचिति छन्द-विद्या का नाम है जहाँ विशेषरूपेण वैदिक छन्दों का निरूपण है और जिसके निर्माता पिङ्गलनाग माने गये हैं। जैमिनी सूत्र की टीका शाबरभाष्य (१, १.५ पृ० ५४ आनंदाश्रम) में भी उल्लेख है। छन्दोविचिति शब्द कौटिल्य अर्थशास्त्र (१.३.१) तथा आपस्तम्भधर्मसूत्र (२. ४.८.११) में भी आता है। ब्रुलेटिन आफ लंडन सोसाइटी आफ ओरि० एन्ड अफ्रि० स्टडीज भाग २२, खण्ड १, पृ० १९२ में छन्दोविचिति नामक ग्रन्थ के मूल संस्करण का पर्यालोचन किया गया है। जुर संस्कृत मेट्रिक, सम्पादक डा० सेलिङ्लौफ। यह संस्करण तुर्फान, मध्य-एशिया में उपलब्ध एकमात्र प्रति के आधार पर किया गया है। किंतु मुझे अभी तक कोई प्रति उपलब्ध नहीं हुई। यह भी उल्लेखनीय है कि भरत नाट्यशास्त्र के १४–१५ अध्यायों में (काव्यमाला संस्करण=१५--१६ चौखम्बा सं०) अनेक छंदों की चर्चा है। उसके १५ वें अध्याय की पुष्पिका (गा० ओ० सी०) में निम्नलिखित श्लोक है—'इति भारतीय—नाट्यशास्त्रे छंदोविचितिर्नामाध्यायः पञ्चदशः।' नीचे लिखे ग्रंथ एवं लेखकों के उद्धरणों पर नाम नहीं है। पतञ्जलि का भाष्य निम्न प्रकार से उद्धृत है--आप्तभाषित 'नोपमानं तिङंतेनेत्यति-क्रम्याप्तभाषितम्' (काव्या. २. २२७)। भरत का नाट्यशास्त्र आगमान्तर शब्द द्वारा उद्धृत है—'यच्च संध्यंगवृत्त्यंगलक्षणाद्यागमांतरे। व्यावर्णितमिदं चेष्टमलङ्कारतयैव नः (२. ३६७)। संध्यंग, वृत्त्यंग तथा लक्षण के लिये देखो १७, २१, २२ परिच्छेद (चौख० सं०)। अन्यत्र दण्डी ने भामह का अनुकरण किया है (१.२४ जिसका उद्धरण ऊपर दिया जा चुका है) 'मिश्राणि नाटकादीनि तेषामन्यत्र विस्तरः (१.३१)। उन्होंने प्राचीन आचार्यों एवं विद्वानों का उल्लेख सामान्यवाचक शब्दों में किया है—'पूर्वशास्त्राणि संहृत्य (१.२; ग्रंथकारों के लिये इस प्रकार का उल्लेख सार्वजनीन है; तुलना 'समाहृत्यान्य-तन्त्राणि' अमर०); 'सूरयः' का उल्लेख १.९ (पूर्वाचार्यों ने काव्य के शरीर तथा अलङ्कारों की चर्चा की है) तथा २.७ पर हुआ है (इति वाचामलङ्कारा दर्शिताः पूर्वसूरिभिः); 'किंतु बीजं विकल्पानां पूर्वाचार्यैः प्रदर्शितम्', २.२. तथा ३.१०६ पर 'एताः षोडश निर्दिष्टाः पूर्वाचार्यैः प्रहेलिकाः।' काव्यशास्त्र पर अन्य लेखकों के मत केषांचित् कैश्चित् (२.२२७; १.७९) तथा एके (२ २६८ लेश का लक्षण देते समय) शब्दों द्वारा उद्धृत किये हैं। आधा श्लोक लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः (२.२२६) उद्धृत करके उस पर विस्तृत विवेचन किया है। और यह बताया है कि प्रस्तुत श्लोक में तीन बार 'इव' शब्द का

प्रयोग देखकर अनेक विद्वानों ने इसे उपमा का उदाहरण माना है। किन्तु उनकी मान्यता भ्रान्त है। प्रस्तुत श्लोक वास्तव में उत्प्रेक्षा का उदाहरण है। यह दण्डी के समय भी उपलब्ध था। इसके पूर्वार्द्ध में दो 'इव' हैं। उद्भट के टीकाकार प्रतीहारेन्दुराज ने (पृ० २६) इस चर्चा का विशेषरूपेण उल्लेख किया है। यह श्लोक मृच्छकटिक एवं चारुदत्त १.१९ तथा बालचरित १.१५ नामक नाटकों में उपलब्ध है। म० महो० गणपतिशास्त्री ने अन्तिम दो नाटकों को भासकृत माना है। दण्डी ने कापिल (३.१७५), सुगत (३.१७४) तथा न्याय अथवा हेतुविद्या (३.१७३) का उल्लेख किया है।

शार्ङ्गधरपद्धति (सं० १७४) तथा जह्लणकृत सूक्तिमुक्तावली (पृ० ४५, सं० ७४) में निम्नलिखित श्लोक है—'त्रयोऽग्नयस्त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयो गुणाः। त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः।' इससे प्रतीत होता है कि दण्डी ने तीन ग्रंथों की रचना की थी। इन तीन ग्रंथों का निर्णय करने के लिये अनेक विद्वानों ने कठोर बुद्धि-व्यायाम किया है। श्लोक का इतना ही अर्थ है कि दण्डी के तीन ग्रंथ सर्वविदित हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि उनकी तीन ही रचनायें हैं। पिशेल ने लिम्पतीव···इत्यादि श्लोक का अभिप्राय न समझने के कारण क्लिष्ट कल्पना की है कि मृच्छकटिक दण्डी की रचना है और उसके साथ काव्यादर्श एवं दशकुमारचरित को मिला देने पर तीन संख्या पूरी हो जाती हैं। किन्तु अब इस श्लोक वाले दो अन्य ग्रंथ उपलब्ध हो चुके हैं। यदि पिशेल की युक्ति को माना जाय तो उन ग्रंथों को भी दण्डी की रचना मानना होगा। पिटर्सन (दशकुमारचरित प्रस्तावना पृ० ५) तथा डा० जैकोबी (इण्डि० स्टडी०, भाग १७ में) आदि विद्वानों ने दण्डी की तीसरी रचना छन्दोविचिति को माना है। किन्तु यह धारणा भी भ्रमपूर्ण है। (देखो इण्डि० एण्टि० भाग ४०, (१९११), पृ० १७७–७८; छन्दोविचिति पर मेरा लेख)। आप० ध० सू० २.३.७., १४–१५ 'षडङ्गो वेदः। छन्दःकल्पो व्याकरणं ज्योतिषं निरुक्तं शिक्षा छंदोविचितिरिति; वासवदत्ता में सुबंधु पर 'छंदोविचितिमिव भ्राजमान-तनुमध्याम्, पृ० २३५ (हाल सं०) है। छंदःकल्प एक शब्द है और उसका अथ है कल्पसूत्र। तनुमध्या छंद का नाम है। कुछ विद्वानों ने 'कलापरिच्छेद' को तीसरा ग्रंथ बताया है। किंतु प्रतीत होता है कि कलापरिच्छेद काव्यादर्श का एक अंश था, स्वतंत्र ग्रंथ नहीं।

कुछ विद्वानों ने यह भी संदेह प्रगट किया है कि काव्यादर्श तथा दशकुमार-चरित के रचयिता एक ही हैं या भिन्न-भिन्न और इस प्रश्न को और उलझा-

दिया है। श्री त्रिवेदी (प्रस्तावना, प्रतापरूद्र, ३१) तथा अगसे महोदय (इंडि० एंटि० १९१५, पृ० ६७ तथा दशकुमार० की प्रस्तावना में) का मत है कि दोनों के रचयिता एक नहीं हैं। उनके द्वारा प्रस्तुत तर्कों की विस्तृत आलोचना यहाँ उचित नहीं है। किंतु कुछ युक्तियाँ संक्षेप में प्रस्तुत की जाती हैं। अगसे महोदय का प्रथम तर्क यह है कि दण्डी उग्र आलोचक थे। उन्होंने कवियों को चेतावनी दी है कि सूक्ष्म दोष भी काव्य के महत्त्व को घटा देता है (तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन। स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्। १.७)। तथा 'कन्ये कामयमानं मां न त्वं कामयसे कथम्। इति ग्राम्योयमर्थात्मा वैरस्याय प्रकल्पते ॥' (१.६३) सरीखे निर्दोष वाक्यों को भी ग्राम्य बताया है। जब कि दशकुमारचरित में ग्राम्यता एवं अश्लीलता के अनेक उदाहरण हैं। तथा मैथुन का साक्षात् उल्लेख है। यहां दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। सिद्धांत एवं व्यवहार में सदा महान् अंतर रहा है। काव्यशास्त्र के समस्त आचार्यों ने इस बात को स्वीकार किया है, उ० व्यक्तिविवेक ने अन्य कवियों में दोष निकालने की अपनी पद्धति का समर्थन करते हुए लिखा है—'स्वकृतिष्वयन्त्रितः कथमनुशिष्यादन्यमयमिति न वाच्यम्। वारयति भिषगपथ्यादितरान् स्वयमाचरन्नपि तत् (पृ० ३७)।

क्षेमेन्द्र ने अपनी औचित्य विचार चर्चा (कारिका २० तथा २१) में अपनी ही रचना में दोष प्रगट किये हैं। अपिच यह भी कहा जा सकता है कि दण्डी ने जिस समय दशकुमारचरित की रचना की उस समय वे तरुण एवं अनुभवहीन थे। जबकि काव्यादर्श परिणत बुद्धि की रचना है। यह भी एक बात है कि दण्डी द्वारा 'कन्ये इत्यादि' को ग्राम्य बताया ज.ने का अभिप्राय समझने का प्रयत्न नहीं किया गया। उसने अपने अभिप्राय को साक्षात् एवं स्पष्ट शब्दों में प्रगट करने की निंदा की है और उसके स्थान पर व्यङ्ग्यात्मक पद्धति को उपादेय बताया है। इस बात को दण्डी ने अगली कारिका में स्वयं प्रगट किया है जिसका अभिप्राय वही है किंतु प्रकार में भेद है—'कामं कंदर्पचाण्डालो मयि वामाक्षि निर्दयः। त्वयि निर्मत्सरो दिष्टयेत्यग्राम्योर्थो रसावहः (१.६४)।' अगसे महोदय का दूसरा तर्क यह है कि काव्यादर्श तथा दशकुमार० की शैलियों में परस्पर बहुत अंतर है। काव्यादर्श की शैली निर्दोष, कोमल, अर्थ—गम्भीर तथा परिपक्व है। जबकि दशकुमार० की दोषग्रस्त तथा लम्बे-लम्बे समासों से परिपूर्ण है। यहाँ भी भ्रांति है। काव्यादर्श श्लोकवद्ध है। अतः उसमें लम्बे समास सम्भव नहीं हैं। फिर भी उसमें आधे श्लोक तक का समास अभिप्रेत है (१.८४ पयोधरतटोत्सङ्गलग्नसंध्यातपांशुका। कस्य कामातुरं चेतो वारुणी न

करिष्यति ।।) जबकि दशकुमारचरित में गद्य-बद्ध होने के कारण लम्बे समास सम्भव हैं। काव्यादर्श ने पद्यबद्ध रचना में ही लम्बे समासों का निषेध किया है ओजः समासभूयस्त्व-मेतद्‌गद्यस्य जीवितम् । पद्येऽप्यदाक्षिणात्यानामिदमेकं परायणम्, १.८०) । अतः किसी प्रकार की विसंगति नहीं कही जा सकती। सुबन्धु के प्रस्तावना श्लोक तथा गद्य भाग में परस्पर महान् अंतर है। दशकुमारचरित में प्रस्तुत कुछ श्लोक भी इसी प्रकार के हैं। अतः दण्डी को दशकुमार० का रचयिता न मानने में पर्याप्त प्रमाण नहीं हैं। दशकुमार० का प्रथम श्लोक जल्हण की सूक्तिमुक्तावली, पृ० ३१, सं० ८६ तथा सरस्वतीकण्ठाभरण (परिच्छेद २, लाटानुप्रास पृ० २६२) में उद्धृत है। सरस्वतीकण्ठा० में काव्यादर्श के भी अनेक उद्धरण हैं। अवन्तिसुन्दरीकथा के प्रकाशन से इस चर्चा का रुख पूर्णतया बदल गया। प्रथम श्लोक में हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा), ईशान (शिव) तथा हरि को नमस्कार है। यद्यपि बहुत से भक्त उन्हें परस्पर भिन्न मानते हैं फिर भी वास्तव में वे एक हैं (हिरण्यगर्भमीशानमाद्यं च पुरुषं हरिम्। त्रीनप्यसत्य-नानात्वान्वन्दे विश्वशरीरिणः)। तदनन्तर श्लोक सं० २ से लेकर २१ तक निम्नलिखित लेखकों एवं ग्रंथों की प्रशंसा है। यद्यपि इन श्लोकों में बहुत से अंश त्रुटित हैं––रामायण, महाभारत, सुबन्धु (जो बिन्दुसार के बंधन में नहीं पड़ा और जिसका हृदय वत्सराज की ओर आकृष्ट था) बृहत्कथा, मूलदेव (?), शूद्रक, भास (तथा उसके नाटक), सर्वसेन तथा उनका हरिविजय, सेतु, कालिदास (जिसने वैदर्भी रीति में रचना की), नारायण (जिन्होंने काव्यत्रय लिखा), तथा एक अंध कवि (कुमारदास ?), बाण तथा मयूर, कुछ कवियित्रियाँ—विज्जका, जो श्याम वर्ण होने पर भी स्वभावोक्ति तथा गुणों के वर्णन में अत्यंत निपुण थीं (वर्णहीनापि या जाता जात्युत्कर्षगुणास्पदम्) तथा मनोवती। २२ वें श्लोक में ग्रंथकार ने अपने को दामोदर का वंशज बताया है। उसके पश्चात् चार श्लोक स्पष्ट नहीं हैं। अंतिम श्लोक में सरस्वती तथा कवि समाज की स्तुति है। तदनंतर गद्य में कथा प्रारम्भ होती है। राजनगर काञ्ची में सिंहविष्णु नाम का राजा रहता था। किसी गंधर्व ने उसके सामने एक आर्या का पाठ किया। दण्डी परिवार ने आनंदपुर (गुजरात) से प्रस्थान करके अचलपुर (वर्त्तमान एलिचपुर, बरार ?) में निवास किया। उनके पूर्वज कौशिकगोत्रीय दामोदर-स्वामी भारवि के कहने पर (जो महाशैव था) राजा विष्णुवर्धन के साथ मित्रता स्थापित की।[1] दामोदर की गाङ्गेन वंशज दुर्विनीत

1. डा० राघवन ने इस पाठ को त्रिवेन्द्रम स्थित हस्तलिखित प्रति के

के साथ भेंट हुई जो अपनी यात्राओं के लिये प्रख्यात था। गंधर्व ने पल्लव-वंशीय सिंहविष्णु को जो आर्या सुनायी थी वह दामोदर द्वारा रची गई थी।[1] सिंहविष्णु ने दामोदर को अपनी सभा में आमन्त्रित किया। उसका विवाह

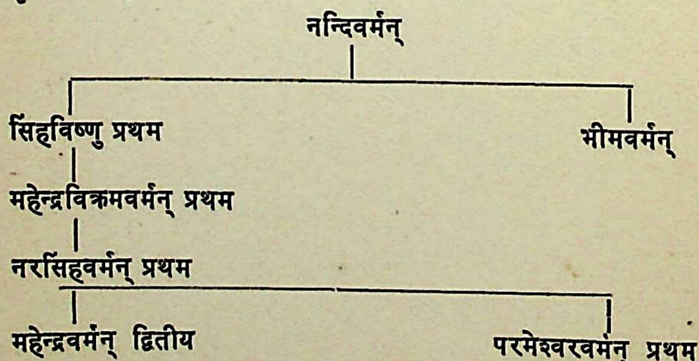
अनुसार शुद्ध किया तथा कुछ समय पश्चात् मुझे भेज दिया। वह इस प्रकार है—'महाशैवं महाप्रभावं गवां प्रभवं प्रदीप्तभासं भारविं रविमिवेन्दु अनुरुध्य दर्श इव पुण्यकर्मणि विष्णुवर्धनाख्ये राजसूनौ प्रणयमन्ववध्नात्।' श्री कवि द्वारा सम्पादित मुद्रित पाठ अशुद्ध है किंतु 'पुण्य···वध्नात्' (पृ० ६) यह अंश वहाँ विद्यमान है। देखो इ० हि० क्वा०, भाग ३, पृ० १६९–१७१, इसी प्रकार श्री हरिहर शास्त्री ने भी एक पाठ को शुद्ध किया है। टी० एस० एस० संस्करण पृ० १० पर यह पाठ विद्यमान है।

1. अवन्तिसुंदरीकथासार (१.१६) में उपरोक्त आर्या—'दनुजपतिहृदय—भूध्रविभेदविज्ञातशक्तिनखकुलिशम्, जगदुदयहेतुविष्णोरवतु वपुर्नारसिंहं वः' है। यह नृसिंहावतार एवं पल्लववंशीय सिंहविष्णु दोनों के साथ सम्बद्ध है। इससे एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न खड़ा होता है कि क्या दण्डी के पूर्वज दामोदर ही कवि दामोदर हैं जिनके अनेक श्लोक यत्र-तत्र उद्धृत हैं। देखो वल्लभदेव का सुभाषितावलि सं० २५२८ तथा कवीन्द्रवचनसमुच्चय पृ० ४३–४६। जहां तक वर्त्तमान सामग्री उपलब्ध है उपरोक्त प्रश्न का निश्चित उत्तर देना सम्भव नहीं। डी० सी० रिसर्च इंस्टीच्युट, पूना के बुलेटिन भाग, १, पृ० ४२१–४२४ में प्रकाशित एक लेख में वताया गया है कि वासवदत्ता के एक प्रस्तावना श्लोक से यह ध्वनित होता है कि दामोदर सुवंधु के गुरु थे। अवन्तिसुंदरीकथा के प्रस्तावना श्लोक ६ में सुवंधु का उल्लेख है किंतु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि प्रस्तुत उल्लेख वासवदत्ता के रचयिता का ही है। वे महाकवि सुवंधु भी हो सकते हैं, जिन्होंने वासवदत्तानृत्यधारा नामक रूपक की रचना की, जिसका अभिनवभारती ने उल्लेख किया है। डा० ए० एन० उपाध्याय ने पूना ओरि० भाग ११, खण्ड ३ तथा ४, पृ० २९–३० जिनभद्र के विशेषावश्यकभाष्य से एक गाथा उद्धृत की है। इसमें वासवदत्ता एवं तरङ्गवती नामक दो आख्यायिकाओं का निर्देश है। साथ ही उन्होंने वताया है कि विशेषावश्यकभाष्य की पुष्पिका से यह प्रतीत होता है कि उसकी रचना शक सं० ५३१ (=६०९ ई०) में हुई थी। इसका अर्थ है वासवदत्ता के रचयिता छठी ई० के पूर्ववर्ती हैं। और यह भी सम्भव है कि दामोदर सुवंधु के गुरु रहे हों।

कराया तथा भूमि प्रदान की। दामोदर के तीन पुत्र थे उनमें मध्यम का नाम मनोरथ था। उसके चार पुत्र थे जिनमें वीरदत्त कनिष्ठ था। उसने गौरी के साथ विवाह किया। दण्डी उनके एकाकी पुत्र थे। शैशव में ही उसकी माता का देहान्त हो गया और उपनयन होने पर पिता का। कुछ समय पश्चात् आक्रमण हुआ और काञ्ची का ध्वंस हो गया। दण्डी उसे छोड़कर चले गये। कुछ वर्ष पश्चात् दण्डी पल्लव की राजसभा में लौट आये।[1] स्वप्न में उसने सरस्वती के दर्शन किये और उसका आशीर्वाद प्राप्त किया। सरस्वती ने उसे विद्याधर नरेश राजवाहन की कथा लिखने का आदेश दिया। अगले दिन उसने अवन्तिसुंदरी की कथा सुनाई। वह सम्पूर्ण कथा का प्रथम भाग है। उपलब्ध दशकुमार० उस कथा का मध्य भाग है। उसके साथ ही एक उच्छ्वास उत्तरपीठिका के रूप में है। अवन्तिसुंदरीकथा १९२४ ई० में दक्षिणभारत सीरीज मद्रास से प्रकाशित हुई थी। अवन्तिसुंदरीकथा में मातृदत्त को दण्डी का मित्र बताया गया है। देखो ज० ओ० रि० (मद्रास) भाग १९, पृ० १५९–१६५; भाग १७ तथा भाग २५ श्री जी० नरहरिशास्त्री द्वारा सम्पादित अवन्तिसुंदरीकथा-सार। उन्होंने उस पर प्रस्तावना भी लिखी है तथा संक्षिप्त विषय-सूची भी दी

---

1. देखो आर० गोपाल द्वारा लिखित 'पल्लवों का इतिहास' (१९२८) जिसके पृ० ८३ पर वंशावली का उल्लेख है। मैंने यहाँ अपेक्षित अंशों को ही उद्धृत किया है।



मत्तविलास नामक प्रहसन सिंहविष्णु के पुत्र राजा महेन्द्रविक्रमवर्मन् प्रथम की रचना है। (देखो प्रहसन का पृ० ३) उस प्रहसन का २२ वाँ श्लोक है—'विरोधः पूर्वसम्बद्धो युवयोरस्तु शाश्वतः। परस्पर—प्रीतिकरः किरातार्जुन-योरिव।' इसमें भारवि के किरातार्जुनीय का उल्लेख है जो अवन्तिसुंदरीकथा के अनुसार सिंहविष्णु का समकालीन था।

है। देखो प्रो० वी० वी० मिराशी का लेख भा० ओ० रि० इ० भाग २६, पृ० ३०–३१ शीर्षक 'दशकुमारचरित में ऐतिहासिक तथ्य'। उन्होंने निष्कर्ष निकाला है कि दशकुमारचरित के आठवें उच्छ्वास में जो राजनीतिक स्थिति वर्णित है उससे अनुमान होता है कि दण्डी ५५० ई० के अधिक पश्चात् नहीं हुए। अवन्तिसुंदरीकथा के प्रकाशित होने पर यह विवाद चल पड़ा कि उसे दण्डी की कृति माना जाय या नहीं। देखो इ० हि० क्वा० भाग ३, पृ० १६९--१७१ (हरिहर शास्त्री); पृ० ३९५--४०३ (डा० डे) तथा इ० हि० क्वा० भाग १, पृ० ३१ तथा आगे। यह कहा जाता है कि यद्यपि उसमें भारवि का महाकवि के रूप में उल्लेख है किन्तु किरातार्जुनीय का निर्देश नहीं है। यह आश्चर्य की वात है क्योंकि दण्डी दामोदर के प्रपौत्र थे और दामोदर भारवि के मित्र थे। प्रसिद्ध विद्वान् म० म० कुप्पुस्वामी शास्त्री ने दण्डी और भामह की एकता के प्रश्न पर एक निबंध लिखा है जो ज० ओ० रि० मद्रास, भाग १, पृ० १९१–२०१ में प्रकाशित हुआ है। उन्होंने अवन्तिसुंदरीकथा को दण्डी की रचना मानने में संदेह प्रगट किया है। डा० राघवन ने ज० ओ० रि० मद्रास, भाग ५, खण्ड २, पृ० ४ पर वताया है कि अप्पयदीक्षित (जो वेदान्ती अप्पयदीक्षित से भिन्न है) विरचित नामं संग्रहमाला में निम्नलिखित कारिका है—'निरस्ता पल्लवेषु काञ्ची नाम नगरीत्यवन्तिसुंदरीये दण्डि-प्रयोगात्'। ज० ओ० रि० मद्रास भाग १३, खण्ड ४, पृ० २९४ पर डा० राघवन का कथन है कि त्रि० सं० सी० द्वारा प्रकाशित कालिङ्गराय द्वारा विरचित सूक्तिरत्नहार की कुछ प्रतियों में मर्त्ययन्त्रेषु आदि श्लोक दण्डी की रचना वताया गया है। यह अवन्तिसुंदरीकथा की प्रस्तावना का तृतीय श्लोक है और इसमें महाराज की प्रशंसा की गई है। मैंने स्वयं प्राप्त किया है कि (डी० सी० ग्रंथ सं० १११, १९१९–२४, जिसका उल्लेख डेस० कट० भाग १२, सं० १२५, पृ० १३७) काव्यादर्श की श्रुतानुपालिनी नामक टीका, है काव्यादर्श (१.८१) के वर्णन प्रसङ्ग में निम्नलिखित कारिका है—'आख्यायिका शूद्रक-चरितप्रभृतिः सा आदि. येषां (यासां ?) अवन्तिसुंदर्यादिकथानां तास्वित्यर्थः।' दण्डी के वंशानुक्रम तथा अवन्तिसुंदरीकथा के सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिये देखो भाग १, न्यू कैटेलोगस कैटेलोगोरम, डा० राघवन द्वारा सम्पादित, पृ० ३०८–३१० अवन्तिसुंदरी शीर्षक में। विद्वानों के उपरोक्त मतों का पर्यालोचन करने के पश्चात् मैं इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि अवन्तिसुंदरीकथा दण्डी की कृति है तथा वर्त्तमान दशकुमारचरित की पूर्व-पीठिका है। किन्तु कथासार उसकी

रचना नहीं है। मेरा यह निर्णय निस्संकोच[1] नहीं है। यदि इसे स्वीकार कर लिया जाता है तो दण्डी का तिथि-निर्णय किया जा सकता है और उसकी मर्यादायें संकुचित सीमा में स्थिर की जा सकती हैं। जैसाकि ऐहोल शिलालेख से प्रगट होता है छठी शताब्दी में भारवि कालिदास के समान प्रसिद्ध थे। वे दण्डी के प्रपितामह के मित्र थे। दामोदर चालुक्य विष्णुवर्धन के मित्र थे जब वे केवल राजकुमार थे (सिंहासनारूढ़ राजा नहीं)। प्रस्तुत घटना को ५९० ई० के बाद की नहीं माना जा सकता। यदि प्रत्येक पीढ़ी को २५ या ३० वर्ष दिये जाये तो दण्डी जो कि भारवि के मित्र का प्रपौत्र था, ७५ या ९० वर्ष पश्चात् होना चाहिये (अर्थात् ६६०-६८० ई० के मध्य)। श्री गोपालन द्वारा विरचित 'पल्लवों का इतिहास' नामक ग्रन्थ के पृ० २२९ पर श्री एस० के० आयंगर का जो टिप्पण है उसमें बताया गया है कि असावधानी के कारण दामोदर के स्थान पर गोपाल का प्रयोग होने लगा। विष्णुवर्धन सत्याश्रय पुलिकेशिन् द्वितीय का अनुज था। उसीने आन्ध्र तथा कलिङ्ग में पूर्वी चालुक्य वंश की स्थापना की, उसका शासनकाल ६१५-६३३ ई० है। देखो डा० डी० सी० गांगुली द्वारा 'ईस्टर्न चालुक्य' (बनारस, १९३७) पृ० १७ प्रमाण के लिये। गङ्गवंशीय राजा दुर्विनीत ने ६०५-६५० ई० तक के लम्बे काल तक शासन किया (मैसूर आरक्योलोजिकल रिपोर्ट्स, १९२१, पृ० २८; 'ईस्टर्न चालुक्य' पृ० १९)। राष्ट्रकूट वंशानुक्रम के राजा नृपतुङ्ग (अमोघवर्ष) ने कविराजमार्ग (१८९८ में के० बी० पाठक द्वारा संपादित) की रचना की जो कन्नड़ का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ है। उसमें जैसाकि पाठक महोदय ने बताया है काव्यादर्श के अलङ्कार विषयक छः श्लोक उद्धृत हैं। इसी प्रकार तृतीय परिच्छेद के अधिकतर श्लोक दण्डी का अनुवाद या परिष्कार मात्र है। प्रो० पाठक ने (इण्डि० एण्टि भाग ४१, पृ० २३६) बताया है कि काव्यादर्श में प्रतिपादित उपमा के ३३ भेदों में से अधिकतर का कविराजमार्ग (२.५९-८५) ने अनुसरण

---

1. संकोच के मुख्यतया चार कारण हैं—(क) उसमें किरातार्जुनीय अथवा भारवि की किसी अन्य रचना का उल्लेख न होना। (ख) दशकुमारचरित की तुलना में अवन्तिसुंदरीकथा का विस्तार सीमित है। (ग) गन्धर्व द्वारा दामोदर गुप्त की कारिका का गाया जाना और इस प्रकार कथा में दैवी तत्त्वों का प्रवेश। (घ) दशकुमारचरित और अवन्तिसुंदरीकथा की शैली में भी परस्पर भेद है। जिस प्रकार बाण की कादम्बरी पर अभिनंद ने कादम्बरीकथासार लिखा है उसी प्रकार अवन्तिसुंदरीकथा पर कथासार किसी अन्य लेखक ने लिखा है।

किया है। नृपतुङ्ग शक सं० ७३७ (=८१५ ई०) में सिंहासनारूढ़ हुए तथा शक सं० ७९७ (=८७५ ई०) में सिंहासनच्युत होगये। अतः काव्यादर्श को किसी भी स्थिति में ७५० ई० के पश्चात् नहीं रखा जा सकता। क्योंकि इसके प्रसिद्ध होने और परिणाम-स्वरूप कन्नड़ में अनूदित होने में पर्याप्त समय लगा होगा। देखो कविराजमार्ग की प्रस्तावना, लेखक प्रो. पाठक, पृष्ठ १७। प्राचीन आलङ्कारिकों का अनुसरण करने के लिए नृपतुङ्ग की प्रतिज्ञा पृष्ठ १८–१९; दोनों ग्रन्थों को परस्पर तुलना के लिए तथा हर्षचरित, कादम्बरी, नारायण भारवि, कालीदास और माघ के स्पष्ट उल्लेख के लिए पृष्ठ १३। भूमिका के १६ पृष्ठ पर प्रो. पाठक ने प्रतिपादित किया है कि दण्डी ने भामह को पर्याप्त आलोचित किया था, किन्तु बाद में उन्होंने अपनी सम्मति में परिवर्तन कर लिया।

श्री हैण्ड्रिक जयतिलक द्वारा संपादित सिया-बस-लकार (स्वीयभाषालंकार) नामक सिंहली भाषा की पुस्तक में इस प्रश्न को बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध किया गया है। इसका प्रथम श्लोक काव्यादर्श के श्लोक के सदृश है। दूसरा श्लोक भिन्न है, उसमें महाब्रह्म, इन्द्र, बृहस्पति, और काश्यप ऋषि के वन्दना के उपरान्त काव्यशास्त्र के लेखक वामन, दण्डी तथा अन्य प्रसिद्ध आचार्यों का वर्णन है। तीसरे श्लोक में लेखक ने बताया है कि पहले की रचनाओं को संक्षिप्त करके मैंने अपनी भाषा में इस ग्रन्थ का प्रणयन किया है। इसका चौथा और पांचवां श्लोक काव्यादर्श के तीसरे और चौथे श्लोक के सदृश है। काव्यादर्श का प्रथम श्लोक और दो परिच्छेदों के प्रायः सभी श्लोक इस सिंहली रचना में परिगृहीत हैं, किन्तु काव्यादर्श के तृतीय परिच्छेद को अनूदित नहीं किया गया है। अन्तिम श्लोक में बताया गया है कि राजवंश में प्रसूत भूपति सिलमेघसेन ने इसकी रचना की है। वे भूपति श्वेतच्छत्र से परिभूषित एकाधिपत्य से युक्त हैं और उनकी शरीर कान्ति मुकुट के रत्नों की किरणमाला की आभा से चमत्कृत होती है। डॉ० एल० डी० बर्नेट (ज० रि० ए० सो० १९०५. पृष्ठ ८४१ में) सिंहली रचना का उद्धरण देते हुए यह सम्मति प्रकट की है कि इसका लेखक राजा सेन प्रथम था अथवा सिलमेघवर्णसेन। जी० जी० मेण्डिस और प्रो० गेगर ने लंका के प्राचीन इतिहास (पृष्ठ ५०, आठवां संस्करण १९४७) में प्रतिपादित किया है कि सेन प्रथम ने ८३१ से ८५१ तक शासन किया था। डॉ० बर्नेट ने नेविल महोदय की सम्मति को उद्धृत किया है, कि इसका वास्तविक लेखक संभवतः कसुप तृतीय का पुत्र अक्वो था, जिसने ७४१

में राज्यारोहण किया था। श्री बर्नेट के अनुसार सिंहली रचना को दो पांडुलिपियों में (ब्रिटिश, म्यूजियम में प्राप्त) वामन के स्थान पर बामह मिलता है। उनका मत है कि इस विषय की दो परम्पराए विद्यमान थीं। किसी भी स्थिति में सिंहली रचना का समय ८८० ई० के बाद का नहीं हो सकता और इस प्रकार दण्डी का समय लगभग ७५० ई० के बाद नहीं रखा जा सकता।

इस ऐतिहासिक विवरण की साधक पंक्तियों से यह निष्कर्ष निकलता है कि भामह और दण्डी दोनों का समय लगभग ७५० ई० के बाद का नहीं हो सकता। इन दोनों में समय का अन्तर कुछ दशकों का है शताब्दियों का नहीं, जैसे कि श्री बटुकनाथ शर्मा ने सिद्ध किया है (काव्यालंकार की भूमिका, पृष्ठ ४०)।

अतः इनकी परस्पर सम्बद्ध स्थितियों को निश्चित करने के लिए हमें दूसरे प्रमाणों का भी परीक्षण करना होगा।

शृंगार प्रकाश में 'द्विसंधान काव्य' को दण्डी की (तृतीय) रचना कहा गया है।

डॉ० राघवन ने अनुग्रहपूर्वक मुझे सूचित किया है कि शृङ्गारप्रकाश की मद्रास पांडुलिपि (भाग २, पृष्ठ ४४४) में दण्डी के द्विसंधान महाकाव्य को प्रबन्ध विषय द्विसंधान (एक ही रचना में रामायण और महाभारत दोनों की कथा प्रस्तुत करना) के उदाहरणरूप में उल्लिखित किया है। उसी पांडुलिपि के (ग्रन्थ भाग) १६८–६९ पृष्ठ पर भी दण्डी रचित द्विसंधान का उल्लेख है। देखो—दण्डि द्विसंधान के लिए, इ० हि० क्वा० भाग २४. पृष्ठ ११७।

मथुरा निवासी सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने 'संस्कृत साहित्य में अग्निपुराण का स्थान' शीर्षक निबन्ध लिखा है जो हिन्दुस्तानी एकेडेमी की पत्रिका (जुलाई १९३१ पृ० ३३७–३४९) में प्रकाशित हुआ है। उन्होंने उसकी एक प्रति मुझे भेजने की कृपा की है। निबन्ध में उन्होंने मेरे तथा डे महोदय के इस मत का खण्डन किया है कि अग्निपुराण केवल संग्रह-ग्रन्थ है। साथ ही यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि भामह, दण्डी तथा ध्वन्यालोक सभी ने अग्निपुराण से सामग्री ली है। मैं उनके तर्कों का उत्तर अग्निपुराण की चर्चा में दे चुका हूं। उनकी पुनरावृत्ति करना उचित नहीं समझता। प्रतीत होता है कि उनके मस्तिष्क में दो भ्रान्त धारणायें जमी हुई हैं और वे सबकुछ

उन्हींके प्रकाश में लिख रहे हैं। उनकी प्रथम धारणा यह है कि मेरा काव्यशास्त्र का इतिहास डे महोदय के इतिहास पर आधारित है '(एस० के० दे बाबू जिनके ग्रन्थ पर श्री काणे का निबन्ध अधिकांश में अवलम्बित है)'। उनकी तथा अन्य अपरिचित पाठकों की सूचना के लिए मैं यह निवेदन करना चाहता हूँ कि मेरा काव्यशास्त्र का इतिहास जून १९२३ में प्रकाशित हो चुका था। उसी मास डा० डे विरचित काव्यशास्त्र का इतिहास (हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स), प्रथम भाग प्रकाशित हुआ और द्वितीय भाग दो वर्ष पश्चात्। इसके अतिरिक्त इण्डियन ऐण्टीक्वेरी १९१७ भाग ४६ पृ० १७३ टिप्पण में मैंने अपने काव्यशास्त्र के इतिहास की अपेक्षा भी अधिक विस्तार के साथ अग्निपुराण के लिए किये जाने वाले दावों की चर्चा की है और बताया है कि किस प्रकार अग्निपुराण ने अनुप्रास (अग्नि ३४३, १ और काव्यादर्श १, ५५) यमक (अग्नि ३४३, ११–१२ और काव्यादर्श ३,१) तथा अनेक अर्थालङ्कारों के लक्षण प्रस्तुत करने के लिए दण्डी के श्लोक अक्षरशः उद्धृत किये हैं। अतः अग्निपुराण पर मेरे विचार डा० डे के ग्रन्थ (प्रथम भाग) से छः वर्ष पूर्व प्रकाशित हो चुके थे। डा० डे ने स्वयं (प्रथम भाग पृ० ३४१, परिवर्धन तथा संशोधन) मेरे निबन्ध (इण्डियन ऐण्टीक्वेरी भाग ४६, १९१७ में प्रकाशित) का उल्लेख किया है। श्री पोद्दार की दूसरी भ्रान्त धारणा यह है कि मेरे मतानुसार काव्यादर्श का अधिकांश अग्निपुराण में अन्तर्हित है (पृ० ३३७, ऐसी परिस्थिति में काव्यादर्श का अग्निपुराण में समावेश किया जाना किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं हो सकता)'। मैंने यही कहा था कि अग्निपुराण ने माधुकरी वृत्ति को अपनाया है। उसने जहाँ से उचित समझा ले लिया परिणामस्वरूप यह संग्रह-ग्रन्थ है मौलिक रचना नहीं है। यह ठीक है कि अनेक स्थानों पर उसने दण्डी और भामह से अपना मतभेद प्रकट किया है किन्तु इतने मात्र से यह सिद्ध नहीं होता कि उसने उन दोनों से सामग्री नहीं ली। नाट्यशास्त्र तथा काव्यालङ्कार सम्बन्धी अध्यायों के अतिरिक्त भी अग्निपुराण ने याज्ञवल्क्य स्मृति, तथा अन्य ग्रन्थों से सैकड़ों श्लोक उद्धृत किये हैं। कुमारिल कृत तन्त्रवार्तिक (पृ० ३५४ आनन्दाश्रम संस्करण, जैमिनीय सूत्र १, ४, २० की व्याख्या) से निम्न लिखित श्लोक उद्धृत किया है—अभिधेयाविनाभूत प्रतीतिर्लक्षणोच्यते (अग्नि ३४४, ११)। विद्वान् लेखक ने इन बातों पर ध्यान नहीं दिया है।

निम्नलिखित पाठ दण्डी तथा भामह दोनों के साथ अक्षरशः मिलते हैं: (क) 'सर्गबन्धो महाकाव्यम्' काव्यादर्श १, १४, काव्यालङ्कार १, १९; (ख)

मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि' काव्यादर्श १, १७, काव्यालङ्कार १, २० (मन्त्रदूत··दयैश्च यत्); (ग) 'कन्याहरणसंग्रामविप्रलम्भोदयादयः' काव्यादर्श १, २९, काव्यालङ्कार १, २७ (०दयान्विता); (घ) 'अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते। कालेनैषा भवेत् प्रीतिस्तवैवागमनात् पुनः॥ काव्यादर्श २, २७६, काव्यालङ्कार ३, ५ (दोनों ने इसे प्रेयस् के उदाहरण के रूप में दिया है); (ङ) 'तद्भाविकमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्' काव्यादर्श २, ३६४, काव्यालङ्कार ३, ५३ (भाविकत्वमिति इत्यादि); (च) अपार्थं व्यर्थमेकार्थं···विरोधि च।' काव्यादर्श ३, १२५–१२६, काव्यालङ्कार ४, १–२; (छ) समुदायार्थ-शून्यं यत्तदपार्थकमिष्यते' काव्यादर्श ३, १२८ (५, १ र्थमितीष्यते), काव्यालङ्कार ४, ८ र्थकमिष्यते; (ज) 'गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।' काव्यादर्श २, २४४, काव्यालङ्कार २, ८७; (झ) 'आक्षेपोऽर्थान्तरन्यासो व्यतिरेको विभावना' काव्यादर्श २, ४, काव्यालङ्कार २, ६६; (ञ) 'प्रेयो रसवदूर्जस्वि पर्यायोक्तं समाहितम्' काव्यादर्श २, ५, काव्यालङ्कार ३, १।

भामह और दण्डी का पौर्वापर्य—इस विषय पर पर्याप्त मतभद है। इसी प्रकार भामह और न्यास का प्रश्न भी विवादग्रस्त है। इन विषयों पर अनेक वर्षों से ऊहापोह एवं खण्डन-मण्डन चल रहा है। अब तक भी यह नहीं कहा जा सकता कि प्रश्न का इधर या उधर सन्तोषजनक निर्णय हो गया है। त्रिवेदी महोदय (प्रतापरुद्र की प्रस्तावना, २३, टि० और इ०, एण्टी भाग ४२, १९१३ ई० पृ० २५८–२७४ और भण्डारकर स्मृति ग्रन्थ पृ० ४०), डा० जैकोबी (Z.D.M.G. ६४ पृ० १३४ तथा १३९), प्रो० रङ्गाचार्य (काव्यादर्श की प्रस्तावना), श्री गणपति शास्त्री (स्वप्नवासवदत्तम् की प्रस्तावना पृ० २५), और प्रो० पाठक ने (कविराजमार्ग की प्रस्तावना पृ० १६) भामह को दण्डी का पूर्ववर्ती माना है। इसके विपरीत प्रो० एम० टी० नरसिंहींगर ने (ज० रो० ए० सो० १९०५ पृ० ५३५) दण्डी को भामह का पूर्ववर्ती माना है। प्रो० पाठक ने भी, प्रतीत होता है, अपना मत बदल दिया है (ज० ब० ब्रा० रो० ए० सो० भाग २३ पृ० १९ तथा इ० एण्टी० १९१२ पृ० २३६ टि०)। प्रो० कीथ ने (हि० सं० लि० पृ० ३७५–३७६ तथा इण्डियन स्टडीज़ इन औनर आफ लैनमान पृ० १६७–१८५) जैकोबी के मत का खण्डन किया है और कहा है कि भामह के निम्नलिखित श्लोक में दण्डी पर आक्षेप किया गया है—काव्यान्यपि यदीमानि (२, २०), और इस आधार

पर दण्डी को भामह का पूर्ववर्ती माना है। मैं दोनों पक्षों की युक्तियों को संक्षेप में प्रस्तुत करूंगा और साथ ही उन पर अपने टिप्पण दूंगा जोकि इस विषय पर मेरा नम्र योगदान है।

आगे बढ़ने से पहले तीन बातें स्पष्ट कर लेनी चाहिएं और उनका महत्त्व समझ लेना चाहिए। पहली बात यह है कि दण्डी और भामह दोनों में बहुत से पाठ समान हैं। इसका निर्देश ऊपर किया जा चुका है। दूसरी यह है कि भामह और दण्डी दोनों ने लिखा है कि उनके पहले अनेक आलङ्कारिक हो चुके हैं। जिनके ग्रन्थों का उन्होंने परिशीलन किया है। भामह ने तो मेधाविन् का नाम भी दिया है। अतः दोनों में एक सरीखे पाठ देखकर यह कहना कि एक ने दूसरे को उद्धृत किया है अथवा उनके द्वारा प्रस्तुत आलोचनाओं को पढ़कर यह कहना कि एक ने दूसरे की आलोचना की है विचारपूर्ण निष्कर्ष नहीं है। इससे सावधान रहने की आवश्यकता है। उपरोक्त तथा पूर्ववर्ती अलङ्कार साहित्य के विषय में हमारी अज्ञानता को सामने रखते हुए यही अच्छा होगा कि इनके पौर्वापर्य का निर्धारण न करके हम यह मानें कि दोनों ने पूर्ववर्ती आलङ्कारिकों के पाठ उद्धृत किये हैं और उन्हीं की आलोचना की है जिनके ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं हैं। तीसरी बात यह है कि दोनों आलङ्कारिक अपेक्षाकृत प्राचीन हैं और उनमें परस्पर समय का व्यवधान बहुत थोड़ा है। उद्भट ने ८०० ई० में काव्यालङ्कार पर टीका लिखी है, अतः भामह का समय ७५० ई० के पश्चात् नहीं हो सकता। शान्तरक्षित ने (देखिये ऊपर पृ० ८४) भामह के तीन श्लोक उद्धृत किये है इससे भी उपरोक्त तथ्य का समर्थन होता है। दण्डी को भी इसके पश्चाद्वर्ती नहीं माना जा सकता इसके लिए निम्नलिखित आधार हैं—लोचन की रचना १००० ई० में हुई। उसने भामह एवं उद्भट के साथ दण्डी का उल्लेख किया है और उसके द्वारा रची गई चम्पू की परिभाषा (पृ० १४१) उद्धृत की है। इसी प्रकार प्रतिहारेन्दुराज ने (लगभग ९५० ई०) भी पृ० २६ पर दण्डी का लिम्पतीव तमोऽङ्गानि इत्यादि (काव्यादर्श २, २२६–२३३) श्लोक उद्धृत किया है। कविराजमार्ग तथा सिंहलीग्रन्थ सिया बसलकार का काव्यादर्श के साथ जो सम्बन्ध ऊपर (पृ० ९९-१००) बताया जा चुका है उससे यही सिद्ध होता है कि दण्डी भी ७५० से पश्चाद्वर्ती नहीं है।

अब मैं उन आधारों को प्रस्तुत करूँगा जो भामह को दण्डी का पूर्ववर्ती मानने वालों द्वारा प्रमाण रूप में उद्धृत किये जाते हैं।

(क) श्री त्रिवेदी तथा प्रो॰ रङ्गाचार्य का कथन है कि अलङ्कार सर्वस्व (पृ॰ ३ जो कि ७ पृ॰ पर उद्धृत है पैरा टि॰ ऊपर) में भामह को चिरन्तन आलङ्कारिक कहा गया है। राघवभट्ट ने भामह के ग्रन्थ को आकर के रूप में निर्दिष्ट किया है (शाकुन्तल पृ॰ १४) तथा प्रतापरुद्र में उसे पुरातन कहा गया है ('पूर्वेभ्यो भामहादिभ्यः,' प्राचा भामहेन पृ॰ ४ तथा ११), श्री त्रिवेदी के मतानुसार एक ही स्थान ऐसा है जहां दण्डी को भामह का पूर्ववर्ती बताया गया है और वह है रुद्रट (१, २) पर नमिसाधु की कारिका; इसका उद्धरण हम मेधावी की चर्चा (पृ॰ ६३) में लिख चुके हैं। मेरी समझ में नहीं आता कि इससे भामह का पूर्ववर्ती होना कैसे सिद्ध होता है। इसमें तो उस बात का संकेत भी नहीं मिलता। भामह एक प्राचीन लेखक हैं और उनके साथ पूर्व विशेषण से कोई नई बात प्रकट नहीं होती। क्या उपरोक्त विद्वानों का यह अभिप्राय है कि जब कभी प्राचीन उद्धरण आये तो उसके साथ पिछले समस्त लेखकों को जोड़ना चाहिए ? इसके अतिरिक्त श्री त्रिवेदी ने जितने लेखकों का उल्लेख किया है नमिसाधु उनमें प्राचीनतम है। उसने भामह को मेधावी का पूर्ववर्ती लिखा है और मेधावी दण्डी के पूर्ववर्ती इस प्रकार का निश्चयात्मक प्रमाण अन्य समस्त अनिश्चयात्मक तर्क-वितर्कों को खण्डन करने के लिए पर्याप्त है। इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि जो ग्रन्थकार १२ वीं या १४ वीं शताब्दी में हुए हैं उनको पांच या सात सौ वर्ष पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों के पौर्वापर्य के विषय में अधिक प्रमाण नहीं माना जा सकता। यदि तिथि-निर्णय के विषय में अन्य ऊहापोह किये बिना इन उत्तरवर्ती लेखकों का अनुसरण किया जाय तो भयंकर अव्यवस्था आ जायेगी। अलङ्कार सर्वस्व में उद्भट को भी चिरन्तन कहा गया है। क्या इतने मात्र से श्री त्रिवेदी यह मानने लगेंगे कि उद्भट दण्डी से पहले हुए। श्री त्रिवेदी इस बात को भूल गये हैं कि जयरथ ने अलङ्कार सर्वस्व के उपरोक्त पाठ पर टीका करते हुए दण्डी को विशेषरूप से चिरन्तन लेखकों में गिना है। इस प्रकार के तर्क उपस्थित करने में अत्यन्त सावधानी एवं समय की आवश्यकता है। अभिनव भारती के निम्नलिखित पाठ को पढ़ने पर श्री त्रिवेदी का कथन शक्तिहीन हो जाता है। विभावानुभाव॰ आदि (अध्याय ६) रससूत्र पर है। टीका करते हुए अभिनवगुप्त ने सर्वप्रथम भट्टलोल्लट के मत को उपस्थित किया है। साथ ही बताया है कि यही मत प्राचीन आलङ्कारिकों का भी है और उसके उदाहरणस्वरूप दण्डी के दो श्लोक (काव्यादर्श अ॰ २, श्लोक २८१, २८३) उद्धृत किये हैं—चिरन्तनानां चायमेव पक्षः। तथाहि दण्डिना स्वालङ्कारलक्षणेऽभ्यधायि रतिः शृंगारतां गता…इति,

'अधिरूह्य परां कोटिं कोपो रौद्रात्मतां गतः।' यहाँ अलङ्कारसर्वस्व से सवासौ वर्ष पूर्ववर्ती लेखक ने दण्डी को चिरन्तन कहा है। इसके अतिरिक्त प्रतीहारेन्दु-राज ने उद्भट के अलङ्कारसारसंग्रह पर अपनी टीका (पृ० २६) में दण्डी का नामोल्लेख करते हुए लिम्पतीव तमोऽङ्गानि (काव्यादर्श २, २२६–२३३) आदि श्लोक उद्धृत किया है। उसका कथन है—'अतएव दण्डिना लिम्पतीव गतेत्यादे-र्गर्भीकृतातिशयोत्प्रेक्षाभेदत्वमेव महता प्रबन्धेनाभ्यधायि।' आगे चलकर बताया जायेगा कि प्रतीहारेन्दुराज का समय लगभग ९५० ई० है।

(ख) दण्डी ने यमक तथा शब्दालङ्कारों का पृथक् अध्याय में विस्तृत वर्णन किया है तथा उपमा के अनेक भेद बताये हैं। इससे उनके उत्तरवर्ती होने का अनुमान होता है। इसके विपरीत, भामह का विभाजन इतना विस्तृत नहीं है। मेरी सम्मति में यह तथ्य विपरीत निष्कर्ष पर पहुँचाता है। भरत ने यमक के दस भेदों की व्याख्या एवं उदाहरण दिये हैं (नाट्यशास्त्र १७, ६२–८६) जबकि भामह ने पांच ही भेदों का वर्णन किया है (काव्यालङ्कार २, ९) फिर भी भामह को नाट्यशास्त्र से पहले रखने का किसी ने साहस नहीं किया। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में आदि-मध्यान्तयमक, सन्दष्ट, समुद्ग और समस्तपादयमक का प्रतिपादन है। कालिदास ने भी यमक को महत्त्व प्रदान किया है (रघुवंश ९वां सर्ग)। १५० ई० में लिखे गये रुद्रदामन् के शिलालेखों में भी वह उपलब्ध है। निस्सन्देह उत्तरवर्ती लेखकों ने ही यमक की उपेक्षा की। उद्भट ने उसे छोड़ ही दिया है, यद्यपि अनुप्रास का उचित विस्तार किया है, मम्मट ने बहुत संक्षेप कर दिया है। अन्य शब्दालङ्कारों की भी यही बात है। सुबन्धु तथा बाण भी शृंखलाबन्धी तथा अक्षरच्युतक, मात्राच्युतक आदि प्रहेलिकाओं से परिचित थे। दण्डी ने उपमा के ३२ भेद दिये हैं किन्तु वे युक्ति संगत नहीं हैं। उन्होंने भरत (नाट्यशास्त्र १७, ४४–५५ गा० ओ० सी० संस्करण १६, ४६–५९) का अनुकरण किया है। भामह ने सर्वप्रथम व्याकरण के आधार पर उपमा का प्रतिपादन किया है। आगे चलकर उद्भट और मम्मट ने भी वैसा ही किया है। इन तथ्यों के आधार पर मेरा यह कथन है कि दण्डी भामह से पहले हुए। अधिकांश विद्वान् इस बात से सहमत होंगे कि दोनों तर्क निराधार हैं। सम्भवतः दण्डी और भामह भिन्न-भिन्न परम्पराओं के समर्थक रहे होंगे। दण्डी ने भरत की परम्परा का अनुसरण किया है और भामह ने अर्थालङ्कारों को मुख्यता देने वाली परम्परा का। मतभेद के उपस्थित होने पर उत्तरवर्ती लेखक अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार ग्रन्थों एवं आचार्यों को चुन लेते हैं। उदाहरण के रूप में कविराजमार्ग ने दण्डी द्वारा

प्रस्तुत उपमा के प्रायः सभी भेदों को स्वीकार कर लिया है। (कविराजमार्ग २, ५९–८५)

(ग) तरुणवाचस्पति नामक टीकाकार ने कई स्थानों पर स्पष्टरूप से लिखा है कि दण्डी ने भामह की आलोचना की है (उ० काव्यादर्श १, २३, २९; २, २३५, ३५८ और ३, १२७)। तरुणवाचस्पति अपेक्षाकृत उत्तरवर्ती लेखक हैं। उन्होंने दशरूपक को उद्धृत किया है (काव्यादर्श २, २८१) और सम्भवतः रीति के छः भेदों में सरस्वतीकण्ठाभरण को भी। कलिङ्गराय-सूर्य कृत सूक्तिरत्नहार (त्रि० सं० सी०) ने तरुणवाचस्पति के दो श्लोक उद्धृत किये हैं। त्रिवेन्द्रम की क्यूरेटर्स लाइब्रेरी में तरुणवाचस्पति के पुत्र केशवभट्टारक की तात्पर्यनिरूपण नामक टीका है जो महाराजाधिराज रामनाथ के गुरु थे। ये वे ही होयसल वीर रामनाथ हैं जो १२५५ में सिंहासनारूढ़ हुए थे (देखो, डा० राघवन्—ज० ओ० रि० मद्रास, भाग १३ पृ० २९३–३०६, सूक्तिरत्नहार, पृ० ३०५)। इसका अर्थ है तरुणवाचस्पति तेरहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में अर्थात् दण्डी से ६०० वर्ष पश्चात् हुए हैं। उन्होंने परस्पर विरोधी मतों को देखकर कहा कि दण्डी ने भामह की आलोचना की है। तिथि-निर्णय के सम्बन्ध में उत्तरवर्ती लेखकों को प्रमाण मानना कितना दोषपूर्ण है यह बात एक अन्य उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगी। चक्रवर्ती भट्टाचार्य ने काव्यप्रकाश पर अपनी टीका में लिखा है कि मम्मट (काव्यप्रकाश १० उ० राजति तटीय० इत्यादि) ने अलङ्कारसर्वस्व का खण्डन किया है। नागोजी का भी यही कथन है। जयरथ का रचनाकाल १२०० ई० है और वे मम्मट तथा अलङ्कारसर्वस्व दोनों के समीपवर्ती हैं उन्होंने चक्रवर्ती के विपरीत मत प्रकट किया है और कहा है कि अलङ्कारसर्वस्व ने (काव्यप्रकाश पृ० २५०) मम्मट की आलोचना की है। अतः जब तक दूसरे पुष्ट प्रमाण नहीं मिलते, तरुणवाचस्पति का कथन विशेष महत्त्व नहीं रखता।

(घ) भामह ने कथा और आख्यायिका में भेद का प्रतिपादन किया है जबकि दण्डी ने दोनों को एक ही माना है ('तत्कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयाङ्किता' १, २८)। यह माना जाता है कि दण्डी ने भामह का खण्डन किया है। भामह ने इन दोनों में नीचे लिखे भेद बताये हैं (काव्यालङ्कार १, २५–२७); (१) **सोच्छ्वासाख्यायिका** मता ॥; (२) **वृत्तमाख्यायते** तस्यां **नायकेन स्वचेष्टितम्**।; (३) वक्त्रं चापरवक्त्रं च काले भाव्यर्थशंसि च; (४) कवेरभिप्रायकृतैः कथा (थ ?) नैः कैश्चिदङ्किता।; (५) कन्याहरण-

संग्रामविप्रलम्भोदयान्विता ।[1] (मेरे मतानुसार इन दो पंक्तियों में आख्यायिका का वर्णन है। किन्तु कथा न वक्त्रापरवक्त्राभ्यां युक्ता यह उपर्युल्लिखित तृतीय विशेषता के विपरीत है। नोच्छ्वासवत्यपि इसमें प्रथम विशेषता से भेद प्रकट किया गया है, अन्यैः स्वचरितं तस्यां नायकेन तु नोच्यते यहाँ द्वितीय अवस्था से भेद प्रकट किया गया है। चतुर्थ एवं पञ्चम विशेषता के सम्बन्ध में भामह ने आख्यायिका से कथा का कोई भेद प्रकट नहीं किया। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उनका अभिप्राय क्या है। क्या वे यह चाहते हैं कि चतुर्थ और पञ्चम विशेषतायें कथा में नहीं होनी चाहिएं। दण्डी ने एक को छोड़कर अन्य सब विशेषताओं का खण्डन किया है। कुछ विद्वानों का कथन है कि दण्डी के मतानुसार आख्यायिका का वक्ता स्वयं उसका नायक होना चाहिए जबकि कथा का वक्ता नायक के अतिरिक्त भी हो सकता है। भामह ने कथा और आख्यायिका में इस अन्तर का उल्लेख नहीं किया जैसाकि उपर्युक्त वर्णन से प्रकट होता है। तयोराख्यायिका किल ॥ नायकेनैव वाच्यान्या नायकेनेतरेण वा। अपि त्वनियमो दृष्टस्तत्राप्यान्यैरुदीरणात्। अन्यो वक्ता स्वयं वेत्ति कीदृग्वा भेदकारणम् ॥' (काव्यादर्श १, २३–२५)। दण्डी ने यह भी उल्लेख किया है कि कुछ आख्यायिकाओं में भी वक्ता नायक से भिन्न है। ऊपर लिखी प्रथम एवं तृतीय विशेषता के सम्बन्ध में उनका कथन है—"वक्त्रं चापरवक्त्रं च सोच्छ्वासत्वं च भेदकम् ॥ चिह्नमाख्यायिकायाश्चेत् प्रसङ्गेन कथास्वपि ॥ आर्यादिवत्प्रवेशः किं न वक्त्रापरवक्त्रयोः। भेदश्च दृष्टो लम्भादिरुच्छ्वासो वास्तु किं ततः ॥' (काव्यादर्श १, २६–२७)। उनका कथन है कि जब कथा में आर्या का प्रयोग हो सकता है तो ऐसा कोई कारण नहीं है जिससे वक्त्र और अपरवक्त्र का प्रयोग न हो सके। इसी प्रकार कथा का विभाजन लम्भ कहा जाता है (बृहत्कथा में उन्हें लम्भक कहा गया है) यदि उन्हें उच्छ्वास कहा जाय, जैसाकि आख्यायिका में है, तो उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। चतुर्थ एवं पञ्चम विशेषता के सम्बन्ध में दण्डी का कथन है कि कन्याहरण आदि सर्गबन्ध (=महाकाव्य) में भी होते हैं वे आख्यायिका की

---

1. संस्कृतं संस्कृता चेष्टा कथापभ्रंशभाक् तथा (भामह I, २८) इसका अन्वय है। सम्भवतया इसका यह अर्थ है कि आख्यायिका संस्कृत में ही होनी चाहिए जबकि कथा संस्कृत तथा अपभ्रंश किसी भी भाषा में हो सकती है। श्री नागनाथ ने संस्कृत के स्थान पर संस्कृते पाठ दिया है परन्तु उसके लिए किसी हस्तलिखित प्रति का आधार नहीं है।

विशेषता नहीं है। यदि कथा में भी आ जाते हैं तो उन्हें दोष नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार माघ ने प्रत्येक सर्ग के आदि एवं अन्त में श्री शब्द का प्रयोग किया है और सेतुवन्ध ने अनुराग शब्द का, किन्तु इतने मात्र से उनका प्रयोग कथा में वर्जित नहीं है। 'कन्याहरणसंग्रामविप्रलम्भोदयादयः। सर्गवन्ध समा एव नैते वैशेषिका गुणाः॥ कविभावकृतं चिह्नमन्यत्रापि न दुष्यति' (काव्यादर्श १, २९–३०)। पुस्तक के द्वितीय खण्ड में यह बताया जायेगा कि पतञ्जलि (६०० ई०) ने भी कथा और आख्यायिका के रूप में गद्य के दो भेद किये हैं। उन्होंने अनेक रचनाओं का उदाहरण भी दिया है। सुवन्धु तथा वाण ने भी उसका समर्थन किया है। आख्यायिका के रूप में उदाहृत रचनाओं में भामह द्वारा उल्लिखित समस्त विशेषतायें विद्यमान हैं। वाण ने अपनी कादम्वरी को कथा बताया है। तथा हर्षचरित की प्रस्तावना में कहा है कि आख्यायिका का विभाजन उच्छ्वासों में किया जाता है तथा उसमें वक्त्र नामक छन्द में कुछ पद्य होते हैं (उच्छ्वासान्तेप्यखिन्नास्ते वक्त्रे येषां सरस्वती। कथमाख्यायिकाकारा न ते वन्द्याः कवीश्वराः॥ हर्षचरित प्रस्तावना दशम श्लोक)। हर्षचरित के १९वें श्लोक में वाण ने स्पष्टरूप से लिखा है कि वे आख्यायिका की रचना कर रहे हैं। हर्षचरित अपूर्ण रह गया। यह कल्पना की जाती है कि वाण ने उसे जान-बूझकर अधूरा छोड़ दिया क्योंकि अष्टम उच्छ्वास के पश्चात् उसके चरितनायक सम्राट् हर्षवर्धन की पुलकेशी द्वारा पराजय हो गई जैसाकि ऐहोल शिलालेख से प्रकट होता है (इ० ऐण्टी० भाग ८, पृ० २३७; पृष्ठ २४२ भयविगलितहर्षो येन चाकारि हर्षः)। वाण ने भावी सन्तति के सामने अपने आश्रयदाता की पराजय को प्रस्तुत करना उचित नहीं समझा। हर्षवर्धन की पराजय ६३४ ई० से पूर्व हुई। अतः यह मानना होगा कि हर्षचरित की रचना ६३० ई० के लगभग हुई। दण्डी और भामह दोनों इसके चिरकाल पश्चात् हुए। (दे० डा० डे का कथा एवं आख्यायिका पर लेख, बुलेटिन ऑफ दी लण्डन स्कूल ऑफ ओरियण्टल स्टडीज़, भाग ३, पृ० ५०७–५१७) वे इस बात से सहमत हैं कि भामह ने आख्यायिका के जो लक्षण दिये हैं वे हर्षचरित में उपलब्ध नहीं होते (पृ० ५११)। डा० नोवेल (पृ० १३६ टि० फाउण्डेशन्स इत्यादि) ने आश्चर्य प्रकट किया है कि दण्डी को बृहत्कथा का पता नहीं था। उन्होंने काव्यादर्श (भूतभाषामयीं प्राहुरद्भुतार्थां बृहत्कथाम् १, ३८) को समझने का प्रयत्न नहीं किया। दण्डी का अभिप्राय यह है कि बृहत्कथा में आश्चर्य-जनक कथायें हैं किन्तु उसकी रचना संस्कृत में नहीं हुई। उनका श्लोक निम्नलिखित है—कथा हि सर्वभाषाभिः प्राकृतेन च वध्यते।

कहा जाता है कि वृहत्कथा में प्रयुक्त प्राकृत का नाम भूतभाषा (पैशाची) था। काव्यादर्श ने (१, ३४–३५) महाराष्ट्री, शौरसेनी, गौडी, लाटी तथा अन्य लोकभाषाओं का उल्लेख किया है। वे सभी प्राकृत में सम्मिलित हैं और महाराष्ट्री उनमें मुख्य है। जैसाकि कादम्वरी के प्रस्तावना श्लोक सं० १७, तथा हर्षचरित एवं कादम्वरी में उपलब्ध उल्लेखों से प्रतीत होता है, बाण बृहत्कथा से सुपरिचित थे। नोवल (पृ० १५६–१८७) ने कथा और आख्यायिका की चर्चा की है तथा वहुत से अशुद्ध अनुवादों के साथ मिथ्या निष्कर्ष प्रकट किये हैं। अतः यह मानना अनावश्यक है कि दण्डी ने भामह द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की आलोचना की है। क्योंकि कथा के वक्ता के सम्वन्ध में भामह चुप हैं अतः उस सम्वन्ध में दण्डी ने जो कुछ कहा है उसे भामह का खण्डन नहीं माना जा सकता।

(ङ) न लिङ्गवचने भिन्ने न हीनाधिकतापि वा। उपमा दूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम्॥ (काव्यादर्श २, ५१) यहाँ दण्डी ने उपमान तथा उपमेय में परस्पर लिङ्गभेद, वचनभेद, हीनता एवं अधिकता को कुछ स्थानों पर दोष माना है सर्वत्र नहीं, जवकि भामह (काव्यालङ्कार २, ३९) ने उपमा के सात दोष वताये हैं। किन्तु इतने मात्र से भामह को पूर्ववर्ती नहीं माना जा सकता। भामह ने स्वयं कहा है कि मेधावी ने उपमा के सात दोष गिनाये हैं (देखिये, काव्यालङ्कार २, ४०)। अतः यह संख्या प्राचीन परम्परागत है, प्रत्युत् इसे दण्डी को पूर्ववर्ती सिद्ध करने के लिए एक तर्क के रूप में उपस्थित किया जा सकता है। दण्डी ने उपमा के केवल चार दोष (काव्यादर्श २, ५१) गिनाये हैं,[1] जबकि मेधावी ने सात बताये हैं और भामह ने उसीका अनुसरण किया है। अतः दण्डी को प्रवर्तक मानना होगा। वामन ने छः दोष (का० सूत्र ४, २, ८) बताये हैं। अग्निपुराण ३४६, २९ का कथन है—

विभक्तिसञ्ज्ञालिङ्गानां यत्रोद्वेगो न धीमताम्।
संख्यायास्तत्र भिन्नत्वमुपमानोपमेययोः॥

1. भामह (काव्यालङ्कार २, ३८) ने मालोपमा आदि उपमा के अनेक भेद बताने वालों पर आक्षेप किया है और कहा है कि यह विस्तार निरर्थक है (मालोपमादि सर्वोऽपि न ज्यायान् विस्तरो मुधा)। अतः उपमा के दोष बताना, उनकी व्याख्या करना तथा उनके उदाहरण देना दण्डी के अपने सिद्धान्त से विपरीत है (यथा काव्यालङ्कार २, ४०–६४ पर)। जबकि रुद्रट के व्याख्याकार नमिसाधु (११, २४) के कथनानुसार मेधावी उपमा के सात दोषों की व्याख्या एवं उदाहरण लिखकर दे चुके हैं।

यह उल्लेखनीय है कि यत्रोद्वेगो न धीमताम् यह पाठ दण्डी और अग्निपुराण दोनों में मिलता है।

(च) गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः दण्डी का कथन है कि उपरोक्त शब्द अवसरविशेष पर उत्तम काव्य कहे जा सकते हैं ('गतो...... ...पक्षिणः। इतीदमपि साध्वेव कालावस्थानिवेदने' काव्यालङ्कार २, २४४); जबकि भामह ने उन शब्दों के काव्य होने में सन्देह प्रकट किया है। कुछ उन्हें वार्ता शब्द से सम्बोधित करते हैं। उनका यह अभिप्राय भी हो सकता है कि उपरोक्त शब्द अधमकाव्य के उदाहरण हैं (गतो...पक्षिणः। इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते॥ काव्यालंकार (२, ८७)। प्रो० रङ्गाचार्य और त्रिवेदी महोदय ने भामह की पूर्ववर्तिता सिद्ध करने के लिए इसे तर्क के रूप में उपस्थित किया है। किन्तु इत्ये...चक्षते[1] आदि शब्दों से प्रकट होता है कि भामह किसी प्राचीन परम्परा का अनुसरण कर रहे हैं और इन शब्दों को वार्ता के उदाहरण के रूप में किसी प्राचीन आलंकारिक से उद्धृत कर रहे हैं (तुलना: दण्डी द्वारा लिम्पतीव० इत्यादि श्लोक के सम्बन्ध में इदमपि आदि शब्दों का प्रयोग)। जयमङ्गला के अनुसार (१०, ४५) ने वार्ता को एक अलंकार मानकर उसका उदाहरण दिया है। विष्णुधर्मोत्तर (एक हस्तलिखित प्रति, १४, ११ देखिये ऊपर पृ० ७१) ने वार्ता का लक्षण दिया है। प्रतीत होता है कि दण्डी ने वार्ता का निर्देश नीचे लिखे शब्दों में किया है—तच्च वार्ताभिधानेषु वर्णनास्वपि दृश्यते (काव्यादर्श १, ८५)। किन्तु वार्ता नामक अलंकार का उदाहरण नहीं दिया। सम्भवतया वे उसे अलंकार मानने के लिए तैयार नहीं हैं और उसके कुछ उदाहरणों को स्वभावोक्ति में सम्मिलित कर लिया है। प्राचीन आलंकारिकों द्वारा प्रस्तुत 'गतोऽस्तमर्कः' उदाहरण के विषय में उनका कथन है—यदि ध्वनित अर्थ को लिया जाय तो यह वाक्य उत्तम काव्य का उदाहरण हो सकता है (किन्तु यदि सीधे-सादे शाब्दिक अर्थ को लिया जाता है तो वह काव्य नहीं है)। दे० काव्यप्रकाश (५ म उल्लास पृ० २४० वा० वि० प्रे०) जहाँ इसके श्रोतृभेद से ध्वनित नौ अर्थों का प्रतिपादन है।[2] गतोऽस्तमर्कः,

---

1. भामह ने दूसरों के मत उद्धृत करने के लिए प्रचक्षते शब्द का बाहुल्येन प्रयोग किया है। देखिये, स्वभावोक्ति के विषय में २, ९३ पर एकार्थ के विषय में ४, १२ अपोह के विषय में ४, १६।

2. सोमेश्वर ने का० पृ० पर अपनी टीका (पत्र ८८ बी०) में कहा है—'तथा गतो...पक्षिणः इत्यादौ प्रसाद-श्लेष-समता-माधुर्य-सौकुमार्यार्थव्यक्तीनां गुणानां सद्भावेऽपि काव्यव्यवहाराप्रवृत्तेः।'

दशदाडिमादि के समान सुप्रसिद्ध (मूर्धाभिषिक्त) वाक्य हैं। भामह ने इसका उल्लेख (काव्यालंकार ४, ८) किया है। जैमिनि सूत्र की व्याख्या शाबरभाष्य (पृ० ४७ और पृ० १२५२, अध्याय ४, ३, १० आनन्दाश्रम संस्करण) तथा महाभाष्य (भाग १, पृ० ३८, कील होर्न द्वारा सम्पादित) में भी इसका उल्लेख है यथा—अनर्थकानि। दशदांडिमानि, षडपूपाः)।

(छ) अद्य या मम गोविन्द इत्यादि श्लोक को भामह तथा दण्डी दोनों ने प्रयस् के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। त्रिवेदी महोदय का कथन है कि भामह ने किसी दूसरे का उद्धरण देते समय रचयिता का नाम निर्देश अवश्य किया है जबकि दण्डी ने ऐसा नहीं किया जैसाकि 'लिम्पतीव' आदि श्लोक से प्रतीत होता है। यह तर्क दण्डी के प्रति अन्याय है। दण्डी ने काव्यादर्श अ० २, श्लोक २२६ के उत्तरार्ध के साथ इतीदमपि शब्दों का उल्लेख करके उसके किसी अन्य की रचना होने का स्पष्ट निर्देश कर दिया है।

जैसाकि ऊपर (पृ० ८०,१२६) कहा चुका है कि भामह का पाठ इतना शुद्ध नहीं है कि पूर्ण विश्वास के साथ कुछ कहा जा सके। अतः तर्क का प्रथम भाग निराधार है। कुछ अन्य बातें भी विचारणीय हैं। भामह ने प्रेयस् और ऊर्जस्वि की व्याख्या भी नहीं की और प्रत्येक का एक एक उदाहरण दिया है (काव्यालंकार, अ० ३, श्लोक५; ७) जबकि दण्डी ने दोनों की व्याख्या की है और प्रेयस् के दो उदाहरण दिये हैं। इससे स्पष्टतया यह निष्कर्ष निकलता है कि भामह ने किसी पूर्वाचार्य की व्याख्या को देखकर नई व्याख्या नहीं की और केवल एक-एक उदाहरण देकर छोड़ दिया। यह भी सम्भव है कि उसे इनकी अलंकारों से गणना अभीष्ट न थी फिर भी पूर्वाचार्यों का अनुसरण करके केवल उदाहरण दे दिये। अतः यह मानना कि दण्डी ने भामह के उदाहरण उद्धृत किये हैं, दूर कल्पना है। इसके विपरीत यह तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि भामह ने दण्डी के उदाहरण उद्धृत किये हैं। काव्यादर्श (२, २७६) का अद्य या मम इत्यादि, श्लोक महाभारत के निम्नलिखित श्लोक के समान हैं (या प्रीतिः पुण्डरीकाक्ष तवागमनकारणात्। सा किमाख्यायते तुभ्यमन्तरात्मासि देहिनाम्॥ महाभारत, उद्योग ८९, २४)

(ज) भामह ने उपमा रूपक (३, ३५), ससन्देह (३, ४३), अनन्वय (३, ४५) तथा उत्प्रेक्षावयव की पृथक् अलंकार के रूप में व्याख्या की है। दण्डी ने उन्हें पृथक् नहीं माना और उपमारूपक को रूपक में, ससन्देह तथा अनन्वय को

उपमा में तथा उत्प्रेक्षावयव को उत्प्रेक्षा में सम्मिलित किया है—

> अनन्वयससन्देहावुपमास्वेव दर्शितौ ।
> उपमारूपकं चापि रूपकेष्वेव दर्शितम् ।।
> उत्प्रेक्षाभेद एवासावुत्प्रेक्षावयवोऽपि च ।
>
> काव्यालंकार २, ३५८–३५९

इस वात को भी भामह की पूर्ववर्तिता सिद्ध करने के लिए तर्क के रूप में उपस्थित किया जाता है। भट्टि ने इन सव अलंकारों के उदाहरण पृथक् रूप में दिये हैं। दे० भट्टि सर्ग १०, श्लोक ६८–७० ससन्देह अनन्वय, और उत्प्रेक्षावयव के लिए; श्लोक ६१ उपमारूपक के लिए, जयमङ्गला के अनुसार। इस वात के लिए कोई प्रवल प्रमाण नहीं है कि दण्डी ने भामह का ही उल्लेख किया है किन्तु भट्टि से पूर्ववर्ती अन्य आलंकारिकों का नहीं किया। इस सुझाव के विरुद्ध एक अन्य तर्क भी है। भामह ने उपमेयोपमा का लक्षण पृथक् दिया है (काव्यालंकार ३, ३७) जबकि दण्डी ने उसका लक्षण नहीं दिया। उसने अन्योन्योपमा (काव्यादर्श २, १८) को ही उपमेयोपमा माना है। यदि दण्डी भामह से पश्चादवर्ती होते तो अन्य अलंकारों के समान यहाँ भी अवश्य लिखते कि उपमेयोपमा का उपमा में समावेश हो जाता है।

(झ) भामह ने १० दोष, जो दण्डी के समान हैं, गिनाने के पश्चात् ११ वाँ दोष प्रस्तुत किया है—प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहीनं दुष्टं च नेष्यते' (४, २) तथा इसकी चर्चा में सारा पञ्चम परिच्छेद समाप्त कर दिया है। दण्डी का कथन कि प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहानि को दोष माना जाय या नहीं, यह चर्चा नीरस एवं व्यर्थ का वौद्धिक व्यायाम है। इस चर्चा से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता (प्रतिज्ञा···लीढेन किं फलम् ।। ३, १२७ ऊपर पृ० १०० पर उद्धृत)। यह नहीं समझना चाहिए कि काव्यशास्त्र में तर्कशास्त्रीय बातों की चर्चा सर्वप्रथम भामह ने की है। नाट्यशास्त्र ने भी काव्य के दस दोष गिनाते समय न्यायादपेत को सम्मिलित किया और उसकी व्याख्या के रूप में लिखा है—न्यायादपेतं विज्ञेयं प्रमाणपरिवर्जितम् (नाट्य० १७, ९३=गा० ओ० सी० संस्करण अध्याय १६, ९३ पृ० ३३३)। प्रमाण-चर्चा तर्कशास्त्र के अन्तर्गत है। अतः यह मानना उचित होगा कि काव्यदर्श का सङ्केत नाट्यशास्त्र अथवा किसी ऐसे आलंकारिक की ओर है जिसने इस दोष की चर्चा विस्तारपूर्वक की है। यदि दण्डी के सामने भामह का पञ्चम परिच्छेद होता तो यह सम्भव

नहीं है कि वे इस प्रश्न को संक्षेप में साधारण-सा आक्षेप करके छोड़ देते—तेनालीढेन किं फलम्। नाट्यशास्त्र (१७, ८८) में प्रतिपादित दस दोष इस प्रकार हैं—(१) अर्थहीन (२) एकार्थ (३) गूढार्थ (४) अर्थान्तर (५) विसन्धि (६) शब्दच्युत (अथवा शब्दहीन जैसाकि १७, ९४ में है) (७) विषम (८) भिन्नार्थ, (९) अभिप्लुतार्थ तथा (१०) न्यायादपेत। प्रथम सात न्यूनाधिक रूप में भामह और दण्डी द्वारा प्रस्तुत नीचे लिखे सात दोषों से मिलते हैं—१. अपार्थ, २. एकार्थ, ३. ससंशय, ४. अपक्रम, ५. विसन्धि, ६. शब्द-हीन तथा ७. भिन्नवृत्त। नाट्यशास्त्र का भिन्नार्थ यहाँ असभ्य एवं ग्राम्य नाम द्वारा अभिहित है। अभिप्लुतार्थ का लक्षण है—'यत्पादेन (यत्पादे न ?) समस्यते।' भामह द्वारा प्रस्तुत यतिभ्रष्ट सम्भवतया नाट्यशास्त्र के विषम दोष में तथा व्यर्थ उसके अर्थहीन में आ जाता है। आलङ्कारिकों ने कुछ दोषों के नामकरण के लिए न्यायसूत्र का भी आश्रय लिया है। तुलना—'प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरं प्रतिज्ञाविरोधः प्रतिज्ञासन्न्यासः हेत्वन्तरमर्थान्तरं निरर्थकमविज्ञातार्थमपार्थकमप्राप्तकालं न्यूनमधिकं पुनरुक्तमननुभाषणज्ञानमप्रतिभा···निग्रह-स्थानानि।' न्यायसूत्र २.१ विष्णुधर्मोत्तर का कथन है—

ससंशयं न वक्तव्यं प्रतिज्ञारहितं तथा।
पूर्वापर विरुद्धं च यच्च लोक विगर्हितम्॥

३, १५, १३

और ३, १५, ११ पर विष्णुधर्मोत्तर ने उन दशाओं का प्रतिपादन किया है जहाँ पुनरुक्त को दोष नहीं माना जाता।

अब मैं उन प्रमाणों को प्रस्तुत करूँगा जिनके आधार पर भामह को दण्डी के पश्चात् रखा जाता है।

(ञ) भामह का कथन है—

हिमापहामित्रधरैर्व्याप्तं व्योमेत्यवाचकम्।

काव्यालंकार १, ४१

दण्डी ने इसके स्थान पर पूरा श्लोक दिया है, जोकि परिहारिका नामक प्रहेलिका का उदाहरण है—

विजितात्म (न्न ५, १) भवद्वेषिगुरुपादहतो जनः।
हिमापहामित्रधरैर्व्याप्तं व्योमाभिनन्दति॥

काव्यादर्श ३, १२०

शार्ङ्ग० ने इसे दण्डी का माना है और इसकी व्याख्या की है।[1] भामह ने दण्डी का श्लोक लेकर उसमें दोष दिखाया है, इस बात के लिए उपरोक्त कथन एक प्रबल प्रमाण है। उसका एक ही विकल्प हो सकता है कि प्रस्तुत श्लोक दण्डी की अपनी रचना न हो। उसने इसे किसी प्राचीन लेखक से लिया हो और भामह के समक्ष भी वही लेखक रहा होगा। किन्तु इस विकल्प के विरुद्ध कई बातें हैं। दण्डी ने लिम्पतीव आदि को छोड़कर कोई श्लोक अन्य ग्रन्थकार से नहीं लिया। कुछ अन्य श्लोक भी उद्धृत बताये जाते हैं, किन्तु यह विवाद-ग्रस्त है। केवल इतने मात्र से कि श्लोक-विशेष को अन्य की कृति न मानने पर हमारी धारणाओं को आघात लगेगा, किसी श्लोक को दूसरे की कृति मानना अनुचित है।

दोषानपरिसंख्येयान्मन्यमाना वयं पुनः।
साध्वीरेवाभिधास्यामस्ता दुष्टायास्त्वलक्षणः॥

काव्या० ३, १०७

उपरोक्त शब्दों से प्रकट होता है कि दण्डी ने प्रहेलिकाओं के लिए उदाहरण स्वयं ही रचे हैं और हिमापहा० आदि श्लोक प्रहेलिका का सुन्दर उदाहरण है। भामह ने उसका एक अंश उद्धृत किया है। इससे सिद्ध होता है कि वे दण्डी के पश्चात् हुए। बाण (सप्तम शतक का पूर्वार्ध) के बहुत पहले प्रहेलिकाओं का अस्तित्व था।

(ट) भामह की तुलना में दण्डी का उपमा विषयक विवेचन अवैज्ञानिक है। दण्डी ने अनुप्रास को संक्षिप्त रूप में तथा यमक को विस्तार के साथ प्रस्तुत किया है। किन्तु यह कोई प्रबल युक्ति नहीं है। अग्निपुराण ने भामह से सामग्री ली है फिर भी उसने उपमा का विवेचन दण्डी के समान किया है तथा रुद्रट आदि प्राचीन आलंकारिकों ने भी यमक का विस्तृत विवेचन किया है।

(ठ) भामह के ग्रन्थ में ऐसे अनेक स्थान हैं जहाँ उसने अन्य आलंकारिकों के मत का समर्थन या खण्डन किया है। उनमें से अधिकतर दण्डी के काव्यादर्श में मिलते हैं। भामह ने वैदर्भी और गौडी को दो रीतियाँ मानने वालों का

---

1. शार्ङ्गधर ने व्याख्या की है—'विना गरुडेन जितः इन्द्रः तदात्मभवः अर्जुनः तद् द्वेषी कर्णः तद्गुरुः सूर्यः तत्पादहतः तत्किरणसन्तप्तः। हिमापहः अग्निः तदमित्रं पानीयं तद्धराः मेघाः' (तैर्व्याप्तं व्योम नभः)।

खण्डन किया है और उपहास के रूप में उनके लिए सुधियः शब्द का प्रयोग किया है--

वैदर्भमन्यदस्तीति मन्यन्ते सुधियोऽपरे ।
तदेव च किल ज्यायः सदर्थमपि नापरम् ॥
गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक् ।
गतानुगतिकन्यायान्नानाख्येयममेधसाम् ॥

काव्यालंकार १, ३१–३२

अन्तिम श्लोक का अन्तिम पाद महत्त्वपूर्ण है । इसका अर्थ है, दूसरों का अन्धानुकरण करके अज्ञानियों के सामने इस प्रकार की बात नहीं कहनी चाहिए कि वैदर्भ और गौड भिन्न-भिन्न मार्ग हैं । भामह का अभिप्राय है कि कुछ प्राचीन आलंकारिकों ने इन दोनों में भेद किया है किन्तु उसे वैसा ही मानना और सर्वसाधारण के सामने प्रतिपादन करना उचित नहीं है । इसका अर्थ है कि भामह उन प्राचीन आलंकारिकों से परिचित हैं जिन्होंने वैदर्भ और गौड में परस्पर भेद माना है । तुलना के लिए निम्नलिखित श्लोक देखिये--

गतानुगतिको लोकः कुट्टनीमुपदेशिनीम् ।
प्रमाणयति नो धर्मे यथा गोघ्नमपि द्विजम् ॥

काव्यादर्श ने इन दोनों में भेद का प्रतिपादन किया है—

अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम् ।
तत्र वैदर्भगौडीयो वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ ॥
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः ।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि ॥

काव्यादर्श १, ४०; ४२

किन्तु दण्डी के शब्द 'अनेको मार्गः' से प्रकट होता है कि प्राचीन समय में इन्हें भिन्न-भिन्न शैलियों के रूप में माना जाता रहा होगा, किन्तु इस समय वे ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं जिनके आधार पर निर्णय किया जा सके । और जब तक वे ग्रन्थ नहीं मिलते यह निश्चितरूप में नहीं कहा जा सकता कि भामह ने दण्डी की ही आलोचना की है और किसी अन्य पूर्ववर्ती आलंकारिक की नहीं । यह उल्लेखनीय है कि बाण ने भी गौडी रीति को शब्दाडम्बर वाली बताया है— गौडेस्वक्षरडम्बरः, हर्षचरित, प्रस्तावना श्लोक ७.

(ठ) दण्डी ने दस गुण (काव्यादर्श १, ४१–४२) गिनाये हैं और उनके नाम नाट्यशास्त्र (१७, ९६) के समान हैं। भामह ने गुणों के विषय में कुछ नहीं लिखा। प्रतीत होता है कि ध्वनिकारिका (२, ८, १०, ११) तथा मम्मट के समान जिन आलङ्कारिकों ने गुणों की संख्या तीन ही बताई है और समासप्रधान रचना को ओजस् गुण बताने वालों का उपहास किया है, उनमें भामह प्रथम थे—

माधुर्यमभिवाञ्छन्तः प्रसादं च सुमेधसः।
समासवन्ति भूयांसि न पदानि प्रयुञ्जते॥
केचिदोजोभिधित्सन्तः समस्यन्ति बहून्यपि।
श्रव्यं नातिसमस्तार्थं काव्यं मधुरमिष्यते॥
आविद्वदंगनाबालप्रतीतार्थं प्रसादवत्।

काव्यालङ्कार २, १–३

इससे प्रतीत होता है, जैसाकि अनेक विद्वानों का मत है, गुणों की संख्या संक्षिप्त करने की उपरोक्त मनोवृत्ति उत्तरकालीन है, जबकि दण्डी ने भरत की प्राचीन परम्परा का अनुसरण किया है। नाट्यशास्त्र (गा० ओ० सी०) में ओजस् का लक्षण निम्नलिखित है—

समासवद्भिर्बहुभिर्विचित्रैश्च पदैर्युतम्।
सानुरागैरुदारैश्च तदोजः परिकीर्त्यते॥

नाट्यशास्त्र १६, १०५

अभिनवभारती ने इस श्लोक की टीका की है किन्तु काशी संस्कृत सीरिज़ के संस्करण में इसका लक्षण भिन्न है। गुणों की संख्या घटाने की परिपाटी कब प्रारम्भ हुई इस विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। वामन ने दस गुण गिनाये हैं जोकि निश्चितरूप से भामह के उत्तरवर्ती हैं। इसके अतिरिक्त, दण्डी ने यह नहीं कहा कि माधुर्य और प्रसाद में लम्बे समास नहीं होने चाहिए किन्तु ओजस् के लिए 'समासभूयस्त्वम्' (काव्यादर्श १, ८९) स्पष्टरूप से कहा है। यह कहा जा सकता है कि भामह ने सम्भवतया दण्डी से भिन्न किसी अन्य आलङ्कारिक का सङ्केत किया है। किन्तु वर्तमान लेखक का विश्वास है कि भामह ने दण्डी का ही निर्देश किया है और गुणों का संक्षिप्त प्रतिपादन उसके उत्तरवर्ती होने की सूचना देता है।

(ड) भामह का कथन है—

यदुक्तं त्रिप्रकारत्वं तस्याः कैश्चिन्महात्मभिः ।
निन्दाप्रशंसाचिख्यासाभेदादत्राभिधीयते ॥
सामाण्यगुणनिर्देशात् त्रयमप्युदितं ननु ।
मालोपमादिः सर्वोऽपि न ज्यायान् विस्तरोमुधा ॥

काव्यालङ्कार २, ३७–३८

उन्होंने उपमा के तीन भेदों का उल्लेख किया है—१. निन्दोपमा, २. प्रशंसोपमा, ३. आचिरव्यासोपमा। इसके विपरीत, यह कहा जा रहा है कि यदि भामह के शब्दों का ठीक अर्थ किया जाय तो यह तात्पर्य निकलेगा कि उपमा के तीन ही भेद हैं, जबकि दण्डी ने ३० से भी अधिक भेद किये हैं, जिनमें उपरोक्त तीन भी सम्मिलित हैं। यदि भामह का अभिप्राय अनेक भेदों में से इन तीन के निर्देश का होता तो वे अवश्य लिखते—प्रकारास्त्रय एतेऽपि तस्या उक्ता इत्यादि। इस तर्क में कुछ वल है किन्तु इस बात पर भी ध्यान देना चाहिए कि उपरोक्त तीन भेदों का प्रतिपादन करते हुए भामह ने मालोपमा तथा उपमा के अन्य भेदों को विस्तार मात्र बताया है। काव्यादर्श २, ४२ में मालोपमा का प्रतिपादन है।

(ण) दण्डी का कथन है—

हेतुश्च सूक्ष्म लेशौ च वाचामुत्तमभूषणम् ।

काव्यादर्श–२, २३५

जबकि भामह का कथन है—

हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालंकारतया मतः ।

काव्यालंकार २, ८६

उसने इन्हें अलङ्कार न मानने का कारण यह वताया है कि उनमें वक्रोक्ति नहीं होती। कहा जा सकता है कि भामह ने उन्हें अलङ्कार नहीं माना इसीलिए दण्डी ने बलपूर्वक कहा कि वे उत्तम अलङ्कार हैं।

(त) स्वभावोक्तिरलंकार इति केचित्प्रचक्षते ।
अर्थस्य तदवस्थत्वं स्वभावोभिहितो यथा ॥

काव्यालङ्कार २, ९८

दण्डी ने स्वभावोक्ति को प्रथम अलङ्कार माना है और उसे जाति भी कहा है—

नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद् विवृण्वती ।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा ।।

काव्यादर्श २, ८

यह ठीक है कि भामह का लक्षण दण्डी के साथ शब्दशः मिलता है किन्तु स्वभावोक्ति प्राचीन अलङ्कार है। वाण ने उसे जाति शब्द से कहा है। अतः इस तर्क को निर्णायक नहीं माना जा सकता।

एतदेवापरेऽन्येन व्याख्यानेनान्यथा विदुः ।
नानारत्नादियुक्तं यत् तत् किलोदात्तमुच्यते ।।

काव्यालंकार ३, १२

दण्डी का कथन है—

आशयस्य विभूतेर्वा यन्महत्त्वमनुत्तमम् ।
उदात्तम्............................ ।।
रत्नभित्तिषु संक्रान्तैः प्रतिबिम्बशतैर्वृतः ।
ज्ञातो लङ्केश्वरः कृच्छ्रादाञ्जनेयेन तत्त्वतः ।।
पूर्वत्राशयमाहात्म्यमत्राभ्युदयगौरवम् ।
सुव्यञ्जितमिति प्रोक्तमुदात्तद्वयमप्यदः ।।

काव्यादर्श २, ३००, ३०२-३

यह ध्यान देने योग्य है कि दण्डी का उदाहरण रत्न शब्द से प्रारम्भ होता है तथा भामह ने उदात्त के प्रथम भेद का लक्षण नहीं दिया तथा पिता का आदेश मानकर राम के वनगमन को उदाहरण के रूप में दिया है। दण्डी के उदाहरण का भी वही भाव है। किन्तु भामह ने दण्डी का उल्लेख किया है यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं है। इसके स्थान पर यही मानना होगा कि उदात्त प्राचीन अलङ्कार है। भट्टि ने इसके दो भेदों को लक्ष्य में रखकर दो उदाहरण दिये हैं (भट्टिकाव्य २, ५२–५३)।

(द) भामह का कथन है—

आशीरपि च केषाञ्चिदलङ्कारतया मतः ।

काव्यालङ्कार ३, ५५

तथा दो उदाहरण भी दिये हैं।

जबकि दण्डी का कथन है—

आशीर्नामाभिलषिते वस्तुन्याशंसनं यथा ।
पातु वः परमं ज्योतिरवाङ्मनसगोचरम् ।।

काव्यादर्श २, ३३७

दोनों बातें सम्भव हैं, भामह ने दण्डी का उल्लेख किया हो और न भी किया हो। भट्टि ने आशीः को अलंकार मानकर उदाहरण दिया है तथा भरत ने उसे नाट्य के ३२ लक्षणों में स्थान दिया है (१६, २९ काव्यमाला संस्करण १८९४, गा० ओ० सी० १६, २८ किन्तु संस्करण में नहीं है)।

पुनरुक्तमिदं प्राहुरन्ये शब्दार्थभेदतः।
...अत्रार्थं पुनरुक्तं यत्तदेवैकार्थमिष्यते।
...तामुत्कमनसं नूनं करोति ध्वनिरम्भसाम्।
सौधेषु घनमुक्तानां प्रणालीमुखपातिनाम्॥

काव्यालंकार ४, १२; १६

दण्डी का कथन है—

अविशेषेण पूर्वोक्तं यदि भूयोऽपि कीर्त्यते।
अर्थतः शब्दतो वापि तदेकार्थं मतं यथा॥
उत्कामुन्मनयन्त्येते बालां तदलकत्विषः।
अम्भोधरास्तडित्वन्तो गम्भीराः स्तनयित्नवः॥

काव्यादर्श ३, १३५–१३६

उपरोक्त श्लोक में भामह ने अन्ये शब्द द्वारा दण्डी का उल्लेख किया है। भामह का उदाहरण प्रायः दण्डी के समान है।

(न) जैसाकि ऊपर आ चुका है कि रुद्रट के टीकाकार नमिसाधु ने आलंकारिकों के नाम गिनाये हैं—दण्डीमेधाविरुद्रटभामहादिकृतानि (काव्यालंकार १, २) मेधावी निश्चितरूप से भामह के पूर्ववर्ती हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि नमिसाधु ने उपरोक्त सूची कालक्रम के अनुसार दी है, अतः दण्डी भामह से पूर्ववर्ती हैं। इस तर्क में कुछ बल है किन्तु वह इस कल्पना पर आश्रित है कि नमिसाधु ने उन्हें उपरोक्त नामों को कालक्रम के अनुसार प्रस्तुत किया है। किन्तु इसके लिए कोई प्रमाण नहीं है। उनका इतना ही अभिप्राय है कि रुद्रट से पहले भी बहुत से अलंकार ग्रन्थ रचे गये। इस आधार पर दण्डी को पूर्ववर्ती सिद्ध करने का अर्थ होगा भामह के वक्तव्य से दो अभिप्राय प्रकट करना। मीमांसादर्शन के अनुसार यह वाक्यभेद नाम का दोष है।

इस चर्चा का निष्कर्ष यह है कि भामह को पूर्ववर्ती सिद्ध करने के लिए जो तर्क उपस्थित किये जाते हैं वे अत्यन्त निर्बल हैं। भामह को पूर्ववर्ती माने बिना भी उनका समाधान हो जाता है। उसके साथ उनका कोई अविनाभाव

नहीं है। इसी प्रकार दण्डी को भामह का पूर्ववर्ती सिद्ध करने के लिए जो आधार प्रस्तुत किये गये हैं वे अपेक्षाकृत सबल होने पर भी ऐसे नहीं हैं जो अन्तिम निष्कर्ष तक पहुँचा सकें और परीक्षक असन्दिग्ध निर्णय प्राप्त कर सके। प्रतीत होता है भामह और दण्डी एक-दूसरे से भिन्न स्वतन्त्र-परम्पराओं के अनुयायी हैं। भामह का सम्बन्ध अलंकार-परम्परा के साथ है और दण्डी का भरत की परम्परा के साथ। पूर्ववर्ती कोई भी हो, किन्तु दोनों का समय एक-दूसरे के अत्यन्त निकट है। सम्भवतया दोनों ६५०–७५० ई० के मध्यवर्ती हैं। यदि उपरोक्त सामग्री के आधार पर ऐसा माना जाता है कि एक ने दूसरे से सामग्री ली है अथवा उसका खण्डन किया है और दोनों द्वारा स्वतन्त्र-परम्पराओं के अनुसरण के तृतीय विकल्प को स्वीकार नहीं किया जाता, तो मैं यही कहूँगा कि दण्डी भामह के पूर्ववर्ती हैं। उन बातों को दोहराने की आवश्यकता नहीं है। मेरे मत में दण्डी की पूर्ववर्तिता सिद्ध करने वाले प्रमाण भामह की अपेक्षा अधिक बलवान् हैं, फिर भी उन्हें अन्तिम नहीं कहा जा सकता।

(प) भामह और न्यास के विषय में प्रचलित उग्र विवाद के विषय में भी कुछ लिखना आवश्यक है। इस विवाद के महारथी प्रो० पाठक और त्रिवेदी महोदय हैं। भामह का कथन है—

शिष्टप्रयोगमात्रेण न्यासकार मतेन वा।
तृचा समस्तषष्ठीकं न कथञ्चिदुदाहरेत् ॥
सूत्र ज्ञापकमात्रेण वृत्रहन्ता यथोदितः।
अकेन च न कुर्वीत वृत्तिं तद्गमको यथा ॥

काव्यालंकार ६, ३६–३७

इन श्लोकों का सीधा अर्थ है—कवि को अपनी रचना में ऐसे तृच्प्रत्ययान्त समास का प्रयोग नहीं करना चाहिए, जिसका षष्ठ्यन्त पद के साथ सम्बन्ध हो, अर्थात् समास तोड़ देने पर तृजन्त शब्द का अन्वय षष्ठ्यन्त पद के साथ होता हो। यद्यपि शिष्टों[1] द्वारा ऐसा प्रयोग हुआ है और न्यास ने उसका समर्थन

---

1. शिष्ट शब्द का संकेत पाणिनी की ओर नहीं है। उनके लिए इस प्रकार का साधारण शब्द औचित्य से बाहर है। प्रो० पाठक (इ० ऐण्टी० भाग ४१, पृ० २३५) ने इसका संकेत पाणिनी की ओर माना है किन्तु उनकी धारणा ठीक नहीं है। महाभाष्य (कीलहोर्न द्वारा सम्पादित भाग ३, पृ० १७४) में इस शब्द पर चर्चा है। उसका कुछ अंश नीचे उद्धृत है—के पुनः शिष्टाः। एवं तर्हि निवासत आचारतश्च। स चाचार आर्यावर्त एव। कः पुनरार्यावर्तः।

किया है। उदाहरणस्वरूप केवल पाणिनी सूत्र के आधार पर वृत्रहन्ता शब्द का प्रयोग भी किया जाता है। इसी प्रकार अक प्रत्ययान्त शब्द के साथ भी समास नहीं करना चाहिए, जैसे तद्गमक (तस्य गमकः तद्गमकः) शब्द में है। व्याकरण सम्बन्धी नियमों की विस्तृत चर्चा यहाँ सम्भव नहीं है, फिर भी कुछ शब्द आवश्यक हैं। इससे संस्कृत का थोड़ा-सा ज्ञान रखने वाला समझ सकेगा कि वास्तविकता क्या है ? पाणिनी का सूत्र है—तृजकाभ्यां कर्तरि (अष्टाध्यायी २, २, १५), यह षष्ठी समास का अपवाद है। साधारणतया षष्ठ्यन्त नाम का द्वितीय नाम के साथ समास होता है जैसे राजपुरुषः जिसका विग्रह-वाक्य राज्ञः पुरुषः है। अपवाद का अर्थ है कि जब तृच् या अक प्रत्यय कर्त्ता (करने वाला) अर्थ में आये हों तो उनसे बने हुए शब्द का षष्ठ्यन्त पद के साथ समास नहीं होता। उदाहरणस्वरूप अपांसृष्टा कहा जायेगा अर्थात् यहाँ समास नहीं होगा। इसी प्रकार ओदनस्य पाचकः (अप् सृष्टा या ओदन-पाचकः शब्द नहीं बनेंगे)। इस अपवाद के भी कुछ अपवाद हैं अर्थात् कुछ ऐसे शब्द हैं जहाँ कर्त्ता अर्थ में तृच् अथवा अक के होने पर भी समास हो जाता है। उदाहरणस्वरूप—याजकादिभिश्च (अष्टाध्यायी २, २, ९)। तदनुसार ब्राह्मणयाजकः देवपूजकः आदि शब्द शुद्ध माने जायेंगे। किन्तु कवि प्रायः इन नियमों की परवाह नहीं करते। अतएव कहा गया है—निरंकुशाः कवयः (अष्टाध्यायी ३, २, १३८ पर भट्टोजि दीक्षित की व्याख्या)। उदाहरणस्वरूप भोजप्रबन्ध में नीचे लिखा प्रयोग है—घटानां निर्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलहः (यहाँ त्रिभुवनस्य विधातुः होना चाहिए)। टीकाकारों ने इस अशुद्ध प्रयोग की सिद्धि करने के लिए कई मार्ग निकालने का प्रयत्न किया है। उनमें से एक सुझाव यह है कि विधातृ शब्द में तृच् प्रत्यय नहीं है, तृन् है, किन्तु तृन् का प्रयोग स्वभाव अर्थ में होता है। तृन्विधायक सूत्र निम्नलिखित है—(आक्वेस्तच्छील-तद्धर्मतत्साधुकारिषु। तृन् अष्टाध्यायी ३, २, १३४–१३५; इसका उदाहरण है कर्त्ता कटान्=जिसका कट अर्थात् चटाई बनाने का स्वभाव है)। किन्तु यहाँ एक अन्य कठिनाई उपस्थित होती है—पाणिनी ने अन्य अनेक शब्दों के समान तृन् प्रत्ययान्त के साथ भी षष्ठ्यन्त नाम के प्रयोग का निषेध किया है

...एतस्मिन्नार्यनिवासे ये ब्राह्मणाः...किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चिद् विद्यायाः पारगास्तत्रभवन्तः शिष्टाः। यदि तर्हि शिष्टाः शब्देषु प्रमाणं किमष्टाध्याय्या क्रियते। शिष्ट ज्ञानार्थाष्टाध्यायी। (६, ३, १०९. पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्)। महाभाष्य का कथन है कि पाणिनी के ग्रन्थ से पता चलता है कि शिष्ट कौन है।

(न लोकाव्यय-निष्ठाखलर्थतृनाम् अष्टाध्यायी २, ३, ६९)[1] इसका उत्तर यह दिया जाता है कि पाणिनी के नियम सर्वमान्य नहीं हैं। स्वयं उनके सूत्रों में इस बात का ज्ञापन है। उसने स्वयं जनिकर्तुः प्रकृतिः (अष्टा० १, ४, ३०) तथा तत्प्रयोजको हेतुश्च (अष्टाध्यायी १, ४, ५५) सूत्रों की रचना की है। यहाँ कर्त्तृ शब्द तृजन्त है और उसका षष्ठचन्त जनि के साथ समास किया गया है। इसी प्रकार प्रयोजक शब्द अक प्रत्ययान्त है और उसका षष्ठचन्त तत् के साथ (तस्य प्रयोजकः तत्प्रयोजकः) समास किया गया है। कुछ विद्वानों का कथन है कि तृन् प्रत्ययान्त के साथ षष्ठी समास होता है (दे० इ० ऐण्टी० भाग ४१, पृ० २३४ पर पाठक महोदय का लेख)।

पाणिनी-सूत्रों पर जयादित्य और वामन ने काशिका नामक टीका लिखी है। काशिका पर जिनेन्द्र बुद्धि की काशिका विवरण पञ्जिका या न्यास नामक विस्तृत व्याख्या है जिसमें ११४९ मुद्रित पृष्ठ हैं। इसका प्रकाशन वारेन्द्र रिसर्च सोसाइटी, राजशाही, वङ्गाल ने किया है। यदि हम यह निश्चय कर सकें कि भामह ने जिस न्यास का उल्लेख किया है वह कौन-सा है और उसकी रचना कब हुई? तो भामह का तिथि-निर्णय सरल हो जायेगा। इस विषय में स्वर्गीय त्रिवेदी महोदय (इ० ऐण्टी० भाग ४२, १९१३ पृ० १५८ टिप्पण, व० ब्रा० ऑफ रो० ए० सो० के जनरल के १९०९ के संस्करण पृ० ९१–९५ पर मेरा लेख) प्रो० पाठक (इण्डियन ऐण्टीक्वैरी १९१२ पृ० २३२–२३७, जनरल्स ऑफ व० ब्रा० ऑफ रो० ए० सो० भाग २३, पृ० १८–३१, एनल्स ऑफ भ० ओ० रि० इ० भाग १२ पृ० २४६ टिप्पण और पृ० ३७२–३९५), तथा श्री आर० नरसिंहाचार्य (इ० ऐण्टी. भाग ४१, पृ० ९१, इन्होंने पूज्यपाद नामक एक न्यासकार का उल्लेख किया जो श्री राइस, इ० ऐण्टी० भाग ४२ पृ० २०४, के अनुसार लगभग ५०० ई० में हुए थे) आदि विद्वानों में मतभेद है। भामह का अभिप्राय निम्नलिखित है—

(१) शिष्टों एवं न्यासकार को ऐसा समास अनुमत है जहाँ द्वितीय शब्द तृच् अथवा अक प्रत्ययान्त है और प्रथम षष्ठचन्त। (२) ज्ञापक सूत्र के अनुसार वृत्रहन्ता शब्द का भी प्रयोग हो सकता है (३) पाणिनी के तत्प्रयोजको हेतुश्च सूत्र का अनुसरण करके कवियों ने तद्गमक शब्द का

1. यहाँ तृन् प्रत्याहार है। इसमें शतृ के तृ से लेकर तृन् तक सभी प्रत्यय सम्मिलित हैं। अष्टाध्यायी के अनुसार यह गणना ३, २, १२४ सूत्र से लेकर ३, २, १३५ तक है।

प्रयोग किया है। प्रो० पाठक का दूसरा ही सुझाव है। उनका कथन है कि वृत्रहन्ता शब्द का प्रयोग सर्वसाधारण में होता है, किन्तु न्यासकार जिनेन्द्र ने नहीं किया। उन्होंने अन्य उदाहरण दिया है—

भीष्मः कुरूणां भयशोकहन्ता; ५, १ (हर्ता)। त्रिवदी महोदय का बलपूर्वक कथन है कि भामह ने प्रथम तथा द्वितीय विकल्प को न्यासकार का बताया है। किन्तु न्यास में वृत्रहन्ता उदाहरण नहीं मिलता। इसी प्रकार न्यासकार जिनेन्द्रवुद्धि को तृजन्त शब्द का षष्ठयन्त के साथ समास अभिमत नहीं है। अतः उनका कथन है कि भामह ने जिस न्यास का उल्लेख किया है वह जिनेन्द्र वुद्धि कृत न्यास से भिन्न है। अन्य प्रमाणों के आधार पर मैं बता चुका हूँ कि भामह का समय ७५० ई० के पूर्व होना चाहिए। अतः भामहकृत न्यास की रचना ७०० ई० के लगभग या उससे आसन्नपूर्व माननी होगी। व्याकरण पर बहुत से न्यास हैं किन्तु जिनेन्द्रवुद्धि के अतिरिक्त ऐसा कोई नहीं है जिसे इस समय में रखा जा सके। अतः यहाँ तक मैं प्रो० पाठक के साथ सहमत हूँ। प्रो० पाठक का कथन है (इ० ऐण्टी० भाग ४१ पृ० २३५) कि नरसिंहाचार्य (इ० ऐण्टी० भाग ४१ पृ० ९१) पूज्यपादकृत जिस ग्रन्थ का उल्लेख किया है उसे किसी ने न्यास सञ्ज्ञा नहीं दी है। अष्टाध्यायी २, २, १५–१६ के न्यास से प्रतीत होता है कि उसे तृजन्त के साथ षष्ठयन्त का समास अनभिमत नहीं था। अतः भामह का यह कथन कि न्यासकार को ऐसे समास अभिमत हैं, यथार्थ है। मेरे विचार से त्रिवेदी महोदय का यह आग्रह अनुचित है कि न्यास में वृत्रहन्ता शब्द का प्रयोग मिलना चाहिए था। भामह ने किसी ग्रन्थकार या ग्रन्थ की उक्ति के लिए प्रायः उदित शब्द का प्रयोग किया है।[1] अतः यह मानना होगा कि वृत्रहन्ता शब्द का प्रयोग किसी ऐसे ग्रन्थ में हुआ है जिसका भामह को ज्ञान था किन्तु हमें नहीं है। प्रो० पाठक उदितः के पहले लोके शब्द जोड़ते हैं जिसका अर्थ है लोक में कहा गया (एनल्स ऑफ भ० ओ० रि० इ० भाग १२ पृ० ३९०) यह ठीक नहीं है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जिनेन्द्रबुद्धिकृत न्यास भामह को विदित था।

---

1. काव्यालंकार २, ५ (यथोदितम् स्वोक्त), काव्यालंकार २, १९ (प्रहेलिका सा ह्युदिता रामशर्माच्युतोत्तरे), काव्यालंकार २, ४५ (दृष्टं वा सर्वसारूप्यं राजमित्रे यथोदितम्), ४, ८ (दाडिमानि दशापूपाः षडित्यादि यथोदितम्)।

अब हम तिथियों की चर्चा करेंगे। इत्सिङ्ग ने अपने बौद्ध धर्म सम्वन्धि अभिलेखों (पृ० १७५ डा० टककुसुकृत अनुवाद, ऑक्सफोर्ड, १८९६) में काशिका का वर्णन किया है और यह भी बताया है कि जयादित्य की मृत्यु ३० वर्ष पूर्व हो चुकी थी। इत्सिङ्ग ने अपनी पुस्तक ६९१ ई० में लिखी। अतः जयादित्य की मृत्यु ६६१–६२ में हुई होगी। काशिका ने अष्टाध्यायी १, ३, २३ पर भारवि कृत किरातार्जुनीय (३, १४) का उल्लेख किया है—'संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः।' यह उल्लेख उपरोक्त तिथि का समर्थक है। न्यासकार का कथन है कि काशिका की अनेक प्रतिलिपियाँ की गई थीं उनमें तत्कालीन लिपिकारों ने बहुत-से ऐसे उदाहरण जोड़ दिये जो मूल काशिका में नहीं थे।[1] कम-से-कम वह एक या दो पीढ़ियों का अवश्य होना चाहिए। अतः न्यास की तिथि ७०० ई० के पूर्व नहीं हो सकती। न्यासकार जयादित्य का समकालीन नहीं हो सकता। भामह ने न्यास का उल्लेख किया है अतः उसे ७०० के पश्चात् तथा ७५० के पूर्व रखना होगा। प्रो० पाठक ने अपना प्रारम्भिक मत बदल दिया है। अब वे नहीं मानते कि भामह दण्डी के पूर्ववर्ती थे (कविराज मार्ग की प्रस्तावना पृ० १६ तथा एनल्स ऑफ भ० ओ० रि० इ० भाग १२, पृ० ८१–८३)। उन्होंने बताया है कि पात्रकेसरी, शान्तरक्षित तथा प्रभाचन्द्र प्रायः समकालीन थे। उनमें प्रभाचन्द्र अन्तिम थे। वे शब्द नवम शती में हुए तथा भामह अष्टम शती के मध्य में। उसी भाग (पृ० ३७२–३९५) में अपने लेख में उन्होंने काव्यालङ्कार के तर्क विषयक पञ्चम अध्याय, विशेषतया श्लोक सं० ६–९, की चर्चा की है और बताया है कि शान्तरक्षित ने भामह के तीन श्लोक (काव्यालङ्कार ६, १७–१९) उद्धृत किये हैं जिनमें अपोहवाद का खण्डन है। साथ ही कटु आलोचना करते हुए कहा है कि शान्तरक्षित ने भामह को दुरात्मा कुदृष्टिः' (पृ० ३८३) कहा है। ३८९–३९० पृ० पर उसने हर्षचरित का उल्लेख किया है—कृतगुरुपदन्यासाः, और बताया है कि बाण काशिकाकार जयादित्य तथा न्यासकार (पृ० ३९०) का समकालीन था। किन्तु इस विषय

1. अष्टाध्यायी ६, ३, ७९ पर मुद्रित काशिका ने तीन उदाहरण दिये हैं—सकलम्, समुहूर्तम् और ससंग्रहम्। इस पर न्यास (पृ० ४६९) का कथन है—'ससंग्रहमित्येतदुदाहरणं प्रमादादिदानींतनैः लेखकैर्लिखितम्।' यहाँ इदानींतनैः शब्द महत्त्वपूर्ण है। सम्पादक ने अपनी प्रस्तावना (पृ० २१) में अनेक अन्य उदाहरण देकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि काशिका और न्यास में कालसम्बन्धी पर्याप्त व्यवधान है।

में, विशेषतया जहाँ तक न्यासकार का प्रश्न है, प्रो० महोदय भ्रम में हैं। हर्ष-चरित पुलकेशी द्वारा हर्षवर्धन की पराजय से पहले ही समाप्त हो जाता है। प्रो० पाठक ने उसके कलकत्ता संस्करण की ओर ध्यान नहीं दिया उसमें वृत्ति का कोई उल्लेख नहीं है। दे० एनल्स ऑफ भ० ओ० रि० इ० भाग १२, जहाँ पृ० ३८५ पर उन्होंने कहा है कि जयादित्य की मृत्यु ६६१ ई० में हुई तथा न्यासकार का समय ७०० ई० है। पुनश्च देखिये—जनरल्स ऑफ ब० ब्रा० ऑफ रो० ए० सो० भाग २३, पृ० २४८, ३८९ और इ० ऐण्टी० भाग ४१, पृ० १९–३१।

(फ) मैंने सर्वप्रथम हर्षचरित के—प्रसन्नवृत्तयो गृहीतवाक्याः कृतगुरु-पदन्यासाः न्यायवादिनः सुकृतसंग्रहाभ्यासगुरवो…लोक इव व्याकरणेऽपि' (३, पैरा ५) पाठ की ओर ध्यान आर्कषित किया और बताया था कि बाण को काशिकावृत्ति एवं न्यास दोनों का ज्ञान था। किन्तु उस समय जीवानन्द विद्यासागर कलकत्ता द्वारा १८७६ में प्रकाशित हर्षचरित मेरे देखने में नहीं आया था, जहां निम्नलिखित पाठ है[1]—प्रसन्न प्रवृत्तयो गृहीतवाक्याः कृतगुरु-न्यासाः…सुकृतसंगृहीताभ्यासगुरवः। अतः निर्णयसागर द्वारा मुद्रित संस्करण में उपलब्ध पाठ सन्दिग्ध है। प्रस्तुत तिथि-निर्णय के लिए उसका उपयोग उचित प्रतीत नहीं होता। सम्भव है कि वह प्रक्षिप्त हो। न्यास के सम्पादक ने भामह का अभिप्राय प्रकट करते हुए कहा है कि शिष्टों तथा न्यासकार (प्रस्तावना पृ० २५) को तृजन्त के साथ षष्ठचन्त का समास अभिमत नहीं था अतः कवियों को भी उसका प्रयोग नहीं करना चाहिए। यह बात विचित्र-सी प्रतीत होती है। भामह के शब्दों से जो ध्वनि निकलती है प्रस्तुत व्याख्या उस विपरीत है, विशेषतया इसमें मात्रेण शब्द की पूर्ण अवहेलना की गई है।

उपरोक्त चर्चा में आये हुए ग्रंथकारों का कालक्रम संक्षेप में नीचे लिखे अनुसार है—१. भारवि[1] ५८०–५९० के लगभग २. भर्तृहरि[2]— वाक्यपदीय

---

1. काशिका विवरणपञ्जिका अथवा न्यास की प्रस्तावना (राजशाही संस्करण १९१३–१६) में पृष्ठ २४ पर हर्षचरित का उपरोक्त पाठ उद्धृत है।

2. इत्सिङ्ग ने (टकाकुसु कृत अनुवाद पृ० १८०) कहा है कि भर्तृहरि की मृत्यु के ४० वर्ष पश्चात् वह भारत में आया था। काशिका (अष्टाध्यायी १, ३, २३) ने भारवि का उद्धरण दिया है—'संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः' किराता० ३, ४०।

के रचयिता मृत्युकाल ६५० ई० के लगभग, ३. जयादित्य—काशिका के रचयिता, मृत्युकाल ६६१ ई०, ४. दण्डी—६६०–६८० ई० के लगभग ५. जिनेन्द्रबुद्धि—न्यासकार, ७०० ई० के लगभग, ६. भामह—७२५–७५० के लगभग, ७. माघ (जिसने शिशुपालवध सर्ग २ श्लोक ११२ में वृत्ति और न्यास शब्द का उल्लेख किया है) ७५० ई० के लगभग, ८. नृपतुङ्ग (जिसने कविराजमार्ग (१, ३१) में माघ का उल्लेख किया है) ८२५–८५० के लगभग।

(ब) दण्डी और भामह के तिथिनिर्णय का प्रयत्न उनके द्वारा उद्धृत प्राचीन पाठों के आधार पर भी किया जाता है और यह कहा जाता है कि जिन ग्रन्थकारों के नाम उद्धृत हैं उनकी अपेक्षा वे दोनों अर्वाचीन हैं। यदि किसी पाठ का उद्धरण शब्दशः नहीं है तो केवल विचारसाम्य के आधार पर पौर्वापर्य का निर्णय मुझे अभिप्रेत नहीं है, जैसाकि ध्वनिकार ने लिखा है। विचारों के क्षेत्र में किसी का एकाधिपत्य नहीं होता—संवादास्तु भवन्त्येव बाहुल्येन सुमेधसाम्। ध्वन्योक ४, ११ पृ० ३०६ कहा जाता है कि दण्डी ने 'इन्दोरिन्दीवरद्युति। 'लक्ष्य लक्ष्मीं तनोतीति प्रतीतिसुभगं वचः।' (काव्यादर्श १, ४५) को अभिज्ञानशाकुन्तल प्रथमाङ्क से लिया है। इसी प्रकार—'प्रभामात्रं हि तरलं दृश्यते न तदाश्रयः' (काव्यादर्श २, १२९) न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात् (अभिज्ञान शाकुन्तलम् प्रथमाङ्क) की प्रतिध्वनि प्रतीत होता है। इसी प्रकार काव्यादर्श (२, २८६) के श्लोक रघुवंश एवं कुमारसम्भव के समान प्रतीत होते हैं। काव्यादर्श २, १९७ का निम्नलिखित श्लोक बाण के वर्णन द्वारा प्रेरित जान पड़ता है—अरत्नालोकसंहार्यमवार्यं सूर्यरश्मिभिः। दष्टिरोधकरं यूनां यौवनप्रभवं तमः॥ (काव्यादर्श २, १९७) बाण का वर्णन निम्नलिखित है (केवलं च निसर्गत एवाभानुभेद्यमरत्नालोकोच्छेद्यमप्रदीपप्रभापनेयमतिगहनं तमो यौवनप्रभवम् (कादम्बरी पैरा १०३ मेरे द्वारा सम्पादित)।

प्रो० पाठक (इ० ऐण्टी० भाग ४१, १९४२ ई० पृ० २३७) का मत है कि दण्डी ने तीन कर्मों का सिद्धान्त (निर्वर्त्य, विकार्य और प्राप्य—काव्यादर्श २, २४०–२४१) वाक्यपदीय से लिया है। यदि यह मान भी लिया जाय कि कर्मों का यह विभाजन सर्वप्रथम वाक्यपदीय ने ही किया है फिर भी पाठक महोदय का तर्क सारहीन है। इत्सिङ्ग के (अपेक्षाकृत भ्रान्त) वक्तव्य के अनुसार (डा० टकाकुसु पृ० १८०) वाक्यपदीय के लेखक की मृत्यु ६५० के लगभग हुई। काशिका (४, ३, ८८) ने इसका उल्लेख निम्न शब्दों में किया

है—शब्दार्थसम्बन्धीयप्रकरणं वाक्यपदीयम् । अतः दण्डी ने, जो, ६६०–६८० में हुए, सम्भवतया उपरोक्त विभाजन वाक्यपदीय से ही लिया होगा ।

नासिक्यमध्या परितश्चतुर्वर्णविभूषिता ।
अस्ति काचित्पुरी यस्यामष्टवर्णाह्वया नृपाः ॥

(काव्यादर्श ३, ११२, संख्याता नामक प्रहेलिका का उदाहरण),

काव्यादर्श के उपरोक्त श्लोक पर टीकाकार तरुणवाचस्पति का कथन है कि इसमें काञ्ची और पल्लवों का उल्लेख है । दण्डी ने अन्यत्र (२, २७९) राजवर्मा (कुछ टीकाकारों के अनुसार रातवर्मा) का उल्लेख किया है जिसे देवता का प्रत्यक्ष दर्शन होता था । प्रो० आर० नरसिंहाचार्य (इ० ऐण्टी० १९१२, पृ० ९०–९२) तथा प्रो० वेलवलकर (काव्यादर्श के टिप्पण पृ० १७५–१७८ काव्यादर्श २, २७९ और ३, ११२) का मत है कि राजवर्मा पल्लववंशीय थे और दो श्लोकों को एक साथ रखकर यह निष्कर्ष निकाला है कि वह नरसिंहवर्मा द्वितीय अथवा राजसिंहवर्मा (६९०–७१५ ई०) से अभिन्न था । परिणामस्वरूप दण्डी को सात सौ ई० के अन्त में रखा है। किन्तु यह निष्कर्ष दोषपूर्ण है। हम नहीं जानते कि राजवर्मा या रातवर्मा पल्लव थे (डा० वेलवलकर ने काव्यादर्श २, २७९ में निम्नलिखित पाठ दिया है—इति साक्षात्कृते देवे राज्ञो यद्रातवर्मणः) । इसके विपरीत, श्रुतानुपालिनी नामक टीका का कथन है कि वे केरल के राजा थे ।[1] राजवर्मा सर्वसाधारण नाम है । अवन्तिसुन्दरी कथा में बताया गया है कि दण्डी काञ्ची निवासी था और पल्लव की राजसभा में विद्यमान था । इस बात को ध्यान में रखते हुए यदि हम टीकाओं पर विचार करें ो अधिकतर टीकाकारों का यह कथन सत्य प्रतीत होता है कि नासिक्य-मध्या आदि कारिका में काञ्ची तथा पल्लव का उल्लेख है। किन्तु जब तक किसी पल्लवनरेश का ठीक वैसा ही नाम न हो तब तक उसे राजवर्मा या रातवर्मा से अभिन्न नहीं माना जा सकता ।

कुछ विद्वानों का मत है कि भामह के निम्नलिखित श्लोकों में मेघदूत पर प्रच्छन्न आक्षेप हैं अथवा उसका उल्लेख है—

---

1. श्रुतानुपालिनी (राजकीय ग्रन्थ संग्रहालय, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट भाग १२, सं० १२५ पृ० १३७) के शब्द निम्नलिखित हैं—केरलवंशाख्ये काव्ये रातवर्मणः इति रातवर्मा नाम केरलानामधिपतिरत्यन्त शिवभक्तः सोऽपि दिग्विजयवशेन कैलासं प्राप्तः । पाशुपतमन्त्रेण पशुपतिं त्र्यम्बक-माराध्य दृष्टवान्, तदामुं श्लोकं प्रीतिप्रकाशनायोक्तवान् ।

अयुक्तिमद् यथा दूता जलभृन्मात्रकेङ्ग च

(मारुतेन्दवः)

तथा भ्रमरहारीतचक्रवाकशुकादयः।
अवाचो व्यक्तवाचश्च दूरदेशविचारिणः।
कथं दूत्यं प्रपद्येरन्निति युक्त्या न युज्यते॥
यदि चोत्कण्ठया यत्तदुन्मत्त इव भाषते।
तथा भवतु भूम्नेदं सुमेधोभिः प्रयुज्यते॥

काव्यादर्श १, ४२-४४

श्री टी० गणपति शास्त्री ने इस सिद्धान्त का उग्र शब्दों में विरोध किया है (स्वप्नवासवदत्तम् की प्रस्तावना १९१६ ई० पृ० ७)। उनका कथन है कि कालिदास ने अपने 'धूमज्योतिः सलिलमरुताम्' श्लोक में भामह सरीखे एकान्तवासियों पर आक्षेप किया है किन्तु शास्त्री महोदय सदा अपनी निराली वात कहा करते हैं। आगे चलकर यह स्पष्ट हो जायेगा।

भामह ने अपने ग्रन्थ में अन्यत्र वत्सराज के उदयन की कथा का उल्लेख किया है और कुछ कवियों पर आक्षेप किया है कि उन्होंने इस कथा का प्रतिपादन शास्त्र एवं लोकविरुद्ध रीति से किया है—

अतर्न्योधशताकीर्णं सालङ्कायननेत्रकम्।
तथाविधं गजच्छद्म नाज्ञासीत् स स्वभूगतम्॥
यदि वोपेक्षितं तस्य सचिवैः स्वार्थसिद्धये।
अहो नु मन्दिमा तेषां भक्तिर्वा नास्ति भर्तरि॥
शरा दृढधनुर्मुक्ता मन्युमद्भिररातिभिः।
मर्माणि परिहृत्यास्य पतिष्यन्तीति कानुमा॥
इतोऽनेन मम भ्राता मम पुत्रः पिता मम।
मातुलो भागिनेयश्च रुषा संरब्धचेतसः॥
अस्यन्तो विविधान्याजावायुधान्यपराधिनम्।
एकाकिनमरण्यान्यां न हन्युर्बहवः कथम्॥
नमोस्तु तेभ्यो विद्वद्भ्यो येऽभिप्रायं कवेरिमम्।
शास्त्रलोकावपास्यैवं नयन्ति नयवेदिनः॥
सचेतसो वनेभस्य चर्मणा निर्मितस्य च।
अन्तरं वेद बालोपि कष्टं किं नु कथं नु तत्॥

काव्यालङ्कार ४, ४१-४७

श्री गणपति शास्त्री का मत है कि यह भासकृत प्रतिज्ञा यौगन्धरायण पर आक्षेप है। उनका सिद्धान्त है कि भामह कालिदास से पहले और भास के पश्चात् हुए। अपना आधार प्रस्तुत करते हुए उनका कथन है कि हंसक (प्रथम अङ्क पृ० १३) के कथन में 'अणेण मम भादा हदो अणेण मम पिदा अणेण मम सुदो मम वअस्सत्ति अण्णहा भट्टिणो वण्ण अन्ता इत्यादि शब्द भामह के हतोऽनेन मम भ्राता इत्यादि शब्दों से पूर्णतया मिलते हैं। आपाततः यह सुझाव तर्कसङ्गत प्रतीत होता है, किन्तु विचार करने पर निराधार सिद्ध होता है। उपरोक्त पाठ में ध्वनित कई बातें शास्त्री महोदय की दृष्टि में नहीं आईं।

स्थान संकोच के कारण, सभी बातों की चर्चा यहां सम्भव नहीं है। अत्यन्त विचारणीय बात यह है कि प्रतिज्ञायौगन्धरायण में उदयन के साथ २० सैनिक हैं और हंसक के अतिरिक्त सब-के-सब संघर्ष में मारे जाते हैं। जबकि भामह ने एकाकिनं शब्द का प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त दोनों आक्रमणकारी दलों के नारे भी एक-से नहीं हैं। प्रतिज्ञायौगन्धरायण में मातुल तथा भागिनेय शब्द नहीं हैं, जिन्हें भामह ने दिया है। मुझे भामह के 'नमोस्तु तेभ्यो इत्यादि शब्दों का यह अभिप्राय जान पड़ता है कि उदयन की कथा सर्वप्रथम किसी एक कवि ने प्रतिपादित की, तदनन्तर अन्य कवियों ने (जिनका उल्लेख विद्वद्भ्यः शब्द से हुआ है) नाटक एवं महाकाव्यों में अपनी-अपनी रुचि के अनुसार उसमें परिवर्तन कर दिया (नयन्ति)। उन्होंने ऐसा चित्रण किया है कि उदयन असली तथा नकली हाथी की पहचान नहीं कर सके और खाली हाथ मृगयाभिमान पर चल पड़े। अतः प्रतीत होता है कि मूल कथा सम्भवतया बृहत्कथा से (जिसका उल्लेख कवेः के रूप में हुआ है) ली गई है, और भामह का आक्षेप तदाश्रित किसी नाट्य या काव्य पर है। बृहत्कथामञ्जरी में इस अभियान का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उदयन अपनी वीणा के साथ अकेले रवाना हो गये (गजेन्द्रबन्धकुशलो विवशैको महद्वनम्। श्लोक ३४)। क्षेमेन्द्र ने इस पर वैराग्य पूर्ण कटाक्ष किया है (प्रायेण व्यसनासक्तिर्मोहाय महतामपि)। भामह ने 'कवेरभिप्रायमिदम्' शब्दों द्वारा सम्भवतया इसी अभिप्राय का निर्देश किया है। कथासरित्सागर में अधिक विस्तार है किन्तु वहाँ पर भी यह कथन है कि उदयन के गुप्तचरों ने नकली हाथी को असली समझकर सुन्दर हाथी के प्रकट होने की सूचना दी तथा उदयन सेना के बिना ही वन की ओर चल पड़ा (चारमात्रसहायस्तु···विवेश महाटवीम् २, ४, १५) एवं अकेला हाथी के पास पहुँचा (एकाकी वादयन् वीणां श्लोक १७)। बृहत्कथामञ्जरी तथा कथासरि-

त्सागर दोनों ने अपना आधार गुणाढ्यकृत वृहत्कथा को बताया है। अतः इस बात में कोई सार नहीं है कि भामह ने प्रतिज्ञायौगन्धरायण का उल्लेख किया है जबकि उदयन की कथा पर बृहत्कथा के अतिरिक्त बीसियों नाटक एवं काव्य विद्यमान हैं तथा उनमें पर्याप्त कथा-भेद है।

त्रिवेदी महोदय ने भट्टि और भामह की समानता के आधार पर भामह को पूर्ववर्ती सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। समानता के लिए देखिये—

व्याख्यागम्यमिदं काव्यमुत्सवः सुधियामलम्।
हता दुर्मेधसश्चास्मिन् विद्वत्प्रियतया मया॥

भट्टि २२, ३४

काव्यान्यपि यदीमानि व्याख्यागम्यानि शास्त्रवत्।
उत्सवः सुधियामेव हन्त दुर्मेधसो हताः॥

काव्यादर्श २, २०

भट्टि का श्लोक गलत समझा गया है। इसमें आत्मप्रशंसा नहीं है। पाणिनीय व्याकरण वास्तव में कठिन है। भट्टि ने अपना काव्य उसके उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए रचा है। परिणामस्वरूप उसका भी व्याख्या की अपेक्षा रखना स्वाभाविक है। उसे विद्वान् प्रिय हैं। यदि वे काव्य की प्रशंसा करते हैं तो उसके लिए सन्तोष का विषय है, किन्तु उसने दुःख के साथ कहा है कि व्याकरण से अनभिज्ञ व्यक्तियों को इसमें निराशा होगी। भामह की (२, २०) प्रहेलिकाओं के विषय में कहा है कि वे वास्तविक काव्य की कोटि में नहीं आतीं। उनमें अनभिज्ञ व्यक्तियों को निराशा ही मिलती है। विद्वानों को भले ही प्रसन्नता प्राप्त हो। शब्दों में साम्य होने पर भी आशय में भेद है। भामह ने यह भी कहा है कि महाकाव्य अतिव्याख्येय नहीं होना चाहिए (काव्यादर्श १, २०)। इसके अतिरिक्त, यदि दोनों श्लोकों को स्वतन्त्ररूप से पढ़ा जाय तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे भामह भट्टि पर आक्षेप कर रहे हों। हम यह भी देख चुके हैं कि भट्टि का समय ५९० ई० से ६५० ई० तक है उसे ६५० ई० के पश्चात् नहीं रखा जा सकता। इसके विपरीत, भामह द्वारा न्यास के उल्लेख से सिद्ध होता है कि वे सप्तम शताब्दी के पश्चात् हुए। अतः यही मानना उचित है कि भामह ने भट्टि पर आक्षेप किया है। डा० एच० आर० दिवेकर (ज० ऑफ रो० ए० सो० १९२९ पृ० ८२५-८४२) का मत है कि भामह भट्टि तथा धर्मकीर्त्ति—दोनों के पूर्ववर्ती हैं। किन्तु अगले पृष्ठों पर दी गई विस्तृत चर्चा से ज्ञात होगा कि वे भ्रम में हैं।

(भ) भामह के विषय में दो बातें ऐसी हैं जिन पर मेरे लिखने से पहले किसी भारतीय विद्वान् ने विश्वास नहीं किया। प्रथम बात यह है—ध्वन्यालोक (चतुर्थ उद्योग) का कथन है कि जब एक ही भाव अन्य कवि द्वारा व्यंग्य या ध्वनि के रूप में प्रस्तुत किया जाता है तो उसमें नये रस का सञ्चार हो जाता है। साथ ही पृष्ठ २९६–२९७ पर उदाहरण भी दिये हैं उनमें से कुछ उद्धृत किये जाते हैं—"तथा विवक्षितान्यपरवाच्यस्यैव शब्दशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यप्रकारसमाश्रयेण नवत्वम्। यथा "धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः' (हर्षचरित ४ पैरा १५ मेरे द्वारा सम्पादित संस्करण) इत्यादौ।

शेषो हिमगिरिस्त्वं च महान्तो गुरवः स्थिराः।
यदलंघितमर्यादाश्चलन्तीं बिभृते क्षितिम् ॥

काव्यादर्श ३, २८

इत्यादिषु सत्स्वपि तस्यैवार्थशक्त्युद्भवानुरणरूपव्यङ्ग्यसमाश्रयेण नवत्वम्।"

मेरा यह निश्चित मत है कि भामह दण्डी के पश्चात् हुए। फिर भी, जो लोग उन्हें पूर्ववर्ती मानते हैं उनके तर्क प्रस्तुत करना मेरा कर्त्तव्य है। मैंने ऊपर (ब में) बताया है कि दण्डी ने 'लक्ष्म लक्ष्मीं तनोतीति' का भाव अभिज्ञान शाकुन्तल से लिया है और उसी समय उन तर्कों की चर्चा भी कर चुका हूँ, किन्तु जिस बल तथा स्पष्टता के साथ मुझे अपना मत प्रकट करना चाहिए था, वैसा नहीं किया। ध्वन्यालोक द्वारा प्रस्तुत कारिकाओं का आशय यह है कि अनेक श्लोकों में अन्तर्हित भाव एक ही हो सकता है। फिर भी, यदि कवि प्रतिभासम्पन्न है तो वह उसे ऐसे नये-नये रूपों में चित्रित कर सकता है कि प्रत्येक बार पढ़ने पर उसमें नया आनन्द आता है। उसका अभिप्राय किसी कवि को पूर्ववर्ती या उत्तरवर्ती बताना नहीं है। ध्वन्यालोक ४, ४ पर (पृ० २९७) कुमारसम्भव का एवं वादिनि (४–८४) श्लोक उदाहृत है तथा कहा गया है कि कृते वरकथालापे आदि श्लोकों के होने पर भी कालिदास का श्लोक नवीन चमत्कार प्रस्तुत करता है, किन्तु इसने मात्र से किसी ने यह सिद्ध करने की चेष्टा नहीं की। कृते वरकथालापे श्लोक कालिदास से पुरातन है। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान देने योग्य है कि ध्वनिकार ने २९४–२९८ तक प्रत्येक पृष्ठ पर बहुवचन सत्स्वपि का प्रयोग किया है। उदाहरणस्वरूप एवं वादिनि श्लोक पर उसके शब्द निम्नलिखित हैं—यथा एवं वादिनि देवर्षौ इत्यादि श्लोकस्य 'कृते वरकथालापे कुमार्यः पुलकोद्गमैः। सूचयन्ति स्पृहामन्तर्लज्जाव-

नताननाः ।।' इत्यादिषु सत्स्वपि अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूप व्यंग्यस्य कविप्रौढोक्तिनिर्मितशरीरत्वेन नवत्वम् (पृ० २९७)। इसका अर्थ है कि उसके मन में ऐसे अनेक श्लोक होंगे जो एवं वादिनि के समान आकर्षक एवं चमत्कारपूर्ण हैं। किन्तु उनका यह अभिप्राय नहीं है कि वे सब कालिदास से पहले रचे गये थे। एक अन्य बात भी महत्त्वपूर्ण है। 'वाणि अ अ हत्थिदन्ता' आदि गाथा हालकृत गाथासप्तशती (वैबर द्वारा सम्पादित संस्करण पृ० ५९० गाथा ६६८) में आई है। वह ध्वन्यालोक पृ० २९७ पर उदाहृत है तथा कहा गया है कि इसके भाव करिणीवेहव्वकरो० तथा अन्य गाथाओं के समान हैं। किन्तु करिणीवेहव्वकरो भी गाथासप्तशती में ही हैं वहाँ उसका पाठ है ग अ वहुवेहव्वकरो (गजवधूवैधव्यकरो;) वैवर संस्करण १८८१ पृ० ३०९ संख्या ६३२)। यहाँ एक गाथा के दूसरी से पूर्ववर्ती होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। वाण तथा भामह से लिये गये उद्धरणों के सम्वन्ध में भी वही बात है। उनके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि भामह तथा अन्य ग्रन्थकारों के जो श्लोक ध्वनिकार ने उद्धृत किये हैं अथवा उनके मन में थे वे सभी दण्डी के पूर्ववर्ती थे। यदि यह मान भी लिया जाय कि ध्वनिकार के मत से भामह का श्लोक हर्षचरित के पाठ से पूर्वकालीन है तो भी इसके कई उत्तर हैं। ध्वनिकार वाण के २५० वर्ष पश्चात् हुए। अतः बहुत सम्भव है कि उन्हें दोनों ग्रन्थकारों के कालक्रम का सम्यग् ज्ञान नहीं था। ध्वनिकार भामह से अधिक परिचित थे, क्योंकि वह उनका समदेशीय और आलङ्कारिक था। इसके विपरीत, वाण शोण तटवर्ती प्रीतिकूट के निवासी थे अतः दूरदेशीय थे, और कवि थे। इसके अतिरिक्त, यदि ध्वन्यालोक के आधार पर कालक्रम का निर्णय किया जाय और कहा जाय कि उसने छः स्थानों पर सत्स्वपि शब्द का प्रयोग करके निम्नलिखित दो सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं—

(१) यद्यपि वाण, कालिदास आदि कवियों की रचनाओं में वहुत-से ऐसे भाव हैं जो भामह के श्लोकों में भी उपलब्ध हैं, किन्तु उनमें जो सौन्दर्य एवं चमत्कार है उससे वे नवीन जान पड़ते हैं, एक-दूसरे की प्रतिलिपि नहीं प्रतीत होते।

(२) इनमें कुछ श्लोक पूर्वकालीन हैं और कुछ उत्तरकालीन, तो मीमांसा की परिभाषा में यहाँ वाक्यभेद नाम का दोष है।

(म) पञ्चम परिच्छेद में भामह ने तर्क तथा दर्शन सम्बन्धी दोषों का निरूपण किया है। प्रथम दो श्लोकों में उसने प्रतिज्ञाहानि तथा दृष्टान्तहानि

के वर्णन का निश्चय प्रकट किया है। साथ ही यह भी बताया है कि साधारण बुद्धि वाले लोग तर्क को कठिन समझकर उससे दूर भागते हैं। अतः उनके ज्ञान के लिए उसे सरल पद्धति में प्रकट किया जायेगा। उसके पश्चात् स्वादुकाव्य० (ऊपर पृ० १०० पर उद्धृत) श्लोक है। इसके बाद कहा गया है कि ऐसा कोई शब्द, अर्थ, हेतु या कला नहीं है जिसका काव्य में प्रयोग न हो। अतः कवि पर महान् उत्तरदायित्व है—

न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहोभारो महान् कवेः ।[1]

काव्यालङ्कार ५,४

तदनन्तर दो प्रमाण बताये हैं: प्रत्यक्ष और अनुमान; तथा उनके विभिन्न तार्किकों द्वारा प्रस्तुत लक्षण उद्धृत किये हैं। साथ ही प्रतिज्ञा तथा तत्सम्बन्धी दोष बताये हैं। तत्पश्चात् त्रिलक्षण हेतु का निरूपण है (काव्यालङ्कार ५,२१) इसी प्रकार दृष्टान्त, जाति (श्लोक २९ जातयो दूषणाभासाः इत्यादि), धर्म, अर्थ, काम एवं क्रोध पर आधारित प्रतिज्ञायें और उनके सफल एवं विफल होने के उदाहरण प्रतिपादित हैं। इस परिच्छेद की अधिक चर्चा अनावश्यक है। मैं प्रथम भारतीय हूं, जिसने यह बताया कि इस परिच्छेद में भामह ने दिङ्नाग तथा सम्भवतया धर्मकीर्त्ति के शब्द उद्धृत किये हैं। दिङ्नाग तथा धर्मकीर्त्ति की रचनाओं एवं उनके साथ भामह के सम्बन्ध को लेकर उग्र विवाद चल रहा है। मेरे लिए उस विवाद में पड़ना यहाँ सम्भव नहीं है। मैं उन्हीं ग्रन्थों का निर्देश करूंगा जिनका भामह के साथ सम्बन्ध है। भामह के तर्क विषयक विश्लेषण के विषय में, जिन्हें अधिक जानना हो, वे प्रो० पाठक (भ० ओ० रि० ई०, भाग १२ पृ० ३७२—३८७,) का निबन्ध पढ़ें। भामह का कथन है—

प्रत्यक्षं कल्पनापोढ ततोऽर्थादिति केचन
कल्पनां नाम जात्यादियोजनां प्रतिजानते

काव्यालङ्कार ५,६

'प्रसिद्ध बौद्ध तार्किक दिङ्नाग ने प्रत्यक्ष की व्याख्या नीचे लिखे अनुसार की है—'प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नाम जात्याद्यसंयुतम्' (प्रमाण समुच्चय अध्याय १,

---

1. तुलना—भरत नाट्यशास्त्र २१, १२२ ऊपर पृ० पर द्वि० टिप्पण तथा रुद्रट का काव्यालङ्कार १,१९ नमिसाधु ने बिना नाम के उद्धृत 'न स शब्दो' को उद्धृत किया है। स्वादुकाव्य के साथ तुलना के लिए देखिये, भामह ५,३ और रुद्रट १२,१।

विद्याभूषण कृत 'हिस्ट्री ऑफ मिडिवल लौजिक, १९०९ पृ० ८५ तथा हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लौजिक १९२१ पृष्ठ २७७ पर निर्दिष्ट) अकलङ्कदेव ने कारिका का उत्तरार्ध—असाधारणहेतुत्वादक्षैस्तद् व्यपदिश्यते (दे० एनल्स ऑफ भ० ओ० रि० इ० भाग १२ पृ० ३७८ पर प्रकाशित प्रो० पाठक का लेख)[1] प्रमाण समुच्चय तथा उसकी वृत्ति मूल रूप में नष्ट हो चुकी है किन्तु प्राचीन तिब्बती अनुवाद उपलब्ध है। न्यायबिन्दु (पिटर्सन द्वारा सम्पादित तथा बी० आई० ग्रन्थमाला १८८९ पृ० १०३ में प्रकाशित) में धर्मकीर्त्ति ने प्रत्यक्ष का लक्षण तथा व्याख्या नीचे लिखे अनुसार की है—प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्। अभिलाष संसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिः कल्पना तया रहितम्। तिमिराशुभ्रमणनौयान संक्षोभाद्यनाहितविभ्रमं ज्ञानं प्रत्यक्षम्।[2]

भामह ने दिङ्नाग का लक्षण उद्धृत किया है और उसकी व्याख्या भी की है। उत्तरार्ध में कल्पना शब्द का अभिप्राय प्रकट करते हुए उसने कहा है—वस्तु के साथ नाम, जाति आदि का सम्मिश्रण। प्रतीत होता है, दिङ्नाग ने प्रत्यक्ष का लक्षण 'कल्पनापोढम्' किया था। धर्मकीर्त्ति ने उसके साथ अभ्रान्तं जोड़ दिया। न्यायप्रवेश, तिब्बती परम्परा के अनुसार दिङ्नाग की रचना है और चीनी परम्परा के अनुसार दिङ्नाग के शिष्य शङ्करस्वामी की। उसमें 'अभ्रान्तम्' शब्द नहीं है। प्रस्तुत चर्चा के लिए हमें यही मानकर चलना चाहिए कि भामह ने प्रमाण समुच्चय को ही उद्धृत किया है। दिङ्नाग के अन्य किसी ग्रन्थ को नहीं। ततोऽर्थात् में प्रत्यक्ष के वसुबन्धु कृत लक्षण का उल्लेख है। न्यायवार्तिक (बी० आई०, १८८७ पृ० ४२) में उद्योतकर का कथन है—अपरे पुनर्वर्णयन्ति ततोर्थाद्विज्ञानं प्रत्यक्षमिति। इस पर न्यायसूची निबन्ध तथा विभिन्न दर्शनों के टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने अपनी न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका में कहा है—

---

1. आचार्य ध्रुव द्वारा सम्पादित न्यायप्रवेशवृत्ति (गा० ओ० सी० पृ० ३५) में भी उत्तरार्ध 'असाधारण···दिश्यते' का उल्लेख है।

2. न्यायबिन्दु टीका में इसकी व्याख्या निम्नलिखित है—कल्पनाया अपोढमपेतं कल्पनापोढम्। कल्पनास्वभावरहितमित्यर्थः। अभ्रान्तमर्थं क्रियाक्षमे वस्तुरूपेऽविपर्यस्तमुच्यते। पृ० ८ (बी० आई० सीरिज)। न्यायप्रवेश (पृ० ७, गा० ओ० सी० द्वारा सम्पादित) में पाठ है—तत्र प्रत्यक्षं कल्पनापोढं यज्ज्ञानमर्थे यथा रूपादौ नाम जात्यादिकल्पना रहितम्' इस पर हरिभद्र की वृत्ति (पृ० ३५) इस प्रकार है—नामकल्पना यथा डित्थ इति जातिकल्पना यथा गौरिति।

'वासबन्धवं तावत्प्रत्यक्षलक्षणं विकल्पयितुमुपन्यस्यति अपरे पुनरिति।' (पृ० १५०)। उद्योतकर ने न्यायवार्तिक (पृ० ४४) में कहा है—'अपरे तु मन्यन्ते प्रत्यक्षं कल्पनापोढमिति। अथ केयं कल्पना। नामजातियोजनेति। यत्किल न नाम्नाभिधीयते न जात्यादिभिर्व्यपदिश्यते।' इस पर न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका (पृ० १५३; काशी सं० सीरिज़ संवत् १९८२) का कथन है—'सम्प्रति दिङ्नाग-स्य लक्षणमुपन्यस्यति अपरे इति। दूषयितुं कल्पनास्वरूपं पृच्छति अथ केयमिति। लक्षणवादिन उत्तरं नामेति।' यहां लक्षणवादी से दिङ्नाग अभिप्रेत है। उसका लक्षण ऊपर दिया जा चुका है। इन उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि वाचस्पति सरीखे प्रौढ़ एवं प्राचीन दार्शनिकों ने भी भामह द्वारा प्रस्तुत लक्षणों को क्रमशः दिङ्नाग तथा वसुबन्धु (ततोऽर्थात्) का माना है। कुछ देर के लिए मैं धर्मकीर्त्ति को चर्चा में नहीं लाना चाहता। दिङ्नाग की दो रचनायें ५५७-५५९ ई० के मध्य चीनी भाषा में अनूदित हुईं (देखिये डा० विद्याभूषण, मिडिवल स्कूल० इत्यादि पृ० ८०-८१ तथा हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लौजिक पृ० २७२)। अतः दिङ्नाग ५५० ई० के पूर्ववर्ती हैं वे वसुबन्धु के शिष्य थे; इस आधार पर डा० विद्या-भूषण ने उनकी पूर्वसीमा ४८० ई० स्थिर की है (दे० वही पृ० ८१ और २७३) डा० रैण्डल (इण्डियन लौजिक इन अर्ली स्कूल्स, पृ० ३१-३२) का कथन है कि वसुबन्धु की तिथि अनिश्चित है और उनके शिष्य होने के कारण दिङ्नाग की तिथि भी सन्दिग्ध है। सम्भवतया वे ४२०-५०० ई० के मध्य हुए (वही पृ० २७)। अतः भामह द्वारा दिङ्नाग का उल्लेख उसके तिथि-निर्णय में विशेष सहायक नहीं है। कुछ अन्य निर्देशों के आधार पर कहा जाता है कि भामह ने धर्मकीर्त्ति का उल्लेख किया है। भामह का कथन है सत्त्वादयः प्रमाणाभ्यां प्रत्यक्षमनुमा च ते। असाधारणसामान्य विषयत्वं तयोः किल॥ काव्यालङ्कार ४, ५ इसकी तुलना न्यायबिन्दु से की जा सकती है—'द्विविधं सम्यग्ज्ञानं प्रत्यक्ष-मनुमानं च।...तस्य (प्रत्यक्षस्य) विषयः स्वलक्षणम्।...अन्यत्सामान्यलक्षणं सोऽनुमानस्य विषयः' (परिच्छेद १, पृ० १०३ पिटर्सन द्वारा सम्पादित)। इसी प्रकार, भामह का निम्नलिखित श्लोक न्यायबिन्दु के समान है—

त्रिरूपाल्लिङ्गतो ज्ञानमनुमानं च केचन।

काव्यालङ्कार ५, ११

अनुमानं द्विधा स्वार्थं परार्थं च।

तत्र स्वार्थं त्रिरूपाल्लिङ्गाद्यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानम्।

(परिच्छेद २ पृ० १०४); इसी प्रकार, भामह के दूषणं न्यूनताद्युक्तिः (काव्यालङ्कार ५, २८) शब्द न्यायबिन्दु (परिच्छेद ३ पृ० ११८) के समान है,

तथा जातयो दूषणाभासाः (काव्यालङ्कार ५,२९) पाठ न्यायविन्दु के दूषणाभासास्तु जातयः (परिच्छेद ३, पृ० ११८)। प्रतीत होता है कि भामह ने धर्मकीर्त्ति से कुछ वातों में सहमत न होने पर भी उद्धरण लिये हैं। भामह का तर्कशास्त्र पर कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। संस्कृत, तिब्वत अथवा चीनी भाषा में इस प्रकार के ग्रन्थ का कहीं उल्लेख या उद्धरण भी नहीं मिलता। दूसरी ओर धर्मकीर्त्ति बौद्ध-परम्परा के प्रमुख तार्किक हैं। उनकी तुलना केवल दिङ्नाग के साथ हो सकती है। यह तर्क किया जा सकता है कि भामह ने धर्मकीर्त्ति का नहीं, किन्तु उसके पूर्ववर्ती किसी अन्य आचार्य का उल्लेख किया है। प्रो० वटुकनाथ ने भामह की प्रस्तावना में इसी प्रकार का तर्क किया है और अपनी निष्पक्षता प्रदर्शित करने के लिए यहाँ तक कह दिया है कि हो सकता है, धर्मकीर्त्ति भामह के ऋणी हों।

डा० विद्याभूषण के अनुसार (हिस्ट्री ऑफ मिडिवल इण्डियन लौजिक पृ० १०३ और हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लौजिक पृ० ३०३-३०५) धर्मकीर्त्ति ६३५-६५० ई० के लगभग हुए। यह उल्लेखनीय है कि ह्वेनसाङ्ग भारत में सं० ६२९–६४५ ई० तक रहे, फिर भी उन्होंने कहीं पर धर्मकीर्त्ति का उल्लेख नहीं किया। इसके विपरीत इत्सिङ्ग ने ६७१ से लेकर ६९५ ई० तक भारत की यात्रा की तथा ६९१ ई० में अपना ग्रन्थ रचा। उसमें इस बात का वर्णन है कि धर्मकीर्त्ति ने तर्कशास्त्र का किस प्रकार परिष्कार किया (टकाकुसु कृत अनुवाद पृ० १८२) इत्सिङ्ग ने बौद्ध आचार्यों को तीन युगों में विभक्त किया है—[1] नागार्जुन, देव तथा अश्वघोष को प्राचीन युग में; वसुबन्धु, असङ्ग, संघभद्र और भवविवेक को मध्य युग में तथा जिन, धर्मपाल, धर्मकीर्त्ति एवं शीलभद्र आदि को उत्तर युग में (टकाकुसु कृत अनुवाद पृ० १८१)। धर्मकीर्त्ति धर्मपाल के शिष्य थे, अतः उनका समय ६५० अथवा ६६० मानना चाहिए। जहां तक प्रस्तुत चर्चा का प्रश्न है हमारे लिए यह सिद्ध करना आवश्यक नहीं है कि भामह ने धर्मकीर्त्ति से उद्धरण लिये हैं। अन्य प्रमाणों के आधार पर यह स्थापित किया जा चुका है कि भामह ७०० ई० के पूर्ववर्ती नहीं हैं। अतः उनके द्वारा धर्मकीर्त्ति के शब्द उद्धृत होना असम्भव नहीं है। अब इस चर्चा को यहीं समाप्त कर देना चाहिए।

---

1. देखिये, जनरल ऑफ रो० ए० सो०, १९१४ पृ० ६०१–६०६ में विद्याभूषण का लेख. और इ० हि० क्वा० भाग ११ पृ० १–३१ में 'रिलेशन ऑफ उद्योतकर एण्ड धर्मकीर्त्ति' यह लेख।

(य) दण्डी का तिथि-निर्णय एक अन्य प्रकार से भी हो सकता है। शार्ङ्गधर (सं० १०८) जह्वण (सूक्तिमुक्तावलि पृ० ४७) तथा अन्य सुभाषितकारों ने विज्जका नामक कवयित्री का यह श्लोक उद्धृत किया है—

नीलोत्पलदल श्यामां विज्जकां मामजानता ।
वृथैव दण्डिना प्रोक्तं सर्वशुक्ला सरस्वती ।।[1]

उसने काव्यादर्श प्रथम श्लोक के अन्तिम चरण का उल्लेख किया है। शार्ङ्गधर ने (सं० १६३) धनददेवकृत स्त्री कवियों की गणना को उद्धृत किया है, जिसमें विज्जका भी है। उपरोक्त श्लोक में अजानता शब्द से यह निष्कर्ष निकलता है कि दण्डी को उसका ज्ञान नहीं था और वह दण्डी की समकालीन नहीं थी। किन्तु उसका अर्थ यह भी हो सकता है कि दण्डी ने उसे प्रत्यक्ष नहीं देखा था, अर्थात् उसके श्यामवर्ण से अपरिचित थे। यदि यह निष्कर्ष निकाला जाय कि वह दण्डी की समकालीन, सम्भवतया अल्पवयस्का मानी जा सकती है। हमें यह पता लगाना है कि यह विज्जा या विद्या कौन थी ? उसके लिए सरस्वतीव आदि श्लोक सहायक हैं। हमारे सामने विज्जिका अथवा विद्या और विजया दो नाम हैं और दोनों नवम शताब्दी से उत्तरकालीन नहीं हैं[2]। किसी प्राचीन अथवा मध्यकालीन कवि ने यह नहीं कहा कि दोनों कवयित्रियाँ समकालीन थीं। अथवा एक ही समय में दो कवयित्रियाँ हुईं। सम्भवतया विज्जा नाम की एक ही कवयित्री रही होगी। राजशेखर ने उसका संस्कृत रूप विजया कर दिया और अन्य विद्वानों ने विद्या। अतः बहुत सम्भव है कि विज्जका और विजया एक ही हों। यदि इस बात को स्वीकार कर लिया जाय, तो सरस्वतीव० श्लोक के आधार पर कहा जा सकता है कि विज्जका कार्णाटी (कर्णाटक की राजकुमारी या वहाँ की निवासिनी) थी। तथा उसने वैदर्भी रीति में काव्य लिखा जो कालिदास के समकक्ष है। किन्तु उसके द्वारा विरचित कोई काव्य

---

1. दे० इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली भाग १६, पृ० ३४३-५६० में विज्जा तथा मोरिका नामक 'संस्कृत की कवयित्रियाँ' शीर्षक डा० जे० बी० चौधरी का लेख।

2. उसके अनेक नाम मिलते हैं—१. विज्जका २. विज्जाका ३. विज्जिका ४. विज्जाका और विद्या। वास्तविक नाम विज्जा रहा होगा और विद्या उसका संस्कृतीकरण है अथवा इसके विपरीत भी हो सकता है, अर्थात् विद्या वास्तविक नाम हो और—विज्जा, विज्जाका, विज्जिका और विज्जका प्रचलित अथवा प्यार के नाम हों।

अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। यदि विजया राजकुमारी है तो उसे विजया महादेवी से अभिन्न मानना चाहिए। विजया भट्टारिका, चन्द्रगुप्त द्वितीय की महारानी थी, जो सत्याश्रय पुलकेशिन् द्वितीय का ज्येष्ठपुत्र तथा विक्रमादित्य का सहोदर था। यह उल्लेख नेरूर के दानपत्र (इ० ऐण्टी० भाग ८, पृ० ४५) में है जो शक सं० ५८१ (६५९ ई०) में लिखा गया था। कोचरिम् के तत्कालीन ताम्रपत्र (इ० ऐण्टी० भाग ८, पृ० ४५) में उसे विजयमहादेवी कहा गया है। यदि इन दोनों की एकता को स्वीकार कर लिया जाय, जैसाकि मेरा मत है, तो ताम्रपत्र के आधार पर उसका समय ६५९ ई० मानना होगा और दण्डी को तदनुसार ६६०–६८० ई० के बीच रखना होगा। इसकी चर्चा पृष्ठ १२६ पर की जा चुकी है। प्रो० के० सी० चट्टोपाध्याय (इण्डियन हिस्टौरिकल क्वार्टर्ली भाग १४, पृ० ५८२–६०६ पर 'कौमुदी-महोत्सव' शीर्षक लेख) मेरे द्वारा प्रस्तुत उपरोक्त एकता को मानने के लिए तैयार नहीं हैं (पृष्ठ ६०४)। उनका कथन है कि विजया महादेवी विज्जा से भिन्न है। उनका तर्क है कि सिंहासनारूढ महारानी 'भूपालाः शशिभास्करान्वयभुवः' तथा 'यशः पुत्रं देव' सरीखे श्लोक नहीं लिख सकती, जोकि विज्जका कृत माने जाते हैं (दे० सदुक्तिकर्णामृत)। आधुनिक विद्वान् की दृष्टि में वे अश्लील हो सकते हैं, किन्तु इसके कई समाधान हैं। हम अपनी बीसवीं शताब्दी की धारणाओं को सप्तम या अष्टम शताब्दी की कवयित्री के साथ नहीं जोड़ सकते। यदि 'धन्यासि' सरीखे श्लोक को विज्जाका की रचना माना जा सकता है, तो उपरोक्त दो श्लोकों को विजया महादेवी की रचना मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त सुभाषितावलि (सं० २५१५) में भूपालाः[1] आदि श्लोक को मयूर की रचना बताया गया है।

---

1. श्लोक इस प्रकार है—

> भूपालाः शशिभास्करान्वयभुवः के नाम नासादिता
> भर्तारं पुनरेकमेव हि भुवस्त्वामेव मन्यामहे।
> येनाङ्गं परिमृद्य कुन्तलमपाकृष्य व्युदस्यायतं
> चोलं प्राप्य च मध्यदेशमचिरात्काञ्च्यां करः पातितः॥

अङ्ग, कुन्तल, चोल, मध्यदेश और काञ्ची शब्द मुख्यतया देशवाचक हैं, किन्तु श्लेष द्वारा सम्भोग की चर्चा की गई है। सदुक्तिकर्णामृत (३, १५, १ पृ० १९६, पञ्जाब, ओरियण्टल सीरिज़ १९३३) में इसे विद्याकृत बताया गया है। इसी प्रकार के श्लेष-गर्भित अर्थों के लिए रुद्रट १०, १० के साथ तुलना कीजिए।

एक बात और है, जहाँ तक मुख्य अर्थ का प्रश्न है, वह निर्दोष है। सम्भोग शृङ्गार का अर्थ तभी प्रस्तुत होता है जब शब्दों के द्वितीय अर्थ पर ध्यान दिया जाता है। यशः पुत्रं देव आदि द्वितीय श्लोक किसी भी दृष्टि से अश्लील नहीं है। विज्जाका सम्बन्धी प्रश्न के लिए नीचे लिखे निबन्ध देखने चाहिए—

१. डा० राघवन्—त्रैमासिक जनरल ऑफ मिथिक सोसाइटी (बङ्गलोर) भाग २५, पृ० ५२–५५,

२. वी० के० राघवाचार्युलु—त्रैमासिक जनरल ऑफ मिथिक सोसाइटी भाग २४, पृ० १५६–१५९।

३. इण्डियन कल्चर भाग ११, पृ० ८६–८८।

४. डा० जे० बी० चौधरी—संस्कृत पोइटेसैज़ (संस्कृत की कवयित्रियाँ) प्रथम खण्ड।

५. रोमा चौधरी—उपरोक्त पुस्तक का अंग्रेजी अनुवाद तथा भूमिका पृ० ३८–४५; इसमें बताया गया है कि सुभाषित संग्रहों में विज्जका के नाम से २९ श्लोक मिलते हैं। उनकी भाषा अत्यन्त प्रसन्न है। उनमें शृङ्गार, ऋतु, नायिकाओं आदि का वर्णन है। डा० रोमा चौधरी ने अपनी प्रस्तावना (संस्कृत पोइटेसैज, प्रथम खण्ड, पृ० ४८) में लिखा है कि परम्परानुसार निम्नलिखित श्लोक विजयाङ्का का माना जाता है—

एकोऽभून्नलिनात्ततश्च पुलिनाद् वल्मीकतश्चापर—
स्ते सर्वे कवयो भवन्ति गुरवस्तेभ्यो नमस्कुर्महे।
अर्वाञ्चो यदि गद्यपद्यरचनैश्चेतश्चमत्कुर्वते,
तेषां मूर्ध्नि ददामि वामचरणं कर्णाटराजप्रिया॥

इस श्लोक में कर्णाटक की महारानी ने, ब्रह्मा, व्यास तथा वाल्मीकि को छोड़कर अन्य कवियों के प्रति भारी अवज्ञा प्रदर्शित की है। अतः प्रतीत

---

1. डा० राघवन् (जनरल ऑफ मिथिक सोसाइटी, भाग २५, पृ० ५५) तथा कुमारी शकुन्तलाराय (इण्डियन कल्चर भाग ११, पृ० ८६) ने भी 'एको भून्नलिनात्' इत्यादि श्लोक को विजयाङ्का कृत माना है, किन्तु किसी ने भी इसके लिए सुभाषित संग्रह या अन्य आधार को प्रस्तुत नहीं किया। सुभाषितों में विजया या विजयाङ्का के नाम से शायद ही कोई श्लोक हो, यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है।

होता है, वह स्वयं उच्चकोटि की कवयित्री रही होगी। किन्तु सुभाषितों में संग्रहीत सुन्दर श्लोक विज्जा के हैं। अतः यह तर्क अत्यन्त शिथिल है कि कार्णाटीविजयाङ्का (अथवा विजया) एवं विज्जा एक ही हैं, वही कर्णाट की महारानी है और उपरोक्त (पृ० १६२) दानपत्र में विजयमहादेवी शब्द से उसीका उल्लेख है। शार्ङ्गधर (सं० ५८२,) ने उसका एक सुन्दर श्लोक प्रस्तुत किया है, जहाँ शब्दों की ध्वनि में अर्थ प्रतिबिम्बित है। उसमें सुन्दरियों द्वारा धान्य कूटने का वर्णन है। श्लोक निम्नलिखित है—

विलासयसृणोल्लसन्मुसललोलदो
कन्दली परस्परपरिस्खलद् वलय निःस्वनोद् वन्धुराः।
लसन्ति कलहुंकृतिप्रसभकम्पितोरः
स्थलत्रुटद्गमकसंकुलाः कलमकण्डनीगीतयः[1] ॥

(शार्ङ्ग० पृ० ९४ और सरस्वतीकण्ठाभरण ५, पृ० ६०२)। कवयित्रियों में वह सर्वश्रेष्ठ है।

विज्जा अथवा विज्जका के विषय में नया प्रश्न यह उपस्थित होता है, क्या कौमुदी-महोत्सव नामक रूपक उसीकी रचना है, जिसे कुछ वर्ष पहले श्री आर० कवि ने सम्पादित किया है। कवि महोदय ने जिस प्रति को आधार बनाया है। उसके अतिरिक्त ग्रन्थकर्त्ता का नाम कहीं नहीं मिलता। प्रस्तुत प्रति की प्रस्तावना निम्नलिखित है—'यत्तदस्यैव राज्ञः समतीत चरितमधिकृत्य ···कया निबद्धं नाटकम्।' इसका अर्थ है ग्रन्थकर्त्ता के नाम के अन्त में 'का' है और वह स्त्री है। इस पर कवि महोदय का कथन है कि वह विज्जिका ही है। जब तक अन्य प्रतियाँ प्राप्त नहीं होतीं, अन्तिम निर्णय नहीं किया जा सकता। किन्तु रूपक का एक श्लोक ध्यान देने योग्य है—

जयति प्रथमं विजया जयन्ति देवाः स्वयं महादेवः।
श्रीमन्तौ भगवन्तावनन्तनारायणौ जयतः॥

कौमुदी-महोत्सव ४, १९

श्लोक का स्पष्ट अर्थ है कि विजया, जो शरद् ऋतु में कौमुदी-महोत्सव की अधिष्ठात्री देवी है, की जय हो। किन्तु सम्भव है कि इसमें अप्रकट रूप से रूपक की रचयित्री विजया (अथवा विज्जिका) का निर्देश हो। प्रस्तुत चर्चा

---

1. सदुक्तिकर्णामृत (२, १८, ३ पृ० १४५) में यह श्लोक योगेश्वर की रचना बताया गया है। शार्ङ्गधर (सं० ५८२) ने विज्जका को माना है और सरस्वती कण्ठाभरण ने रचयिता का नाम नहीं दिया।

के लिए इस प्रश्न का विस्तार आवश्यक नहीं है। कौमुदी-महोत्सव की मौलिकता, तिथि तथा कर्त्ता के विषय में जो विवाद चल रहा है उसके लिए देखिये—एनल्स ऑफ भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, भाग १२, पृ० ५०–५६, एफ० एम० विण्टरनिट्ज़ पृ० ३८२–४०६ (प्रो० के० सी० चट्टोपाध्याय), ज० आन्ध्र० एच० आर० सो० भाग ६ पृ० १३९–१४१ (श्री राघवाचार्युलु द्वारा सम्पादित) भाग ११ पृ० ६३–६७ (डा० डी० सी सरकार), इण्डियन कल्चर, भाग ११, पृ० ८७ टिप्पणं, इ० हि० त्रैमासिक भाग १४ पृ० ५, ८२–६०६, जनरल ऑफ वम्वई यूनिवर्सिटी भाग १०, पृ० १४१–१४७ (मुद्राराक्षस और कौमुदी-महोत्सव पर प्रो० मनकद का लेख जहाँ उन्होंने जायसवाल का समर्थन किया है)। सुभाषित संग्रहों में विज्जका के नाम से अनेक श्लोक मिलते हैं। उनमें से दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि (सं० ५०० कवीन्द्र०) तथा धन्यासि या कथयसि (२९८ कवीन्द्र०) दो श्लोक अलङ्कार-ग्रन्थों में वाहुल्येन उद्धृत किये जाते हैं—देखिये—डा० थौमस द्वारा सम्पादित कवीन्द्रवचनसमुच्चय की प्रस्तावना (पृ० १०६–१०८), विज्जका की रचना माने जाने वाले सभी श्लोकों के लिए। मम्मट के शब्द-व्यापार विचार में दोनों श्लोक उद्धृत हैं तथा काव्यप्रकाश में (चतुर्थ उल्लास में) द्वितीय है। 'दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि' यह श्लोक दशरूपावलोक (२, २१) पर तथा मुकुलभट्ट कृत 'अभिधावृत्तिमातृका में पृ० १२ पर है। आगे चलकर वताया जायेगा कि मुकुलभट्ट का रचनाकाल ९००–९२५ ई० है। अतः विज्जका का समय ८५० ई० के पश्चात् नहीं हो सकता और दण्डी उसके पूर्ववर्ती हैं। जल्हण कृत सूक्तिमुक्तावली में (राजशेखर ने किसी कार्णाटी कवयित्री का उल्लेख किया है—

सरस्वतीव कार्णाटी विजयांका जयत्यसौ।
या विदर्भगिरां वासः कालिदासादनन्तरम्॥

(दे० शार्ङ्गधर १८४, जल्हणकृत सूक्तिमुक्तावलि, पृ० ४७, श्लोक ९३ तथा अज्ञातकर्त्तृक शृङ्गार प्रकाश में)। विजयाङ्का सरस्वतीव का अर्थ है—विजया नामधारिणी सरस्वती। इन शब्दों का यह अर्थ भी हो सकता है कि उसने अपनी रचनाओं में सर्वत्र विजय शब्द का प्रयोग किया है। अङ्क अथवा अङ्कित आदि शब्दों के प्रयोग के लिए निम्नलिखित तथा इस प्रकार के अन्य श्लोक देखिये—

व्यासगिरां निर्यासं सारं विश्वस्य भारतं वन्दे।
भूषणतयैव सञ्ज्ञां यदंकितां भारती वहति॥

ऊपर बताया जा चुका है कि भामह का समय ७०० ई० के पश्चात् है और दण्डी का लगभग ६६०–६८० ई० है। अतः दण्डी द्वारा भामह की आलोचना सम्भव नहीं है। सम्भव है, भामह दण्डी का अत्यन्त अल्पवयस्क समकालीन हो। उसने दण्डी के मत का जिस प्रकार उपहास किया है, उससे यह कल्पना स्वाभाविक है कि वह दण्डी का समकालीन है और उसने ईर्ष्यावश इस लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् का खण्डन किया है।

डा० हूइकास ने अपने निबन्ध भट्टिकाव्य (दसवाँ सर्ग) में कुछ अर्थालङ्कार (टर्नर अभिनन्दन ग्रन्थ पृ० ३५८ टिप्पण सं० १) में मेरे मत का समर्थन करते हुए एक तर्क द्वारा यह सिद्ध किया है कि दण्डी भामह के पूर्ववर्ती हैं। भट्टि ने निदर्शना का निम्नलिखत उदाहरण दिया है--

न भवति महिमा विना विपत्ते—
रवगमयन्निव पश्यतः पयोधिः।
अविरतमभवत् क्षणे क्षणेऽसौ
शिखरिपृथुप्रथितप्रशान्तवीचिः॥

भट्टिकाव्य १०, ६३

भामह ने निदर्शना का लक्षण इस प्रकार किया है—

क्रिययैव विशिष्टस्य तदर्थस्यापि दर्शनात्।
ज्ञेया निदर्शना नाम यथेववतिभिर्विना

काव्यालङ्कार ३, ३३

भामह का कथन है कि निदर्शना में यथा, इव, वत् शब्दों का प्रयोग नहीं होना चाहिए किन्तु भट्टि के उदाहरण में इव विद्यमान है। काव्यादर्श (२, ३४८) में यथा और इव के विषय में कुछ नहीं कहा गया। डा० हूइकास का मत है कि जो लेखक यथा आदि के प्रयोग का निषेध करता है वह कुछ न कहने वाले का उत्तरवर्ती होना चाहिए। कुछ विद्वानों का कथन है कि यह तर्क सारहीन है।

बहुत-से विद्वान् दण्डी का समय छठी ई० मानते हैं। दे० मैक्समूलर (इण्डिया; ह्वाट कैन इट टीच असः प्रथम संस्करण पृ० ३३२), वैबर (हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्रेचर पृ० २३२ टिप्पण), प्रो० मैकडोनल (हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्रेचर पृ० ४३४) तथा कर्नल जैकब (जनरल ऑफ रो० ए० सो० १८९७ पृ० २८४)। अब उस मत का परित्याग करके यही मानना चाहिए कि दण्डी का रचनाकाल ६६० से ६८० ई० है।

काव्यादर्श पर नीचे लिखी टीकायें हैं—

१. तरुणवाचस्पति कृत व्याख्या, सम्पादक—प्रो० रङ्गाचार्य ।

२. हृदङ्गमा नामक टीका जिसके कर्त्ता का नाम ज्ञात नहीं है । सम्पादक —प्रो० रङ्गाचार्य, केवल दो परिच्छेद तक ।

३. मार्जन नामक टीका, महामहोपाध्याय हरिनाथ-विरचित जो विश्वधर के पुत्र तथा केशव के अनुज थे (भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट स्थित राजकीय ग्रन्थ संग्रहालय, ग्रन्थसूची भाग १२, संख्या २४, प्रतिलिपि काल संवत् १७४६) ।

४. काव्यतत्त्व विवेचककौमुदी—गोपालपुर (वङ्गाल) निवासी कृष्णकिङ्कर तर्कवागीश विरचित (इण्डिया आॅफिस सूचीपत्र पृ० २२१) ।

५. श्रुतानुपालिनी टीका—वादिघङ्घल विरचित (डी० सी० हस्तलिखित ग्रन्थ संग्रह, संख्या ३, १९१९–२४ ई०; ग्रन्थसूची भाग १२, संख्या १२५) ।

६. वैमल्यविधायिनी टीका—मल्लिनाथ विरचित, जो जगन्नाथ के पुत्र थे ।

औफ्रेट ने कुछ अन्य टीकाओं का भी उल्लेख किया है । तरुणवाचस्पति की तिथि के लिए ऊपर पृ० १३० पर देखिये । हरिनाथ का कथन है कि उन्होंने सरस्वती-कण्ठाभरण पर भी मार्जन नामक टीका लिखी है (पत्र ५ बी०, डी० सी० ग्रन्थ संग्रह, सं० ३७३ १८९५–१८९६ ई०) । उसने विश्वकोश, शाश्वत कोश, हारावली तथा विदग्धमुखमण्डन को उद्धृत किया है ।

७. विजयानन्दकृत व्याख्या (दे० भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट स्थित राजकीय प्राच्य-ग्रन्थ संग्रह भाग १२, संख्या १२३) ।

८. यामुनकृत व्याख्या (वही, संख्या १२६) इसमें काव्यादर्श चार परिच्छेदों में विभक्त है । चतुर्थ परिच्छेद का निर्माण दोष निरूपण के आधार पर किया गया हैं ।

९. रत्नश्री नामक टीका, लङ्कानिवासी रत्नश्रीज्ञान द्वारा विरचित । मिथिला इन्स्टीट्यूट के प्राध्यापक श्री अनन्तलाल ठाकुर ने इस टीका के साथ काव्यादर्श का काव्यलक्षण १९५७ में प्रकाशित किया है ।

उद्भट का अलंकारसार संग्रह—इस ग्रन्थ को कर्नल जैकोब ने नागरी लिपि में प्रस्तुत किया, जो ज० रो० ए० सो० १८९७, पृ० ८२९-८४७ में प्रकाशित

हुआ है। इसका एक संस्करण १९१५ ई० में निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित हुआ है, जिसमें प्रतीहारेन्दुराज की लघुवृत्ति नामक टीका भी है। श्री एन० डी० वनहट्टि ने भी इसका सम्पादन किया है, जो प्रतीहारेन्दुराज की टीका के साथ १९२५ ई० में बम्बई संस्कृत सीरिज़ में प्रकाशित हुआ है। उन्होंने इस पुस्तक पर प्रस्तावना भी लिखी है तथा टिप्पणी भी दी हैं। यहाँ निर्णयसागर-संस्करण के उद्धरण दिये गये हैं। उद्भट ने ग्रन्थ का विभाजन छः वर्गों में किया है। इसकी ७९ कारिकाओं में ४१ अलंकारों के लक्षण हैं तथा ९० से भी अधिक उदाहरण हैं। टीकाकार प्रतीहारेन्दुराज का कथन है कि ये उदाहरण लेखक की अन्य पुस्तक कुमारसम्भव से लिये गये हैं। 'अनेन ग्रन्थ-कृता स्वोपरचितकुमारसम्भवैकदेशोत्रोदाहरणत्वेनोपन्यस्तः। तत्र पूर्वं दीपक-स्योदाहरणानि। तदनुसन्धानाविच्छेदायात्र उद्देशक्रमः परित्यक्तः। उद्देशस्तु तथा न कृतो वृत्तभङ्गभयात्।' (पृ० १५—१६, बो० सं० सीरिज़ संस्करण) जिन अलङ्कारों के लक्षण तथा उदाहरण उद्भट के ग्रन्थ में आये हैं उनका क्रमशः वर्णन निम्नलिखित है—प्रथम वर्ग—पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, तीन प्रकार के अनुप्रास (परुषावृत्ति, उपनागरिका तथा ग्राम्या अथवा कोमला), लाटानुप्रास, चार प्रकार के रूपक, उपमा, दीपक (आदि, मध्य, अन्त), प्रति-वस्तूपमा। द्वितीय वर्ग—आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति। तृतीय वर्ग—यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति। चतुर्थ वर्ग—प्रेयस्, रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाहित, दो प्रकार के उदात्त तथा श्लिष्ट के दो भेद। पंचम वर्ग—अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुत-प्रशंसा, व्याजस्तुति, विदर्शना, उपमेयोपमा, सहोक्ति, सङ्कर के चार भेद, परिवृत्ति। षष्ठ वर्ग—अनन्वय, ससन्देह, संसृष्टि, भाविक, काव्यलिङ्ग, दृष्टान्त। यह उल्लेखनीय है कि अलङ्कारों के गिनाने का क्रम प्रायः भामह के समान है। उद्भट ने कुछ अलङ्कारों को छोड़ दिया है, जिनका लक्षण भामह ने दिया है। उ०स्वरूप यमक, उपमारूपक, उत्प्रेक्षावयव इत्यादि। भामह ने जिन अलङ्कारों के लक्षण तथा उदाहरण दिये हैं, उद्भट ने उनके अतिरिक्त कुछ नये अलङ्कार भी जोड़े हैं। उदाहरणार्थ, पुनरुक्तवदाभास, सङ्कर, काव्यलिङ्ग तथा दृष्टान्त। यह उल्लेखनीय है कि उद्भट ने निदर्शना के बदले विदर्शना शब्द का प्रयोग किया है तथा उसके एक ही भेद का उदाहरण दिया है और टीकाकार को दूसरे भेद का उदाहरण भामह की कृति से लेना पड़ा। "यत्र तु पदार्थ-समन्वय उपमानोपमेयभावकल्पनया स्वात्मानमुपपादयति तस्य विदर्शनाभेदस्यो-दाहरणमुद्भटपुस्तके न दृश्यते तस्य तु भामहोदितमिदमुदाहरणम्।' (भामह

३.३४) । 'अयं मन्दद्युतिर्भास्वानस्तं प्रति यियासति । उदयः पतनायेति श्रीमतो बोधयन्नरान् ।' इति ।" (पृ० ६२ तथा ६७, बम्बई संस्कृत सीरिज़ संस्करण)। उद्भट के काव्यालङ्कार पर तिलक रचित विवेक नामक टीका में भी यह उल्लेख है कि उद्भट के ग्रन्थ में विदर्शना के दूसरे भेद का उदाहरण नहीं मिलता । (देखो गा० ओ० सी० संस्करण पृ० ४५) ।

उद्भट तथा भामह के तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि आक्षेप, विभावना, अतिशयोक्ति, यथासंख्य, पर्यायोक्त, अपह्नुति, विरोध, अप्रस्तुत-प्रशंसा, सहोक्ति, ससन्देह तथा अनन्वय के लक्षण शब्दशः समान हैं तथा अनुप्रास, उत्प्रेक्षा, रसवत् एवं भाविक के लक्षण प्रायः एक-से हैं । उद्भट ने भामह के काव्यालङ्कार पर 'भामहविवरण' अथवा 'भामहवृत्ति' शीर्षक टीका लिखी। सम्भवतया इसी कारण दोनों के वर्णन में इतना साम्य है। प्रतीहारेन्दुराज (पृ० १३) का कथन है—"एकदेशवृत्तीत्यत्र हि एकदा अन्यदा ईशः प्रभविष्णुर्यो वाक्यार्थस्तद्वृत्तित्वं रूपकस्याभिमतम् । विशेषोक्तिलक्षणे च भामहविवरणे भट्टोद्भटेन एकदेशशब्द एवं व्याख्यातो यथेहास्माभिर्निरूपितः । तत्र विशेषोक्ति-लक्षणं 'एकदेशस्य विगमे या गुणान्तरसंस्तुतिः । विशेषप्रथनायासौ विशेषोक्तिर्मता यथा ॥" (भामह ३.२३) ऐसा प्रतीत होता है कि भामहविवरण विस्तृत ग्रन्थ था और उसीका संक्षिप्त रूप अलङ्कारसार संग्रह है, जैसाकि इसके नाम से प्रतीत होता है। बाद के लेखकों ने उद्भट के भामहविवरण से अनेक उद्धरण दिये हैं। उदाहरणार्थ, ध्वन्यालोचन पृ० १२ पर निम्नलिखित शब्द हैं—"भामहोक्तं 'शब्दश्छन्दोभिधानार्थं' (भामह १.९) इत्यभिधानस्य शब्दाद्भेदं व्याख्यातुं भट्टोद्भटो बभाषे शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च इति ।" लोचन (पृ० ४७) पर अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति (ध्व० पृ० ४५) के उदाहरणस्वरूप निम्नलिखित कारिका है—'आहूतोपि सहायैरेमीत्युक्त्वा विमुक्तनिद्रोपि । गन्तुमना अपि पथिकः सङ्कोचं नैव शिथिलयति ।' यहाँ लोचन ने आक्षेप किया है—'शीतकृता खल्वार्तिरत्र निमित्तमिति भट्टोद्भटः ।' प्रतीत होता है कि प्रतीहारेन्दुराज ने भी भामहविवरण से उद्धरण लिये हैं। वे पृ० ४९-५३, बं० सं० सीरिज़ संस्करण में लिखते हैं—'एषां च शृङ्गारादीनां नवानां रसानां स्वशब्दादिभिः पञ्चभिरवगतिर्भवति । यदुक्तं भट्टोद्भटेन 'पञ्च-रूपा रसाः' इति । तत्र स्वशब्दाः शृङ्गारादेर्वाचकाः शृङ्गारादयः शब्दाः ।" अन्तिम वाक्य 'स्वशब्दस्थायिसञ्चारिविभावाभिनयास्पदम्' (अलङ्कारसारसंग्रह, चतुर्थ वर्ग) पर प्रतीहारेन्दुराज की टीका है। हेमचन्द्र (विवेक, पृ० ११०) का कथन है—"एतेन रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसोदयम् । स्वशब्द"......

स्पदम् ॥' इत्येतद्व्याख्यानावसरे यद्भट्टोद्भटेन 'पञ्चरूपा रसाः' इत्युपक्रम्य 'स्वशब्दाः शृङ्गारादेर्वाचकाः शृङ्गारादयः शब्दाः इत्युक्तं तत्प्रतिक्षिप्तम् ।" इससे प्रतीत होता है कि हेमचन्द्र ने केवल प्रतीहारेन्दुराज के शब्द उद्धृत कर दिये । उनके सामने भामहविवरण नहीं था । अतएव रसव··· स्पदं श्लोक के विषय में उन्हें भ्रम उत्पन्न हो गया । वास्तव में यह उद्भट का अपना लक्षण है, फिर भी उन्होंने उसे भामह का मान लिया, जबकि भामह का लक्षण 'रसवद्दर्शितस्पष्ट शृङ्गारादिरसं यथा' (३,६) है। माणिक्यचन्द्र कृत काव्यप्रकाश संकेत (पृ० २६९, मैसूर सं०) में भी वही भ्रम विद्यमान है। उसने भी लिखा है––'एतेन शृङ्गाराद्याः शब्दाः शृङ्गारादेर्वाचका इत्युद्भट्टोक्तं निरस्तम् ।' उसी प्रकार सोमेश्वर ने कहा है (Folio ७५ क)––''एतेन रसवद् ···स्पदमित्यस्य व्याख्यायां पञ्चरूपा रसा इत्युपक्रम्य तत्र स्वशब्दाः शृङ्गारादयः शृङ्गारादेर्वाचका इति भट्टोद्भटोक्तं निरस्तम् ।' हेमचन्द्र (विवेक, पृ० १७) का कथन है––"एतावता शौर्यादिसदृशा गुणाः केयूरादितुल्या अलङ्कारा इति विवेकमुक्त्वा संयोगसमवायाभ्यां शौर्यादीनामस्ति भेदः, इह तूभयेषां समवायेन स्थितिरित्यभिधाय––'तस्माद्गड्डरिकाप्रवाहेण गुणालङ्कार भेदः' इति भामह-विवरणे यद्भटोद्भट्टोभ्यधात् तन्निरस्तम् ।" माणिक्यचन्द्र (संकेत पृ० २८९, मैसूर सं०) ने भी वैसा ही कहा है––'शब्दार्थालङ्काराणां गुणवत्समवायेन स्थितिरिति भामहवृत्तौ भट्टोद्भटेन भणनमसत् ।' सोमेश्वरं (Folio ८८ क) ने भी ऐसा ही किया है । समुद्रबन्ध (सर्वस्व, पृ० ८९) का कथन है––'उद्भटेन च काव्या-लङ्कारविवृत्तौ सत्कवित्वविरहिताया विदग्धतायां अस्थैर्यस्याशोभनस्य च प्रति-पादनाय निदर्शनद्वयमिति वदता का श्रीरित्यस्य श्रीरस्थिरेत्यर्थोभिहितः ।'

अलङ्कार शास्त्र पर उद्भट का बहुत प्रभाव है । उसने भामह को तिरोहित कर दिया । यही कारण है कि भामह का ग्रन्थ अब तक छिपा रहा । और अभी कुछ वर्षों में प्रकट हुआ । उत्तरकालीन आलङ्कारिक मतभेद होने पर भी उसका उल्लेख सम्मानपूर्वक करते हैं । वह अलङ्कार-सम्प्रदाय का मुख्य प्रतिनिधि है । अलङ्कार-शास्त्र में उसके नाम से अनेक सिद्धान्त प्रचलित हैं । अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर भामह से उसका मतभेद है । उदाहरणस्वरूप प्रतीहारेन्दुराज (पृ० १) का कथन है—'भामहो हि ग्राम्योपनागरिकावृत्तिभेदेन द्विप्रकारमेवानुप्रासं व्याख्यातवान् । तथा, रूपकस्य ये चत्वारो भेदा वक्ष्यन्ते तन्मध्यादाद्यमेव भेद द्वितीयं प्रादर्शयत् ।' उद्भट ने अनुप्रास के तीन भेद और रूपक के चार भेद किये हैं—

भामहो हि तत्सहोक्त्युपमाहेतुनिर्देशास्त्रिविधं यथा ।

(भामह ३.१६)

इति श्लिष्टस्य त्रैविध्यमाह (प्रतीहारेन्दुराज पृ० ४७, जबकि उद्भट ने श्लेप के दो भेद किये हैं।) लोचन का कथन है—"भामहेन हि गुरुदेवनृपति-पुत्रविषयप्रीतिवर्णनं प्रेयोलङ्कार इत्युक्तं···उद्भटमते हि भावालङ्कार एव प्रेय इत्युक्तः (पृ० ८१)। भामह ने परुषा, ग्राम्या और उपनागरिका नामक तीन वृत्तियों का प्रतिपादन नहीं किया जबकि उद्भट ने किया है। (देखो, लोचन पृ० ६)। उद्भट के प्रति प्रदर्शित सन्मान के लिये देखो, ध्व० पृ० १३१ (तत्रभव-द्भिरुद्भटादिभिः), अलङ्कारसर्वस्व पृ० ३ (इह तावद्भामहोद्भटप्रभृतयश्चि-रन्तनालङ्कारकारा।) व्यक्तिविवेकटीका (पृ० ३)—'इदं हि चिरन्तनैरलङ्कार-तन्त्रप्रजापतिभिर्भट्टोद्भटप्रभृतिभिः शब्दार्थधर्मा एवालङ्काराः प्रतिपादिता नाभि-धाधर्मः।' उत्तरवर्त्ती लेखकों ने उद्भट का उल्लेख तथा उसके उद्धरण अनेक स्थानों पर दिये हैं जिनका संग्रह यहाँ अनावश्यक है।

उद्भट ने कुछ विशेष सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। वे इस प्रकार हैं—

(१) 'अर्थभेदेन तावच्छब्दा भिद्यन्ते इति भट्टोद्भटस्य सिद्धान्तः।

(प्रतीहारेन्दु० पृ० ५५)

(२) श्लेष दो प्रकार का है—शब्दश्लेष और अर्थश्लेष, और वे दोनों ही अर्थालङ्कार हैं। मम्मट ने इस मत का खण्डन किया है (९वाँ उल्लास)—'शब्दश्लेष इति चोच्यते, अर्थालङ्कारमध्ये च लक्ष्यते इति कोयं नयः' (पृ० ५२७ वा०)।

(३) श्लेष अन्य अलङ्कारों से प्रबल होता है जहाँ श्लेष के साथ अन्य अलङ्कार भी हों वहाँ श्लेष ही प्रधान माना जाता है और अन्य अलङ्कार गौण माने जाते हैं। जैसाकि उद्भट का कथन है 'अलङ्कारान्तरगतां प्रतिभां जनयत्पदैः' (४. पृ० ५४; पृ० ५८ बो० सी० सं०)। ध्वन्यालोक (पृ० ११६) ने इस मत का उल्लेख किया है। मम्मट ने इसका भी खण्डन किया है।

(४) काव्यमीमांसा में राजशेखर का कथन है—

'तस्य (वाक्यस्य) च त्रिधाभिधाव्यापार इति औद्भटाः।

(५) अर्थ दो प्रकार का है—

"किन्तु द्विरूप एवासौ विचारितसुस्थोऽविचारितरमणीयः।
तयोः पूर्वमाश्रितानि शास्त्राणि तदुत्तरं काव्यानीत्यौद्भटाः।"

(काव्यमीमांसा, पृ० ४४)

व्यक्तिविवेकटीका (पृ० ४) में उद्भट का भी इसी प्रकार का मत बताया गया है—

"शास्त्रेतिहासवैलक्षण्यं तु काव्यस्य शब्दार्थवैशिष्टयादेव नाभिधावैशिष्ट्यादिति भट्टोद्भटादीनां सिद्धान्तः।"

(६) 'संघटनाया धर्मो गुणा इति भट्टोद्भटादयः।'

(लोचन, पृ० १६५)

(७) व्याकरण पर आधारित उपमा के उत्तरवर्ती भेदों का निरूपण उद्भट ने विस्तार के साथ किया है। काव्यप्रकाश में भी इनका वर्णन है (वर्ग १ क, साहित्यदर्पण पृ० १०५)।

(८) उद्भट का मत है कि शृङ्गारादि रसों की अभिव्यक्ति तत्-तत् शब्दों द्वारा तथा चार अन्य प्रकारों से होती है—'रसवत्···स्वशब्दस्थायिसञ्चारिविभावाभिनयास्पदम्।' किन्तु मम्मट के मतानुसार विभिन्न रसों की अभिव्यक्ति के लिये शृङ्गार आदि शब्दों का प्रयोग दोष है। देखो, काव्यप्रकाश ७. १२ तथा १४; 'व्यभिचारिरसस्थायिभावानां शब्दवाच्यता······रसे दोषाः स्युरीदृशाः॥'

कर्नल जैकोब (ज० रो० ए० सो० १८९७ पृ० ८४७) का मत है कि निम्नलिखित कारिका उद्भट की है। अतः उद्भट रस को ही काव्य की आत्मा मानते हैं।

"रसाद्यधिष्ठितं काव्यं जीवद्रूपतया यतः।
कथ्यते तद्रसादीनां काव्यात्मत्वं व्यवस्थितम्॥"

किन्तु इस मत के विरुद्ध कई प्रमाण हैं। उपरोक्त श्लोक को प्रतीहारेन्दुराज ने तदाहुः शब्दों के साथ प्रस्तुत किया है (पृ० ७७; पृ० ८३, बो० सं० सी० सं०)। अतः यह किसी ऐसे ग्रन्थकार का उद्धरण है, जो प्रतीहारेन्दुराज का पूर्ववर्ती है। इसके अतिरिक्त, एक बात और है कि उद्भट ने जिस परम्परा का अनुसरण किया है, प्रस्तुत श्लोक उसके विपरीत है। यह श्लोक काव्यलिङ्ग की व्याख्या में आया है। काव्यलिङ्ग का लक्षण देने के पश्चात् स्वभाविक रूप में निम्नलिखित उदाहरण श्लोक है—

"छायेयं तव शेषाङ्गकान्तेः किञ्चिदनुज्ज्वला।
विभूषाघटनादेशान्दर्शयन्ती धुनोति माम्॥"

यदि कर्नल जैकोब का मत स्वीकार किया जाय, तो 'रसाद्यधिष्ठितं काव्यं' आदि श्लोक को काव्यलिङ्ग के लक्षण और उदाहरण के बीच जबर्दस्ती रखना होगा। अपि च, उद्भट ने रसवद् की जो व्याख्या की है तथा अलंकारसर्वस्व

(पृ० ९) में जो मत प्रगट किया है उससे यह सिद्ध नहीं होता कि वे रस को काव्य की आत्मा मानते थे।

"उद्भटादिभिस्तु गुणालंकाराणां प्रायशः साम्यमेव सूचितम्।···तदेवमलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्।" निर्णयसागर द्वारा मुद्रित संस्करण (पृ० ४२) में 'तद्द्विगुणं त्रिगुणं वा' को मोटे अक्षरों में दिया है, जैसे यह उद्भट की अपनी रचना हो। किन्तु वास्तव में यह श्लोक रुद्रट (७. ३५) का है।

उद्भट के जिस कुमारसम्भव से उदाहरण दिये जाते हैं, प्रतीत होता है वह कालिदास कृत कुमारसम्भव के समान कोई काव्य रहा होगा। दोनों रचनाओं में पर्याप्त साम्य है। शब्दों और भावों में ही नहीं, किन्तु घटनाओं में भी वे एक-दूसरे से मिलते हैं। उदाहरणस्वरूप तुलना कीजिये—

"प्रच्छन्ना शस्यते वृत्तिः स्त्रीणां भावपरीक्षणे।
प्रतस्थे धूर्जटिरतस्तनुं स्वीकृत्य वाटवीम्॥"

उद्भट २. १०

"विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनं" इत्यादि

(कुमार० ५,–३३)

'अपश्यच्चातिकष्टानि तप्यमानां तपांस्युमाम्।
असम्भाव्यपतीच्छानां कन्यानां का परा गतिः॥'

उद्भट २. १२

'इयेव······पतिश्च तादृशः' इत्यादि

(कुमार० ५–२)

'शीर्णपर्णाम्बुवाताशकष्टेपि तपसि स्थिताम्'।

उद्भट २. १७

'स्वयं विशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता' इत्यादि

(कुमार० ५. २८)

ऊपर (पृ० ६०–६१) यह बताया जा चुका है कि उद्भट ने भरत कृत नाट्यशास्त्र पर टीका लिखी है।

उद्भट के तिथि-निर्णय में अधिक कठिनाई नहीं है। उसने भामह पर टीका लिखी है, जिसका समय सप्तम शताब्दी अथवा उसके कुछ पश्चात् है। अतः उद्भट का समय ७५० ई० से पूर्व नहीं माना जा सकता। ध्वन्यालोक (९वीं

शताब्दी का उत्तरार्ध) ने अनेक स्थानों (पृ० ११६, १३१) पर उद्भट का आदरपूर्वक निर्देश किया है। अतः उसका समय ८५० ई० के पूर्व मानना होगा। कश्मीर की परम्परा में माना जाता है कि यह वही प्रसिद्ध उद्भट है जो जयापीड़ (७७९–८१३ ई०) का सभापति था। राजतरङ्गिणी का कथन है—

'विद्वान्दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः।
भट्टोभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः॥'

(४. ४९५)

यदि इस परम्परा को स्वीकार किया जाय तो उद्भट का समय ८०० ई० मानना होगा। यदि इस परम्परा को स्वीकार नहीं किया जाता तो भी कोई अन्तर नहीं पड़ता, प्रत्येक स्थिति में उद्भट का समय ७५०–८५० ई० सिद्ध होता है।

प्रतीहारेन्दुराज की टीका अलंकार-ग्रन्थों पर प्राचीनतम व्याख्या है। उसने अपने को मुकुल का शिष्य वताया है।

'विद्वदग्र्यान्मुकुलकादधिगम्य विविच्यते।
प्रतीहारेन्दुराजेन काव्यालंकारसंग्रहः॥'

(तीसरा प्रास्ताविक श्लोक)।

टीका के अन्तिम श्लोक में मुकुल की अत्यंत प्रशंसा की गई है और कहा गया है कि वे मीमांसा, व्याकरण, तर्क तथा साहित्य के प्रकांड पण्डित थे। प्रतीहारेन्दुराज ने उस श्लोक में अपना नाम श्रीन्दुराज तथा निवास-स्थान कोङ्कण वताया है। प्रतीहारेन्दुराज की टीका संक्षिप्त, स्पष्ट तथा विद्वत्तापूर्ण है। उसने नीचे लिखे ग्रन्थों अथवा ग्रन्थकारों का उल्लेख किया है—अमरुक, उद्भट, कात्यायन, चूर्णिकार (पतञ्जलि), दण्डी, भामह, उद्भट का भामह-विवरण, वामन तथा नाट्यशास्त्र, रुद्रट का काव्यालंकार, ध्वन्यालोक से अनेक उद्धरण लिये हैं। मुकुल का समय ९००–९२५ ई० है, अतः प्रतीहारेन्दुराज को ९५० ई० के लगभग रखना होगा। उसने उद्भट रचित उदाहरणों के विभिन्न पाठों की चर्चा की है। इससे प्रतीत होता है कि दोनों में काल का पर्याप्त व्यवधान रहा होगा। उ० स्वरूप पृ० ४ में 'स देवो दिवासान्निन्ये तस्मिञ्शैलेन्द्रकन्दरे' पर उसका कथन है—'निन्ये तस्मिन्' इत्यत्र 'निन्येन्यस्मिन्' इति पाठः। अभिनवगुप्त के गुरु का नाम इन्दुराज था। वे प्रतीहारेन्दुराज से भिन्न थे या अभिन्न, यह चर्चा आगे की जायगी।

जयरथ ने अलङ्कारसर्वस्व पर विमर्शिनी नामक अपनी टीका में राजानकतिलक का उद्भट पर टीकाकार के रूप में उल्लेख किया है। साथ ही यह भी बताया है कि अलंकारसर्वस्व ने प्रायः तिलक के मतों का अनुसरण किया है। 'एतच्चोद्भटविचारे राजानकतिलकेनैव सप्रपञ्चमुक्तमिति न तथास्माभिराविष्कृतम्।' अलं० स० वि० पृ० १५; 'एतदेव राजानकतिलकेनाप्युक्तम्। कारणासामग्र्यमिह बाधकत्वेनैव प्रतीयते कार्यानुत्पत्तिस्तु बाध्यत्वेनेति। ग्रन्थकृच्च प्रायस्तन्मतानुवर्त्येव। तदुक्तसमानन्यायोऽस्माभिः पाठो लक्षितः। अलं० स० वि० पृ० १५८;

'यत्सामग्र्येऽपि शक्तीनां फलानुत्पत्तिनिबन्धनम्।
विशेषस्याभिधित्सातस्तद्विशेषोक्तिरुच्यते ॥'

(उद्भट गा० सं० ४)

'एतच्चोद्भटविवेके राजानकतिलकेन सप्रपञ्चमुक्तमिति······चिरन्तनेति (अलं० स०)। अनेनास्माभिः सर्वत्रैव तन्मतानुसृतिरेव कृतेत्यात्मविषयमनौद्धत्यमपि ग्रन्थकृता प्रकाशितमिति। अलं० स० वि० पृ० २२७। उद्भट के अलं० सा० सं० पर राजानकतिलक की टीका गायकवाड़ सी० से एक ही हस्तलिखित प्रति के आधार पर प्रकाशित (१९३१) हुई है। इन उद्धरणों से यह प्रतीत होता है कि उद्भट-रचित टीका का नाम उद्भटविवेक या उद्भटविचार था। विमर्शिनी में तिलक के जिस उद्धरण का उल्लेख है, उसका अपेक्षित पाठ तिलक कृत टीका के पृ० २२ पर है। उद्भटविवेक के मुद्रित पाठ में मुझे दूसरा उद्धरण नहीं मिला। पृ० ४१ पर एक संक्षिप्त उल्लेख है। यदि उसे ही उद्धरण मान लिया जाय तो दूसरी बात है। सामग्र्य शब्द उद्भटकृत विशेषोक्ति के लक्षण में है, तिलक की टीका में नहीं। तृतीय उद्धरण सम्भवतया मुद्रित पुस्तक के पृ० ४० पर है। (काव्ये दोषगुणालंकाराणां च शब्दार्थगततयान्वयव्यतिरेकाभ्यां विभागः क्रियते। तिलक) प्रस्तुत उद्धरण में अलं० स० (पृ० २५७ तस्मादाश्रयाश्रयिभावेनैव चिरन्तनमतानुसृतिरिति) तिलक की टीका से भिन्न तथा प्राचीन लेखकों के क्रम का अनुसरण करता हुआ प्रतीत होता है। तिलक की टीका संक्षिप्त होने पर भी विषयानुकूल तथा मार्मिक है। उन्होंने कई स्थानों पर प्रतीहारेन्दुराज का खण्डन किया है। प्रतीत होता है कि उनके समक्ष उद्भट पर कई टीकायें विद्यमान थीं। काव्यप्रकाशसंकेत[1] के रचयिता रुचक ने तिलक से अलंकार-शास्त्र का अध्ययन किया

1. काव्यप्रकाशसंकेत का दूसरा प्रास्ताविक श्लोक है—"ज्ञात्वा श्रीतिलकात्सर्वालंकारोपनिषत्क्रमम्। काव्यप्रकाशसंकेतो रुचकेनेह लिख्यते ॥" देखो, कैट०

था। सहृदयलीला की पुष्पिका में रुचक का दूसरा नाम रुय्यक भी आया है तथा इस वात का भी उल्लेख है कि वे राजानकतिलक के पुत्र थे। अलंकार-सर्वस्व की रचना ११३५–११५५ ई० में हुई। अतः तिलक का समय ११००–११२५ ई० मानना होगा। सम्भवतया वह मम्मट का लघुसमकालीन था। उद्भटविवेक के विद्वान् सम्पादक ने जो तर्क (प्रस्तावना पृ० ४२–४५) उपस्थित किये हैं, मैं उनसे सहमत नहीं हूँ। वे एकपक्षीय समर्थन-से प्रतीत होते हैं। उनका कथन है कि मम्मट ने तिलक के ग्रन्थ का अध्ययन किया था और उससे विचारों का ग्रहण भी किया है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि सत्य इसके सर्वथा विपरीत है। इसी प्रकार, सम्पादक महोदय की मान्यता है (प्रस्तावना पृ० ३८–३९) कि तिलक ने अन्य ग्रन्थों की रचना भी की थी। यह मान्यता निराधार एवं कपोल-कल्पित है। डा० डे ने (बुलेटिन ऑफ दि लंडन स्कूल ऑफ ओरियन्टल स्टडीज, भाग ४, पृ० २७९) उद्भट पर तिलक-रचित टीका की जिस हस्तलिखित पुस्तक का उल्लेख किया है, गा० ओ० सी० संस्करण भी उसी पर आधारित है।

वामन का काव्यालंकारसूत्र—इस ग्रंथ का सम्पादन कई बार हुआ है। सर्वोत्तम संस्करण वाणिविलास प्रेस, १९०९ का है। डा० केपलर ने १८७५ ई० में जर्मन प्रस्तावना के साथ जेना से एक संस्करण निकाला था। ग्रंथ तीन भागों में विभक्त है—सूत्र, स्वोपज्ञवृत्ति तथा उदाहरण। वामन ने स्वयं कहा है—

प्रणम्य परमं ज्योतिर्वामनेन कविप्रिया।
काव्यालंकारसूत्राणां स्वेषां वृत्तिर्विधीयते॥'

प्रतीहारेन्दुराज सरीखे प्राचीन ग्रन्थकार ने भी सूत्र (उ० स्व० वामन ३.११–२ पृ० १७ तथा ४.३.८, पृ० ८१) तथा वृत्ति से उद्धृत पाठों को वामन कृत माना है। उ० स्व० काव्यालंकार सूत्र में 'युवतेरिव रूपमङ्ग काव्यं' तथा यदि भवति' इत्यादि श्लोक ३.१.२ पर आये हैं। प्रतीहारेन्दुराज ने पृ० ७६ पर इनको वामन कृत बताया है। तथा 'लक्षणायां हि झगित्यर्थप्रतिपत्ति क्षमत्वं रहस्यमाचक्षते' आदि पाठ काव्यालंकार वृत्ति ४.३.८ पर है। प्रतीहारेन्दु-राज ने पृ० ८४ पर इसे वामनकृत बताया है। इसी प्रकार लोचन (पृ० ४३) ने आक्षेप का वामन कृत उदाहरण तथा उसकी वृत्ति (४.३.२७) से दो

ऑफ गर्व० मैनस०, वी० ओ० आर० आई० भाग १२, सं० १०२ पृ० १०८–१०९।

उदाहरण उद्धृत किये हैं। वृत्ति में संकलित अधिकतर उदाहरण सर्वमान्य ग्रन्थों से लिये गये हैं। वामन ने स्वयं इस बात का उल्लेख किया है–'एभिर्निदर्शनैः स्वीयैः परकीयैश्च पुष्कलैः। शब्दवैचित्र्यगर्भेयमुपमैव प्रपञ्चिता।' (४.३.३३)।

वामन की वृत्ति में लगभग २५० श्लोक अथवा श्लोकांश उद्धृत हैं। एक प्राचीन ग्रन्थकार होने के कारण उनके द्वारा दिये गये उद्धरणों का विभिन्न ग्रन्थकारों के तिथि-निर्णय में विशेष महत्व है। प्रस्तुत ग्रन्थ में मैंने निर्णयसागर, १९२६ संस्करण का उपयोग किया है।

वामन ने अपने ग्रन्थ को पाँच अधिकरणों में विभाजित किया है और उसमें सूत्र-शैली का अनुकरण ही नहीं, उसके अनेक शब्दों का प्रयोग भी किया है। प्रत्येक अधिकरण दो या तीन अध्यायों में विभक्त है। सारी पुस्तक में १२ अध्याय हैं, प्रथम तथा चतुर्थ अधिकरणों में तीन तथा शेष में दो। सूत्रों की संख्या ३१९ है। जान पड़ता है कि वामन ने अध्यायों एवं अधिकरणों का परस्पर सम्बन्ध उलट दिया है। प्रतीत होता है, उसने कौटिल्य के अर्थशास्त्र एवं वात्स्यायन के कामसूत्र का अनुकरण किया है। प्राचीन सूत्रकारों ने अपने ग्रन्थ को अध्यायों में विभक्त किया है और अध्यायों को अधिकरण में।

प्रथम शारीर नामक अधिकरण में, निम्नलिखित विषयों का निरूपण है काव्य के प्रयोजन, काव्य-शिक्षा के अधिकारी, काव्य की आत्मा-रीति, तीन रीतियाँ—वैदर्भी, गौड़ी तथा पाञ्चाली, काव्य के हेतु तथा प्रकार।

द्वितीय दोषदर्शन नामक अधिकरण में पद, वाक्य तथा वाक्यार्थ के दोषों का निरूपण है।

तृतीय गुणविवेचन नामक अधिकरण में गुण तथा अलङ्कारों में परस्पर भेद, शब्दार्थ विषयक दस गुणों (उ० स्व० ओजस्) के लक्षण एवं उदाहरणों का प्रतिपादन है।

चतुर्थ आलङ्कारिक नामक अधिकरण में यमक, अनुप्रास, उपमा तथा उसके छः दोष, तथा न्यूनाधिकरूपेण उपमा पर आश्रित अन्य अलङ्कारों का निरूपण है।

पञ्चम प्रायोगिक नामक अधिकरण में कवि-परम्पराओं का प्रतिपादन है। उ० स्व० किसी भी शब्द को पुनरुक्त न करना। पूर्वार्ध के अतिरिक्त श्लोक-पादों में सन्धि-नियमों का पालन, पाद के प्रारम्भ में 'खलु' आदि शब्दों का अप्रयोग। साथ ही यह भी बताया है कि व्याकरण की शुद्धि किस प्रकार सम्भव है। प्राचीन कवियों द्वारा प्रयुक्त अशुद्ध पदों का संग्रह करके उन्हें व्याकरण द्वारा सिद्ध करने की चेष्टा की है। शब्दशुद्धि विषयक अन्तिम अध्याय भामह के

षष्ठ परिच्छेद के समान है, किन्तु दोनों में कुछ भेद भी है। भामह ने (६.३२-६०) पाणिनी सूत्रों के आधार पर कुछ प्रयोगों के उदाहरण दिये हैं तथा बताया है कि कवियों को किनका प्रयोग करना चाहिये और किनका नहीं। उसने सामान्यतया अष्टाध्यायी के अध्यायों तथा पादों का अनुसरण किया है।

किन्तु वामन ने (वा० २.१–९२) अष्टाध्यायी के क्रम का अनुसरण नहीं किया। उसने सीधे ही शब्दों को लेकर उनका प्रयुक्त अथवा अप्रयुक्त होना बताया है। साथ ही यह भी बताया है कि प्रयोग-विशेष क्यों अशुद्ध है अथवा उसे कैसे सिद्ध किया जा सकता है। उ० स्व० पाणिनी के १.२.६७ तथा ४.१,४८ सूत्रों से ज्ञात होता है कि 'रुद्रश्च रुद्राणी च' इस अर्थ में एकशेष करके "रुद्रौ" शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिये। ५.२.१ की वृत्ति में उनका कथन है कि इन्द्रौ, भवौ, शर्वौ, आदि शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिये। प्रतीत होता है इसमें भामह का निम्नलिखित श्लोक लक्षित है—

सरूपशेषं तु पुमान् स्त्रिया यत्र च शिष्यते।
यथाह वरुणाविन्द्रौ भवौ शर्वौ मृडाविति॥

(६.३२)

वामन (५.२.१५) का कथन है कि यदि पाणिनी के उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे २.१.५६ सूत्र पर विचार किया जाय तो विम्बाधर के स्थान पर अधरविम्ब होना चाहिये। किन्तु यदि उसे मध्यमपदलोपी समास माना जाय तो विम्बाधर शब्द भी शुद्ध हो सकता है। (विम्बाकारोऽधरः विम्बाधरः)। अनुप्रास, यमक तथा उपमा के अतिरिक्त नीचे लिखे अलङ्कारों के लक्षण एवं उदाहरण दिये हैं—प्रतिवस्तूपमा, समासोक्ति, अप्रस्तुत० अपह्नुति, रूपक, श्लेष, वक्रोक्ति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, सन्देह, विरोध, विभावना, अनन्वय, उपमेयोपमा, परिवृत्ति, क्रम, दीपक, निदर्शन, अर्थान्तर० व्यतिरेक, विशेषोक्ति, व्याजस्तुति, व्याजोक्ति, तुल्ययोगिता, आक्षेप, सहोक्ति, समाहित, संसृष्टि, उपमारूपक, उत्प्रेक्षावयव (कुल जोड़ ३३)। यह उल्लेखनीय है कि भामह ने पर्यायोक्त, प्रेयः, रसवत्, ऊर्जस्वि, उदात्त, भाविक तथा सूक्ष्म आदि अलङ्कारों के लक्षण नहीं दिये। वामन के कुछ लक्षण भामह पर आधारित हैं, उ० स्व० उपमा (भामह २.३०; वामन ४.२.१), विभावना (भामह २.७७, वामन ४.३.१३)।

वामन ने जिन ग्रन्थों अथवा ग्रंथकारों का नामपूर्वक उल्लेख किया है वे निम्नलिखित हैं—कविराज (४.१.१०), कामन्दकीनीति (४.१.२), कामशास्त्र छन्दोविचिति, नाममाला (१.३.५), विशाखिल (कलाशास्त्र का लेखक,

१.३.७), शूद्रक (श्लेषगुण ३.२.४), हरिप्रबोध (४.१.२), ३.२.२. पर वामन का कथन है—'साभिप्रायत्वं यथा—सोयं सम्प्रतिचन्द्रगुप्ततनयश्चन्द्रप्रकाशो युवा जातो भूपतिराश्रयः कृतधियां दिष्ट्या कृतार्थश्रमः ।। आश्रयः कृतधियामित्यस्य (च सुबन्धु—५.१) वसुवन्धुसाचिव्योपक्षेपपरत्वात् साभिप्रायत्वम् ।' इस पर विवाद चल पड़ा है कि उपरोक्त श्लोक में निर्दिष्ट चन्द्रगुप्त कौन-सा है तथा वास्तविक पाठ क्या है—वसुवन्धुसाचिव्यो या च सुवन्धुसाचिव्यो। देखो, इण्डि० एण्टि०, भाग ४०, (१९११), पृ० १७० तथा आगे (प्रो० पाठक), पृ० २६४ (डा० हार्नल); इण्डि० एण्टि० भाग ४१, (१९१२), पृ० १ (प्रो० डी० आर० भण्डारकर) वसुबन्धु पाठ के पक्ष में; इण्डि० एण्टि० १९११ पृ० ३१२ (प्रो० नरसिंहचर), इ० हि० क्वा० भाग १, पृ० २६१; इ० एण्टि० १९१२, पृ० १५ (म० म० हरप्रसाद शास्त्री) च सुवन्धु पाठ के पक्ष में।

श्लोक में किस ऐतिहासिक तथ्य का उल्लेख है यह निर्णय इस बात पर निर्भर है कि किस पाठ को स्वीकार किया जाय। यदि हम वसुबन्धुसाचिव्यो पाठ को स्वीकार करें तो यह उल्लेख चन्द्रगुप्त, समुद्रगुप्त तथा वसुबन्धु का होगा। यदि 'च सुबन्धुसाचिव्यो' पाठ माना जाय तो इसे चन्द्रगुप्तमौर्य, उनके पुत्र विन्दुसार तथा मंत्री सुबन्धु का उल्लेख स्वीकार करना होगा। देखो, डा० प्रो० दशरथ शर्मा, इ० हि० क्वा० भाग १०, पृ० ७६१ तथा आगे। डा० शर्मा के मतानुसार वामन द्वारा उद्धृत प्रस्तुत श्लोक तथा मेहरौली स्तंभ उत्कीर्ण लेख के तृतीय श्लोक में बहुत अधिक साम्य है (गुप्त इन्स्क्री० पृ० १३९ तथा पृ० १४१)। अभिनवभारती ने महाकवि सुबन्धु द्वारा विरचित वासवदत्तानाट्यधारा नामक रूपक का उल्लेख किया है। अतः यह आवश्यक नहीं है कि वामन के प्रस्तुत श्लोक में निर्दिष्ट सुबन्धु तथा वाण द्वारा निर्दिष्ट वासवदत्ता से अभिप्राय गद्य-आख्यायिका तथा उसके रचयिता से है। अभिनवभारती, गा० ओ० सी० भाग ३, पृ० १७२ पर निम्नलिखित पाठ है—तत्रास्य बहुतरव्यापिनो बहुगर्भ-स्वप्नायिततुल्यस्य नाट्यायितस्योदाहरणं महाकविसुबन्धुनिबद्धो वासवदत्तानाट्य-धाराख्यः समस्त एव प्रयोगः। तत्र हि बिन्दुसारः प्रयोज्यवस्तुत उदयनचरिते सामाजिकीकृतोपि इत्यादि। देखो, ज० बो० ब्रा० रो० ए० सो०, भाग २३, पृ० १८५—१८७ में प्रो० पाठक का कथन है कि वामन के प्रस्तुत श्लोक में चन्द्रगुप्त द्वितीय (४१३—४५५ ई०) के पुत्र कुमारगुप्त का उल्लेख है। परमार्थ (४९९—५६९ ई०) का कथन है कि वसुबन्धु की मृत्यु अस्सी वर्ष की आयु में हुई जिस समय बालादित्य का शासन था। अतः वसुबन्धु का समय ४२०—५०० ई० (ज० रो० ए० सो० १९०५, पृ० ३३—५३) मानना होगा। बाण ने

हषचरित के अष्टम सग में वसुवन्धु कृत अभिधर्म कोश का उल्लेख किया है। इस विषय में नवीन चर्चा के लिये देखो, इ० हि० क्वा० भाग १८, पृ० ३७३–७५; भाग १९, पृ० ६९–७२, भाग २०, पृ० ८५ तथा ३६६।

अवन्तिसुन्दरीकथा में सुवन्धु का उल्लेख वाल्मीकि, व्यास तथा पाणिनी या पतञ्जलि के पश्चात् एवं बृहत्कथा, शूद्रक, भास, कालिदास तथा वाण के पूर्व किया गया है। कवियों के नाम प्रायः कालक्रम से ही दिये जाते हैं। अतः अ० सु० कथा में उल्लिखित सुवन्धु अवश्य कोई प्राचीन कवि होना चाहिये। अ० सु० कथा में प्रास्ताविक श्लोक के निम्नलिखित शब्द—अक्षरशः नहीं स्वीकार करने चाहिये। 'सुवन्धुः किल निष्क्रान्तो विन्दुसारस्य वन्धनात् तस्यैव हृदयं वद्ध्वा वत्सराजो······॥ सुवन्धु विन्दुसार के कारागृह से भागा था यह तथ्य नहीं है, जैसीकि कुछ लोगों की मान्यता है। उपरोक्त श्लोक का यही अभिप्राय है कि वत्सराज की कथा ने सुवन्धु के हृदय को आकृष्ट कर लिया। अतः वह विन्दुसार का वशीभूत नहीं हुआ। किन्तु अपना स्वार्थसिद्ध कर लिया और विन्दुसार को केवल दर्शक के रूप में रखा। अतः सम्भवतया यह उल्लेख अभिनवगुप्त द्वारा निर्दिष्ट वासवदत्तानाट्यधारा तथा नाट्यायित से सम्वन्ध रखता है (पृ० १७८ गा० ओ० सी०, भाग ३, अ० भारती)। मेरे मतानुसार यह पाठ 'वसुवन्धुसाचिव्यो०' होना चाहिये। 'च सुवन्धु०' पाठ में 'च' का विशेष अर्थ नहीं निकलता। 'च' के द्वारा किसे जोड़ा जायगा ? वसुवन्धु वौद्ध विद्वान् थे। समय बीतने पर उन्हें भुला दिया गया। दूसरी ओर, सुवन्धु की प्रसिद्धि वढ़ती गई। परिणामस्वरूप लिपिकार ने या तो वसुवन्धु को उपेक्षावश 'च सुवन्धु' कर दिया या इस पाठ का सम्बन्ध प्रसिद्ध महाकवि सुवन्धु के साथ जोड़ने के लिये विचारपूर्वक वदल दिया। म० म० हरप्रसाद शास्त्री का एकमात्र आधार वहुत-सी प्रतियों में उपलब्ध 'च सुवन्धु' पाठ है। किन्तु यह पर्याप्त नहीं है। अधिकतर प्रतियाँ वामन से कई शताब्दियाँ वाद की हैं। यदि उनमें से कहीं भी 'वसुवन्धु' पाठ न होता तो दूसरी बात थी। वामन ने जिन ग्रन्थों को उद्धृत किया है उनके नाम यद्यपि ग्रन्थकार ने नहीं दिये, निम्नलिखित हैं—अमरूशतक, उत्तरराम० (इयं गेहे लक्ष्मीः, ४.३.६), कादम्वरी, किराताजुंनीय, कुमारसम्भव, मालतीमाधव, मृच्छकटिक (द्यूतं हि नाम पुरुषस्यासिंहासनं राज्यं, ४.३.२३), मेघदूत, रघुवंश, विक्रमोर्वशीय, वेणीसंहार, शाकुन्तल, शिशुपालवध, हर्षचरित। 'यासां वलिः' श्लोक (५.१.३) मृच्छकटिक (१.९.) एवं तथाकथित भासकृत चारुदत्त (१.२) दोनों में है। 'यो भर्तुपिण्डस्य कृते न युध्येत्' को वामन ने व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध उदाहरण के

रूप में ५.२.१३ पर दिया है। वह कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा प्रतिज्ञायौगन्धरायण (४.३) में भी है। 'शरच्छशाङ्कगौरेण वाताविद्धेन भामिनि। काशपुष्पलवेनेदं साश्रुपातं मुखं कृतम् ॥' इत्यादि श्लोक वामन ने व्याजोक्ति (४.३.२५) के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। यह कुछ परिवर्तन के साथ भासकृत स्वप्नवासवासवदत्ता (४.८) में भी है। वामन के ५.२.३८ पर 'मातङ्गं मानभंगुरं' शब्द भामह के 'मदो जनयति प्रीतिं सानङ्गं मानभंगुरं' २.२७ शब्दों का अशुद्ध पाठ प्रतीत होते हैं। अलंकारों के सम्बन्ध में उसने अन्य आचार्यों के मत प्रस्तुत किये हैं—'उत्प्रेक्षैवातिशयोक्तिरिति केचित् (४.३.१०); अर्थान्तरन्यासस्य हेतुरूपत्वाद्धेतोश्चान्वयव्यतिरेकात्मकत्वान्न ततः पृथग् व्यतिरेक इति केचित् ४.३.२१; उपमानाधिक्यात्तदपोह इत्येके—४.२.१८; 'अनयोर्दोषयोर्विपर्ययाख्यस्य दोषस्यान्तर्भावान्न पृथगुपादानम्। अतएवास्माकं मते षड् दोषा इति' ४.२.११ (प्रतीत होता है इसमें भामह अथवा मेधावी का उल्लेख है)। वामन ने प्रायः लिखा है 'श्लोकाश्चात्र भवन्ति'। इसका अर्थ है उद्धरण। (देखो, ३.१.२५ ग्यारह श्लोक ३.२.१५ तीन श्लोक)।

वामन रीति-सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं। उन्होंने ही इस बात पर बल दिया कि काव्य की आत्मा रीति है (रीतिरात्मा काव्यस्य। विशिष्टा पदरचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा। १.२.६–८)। वामन की कुछ अन्य विशेषतायें निम्नलिखित हैं–(१) गुण और अलंकारों में परस्पर भेद का प्रतिपादन। (काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः। ३.२.१–२)। काव्यप्रकाश (८. पृ० ४७१) ने इस मत का प्रबल विरोध किया है। (२) तीन रीतियाँ—वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली; (३) वक्रोक्ति की अर्थालंकारों में गणना तथा 'सादृश्याल्लक्षणा' के रूप में उसका लक्षण। (४.३.८. उन्मिमील कमलं सरसीनां कैरवं च निमिमील मुहूर्तात्। अत्र नेत्रधर्मावुन्मीलननिमीलने सादृश्याद्विकाससंकोची लक्षयतः)। (४) विशेषोक्ति का विचित्र लक्षण—एकगुणहानिकल्पनायां साम्यदार्ढ्यं विशेषोक्तिः' (४.३.२३), जोकि जगन्नाथ आदि आलंकारिकों के मत से रूपक (दृढारोप) है। (५) आक्षेप नामक अलंकार के दो अर्थ (उपमानस्य आक्षेपः प्रतिषेधः तुल्यकार्यार्थस्य नैरर्थक्यविवक्षायामाक्षेपः, उपमानस्याक्षेपतः प्रतिपत्तिरित्यपि सूत्रार्थः) जो मम्मट एवं दूसरे आलंकारिकों के मतानुसार दो स्वतंत्र अलंकार हैं—प्रतीप तथा समासोक्ति।

काव्यालंकारसूत्र के टीकाकार सहदेव का कथन है कि यह ग्रन्थ लुप्त हो चुका था, किन्तु भट्टमुकुल ने कहीं से एक प्रति प्राप्त करके परम्परा की रक्षा की। 'वेदिता सर्वशास्त्राणां भट्टोभून्मुकुलाभिधः। लब्ध्वा कुतश्चिदादर्शं भ्रष्टा-

म्नायं समुद्धृतम् । काव्यालंकारशास्त्रं यत्तेनैतद्वामनोदितम् । असूया तत्र कर्त्तव्या विशेषालोकिभिः क्वचित् ।' (राजशेखर के काव्यमीमांसा में पृ० ११७ पर टिप्पण) राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में मंगल नामक आलंकारिक का उल्लेख किया है तथा उसका एक उद्धरण दिया है—तें च द्विधा अरोचकिनः सतृणाभ्यवहारिणश्च इति मङ्गलः । 'कवयोऽपि भवन्ति' इति वामनीयाः ।" (पृ० १४) । वामन का कथन है—'अरोचकिनः सतृणाभ्यवहारिणश्च कवयः' (१.२.१) जिसकी वामन ने अपनी वृत्ति में नीचे लिखी व्याख्या दी है— 'अरोचकिसतृणाभ्यवहारिशब्दौ गौणार्थौ कोऽसावर्थः—विवेकित्वमविवेकित्वं चेति ।' यहाँ 'अरोचकिनः' का अर्थ है, सुधाहीन व्यक्ति अर्थात् वे व्यक्ति जिनकी रुचि विकृत है । 'सतृणाभ्यवहारिणः' का अर्थ है, वे व्यक्ति जो घास भी खा जाते हैं अर्थात् वे व्यक्ति जो बिना किसी भेद-भाव के समस्त साहित्यिक प्रकारों का स्वागत करते हैं। राजशेखर ने पृ० ११, १६ तथा २० पर मंगल का मत उद्धृत किया है। उसका उपसंहार रोचक है । वहाँ काव्यपाक के विषय में प्रश्न किया गया है । मंगल के मतानुसार पाक का अर्थ परिणाम है अर्थात् नाम तथा क्रियाओं में व्याकरण की शुद्धि । वामन सम्प्रदाय के अनुसार पाक का अर्थ है, कवि के द्वारा प्रयुक्त शब्दों के स्थान पर अन्य शब्दों के प्रयोग में कठिनाई अथवा असम्भावना । राजशेखर ने तदाहुः शब्द के साथ वामन के दो श्लोक उद्धृत किये हैं। ये दोनों वामनवृत्ति १.३.१५ में 'अत्र श्लोकौ' शब्दों के साथ प्रस्तुत किये गये हैं। नीचे सारा पाठ काव्यमीमांसा उद्धृत किया जा रहा है ।[1] हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन में वामन को अनेक वार उद्धृत किया है

---

1. कः पुनरयं पाकः इत्याचार्याः । परिणामः—इति मङ्गलः । कः पुनरयं परिणामः—इत्याचार्याः । सुपां तिङां च श्रवः सैषा व्युत्पत्तिः—इति मङ्गलः । सौशब्द्यमेतत् । पदनिवेशनिष्कम्पता पाकः—इत्याचार्याः । तदाहुः । आवापोद्धरणे तावद्यावद्दोलायते मनः । पदानां स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती । आग्रह-परिग्रहादपि पदस्थैर्यपर्यवसायस्तस्मात्पदानां परिवृत्तिवैमुख्यं पाकः—इति वामनीया । तदाहुः । यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम् । तं शब्दन्यायनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते । काव्यमी० पृ० २० । मुद्रित पुस्तक में आधानोद्धरणे, पदस्य और शब्दन्यास० पाठ है (वृत्ति १.३.१५) । सौशब्द्य की तुलना भामह १.१४–१५ । देखो, अग्निपुराण ३४६, २२–२३, "उच्चैः परिणतिः कापि पाक इत्यभिधीयते । मृद्वीकानारिकेलाम्बुपाकभेदाच्चतुर्विधः । आदावन्ते च सौरस्यं मृद्वीकापाक एव सः ।"

और एक स्थान (पृ० १९५) पर यह भी कहा है कि वामन और मङ्गल का एक ही मत है। दण्डी ने ओजस् का लक्षण समासवहुल के रूप में किया है[1]। साथ ही यह भी वताया है कि ओजस् गद्य का प्राण है। जवकि गौड़देशीय काव्यों में समास का वाहुल्य है। किन्तु हेमचन्द्र का कथन है कि वामन तथा मंगल ने ओजस् को तीनों—वैदर्भी, गौड़ीय तथा पाञ्चाली—रीतियों का गुण माना है (वामन १.२.९ तथा ११)। अतः ओजस् के साथ केवल गौड़ीय का निर्देश अनुचित है। इसीलिये वामन ने ओजस् की व्याख्या 'गाढ़वन्धत्व' (३.१.५) तथा 'अर्थस्य प्रौढ़िः' (३.२.२) को ओज कहा है। माणिक्यचन्द्र ने काव्यप्रकाश—संकेत (मैसूर सं० पृ० २९२) में एक ओर दण्डी तथा दूसरी ओर वामन और मंगल के इस भेद की चर्चा की है।[2] सोमेश्वर ने भी काव्यप्रकाश पर अपनी टीका में एतद्विषयक भरत तथा मंगल के परस्पर भेद की चर्चा की है।[3] प्रतीत होता है, दण्डी ने भरत कृत ओजस् की व्याख्या का एक

1. ओजः समासभूयस्त्वमेतदगद्यस्य जीवितम्।
पद्येप्यदाक्षिणात्यानामिदमेकं परायणम्॥

काव्यादर्श १.८०

1. दण्डयुक्तं समासदैर्घ्यमोज इत्यपि न। रीतित्रयेप्योजसः साधारणत्वाद् गौडीयानिर्देशो न युक्तिमानिति वामनमङ्गलौ। काव्यप्रकाशसंकेत, पृ० २९२।

2. भरत ने ओजस् का लक्षण इस प्रकार किया है—'समासवद्भिर्बहुभिर्विचित्रैश्च पदैर्युतम्। सानुरागैरुदारैश्च तदोजः परिकीर्त्यते।' नाट्यशास्त्र १६.१०५ (गा० ओ० सी०)। अभिनवगुप्त ने इस श्लोक के अन्तर्गत सानुरागैः की व्याख्या (अ० भा० भाग २, पृ० ३४०–४१) करते हुए नीचे लिखा उद्धरण दिया है—'विलुलितमकरन्दा मञ्जरीर्नर्तयन्ति।' वामन ने इसे गाढ़वन्धत्वमोजः के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। तथा उसी सम्वन्ध में गाढ़त्वम् शब्द का उल्लेख किया है। भरत नाट्यशास्त्र के चौखम्वा सं० में ओजस् की जो व्याख्या है वह गायकवाड़ सं० से सर्वथा भिन्न है। यह भी उल्लेखनीय है कि वामनसूत्रवृत्ति में अर्थस्य प्रौढ़िरोजः के जितने उदाहरण हैं वे दो ('अन्य नयनसमुत्थं', रघुवंश २.७५ तथा 'ते' हिमालयमामन्त्र्य', कुमारसम्भव, ४.९३) को छोड़कर शेष सभी अभिनवगुप्त ने भरत कृत ओजस् की व्याख्या के अन्तर्गत उदारैः की व्याख्या करते हुए प्रस्तुत किये हैं। सोमेश्वर का कथन है—'तत्रावगीतस्य हीनस्य वा वस्तुनः शब्दार्थसम्पादयदुदात्तत्वं निषिञ्चन्ति कवयस्तदोज इति भरतः। अनवगीतस्याहीनस्य वा वस्तुनः शब्दार्थयोरर्थसम्पदापदमुदस्तत्वं

अंश (समासवद्भिर्बहुभिः) पकड़ लिया और वामन ने शेष दो अंश (सानुरागैः तथा उदारैः)। दण्डी ने ओजस् के शब्दगुण पर बल दिया है और वामन ने अर्थगुण पर। अतः वामन ने समासभूयस्त्व को सर्वथा छोड़ दिया है। परिणाम-स्वरूप माणिक्यचन्द्र ने मंगल और वामन को जो एक साथ रखा है उसमें कोई अनौचित्य नहीं है। (देखिये, प्रो० भट्टाचार्य का लेख, इ० हि० क्वा० भाग ३, पृ० ३८०, टिप्पण २)। वामन और मङ्गल के परस्पर सम्बन्ध का पता लगाना कठिन है। राजशेखर ने वामन—सम्प्रदाय के लिये वामनीयाः लिखा है और माणिक्यचन्द्र ने वामनमङ्गलौ लिखा है, मङ्गलवामनौ नहीं। इन दो उद्धरणों के आधार पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि वामन मङ्गल के पूर्ववर्ती हैं। मंगल का निर्देश अत्यल्प है, किन्तु वामन का निर्देश प्रतीहारेन्दुराज तथा अभिनवगुप्त ने अनेक वार किया है। इससे भी यही निष्कर्ष निकलता है।

वामन की तिथि–सीमाओं का अन्तराल अधिक रखने की आवश्यकता नहीं है। देखो, जे० बो० ब्रा० रा०ए० सो० भाग २३, (१९०९, पृ० ९१ तथा आगे) में मेरा लेख। राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा (पृ० १४ तथा २०) में वामनीय सम्प्रदाय का उल्लेख किया है। उनका समय दशम शताब्दी का प्रथम भाग है। ऊपर बताया जा चुका है कि प्रतीहारेन्दुराज ने वामन का अनेक वार उल्लेख किया है। इसी प्रकार लोचन (पृ० ९, १२, २२४) तथा अभिनवभारती भाग १, पृ० ८८ (जहाँ वामन १.३.३०–३१ का उद्धरण है) ने भी किया है। अतः वामन का समय ९०० ई० के पूर्व मानना चाहिये। (ध्व०पृ० ४४) में निम्नलिखित श्लोक आया है।—

"अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरःसरः।
अहो दैवगतिः कीदृक्तथापि न समागमः॥"

इस पर टीका करते हुए लोचन का कथन है—'वामनाभिप्रायेणायमाक्षेपः भामहाभिप्रायेण तु समासोक्तिरित्यमुमाशयं हृदये गृहीत्वा समासोक्त्याक्षेपयोरिदमेकमेवोदाहरणं व्यतरद् ग्रन्थकृत्।' अतः लोचन के मतानुसार वामन ध्वन्यालोक के पूर्ववर्ती हैं और (उसकी रचना नवम शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुई है) ८५०

निषिञ्चति कवयस्तर्हि तदनोजः स्यादिति मङ्गलः। यथा ये सन्तोष०…… मेरुर्न मे रोचते॥……तस्मात्समासभूयस्त्वमोजस्तच्च गद्यविभूषणं प्रायेण वृत्तवर्त्मन्यपि गौडास्तदाद्रियन्ते। रीतित्रये…निर्देशो न युक्तस्तस्माद्गाढत्वमोज इति वामनः (Folio ८९ क तथा ख)। इससे प्रतीत होता है कि सोमेश्वर ने जो व्याख्या की है वह चौ० सं० से मिलती है।

ई० से पूर्व रहे होंगे। निम्नलिखित ध्वनिकारिका में (३.५२ अस्फुटस्फुरित काव्यतत्त्वमेतद्यथोदितम्। अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः संप्रवर्तिताः) सम्भवतया वामन का उल्लेख है। वामन ने उत्तररामचरित भाग १ का 'इयं गेहे लक्ष्मीः' आदि श्लोक रूपक (४.३.६) के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है तथा मालतीमाधव (५.२.१८) से 'पक्ष्मालीपिङ्गलिम्नः' आदि शब्द उद्धृत किये हैं। भवभूति का समय ७००–७४० ई० के मध्य है। (देखो, डा० भण्डारकर की मालतीमाधव पर प्रस्तावना पृ० १३–१७, १९०५ का संस्करण, तथा जे० रो० ए० सो० १९०८, पृ० ७९३ पर स्मिथ का लेख)। अतः वामन को ७५० के वाद रखना होगा, राजतरङ्गिणी का कथन है कि वामन राजा जयापीड के मंत्री थे—

'मनोरथः शंखदत्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा।
बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः॥

(४.४९७)

बुहलर (काश्मीर रिपोर्ट, पृ० ६५) ने कश्मीर की इस परम्परा को सत्य माना है कि जयापीड के मंत्री वामन ने ही काव्यालंकार की रचना की है। यदि इस वात को स्वीकार किया जाय तो कहना होगा कि वामन का समय ८०० ई० है और वे उद्भट के प्रतिपक्षी तथा समकालीन थे। किन्तु यह विचारणीय है कि दोनों में से किसी ने एक-दूसरे का उल्लेख नहीं किया। एक अन्य आधार पर भी वामन का समय नहीं सिद्ध होता है। उसने कुछ श्लोक माघ से उद्धृत किये हैं। उ० स्व०—उभौ यदि (शिशु० ३.८; ४.३.१० पर), सितं सितिम्ना (शिशु० १.२५; ५.२.९ पर), तथा 'न पादादौ खल्वादयः' (५.१.५) सूत्र में 'खलूक्त्वा खलु वाचिकम्' (शिशु० २.७०) का उल्लेख किया है। माघ ने न्यास, वृत्ति तथा महाभाष्य का उल्लेख किया है—'अनुत्सूत्र-पदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना (शिशु० २.११२)'। यह बताया जा चुका है (पृ० १४८) कि न्यास का समय सप्तम शताब्दी के पूर्व नहीं है तथा नृपतुङ्ग ने माघ की प्रशंसा की है। अतः उसका समय ७२५–७७५ ई० है। काशिका की रचना ६६० ई० में हुई और उसके रचयिता भी वामन हैं। उन्हें काव्या० सूत्र का रचयिता नहीं माना जा सकता। यह विचारणीय है कि व्याकरण सम्बन्धी विषयों पर प्रस्तुत वामन का मत काशिका के साथ मिलता है। उ० स्व० 'ब्रह्मादिषु हन्तेर्नियमादरिहाद्यसिद्धिः' (काव्या० सूत्र ५.२.३५) सूत्र पर वामन का कथन है—"ब्रह्मादिष्वेव, हन्तेरेव, क्विबेव, भूतकाल एवेति चतुर्विधश्चात्र नियमः।" ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप् (पा० ३.२.२७) सूत्र पर काशिका

ने वही बात कही है, किन्तु महाभाष्य ने दो ही प्रकार का नियम माना है। वामन ने 'सुदत्यादयः प्रतिविधेयाः' (काव्या० सू० ५.२.६८) में सुदती आदि शब्दों की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की है। उनमें से दूसरी व्युत्पत्ति काशिका-सम्मत है। ('स्त्रियां संज्ञायाम्' पा० ५.४.१४३ सूत्र पर)।

गोपेन्द्रतिप्पभूपाल कृत टीका कई बार प्रकाशित हो चुकी है। उनका समय पन्द्रहवीं शताब्दी अथवा उसके कुछ पश्चात् है। उसने काव्यप्रकाश, विद्याधर, विद्यानाथ, विदग्धमुखमण्डन तथा अन्य उत्तरकालीन ग्रन्थकारों का उल्लेख किया है। उसने ५.१.३ पर तिप्पभूपाल की प्रशंसा में एक श्लोक उद्धृत किया है। टीका का नाम कामधेनु है। उसने १.३.१६ पर भट्टगोपाल का उल्लेख किया है, जो प्रतीत होता है, काव्यालंकार के टीकाकार हैं। उस पर अन्य टीकायें महेश्वर (जिसने साहित्यसर्वस्व नामक टीका लिखी है, इ० ओ० कैटे० पृ० ३२१) तथा सहदेव की हैं।

१३. भट्टि, दण्डी, भामह, उद्भट तथा वामन ने जिन अलंकारों के लक्षण दिये हैं अथवा उल्लेख किया है, उनकी अकारादि सूची निम्नलिखित है—इसमें चित्रबन्धों को सम्मिलित नहीं किया गया है।

अतिशयोक्ति—सबमें।

अनन्वय[1]—दण्डी को छोड़कर अन्य सबने।

दण्डी ने इसका निरूपण असाधारणोपमा (२.३.७) के नाम से किया है।

अनुप्रास—सबमें।

अपह्नुति—सबमें।

अप्रस्तुतप्रशंसा—भट्टि को छोड़कर सबमें।

अर्थान्तरन्यास—सबमें।

---

1. दर्शन के सुप्रसिद्ध विद्वान् सुरेश्वर ने भी अनन्वय का उपयोग अपने तर्कों में किया है। देखो, बृह० भा० वा० पृ० ११४९, गाथा सं० ४५९–४६१ (२.४.११.७ "यत्र हि द्वैतमिव भवति)। 'नैष दोषो यतो दृष्ट एकस्मिन्नपि वस्तुनि। उपमेयोपमाभावो दिग्धीरिव विहायसि ॥ रामरावणयोर्युद्धं रामरावण-योरिव। यथा प्रसिद्धो जगति तथैवेहापि गम्यताम्।' अनन्वय के इस उदाहरण को वामन ने ५.३.१४ पर उद्धृत किया है।

आक्षेप—सबमें। वामन ने आक्षेप का (४.३.२७ पर) जो लक्षण दिया है वह उत्तरवर्ती लेखकों के समासोक्ति अथवा प्रतीप से मिलता है।

आवृत्ति—केवल दण्डी ने (२.११६-११९)।

आशीः—भट्टि, दण्डी (२.३५७) तथा भामह (केषाञ्चिदलङ्कारतया मतः, ३.५५ तथा ३.५६ पर इसका उदाहरण दिया है) ने।

उत्प्रेक्षा—सबने। वामन (४.३.९, वृत्ति) का कथन है कि उत्प्रेक्षा कुछ लोगों के मतानुसार अतिशयोक्ति है।

उत्प्रेक्षावयव—भट्टि, भामह (३.४७) तथा वामन ने। वामन (४.३.३१-३२) ने इसे संसृष्टि का एक भेद माना है। दण्डी ने इसका समावेश उत्प्रेक्षा में किया है (२. ३५९)।

उदात्त—वामन को छोड़कर शेष सबने। जयमङ्गला के अनुसार भट्टि ने इसका नाम उदार रखा है।

उपन्यास—केवल विष्णुधर्मोत्तरपुराण में।

उपमा—सबने।

उपमारूपक—भट्टि, भामह (३.३५) तथा वामन ने। वामन ने ४.३.३१ पर इसे संसृष्टि का एक भेद बताया है। दण्डी ने इसे रूपक के अन्तर्गत रखा है। (२.३५८)।

उपमेयोपमा—दण्डी को छोड़कर शेष सबमें। दण्डी ने इसे अन्यान्योपमा (२.१८) नाम दिया है।

ऊर्जस्वि—वामन को छोड़कर शेष सबने।

काव्यलिङ्ग—केवल उद्भट ने।

क्रम—केवल वामन (४.३.१७) ने। दण्डी (२.२७३) कथन है कि यथासंख्य भी इसीका नाम है।

छेकानुप्रास—केवल उद्भट ने।

जाति और स्वभावोक्ति को दण्डी ने पर्याय माना है। (काव्यादर्श २.८)। बाण को भी इनका पता था। (देखो, कादम्बरी पर प्रस्तावना श्लोक 'हरन्ति कं······कथाः। निरन्तरश्लेषघनाः सुजातयो महास्रज' इत्यादि)।

तुल्ययोगिता—सबने। किन्तु दण्डी का कथन है कि स्तुतिनिन्दार्थक होना चाहिये (२.३३०)।

दीपक—सबने ।

दृष्टान्त—केवल उद्भट ने ।

निदर्शन अथवा निदर्शना—सबने । उद्भट ने इसका नाम विदर्शना दिया है ।

निपुण—केवल भट्टि (१०.७४) ने । इसका समावेश जयमङ्गला के मतानुसार उदात्त में किया जा सकता है । परन्तु मल्लिनाथ के अनुसार उस श्लोक में प्रेयः (अलंकार) है ।

परिवृत्ति—सबने । भामह (३.४१) तथा भट्टि (जयमङ्गला के अनुसार) ने इसका अर्थान्तरन्यासवती होना बतलाया है ।

पर्यायोक्त—वामन कों छोड़कर सबने ।

प्रतिवस्तूपमा—भट्टि को छोड़कर सबने । भामह (२.३४) और दण्डी ने इसे उपमा का भेद माना है ।

प्रेय—वामन को छोड़कर सबने ।

भाविक—वामन को छोड़कर सबने । यह भामह (३.५३–५४) तथा दण्डी (२.३६४–३६६)[1] के अनुसार प्रबन्धविषयक गुण है ।

यथासंख्य—सबने । वामन ने इसका नाम क्रम रखा है तथा दण्डी का कथन है कि इसे संख्यान तथा क्रम दोनों नामों से कहा जा सकता है ।

यमक—उद्भट के अतिरिक्त सबने ।

रसवत्—वामन के अतिरिक्त सबने ।

रूपक—सबने ।

लव—लेश के समान । काव्यादर्श के कुछ टीकाकारों ने (यामुन तथा श्रुतानुपालिनी) ने लेश के स्थान पर लव पाठ रखा है ।

लाटानुप्रास—लक्षण केवल उद्भट ने दिया है और भामह (२.८) ने उल्लेख-मात्र किया है ।

लेश—केवल दण्डी (२.२६५–२६७) ने । मम्मट ने इसे व्याजोक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है। दण्डी ने भी कहा है कि कुछ आलंकारिक इसका

---

1. देखो डा॰ राघवन का लेख 'भाविक के इतिहास की कुछ पहलुएँ' पृ॰ ११७–१३० ।

लक्षण व्याजस्तुति के रूप में करते हैं। भामह (२.८६) ने इसे अलंकार नहीं माना। रुद्रट ने लेश का लक्षण तथा उदाहरण (७.१००–१०२) दिये हैं।

वक्रोक्ति—अलंकार के रूप में केवल वामन (४.३.८) ने लक्षण दिया है। भामह (२.८५) तथा दण्डी (२.१२० और ३६३) ने इसका अस्तित्व समस्त अलंकारों में माना है।

वार्ता—केवल भट्टि ने (जयमङ्गला के अनुसार १०.४६ पर)। भामह (२.८७) तथा दण्डी (१.८५–८६) ने भी इसका निर्देश किया है।

विष्णुधर्मोत्तर (३.१४.११) की एक हस्तलिखित प्रति के अनुसार इसका निर्देश है। देखो, डा० राघवन का लेख 'सम कौनसेप्टस' इत्यादि पृ० ९७–९९ सर० क० १.१४२–१४३।

विभावना—सबमें।

विरोध—सबमें।

विशेषोक्ति—सबमें। किन्तु वामन का लक्षण भिन्न है (४.३.२३) जो रूपक के समान है।

व्यतिरेक—सबमें।

व्याजस्तुति—सबमें।

व्याजोक्ति—केवल, वामन ने। उसके कथानुसार अन्य आलंकारिकों ने इसे मायोक्ति कहा है (४.३.२५)।

श्लिष्ट—सबमें। वामन ने इसके लिये श्लेष शब्द प्रयोग किया है।

संसृष्टि—सबमें। दण्डी ने इसे संकीर्ण नाम दिया है तथा संसृष्टि और संकर दोनों को सम्मिलित कर लिया है। वामन ने इसका क्षेत्र सीमित कर दिया है और केवल निम्नलिखित दो भेदों को स्वीकार किया है—

उपमारूपक तथा उत्प्रेक्षावयव। उद्भट ने इसे संकर से भिन्न माना है।

संख्यान—दण्डी (२.२७३) के मतानुसार यह यथासंख्य है। भामह (२.८०) के कथनानुसार मेधावी ने इसे संख्यान कहा है।

समासोक्ति—सबमें।

समाहित—सबमें। किन्तु दण्डी का समाहित उद्भट से भिन्न है। उत्तरकालीन आलंकारिकों ने इसका नाम समाधि रखा है। वामन का समाहित दोनों

से भिन्न है। भट्टि काव्य में जयमङ्गला के मतानुसार जो उदाहरण समाहित का है वह मल्लिनाथ के अनुसार स्वभावोक्ति का है।

ससन्देह—दण्डी के अतिरिक्त सबमें। दण्डी ने इसे उपमा में सम्मिलित किया है और संशयोपमा नाम दिया है। वामन ने सन्देह शब्द का प्रयोग किया है।

सहोक्ति—सबमें।

सूक्ष्म—केवल दण्डी (२.२६०) ने। भामह ने इसे अलंकार नहीं माना।

स्वभावोक्ति—दण्डी, उद्भट तथा भामह (२.९३) ने।

भामह (२.९४) ने इसका उदाहरण भी दिया है।

'आक्रोशन्नाह्वयन्नन्यानाधावन्मण्डलैर्नुदन् गावारयति दण्डेन गोपः सस्यावतारिणीः ॥' प्रतीत होता है भामह ने प्राचीन परम्परा का अनुसरण करके स्वभावोक्ति को अलंकार मान लिया और उसका उदाहरण (२.९४) दिया है। दण्डी ने इसका नाम जाति भी रखा है। भट्टि के वार्तालंकार में स्वभावोक्ति सम्मिलित है। अग्निपुराण (३४३.३) ने इसका नाम स्वरूप बताया है।

हेतु—भट्टि तथा दण्डी (२.२३५ तथा आगे) में। भामह (२.८६) ने इसे अलंकार नहीं माना। उद्भट ने इसे काव्यलिङ्ग के अन्तर्गत रखा है।

रुद्रट का काव्यालङ्कार

नमिसाधु की टीका से संवलित इस ग्रन्थ का सम्पादन काव्यमाला सीरिज़ में हुआ है। यहाँ १९२८ ई० में प्रकाशित तृतीय संस्करण का उपयोग किया गया है। सोलह अध्यायों में विभक्त है जहाँ काव्यशास्त्रीय सभी अङ्गों का निरूपण किया गया है। यह प्रायः आर्या[1] छन्द में हुई है, अपवादस्वरूप जहाँ-

---

1. काव्यप्रकाश की टीका (त्रिवेन्द्रम संस्करण पृ० २) में गोपाल ने रुद्रट के आर्या के प्रति इस अनुराग को नीचे लिखे श्लोक में श्लेष द्वारा प्रकट किया है—

अतिलोकमलङ्कारमाबिभ्रदमृतस्रतम् (स्तुतम् ?)।
आर्यानुरागी सर्वज्ञः सत्यं रुद्रः सरुद्रटः ॥

यहाँ सर्वज्ञ शब्द शिव के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। आर्या का अर्थ है पार्वती और आर्या नामक छन्द।

तहाँ, विशेषतः बहुत-से अध्यायों के अन्त में अन्य छन्दों का भी प्रयोग मिलता है। इसके सभी उदाहरण ग्रन्थकार द्वारा रचे गये हैं। काव्यालङ्कार के श्लोकों की कुल संख्या ७३४ है। इस सख्या में बारहवें अध्याय के उन १४ श्लोकों को सम्मिलित नहीं किया गया है जिनमें आठ प्रकार की नायिका तथा उसके उपभेदों का वर्णन है। ये श्लोक प्रक्षिप्त सिद्ध हो चुके हैं। तेरहवाँ अध्याय सबसे छोटा है। उसमें केवल १७ श्लोक हैं। अध्याय सात तथा आठ सबसे बड़े हैं जिनकी श्लोक संख्या क्रमशः १११ तथा ११० है। सोलह अध्यायों का विषयानुक्रम इस प्रकार है—

१. गणेश एवं गौरी की वन्दना, काव्य के उद्देश्य तथा प्रयोजन, कवि के लिए अनिवार्य तत्त्वों—शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास का निरूपण।

२. काव्य का लक्षण, वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र नामक पाँच शब्दालङ्कारों का परिगणन, वैदर्भी, पाञ्चाली[1], लाटी तथा गौडी इन चार रीतियों के लक्षण, काव्य में प्रयुक्त होने वाली छः भाषाओं—प्राकृत, संस्कृत, मागध, पैशाची, शौरसेनी और अपभ्रंश—का उल्लेख, वक्रोक्ति और अनुप्रास के लक्षण, भेद तथा उदाहरण, अनुप्रास की पांच वृत्तियों—मधुरा, ललिता, प्रौढा, परुषा और भद्रा के लक्षण।

३. ५८ श्लोकों में यमक का विस्तृत विवेचन।

४. श्लेश तथा उसके आठ प्रकार—वर्ण, पद, लिङ्ग, भाषा, प्रकृति, प्रयत्न, विभक्ति और वचन। भाषा श्लेष के उदाहरण अर्थात् संस्कृत, प्राकृत, पैशाची शौरसेनी आदि में पाये जाने वाले समान शब्द।

५. चित्रकाव्य—चक्रबन्ध, मुरजबन्ध, अर्धभ्रम, सर्वतोभद्र, मात्राच्युतक, प्रहेलिका आदि का निरूपण।

७. अर्थालंकारों के चार आधार—वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष। वास्तव पर आधारित २३ अलंकारों के लक्षण।

८. औपम्य पर आश्रित २१ अलंकारों का वर्णन।

---

1. वृत्तेः समासवत्यास्तत्र स्यूरीतयस्तिस्रः॥
पाञ्चालीं लाटीया गौडीया चेति नामतोऽभिहिताः।
लघुमध्यायतविरचन समासभेदादिमास्तत्र॥
······वृत्तेरसमासाया वैदर्भी रीतिरेकैव॥
काव्यालंकार २, ३; ४; ६

९. अतिशय पर आधारित १२ अलंकार।

१०. शुद्ध श्लेष के दस तथा संकर के दो प्रकार।

११. नौ अर्थ दोप तथा ४ उपमादोष।

१२. दस रसों का निरूपण, शृङ्गार का लक्षण और उसके सम्भोग और विप्रलम्भ नामक दो प्रकार नायक के गुण और उसके सहायकों का वर्णन तथा नायक नायिका भेद।

१३. सम्भोग शृङ्गार तथा देश कालानुसार नायिका की विभिन्न चेष्टाओं का वर्णन।

१४. विप्रलम्भ शृङ्गार तथा उसकी दस दशायें, खण्डिता नायिका को प्रसन्न करने के ६ उपाय—१. सम्य, २. दान ३. भेद ४. प्रणति ५. उपेक्षा और ६. प्रसङ्गभ्रंश।

१५. वीर तथा अन्य रसों की विशेषतायें।

१६. काव्य के विविध प्रकार—१. कथा २. आख्यायिका आदि, उनकी कथावस्तु तथा अन्य विशेषतायें।

सर्वप्रथम रुद्रट ने निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर अलंकारों के वैज्ञानिक वर्गीकरण का प्रयास किया है, वे आधार हैं—१. वास्तव २. औपम्य ३. अतिशय और ४. श्लेष। इस कठोर वर्गीकरण का परिणाम है कि एक ही अलंकार अनेक आधारों पर आश्रित होने के कारण दो या अनेक वार आ गया है, जैसे सहोक्ति और समुच्चय अलंकारों के दो भेद, वास्तव और औपम्य के आधार पर दो भेद कहे गये हैं (काव्यालंकार ७, ११; ८, ३)। इसी प्रकार उत्प्रेक्षा (काव्यालंकार ८, २; ९, २) के औपम्य और अतिशय पर आश्रित दो भेद वताये गये हैं। भामह, उद्भट आदि लेखकों ने कुछ अलंकारों के पृथक्-पृथक् लक्षण दिये हैं, किन्तु रुद्रट ने उनके पृथक् लक्षण नहीं दिये, जैसे उपमेयोपमा और अनन्वय को उन्होंने केवल उपमा के ही प्रकार माना है और इन्हें उभयोपमा और अनन्वयोपमा नाम दिया है (काव्यालंकार ७, ९; ११) रुद्रट के पूर्ववर्ती और पश्चाद्वर्ती आचार्यों द्वारा प्रस्तुत कुछ अलंकार काव्यालंकार में हमें भिन्न नामों से मिलते हैं। उदाहरणार्थं, रुद्रट का व्याजश्लेष (काव्यालंकार १०, ११) भामह और मम्मट द्वारा प्रस्तुत व्याजस्तुति ही है। अवसर काव्यालंकार (७, १०२) उद्भट और मम्मट द्वारा प्रस्तुत उदात्त के दूसरे भेद के समान है। रुद्रट का जाति अलंकार (७-३०) दण्डी और मम्मट का स्वभावोक्ति अलंकार है। रुद्रट का पूव अलंकार अतिशयोक्ति का चतुर्थ भेद हैं—कार्यकारणयोर्यश्च

पौर्वापर्यविपर्ययः (काव्यालंकार ९, ३)। रुद्रट द्वारा प्रस्तुत कुछ अलकारों को अन्य आचार्यों ने अलंकार नहीं माना है। 'हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदकृद् भवेद् यत्र' (काव्यालंकार ७, ८२) इस लक्षण वाले हेतु को मम्मट ने अलंकार नहीं माना। रुद्रट ने भाव नामक अलंकार दो सुप्रसिद्ध भेदों का लक्षण देते हुए उदाहरण भी दिये हैं—

ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम्।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया॥

काव्यालंकार ७, ३८

एकाकिनी यदबला तरुणी तथाह—
मस्मिन् गृहे गृहपतिश्च गतो विदेशम्।
किं याचसे तदिह वासमियं वराकी
श्वश्रूर्ममान्धबधिरा ननु मूढ पान्थ॥

काव्यालंकार ७, ४०

मम्मट ने प्रथम उदाहरण को स्थान दिया है और द्वितीय को लोचन ने (पृष्ठ ५३)। इन दोनों उदाहरणों में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ गुणीभूत है। इसी प्रकार मत (काव्यालंकार ८, ६९) साम्य (काव्यालंकार ८, १०५) पिहित (काव्यालंकार ९, ५०) अलंकार रुद्रट से पूर्ववर्ती लेखकों की रचनाओं में नहीं पाये जाते।

रुद्रट के जीवन वृत्त के विषय में हमारा ज्ञान अत्यल्प है। नाम से वह काश्मीरनिवासी प्रतीत होता है।[1] ग्रंथ के आरम्भ में गणेश एवं गौरी की वन्दना है तथा अन्त में भवानी, मुरारि एवं गजानन की स्तुति है। अध्याय ५ श्लोक १२–१४ की टीका में नमिसाधु के ये शब्द हैं—'अत्र च चक्रे स्वनामांकभूतोऽयं श्लोकः कविनान्तर्भावितो यथा—

---

1. इसमें सन्देह नहीं कि बहुत से काश्मीरी नामों के अन्त में ट मिलता है किन्तु इसे निश्चित नियम नहीं माना जा सकता। कन्नौज के गुर्जर प्रतीहार राजा भोजदेव (८९३ वक्रमा० ८३६–३७ ई०) के दानपत्र में रुद्रट नाम के राज्याधिकारी का नाम है—

रुद्रटेन प्रयुक्तस्य आसनस्य स्थिरायतेः।
दूतको बालादित्योत्र राज्यभट्टारिकासुतः॥

देखिए, ऐपिग्राफिया इण्डिका भाग १९, पृ० १८ पैरा १५।

शतानन्दापराख्येन भट्टवामुकसूनुना ।
साधितं रुद्रटेनेदं सामाजा धीमता हितम् ॥

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि रुद्रट का एक नाम शतानन्द भी था। उसके पिता का नाम वामुक था और वह वेद की सामशाखा का अध्येता था। रुद्रट ने किसी आचार्य का नाम निर्देश नहीं किया। किन्तु आचार्य पद से सम्भवतः उसने भरत के नाट्यशास्त्र का उल्लेख किया है (काव्यालंकार १२,४)। प्रथम अध्याय के नवम श्लोक में मयूरभट्ट की ओर संकेत है—

नु त्वा तथा हि दुर्गा केचित्तीर्णा दुरुत्तरां विपदम् ।
अपरे रोगविमुक्ति वरमन्ये लेभिरेऽभिमतम् ॥

उसने दूसरे आचार्यों के मतों का भी उल्लेख किया है (जैसे काव्यालंकार २, २ में) इस पर नमिसाधु ने लिखा है कि यहाँ मेधाविरुद्र और दूसरे आचार्यों का मत उद्धृत किया गया है जिनके मत में शब्द के चार भेद हैं, पांच नहीं (७.१७) भौगोलिक सिप्रा नदी तथा मालव-सुन्दरियों का वर्णन रोचक है (काव्यालंकार ७, १०५)।

रुद्रट अलंकार सम्प्रदाय के प्रतिनिधि आचार्य हैं। यद्यपि वे भरत द्वारा प्रस्तुत रस सिद्धान्त से परिचित हैं और काव्य में रस की स्थिति पर बल देते हैं (तस्मात्तत्कर्त्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम् काव्यालंकार १२, २) फिर भी उन्होंने अलंकारों को अत्यधिक महत्त्व दिया है। यह उल्लेखनीय है कि उन्होंने प्रसङ्गवश रीतियों का निर्देश तो किया है परन्तु उन्हें महत्त्व नहीं दिया है (काव्यालंकार २, ४–६; १४, ३७; १५, २०)। इस ग्रन्थ में चार प्रकार की रीतियों का वर्णन है परन्तु गुणों के लक्षण और उदाहरण नहीं दिये गये हैं। साहित्यदर्पण (९, २) में वैदर्भी के विषय में रुद्रट से एक आर्या उद्धृत की गई है परन्तु वह काव्यालंकार में नहीं मिलती। रुद्रट के काव्यालंकार की कुछ विशेषतायें इस प्रकार हैं—

१. रुद्रट ने सर्वप्रथम वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष के रूप में अलंकारों के वर्गीकरण के आधार प्रस्तुत किये हैं।

२. नौ प्रसिद्ध रसों के अतिरिक्त प्रेयस् नामक दसवें रस (काव्यालंकार १२, ३; १५, १७) का प्रतिपादन किया है।

३. रीतियों को विशेष महत्त्व नहीं दिया।

४. गुणों का विवेचन नहीं किया।

५. भाव नामक अलंकार के प्रतिपादन में रुद्रट व्यंग्यार्थ के सिद्धान्त के अति समीप जा पहुँचते हैं क्योंकि काव्य में व्यंग्यार्थ प्रमुख तत्त्व है।

संगीतरत्नाकर (पृ० ८२ आनन्दाश्रम संस्करण) में रुद्रट को सङ्गीताचार्य वताया गया है किन्तु इसके लिए कोई सुनिश्चित प्रमाण नहीं है कि वही काव्यालंकार के रचयिता रुद्रट हैं।

रुद्रट का समय अधिक निश्चितता के साथ निर्णीत किया जा सकता है। उसने भामह, दण्डी और उद्भट से अधिक अलंकारों का वर्णन किया है। उसका प्रतिपादन भी अपेक्षाकृत यथार्थ और वैज्ञानिक है। अतः रुद्रट को इन आचार्यों से कुछ उत्तरवर्ती मानना चाहिए। दशम शती और उसके वाद के अनेक आचार्यों ने रुद्रट के अनेक उद्धरण दिये हैं। राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा (पृ० ३१) में नामोल्लेख भी किया है—(काकुवक्रोक्तिर्नाम शब्दालंकारोऽयमिति रुद्रटः) पृष्ठ ५७ पर उसका एक श्लोक उद्धृत किया है—चक्रं दहतारं चक्रन्द हतारम् (काव्यालंकार ३, ४) प्रतीहारेन्दुराज ने रुद्रट के ११, ३१, ३४, ४२, ४३, ४९ पृष्ठों पर नामोल्लेख के विना रुद्रट के श्लोक उद्धृत किये हैं। काव्यालंकार में इनकी श्लोक संख्या क्रमशः इस प्रकार है—८, ४०; ८, ८९; ८, ९५; ७, ३५; ७, ३६ तथा १२, ४। धनिक द्वारा प्रणीत दशरूपक की टीका में (४, ३५ श्लोक पर) रुद्रट (१२, ४) का उद्धरण है। लोचन (पृ० ५३) ने रुद्रट के भाव (काव्यालंकार ७, ३८) का लक्षण और उदाहरण उद्धृत किया है। मम्मट ने रुद्रट का नामोल्लेख करते हुए (उल्लास ९ पृ० ५२१ वा) हेतु, समुच्चय और व्यतिरेक विषयक उसके मत की आलोचना की है (क्षीणः क्षीणोऽपि शशी आदि)। अतः रुद्रट का समय ९०० ई० के बाद का नहीं है। उत्पल ने वराहमिहिर कृत योग यात्रा के प्रथम श्लोक की टीका में रुद्रट का नामोल्लेख करते हुए उसके अनन्वय अलंकार का लक्षण और उदाहरण (काव्यालंकार ८, ११–१२) उद्धृत किया है (योग यात्रा की यह प्रति रोयल एशियाटिक सोसाइटी, बम्वई शाखा के भाउ दाजी संग्रह में सुरक्षित है)।

वृहज्जातक की स्वोपज्ञ टीका (हरिकृष्ण निवन्ध सीरिज वनारस से १९३४ में प्रकाशित) के अन्त में उत्पल रचित कुछ श्लोक मिलते हैं। एक श्लोक में कहा गया है कि इस टीका की रचना ८८८ शकाब्द (९६६ ई०) में हुई किन्तु दो कारणों से इन श्लोकों की प्रामाणिकता के विषय में सन्देह है—

१. एक तो यह है, भा० ओ० रि० इ० (पूना) में प्राप्य एक पाण्डुलिपि (डी० सी० नं० १७७, क १८८२–८३ ई०) में उत्पलकृत टीका में ये श्लोक

नहीं मिलते (२) दूसरा कारण यह है—नक्षत्र-विद्या के महान् पण्डित तथा बेवीलोन की कीलाक्षर लिपि के विशेषज्ञ डा० औटो नेगेवर ने एक निवन्ध लिखा है जो रौयल एकेडेमी ऑफ बेलजियम पत्रिका (१९५७) पृ० १३३–१४० पर प्रकाशित हुआ है। उसमें अबु माशार कृत द्रेष्काण की व्याख्या के ग्रीक अनुवाद की चर्चा है। निवन्ध में वताया गया है (पृ० १३४ टिप्पण ३) कि अबु माशार की मृत्यु ८८६ ई० में हुई। एरिज़ के तृतीय द्रेष्काण (the 3rd. Dreskana of Aries) में एक पाठ है जो उत्पलदेव से लिया गया है। इससे मानना पड़ता है कि उत्पल ८८० ई० के पूर्ववर्ती हैं। उन्होंने रुद्रट को उद्धृत किया है अतः रुद्रट का समय ८५० ई० के पूर्व मानना होगा।[1] उपरोक्त निष्कर्ष का समर्थक एक अन्य प्रमाण भी है। प्रतीत होता है, शिशुपालवध के टीकाकार वल्लभदेव ने रुद्रट पर भी टीका लिखी थी। शिशुपालवध २, ४४ पर वल्लभदेव का कथन है—नात्र भिन्नलिङ्गनामौपम्यं दोषायेति रुद्रटः। शिशुपालवध ४, ११ पर वल्लभदेव का कथन है—एतदस्माभि रुद्र जटालङ्कारे विवेचितम्।[2] शिशुपाल २, ८८ पर वल्लभदेव का कथन है—उक्तं च शब्दार्थौं काव्यमिति। यह रुद्रट काव्यालंकार २, १ (ननु शब्दार्थौं काव्यम्) का उल्लेख है। गतकलि ४०७८ तदनुसार ९७७ ई० में, जब काश्मीर में भीमगुप्त का शासन था, वल्लभदेव के पौत्र कैयट ने आनन्दवर्धनकृत देवीशतक पर टीका लिखी थी। यदि प्रत्येक पीढ़ी के लिए पच्चीस वर्ष रखे जायें तो मानना होगा कि वल्लभदेव ९२७ ई० में वृद्ध हो चुके होंगे और उनकी जन्मतिथि ९०० ई० या उससे पूर्व रही होगी। अतः रुद्रट का समय, जिस पर उन्होंने टीका लिखी है, ८५० ई० के पूर्व मानना चाहिए। रुद्रट ध्वनि-सिद्धान्त से सर्वथा अपरिचित हैं और भामह तथा उद्भट के साथ से समानता रखते हैं। सम्भवतया वे ध्वनिकार के समकालीन अथवा आसन्नपूर्ववर्ती हैं। अतः उनका समय ८२५–८५० ई० के मध्य मानना चाहिए।

---

1. देखिये, रौयल एशियाटिक सोसाइटी, बम्वई शाखा की पत्रिका, न्यू सीरिज़, भाग २४–२५, पृ० २२–२३ वराहमिहिर और उत्पल के लिए तथा पृ० २६ उत्पल और रुद्रट के लिए।

2. काशी संस्कृत सीरिज़ संस्करण में रुद्र जटालङ्कारे पाठ है उसीको यहाँ उद्धृत किया गया है किन्तु यह पाठ स्पष्टतया अशुद्ध प्रतीत होता है। इसके स्थान पर रुद्रटालङ्कारे।

टीकाकार नमिसाधु की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। वे श्वेताम्वर जैन और शालिभद्र के शिष्य थे। उन्होंने रुद्रट को सूत्रकार बताया है (८, ३७; ६ ९)। उन्होंने अपनी टीका ११२५ विक्रमाव्द अर्थात् १०६८–६९ ई० में लिखी। एक प्राचीन हस्तलिखित ११७६ विक्रमाव्द (१११९–२० ई०)। यह तिथि ठीक नहीं है क्योंकि नमिसाधु की षडावश्यकटीका का रचनाकाल ११२२ विक्रमाव्द (१०६५–६६ ई०) है। देखिए पिटर्सन की रिपोर्ट ३ पृ० १३। नमिसाधु प्राचीन ग्रन्थकार हैं। उन्होंने पूर्ववर्ती टीकाकारों का अनुसरण किया है—पूर्वमहामतिविरचितवृत्त्यनुसारेण किमपि (ययामि) और ३. रुद्रट पर उनकी व्याख्याओं से पाठ भी उद्धृत किये हैं। (देखिये, २, १; ५, २३; ८, २८; ३१)। उनकी टीका संक्षिप्त तथा विषयानुकूल है फिर भी उसमें अनेक उद्धरण मिलते हैं। उन्होंने नीचे लिखे ग्रन्थों अथवा ग्रन्थकारों का नामग्रहण किया है अथवा उनसे उद्धरण लिये हैं—

१. अर्जुनचरित (१६, ४), २. उद्भट (६, ३३), ३. कादम्बरी, ४. किराता-र्जुनीय, ५. जयदेव (१, १८ छन्दकार के रूप में) तिलकमञ्जरी (१६, ३), ६. दण्डी, ७. नाममाला, ८. पाणिनी का पातालविजयमहाकाव्य (२, ८), ९. पिङ्गल, (१०) वृहत्कथा (२, १२ पैशाची की विशेषतायें), ११. भरत (१२, ४ और ४४), १२. भर्तृहरि, १३. भामह (८, ८४, १०, २), १४. माघकाव्य (१, २०; ८, ६४), १५. मालतीमाधव (७, ३३), १६. मृच्छकटिक (८, १), १७. मेघाविरुद्र, (१, २; २, २), १८. मेघदूत, १९. रत्नावली (७, ३३), २० वामन[1] (१, २०, ८, १०), २१. विकट नितम्बा (६, ४७), २२. वेणीसंहार (७, ७३), २३. शिवभद्र (४, ४), २४. शिशुपालवध, २५. हरि (२, १९ काव्यशास्त्र पर प्राकृत के एक लेखक) तथा २६. हर्षचरित। रुद्रटकृत काव्यालंकार पर आशाधर की टीका भी है।[2] यह ऊपर बताया जा चुका है कि

---

1. रुद्रट-काव्यालंकार १, २० पर नमिसाधु का वर्णन है—तथा क्षपिमिलि अर्थिवचिक्लिविप्रभृतयो धातवो धातुगणेषु पठिता अपि। मेरी दृष्टि में यह वामनकृत काव्यालंकार सूत्र (५, २, २) का उल्लेख है।

2. डा० भाण्डारकर ने हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज के सम्बन्ध में जो रिपोर्ट १८८३–८४ (पृ० ३९१–९३) प्रकाशित की है उसमें धर्मामृतयतिधर्म टीका की आशाधरकृत प्रशस्ति का एक उद्धरण प्रस्तुत किया गया है। उसमें उन्होंने अपने

वल्लभदेव ने रुद्रटकृत काव्यालंकार पर टीका लिखी थी। उस पर द्राविड हरिवंशभट्ट के पुत्र गोपालभट्ट की रसतरङ्गिणी नामक टीका भी है।

रुद्रभट्टकृत शृङ्गारतिलक नामक एक रचना उपलब्ध है। दीर्घकाल तक यह विवाद चलता रहा कि रुद्रभट्ट तथा रुद्रट एक ही हैं अथवा भिन्न-भिन्न। वैवर, बुहलर (काश्मीर रिपोर्ट पृ० ६७) औफ्रेट (जे० दे० मो० गे० भाग ३६, पृ० ३७६) तथा पिशल (शृङ्गारतिलक की प्रस्तावना पृ० ५ टिप्पण और जे० दे० मो० गे० ४२, १८८८, पृ० २९६–३०४) का मत है कि वे दोनों एक हैं। इसके विपरीत, पण्डित दुर्गाप्रसाद, डा० जैकोवी (वियेना ओरियण्टल जनरल १८८८ भाग २, पृ० १५१–१५६ तथा जे० दे० मो० गे० भाग ४२, पृ० ४२५–४३५) तथा डा० हरिचन्द (अपने कालिदास विषयक ग्रन्थ में पृ० ९१–९५) एकता के समर्थक हैं। यहाँ इस प्रश्न की संक्षिप्त चर्चा की जायगी। शृङ्गारतिलक काव्यमाला सीरिज़ में प्रकाशित हुआ है। उसमें तीन परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में रसभाव तथा नायक-नायिकाओं का निरूपण है। द्वितीय परिच्छेद में विप्रलम्भ शृङ्गार, वियोग की दस दशायें तथा खण्डिता नायिका के अनुनय के ६ प्रकार वताये गये हैं। तृतीय परिच्छेद में अन्य रसों तथा चार वृत्तियों—कैशिकी, सात्त्वती, आरभटी और भारती—का निरूपण है। रुद्रभट्ट का कथन है कि उसने काव्यसम्बन्धी रसों का निरूपण किया है जवकि भरत ने नाट्य-सम्बन्धी रसों का प्रतिपादन किया था—

प्रायो नाट्यं प्रति प्रोक्ता भरताद्यै रसस्थितिः।
यथामति मयाप्येषा काव्यं प्रति निगद्यते ॥

आपको जैन, पिता का नाम सल्लक्षण तथा पुत्र का नाम छाहड बताया है। १५वें श्लोक में उल्लेख है कि उन्होंने रुद्रटकृत काव्यालंकार पर भी एक टीका लिखी थी (रुद्रटस्य व्यधात् काव्यालंकारस्य निवन्धनम्)। उन्होंने अनेक ग्रन्थ रचे हैं; उदाहरणस्वरूप, अमरकोश तथा वाग्भट्टकृत अष्टाङ्गहृदय पर टीकायें, त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र, रत्नत्रय विधानशास्त्र आदि। उन्होंने अपने-आपको कलि-कालिदास कहा है। उन्होंने प्रशस्ति की रचना विक्रम संवत् १३०० अर्थात् १२४४ ई० (३१ श्लोक) में की थी। आशाधर के लिए देखिए—ऐपि० इण्डि० भाग ९, पृ० १०७।

श्रृङ्गारतिलक के अन्तिम श्लोक निम्न नाट्यशास्त्र १-५ लिखित हैं—

काव्या काव्यकथा कीदृग् वैदग्धी को रसागमः ।
किं गोष्ठीमण्डनं हंत श्रृंगारतिलकं विना ।।
त्रिपुरवधादेव गतामुल्लासमुमां समस्तदेवनताम् ।
श्रृङ्गारतिलकविधिना पुनरपि रुद्रः प्रसादयति ।।

कुछ हस्तलिखित प्रतियों में अन्तिम श्लोक नहीं है । इस श्लोक की व्याख्या से ज्ञात होता है कि रुद्रभट्ट ने त्रिपुरवध नामक एक ग्रन्थ भी रचा था । इसमें सन्देह नहीं कि त्रिपुरवध, श्रृंगारतिलक और रुद्र (भगवान् शिव तथा ग्रन्थकार रुद्र) शब्दों में श्लेष है । इसकी यह भी व्याख्या हो सकती है कि त्रिपुरवध ग्रन्थकार की अपनी रचना नहीं है किन्तु त्रिपुरदाह नामक रूपक (डिम) भगवान् शंकर तथा उनके परिचरवर्ग के समक्ष भरत द्वारा अभिनीत हुआ था । देखिए, नाट्यशा० ४, १० तथा दशरूपक में धनिक का उद्धरण——

इदं त्रिपुरदाहे तु लक्षणं ब्रह्मणोदितम् ।
ततस्त्रिपुरदाहश्च डिमसञ्ज्ञः प्रयोजितः ।।

इति भरतमुनिना स्वयमेव० आदि

दशरूपक ४, ५७–६०

श्रृंगारतिलक की हस्तलिखित प्रतियों में कहीं-कहीं रुद्रट नाम भी मिलता है (देखिये, इण्डिया ऑफिस कैट० पृ० ३२१ संख्या ११३१ तथा मद्रास गवर्नमेण्ट हस्तलिखित ग्रन्थसंग्रह १९१८ पृ० ८६९७ संख्या १२९५५) । सुभाषित-संग्रह भी भ्रामक हैं उनमें काव्यालंकार के श्लोक रुद्रट, रुद्र तथा रुद्रभट्ट तीनों नामों से उद्धृत हैं। देखिये, शार्ङ्गधर संख्या ३७७३ में एकाकिनी यदबला काव्या-ङ्कार ७।४१ को रुद्रकृत बताया गया है तथा शा० संख्या ३७७८ में मलयानिल० काव्यालंकार २, ३० को भट्टरुद्रकृत कहा है । इसी प्रकार श्लोक ५७५ तथा ३४७३ रुद्रटकृत बताये गये हैं, जो यथार्थ है । श्लोक, ३५६७–६८, ३५७९, ३६७०, ३६७५ तथा ३७५४ को श्रृंगारतिलक के रचयिता रुद्र की रचना माना गया है और यह भी ठीक है । श्रृंगारतिलक के उदाहरण ग्रन्थकार के स्वरचित प्रतीत होते हैं । अतः उनका तिथि निर्धारण के लिए उपयोग किया जा सकता है । उन्हें उद्धृत करने वाले प्राचीनतम ग्रन्थकार हैं—हेमचन्द्र तथा विश्वनाथ । हेमचन्द्र ने यत्पाणिर्न निवारितो० (श्रृंगारतिलक १, ४ पृ० ३०४) तथा गाढालिंगन (श्रृंगारतिलक १, ६८ पृ० ३०५) को उदाहरण के रूप में दिया

है। उसने शृंगारतिलक के प्रथम श्लोक शृंगारी गिरिजानने…इत्थं सर्वरसाश्रयः पशुपतिर्भूयात् सतां भूतये को भी उद्धृत किया है और उसके दोष दर्शाये हैं (पृ० ११०)। अतः शृंगारतिलक का रचनाकाल ११०० ई० या उसके पूर्व मानना चाहिए।

अपने काव्यशास्त्र के इतिहास (१९२३) में मैं अनेक प्रमाणों द्वारा सिद्ध कर चुका हूँ कि रुद्रट और रुद्रभट्ट एक नहीं हैं। उस चर्चा को यहाँ देना आवश्यक नहीं प्रतीत होता; फिर भी भावप्रकाशन के सम्पादक तथा अन्य लेखक उनकी एकता का प्रतिपादन कर रहे हैं (दे० गायकवाड़ संस्करण पृ० ६८–७३) अतः उस चर्चा को पुनः प्रारम्भ करना अनिवार्य हो गया है।

रुद्रट और रुद्रभट्ट की एकता के समर्थक तथा विरोधी समस्त प्रमाणों की परीक्षा के पश्चात् यही प्रतीत होता है कि विरोधी प्रमाण ही प्रबल हैं। उसके लिए संक्षेप में नीचे लिखी युक्तियाँ हैं—रुद्रटकृत काव्यालंकार १२–१४ अध्याय शृंगारतिलक के समान हैं दोनों में विषय ही नहीं, शब्दों का भी अत्यधिक साम्य है। यह उचित नहीं जान पड़ता कि एक ही आचार्य इस प्रकार मिलते-जुलते दो ग्रन्थ लिखे। शृंगारतिलक में एकमात्र उल्लेखनीय परिवर्धन उसके उदाहरण श्लोक हैं। कुछ बातों में वहाँ विस्तार अधिक है। उदाहरणस्वरूप, चार वृत्तियाँ, काम की दस दशायें तथा नायिका के उपभेद एवं लक्षण। कुछ बातें ऐसी भी हैं जहाँ रुद्रट ने अधिक विस्तार किया है यथा—काव्यालंकार १४, २२–२४। कुछ सिद्धान्तों के विषय में काव्यालंकार तथा शृंगारतिलक का परस्पर मतभेद भी है। यह सम्भव नहीं है कि एक ही ग्रन्थकार महत्त्वपूर्ण विषयों पर परस्पर विरुद्ध मत उपस्थित करे। शृंगारतिलक (१, १०) का कथन है कि काव्य के नौ रस हैं जबकि रुद्रट (काव्यालंकार १२, ३) ने उनकी संख्या दस बताई है। शृंगारतिलक ने चार वृत्तियाँ (कैशिकी आदि जो नाट्य के क्षेत्र से काव्यक्षेत्र में आई हैं) बताई हैं और रुद्रट ने पाँच (मधुरा, प्रौढा आदि काव्यालंकार २, १९) कही हैं। उन्होंने कैशिकी आदि के विषय में कुछ नहीं लिखा। रुद्रट ने नायिका के पहले तीन भेद किये हैं—१. स्वीया, २. परकीया और ३. वेश्या। पुनः उन्हें अभिसारिका और खण्डिता के रूप में विभक्त किया है। स्वीया के पुनः दो भेद हैं–स्वाधीनपतिका और प्रोषितपतिका। इसके विपरीत, शृंगारतिलक में नायिका के एक स्थान पर आठ भेद बताये गये हैं (शृंगारतिलक १, ७२–७३ का० मा० संस्करण)। रुद्रट (काव्यालंकार १२, ३९–४०) ने वेश्याओं के लिए एक भी अच्छे शब्द का प्रयोग नहीं किया, जबकि शृंगारतिलक ने उनके

विषय में कहे जाने वाले दोष स्वीकार करते हुए भी उनका समर्थन किया है। तुलना—

सर्वाङ्गना तु वेश्या सम्यगसौ लिप्सते धनं कामात्।
निर्गुणगुणिनोस्तस्या न द्वेष्यो न प्रियः कश्चित्॥

काव्यालंकार १२, ३९

सामान्य वनिता वेश्या सा वित्तं परमिच्छति।
निर्गुणेऽपि न विद्वेषो न रागोऽस्या गुणिन्यपि॥
तत्स्वरूपमिदं प्रोक्तं कैश्चिद् ब्रूमो वयं पुनः॥

शृंगारतिलक १, ६२–६३

शृंगारतिलक ने उपसंहार करते हुए वेश्याओं के विषय में कहा है—सर्वस्वमेतास्तदहो स्मरस्य (शृंगारतिलक १, ६९)। शृंगारतिलक का कैश्चित् शब्द सन्देहोत्पादक है। प्रतीत होता है कि शृंगारतिलक का संकेत रुद्रट की ओर है। रुद्रट के निम्नलिखित शब्दों में—

साक्षाच्चित्रे स्वप्ने स्याद् दर्शनमेवमिन्द्रजाले वा।
देशे काले भंग्या साधु तदाकर्णनं च स्यात्॥

(काव्यालंकार १२, ३१)

तथा शृंगारतिलक के—

साक्षाच्चित्रे तथा स्वप्ने तस्य स्याद् दर्शनं त्रिधा।
देशे काले च भंग्या च श्रवणं चास्य तद् यथा॥

(शृंगारतिलक १, ५१)

शब्दों में बहुत कम अन्तर है।

उपरोक्त भेदों के अतिरिक्त दोनों ग्रन्थों में परस्पर विचार तथा शब्दों का इतना साम्य है कि यह नहीं कहा जा सकता कि केवल प्रतिपाद्य विषय एक होने के कारण ऐसा हो गया है। एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य भी उल्लेखनीय है। नवम शताब्दी के पश्चाद्वर्ती समस्त आचार्यों ने काव्यालंकार के निर्माता का उल्लेख रुद्रट नाम से किया हैं। इसी प्रकार राजशेखर, प्रतीहारेन्दुराज, वल्लभदेव, धनिक, लोचन, नमिसाधु (प्रस्तावना श्लोक), मम्मट (का० प्र० नवम उल्लास, तथा ह्युक्तं रुद्रटेन 'स्फुटमर्थलंकारौ०' काव्यालंकार ४, ३२) तथा अलंकारसर्वस्व (पृ० ६, रुद्रटेन तु भावालंकारो द्विधैवोक्तः) ने भी रुद्रट नाम दिया है। यह विचित्र है कि इनमें से किसी ने शृंगारतिलक या रुद्रभट्ट का उल्लेख नहीं किया। हेमचन्द्र ने सर्वप्रथम शृंगारतिलक को उद्धृत किया है।

किन्तु उन्होंने भी ग्रन्थकार का नामोल्लेख नहीं किया है। सुभाषितों ने रुद्रट और रुद्र नामों को परस्पर मिश्रित कर दिया है। जल्हण की सूक्तिमुक्तावली (१२५८ ई०) में काव्यालंकार के किं गौरि० २, १५ तथा एकाकिनी यदवला० ७, ४१ श्लोक उद्धृत हैं। इसी प्रकार शृंगारतिलक से भी लिये गये हैं किन्तु सब पर रुद्र का नाम है। रुद्रट के नाम से एक भी श्लोक नहीं है। इसके विपरीत, श्रीधरदास विरचित सदुक्तिकर्णामृत (१२०५ ई०) में शृंगारतिलक के श्लोक भी रुद्रटकृत बताये गये हैं। उपरोक्त दोनों प्राचीन सुभाषितसंग्रह हैं उनसे ज्ञात होता है कि नामों के विषय में यह भ्रम ११५० के पूर्व उत्पन्न हो चुका था। भावप्रकाशन (प्रस्तावना पृ० ६९) के सम्पादक का यह मत भ्रान्त है कि काव्यालंकार के सम्पादक ने गलती से अन्तिम चौदह श्लोकों को प्रक्षिप्त मानकर छोड़ दिया है। उन पर नमिसाधु[1] की टीका नहीं है (देखिये, भा० ओ० रि० इ० की हस्तलिखित प्रति)। भाव प्रकाशन (पृ० ९५) में नायिकाओं के ३८४ भेद बताये गये हैं और उपरोक्त प्रक्षिप्त श्लोकों में भी उन्हींका निर्देश है। इस बात का कोई महत्त्व नहीं है। इससे उनका प्रक्षिप्त होना खण्डित नहीं होता। भावप्रकाशन के शब्दों से इस मान्यता में कोई अन्तर नहीं आता कि ११५० ई० के पूर्व उपरोक्त दो नामों में मतिभ्रम उत्पन्न हो चुका था। इससे इतना ही सिद्ध होता है कि भावप्रकाशन में भी, जिसकी रचना ११७५–१२५० ई० के मध्य हुई वही मतिभ्रम विद्यमान है जो सुभाषित संग्रहों में पाया गया है। सम्पादक महोदय ने स्वयं इस बात को स्वीकार किया है। प्रस्तावना पृ० ७६)। ३८४ संख्या रुद्र के शृंगारतिलक में भी दी गई है (इत्थं शतत्रयं तासामशीतिश्चतुरुत्तरा, १, ८८) भावप्रकाशन ने शृंगारतिलक के १, १६२ श्लोक को उद्धृत किया है, १, ६३ को छोड़ दिया है तथा १, ६४ को पुनः उद्धृत किया है तथा उन्हे रुद्रट की रचना बताया है—

साधारणस्त्री गणिका सा वित्तं—गुणिन्यपि।
भृङ्गाराभास एव स्यान्न शृंगारः कदाचन।

---

1. देखिये—भा० ओ० रि० इ०, पूना के राजकीय ग्रन्थ संग्रहालय का हस्तलिखत ग्रन्थ सूचीपत्र भाग १२, संख्या १३३–१३५ पृ० १४७–१५१. एक पुस्तक का प्रतिलिपि काल १४७१ विक्रमाब्द (१४१५ ई०) है, जब इतनी प्राचीन हस्तलिखित प्रति में भी उन चौदह श्लोकों पर टीका नहीं है तो उन्हें प्रक्षिप्त समझकर ग्रन्थ में सम्मिलित न करना सम्पादक की गलती नहीं है।

इति द्विषन्तमुद्दिश्य प्राह श्रीरुद्रटः कविः।

भावप्रकाशन पृ० ९५

भावप्रकाशन (पृ० ९६) ने श्रृंगारतिलक (१, ६९) सर्वस्वमेतास्तदहो स्मरस्य को उद्धृत किया है। रसार्णवसुधाकर (पृ० ३०, ८७) में भी वही मतिभ्रम दृष्टिगोचर होता है उसने ईर्ष्या कुलस्त्रीपु (श्रृंगारतिलक १, ६९) तथा श्रृंगारहास्य करुणरसातिशयसिद्धये (शृ० ति० ३, ३९) को रुद्रटकृत वताया है।

भावप्रकाशन के सम्पादक (प्रस्तावना पृ० ७०) ने रुद्रट और रुद्र रसों की संख्या विषयक मतभेद को तुच्छ माना है किन्तु जो विद्वान् एतद् विषयक दीर्घकालीन तथा गम्भीर विवाद से परिचित हैं वे सम्पादक महोदय की उपरोक्त धारणा से सहमत नहीं हो सकते।

यह कथन विशेष महत्त्व नहीं रखता कि कशिकी आदि वृत्तियां अर्थ से सम्बन्ध रखती हैं और रुद्रट द्वारा प्रतिपादित वृत्तियाँ शब्द से। क्योंकि इसका एकता के प्रश्न के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। श्रृंगारतिलक भी कैशिकी और आरभटी का लक्षण देते समय वर्ण, शब्द और समास के विन्यास पर बल दिया गया है—

माधुर्ययुक्ताल्पसमासरम्या
वाणी स्मृतासाविह कैशिकीति ॥
ओजस्विगुर्वक्षर बन्धगाढा
ज्ञेया बुधैं सारभटीति वृत्तिः ॥

यह श्रृङ्गारतिलक ३,३८ तथा ४०

जब रुद्रट ने दस रसों का प्रतिपादन करते समय निर्वेद आदि व्यभिचारीभावों का उल्लेख किया है। इसी प्रकार श्रृंगार तथा नायक आदि (काव्यालंकार १२, ३–९ आदि) का निरूपण भी किया है। श्रृंगार के लिये मधुरा, ललिता, वैदर्भी और पाञ्चाली नामक चार वृत्तियों (काव्यालंकार १४,३७) को प्रस्तुत किया है। उसने कैशिकी आदि वृत्तियों का प्रतिपादन नहीं किया जिनका श्रृंगारतिलक में प्रत्येक रस के व्यभिचारीभावों का निरूपण करने के पश्चात् वर्णन है। इस क्रमभेद का कारण एक ही हो सकता है। प्रतीत होता है, एक रचना दूसरी रचना को देखकर लिखी गई। इस समस्त ऊहापोह से यही निष्कर्ष निकलता है कि रुद्र, रुद्रट के पश्चाद्वर्ती हैं और उन्होंने रुद्रट के ही सिद्धान्तों एवं लक्षणों का उदाहरण आदि के द्वारा

विस्तार किया है। उसका शृंगारतिलक काव्यालंकार पर आधारित है और वह ९५०-११०० ई० के मध्य रहा होगा।

धनिक दशरूपक पर अपनी टीका में कहा—उत्स्वप्नायितो यथा रुद्रस्य निर्मग्नेन मयाम्भसि० (दशरूपक ४,६०) यह पाठ उपरोक्त दोनों ग्रन्थों में नहीं है। प्रतापरुद्रयशोभूषण ने रुद्रभट्ट के नाम से दो उद्धरण दिये हैं। (पृ० ११ तथा पृ० ३३५) वे भी दोनों में नहीं हैं। धनपालकृत तिलकमञ्जरी में त्रैलोक्य सुन्दरीकथा के रचयिता के रूप में रुद्रभट्ट का नाम आया है किन्तु यह निश्चय करना कठिन है कि वे ही शृंगारतिलक के रचयिता हैं। तिलकमञ्जरी का श्लोक इस प्रकार है :—

स मदान्धकविध्वंसी रुद्रः कैर्नाभिनन्द्यते ।
सुश्लिष्टललिता यस्य कथा त्रैलोक्यसुन्दरी ।।

शृंगारतिलक ३५ श्लोक

१५. ध्वन्यालोक—ध्वन्यालोक काव्यमाला सीरिज़ में प्रकाशित हुआ है साथ में प्रथम तीन उद्योतों पर अभिनवगुप्तकृत लोचन नाम की टीका है। डा० एस० के० डे ने किसी हस्तलिखित प्रति के आधार चतुर्थ उद्योत पर भी अभिनवगुप्त की टीका सम्पादित की है जो कलकत्ता विश्वविद्यालय, डिपार्टमैण्ट ऑफ लैटर्स की पत्रिका भाग ९, पृ० १५–४२ में प्रकाशित हुई है। काशी संस्कृत सीरिज़ (अपर नाम—हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला) ने भी समस्त ध्वन्यालोक प्रकाशित किया है इसमें प्रथम चार उद्योतों पर अभिनवगुप्त का लोचन तथा बालप्रिया नामक नवीन टीका है। यह संस्करण १९४० में प्रकाशित हुआ था। काव्यशास्त्र के इतिहास में यह ग्रन्थ युगप्रवर्तक सिद्ध हुआ है। काव्यशास्त्र में इसका वही स्थान है जो व्याकरण में पाणिनी सूत्रों का तथा वेदान्त में ब्रह्मसूत्र का। ग्रन्थ से प्रौढ पाण्डित्य तथा सूक्ष्म दृष्टि प्रकट होती है। शैली प्राञ्जल तथा भावपूर्ण है और प्रत्येक पृष्ठ से मौलिकता प्रकट होती है। ध्वन्यालोक को काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रतिष्ठापक कहा जा सकता है, जैसाकि पण्डितराज जगन्नाथ ने रसङ्गाधर में कहा है—ध्वनिकृतामालङ्कारिक-सरणि व्यवस्थापकत्वात्।

इस ग्रन्थ में तीन भाग हैं। (१) प्रथम भाग में कारिकायें हैं। काव्यमाला के प्रथम संस्करण में इनकी संख्या १२९ है (२) द्वितीय भाग में वृत्ति है जो कारिकाओं पर विस्तृत व्याख्या है। तथा (३) तृतीय भाग में उदाहरण आते

हैं जो अधिकतर पुरातन कवियों से लिये गये हैं। ध्वन्यालोक चार उद्योतों में विभाजित है। प्रथम श्लोक शार्दूलविक्रीडित है, चतुर्थ और षष्ठ उपजाति तथा तेरहवाँ आर्या हैं। तृतीय उद्योत में चार आर्यायें हैं इनके अतिरिक्त प्रथम तीन उद्योतों के सभी श्लोक अनुष्टुप् हैं। चतुर्थ उद्योत में केवल १७ कारिकायें हैं अन्तिम तीन क्रमशः रसोद्धता, मालिनी और शिखरिणी छन्दों में हैं।

निर्णयसागर प्रेस ने काव्यमाला सीरिज़ में संस्कृत के सैकड़ों ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं, उसकी छपाई अत्यन्त शुद्ध, सुन्दर तथा मूल्य अल्प है। इसके लिए विद्वद्वर्ग उसका सदा ऋणी रहेगा। इस सीरिज़ में ध्वन्यालोक लोचन के ६० वर्ष पहले प्रकाशित हुआ था और वह तीन हस्तलिखित प्रतियों पर आधारित था। उस संस्करण का मूल पाठ एवं लोचन दोनों ही अशुद्ध थे। उसी संस्करण को कई वार मुद्रित किया गया। केवल कुछ श्लोकों या कारिकाओं को छोड़ दिया गया। अव वहुत-सी नई हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हो चुकी हैं। केवल भा० ओ० रिसर्च इन्स्टीट्यूट में ही मुझे पांच प्रतियाँ देवनागरी लिपि में तथा दो शारदा लिपि में प्राप्त हुई हैं। भारत में उपलब्ध समस्त हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर एक नये संस्करण की महती आवश्यकता है। कलकत्ता संस्कृत सीरिज़ ने समस्त ध्वन्यालोक मधुसूदन मिश्र द्वारा विरचित अवधान नामक टीका के साथ प्रकाशित किया है। इस संस्करण में मूल तथा टीका दोनों के लिए आधारभूत हस्तलिखित प्रतियों का निर्देश नहीं किया गया। अतः इसका अधिक महत्त्व नहीं है वह काव्यमाला संस्करण की ही प्रतिलिपि जान पड़ता है। जैकोवी ने ध्वन्यालोक का जर्मन भाषा में अनुवाद किया था जो जैड० डी० एम० जी०, भाग ५६, पृ० १८–६०, ३११–३४३, ३९२–४१०, और भाग ५७, पृ० ५८६–६१५, ७१०–७८९ पर प्रकाशित हुआ है। डा० जैकोबी ने पाठ शुद्धि तथा अन्य बातों के लिए कुछ सुझाव दिये हैं जो उत्तरवर्ती विद्वानों ने स्वीकार कर लिये हैं। काव्यमाला संस्करण में कुछ श्लोक ऐसे हैं जिनके मूल कारिका होने में अनेक विद्वानों को सन्देह है। आगे चलकर एक-दो कारिकाओं के विषय में चर्चा की जायेगी। प्रो० भट्टाचार्य ने अपने निबन्ध (षष्ठ ऑल इण्डिया ओरियण्टल कॉन्फ्रेन्स पृ० ६१३–६२२) में बताया है कि चतुर्थ उद्योत की कारिकायें वाद में जोड़ी गई हैं। द्वितीय उद्योत के १८–२० श्लोकों को भी मूलकारिकाओं में रखना उचित नहीं जान पड़ता। क्योंकि वृत्ति (पृ० १०६) में उन्हें अस्यैवार्थस्य संग्रह श्लोकाः शब्दों द्वारा प्रस्तुत किया गया है। वस्तुतः उनमें कोई नई बात नहीं है केवल कारिका संख्या १५–१७ तथा उनकी वृत्ति

की पुनरावृत्ति है। अशुद्धि-पत्र में यह भूल स्वीकार करली गई है। वृत्ति में भी अनेक स्थान सन्देह पूर्ण हैं। पृ० १७८ पर मुद्रित वृत्ति इस प्रकार है—

इति काव्यार्थविवेको योऽयंचेतश्चमत्कृतिविधायी।
सूरिभिरनुसृतसारैरस्मदुपज्ञो न विस्मार्यः॥

का० मा० संस्करण के सम्पादकों का कथन है कि आधारभूत तीन हस्त-लिखित प्रतियों में से दो में उपरोक्त श्लोक नहीं है। अच्छा होता यदि वे इसे मूल पाठ में न रखकर टिप्पण में रख देते। मैंने सात प्रतियों का निरीक्षण किया है जिनमें से पांच देवनागरी लिपि में हैं और दो शारदा लिपि में (संख्या २५६ और २५७, १८७५–७६ ई० का ग्रन्थसंग्रह, भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट) उनमें से किसी प्रति में उपरोक्त श्लोक नहीं है। यह निश्चित रूप से प्रक्षिप्त है। एक अन्य उल्लेखनीय बात यह है कि निर्णयसागर द्वारा प्रकाशित तीन उद्योतों में जो ११२ श्लोक हैं उनमें उपरोक्त आठ को छोड़कर शेष सभी अनुष्टुप् छन्द में हैं। किन्तु चतुर्थ उद्योत के १७ श्लोकों में अन्तिम तीन क्रमशः रथोद्धता, मालिनी तथा शिखरिणी छन्दों में हैं। इसके अतिरिक्त, काव्यमाला संस्करण के पृ० २९७ पर एक खण्डित प्राकृत गाथा छपी है। डा० दे द्वारा सम्पादित संस्करण (डिपार्टमैण्ट ऑफ लैटर्स, कलकत्ता की पत्रिका, भाग ९) तथा ध्वनिगाथा पञ्जिका (हस्तलिखित ग्रन्थ, भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट) में टीका नहीं है।

ध्वन्यालोक के सम्बन्ध में एक प्रश्नकर्त्ता के विश्रय में है, क्या कारिका, वृत्ति तथा उदाहरण तीनों भागों के रचयिता एक ही हैं? यदि नहीं तो मूल के कौन हैं और वृत्ति के कौन? इसमें कोई सन्देह नहीं है कि वृत्ति और उदाहरण एक ही विद्वान् की रचना है। मूल कठिनाई कारिकाओं तथा वृत्ति के सम्बन्ध में है। कारिकाकार तथा वृत्तिकार की एकता के विषय में अन्तर तथा बाह्य दोनों प्रकार के आधार विशाल परिमाण में हैं। स्थानसंकोच के कारण उन सबकी विस्तृत चर्चा यहाँ सम्भव नहीं है। किन्तु यह समस्या अत्यन्त उलझ गई है। अपरिपक्व बुद्धि, स्थूलदर्शी तथा पक्षपातपूर्ण लेखकों ने इसकी कठिनाई को बढ़ा दिया है अतः इसकी कुछ चर्चा आवश्यक है। जे० ए० ओ० एस० भाग ७२ (१९५२ ई०) में मेरे 'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोइटिक्स (१९५१)' की समीक्षा छपी है और विद्वान् समीक्षक ने मुझ पर श्लोकों की पुनरावृत्ति का दोष लगाया है (यद्यपि वे स्वयं मानते हैं कि वे श्लोक विभिन्न व्यक्तियों द्वारा रचे गये हैं)। डा० के० कृष्णमूर्त्ति ने ध्वन्यालोक का अनुवाद किया है जो

१९५५ में पूना से प्रकाशित हुआ है उसकी प्रस्तावना (पृ० १८) में भी डा० मूर्त्ति ने कारिकाकार एवं वृत्तिकार के एक होने का समर्थन किया है मैंने १९५१ के संस्करण में जो वातें लिखी थीं उस पर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। अतः उन्हें फिर दोहराना चाहता हूँ। ध्वन्यालोक का प्रथम उद्योत प्रो० विष्णुपद भट्टाचार्यकृत अंग्रेज़ी व्याख्या के साथ के० एल० मुखोपाध्याय, कलकत्ता के द्वारा प्रकाशित हुआ है। मैंने ही सर्वप्रथम वाह्य आधारों को एकत्रित किया और सबने दोनों की एकता को सिद्ध किया है। यदि यह वात अन्तिम रूप से सिद्ध हो जाती है तो मुझे वड़ी प्रसन्नता होगी। मैंने इस चर्चा में अत्यन्त निष्पक्ष वृत्ति से काम लिया है। प्रस्तावित मत या प्रतिज्ञा की तीन अवस्थायें होती हैं—१. सिद्धि, २. असिद्धि और ३. खण्डन। अब भी मेरा यही मत है कि एकता का सिद्धान्त खण्डित कोटि में नहीं आता। वह सिद्धि के अत्यन्त निकट है। यह नहीं समझना चाहिए कि एकता पर आक्षेप करने वालों का एकमात्र आधार लोचन के शव्द हैं। उनसे इतना ही ज्ञात होता है कि लोचन एकता का समर्थक नहीं है और कहीं-कहीं इसके विपरीत भी है।

लोचन की रचना ध्वन्यालोक के १५० वर्ष पश्चात् हुई। उसके सामने ऐसा कोई प्रमाण नहीं था जिससे कारिकाओं तथा वृत्ति के रचयिताओं का निर्णय कर सके। नीचे लिखे उद्धरणों से यह तथ्य स्पष्ट हो जायेगा। आज से ७५ वर्ष पहले वुहलर ने इस प्रश्न को उठाया था (काशमीर रिपोर्ट पृ० ६५) तव से यह चर्चा वरावर चल रही है और आज भी यह नहीं कहा जा सकता कि प्रश्न का अन्तिम निर्णय हो गया। इस प्रश्न पर मेरे पास जो सामग्री है उसे यहाँ प्रस्तुत करना स्थानाभाव के कारण सम्भव नहीं है। इस विषय में जिनकी विशेष रुचि हो उन्हें नीचे लिखा साहित्य पढ़ना चाहिए—

१. डा० डे० बुलेटिन ऑफ दी स्कूल ऑफ ओरियण्टल स्टडीज़, भाग १, खण्ड ४, पृ० १–९ तथा हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोइटिक्स १०७–११६;

२. प्रो० एस० पी० भट्टाचार्य—प्रोसिडिंग्स ऑफ दी सिक्स्थ ओरियण्टल कॉन्फरैन्स पृ० ६१३–६२२;

३. श्री के० गोडा वर्मा, न्यू इ० ऐण्टी० भाग ५ पृ० २६५–२७२ कारिकाकार तथा वृत्तिकार की भिन्नता के लिए);

४. म० म० प्रो० कुप्पुस्वामी (उपलोचन पृ० ११);

५. प्रो० कुप्पुस्वामी के शिष्य डा० ए० शङ्करन् की 'दी थ्योरिज़ ऑफ रस एण्ड ध्वनि पृ० ५०–६०;

६. डा० सातकड़ि मुकर्जी का बी० सी० ला अभिनन्दन-ग्रन्थ भाग १, पृ० १७९–१९४ पर लेख;

७. डा० के० सी० पाण्डे—अभिनवगुप्त पृ० १३२–१४०;

८. डा० के० कृष्णमूर्त्ति का इ० हि० क्वा० भाग २४, पृ० १८०–१९४ तथा पृ० ३००–३११ पर लेख;

९. प्रो० मनकद का न्यू इण्डि० ऐण्टी० भाग ६, पृ० २११ पर लेख।

एकता का प्रतिपादन करने वाले विद्वानों ने जो तर्क उपस्थित किये हैं मैं उनका संक्षिप्त विवेचन करूँगा।

चर्चा प्रारम्भ करने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि लोचन तथा अभिनवभारती से अनेक स्थानों पर यह प्रकट होता है कि कारिकाओं तथा वृत्ति के लेखक भिन्न नहीं हैं। यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि प्रतिष्ठित विद्वान् भी साधारणतया प्राचीन परम्परा या प्रचलित मत को स्वीकार कर लेते हैं। तुलना के लिए अलङ्कारसर्वस्व तथा साहित्यदर्पण का समासोक्ति प्रकरण द्रष्टव्य है। किन्तु इस आधार पर किसी भी प्रश्न का अन्तिम नर्णय नहीं होता! लोचन में ही ऐसे पाठ भी हैं जिनसे उन दोनों में भेद प्रतीत होता है केवल लोचन में ही नहीं किन्तु वृत्ति कारिकाओं तथा मुकुलभट्ट सरीखे विद्वान् लेखक की रचना में भी इस प्रकार के अनेक पाठ हैं उनका संग्रह यहाँ आवश्यक है। जहाँ तक लोचन का प्रश्न है अभेद के समर्थक किसी विद्वान् ने नीचे लिखे पाठों का विवेचन नहीं किया। डा० शङ्करन् (थ्योरिज़ ऑफ रस एण्ड ध्वनि पृ० ५९) ने एकता का समर्थन करने के लिए अभिनव-भारती से दो पाठ लिये हैं तथा बहुत-से इधर-उधर से इकट्ठे किये हैं उन्हें प्रस्तुत करने के पश्चात् कहा है—अभिनवगुप्त के पाठ से आपाततः कारिकाकार तथा वृत्तिकार में भेद प्रतीत होता है किन्तु अन्य प्रमाण उसके समर्थक नहीं हैं। अतः अभिनवगुप्त का दूसरा अर्थ समझना चाहिए। सम्भवतया अभिनवगुप्त अपनी व्याख्या में कारिकाओं तथा वृत्ति को अलग-अलग रखना चाहते थे इस भेद को प्रकट करने के लिए उन्होंने व्याख्या से पहले कारिकाकार एवं वृत्तिकार का निर्देश कर दिया और अपना प्रयोजन सिद्ध कर लिया। मैंने जो सात-आठ उद्धरण दिये हैं डा० शङ्करन् ने उनका आशय समझने का प्रयत्न नहीं किया, विशेषतया २, ६ और ७ पर ध्यान नहीं दिया अथवा उनसे जो निष्कर्ष निकलता है उसकी जानबूझकर उपेक्षा करदी। उन्होंने नीचे लिखी बातों की ओर भी दृष्टिपात नहीं किया। प्रस्तुत उद्धरण काव्यमाला संस्करण चतुर्थ आवृत्ति सन् १९३५ ई० से लिये गये

हैं। लोचन से उद्धृत आठवें पाठ को देखकर आश्चर्य होता है कि यदि लोचन-कार दोनों की एकता में विश्वास रखते थे तो उसका स्पष्ट निर्देश रूप से यह क्यों नहीं कहा—यद्यप्यर्थानन्त्यमात्रे हेतुः कारिकायां नोक्तस्तथापि मया वृत्तौ उक्त एवेति भावः। इस विषय में लोचन के महत्त्वपूर्ण पाठ निम्नाङ्कित हैं—

१. अत एव मूलकारिका साक्षात्तन्निराकरणार्था न श्रूयते। वृत्तिकृत्तु निराकृतमपि प्रमेयसंख्यापूरणाय कण्ठेन तत्पक्षमनूद्य निराकरोति येपीत्यादिना। ...तेनात्र प्रथमोद्योते ध्वनेः सामान्यलक्षणमेव कारिकाकारेण कृतम्। द्वितीयोद्योते कारिकाकारोऽवान्तरविभागं विशेषलक्षणं च विदवदनुवादमुखेन मूलविभागं द्विविधं सूचितवान्। तदाशयानुसारेण वृत्तिकृदत्रैवोद्योते मूलविभागमवोचत् इत्यादि (लोचन पृ० ७१–७२)।

२. न चैतन्मयोक्तम्, अपि तु कारिकाकाराभिप्रायेणेत्याह तत्रेति। भवति मूलतो द्विभेदत्वं कारिकाकारस्यापि सम्मतमेवेति भावः (पृ० ७३)।

३. उक्तमेव ध्वनिस्वरूपं तदाभासविवेकहेतुतया कारिकाकारोनुवद-तीत्यभिप्रायेण वृत्तिकृदुपस्कारं ददाति पृ० १४९।

४. एतत्तावत् त्रिभेदत्वं न कारिकाकारेण कृतं वृत्तिकारेण तु दर्शितं न चेदानीं वृत्तिकारो भेदप्रकटनं करोति। ततश्चेदं कृतमिदं क्रियत इति कर्तृभेदे का सङ्गतिः। (पृ० १५०–१५१)।

५. कारिकाकारेण पूर्वं व्यतिरेक उक्त। न च सर्वथा न कर्त्तव्योऽपि तु बीभत्सादौ कर्त्तव्य एवेति पश्चादन्वयः। वृत्तिकारेण तु अन्वयपूर्वको व्यतिरेक इति शैलीमनुसर्त्तुमन्वयः पूर्वमुपात्तः (पृ० १६०)।

६. प्रतिपादितमेवैषामालम्बनम् (ध्व० पृ० १६६) पर लोचनकार का कथन है—अस्मन्मूलग्रन्थकृतेत्यर्थः।

७. एवमादौ च विषये यथौचित्यत्यागस्तथा दर्शितमेवाग्रे (ध्व० पृ० १६९–१७०) पर लोचनकार का कथन है–दर्शितमेवेति कारिका कारेणेति भूतप्रत्ययः।

८. अन्तिम पाठ का यह अर्थ है। यदि कारिका तथा वृत्ति का रचयिता एक ही होता तो वह आगे चर्चा किये जाने वाले प्रसंग के लिए दर्शितम् के स्थान पर भविष्यत् काल का प्रयोग करता। किन्तु कारिकाओं का रचयिता वृत्तिकार से भिन्न एवं पूर्ववर्ती है, अतएव वृत्तिकार ने दर्शितमेवाग्रे (कारिकाकारेण) कहा है।

९. ध्वन्यालोक ४, ३. की वृत्ति पर लोचनकार का कथन है—यद्यप्यर्थानन्त्यमात्रे हेतुर्वृत्तिकारेणोक्तस्तथापि कारिकाकारेण नोक्त इति (डा० डे०, डिपार्टमैण्ट ऑफ लैटर्स, कलकत्ता यूनिवर्सिटी भाग ९, पृ० २९)। कुछ अन्य पाठ भी ऐसे हैं जहाँ लोचन ने वृत्तिकार का उल्लेख किया है किन्तु उनमें उपरोक्त पाठों के समान कारिकाकार तथा वृत्तिकार का भेद स्पष्ट नहीं है। उनके लिए देखिये—लोचन पृ० ५७, ८६, १०३, १२७, १३२, १४०। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि लोचन ने वृत्ति तथा उदाहरणों के साथ ग्रन्थकृत् शब्द का प्रयोग किया है और कारिकाओं के साथ मूलग्रन्थकृत् अथवा ग्रन्थकार का (देखिये, पृ० १६६ से उद्धृत उपरोक्त पाठ)। तथा चान्येन कृत एवात्र श्लोकः (ध्व० पृ० १०) पर लोचनकार का कथन है--ग्रन्थकृत्समानकालभाविना मनोरथनाम्ना। यदि इस मनोरथ को ऊपर वामन की चर्चा में निर्दिष्ट मनोरथ से अभिन्न माना जाय और जयापीड (राजत० ४, ४९७) का समकालीन रखा जाय तो वह आनन्दवर्धन का समकालीन नहीं हो सकता। डा० कृष्णमूर्त्ति (इ० हि० क्वा० भाग २४, पृ० ३०८) का मत है कि आनन्दवर्धन का बाल्यकाल तथा मनोरथ का वार्धक्य समकालीन हैं। यह मत भी निराधार है। राजतरङ्गिणी (५, ३४) के अनुसार आनन्दवर्धन की कवि के रूप में प्रसिद्धि अवन्तिवर्मा के शासन में हुई। प्रतीत होता है, विषमवाण लीला, अर्जुनचरित और देवीशतक की रचना ध्वन्यालोक से पहले हो चुकी थी। इसका अर्थ है, ध्वन्यालोक किसी परिपक्व आयु वाले अनुभवी व्यक्ति की कृति है। अतः यह मानना होगा कि ८७५ ई० अथवा उसके निकट पश्चात् आनन्दवर्धन की आलङ्कारिक के रूप में, कवि के रूप में नहीं, प्रसिद्धि हो चुकी थी। यदि मनोरथ को आनन्दवर्धन का समकालीन तथा प्रतिपक्षी माना जाय तो उसका समय नवम शताब्दी का अन्तिम भाग रखना होगा। जबकि जयापीड (७७९–८१३ ई०) की राजसभा में कवि के रूप में उसका जीवन अष्टम शताब्दी के अन्तिम भाग में प्रारम्भ हुआ माना जाता है। अतः यह मानना होगा कि उनकी आयु १०० वर्ष से अधिक थी और इस अवस्था में भी उन्होंने आनन्दवर्धन का खण्डन किया। ध्वन्यालोक में विषमवाणलीला और अर्जुनचरित का उल्लेख है। देवीशतक में भी इन दोनों का उल्लेख है किन्तु ध्वन्यालोक में देवीशतक का नाम अथवा उल्लेख कहीं नहीं आया। देवीशतक में यमक एवं चित्रकाव्यों का बाहुल्य है। जब हम ध्वन्यालोक की निम्नलिखित पंक्ति को देखते हैं तो शब्दप्रधान देवीशतक के लिए आनन्दवर्धन का गर्वित होना अस्वा-

भाविक जान पड़ता है—इदानीं तनानां तु न्याय्ये काव्यनयव्यवस्थापने क्रियमाणे नास्त्येव ध्वनिव्यतिरिक्तः काव्यप्रकारः, यतः परिपाकवतां कवीनां रसादितात्पर्य-विरहे व्यापार एव न शोभते (ध्व० पृ० २७७–२७८)। अतः ध्वन्यालोक की रचना देवीशतक के कई वर्ष पश्चात् हुई होगी जब आनन्दवर्धन ने पर्याप्त अनुभव एवं परिशीलन के पश्चात् ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में स्थिर कर लिया होगा। सहृदयानामानन्दः (ध्व० पृ० १३) शब्दों पर लोचन का कथन है—आनन्द इति च ग्रन्थकृतो नाम तेन स एवानन्दवर्धनाचार्य एतच्छा-स्त्रद्वारेण इत्यादि (पृ० १४); समासोक्त्याक्षेपयोरेकमेवोदाहरणं व्यतरद् ग्रन्थकृत्' (लोचन पृ० ४४); एवमभिप्रायद्वयमपि साधारणोक्त्या ग्रन्थकृन्न्यरूपयत् (पृ० ४५); 'आहूतोऽपि सहायैः' कारिका पर–अत एव ग्रन्थकारः सामान्येन इत्यादि (लोचन पृ० ७०)। उपरोक्त उद्धरणों से यही अनुमान होता है कि लोचन की दृष्टि में वृत्ति के रचयिता आनन्दवर्धन हैं और वे मूलकारिकाकार से भिन्न है। हमें यह देखना है कि अन्य प्राचीन लेखकों के साथ उपरोक्त मान्यता का कहाँ तक मेल है और कारिकाकार का नाम क्या है? यदि वह आनन्दवर्धन से भिन्न है।

उपरोक्त सात उद्धरणों में से द्वितीय, षष्ठ एवं सप्तम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। वृत्ति के प्रकाशितः शब्द पर उद्धृत द्वितीय पाठ का आशय है—मैंने (वृत्तिकार) जो कुछ कहा है वह निजी कल्पना नहीं है किन्तु मूलकारिकाकार के अभिप्राय का ही स्पष्टीकरण है। अतएव वृत्ति में तत्र शब्द का प्रयोग किया है।······ध्वनि दो प्रकार की है (जैसाकि प्रथम उद्योत में बताया जा चुका है) और यह कारिकाकार द्वारा सम्मत है (पृ० ७३, का० मा० संस्करण)। यदि कारिकाकार और वृत्तिकार एक ही होते तो वृत्तिकार को यह कहने की आवश्यकता नहीं होती कि उसने मूल का अनुसरण किया है और जो कुछ उसने कहा है वह कारिकाकार को सम्मत है। वह इतना ही कहते कि कारिका में मेरा अभिप्राय इस प्रकार है। साधारण जीवन में व्यक्ति एक प्रकार का वक्तव्य देकर जब कालान्तर में दूसरा वक्तव्य देता है तो यह कहने की आवश्यकता नहीं समझता कि द्वितीय वक्तव्य उसका पूर्वसम्मत है। वह केवल इतना ही कहता है, मैंने जो कुछ कहा है उसका अभिप्राय निम्नलिखित है अथवा मैंने यह कहा था और यह नहीं कहा। जब एक ही व्यक्ति दो वक्तव्य देता है तो उनमें परस्पर सम्मति का प्रश्न नहीं होता। इसी प्रकार ध्वन्यालोक पृ० १६६ पर लोचन का जो कथन है वह भी अभिन्नता का समर्थक है। वहाँ

गुण और संघटना का परस्पर सम्वन्ध वताया गया है। वृत्ति में प्रतिपक्षी द्वारा शंका उठाई गई है—संघटना के अतिरिक्त गुणों का आश्रय क्या है ? वृत्तिकार ने इसका उत्तर देते हुए कहा है कि गुणों का आश्रय वताया जा चुका है और उसके लिए द्वितीय अध्याय की ७वीं कारिका को उद्धृत किया है। प्रतिपादित-मेव शब्द की व्याख्या करते हुए लोचनकार ने कहा है—अस्मन्मूलग्रन्थकृता (मूल ग्रन्थकार द्वारा जिस पर मैंने वृत्ति लिखी है), जैसाकि लोचन का मत है, यदि मूल और वृत्ति एक ही व्यक्ति की रचना होते तो अभिनवगुप्त को 'प्रतिपादितम्' की व्याख्या के रूप में मयैव द्वितीयोद्योते कहने की आवश्यकता न पड़ती। लोचनकार ने मत्कृतकारिकायाम् अथवा मया कारिकायाम् न कहकर अस्मन्मूलग्रन्थकृता क्यों कहा ? लोचन ने वृत्ति में उद्धृत कुछ कारिकाओं की व्याख्या इस प्रकार की है—उदाहरण के रूप में दो श्लोक प्रस्तुत किये जाते हैं—१. रसभावादिविषय० और रसादिषु विवक्षातु (पृ० २७७) कारिकाओं तदिदमुक्तम् शब्दों के साथ उद्धृत किया गया है। लोचन ने इसकी व्याख्या मयैवेत्यर्थः शब्दों से प्रकट की है जिसका अभिप्राय है कि वे श्लोक स्वयं वृत्तिकार की रचना हैं। काव्यमाला संस्करण के पृ० २९३ पर अनाख्येयांश आदि शब्द कारिका के रूप में दिये गये हैं किन्तु १९३५ के संस्करण में शुद्ध कर दिया गया। वृत्ति (पृ० २७७) में उस कारिका को तदिदमुक्तम् के पश्चात् उद्धृत किया गया है। लोचन ने उसकी व्याख्या की है—उक्तमिति संग्रहार्थं मयैवेत्यर्थः। अस्मन्मूलग्रन्थकृता शब्दों पर डा० मुकर्जी का कथन है—मेरा मत है कि उपरोक्त भेद केवल पद्धति का है जिसे छोड़ना उस समय गम्भीर एवं अक्षम्य अपराध माना जाता था (वी० सी० ला अभिनन्दन-ग्रन्थ भाग १, पृ० १९१) विद्वान् डा० महोदय ने यह नियम कहाँ देखा है जिसे वे इतनी उग्र भाषा में प्रकट कर रहे हैं। डा० कृष्णमूर्त्ति ने प्रारम्भ से लेकर अन्त तक डा० मुकर्जी का अनुसरण किया है। अस्मन्मूलग्रन्थकृता पर उनका कथन है—इन शब्दों से कोई कठिनाई उपस्थित नहीं होती क्योंकि इस प्रकार की अभिव्यक्ति उस समय की शैली रही है। मैं उपरोक्त विद्वानों से अनुरोध करूँगा कि वे ऐसा उदाहरण उपस्थित करें जहां सूत्र-सूत्र अथवा कारिका और उन पर वृत्ति एक ही व्यक्ति द्वारा रची गई हो। अन्यथा शैली या पद्धति के नाम से उन्होंने जो प्रतिपादन किया है वह सर्वथा निराधार है। एक टीकाकार ने वृत्ति के प्रतिपादितमेवैषामा-लम्बनम् शब्दों की अस्मन्मूलग्रन्थकृता शब्दों द्वारा की है। डा० मुकर्जी ने आपत्ति खड़ी की है अस्मन्मूलग्रन्थकृता शब्दों को बहुत तूल दे दिया गया है

(वी० सी० ला अभिनन्दन-ग्रन्थ, भाग, १, पृ० १९०)। समझ में नहीं आता कि ऐसा क्यों न हो। यह व्याख्या क्यों नहीं हो सकती? मूल तथा वृत्ति के रचयिताओं में भेदाभेद का निश्चय करने के लिए ये शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इस सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि लोचनकार ने ग्रन्थकृत् अथवा ग्रन्थकार शब्द का अन्यत्र किस अर्थ में प्रयोग किया है। पृ० ४४ पर वृत्तिकार ने अनुरागवती सन्ध्या आदि श्लोक उद्धृत किया है उसपर लोचन का निर्णायक कथन है—वामनाभिप्रायेणायमाक्षेपः······एकमेवोदाहरणं व्यतरद् ग्रन्थकृत्। ···इत्यत्राशयोत्र ग्रन्थेऽस्मद् गुरुभिर्निरूपितः। यहाँ ग्रन्थकृत् शब्द का प्रयोग वृत्तिकार के लिए हुआ है क्योंकि उदाहरण वृत्ति के ही अन्तर्गत हैं। मेरा मत है कि लोचन में सर्वत्र ग्रन्थकृत् शब्द का प्रयोग वृत्तिकार के लिए हुआ है। जो लोग अभेद के समर्थक हैं उनसे मेरा अनुरोध है कि एक भी ऐसा स्थान प्रस्तुत करें जहां लोचन ने ग्रन्थकृत् शब्द का प्रयोग कारिकाकार के लिए किया हो। एकता के विरोध में डा० मुकर्जी (वी० सी० ला अभिनन्दन-ग्रन्थ, भाग १, पृ० १८९) का कथन है कि ग्रन्थकृत् और वृत्तिकार एक नहीं हैं तथा लोचन ने उनका प्रयोग एक ही अर्थ में या एक ही व्यक्ति के लिए नहीं किया। किन्तु यह विरोध निराधार है। लोचन 'स्वेच्छाकेसरिणः' आदि मङ्गल श्लोक को 'वृत्तिकारः' शब्द द्वारा क्यों प्रस्तुत किया? यदि लोचन की दृष्टि में कारिका-कार और वृत्तिकार एक ही हैं तो उसने ग्रन्थकारः या कारिकाकारः क्यों नहीं कहा? यह भी द्रष्टव्य है कि तीसरे पृष्ठ की प्रथम कारिका को प्रस्तुत करते समय केवल उसे आदिवाक्य कहा गया है, अन्य कुछ नहीं। इसी प्रकार नीचे लिखे पृष्ठों में ग्रन्थकृत् अथवा ग्रन्थकार शब्द से केवल वृत्तिकार का ग्रहण हुआ है—पृष्ठ ४५—

(१) एवमभिप्रायद्वयमपि साधारणोक्त्या ग्रन्थकृन्न्यरूपयत्।

(२) पृ० ७०—अत एव ग्रन्थकार······ध्वनौ भक्तेरभावमभ्यधात् (पृ० ७०)[1]।

(३) पृष्ठ १०९—ततश्च···अयं ग्रन्थकृत आशयः (पृ० १०९)

---

1. तस्माद्भक्तिरलक्षणम्—ये शब्द वृत्ति (पृ० ६७) के हैं यह वृत्ति जिस कारिका (१, २१) पर है उसमें भक्ति शब्द सर्वथा नहीं आया, उसके स्थान पर गुणवृत्ति शब्द है। अतः यह मानना होगा कि लोचन ने वृत्ति का उल्लेख किया है।

(४) पृ० २८९--ताभ्यां ध्वनेः सङ्कर इति ग्रन्थकारस्याशयः लोचनकार के ये शब्द जहाँ ध्वनेः संसृष्टालङ्कार संसृष्टत्व का उदाहरण देने के लिए अहिणअ पओ अरसिएसु आदि प्राकृत गाथा उद्धृत है। अतः पृष्ठ १४ पर भी दो स्थानों पर (आनन्द इति च ग्रन्थकृतो नाम तथा सहृदय···ग्रन्थकृदिति भावः। आये हुए ग्रन्थकृत् शब्द से वृत्तिकार का ही ग्रहण करना चाहिए। दर्शितमेवाग्रे आदि सप्तम पाठ की व्याख्या कारिकाकार तथा वृत्तिकार को भिन्न-भिन्न मानने पर भी हो सकती है। डा० कृष्णमूर्त्ति ने वृत्ति के वे पाठ प्रस्तुत किये हैं जहाँ भविष्यत् काल का प्रयोग है, किन्तु इससे 'दर्शितमेवाग्रे' में प्रयुक्त भूतकाल का समाधान नहीं होता। डा० मुकर्जी ने प्राचीन काव्यमाला संस्करण के पृष्ठ १४, २३, २६ तथा ३४ उल्लेख किया है। तदनुसार १९३५ के संस्करण में उनके स्थान पर क्रमशः १८, २७, ३१ और ४० हैं। डा० कृष्ण-मूर्त्ति ने उन्हीं का अनुसरण किया है। ये पाठ केवल इसलिए प्रस्तुत किये जाते हैं कि उनमें वृत्तिकार ने भविष्यत् काल का प्रयोग किया है। किन्तु उनमें कोई सार नहीं है। पृष्ठ १८ पर वृत्ति का कथन है—स त्वर्थो···वस्तुमात्र-मलङ्कारा रसादयश्चेत्यनेकप्रभेदप्रभिन्नो दर्शयिष्यते। द्वितीय उद्योत का यह पाठ किसी कारिका का उल्लेख नहीं करता परन्तु वृत्ति का ही करता है। ऐसी कोई कारिका नहीं है जहां ध्वनि का वस्तु, अलङ्कार, रस आदि में विभाजन किया गया हो। पृ० २७ पर वृत्ति का कथन है—द्वितीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद्विभिन्नः सप्रपञ्चमग्रे दर्शयिष्यते। इसमें भी कारिका का उल्लेख नहीं है किन्तु वृत्ति का ही है, जैसाकि 'सप्रपञ्चम्' शब्द से स्पष्ट हो जाता है। लोचन ने भी इसे वृत्ति का ही उल्लेख माना है (अग्रे इति द्वितीयोद्योते असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य० इति विवक्षितान्यपरवाच्यस्य द्वितीयप्रभेदवर्णनावसरे)। पृष्ठ ३१ तथा ४० पर आये हुए उल्लेख भी वैसे ही हैं। उनमें ऐसे विषयों का उल्लेख है जिनकी चर्चा वृत्ति में आगे चलकर की जायेगी। वृत्ति के पृ० २६ पर 'दर्शयिष्यते' शब्द में भी लोचन के मतानुसार कारिका का उल्लेख नही है। इसी प्रकार पृ० ४० पर 'अग्रे दर्शयिष्यामः' शब्दों में उस विस्तृत चर्चा का उल्लेख है, जो मुद्रिरा पुस्तक के ४ पृष्ठों में समाप्त होती है, उनमें तृतीय उद्योत की ४२ तथा ४३वीं कारि-काओं की व्याख्या है। वहाँ वृत्तिकार द्वारा स्वरचित कुछ श्लोक भी उद्धृत हैं। अतः वृत्ति के दर्शितमग्रे पाठ से जो अनुमान किया गया है उपरोक्त दोनों डाक्टर उसे खण्डित करने में असमर्थ हैं। यह उनका भ्रम है कि वृत्तिकार ने भविष्यत् काल की क्रिया द्वारा कारिका का उल्लेख किया है। डा० मुकर्जी (बी० सी० ला अभिनन्दन-ग्रन्थ भाग १, पृ० १८७–१८८) ने दर्शितमेवाग्रे शब्दों की विचित्र

व्याख्या की है, जिसके लिए अपनी स्वतन्त्र इच्छा के अतिरिक्त उनके पास कोई प्रमाण नहीं है। उनका कथन है—महामहोपाध्याय काणे ने वृत्तिकार द्वारा भविष्यत् काल के प्रयोग का अर्थ वैयक्तिक अनेकता निकाला है, किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि तत्कालीन शैली के अनुसार वृत्तिकार द्वारा अपने-आपको कारिकाकार से भिन्न व्यक्ति के रूप में प्रदर्शित किया जाना आवश्यक है। विद्वान् डा० महोदय यह किस आधार पर कह रहे हैं। वृत्तिकार अपने लिये अन्य पुरुष का प्रयोग कर सकता है किन्तु ऐसा नियम नहीं है। डा० मुकर्जी की एकमात्र यही युक्ति है कि यदि सूत्र अथवा मूलकारिकाओं का रचयिता स्वयं ही वृत्तिकार है तो उसे मूल तथा वृत्ति में भेद प्रकट करने के लिए विभिन्न पुरुषों का प्रयोग करना चाहिए। यह उस समय की शैली थी (डा० बी० सी० ला अभिनन्दन-ग्रन्थ भाग १, पृ० १८०–१८२)। उनकी दूसरी युक्ति यह है कि टीकाकार को मूल में आये हुए विषयों की ही व्याख्या करनी चाहिए, उसमें कोई नई बात नहीं रखनी चाहिए, ऐसा करना परम्परा के विरुद्ध है। यह एक प्रकार का दोष है जिसे उत्सूत्र व्याख्यान कहा जाता है। पृ० १८१ पर उन्होंने स्वीकार किया है कि जहाँ सूत्र कारिकाओं का रचयिता एक ही रहा है वहाँ इस नियम का विधिवत् पालन नहीं किया गया। यदि कुछ समय के लिए उपरोक्त नियम को मान लिया जाय तो भी समझ में नहीं आता कि० डा० मुकर्जी ने बी० सी० ला अभिनन्दन-ग्रन्थ भाग १, पृ० १८२ पर कैसे लिखा कि—पुस्तक के मूलपाठ अथवा टीकाओं में किसी ऐसे उल्लेख या निर्देश का मिलना कि जिससे मूलकार तथा वृत्तिकार की एकता का खण्डन अथवा मण्डन हो, दोष है और प्राचीन शैली के विरुद्ध है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि इस प्रकार का कोई नियम नहीं है जहाँ टीकाकार को सूत्रकार अथवा कारिकाकार तथा वृत्तिकार में परस्पर भेद अथवा अभेद बताने की मनाही हो या कहीं पर इस कल्पित नियम के अतिक्रमण की निन्दा हो। डा० मुकर्जी इस बात को भूल गये हैं कि ध्वन्यालोक के १०० वर्ष पहले वामन ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि सूत्र तथा वृत्ति दोनों उसने रचे हैं। हेमचन्द्र ने भी ऐसा ही किया है। कौटिल्य अर्थशास्त्र के अन्त में नीचे लिखे सुपरिचित शब्द हैं—स्वयमेव विष्णुगुप्तश्चकार सूत्रं च भाष्यं च। अतः ऐसा कोई निषेध नहीं है कि ग्रन्थकार को ऐसी घोषणा नहीं करनी चाहिए कि मूल तथा वृत्ति दोनों उसकी रचनायें हैं तथा वृत्ति में अन्य पुरुष के रूप में भी अपना उल्लेख नहीं करना चाहिए। अभिनव सरीखे तटस्थ लेखक के लिए भी यह निषेध क्यों हो कि उसे कहीं भी मूलकार तथा वृत्तिकार का भेद या अभेद, जो कुछ भी हो, नहीं प्रकट करना चाहिए। उपरोक्त

दोनों विद्वानों ने उत्सूत्र व्याख्यान शब्द को लेकर मन-घड़न्त वातें कहीं हैं और उसी अत्यन्त दुर्बल आधार को लेकर विचित्र सिद्धान्त स्थापित करने का प्रयत्न किया है। समझ में नहीं आता कि कृष्णमूर्त्ति (इ० हि० क्वा० भाग २४, पृ० १८७) निम्नलिखित निष्कर्ष पर कैसे पहुँचे--मूल पाठ तथा टीकाओं में ऐसा कोई प्रमाण भी नहीं है जिसमें एकता का समर्थन या खण्डन हो क्योंकि इस प्रकार का निर्देश निश्चित रूपेण प्राचीन शैली के विरुद्ध है (यह डा० मुकर्जी के उपरोक्त उद्धरण की नकल है)। अतः दोनों में भेद सिद्ध करने के लिए यदि कोई विश्वसनीय प्रमाण हो सकता है तो वह ग्रन्थ से बाह्य ही होगा। मैं इन मान्यताओं को निराधार तथा तर्कशून्य मानता हूँ। मेरी दृष्टि में शैली सम्बन्धी तथाकथित नियमों का कहीं अस्तित्व नहीं है उनकी स्वीकृति अथवा अस्वीकृति तटस्थ विद्वानों पर निर्भर है।

'उत्सूत्रव्याख्यान' का निषेध मुख्यतया व्याकरण में किया गया है जहाँ पाणिनी को अन्तिम अधिकारी मानकर सूत्र में अप्रयुक्त शब्दों का अध्याहार करना अनुचित समझा गया।[1] किन्तु भाष्य वार्तिक तथा वृत्तियों के पर्यालोचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्याख्याकारों ने मूलकार के प्रति आदर रखते हुए तथा अनुत्सूत्रव्याख्यान का शाब्दिक समर्थन करते हुए भी ऐसी व्याख्यायें की हैं जिनका किसी भी दृष्टि से सूत्र में समावेश नहीं होता। भाष्य कही जाने वाली व्याख्याओं का अधिकार वृत्ति से अधिक नहीं माना जा सकता। बृहदारण्यक पर शङ्कराचार्य के प्रसिद्ध भाष्य का नाम वृत्ति है।[2] शावरभाष्य (जैमिनिसूत्र १, ३, ४; ४, १, २) तथा कुमारिलकृत तन्त्रवार्तिक (१, ३, ५–७; १, ३, ८–९) में कहीं-कहीं एक ही सूत्र अथवा अधिकरण की तीन व्याख्यायें दी गई हैं। यह असम्भव है कि स्वयं सूत्रकार के तीन अभिप्राय हों। जैमिनी ने ऐसा कोई सूत्र नहीं रचा जिसमें आत्मा के अस्तित्व का निरूपण हो किन्तु शबर ने इस पर विस्तृत चर्चा की है। इस पर पद्मपाद ने अपनी पञ्चपादिका में लिखा है—विधिवृत्तमीमांसाभाष्यकारोऽपि उत्सूत्रमेवात्मसिद्धौ परिक्रान्तवान्

1. तुलना—शिशुपालवध २, ११२ अनुसूत्रपदन्यासा
2. तुलना—सुरेश्वरकृत बृहदारण्यक भाष्यवार्तिक,

या काण्वोपनिषच्छलेन सकलाम्नायार्थ संशोधिनीं
सञ्चक्रुर्गुरवोऽनुवृत्तगुरवो वृत्तिं सतां शान्तये।

प्रस्तावना, द्वितीय श्लोक

(मद्रास गवर्नमैण्ट लाइब्रेरी का हस्तलिखित ग्रन्थसंग्रह, पृ० १४८)। इसी प्रकार डा० कृष्णमूर्त्ति (पृ० १८५) ने कुल्लूक के कथन का उल्लेख करते हुए कहा है—आचार्य अपना मत प्रस्तुत करते समय उत्तम पुरुष के स्थान पर अन्य पुरुष का प्रयोग करते हैं। किन्तु ऐसी कोई बात नहीं है। मनुस्मृति के टीकाकार मेधातिथि ने (मनुस्मृ० १, ४, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, भाग १, पृ० ९०) इस प्रकार की आचार्य-परम्परा का उल्लेख किया है और कुल्लूक ने उसीका अनुकरण किया है किन्तु मैं पहले लिख चुका हूँ कि ऐसा नियम नहीं है, दे० याज्ञवल्क्यस्मृति १, ५६)। डा० पाण्डे ने अपने ग्रन्थ अभिनवगुप्त (पृ० १३४ टिप्पण) में काश्मीर की इस परम्परा का उल्लेख किया है जहाँ एक ही व्यक्ति सूत्र अथवा कारिका तथा वृत्ति की रचना करता है। डा० कृष्णमूर्त्ति ने उसी को अपना आधार बनाया है। इस बात से शायद ही किसी का मतभेद हो, कम-से-कम मेरा तो नहीं है। किन्तु यह सब अप्रासङ्गिक है। यह प्रश्न नहीं है कि एक ही व्यक्ति मूलकार तथा टीकाकार हो सकता है या नहीं। यहाँ ध्वन्यालोक का प्रश्न है। हमें यह विचार करना है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में मूल कारिकाओं के रचयिता तथा वृत्तिकार एक ही हैं अथवा भिन्न-भिन्न, तथा इस विषय में लोचन को क्या अभिप्रेत है। डा० कृष्णमूर्त्ति (पृ० १८७ टिप्पण) ने डा० मुकर्जी का अनुसरण करते हुए परम्परागत शैली का तर्क उपस्थित किया है। प्रस्तुत चर्चा का विषय एक ही व्यक्ति की दो रचानायें नहीं हैं किन्तु अभिनवगुप्त सरीखे विद्वान् टीकाकार का वक्तव्य है जिसके सामने कारिका तथा वृत्ति दोनों विद्यमान थे। परम्परा या शैली विषयक ऐसा कोई नियम नहीं है जहाँ टीकाकार को निषेध किया गया हो कि वह मूलकार तथा वृत्तिकार के परस्पर भेदाभेद के सम्बन्ध में कोई सङ्केत न करे। कुमारिलभट्ट सरीखे प्रसिद्ध टीकाकार तथा तन्त्रवार्तिक के रचयिता ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि जैमिनी के अमुक सूत्र निस्सार हैं।[1] सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वं यद् वृत्तौ यच्च वार्त्तिके (जैमिनिसू० २, ३, १६) का कुमारिल ने खण्डन किया है। निम्नलिखित उद्धरण में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि किन स्थितियों में टीकाकार को अपनी ओर से जोड़ने का अधिकार

1. अतः परं षट्सूत्राणि भाष्यकारेण न लिखितानि। तत्र व्याख्यातारो विवदन्ते। केचिदाहुर्विस्मृतानि।······फल्गुत्वादुपेक्षितानीत्यन्ये अनार्षेयत्वादित्यपरे। वृत्त्यन्तरकारैस्तु सर्वैर्व्याख्यातानि। सन्ति च जैमिनेरेवं प्रकाराण्यनत्यन्तसारभूतानि सूत्राणि। तन्त्रवार्तिक—जैमिनिसूत्र ३, ४, ९ पृ० ८९५ (आनन्दाश्रम संस्करण)।

है तथा कहाँ उसे सूत्र में अन्य शब्दों का अध्याहार नहीं करना चाहिए।[1] इस उद्धरण में स्पष्टरूप से कहा गया है कि शिष्य अथवा पाठक के समझने के लिए, जो आवश्यक हो, वृत्तिकार को वह अवश्य करना चाहिए। उत्सूत्रव्याख्यान का यही अर्थ है कि वृत्तिकार को स्वयं सूत्र में शब्दों का अध्याहार नहीं करना चाहिए। व्याख्या के रूप में वह स्पष्टीकरण कर सकता है। टीकाकार को यह कहने का पूर्ण अधिकार है कि सूत्र अस्पष्ट है अथवा उसमें प्रस्तुत विषय का उल्लेख नहीं है, (देखिये—शाबर भाष्य, जैमिनीयसूत्र विशये प्रायदर्शनात् २, ३, १६)। वह यह भी कह सकता है कि सूत्रकार ने अपना मत प्रस्तुत किया है और उपनिषत् के पाठविशेष पर ध्यान नहीं दिया (देखिये, ब्रह्मसूत्र ३, ४, १८ पर शाङ्कर-भाष्य)। साधारण दृष्टिपात से स्पष्ट हो जाता है कि सूत्र में सन्निहित साधारण आशय को लेकर व्यक्ति और भाष्य में पर्याप्त विस्तार किया जाता है और उसके लिए अनेक बातें जोड़ी जाती हैं। विषय का विवेचन करने के

---

1. सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वं (तत्सर्वं ?) यद् वृत्तौ यच्च वार्तिके।
 सूत्रं योनिरिहार्थानां सर्वं सूत्रे प्रतिष्ठितम्॥

इति ये वदन्ति तान्प्रत्युच्यते। न किञ्चित्साधनमप्रदर्शितविषयं स्वार्थं साधयति। सूत्रकारेण चेह हेतुमात्रमुपात्तम्। न चार्थप्रकरणादिभिरप्युदाहरणप्रतिज्ञा संशय-हेतूनामन्यतममुपलभ्यते। तस्मादगमके सूत्रे सति अवश्यं दोषप्रतिसमाधानार्थं वृत्तिकारादिभिर्यतितव्यम्। सत्येव सम्भवेऽध्याहारादिवर्जनमुक्तम्। **सर्वथा शिष्यप्रज्ञासंस्कारे सूत्रकारादीनां प्रवर्तमानानां येनैव तदनुगुणं यत्कृतं तदेव ग्रहीतव्यं नासद्ग्रहः कर्त्तव्यः।**

इदं सूत्रकारेण नोपात्तमिदं वृत्तिकारेणैतत्प्रदर्शनार्थमेतद्वर्णयन्ति। डा० मुकर्जी (ब्री० सी० ला अभिनन्दन-ग्रन्थ, भाग १, पृ० १८०) ने नागेश का उल्लेख किया है जिसने उपरोक्त कारिका का केवल पूर्वार्ध उद्धृत किया है। उन्हें तन्त्रवार्तिक का अवलोकन करना चाहिए जहाँ प्रस्तुत श्लोक आया है और वह कुमारिल का नहीं किन्तु दूसरों का है। कुमारिल ने तो इसका खण्डन किया है। न्यायसुधा (चौ० सं० सी० पृ० ९३२) ने 'सर्वथा शिष्य······नासद्ग्रहः कर्त्तव्यः' शब्दों की निम्नलिखित व्याख्या की है—

भाष्यं व्याचष्टे सर्वथेति। युक्तिगम्येऽर्थे पुरुषविशेषस्यानादरणीयत्वाद्यु-क्तियुक्तं यद्वृत्तिकारादिभिरुक्तं तत्सूत्रकारानुपात्तत्वान्न ग्राह्यमित्यसदाग्रहो न कार्य इत्याशयः।

लिए अनेक ऐसे तथ्य लिखे जाते हैं जो सूत्र द्वारा साक्षात् या परम्परया किसी भी रूप में प्रकट नहीं होते। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। अंशो नाना व्यपदेशात् (ब्रह्मसूत्र २, ३, ४३) सूत्र की शङ्कराचार्य ने अंश इव व्याख्या की है। अन्य टीकाकारों ने नया शब्द विना जोड़े ही सूत्र की व्याख्या की है और शङ्कराचार्य का खण्डन किया है कि उन्होंने अपने अद्वैतसिद्धान्त की पुष्टि के लिए नया शब्द जोड़ दिया। डा० पाण्डे ने अपने अभिनवगुप्त पृ० १३३ पर स्वीकार किया है—इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि वृत्ति में पर्याप्त विस्तार, परिष्कार तथा सुधार किया गया है जो कारिकाओं से प्रकट नहीं होता किन्तु यह परिवर्धन कारिकाओं के भावों को स्पष्ट करने के उद्देश्य से किया गया है क्योंकि टीका का यही एकमात्र प्रयोजन है। डा० कृष्णमूर्त्ति (इ० हि० क्वा० भाग २४, पृ० ३०१) ने भी इसे स्वीकार किया है।

किन्तु यदि वृत्ति स्वयं सूत्रकार की रचना है तो 'उत्सूत्रव्याख्यान' का प्रश्न ही नहीं खड़ा होता। ग्रन्थकार स्पष्ट शब्दों में कह सकते हैं कि मेरा सूत्र संक्षिप्त है और विषय को स्पष्ट करने के लिए विस्तार करना अथवा कुछ बातें जोड़नी आवश्यक हैं। वे वृत्ति में यह भी कह सकते हैं कि सूत्र में जो मत प्रकट किया गया है वह केवल प्राचीन आचार्यों का अभिप्राय है मेरा निजी मत इससे भिन्न है। इस विषय में एक-दो उदाहरण देना अनुपयुक्त न होगा। अलङ्कारसंग्रह में अर्थान्तरन्यास की व्याख्या इस प्रकार है—सामान्य विशेषभावकार्यकारणभावाभ्यां निर्दिष्टप्रकृतसमर्थनमर्थान्तरन्यासः (पृ० १०९) तथा काव्यलिङ्ग की—हेतोर्वाक्यपदार्थता काव्यलिङ्गम् (पृ० १४३)। किन्तु पृ० १४८ पर वृत्ति में सर्वस्वकार का कथन है—ततश्च सामान्यविशेषभावोऽर्थान्तरन्यासस्य विषय; यत्पुनरर्थान्तरन्यासस्य कार्यकारणगतत्वेन समर्थकत्वमुक्तं तदुक्तलक्षणकाव्यलिङ्गमनाश्रित्य। तद्विषयत्वेन लक्षणान्तरस्यौद्भटैरनाश्रितत्वात्० इत्यादि। यहां सर्वस्वकार ने स्पष्टतया स्वीकार किया है कि उसने अर्थान्तरन्यास का लक्षण देते समय अपने काव्यलिङ्ग के लक्षण का ध्यान नहीं रखा। इसका अर्थ है वृत्तिकार ने सूत्र में दिये गये अपने मत का परित्याग कर दिया। मम्मट ने ध्वनि-परम्परा का समर्थक होने पर भी प्राचीन परम्परा का अनुसरण करके काव्य का लक्षण तददोषौ किया। यदि एक वृत्तिकार स्वविरचित सूत्रों से ही मतभेद प्रकट कर सकता है और ऐसा करके किसी शैली या परम्परा पर आघात नहीं करता तो स्वतन्त्र टीकाकार को इन नियमों में बाँधना कि वह उत्सूत्र नहीं लिख सकता तथा सूत्रकार एवं वृत्तिकार के भेदाभेद की चर्चा नहीं कर

सकता अथवा ऐसा कोई संकेत भी नहीं कर सकता जिससे वह प्रकट हो, निराधार है। मेरा डा० पाण्डे, डा० मुकर्जी और डा० कृष्णमूर्त्ति से अनुरोध है कि वे आठ या उससे कम ही सही, कुछ उद्धरण प्रस्तुत करें जहाँ कारिकाकार और वृत्तिकार के मत में परस्पर विरोध हो तथा जहाँ यह वताया गया हो कि दोनों का कर्त्ता एक ही है और उसका समय नवम या दशम शताब्दी है तथा जहाँ टीकाकार भिन्न व्यक्ति हो और विरोध प्रकट कर रहा हो। उनका कथन है कि नवम शताब्दी में काशमीर की यह परम्परा रही है जहाँ एक ही विद्वान् मूलकारिकाओं की रचना करता है और स्वयं ही उस पर वृत्ति लिखता है। अतः उन्हें ऐसे उदाहरण उपस्थित करने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए जहाँ मूलकार तथा वृत्तिकार एक ही हो और उस पर स्वतन्त्र टीका हो। डा० पाण्डे (अभिनवगुप्त पृ० १३५) ने उल्लेख किया है कि अभिनवगुप्त के परम गुरु उत्पलदेव ने स्वयं ही ईश्वरप्रत्यभिज्ञा नामक कारिकावद्ध ग्रन्थ की रचना की और उस पर वृत्ति भी स्वयं ही लिखी थी। साथ ही डा० पाण्डे ने वताया है कि अभिनवगुप्त ने अपनी विमर्शिनी नामक टीका में कहीं यह संकेत नहीं किया कि कारिकाकार और वृत्तिकार एक ही हैं। परिणामस्वरूप अनजान व्यक्ति को इन दोनों में परस्पर भेद का भ्रम हो सकता है। मेरा अनुमान है कि डा० पाण्डे ने ध्वन्यालोक के कारिकाकार एवं वृत्तिकार में एकता स्थापित करने के लिए उपरोक्त वात तुलना के रूप में उपस्थित की है। इस तुलना में कोई सार नहीं है। इसके विपरीत, इससे यह प्रकट होता है कि अभिनवगुप्त ध्वन्यालोक के कारिका तथा वृत्तिकार को एक नहीं मानते थे इसीलिए वैसा उल्लेख कर दिया। डा० मुकर्जी तथा डा० कृष्णमूर्त्ति ने शैली या परम्परा को लेकर जो तर्कजाल खड़ा किया है वह भी इससे छिन्न-भिन्न हो जाता है। अभिनवगुप्त ने अपने प्रस्तावना श्लोक सं० ५ की विमर्शिनी (पृ० ३) में स्पष्टरूप से कहा है कि ईश्वरप्रत्यभिज्ञा के रचयिता उत्पलदेव ने स्वयं ही सूत्र अर्थात् कारिकाओं की रचना की और उनका आशय प्रकट करने के लिए स्वयं ही वृत्ति रची एवं कारिकाओं में प्रतिपादित सिद्धान्तों की चर्चा के लिए एक टीका भी लिखी (वृत्त्या तात्पर्यटीकया तद्विचारः सूत्रेस्वेतेषु ग्रन्थकारेण दृब्धम्)। इससे अधिक स्पष्टोक्ति नहीं हो सकती। कारिकाकार तथा वृत्तिकार का अभेद प्रदर्शन करते समय अभिनवगुप्त के सामने परम्परा सम्बन्धी कोई निषेध उपस्थित नहीं हुआ। इसी वात को ध्वन्यालोक के सम्वन्ध में स्वीकार करते समय प्रश्न हो सकता है— लोचन अथवा अभिनवगुप्त ने प्रारम्भ में ही यह क्यों नहीं कहा कि कारिकाकार और वृत्तिकार एक ही हैं (जैसाकि विमर्शिनी में अभिनवगुप्त ने किया है) वे

इस विषय में चुप क्यों रहे? और पाठकों को लोचन के शब्दों पर विविध प्रकार के तर्क करने, अनुमान लगाने एवं विवादों में उलझने के लिए क्यों छोड़ दिया? एक अन्य बात भी है। अभिनवगुप्त ने जब एक बार कारिका, वृत्ति तथा टीका को एक ही व्यक्ति की रचना बता दिया तो उसी बात को बार-बार दोहराने की क्या आवश्यकता थी? अभिनवगुप्त ने सोचा होगा कि ईश्वरप्रत्यभिज्ञा दर्शन के जिज्ञासु अल्पसंख्यक होने पर भी अध्ययन एवं मननशील अवश्य होंगे। उन्हें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि प्रारम्भ में क्या कहा गया है। उन्होंने यह नहीं सोचा कि बीसवीं शताब्दी के अनुशीलक तथा निबन्ध लेखक उसके ग्रन्थों एवं शब्दों को किस प्रकार ग्रहण करेंगे। डा० कृष्णमूर्त्ति ने डा० पाण्डे द्वारा उद्धृत शब्दों को देखकर इच्छानुसार लिख दिया है (इ० हि० क्वा० भाग २४, पृ० १८६), मूल ग्रन्थ को देखने का कष्ट नहीं किया और डा० पाण्डे द्वारा प्रस्तुत तर्कों के सत्यासत्य की जाँच नहीं की। यह पता नहीं लगाया कि प्रस्तुत प्रश्न का निर्णय करने के लिए उनका उपयोग कहाँ तक है?

मैंने जो आठ उद्धरण दिये हैं, डा० भट्टाचार्य ने उनमें से एक का उल्लेख किया है यथा—पृ० १४९, प्राचीन संस्करण पृ० १२१, जहाँ वृत्तिकार ने यतश्च० आदि लिखा है और जिस पर लोचन का कथन है—उक्तमेव ध्वनिस्वरूपं तदाभासविवेकहेतुतया कारिकाकारोऽनुवदतीत्यभिप्रायेण वृत्तिकृदुपस्कारं ददाति। यतश्चेति। और कहा है—यह समझ में नहीं आता कि यदि कारिकाकार और वृत्तिकार एक हैं तो लोचन ने वृत्तिकार के शब्दों को उपस्कार क्यों कहा? जबकि वे कारिकाकार के अपने ही शब्द हैं।

ध्वन्यालोक की कारिकाओं के प्रारम्भ में प्रकटतः कोई मङ्गल नहीं है जबकि वृत्ति के प्रारम्भ में मङ्गल श्लोक विद्यमान है। म० म० कुप्पुस्वामी शास्त्री (उपलोचन, पृ० ११) तथा डा० पाण्डे (अभिनवगुप्त, पृ० १३५-१३६) ने इस बात को अत्यधिक महत्त्व दिया है और इस आधार पर दोनों की एकता सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इस तर्क के विरुद्ध अनेक प्रमाण हैं। पहली बात यह है कि प्राचीन लेखकों ने ग्रन्थ के आदि में मङ्गलाचरण की प्रथा का सर्वत्र पालन नहीं किया। उदाहरण के रूप में नीचे लिखे ग्रन्थकारों ने अपनी रचना के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण नहीं किया—

१. शबर—जैमिनीय सूत्रों पर भाष्य
२. शङ्कराचार्य—ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य
३. वात्सायन—न्यायसूत्रों पर भाष्य

४. उद्योतकर—न्यायवार्तिक पर भाष्य

५. मण्डनमिश्र—विधिविवेक पर भाष्य

यहाँ केवल प्राचीन विशिष्ट लेखकों को लिया गया है। जहाँ एक ही ग्रन्थकार ने सूत्र अथवा कारिका तथा वृत्ति की रचना की है—मङ्गल के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की परम्परायें हैं। वामन ने सूत्रों के प्रारम्भ में कोई मङ्गल नहीं किया केवल वृत्ति के प्रारम्भ में किया है। मम्मट ने काव्यप्रकाश की कारिकाओं के प्रारम्भ में मङ्गल किया है किन्तु वृत्ति के प्रारम्भ में नहीं किया। उद्भट ने अपने काव्यालङ्कार के प्रारम्भ में कोई मङ्गल नहीं किया। अलङ्कारसर्वस्व में सूत्रों के प्रारम्भ में कोई मङ्गल नहीं है किन्तु वृत्ति के प्रारम्भ में किया गया है। हेमचन्द्र ने सूत्र तथा अलङ्कारचूडामणि नामक वृत्ति दोनों के प्रारम्भ में मङ्गल किया है। इसके लिए कोई शैली भी निश्चित नहीं है। पाणिनी ने अपने प्रथम सूत्र के प्रारम्भ में वृद्धि शब्द का प्रयोग करके मङ्गल का कार्य पूरा कर दिया है। महाभाष्य के प्रारम्भ में 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्त्रे' आदि वार्त्तिक हैं वहाँ सिद्ध शब्द के प्रयोग द्वारा मङ्गल का कार्य पूरा हो गया। इसी प्रकार प्रथम कारिका के काव्यस्यात्मा आदि शब्द मङ्गलवाची हो सकते हैं जहाँ ध्वनि के रूप में शब्द ब्रह्म अथवा सरस्वती का आह्वान किया गया है। लोचनकार के कथनानुसार उसके दो तत्त्व हैं—१. कवि और २. सहृदय (सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयतात्)।

डा० कृष्णमूर्त्ति ने मुकुलभट्ट तथा प्रतीहारेन्दुराज के तीन उद्धरण (जिन्हें मैं अपने पिछले संस्करण में दे चुका हूँ) प्रस्तुत करते हुए कहा है—प्रस्तुत प्रमाण इस बात को सिद्ध करने के लिए सर्वथा असमर्थ हैं कि ध्वनि के सिद्धान्त को सर्वप्रथम किसी सहृदय मण्डल ने प्रस्तुत किया। उनका तर्क है कि सहृदयैः शब्द से ध्वन्यालोक के रचयिता भी लिया जा सकता है। मैंने यह कहीं नहीं कहा कि किसी सहृदय मण्डल ने कारिकाओं की रचना की है। किन्तु पृ० १९५ पर उनकी समझ में नहीं आया कि मुकुलभट्ट और प्रतीहारेन्दुराज विरोधी परम्परा से सम्बन्ध रखने वाले ग्रन्थकार के प्रति इतना सम्मान क्यों प्रदर्शित कर रहे हैं? उपसंहार करते हुए उन्होंने कहा है—यद्यपि सहृदय शब्द से आनन्दवर्धन को भी लिया जा सकता है किन्तु एकमात्र उसीको नहीं। मुख्यतया इसका अर्थ आनन्दवर्धन का पूर्ववर्ती सहृदय मण्डल है।

साधारण परम्परा यह है कि प्राचीन ग्रन्थकारों का उल्लेख एकवचन में किया जाता है किन्तु समकालीन वृद्धों तथा सद्यः पूर्ववर्त्तियों का उल्लेख बहुवचन में मिलता है। उदाहरणस्वरूप मम्मद ने भरत, (जिसे पुराण मुनि कहा है),

रुद्रट (जिसके श्लोक उसने सबसे अधिक संख्या में उद्धृत किये हैं) तथा ध्वनिकार का उल्लेख एकवचन में किया है। जबकि भरतनाट्यशास्त्र तथा ध्वन्यालोक के टीकाकार अभिनवगुप्त का उल्लेख बहुवचन में किया है। शङ्कराचार्य ने भगवान् उपवर्ष तथा आचार्य शबर का उल्लेख एकवचन में किया है। मुकुल,जैसाकि आगे बताया जायेगा, आनन्दवर्धन के लघुवयस्क समकालीन थे। उन्होंने आनन्दवर्धन के गुरु (यदि उनका नाम सहृदय था) का उल्लेख उपरोक्त नियम के अनुसार बहुवचन में किया है। स्वयं ध्वनिकार ने उद्भट तथा अन्य आचार्यों के प्रति सम्मान प्रदर्शित किया है और उनके बहुवचन प्रयुक्त किया है। जिनसे काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में उनका मतभेद था (दे० वृत्ति २, २७ तत्र-भवद्भि रुद्भटादिभिः) क्योंकि उद्भट समय की दृष्टि से अत्यन्त निकट थे। मैं डा० कृष्णमूर्त्ति के इस प्रस्ताव को मानने के लिए तैयार नहीं हूँ कि आनन्दवर्धन से पहले सहृदय मण्डल द्वारा ध्वनि-सिद्धान्त प्रस्तुत किया जा चुका था। इस प्रकार के क्रान्तिकारी सिद्धान्त कारिकाओं के रूप में किसी मण्डल द्वारा नहीं किन्तु व्यक्ति द्वारा गुम्फित किये जाते हैं। 'ध्वनेर्नूतनतयोपवर्णितस्य' मुकुल के इन शब्दों से कोई सन्देह नहीं रह जाता कि ग्रन्थ की रचना को अधिक समय नहीं हुआ। प्रतीहारेन्दुराज मुकुल के शिष्य थे अतः उन्होंने भी अपने गुरु का अनुसरण करते हुए बहुवचन सहृदयैः का प्रयोग किया। उसके 'काव्यजीवितभूतः' शब्दों में स्पष्टतया काव्यस्यात्मा (ध्व०, प्रथम कारिका) का सङ्केत है।

डा० कृष्णमूर्त्ति[1] ने पृ० १८२–१८३ पर जो तीन उद्धरण दिये हैं उनकी व्याख्या अन्य प्रकार से भी हो सकती है। पहली बात यह है कि वृत्ति जिस कारिका की व्याख्या करती है वह उसीका अंश बन जाती है। व्याख्याय तथा निरूप्य शब्दों का सम्बन्ध वृत्तिकार के साथ कर्त्ता के रूप में है तथा आह शब्द के साथ प्रधान क्रिया के रूप में। क्योंकि वृत्तिकार ने असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य की चर्चा प्रारम्भ करते समय 'यस्तु (३, २) शब्द द्वारा कारिका उद्धृत की है।

---

1. उनमें से दो पाठ इस प्रकार है—

(क) एवं कारिकां व्याख्याय तदसंगृहीतमलक्ष्यक्रमव्यंग्यं प्रपञ्चयितुमाह यस्त्विति। लोचन पृ० १५९।

(ख) एवं व्यंग्यस्वरूपं निरूप्य सर्वथा यत्तच्छून्यं तत्र का वार्तेति निरूपयितुमाह प्रधानेत्यादिना कारिकाद्वयेन। लोचन पृ० २७५ (प्राचीन संस्करण पृ० २१९–२२०)।

लोचन (पृ० २७५) एवं व्यंग्यस्वरूपम् इत्यादि शब्दों के सम्बन्ध में भी वही बात है। दूसरी बात यह है कि यह कोई नियम नहीं है कि ल्यवन्त का कर्त्ता तथा वाक्य की प्रधान क्रिया का कर्त्ता एक ही होना चाहिए। कालिदास तथा भारवि सरीखे महाकवियों ने भी इस नियम का पालन नहीं किया। देखिये—

अवजानासि मां यस्मादतस्ते न भविष्यति।
मत्प्रसूतिमनाराध्य प्रजेति त्वां शशाप सा।।[1]

तथा किरातार्जुनीय ३, २१।

तीसरी बात यह है कि प्रस्तुत दो उद्धरणों में एकता का ऐसा स्पष्ट प्रतिपादन नहीं है जैसा मेरे द्वारा प्रस्तुत (ऊपर पृ० २०९) आठ उद्धरणों की भिन्नता का है। अन्त में, यह स्मरण रखना चाहिए कि कारिकाकार और वृत्तिकार को, जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है, अभिनवगुप्त से पहले ही एक मान लिया जा चुका था। अतः अभिनव ने उनका यत्र-तत्र उल्लेख करते समय उन्हें परस्पर भिन्न नहीं समझा। इस बात के लिए अनेक टीकाओं का उदाहरण दिया जा सकता है; जहाँ टीकाकार ने मूलकार के भिन्न होने पर भी टीका में मूल पाठ की अन्विति करते समय उत्तम पुरुष का प्रयोग किया है। ब्रह्मसूत्र पर शंकराचार्य का निम्नलिखित उदाहरण इसी तथ्य को प्रकट करता है—सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् (ब्रह्मसूत्र ३, ४, ४७)।

तस्माद् ब्राह्मण इति प्रशंसावादस्तथैवाथ मुनिरित्यपि भवितुमर्हति समाननिर्देशत्वादिति। एवं प्राप्ते ब्रूमः सहकार्यन्तरविधिरिति।

—(शाङ्करभाष्य)

एक अन्य उदाहरण स्वयं लोचन से प्रस्तुत किया जा सकता है—अथोच्यते दृष्टैव झटिति तात्पर्यप्रतिपत्तिः किमत्र कुर्म इति तदिदं वयमपि नाङ्गीकुर्मः। यद्वस्यामः—तद्वत्सचेतसां सोर्थो वाच्यार्थं विमुखात्मनाम्। बुद्धौ तत्त्वावभासिन्यां झटित्येवावभासते।। (लोचन पृ० २२) यह द्वितीय अध्याय की बारहवीं कारिका है।

आनन्दवर्धन को कारिका एवं वृत्ति दोनों का रचयिता सिद्ध करने के लिए अभिनवभारती का जो उद्धरण (दे० नीचे लिखा टिप्पण) प्रस्तुत किया जाता

1. आराधनस्य राजा कर्त्ता भवनस्य प्रजेति।

है उसके सम्बन्ध में कई बातें विचारणीय हैं। ध्वन्यालोक की व्याख्या के लिए अभिनवगुप्त के गुरु इन्दुराज थे। उनके स्पष्टीकरणों को अभिनवगुप्त ने अक्षरशः स्वीकार किया है (देखिये, लोचन पृ० ४४, २२७)। अभिनवभारती की रचना लोचन के कुछ काल पश्चात् हुई थी (दे० टिप्पणी)[1]। अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र का अध्ययन भट्टतौत से किया था। उन्होंने काव्यकौतुक नामक ग्रन्थ की रचना की है, इस पर अभिनवगुप्त ने विवरण लिखा है।[2] भट्टतौत, उनके प्रति अभिनवगुप्त के सम्मान प्रदर्शन तथा अन्य आलङ्कारिकों की अपेक्षा उनके

---

1. भरतनाट्यशास्त्र (अध्याय ७, भाग १, पृ० ३४४) पर अपनी टीका लिखते हुए अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक पर सहृदयालोक लोचन नामक स्वरचित टीका का उल्लेख किया है—स्वशब्दानाभिधेयत्वं हि रसादीनां ध्वनिकारादिभिर्दर्शितम्। तच्च मदीयादेव तद्विवरणात् सहृदयालोकलोचनादवधारणीयमिह तु यथावसरं वक्ष्यत एव। अभिनवगुप्त ने भरतनाट्यशास्त्र (१६, ५ भाग २, पृ० २९९–३००) की टीका में पुनः कहा है—एतमेवार्थं सम्यगानन्दवर्धनाचार्योपि विविच्य न्यरूपयत्। ध्वन्यात्मभूते (ध्व० २, २१) इत्युक्त्वा क्रमेण 'विवक्षा तत्परत्वेन, (ध्व० २, २२) इत्यादिना ग्रन्थसन्दर्भेण सोदाहरणेन। तच्चास्माभिः सहृदयालोकलोचने तद्विवरणे विस्तरतो व्याख्यातमिति। राघवभट्ट के नीचे लिखे कथन तथा कुछ हस्तलिखित प्रतियों की पुष्पिकाओं के अनुसार ग्रन्थ का नाम सहृदयहृदयालोक होना चाहिए। सम्भवतया मूल नाम यही था इसका अर्थ है—सहृदय जन के हृदय का प्रकाश अथवा आशय। इस अर्थापत्ति से भी कारिकाओं के कर्त्ता का नाम सहृदय सिद्ध होता है। अभिनवभारती के उद्धरणों से प्रतीत होता है कि कुछ काल बीतने पर हृदय शब्द लुप्त हो गया और ग्रन्थ का नाम केवल सहृदयालोक रह गया। प्रथम अध्याय की नवम कारिका में आलोक शब्द का अर्थ प्रकाश किया गया है—आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवाञ्जनः (ध्वनिका० १, ९) तथा द्वितीय अध्याय की चौदहवीं कारिका में उसका अर्थ सम्यग्ज्ञान या अवबोध किया गया है—बुद्धिरासादितालोका सर्वत्रैव भविष्यति (ध्वनिका० २, १४) इस पर लोचन की व्याख्या है—आसादितः आलोकः अवगमः सम्यग्व्युत्पत्तिर्यया (पृ० ८४)।

2. अभिनव ने इसकी रचना लोचन से भी पहले की थी। देखिए, पृ० २२१—स चास्मदुपाध्यायभट्टतौतेन काव्यकौतुके, अस्माभिश्च तद्विवरणे बहुतरकृतनिर्णयः इत्यादि।

मत के अधिक स्वीकार के लिए देखिये, अभिनवभारती का तृतीय प्रस्तावना श्लोक — सद्विप्रतोतवदनोदितनाट्यवेदतत्त्वार्थमर्थिजनवाञ्छितसिद्धिहेतोः । माहेश्वराभिनवगुप्तपदप्रतिष्ठः संक्षिप्तवृत्तिविधिना विशदीकरोति तथा अभिनवभारती के द्वितीय भाग के पृ० ३, २९२–९३; प्रथम भाग का पृ० ३१०; पृ० ६७; २१६, ३९५, ४२३, ४४०–४४१ तथा पृ० ७८ जहाँ भट्टतौत की रस, अभिनय आदि से सम्बन्ध रखने वाली ६ कारिकायें उद्धृत हैं। अभिनवभारती भाग ३ का पृ० ८२ द्विजवरतोतनिरूपितसन्ध्यध्यायार्थतत्त्वघटनेयम् । अभिनवगुप्तेन कृता शिवचरणाम्भोजमधुपेन । अभिनवभारती भाग ३, पृ० ३, १०, १९, ४७ तथा १६३ पर उपाध्यायाः शब्द से तथा पृ० ७१ पर (जहाँ दो श्लोक उद्धृत हैं) उपाध्यायपादाः शब्द से भट्टतौत का निर्देश है। अतः बहुत सम्भव है कि अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में ध्वनिकारिका तथा वृत्ति के रचयिताओं के सम्बन्ध में अपने गुरु का ही मत प्रस्तुत कर दिया हो। ध्वनिकार के चिर-पश्चात् होने वाले आलङ्कारिकों द्वारा कारिकाकार तथा वृत्तिकार की एकता का प्रतिपादन, जैसाकि मैं बता चुका हूँ, विशेष महत्त्व नहीं रखता। विशेषतया उस स्थिति में जबकि उसके समकालीन तथा आसन्न उत्तरवर्ती ग्रन्थकार विपरीत मत प्रकट कर रहे हों तथा इसके लिए अन्य युक्तियाँ भी हों। सत्य का निर्णय बहुमत के आधार पर नहीं होता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि बहुमत का विश्वास सदा सत्य पर ही आधारित होता है।

कुछ पंक्तियों के पश्चात् जो पाठ दिया जा रहा है उसमें सता शब्द आया है। डा० मुकर्जी ने आक्षेप किया है कि मैंने उस पर ध्यान नहीं दिया। उन्होंने इन शब्दों का अर्थ मेरे (वृत्तिकार) द्वारा किया है। यह अर्थ तभी उपयुक्त हो सकता है जब पहले से ही कारिकाकार तथा वृत्तिकार को एक मान लिया जाय। किन्तु यह समाधान दोषपूर्ण है। 'अधिकार' का द्योतक कोई शब्द नहीं है। शाब्दिक अनुवाद है। मैं जो वृत्तिकार हूँ उसके द्वारा। किन्तु यदि खुले मस्तिष्क से सम्मतमेव पर्यन्त सारे पाठ का आलोडन किया जाय तो सर्वथा विपरीत निष्कर्ष निकलेगा, जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है। इस प्रकार 'सता' तथा अन्य समस्त शब्दों की समुचित व्याख्या हो सकती है। लोचन के अनुसार वृत्तिकार का अभिप्राय है मुझ वृत्तिकार ने ध्वनि के मुख्य दो विभाजन किये हैं। यह अर्थ उत्सूत्र अर्थात् मेरी स्वतन्त्र कल्पना नहीं है। किन्तु मैंने जो कुछ कहा है वह कारिकाकार के शब्दों से अभिव्यक्त होता है। लोचन ने ध्वन्यालोक के प्रारम्भ में वृत्ति के शब्दों की जो व्याख्या की है (ध्व० २, १–एवमपि···ध्वनिर्द्विप्रकारः प्रकाशितः) डा० मुकर्जी (बी० सी० लॉ अभिनन्दन-

ग्रन्थ भाग १, पृ० १८४ टिप्पण संख्या ७) तथा डा० कृष्णमूर्त्ति (इ० हि० क्वा० भाग २४, पृ० १८८–१८९) ने उस पर बहुत बल दिया है, अब हम उस पर विचार करेंगे। उन्होंने बनारस संस्करण के पृ० १६५ से जो उद्धरण लिया है वह इस प्रकार है:—मया वृत्तिकारेण सतेति भावः। न चैतन्मयोत्सूत्रमुक्तमपि तु कारिकाकाराभिप्रायेणेत्याह तत्रेति।···भवति मूलतो द्विभेदत्वं कारिकाकार-स्यापि सम्मतमेवेति भावः।' मैं नहीं जानता कि बनारस संस्करण किस हस्त-लिखित प्रति पर आश्रित है। उसमें आधारभूत हस्तलिखित प्रति उसके स्रोत तथा समय आदि के विषय में कुछ नहीं कहा गया। काव्यमाला संस्करण (पृ० ७३, १९३५ ई०) तीन हस्तलिखित प्रतियों पर आधारित है उसमें उत्सूत्र शब्द नहीं है। सम्पादक ने इसके विषय में कोई टिप्पण भी नहीं दिया। वृत्ति के सम्मतमेव तथा अभिप्रायेण शब्दों से जो प्रकट होता है मैं उसकी चर्चा कर चुका हूँ (दे० ऊपर पृ० २२६)। डा० मुकर्जी (बी० सी० लॉ अभिनन्दन-ग्रन्थ भाग १, पृ० १८५–१८६) ने तृतीय उद्योत में प्रस्तावना श्लोक की वृत्ति के एक पाठ को आधार मान लिया है और लोचनकार के उन शब्दों की चर्चा प्रारम्भ कर दी है जहाँ उसने चन्द्रिकाकार का निर्देश किया है। इस पर सम्यक् विचार की आवश्यकता है। आगे चलकर लोचन के कई पाठ प्रस्तुत किये जायेंगे जहाँ अभिनवगुप्त ने चन्द्रिकाकार का उल्लेख या खण्डन किया है। चन्द्रिकाकार अभिनवगुप्त के ही पूर्वज हैं और उससे एक या दो पीढ़ी पहले हुए थे। पृ० १५० पर अभिनवगुप्त ने चन्द्रिकाकार द्वारा प्रस्तुत वृत्ति के कुछ शब्दों की व्याख्या को संक्षेप में उपस्थित किया है। तृतीय उद्योत के प्रारम्भ में वृत्ति इस प्रकार है—एवं व्यंग्यमुखेनैव ध्वनेः प्रदर्शिते सप्रभेदे स्वरूपे पुनर्व्यञ्जक-मुखेन तत्प्रकाश्यते। इसके पश्चात् अविवक्षितवाच्यस्य आदि कारिका है। इस पर लोचन का पाठ निम्नलिखित है––

यस्तु व्याचष्टे व्यंग्यानां वस्त्वलङ्कारसानां मुखेन इति स एवं प्रष्टव्यः। एतत्तावत् त्रिभेदत्वं न कारिकाकारेण कृतं वृत्तिकारेण तु दर्शितम्। न चेदानीं वृत्तिकारो भेदप्रकटनं करोति। ततश्चेदं कृतमिदं क्रियते इति कर्तृभेदे का सङ्गतिः। न चैतावता सकलप्राक्तनग्रन्थसङ्गतिः कृता भवति। अविवक्षित वाच्यादीनामपि प्रकाराणां दर्शितत्वादित्यलं निजपूर्वजसगोत्रैः साकं विवादेन। (लोचन पृ० १५०)।

प्रतीत होता है, चन्द्रिकाकार ने वृत्ति के एवं व्यंग्यमुखेनैव शब्दों की व्याख्या यह की होगी कि व्यंग्य के तीन प्रकार हैं—१. वस्तु, २. अलङ्कार और ३. रस। इसके पश्चात् वे तृतीय उद्योत की पूर्वपठित तथा आगामी कारिकाओं

की सङ्गति करने में लग गये। लोचन ने व्यंग्यमुखेन की व्याख्या पर आपत्ति की है कि उपर्युक्त तीन भेद वृत्तिकार ने किये हैं, मूल कारिकाकार ने नहीं। इसके अतिरिक्त, वृत्तिकार ने यह विभाजन प्रस्तुत प्रसङ्ग में नहीं किया है। इसके अतिरिक्त, यदि वृत्तिकार और कारिकाकार भिन्न हैं, जैसाकि आप मानते हैं, तो दोनों की परस्पर यह सङ्गति वताने का क्या अर्थ है कि इतना तो (वृत्तिकार ने) कह दिया और इतना (कारिकाकार द्वारा) तृतीय उद्योत में कहा जायेगा। यदि वृत्तिकार ऐसी वात प्रस्तुत करते हैं जिसे कारिकाकार ने नहीं कहा तो सङ्गति नहीं हो सकती। लोचन ने तत्पश्चात् उपरोक्त कारिका में अन्य दोष भी प्रकट किये हैं। मेरे विचार में चन्द्रिकाकार के मतानुसार कारिकाकार और वृत्तिकार भिन्न-भिन्न हैं। इसीलिए लोचनकार ने आपत्ति की है कि चन्द्रिकाकार द्वारा प्रस्तुत व्यंग्यमुखेन की व्याख्या में सङ्गति का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता। चन्द्रिका के उपलव्ध हुए विना निश्चित अर्थ का पता नहीं लग सकता। यह स्पष्ट नहीं होता कि लोचन का वही मत है या उससे भिन्न। लोचन के शव्द ऐसे हैं कि वृत्तिकार और मूलकारिकाकार के परस्पर भिन्न होने पर भी किसी प्रकार का असामञ्जस्य नहीं आता। डा० मुकर्जी (वी० सी० लॉ अभिनन्दन-ग्रन्थ भाग १, पृ० १८५–१८६) का मत है कि लोचनकार की यह धृष्टता है, उनका कथन तर्कसङ्गत या अव्याहत नहीं है। डा० कृष्णमूर्त्ति (इ० हि० क्वा० भाग २४, पृ० १८९–१९०) ने इस पाठ की व्याख्या के विषय में डा० मुकर्जी से (सर्वप्रथम) मतभेद प्रकट किया है। मैं इस विवाद में नहीं पड़ना चाहता। अपनी व्याख्या पहले दे चुका हूँ। अन्तिम निर्णय विद्वानों के हाथ में है, वे ही वता सकते हैं कि लोचनकार ने चन्द्रिकाकार की मनोवृत्ति पर जो आक्षेप किया है उसका वास्तविक अर्थ क्या है? डा० मुकर्जी (इण्डियन कल्चर भाग १२, पृ० ५७–६०) ने कर्तृभेदे का सङ्गति की व्याख्या की है वहाँ कर्तृ शव्द का अर्थ ग्रन्थकार को छोड़कर व्याकरण का पारिभाषिक कर्त्ता किया है और इस प्रकार अपना मत वदल दिया है। इस नवीन व्याख्या की आलोचना अनावश्यक है। वे अपने ही मत को नहीं जानते।

कारिकाकार तथा मूलकार की एकता के विरुद्ध एक अन्य प्रवल प्रमाण परिकरश्लोक हैं, जिन्हें वृत्तिकार ने वाहुल्येन उद्धृत किया है। देखिये, पृ० ४०, १५९ (तीन श्लोक), १६९, १८२, २०३ (चार श्लोक)।[1] इसी प्रकार

1. परिकर श्लोक की व्याख्या के लिए दे०, लोचन पृ० ४० का निम्नाङ्कित उद्धरण।

२० संग्रहश्लोकों के लिए देखिये—पृ० १०६ (चार श्लोक), पृ० २८० (दो श्लोक) तथा संक्षेपश्लोकों के लिए पृष्ठ ५३–५४, ९०, ३०५।

इनके अतिरिक्त, वृत्ति (ध्व० ३, १०–१४) में एक श्लोक तदयमत्र परमार्थः शब्दों द्वारा प्रस्तुत किया गया है तथा पांच श्लोक तदिदमुक्तम् (पृ० २७७) तथा तदिदमुच्यते (पृ० २७८) शब्दों द्वारा। इनमें से प्रथम दो लोचन के मतानुसार वृत्तिकार के हैं तथा अन्तिम तीन में से एक (पृ० २७८) अभिनवभारती में आनन्दवर्धनकृत बताया गया है। वृत्ति में इस प्रकार की पच्चीस कारिकायें हैं जो आनन्दवर्धन की रचनायें हैं। इनमें से कुछ कारिकायें चमत्कारपूर्ण तथा अर्थगर्भित हैं। कुछ कारिकायें इस प्रकार हैं—

१. विच्छित्ति शोभिनैकेन भूषणेनैव कामिनी।
पदद्योत्येन सुकवेर्ध्वनिना भाति भारती॥
परिकर श्लोक पृ० १५९

२. अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतिस्तस्य स झटित्यवभासते॥
परिकर श्लोक पृ० १६९
(राजशेखर द्वारा काव्यमी० पृ० १६ पर उद्धृत)

३. अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥

(पृ० १८० पर परमार्थ के रूप में उदाहृत तथा व्यक्ति-विवेक (पृ० ३१) के द्वारा उद्धृत, काव्यप्रकाश ७, ८२, पृ० ४४५ वा०)।

४. अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥
शृङ्गारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत्॥

('तथा चेदमुच्यते' शब्दों के साथ पृ० २७८ पर उदाहृत अभिनवभारती भाग १, पृ० २९५ पर द्वितीय श्लोक आनन्दवर्धन का बताया गया है) यदि कारिकाओं तथा वृत्ति का रचयिता एक ही होता तो वह इन श्लोकों को मूलकारिकाओं में न रखकर वृत्ति में रखकर गौण स्थान क्यों देता? एकता के समर्थक तीन विद्वानों में से किसी ने भी इसका सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया।

मम्मट ने अपनी १४२ कारिकाओं में आनन्दवर्धन की अपेक्षा अधिक विषयों की चर्चा की है।

क्या उसने कहीं पर अपनी कारिकाओं को वृत्ति में समाविष्ट किया है? डा० कृष्णमूर्त्ति (इ० हि० क्वा० भाग २४, पृ० ३०१) ने एक समाधान प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि आनन्दवर्धन ने सर्वप्रथम कारिकाओं को रचा और उन्हें शिष्यों को पढ़ाना प्रारम्भ किया तथा कुछ काल पश्चात् वृत्ति रची। यह समाधान अत्यन्त दुर्बल है। यदि यह मान भी लिया जाय कि सर्वप्रथम कारिकाओं की रचना हुई और कुछ वर्ष पश्चात् वृत्ति की, तो भी ऐसी कौन-सी बात थी जिससे ग्रन्थकार स्वनिर्मित श्लोकों (परिग्रह और संग्रह संज्ञा) को भी मूलकारिकाओं में न रख सके और उन्हें वृत्ति में रखना पड़ा। इसका स्पष्ट कारण यह है कि कारिकाकार से वृत्तिकार भिन्न है और उसने स्वनिर्मित श्लोकों को मूलकारिका में मिलाना उचित नहीं समझा।

शब्दार्थ शक्त्या वा० आदि कारिका (२, २६) के पहले तथा च शब्द आये हैं। उनका परिचय देते हुए लोचन ने जो शब्द कहे हैं उन्हे बहुत महत्त्व दिया जा रहा है, वे इस प्रकार हैं—प्रक्रान्तप्रकारद्वयोपसंहारं (तृतीयप्रकार सूचनं चैकेनैव यत्नेन करोमीत्याशयेन साधारणमवतरणपदं प्रक्षिपति वृत्तिकृत् तथा चेति (पृ० १२६)। इन शब्दों का एकता सिद्ध करने में कोई उपयोग नहीं हो सकता, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, कारिका वृत्ति का ही अंश बन जाती है। यहाँ लोचन का कथन है कि कारिका २, २६ में केवल दो भेद ही बताये गये हैं और तीसरा वृत्ति में जोड़ा गया है। जो लोग कारिकाकार तथा वृत्तिकार को भिन्न मानते हैं वे इस तर्क का उपयोग कर सकते हैं। यदि दोनों के कर्त्ता एक ही होते तो मूलकारिका में ही तीनों का उल्लेख क्यों न होता? और वृत्तिकार पर उत्सूत्रव्याख्यान का आरोप क्यों लगता? जिसे लेकर डा० मुकर्जी तथा डा० मूर्त्ति ने इतना बवण्डर खड़ा कर रखा है। पृ० ८२, ८३, ८५, १०५ तथा २२३ पर आये हुए पाठों के लिए भी यही उत्तर दिया जा सकता है। डा० पाण्डे ने उनका बिना किसी चर्चा के उल्लेख मात्र किया है। उन्होंने 'अभिनवगुप्त पृ० १३७ पर शङ्का उठाई है कि लोचन नामक टीका केवल वृत्ति पर है अथवा वृत्ति और मूलकारिका दोनों पर। उनके विचार में भेद-प्रतिपादन करने वालों के लिए यह एक दुविधा खड़ी हो जायगी। पहली बात यह है कि इस प्रश्न का उत्तर तभी दिया जा सकता है जब यह निश्चित हो जाय कि लोचन ने ग्रन्थकृत् या ग्रन्थकार शब्द से किसका ग्रहण किया है? इस बात की चर्चा पहले की जा चुकी है (पृ० २२६) दूसरी बात यह है कि

लोचन ने अपने द्वितीय प्रस्तावना श्लोक में स्पष्ट रूप से बता दिया है कि काव्यालोक किसकी व्याख्या है। लोचन का प्रारम्भ वृत्ति के मङ्गल श्लोक की व्याख्या के साथ हुआ है। इसमें प्रथम कारिका की शब्दशः व्याख्या नहीं की गई किन्तु यह बताया गया है कि ग्रन्थ का आदिवाक्य काव्यस्यात्मा है। इसके पश्चात् उसने तत्काल वृत्ति के शब्दों की व्याख्या प्रारम्भ कर दी है—बुधैः काव्यतत्त्वविद्भिः इत्यादि। इसका अर्थ है कि लोचन मुख्यतया वृत्ति की ही व्याख्या है किन्तु जहाँ कारिकायें वृत्ति में व्याख्यार्थ उद्धृत हैं और उसीका अंश बन गई हैं वहाँ उसने कारिकाओं की व्याख्या भी की है। जहाँ वृत्ति अत्यन्त संक्षिप्त है, लोचन ने कारिका का स्पष्टीकरण भी किया है (दे० १, ३ तथा ६)।[1] लोचन ने यह भी बताया है कि अमुक कारिका संग्रह श्लोक है, अतः वृत्ति में उसकी व्याख्या नहीं की गई।[2] पुष्पिकायें ग्रन्थ का अंश नहीं होतीं। विभिन्न हस्तलिखित प्रतियों में वे प्रायः भिन्न-भिन्न हैं। कुछ में इस ग्रन्थ को ध्वन्यालोक बताया गया है, कुछ में सहृदयालोक तथा कुछ ने लोचन के अन्त में इसे सहृदयालोक नाम्नि काव्यालङ्कारे' शब्दों द्वारा प्रस्तुत किया है। प्रथम तथा तृतीय उद्योत के अन्त में लोचन द्वारा प्रस्तुत दो श्लोकों में से प्रथम में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि आलोक के लिए लोचन की आवश्यकता है। यहाँ आलोक शब्द से वृत्ति को लिया जाता है, क्योंकि मूलकारिकाओं के ध्वनिकारिका अथवा केवल ध्वनि का प्रयोग किया गया है। वृत्ति के उपान्त श्लोक में बताया गया है कि वृत्ति का नाम काव्यालोक[3] है तथा अन्तिम श्लोक में स्पष्टरूप से बताया गया है कि आनन्द ने अपने ग्रन्थ में काव्य के मर्म का उद्घाटन किया है। इस श्लोक को आगे पृ० २४० पर दिया जायेगा। मैं लोचन के उन पाठों की चर्चा नहीं करूँगा जहाँ वृत्ति के साथ उपस्कार आदि

---

1. प्रथम तीन उद्योतों में १०० से अधिक कारिकायें हैं। उनमें से डा० पाण्डे एक दर्जन कारिकायें भी नहीं बता सकते जिन पर लोचन ने व्याख्या की हो। उन्होंने केवल प्रथम उद्योत की तृतीय तथा षष्ठ कारिका को प्रस्तुत किया है।

2. उद्योत ४, का० ४ पर लोचन का कथन है—यदि वा उच्यते संग्रह-श्लोकोऽयमिति भावः। अत एवास्य श्लोकस्यवृत्तिग्रन्थे व्याख्यानं न कृतम् (दे० डा० डे, जनरल ऑफ डिपार्टमैण्ट ऑफ लैटर्स, कलकत्ता यूनिवर्सिटी भाग ९)।

3. इन शब्दों पर ध्यान दीजिए—काव्याख्येऽखिलसौख्यधाम्नि विबुधोद्याने ध्वनिर्दर्शितः। विबुध का अर्थ है देवता तथा काव्यमर्मज्ञ।

शब्दों का प्रयोग किया गया है जिनसे वृत्तिकार और कारिकाकार में परस्पर भेद प्रतीत होता है। भेद के समर्थकों ने उन पाठों का पर्याप्त सहारा लिया है। कारिकाओं को छोटे-छोटे भागों में क्यों विभक्त किया गया यह चर्चा भी आवश्यक नहीं है, किन्तु एक बात महत्त्वपूर्ण है; यदि मूलकारिकायें तथा वृत्ति एक ही की रचना होते तो कारिकाओं के विभाजन एवं उनके मध्य में सन्निहित वृत्ति के पाठों का आकार एक-सा होता।[1] किन्तु लोचन के समय भी मान लिया गया था कि इस विषय में किसी प्रकार की समता नहीं है। वृत्ति की कुछ हस्तलिखित प्रतियों में कारिकाओं को विभक्त करके पढ़ा गया है और कुछ में समग्र। डा० कृष्णमूर्त्ति (इ० हि० क्वा० भाग २४, पृ० ३००) ने मम्मट का उदाहरण देकर कारिकाओं के विभाजन सम्बन्धी प्रश्न का समाधान किया है किन्तु उन्होंने उन प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों की असमानता के विषय में कुछ नहीं कहा जिनका दशम शताब्दी के ग्रन्थकार लोचन ने निर्देश किया है।[2] एकता के समर्थकों द्वारा प्रस्तुत अधिकतर तर्कों का उत्तर मैं दे चुका हूँ।

स्थानाभाव के कारण यह सम्भव नहीं है कि भेद का विरोध करने वालों के स्थूल एवं सूक्ष्म प्रत्येक तर्क का खण्डन किया जा सके। फिर भी, एक-दो नगण्य प्रश्नों का समाधान भी आवश्यक है। पिछले संस्करण के पृ० ६० पर मैंने लिखा था कि ध्वन्यालोक के उपान्त्य श्लोक (काव्याख्ये०) से यह प्रतीत होता है कि ग्रन्थ के नाम में काव्य लगा हुआ है अथवा यही इसका नाम था। उसी पर आनन्दवर्धन ने टीका लिखी है। सम्भवतया उसे काव्यध्वनि अथवा के केवल काव्य या ध्वनि कहा जाता था। डा० कृष्णमर्त्ति (इ० हि० क्वा० भाग

---

1. द्वितीय उद्योत की ३२ तथा ३३वीं कारिकाओं की वृत्ति पर लोचन का कथन है—'तासामेवालंकृतीनाम्। तथा—तासामेवालंकृतीनामित्ययं पठिष्यमाण कारिकोपस्कारः। पुनरिति कारिकामध्ये उपस्कारः।' पुनश्च—चतुर्थ उद्योत की नवम तथा दशम कारिकाओं पर लोचन का कथन है—शक्तीनासित्यन्ततः कारिकयोर्मध्योपस्कारः।

2. संवादो ह्यन्य० (४, १२) पर लोचन का लथन है—एषा खण्डीकृत्य वृत्तौ पठिता; और आत्मनोन्यस्य सद्भावे (४, १४) पर—इति कारिका वृत्तौ खण्डीकृत्य पठिता। केपुचित् पुस्तकेपु कारिका अखण्डिता एव दृश्यन्ते (जनरल ऑफ डिपार्टमैण्ट ऑफ लैटर्स, कलकत्ता यूनि० भाग ९, पृ० २९)। लोचन के मतानुसार कारिका सं० ४, १६ भी कहीं-कहीं विभक्त कर दी गई है।

२४, पृ० १८७ टिप्पण १७) ने युक्तिविरुद्ध कहकर मेरे इस सुझाव का उपहास किया है।[1] किन्तु उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि काव्यध्वनि नाम सम्भव है। आशा है, उन्होंने डा० डे (जनरल ऑफ डिपार्ट० ऑफ लैटर्स कल० यूनि० भाग ९, पृ० ४२) का निवन्ध पढ़ा होगा जहाँ इस ग्रन्थ को काव्यालोक वताया गया है। राजशेखर ने इसका नाम ध्वनि वताया है—ध्वनिनातिगभीरेण। उत्तरवर्ती लेखकों ने इसके रचयिता को ध्वनिकार शव्द से व्यवहृत किया है। इससे सिद्ध होता है कि ग्रन्थ का नाम ध्वनि भी रहा होगा। कुछ पुष्पिकाओं से भी इसी वात का समर्थन होता है। अतः नाम के विषय में मैंने जो सुझाव दिये हैं वे आधारहीन या प्रमाणशून्य नहीं हैं। ध्वनि के अतिरिक्त इसके ध्वनि, ध्वन्यालोक, काव्यालोक, सहृदयालोक तथा सहृदयहृदयालोक नाम भी थे। काव्यालोक तथा ध्वन्यालोक का क्या अभिप्राय है? और ये नाम क्यों रखे गये? काव्यालोक का अर्थ है, काव्यविषयक दृष्टि, प्रकाश अथवा आलोडन। अतः मेरे सुझाव में किसी प्रकार की विसङ्गति नहीं है। जिस प्रकार इसे ध्वन्यालोक के स्थान पर ध्वनि भी कहा जाता था, इसी प्रकार काव्यालोक को संक्षेप में यदि काव्य कहा गया हो तो कोई अनौचित्य नहीं है। डा० कृष्णमूर्त्ति की प्रवृत्ति है कि वे दूसरों द्वारा प्रस्तुत तर्कों एवं सुझावों को विना विचारे ही असङ्गत कह देते हैं (देखिये—श्री गोद वर्मा के विषय में उनका कथन इ० हि० क्वा० भाग २४, पृ० ३०५)। किन्तु ऊपर 'उत्सूत्रव्याख्यान' के सम्वन्ध में उन्होंने स्वयं कैसे विचित्र (यदि उन्हीं के शव्दों को दुहराया जाय तो विसङ्गत) सुझाव दिये हैं यह उनके ध्यान में नहीं आया। पुनश्च विद्वान् डा० ने डा० वर्मा के शव्दों को असङ्गत वताने के लिए 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' को छोड़कर कोई प्रमाण नहीं दिया। वृत्ति के उपान्त्य श्लोक पर लोचन के निम्नलिखित शव्द हैं—डा० मुकर्जी (वी० सी० लॉ अभिनन्दन-ग्रन्थ भाग १०, पृ० १८९-१९०) तथा अनुयायी डा० कृष्णमूर्त्ति (इ० हि० क्वा० भाग २४, पृ० १९३) उन्हें बहुत अधिक महत्त्व दे रहे हैं—

> नित्याविलष्टरसाश्रयोचितगुणालंकारशोभाभृतो-
> र्यस्माद्वस्तु समीहितं सुकृतिभिः सर्वं समासाद्यते।
> काव्याख्येऽखिलसौख्यधाम्नि विबुधोद्याने ध्वनिर्दर्शितः
> सोयं कल्पतरूपमानमहिमाभोग्योस्तु भव्यात्मनाम्॥

---

1. विद्वान् डा० महोदय का कथन है—काव्या पर समीक्षा सम्वन्धी किसी ग्रन्थ को अपने-आप में काव्या या ध्वनि कहना निरा अविवेक है।

पहली बात यह है कि मैंने जिन तीन संस्करणों को देखा है (जिनका निर्देश ऊपर आ चुका है) उनमें से किसी में इत्यक्लिष्ट पाठ नहीं है।[1] दूसरी बात यह है कि कारिकाकार तथा वृत्तिकार के भिन्न होने पर भी लोचन में वृत्ति के इति शब्द की व्याख्या 'मूलकार तथा वृत्तिकार के आशयानुसार हो सकती थी। यह समझ में नहीं आता कि इन शब्दों से अभेद कैसे सिद्ध होता है। डा० मुकर्जी का कथन है कि अभेद के विरोध में जितने भी तर्क या सन्देह उत्पन्न होते हैं उन सबका निराकरण नीचे लिखी कारिका से हो जाता है—सत्काव्य-तत्त्वविषयं स्फुरितप्रसुप्तकल्पम्० इत्यादि।[2] डा० कृष्णमूर्त्ति (इ० हि० क्वा० २४ पृ० १९३–१९४) ने अशुद्ध होने पर भी डा० मुकर्जी के अनुवाद को अक्षरशः अपना लिया है। काव्यमाला संस्करण की मूलकारिका में ऐसा कोई शब्द नहीं है जिसका अर्थ युगों से किया जा सके। यदि डा० डे का पाठ माना जाय तो भी चिरकाल से प्रसुप्त अर्थ होगा। दोनों विद्वान् डाक्टरों के तर्क मुझे नहीं जंचे। डा० आनन्दवर्धन का यह दावा नहीं है कि उसने किसी ऐसे तत्त्व की व्याख्या की है जो काव्य के अन्तर्गत नहीं हो। यहाँ 'व्याकरोत्' शब्द महत्त्वपूर्ण है। इस शब्द का अर्थ निम्नलिखित कारिका में स्पष्ट किया गया है—

तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः।
बहुधा व्याकृतः सोन्यैः काव्यलक्ष्मविधायिभिः॥

ध्वनिकारिका १, ३.

(कारिका ३, ४७ भी द्रष्टव्य है)।

आनन्दवर्धन का कथन है कि उसने वास्तविक काव्य के तत्त्व को प्रकट किया है। समझ में नहीं आता कि इस वाक्य से उसका मूलकारिकाकार होना

---

1. इस पर लोचन का पाठ यह है—इतीति कारिकातद्वृत्तिनिरूपण-प्रकारेणेत्यर्थः। काशी सं० सीरिज़ संस्करण पृ० ५५१। डा० डे० (जनरल, डिपार्टमैण्ट ऑफ लैटर्स, कलकत्ता यूनि० भाग ९, पृ० ४०) द्वारा सम्पादित पाठ में—इतीति कारिकातद्वृत्तिनिरूपणेनेत्यर्थः भा० ओ० रि० इ० की अधिक-तर हस्तलिखित प्रतियों में नित्याक्लष्ट पाठ है।

2. डा० डे के अनुसार, सत्काव्यतत्त्वनयवर्त्म चिरप्रसुप्त० (जनरल ऑफ डिपार्ट० ऑफ लैटर्स, भाग ९, पृ० ४१) पाठ है। डा० मुकर्जी ने इसका अनुवाद किया है—प्रसिद्ध आचार्य आनन्दवर्धन ने रसिकजनों की तृप्ति के लिए काव्य के रहस्य को प्रकट किया जो परिपक्व बुद्धि सहृदयों के मन में भी युगों से प्रसुप्त प्रायः था।

कैसे सिद्ध होता है ? तृतीय अध्याय की सैंतालीसवीं कारिका में बताया गया है कि कारिकाओं में काव्य का जो तत्त्व बताया गया है पूर्वाचार्यों को उसका स्पष्ट अवभास नहीं था। वे उसका स्पष्ट विवेचन नहीं कर सके। परिणाम-स्वरूप रीति का सिद्धान्त प्रतिपादित किया।[1] अन्तिम कारिका में कारिका संख्या ३, ४७ की ही प्रतिध्वनि है जैसे कारिका २, ५ के मे मतिः शब्दों का अर्थ वृत्तिकार द्वारा मामकीनः पक्षः किया गया है। वृत्ति का यहाँ वही स्थान है जो ब्रह्मसूत्र पर शाङ्करभाष्य का। सूत्रकार महापुरुष थे किन्तु शङ्कर भी उतने ही महान् हैं—कुछ तो उन्हें महत्तर मानते हैं। इसका अर्थ है, कारिका-कार ने काव्यतत्त्व का संक्षिप्त वर्णन किया और आनन्दवर्धन ने उसका विस्तृत विवचन किया। डा० कृष्णमूर्त्ति ने मामकीनः पक्षः (वृत्ति, २, ५ पृ० ८६; इ० हि० क्वा० भाग २४, पृ० ३००) शब्दों का ठीक अर्थ नहीं किया। डा० सातकड़ि मुकर्जी (बी० सी० लॉ अभिनन्दन-ग्रन्थ भाग १, पृ० १९१) तथा डा० कृष्णमूर्त्ति (इ० हि० क्वा० भाग २४, पृ० १९४) ने अपने तर्कों को सिद्ध करने के लिए वृत्ति तथा लोचन के ७९, ८५, १०२, १०४ तथा १०५ पृष्ठों पर आये हुए उद्धरणों को प्रस्तुत किया है। मैंने अपने काव्यशास्त्र के इतिहास में १९३५ के जिस संस्करण का उपयोग किया है उसमें वे पाठ क्रमशः ९६, १०३, १२४, १२७ तथा १२८ पृष्ठों पर आये हैं। विद्वान् डाक्टरों की यह धारणा मिथ्या है कि वे मेरी दृष्टि में नहीं आये। वस्तुतः देखा जाय तो अपनी साहित्यदर्पण की प्रस्तावना मे उनमें से कुछ का मैंने स्वयं उल्लेख किया है। मैं उन उद्धरणों की विस्तृत चर्चा में नहीं पड़ना चाहता। वे भेद-सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं हैं। इतना ही नहीं, कुछ तो उसके समर्थक भी कहे जा सकते हैं। वृत्ति के पृ० १३१ पर आये हुए इयत्पुनरुच्यते शब्द भी वैसे ही हैं, लोचन ने उनकी व्याख्या 'अस्माभिरिति वाक्यशेषः' की है। ऊपर इसी पृष्ठ पर शाङ्कर-भाष्य का उदाहरण देकर जो प्रकार बताया गया है इनकी व्याख्या भी वैसी ही करनी चाहिए। उनसे भेदाभेद के प्रश्न पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। पृ० १४ पर लोचन का कथन है—आनन्दवर्धन इति च ग्रन्थकृतो नाम। तेन स एवानन्दवर्धनाचार्य एतच्छास्त्रद्वारेण सहृदयहृदयेषु प्रतिष्ठां···लभताम्; इस पर

1. अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद्यथोदितम्।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः॥

ध्व० ३, ४७

लोचन ने व्याकर्त्तुं का अर्थ प्रतिपादयितुम् किया है।

डा० मुकर्जी का कथन है कि यदि वृत्तिकार कारिकाकार नहीं है तो उनके लिए प्रस्तुत प्रशंसा शव्द उपयुक्त नहीं जान पड़ते। पहली बात यह है, लोचन ने आनन्द को स्पष्टतया शास्त्रकार नहीं कहा। उसका इतना ही कथन है कि शास्त्ररूपी द्वार से आनन्दवर्धन सहृदयों के हृदय में प्रतिष्ठा प्राप्त करे। दूसरी बात यह है कि शङ्कराचार्य ने वृहदारण्यक पर वृत्ति तथा वेदान्तसूत्रों पर भाष्य लिखा। फिर भी उन्हें अद्वैत वेदान्त का प्रवर्तक मानने में किसी को आपत्ति नहीं है। इसी प्रकार पतञ्जलि ने केवल वार्त्तिक एवं उन पर भाष्य लिखा फिर भी उनको पाणिनीय व्याकरण का प्रतिष्ठापक माना जाता है। अतः इस तर्क में कोई सार नहीं है कि केवल वृत्तिकार के लिए उपरोक्त प्रशंसा शव्द उपयुक्त नहीं जान पड़ते। मैं डा० सातकड़ि मुकर्जी को बताना चाहता हूँ कि पाणिनी के सूत्र अपने-आप में परिपूर्ण हैं; फिर भी, पाणिनीय परम्परा में पतञ्जलि को अधिक प्रमाण माना जाता है। देखिये, न वहुव्रीहौ सूत्र पर वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी।[1] यदि कारिकाकार तथा वृत्तिकार को भिन्न-भिन्न माना जाय और यह प्रश्न उपस्थित हो कि शास्त्रकार किसे कहा जाय तो अधिकतर विद्वान् यह सम्मान वृत्तिकार को देंगे।

डा० मुकर्जी का यह कथन ठीक नहीं है कि लोचन ने कुन्तक का निर्देश किया है (वी० सी० लॉ अभिनन्दन-ग्रन्थभाग १, पृ० १८३)। ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जिससे ऐसी सम्भावना भी की जा सके। डा० मुकर्जी का जयन्तभट्ट विषयक कथन भी ठीक नहीं है। न्यायमञ्जरी के शव्द निम्नलिखित हैं—

यमन्यः पण्डितम्मन्यः प्रपेदे कञ्चनध्वनिम्।
विधेर्निषेधावगतिर्विधि बुद्धिर्निषेधतः ॥
यथा—भम धम्मि अ वीसत्थो मा स्म पान्थ गृहंविश।
मानांतरपरिच्छेद्य वस्तुरूपोपदेशिनाम् ॥
शब्दानामेव सामर्थ्यं तत्र तत्र तथा तथा।
अथवा नेदृशी चर्चा कविभिः सह शोभते ॥

(विजयानगरम् संस्करण पृ० ४८)

डा० मुकर्जी के शब्द हैं—'पण्डितम्मन्य द्वारा प्रतिपादित ध्वनि का सिद्धान्त खण्डित हो गया' इनसे पूर्वार्ध का अर्थ सम्यग्रूपेण प्रकट नहीं होता। इन

1. न वहुव्रीहौ। पा० १, १, २९, सि० कौ० 'वहुव्रीहौ चिकीर्षिते सर्वनाम सञ्ज्ञा न स्यात्। त्वकं पिता यस्य स त्वत्कपितृक इति। भाष्यकारस्तु त्वत्कपितृक मत्कपितृक इति रूपे इष्टापत्तिकृत्वैतत्सूत्रं प्रत्याचख्यौ। यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्।

पंक्तियों का अर्थ है—किसी पण्डित ने ध्वनि के सिद्धान्त को अपनाया था प्रस्तुत किया है, जिसमें प्रतिपादन किया गया है कि अनेक स्थानों पर विधिवाक्य का अर्थ—निषेध निकलता है और निषेधवाचक शब्दों का अर्थ—विधि होता है। जैसे—मम धम्मिअ आदि श्लोक में। यह स्पष्टतया ध्वन्यालोक की वृत्ति के निम्नलिखित शब्दों की ओर सङ्केत है—स हि कदाचिद् वाच्ये विधिरूपे प्रतिषेध रूपः। यथा मम धम्मिअ, क्वचिद् वाच्ये प्रतिषेधरूपे विधिरूपो यथा। अत्ता एत्थ० (पृ० १९, २४)। प्रपेदे शब्द का अर्थ प्रतिपादित करना नहीं हो सकता। इसका अर्थ है—अपनाया, शरण ली अथवा स्वीकार किया।[1] यह उद्धरण डा० मुकर्जी को पुनः विचार के लिए बाध्य करेगा। जयन्त के शब्दों का अर्थ है—ध्वनि का सिद्धान्त पहले से ही विद्यमान था, अपने को पण्डित समझने वाले किसी व्यक्ति ने उसे अपना लिया। इसका अर्थ है कि ध्वनि का सिद्धान्त-ग्रन्थ अथवा कारिकाओं के रूप में पहले से विद्यमान था तथा वृत्तिकार ने उसे अपना लिया। जयन्त के शब्दों में एक अन्य आक्षेप भी है—कवियों के साथ तर्क-वितर्क से क्या लाभ है ? यहाँ बहुवचन के द्वारा मार्मिक उपहास किया गया है। ध्वन्यालोक के वृत्तिकार कवि थे। उन्हें राजतरङ्गिणी में कविरानन्दवर्धनः कहा गया है। जयन्त का कथन है कि वृत्तिकार केवल कवि है, तार्किक या दार्शनिक नहीं। ऐसे व्यक्ति के साथ तर्क करने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। वृत्तिकार जयन्त आनन्दवर्धन के समकालीन थे। उनके पुत्र अभिनन्दन ने अपने कादम्बरी कथासार में लिखा है कि जयन्त कर्कोट वंशीय राजा मुक्तापीड के मन्त्री शक्तिस्वामी के प्रपौत्र थे।

डा० गोदा वर्मा (न्यू इ० ऐ० भाग ५, पृ० २६५–२७२) ने कारिकाकार तथा वृत्तिकार में परस्पर विरोध के कुछ उदाहरण दिये हैं। डा० कृष्णमूर्त्ति (इ० हि० क्वा० भाग २४, पृ० ३००–३११) ने डा० वर्मा के तर्कों का उत्तर देने की कोशिश की है (पृ० ३०५)। मैं इन बातों की विस्तृत चर्चा अपने लिये

---

1. तुलना—नरेन्द्रभार्गाट्ट इव प्रपेदे
विवर्णभावं स स भूमिपालः ॥
रघुवंश ६, १७
तथा—ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्
राजशेखर
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये
श्वेताश्वतरोप० ६, १८

आवश्यक नहीं समझता। यद्यपि मैं श्री वर्मा की सभी बातों से सहमत नहीं हूँ फिर भी कुछ बातें महत्त्वपूर्ण एवं ध्यान देने योग्य हैं। उदाहरण के लिए—

(क) प्रतीयमानं पुनरन्यदेव
वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं
विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥

ध्व० १, ४

यहाँ वृत्तिकार ने प्रसिद्ध शब्द की दो व्याख्यायें की हैं (१) यत्तत्सहृदयहृदयसुप्रसिद्धं प्रसिद्धेभ्योऽलंकृतेभ्यः प्रतीतेभ्यो वावयवेभ्यो व्यतिरिक्तत्वेन प्रकाशते तथा (२) इस पर लोचन का कथन है—प्रसिद्ध शब्दस्य सर्वप्रतीतत्वमलंकृतत्वं चार्थः। इससे पूर्ववर्ती तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः आदि (ध्व० १, ३) कारिका में प्रसिद्ध शब्द का अर्थ सर्वविदित किया गया है। यदि कारिकाओं और वृत्ति का रचयिता एक ही होता तो उत्तरवर्ती कारिकाओं में भी इस शब्द का वही अर्थ होता।

(ख) समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति।
स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः ॥

ध्व० २, ११

पूर्ववर्ती कारिकाओं (२, ९–१०) में बताया गया है कि माधुर्य गुण विशेषतया विप्रलम्भ शृङ्गार और करुण के लिए उपयुक्त होता है तथा ओजस् गुण रौद्र, वीर और अद्भुत के लिए। ध्व० २, ११ कारिका में बताया गया है कि प्रसादगुण सर्वोपयोगी है। 'सर्वसाधारणक्रियः' शब्द की व्याख्या वृत्ति में इस प्रकार की गई है—सर्वरससाधारणो गुणः सर्वरचनासाधारणश्च। सन्दर्भ तथा स्वयं कारिका के सर्वरसान् प्रति शब्दों द्वारा स्पष्टतया प्रकट होता है कि सर्वसाधारणक्रियः में सर्व शब्द का अर्थ सर्वरस है। अतः सर्वरचना साधारण के रूप में द्वितीय व्याख्या मूल को अनभिप्रेत है इसीको उत्सूत्र व्याख्यान कहकर डा० मुकर्जी ने बहुत तूल दिया है।

(ग) रसस्य स्याद् विरोधाय वृत्त्यनौचित्यमेव च ॥

ध्व० ३, १९ (उत्तरार्ध)

वृत्तिकार ने वृत्ति शब्द के तीन अर्थ किये हैं—

(१) व्यवहार—(तथावृत्तेर्व्यवहारस्य यदनौचित्यं तदपि रसभङ्गस्य हेतुरेव। यथा नायकं प्रति नायिकायाः कस्याश्चिदुचिताङ्गभङ्गिमन्तरेणस्वयं सम्भोगाभिलाष कथने),

(२) कैशिकी आदि वृत्तियाँ (जिनका प्रतिपादन भरत ने किया है)

(३) अथवा उपनागरिकादि वृत्तियाँ।

तृतीय उद्योत की ३३वीं तथा ४८वीं कारिकाओं के पर्यालोचन से ज्ञात होता है कि उपरोक्त तीन में से अन्तिम दो अर्थ ही स्वीकार करने योग्य हैं। ये बातें विचारणीय हैं। श्री वर्मा द्वारा प्रस्तुत अन्य तर्कों पर विचार करना अनावश्यक है।

आगे बढ़ने से पहले ग्रन्थ के नाम को लेकर भी कुछ विवेचन आवश्यक है। हस्तलिखित प्रतियों की पुष्पिकाओं में इसका नाम सहृदयालोक, सहृदयहृदयालोक काव्यालोक, काव्यालङ्कार तथा ध्वनि भी मिलता है। इन नामों के देखिये—भा० ओ० रि० इ० की राजकीय संग्रहालय की हस्तलिखत ग्रन्थ-सूची भाग १२, पृ० २१५, २१६। लोचन के तृतीय प्रस्तावना श्लोक—यत्किञ्चिदप्यनुरणन् स्फुटयामि काव्यालोकं सुलोचननियोजनया जनस्य—से ज्ञात होता है कि लोचनकार के अनुसार ग्रन्थ का नाम काव्यालोक भी था। जनरल ऑफ डिपार्टमैण्ट ऑफ लैटर्स, कलकत्ता भाग ९, पृ० ४२ पर मुद्रित लोचन का उपान्त्य श्लोक है—आनन्दवर्धनविवेकविकासिकाव्यालोकार्थतत्त्वघटनादनुमेयसारम्। इससे प्रतीत होता है कि आनन्दवर्धन की रचना का नाम काव्यालोक था। अभिनवभारती (ऊपर पृ० २२५ पर उद्धृत) में अभिनवगुप्त ने इसका नाम सहृदयालोक बताया है। चतुर्थ उद्योत की उपान्त्य कारिका—काव्याख्येऽखिलधाम्नि विबुधोद्याने ध्वनिर्दर्शितः—से जान पड़ता है कि मूल ग्रन्थ के नाम में एक अंश काव्य है अथवा यही पूरा नाम है इसी पर आनन्दवर्धन ने व्याख्या लिखी। सम्भवतः इसका नाम काव्यध्वनि या केवल काव्य अथवा ध्वनि है। तृतीय अध्याय की ५३वीं कारिकाओं को काव्यलक्षण कहा गया है—वृत्तयोऽपि प्रकाशन्ते ज्ञातेऽस्मिन् काव्यलक्षणे। अतः वृत्ति को काव्यालोक या ध्वन्यालोक कहना उचित होगा। यह बताना कठिन है कि ग्रन्थ का नाम सहृदयालोक क्यों

1. देखिये, भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना के राजकीय ग्रन्थ संग्रहालय की देवनागरी हस्तलिखित ग्रन्थ-सूची भाग १२, पृ० २०९, २१४, २१५ हस्तलिखित ग्रन्थ सं० २५४, २५५ तथा २५६, १८७५–७६ ई० पृ० २०९–२१५) जहाँ पुष्पिकायें इस प्रकार हैं—इत्यानन्दवर्धनाचार्य विरचिते सहृदयहृदयालोके…उद्योते। राघवभट्ट ने अभिज्ञानशाकुन्तल पर अपनी टीका में कहा है—यदुक्तं राजानकानन्दवर्धनैः सहृदयहृदयालोके…निबन्धनम् पृ० १३३–१३४

पड़ा। प्रो० सोवानी (जी० रा० ए० स० १९१० पृ० १६४–१६७) ने कल्पना की है कि मूलकारिकाकार का नाम सहृदय रहा होगा। इस कल्पना का आधार 'सहृदयालोक' नाम तथा लोचन के निम्नलिखित शब्द हैं—सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयतात् (लोचन द्वितीय प्रस्तावना श्लोक)। प्रो० सोवानी का मत ठीक हो सकता है किन्तु उन्होंने जो प्रमाण दिये हैं वे अत्यन्त दुर्बल हैं इसके लिए सबल प्रमाणों को ढूंढना आवश्यक हैं। प्रदीप, प्रकाश आदि के समान यदि आलोक भी ग्रन्थ का नाम है तो सहृदय भी ग्रन्थ का ही नाम होना चाहिए, व्यक्ति का नहीं। अतः केवल सहृदयालोक नाम के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि सहृदय कारिकाकार का नाम है। सरस्वत्यास्तत्त्वम् आदि कारिका में प्रयुक्त सहृदय शब्द अव्यक्त रूप से ग्रन्थकार के नाम का द्योतक हो सकता है। किन्तु उस आधार पर कोई निश्चय नहीं हो सकता। कारिका का शाब्दिक अर्थ यह है कि सरस्वती का तत्त्व कवि या सहृदय हैं। ध्वन्यालोक के अन्तिम श्लोक से प्रतीत होता है कि आनन्दवर्धन अपने-आपको काव्यरहस्य के प्रतिपादक मानते थे जो परिपक्व बुद्धिवालों में स्फुरित होने पर भी सुप्त था (सत्काव्यतत्त्वविषयं स्फुरितप्रसुप्तकल्पं मनःसु परिपक्वधियां यदासीत्। तद् व्याकरोत् सहृदयोदयलाभहेतोरानन्दवर्धन इति प्रथिताभिधानः ॥)।

कारिकाकार का नाम सहृदय था, यह सिद्ध करने के लिए अब तक जो प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं वे सर्वथा अपर्याप्त हैं। किन्तु एक अन्य प्रमाण भी है। मेरे विचार में सर्वप्रथम १९२३ में मैंने ही उसे प्रस्तुत किया था इससे पहले किसी विद्वान् का ध्यान उस ओर नहीं गया। अभिधावृत्तिमातृका, जिसकी रचना लोचन से एक शती पूर्व हुई थी, ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि पूजनीय सहृदय द्वारा प्रतिपादित ध्वनि का लक्षणा में ही अन्तर्भाव हो जाता है—लक्षणामार्गावगाहित्वं तु ध्वनेः सहृदयैर्नूतनतयोपवर्णितस्य विद्यत इति दिशमुन्मीलयितुमिदमत्रोक्तम् (पृ० २१)। इसी प्रकार, पृ० १९ पर मुकुल का कथन है—तथाहि तत्र विवक्षितान्यपरता सहृदयैः काव्यवर्त्मनि निरूपिता। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि मुकुल (लगभग ९००–९२५ ई०) के रचनाकाल में ध्वनि एक नया सिद्धान्त था और वह सहृदय द्वारा प्रस्तुत किया गया था। इसी प्रकार मुकुल के शिष्य प्रतीहारेन्दुराज का कथन है—ननु यत्र काव्ये सहृदयहृदयाह्लादिनः प्रधानभूतस्य स्वशब्द व्यापारास्पृष्टत्वेन प्रतीयमानैकरूपस्यार्थस्य सद्भावस्तत्र तथाविधार्थाभिव्यक्तहेतुः काव्यजीवितभूतः कैश्चित्सहृदयैर्ध्वनिर्नाम व्यञ्जकत्वभेदात्मा काव्यधर्मोऽभिहितः (पृ० ७९)। इन उद्धरणों,

विशेषतया प्रथम दो, से प्रतीत होता है कि यथासम्भव ग्रन्थकार का नाम सहृदय था। उसीने ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उससे भी अधिक यह सम्भव है कि उसके प्रशंसकों ने उसे सहृदय उपाधि प्रदान की हो।

आनन्दवर्धन तथा कारिकाकार की एकता के सम्बन्ध में एक उलझन है। राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में कहा है—प्रतिभाव्युत्पत्त्योः प्रतिभा श्रेयसी इत्यानन्दः। सा हि कवेरव्युत्पत्तिकृतं दोषमशेषमाच्छादयति। तत्राह—अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः। यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य झगित्येवावभासते ।। (पृ० १६)। आनन्द के नाम से उद्धृत उपरोक्त कारिका ध्वन्यालोक (पृ० १७९) में परिकर श्लोक के रूप में आई है। इसका अर्थ है कि ९००–९२५ ई० तक आनन्दवर्धन ध्वन्यालोक के वृत्तिकार के रूप में स्वीकृत हो चुके थे। किन्तु इसका एकता के प्रश्न से कोई सम्बन्ध नहीं है।। जल्हण की सूक्तिमुक्तावली (पृ० ४६, गा० ओ० सी० संस्करण) में राजशेखर के नाम से एक श्लोक उद्धृत है। उसमें बताया गया है कि आनन्दवर्धन ने ध्वनि नामक ग्रन्थ के द्वारा काव्य के मूल तत्त्व की स्थापना की। श्लोक इस प्रकार है—

ध्वनिनातिगभीरेण काव्यतत्त्वनिवेशिना।
आनन्दवर्धनः कस्य नासीदानन्दवर्धनः ।।

प्रतीहारेन्दुराज ने उपरोक्त पाठ के पश्चात् लिखा है कि ध्वनि का अलङ्कार में ही अन्तर्भाव हो जाता है। तत्पश्चात् उसने वस्तु अलङ्कार तथा रस के रूप में तीन भेदों का निरूपण किया है। साथ ही यह बताने का प्रयत्न किया है कि ध्वन्यालोक में इनके लिए जो उदाहरण दिये गये हैं वे वस्तुतः अलङ्कारों के उदाहरण हैं (पृ० ७९–८५)। उन्हीं पृष्ठों पर निम्नलिखित पाठ हैं, जिनसे यह प्रकट होता है कि उसके मतानुसार वृत्ति भी सहृदय की रचना है—

(१) तथा हि प्रतीयमानैकरूपस्य वस्तुत्रैविध्यं तैरुक्तं (तैः=सहृदयैः) वस्तुमात्रालङ्काररसादिभेदेन तत्र वस्तुमात्रं तावत्प्रतीयते यथा चक्राभिघातप्रसभाज्ञयैव (दे० पृ० १०९)।

(२) वाच्यशक्त्याश्रयं (व्यञ्जकत्वम्) तु रसादिवस्तुमात्रालङ्काराभिव्यक्तिहेतुत्वात् त्रिविधम्। तत्र यत्तावद्वाचकशक्त्याश्रयं व्यंग्यभूतालङ्कारैकनियतं शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यंग्यतया सहृदयैर्व्यञ्जकत्वमुक्तं 'सर्वैकशरणमक्षयम्' इत्यादौ, तत्र शब्दशक्त्या ये प्रतीयन्ते विरोधादयोलङ्कारास्तत्संस्कृतस्वभावं वाच्यमवगम्यते। अतस्तत्र वाच्यस्य विवक्षैव (पृ० ८३)। इस पाठ में यह ध्यान

देने योग्य है कि आनन्दवर्धन (पृ० १२३) ने सर्वैक आदि श्लोक को अपनी रचना बताया है। प्रतीहारेन्दुराज ने उसके कर्त्ता का नाम सहृदय लिखा है।

(३) अत एव च सहृदयैर्यत्र वाच्यस्य विवक्षितत्वं तत्रैव वस्त्वलङ्कारयोः प्रतीयमानयोर्वाच्येन सह क्रमव्यवहारः प्रवर्तितोऽर्थशक्तिमूलानुरणनरूपव्यंग्यो ध्वनिरिन्युक्तं न तु वाच्यविवक्षायामपि (? वाच्या०)। यत्र च वाच्यस्याविवक्षा पूर्वमुक्ता रामोऽस्मीति सुवर्णपुष्पामिति च तत्र वयमधिकारापेतप्रस्तुतार्थानु-वन्धिवस्तूपनिबन्धनादप्रस्तुतप्रशंसाभेदत्वमेव न्याय्यं मन्यामहे (पृ० ८४)।

सुवर्ण पुष्पाम् (ध्वन्या० पृ० ५८) तथा रामोऽस्मि (ध्व० पृ० ७५) दोनों श्लोक अविवक्षितवाच्यध्वनि के उदाहरण के रूप में दिये गये हैं। प्रतीहारेन्दु-राज के शब्दों से यही निष्कर्ष निकलता है कि उसके मतानुसार कारिकाओं तथा वृत्ति दोनों के रचयिता सहृदय थे। तीसरे पाठ में यत्र वाच्यस्य···ध्वनिरि-त्युक्तम् शब्द ध्वन्यालोक के पृ० ११९ पर है।

वक्रोक्तिजीवित में (२. उदाहरण २५) 'ताला जाअन्ति गुणा कमलाइँ आदि श्लोक रूढ़िशब्दवक्रता के उदाहरण के रूप में उद्धत है। यह आनन्दवर्धन (ध्व० पृ० ७६) का अपना श्लोक है। वक्रोक्तिजीवितकार ने इसे निम्नलिखित शब्दों के साथ प्रस्तुत किया है—"ध्वनिकारेण व्यंगयञ्जकभावोऽत्र सुतरां समर्थितः किं पौनरुक्त्येन।" यहां आनन्दवर्धन को ध्वनिकार कहा गया है।

महिमभट्ट लोचन के समकालीन हैं। उसने कारिका और वृत्ति के रचयिता में भेद नहीं माना। पृ० १ पर उसने 'यत्रार्थः शब्दो वा' (ध्व० पृ० ३८) आदि कारिका उद्धृत की है और उसे ध्वनिकार की रचना बताया है। पृ० ११ पर उसीने वृत्ति के कुछ पाठ उद्धृत किये हैं और उन्हें भी ध्वनिकार के ही बताया है। (उ० स्व० तथा चाह ध्वनिकारा "साररूपो ह्यर्थः" पृ० २३९, ध्वन्यालोक; 'पुनः स एवाह न हि व्यंग्ये प्रतीयमाने वाच्यबुद्धिदूरीभवति, पृ० २३६ ध्व०; 'न हि विभावानु-भावव्यभिचारिण एव', पृ० २२७ ध्व०)। व्यक्तिविवेक के पृ० १६ पर नीचे लिखी कारिका है—'अथार्थशब्देनोभयमपि संगृहीतं तस्योभयार्थविषयत्वेनेष्टत्वात्। यदाह—अर्थः सहृदयश्लाघ्यः-स्मृतौ (ध्वनिकारिका, १-२) इति। सत्यम्। किन्तु तमर्थमिति तच्छब्देनान्तर्यात् प्रतीयमानस्यार्थस्य परामर्शे सति पारिशेष्यादर्थो वाच्यविशेष इति स्वयं विवृतत्वाच्चार्थशब्दो वाच्यविषय एव विज्ञायते।' ऊपर लिखे पाठ में महिमभट्ट ने 'यत्रार्थः शब्दो वा' इत्यादि (ध्व० पृ० ३८) की वृत्ति 'यत्रार्थो वाच्यविशेषः' को भी ध्वनिकार कृत माना है। सी प्रकार व्यक्ति-

विवेक के पृ० २९ तथा ३४ पर भी कारिका के समान वृत्तिकार को भी ध्वनिकार कहा गया है। क्षेमेन्द्रकृत औचित्यविचारचर्चा में ध्वन्यालोक की निम्नलिखित कारिका आनन्दवर्धन के नाम से उद्धृत है—'विरोधी वाविरोधी वा रसोङ्गिनि रसान्तरे।···विरोधिता।' हेमचन्द्र (विवेक पृ० २६) ने 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' आदि कारिका (ध्व० १.४) को आनन्दवर्धन कृत माना है। इसी प्रकार काव्यानुशासन पृ० ११३ तथा २३५ पर उसने कारिका सं० ३.३० तथा ३९ को ध्वनिकार की बताया है। साहित्यदर्पण ने कारिका सं० १ तथा २.१२ को ध्वनिकार या ध्वनिकृत के नाम से उद्धृत किया है तथा 'न हि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वाहेण' इत्यादि (ध्व० पृ० १४८) वृत्ति को भी ध्वनिकारकृत माना है। ऊपर लिखे उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि जो ग्रन्थकार ध्वनिकार के एक सौ वर्ष पश्चात् हुए उनमें भी कारिकाकार वृत्तिकार के भेदाभेद को लेकर पर्याप्त भ्रम फैल चुका था। अतः उत्तरवर्त्ती ग्रन्थकारों को उद्धृत करना व्यर्थ है।

लोचन के पाठ भी जब मुकुल के साथ पढ़े जाते हैं तो एक बात का समर्थन करते हैं और जब महिमभट्ट तथा क्षेमेन्द्र के साथ तब दूसरी बात का। ऐसी स्थिति में किसी भी निर्णय पर पहुँचना अत्यंत कठिन है। आगे बताया जायगा कि लोचन से पहले भी ध्वन्यालोक पर चन्द्रिका नाम की टीका थी। इसी प्रकार, भट्टनायक ने अपने हृदयदर्पण में ध्वन्यालोक का प्रबल खण्डन किया है। सम्भव है इन दोनों से इस प्रश्न का निर्णय करने में सहायता मिले। किन्तु दुर्भाग्य से ये रचनायें अभी तक उपलब्ध नहीं हुईं। यदि लोचन (पृ० १५०-१५१) के उपरोक्त पाठ पर ध्यान दिया जाय तो प्रतीत होगा कि उसकी दृष्टि में चन्द्रिकाकार कारिका तथा वृत्ति के रचयिताओं को भिन्न-भिन्न मानते थे। वर्त्तमान स्थिति में मेरा यही मत है, यद्यपि यह निस्संकोच नहीं है कि मुकुल तथा लोचन के कुछ पाठ यथार्थ हैं। तथा कुन्तक, महिमभट्ट, क्षेमेन्द्र तथा अन्य लेखको के सामने वास्तविक परम्परा नहीं थी। प्रतीत होता है 'सहृदय' कारिकाकार का नाम या विशेषण रहा होगा और आनन्दवर्धन उसके निकटवर्त्ती शिष्य रहे होंगे। इस प्रकार कुछ ही काल के पश्चात् कारिकाओं तथा वृत्ति के कर्तृत्व को लेकर जो भ्रम उत्पन्न हुआ इसका स्पष्टीकरण किया जा सकता है। इस सम्बन्ध के कुछ स्पष्ट संकेत स्वयं ध्वन्यालोक में मिलते हैं। प्रथम कारिका के 'सहृदयमनःप्रीतये' शब्दों की वृत्तिकार ने निम्नलिखित व्याख्या की है—'रामायणमहाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्षयतां सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते।' यहां प्रीति शब्द का अर्थ जान-बूझकर आनन्द किया गया है, जिसके

दो अर्थ हैं—सुख तथा आनन्दवर्धन। समस्त वाक्य के दो अर्थ हो सकते हैं— (१) रसिकजनों के हृदय में आनन्द हो तथा (२) आनन्द अर्थात् वृत्तिकार आनन्दवर्धन सहृदय (अपने गुरु) जिसने रामायण आदि महाकाव्यों के द्वारा ध्वनि की व्याख्या की, कृपा पाप्त करे। इसी प्रकार वृत्ति के अन्तिम श्लोकों के सहृदयोदयलाभहेतोः शब्द भी द्व्यर्थक हैं। उसका एक अर्थ है सहृदय अर्थात् रसिकजन के उदय अर्थात् उन्नति के लिये तथा दूसरा सहृदय नामक ग्रन्थकार की कीर्ति के लिये। सहृदय तथा उसका समकक्ष सचेतस् शब्द कारिका, वृत्ति तथा लोचन में बीसियों बार आये हैं। उ० स्व० देखिये, कारिका सं० १.१. तथा २; २.१४; ३.४०; ध्व० पृ० ३, ८, ९, १२, १७, ४०, ७१, ९७, १०२, १९७, १९८ इत्यादि; लोचन पृ० ३, ७, १३, १४, २६, २८, ६८, २५४। ध्वन्यालोक (पृ० १९८) में सहृदय शब्द के अर्थ पर चर्चा है और लोचन ने उसका लक्षण इस प्रकार दिया है—'येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते हृदयसंवादभाजः सहृदयाः' (पृ० १३); पुनः पृ० ६८ पर 'हृदयसंवादापरपर्यायसहृदयत्वपरवशीकृततया' इत्यादि। हेमचन्द्र ने (विवेक पृ० ३) लोचन के शब्द ही उद्धृत किये हैं। यह उल्लेखनीय है कि लोचन ने आनन्दवर्धन का 'सहृदयचक्रवर्ती खल्वयं ग्रन्थकृदिति भावः' (पृ० १४) शब्दों द्वारा निर्देश किया है। यह कल्पना सम्भव है कि ध्वनिकार ने सहृदय शब्द का प्रयोग बार-बार किया है तथा काव्यशास्त्र सम्बन्धी समस्त प्रश्नों के लिये सहृदयजन को ही अन्तिम निर्णायक माना है। इसी कारण ध्वनिकार को सहृदय-चक्रवर्ती की उपाधि मिल गई। रामायण (अयोध्या १३-२२) तथा कालिदास (सचेतसः कस्य मनो न दूयते, कुमारसम्भव, ५.४८) ने सहृदय अथवा सचेतस् शब्द का प्रयोग साधारण अर्थ में अर्थात् सहानुभूतिपूर्ण हृदय वाले व्यक्ति के लिये किया है। इसके अतिरिक्त, पारिभाषिक अर्थ में भी सचेतस् शब्द का प्रयोग ध्वनिकार से सौ वर्ष पहले वामन ने किया है। उसने अपनी काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति (१, २, २१) में दो श्लोक 'तथाचाहुः' के साथ प्रस्तुत किये हैं। उनमें से एक नीचे लिखा है—"तथाचाहुः—

'वचसि यमधिगम्य स्यन्दते
वाचकश्रीर्वितथमपि तथात्वं यत्र वस्तु प्रयाति।
उदयति हि स तादृक् क्वापि वैदर्भरीतौ
सहृदयहृदयानां रञ्जकः कोपि पाकः॥'

अतः प्रतीत होता है पारिभाषिक अर्थ में सहृदय, शब्द का प्रयोग वामन से बहुत पहले होने लगा था। काव्यशास्त्र में मेधावी, दण्डी, धनिक आदि अनेक

विशेषणवाची शब्दों का प्रयोग ग्रंथकारों के लिये हुआ है। इसी प्रकार सहृदय शब्द का प्रयोग भी कोई असाधारण बात नहीं है। डा० कृष्णमूर्त्ति ने वामन द्वारा प्रयुक्त सहृदय शब्द का कारण बताते हुए कहा है कि वामन बहुत-से नये आलोचकों के समकालीन थे। उन्हींको सहृदय कहा गया है, जिनकी सत्ता कल्पना मात्र है (बी० ओ० आर० एनल्स, भाग २८, पृ० १९०, नं० १)। उसने उन आलोचकों के स्थान एवं समय के विषय में कुछ नहीं कहा। डा० कृष्णमूर्त्ति के निम्नलिखित कथन का आशय समझ में नहीं आता—'किन्तु वामन कश्मीरी थे। सम्भवतया वे नवीन सहृदयों के समकालीन थे। अतः वामन द्वारा किये गये प्रयोग से स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता। वामन ने केवल अपने एक पूर्ववर्ती का उल्लेख किया है जो सम्भवतया उससे कई सौ वर्ष पूर्व हुआ था। अतः पारिभाषिक अर्थ में सहृदय शब्द का प्रयोग अत्यंत प्राचीन जान पड़ता है। आनन्दवर्धन की रचना लगभग ८७५ से लेकर ९०० ई० के पूर्व नहीं रखी जा सकती। वामन का समय ७७५–८१० ई०। उपरोक्त श्लोक का निर्माता वामन का पूर्ववर्ती है। यह नहीं कहा जा सकता कि वह कितना पहले हुआ। अतः यह सम्भव नहीं है कि वामन का पूर्ववर्ती अज्ञातनामा लेखक आनन्दवर्धन या उसके गुरु (जिसने उसे काव्यशास्त्र सिखाया है) के शब्दों को ग्रहण करे। जहाँ तक एकता का प्रश्न है कारिका तथा वृत्ति दोनों का समय एक है (८७५–९०० ई०)। आनन्द ने अपने मार्ग-दर्शक के रूप में किसी आचार्य का उल्लेख नहीं किया। ऐसी स्थिति में यह नहीं माना जा सकता कि उसके पहले काव्य-मर्मज्ञों का एक वर्ग रहा होगा।

कारिकाकार के नाम का प्रश्न सर्वथा भिन्न है। उसके तथा वृत्तिकार के एकता-विषयक प्रश्न के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। दोनों में परस्पर भेद मानने वाला भी यह कह सकता है कि कारिकाकार का नाम अभी तक अज्ञात है। प्रो० सोवानी का सुझाव है कि कारिकाकार का नाम सहृदय है। इस बात के लिये प्रो० सोवानी ने जितने प्रमाण उपस्थित किये हैं मेरे पास उनसे कहीं अधिक हैं। फिर भी, मेरा यह दावा नहीं है कि मैं अपने तर्क को पूर्णतया सिद्ध कर चुका हूँ। मुकुलभट्ट के जो शब्द ऊपर उद्धृत किये गये हैं उनसे ज्ञात होता है कि उनकी दृष्टि में कारिकाकार अथवा समस्त ग्रन्थ के रचयिता का नाम सहृदय है तथा प्रतीहारेन्दुराज के मतानुसार यह नाम समस्त ग्रन्थ के रचयिता का है। अब मैंने इस बात की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया है कि राघवभट्ट की दृष्टि में इस ग्रन्थ का नाम सहृदयहृदयालोक था। कुछ पुष्पिकाओं में भी यही नाम मिलता है। यह

भी उल्लेखनीय है कि नाट्यशास्त्र के प्रथम श्लोक की टीका में अभिनवगुप्त ने भट्टनायक तथा उसकी रचना का सहृदयदर्पण के नाम से निर्देश किया है ।[1] इस निर्देश से यह प्रश्न खड़ा होता है कि भट्टनायक की रचना का नाम सहृदयदर्पण था या हृदयदर्पण । लोचन में इसका नाम हृदयदर्पण है (पृ० ३२, ७६) ।[2] व्यक्तिविवेक में निम्नलिखित प्रस्तावना श्लोक है—'सहसा यशोभिसतुं समुद्यता-दृष्टदर्पणा मम धीः ।' टीकाकार ने इसकी व्याख्या में कहा है—'दर्पणो हृदय-दर्पणाख्यो ध्वनिध्वंसग्रन्थोपि ।' बी० ओ० आर० आइ० की समस्त हस्तलिखित प्रतियों में लोचन के लिये हृदयदर्पणे शब्द आया है । मेरी दृष्टि में ग्रन्थ का नाम सहृदयदर्पण होना चाहिये; क्योंकि हृदयदर्पण की अपेक्षा यह अधिक अभिव्यंजक है । इसके दो अर्थ हो सकते हैं—सहृदय अर्थात् रसिकजनों के भावों का दर्पण तथा सहृदयता का सम्यक् परिचय देने वाला । अभिनवभारती (भाग १, पृ० १७३) का कथन है—'अत एव सहृदयाः स्मरन्ति 'वध (स) म चूडामणिआ' । श्लोक का मूल-पाठ खण्डित है । फिर भी इसमें कोई संदेह नहीं कि यहाँ सहृदय शब्द ग्रन्थकार के लिये आया है । उदयोत्तुङ्गकृत कौमुदी में लोचन के मङ्गल-श्लोक के अन्तिम चरण 'सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयते' की कई प्रकार से व्याख्या की गयी है । उनमें एक इस प्रकार है—'यदि वा कविशब्देन सर्वेपि कवयः सहृदया गृहीताः सहृदयशब्देनानन्दवर्धनाचार्यः ततश्च देवतात्मत्वे गुरुनम-स्कारोपि अनुसंहितो भवति ।' इससे प्रतीत होता है कि कौमुदीकार की दृष्टि में सहृदय का व्यक्तिवाचक नाम होना क्लिष्ट-कल्पना नहीं है । एक अन्य उल्लेख भी महत्त्वपूर्ण है और कारिका तथा वृत्ति के रचयिताओं के साथ सम्बन्ध रखता है । द्वितीय विवेक के प्रारम्भ में व्यक्तिविवेक (त्रिवे० सं० पृ० ३७) का कथन है—"इह खलु द्विविधमनौचित्यमुक्तमर्थविषयं शब्दविषयं च । तत्र विभावानुभावव्यभिचारिणामयथायथं रसेषु यो विनियोगस्तन्मात्रलक्षणमेक-मंगमाद्यैरेवोक्तमिति नेह प्रतन्यते ।" इस पर टीकाकार रुय्यक का कथन है—"उक्तमिति सहृदयैः । अन्तरंगमिति साक्षाद्रसविषयत्वात् । आद्यैरिति ध्वनिकार-प्रभृतिभिरिति । तदुक्तं 'अनौचित्या···परा ।' इत्यादिना ।" यहाँ ध्वनिकारिका

---

1. भट्टनायकस्तु ब्रह्मणा परमात्मना यदुदाहृतं···इति व्याख्यानं सहृदयदर्पणे पर्यगृहीत् । अ० भा०, भाग १, पृ० ४–५ ।

2. एतदेवोक्तं हृदयदर्पणे यावत्पूर्णो न चैतेन तावन्नैवैवम् । तेन यदाह भट्टनायकः 'शब्दप्राधान्यमाश्रित्य०·।' पृ० ३२ तेनैतन्निरवकाशं यदुक्तं हृदयदर्पणे सर्वत्र तर्हि काव्यव्यवहारः स्यादिति । पृ० ३२; यत्तु हृदयदर्पणे उक्तं 'हहा हेति सरम्भार्थोयं चमत्कारः' इति । पृ० ७६ ।

३.१० भी द्रष्टव्य है 'विभावभावानुभवसञ्चार्यौचित्यचारुणः। विधिः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा।' अतः उक्तमिति सहृदयैः शब्दों द्वारा इस कारिका का उल्लेख किया गया है। 'अनौचित्यादृते' आदि श्लोक वृत्ति पृ० १८० पर है। उसमें ध्वनिकारिका ३.१० की व्याख्या है। कम-से-कम यहाँ टीकाकार ने कारिका को सहृदय की तथा वृत्ति को ध्वनिकार की रचना माना है। डा० मुकर्जी ने 'इण्डियन कल्चर' भाग १२, पृ० ५७–६० में पुनः आक्रमण किया है। किन्तु उन्होंने कोई नया प्रमाण नहीं दिया। अतः उसका ऊहापोह व्यर्थ है। उन्होंने दो बातें ऐसी लिखी हैं जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। पृ० ६० पर उन्होंने लिखा है—'मेरा दृढ़ विश्वास है कि प्रत्येक बुद्धिमान् इस बात को स्वीकार करेगा कि कारिका तथा वृत्ति के भिन्न कर्त्ताओं की मान्यता केवल कपोल-कल्पना है और पूर्णतया भ्रमपूर्ण है। इसका एकमात्र कारण अविनाभाव के सम्यक् विचार का अभाव है। मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि इस प्रश्न का समाधान अन्तिम रूप से हो चुका है।' प्रथम वाक्य में जिन अपशब्दों का प्रयोग किया गया है मैं विद्वानों का ध्यान उस ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ। प्रतिपक्षी द्वारा प्रस्तुत तर्कों के लिये अपशब्दों का प्रयोग वादी की दुर्बलता का सूचक है। इस बात को प्रत्येक विचारशील निर्णायिक स्वीकार करेगा। मेरी डा० मुकर्जी को चुनौती है कि प्रतिपक्षी उनसे भी अधिक अपशब्दों का प्रयोग कर सकता है। किन्तु यह मार्ग विद्वानों के लिये शोभनीय नहीं है। द्वितीय वाक्य में दयनीय मनोदशा का प्रदर्शन है। डा० मुकर्जी दूसरों को डाँट-डपट कर चुप करना चाहते हैं। वे अपने पक्ष की पैरवी करने के साथ निर्णायिक भी स्वयं ही बन गये हैं। प्रश्न का समाधान हो चुका है या नहीं, इस बात का निर्णय तटस्थ विद्वान् ही कर सकते हैं, डा० मुकर्जी नहीं। इसी प्रकार, नीचे लिखे वक्तव्य से पता चलता है कि डा० कृष्णमूर्त्ति भी कहाँ तक संतुलन रख सके हैं। 'रचयिताओं में भेद का समर्थन करने के लिये एक भी प्रमाण नहीं है (आइ० एच० क्यू० भाग २४, पृ० ३०७)।' अपने-आप को ठीक समझकर उन्होंने आत्म-संतोष कर लिया है। मैं उनके इस सुख में बाधा नहीं डालना चाहता। उनके मत का अन्तिम तथा सम्यक् निर्णय करना संस्कृत के विद्वानों का कार्य है।

अब इस बात पर विचार किया जायगा कि ध्वनिकार से पहले भी काव्य-शास्त्र में ध्वनि का सिद्धान्त था या नहीं। सर्वप्रथम उन तर्कों पर विचार किया जायगा जो उसके होने का प्रतिपादन करते हैं। आनन्दवर्धन ने पृ० १० पर एक कारिका उद्धृत की है—'काव्यं तद्ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसञ्जडो नो विद्मोऽभिदधाति किं सुमतिना पृष्टः स्वरूपं ध्वनेः।' लोचन ने इसे मनोरथकृत

बताया है जो ध्वनिकार का समकालीन था। प्रस्तुत कारिका में ध्वनि-मत का खण्डन किया गया है। देखो, राजतरङ्गिणी ४.४९७ मनोरथ के लिये तथा ४.६७१ मानी मनोरथो मन्त्री परं परिजहार तम्। इसमें मनोरथ द्वारा राजा जयापीड के उत्तराधिकारी कामोन्मत्त ललितापीड के परित्याग का उल्लेख है। सुभाषितावलि· (सं० ५१, ५८, ४४०) में मनोरथ के श्लोक उद्धृत हैं। यदि प्रस्तुत मनोरथ तथा जयापीड एवं ललितापीड के राजपण्डित मनोरथ एक ही हैं, तो ध्वनिकारिकाओं का रचना-काल ८००–८२५ मानना होगा। लोचन ने मनोरथ को जो आनन्द का समकालीन बताया है, सम्भवतया इसमें कुछ भ्रान्ति है।

लोचन ने ध्वन्यालोक के 'परम्परया समाम्नातः' शब्दों की व्याख्या करते हुए लिखा है कि ध्वन्यालोक से पहले ध्वनिविषयक कोई ग्रन्थ नहीं था—'विनापि विशिष्टपुस्तकेषु विवेचनादित्यभिप्रायः' (पृ० ४)। ध्वन्यालोक में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि ध्वनिसिद्धान्त तथा इसका नामकरण व्याकरण स्फोट-सिद्धान्त से लिया गया है। 'प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः। व्याकरणमूलत्वात्सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः (ध्व० पृ० ५५–५६) तथा 'परिनिश्चितनिरपभ्रंशशब्दब्रह्मणां विपश्चितां मतमाश्रित्यैव प्रवृत्तोयं ध्वनिव्यवहार इति तैः सह किं विरोधाविरोधौ चिन्त्येते' (पृ० २४९)। सम्भवतया स्फोट का सिद्धान्त पाणिनी से भी प्राचीन है। अष्टाध्यायी ६.१.१२३ में 'अवङ् स्फोटायनस्य' सूत्र है। वाक्यपदीय (१. ४४ तथा आगे) में स्फोट सिद्धान्त की विस्तृत चर्चा है। ध्वन्यालोक का कथन है कि ग्रन्थ का ध्येय विविध तर्कों द्वारा केवल ध्वनि का अस्तित्व सिद्ध करना नहीं है किन्तु यह बताना है कि काव्य का वास्तविक प्रयोजन एवं कार्य व्यंग्य है, जो रस, भाव आदि के रूप में परिणत होता है। यदि कवि केवल घटना-वर्णन को अपना कर्त्तव्य मानता है तो रस या सुरुचि का अपलाप करता है।

'अत एव चेतिवृत्तमात्रवर्णनप्राधान्येऽङ्गाङ्गिभावरहितभावनिबन्धेन च कवीनामेवंविधानि स्खलितानि भवन्तीति रसादिरूपव्यंग्यतात्पर्यमेवैषां युक्तमिति यत्नोऽस्माभिरारब्धो न ध्वनिप्रतिपादनमात्राभिनिवेशेन' (पृ० २०१–२०२)।

कारिकाकार तथा वृत्तिकार की एकता या भिन्नता के सम्बन्ध में प्रस्तुत समस्त तर्कों का परीक्षण करने के पश्चात् मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि

आनन्दवर्धन के कुछ ही काल पश्चात् एकता मानने वालों ने ध्वन्यालोक के मूल पाठ को बदलना प्रारम्भ कर दिया।' इति काव्यार्थ···विस्मार्यः (३.९ से आगे पृ० १७८) सरीखे स्वनिर्मित श्लोकों को प्रक्षिप्त किया, नित्याक्लिष्ट के स्थान पर इत्यक्लिष्ट तथा कारिकाओं को तोड़-मरोड़कर अर्थ बदला।

ध्वन्यालोक का विषय-परिचय थोड़ी-सी पंक्तियों में नहीं दिया जा सकता। नीचे केवल रूपरेखा दी जा रही है—

प्रथम उद्योत में ध्वनि सम्बन्धी विविध मान्यताओं का परिचय है। किसी का मत है कि ध्वनि नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। अन्य विद्वानों ने इसका लक्षण में अन्तर्भाव कर लिया है। कुछ का मत है, ध्वनि का लक्षण शब्दों द्वारा नहीं प्रकट किया जा सकता। वह केवल रसिकों के आस्वाद का विषय है। काव्य के दो अर्थ होते हैं—(१) वाच्य, (२) प्रतीयमान। वाच्यार्थ आलंकारिक भाषा में प्रकट किया जाता है और सर्वगम्य होता है। प्रतीयमान अर्थ किसी सुन्दरी के लावण्य के समान होता है जो शरीर तथा आभूषणों से सर्वथा भिन्न है। प्रतीयमान के तीन भेद हैं—वस्तु, अलङ्कार और रस। इन तीनों के पुनः अनेक भेद हैं। इस प्रतीयमान अर्थ को केवल व्याकरण तथा कोष का ज्ञान रखने वाले नहीं जान पाते। उसे काव्यमर्मज्ञ ही समझ सकते हैं। प्रतीयमान अर्थ ही काव्य में प्रधान होता है। जिस काव्य में व्यंग्य अर्थ प्रधान होता है उसे ध्वनिकाव्य कहा जाता है। समासोक्ति, आक्षेप, पर्यायोक्त आदि अलङ्कारों में व्यंग्य अर्थ का अस्तित्व होने पर भी वाच्य अर्थ प्रधान होता है अतः उन्हें ध्वनि-काव्य नहीं कहा जा सकता। ध्वनि दो प्रकार की होती है—अविवक्षितवाच्य जहाँ वाच्य अर्थ का बोध अभिप्रेत नहीं है अथवा जहाँ शाब्दिक अर्थ की अपेक्षा नहीं रहती तथा विवक्षितान्यपरवाच्य—जहाँ वाच्य अर्थ प्रतीत होने पर भी किसी अन्य अर्थ का बोध कराता है। ध्वनि का न तो भक्ति (लक्षणा) में समावेश हो सकता है और वह लक्षणातीत भी नहीं है।

द्वितीय उद्योत में अविवक्षितवाच्य के दो भेद किये गये हैं—(क) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य तथा (ख) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य, साथ ही उनके उदाहरण भी दिये गये हैं। वे क्रमशः इस प्रकार हैं—

(क) तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते।
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि॥

(इसमें दूसरा 'कमलानि' अर्थान्तरसंक्रमित है।)

(ख) रविसंक्रान्तसौभाग्यस्तुषारावृत्तमण्डलः।
निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते॥

(इसमें 'अन्ध' अत्यन्ततिरस्कृतवाक्य है।)

इसी प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य के दो भेद हैं---असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य तथा संलक्ष्यक्रमव्यंग्य। क्रमशः रस, भाव, रसाभास, भावाभास तथा भावप्रशम की प्रधानता के कारण असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के अनेक प्रकार हैं। जहाँ रस, भाव आदि अप्रधान हैं और वाच्य अर्थ मुख्य है वहाँ रसवद् आदि अलङ्कार होते हैं। इसके पश्चात् गुण और अलङ्कारों में परस्पर भेद का निरूपण है। माधुर्य, ओज तथा प्रसाद नामक तीन गुणों का विवेचन किया गया है। शृङ्गार में अनुप्रास और यमक का अप्रयोग। रूपक, पर्यायोक्त आदि अलङ्कार जहाँ शृङ्गार-रस के सहायक एवं गौण होते हैं ऐसे उदाहरण---संलक्ष्यक्रम के उपभेद—शब्दशक्तिमूल तथा अर्थशक्तिमूल। शब्दशक्तिमूल का अर्थ है, जहाँ शब्दों के द्वारा अलङ्कार व्यंग्य है, वाच्य नहीं। जबकि श्लेष में दोनों अर्थ वाच्य होते हैं। शब्दशक्तिमूलध्वनि तथा श्लेष के उदाहरण। अर्थशक्तिमूल ध्वनि का लक्षण और विवेचन। उसका उदाहरण—

'एवं वादिनिदेवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥'

यहाँ लज्जारूप व्यभिचारिभाव व्यंग्य है। अर्थशक्तिमूल तथा असंलक्ष्यक्रम में भेद। असंलक्ष्यक्रम वहाँ होता है जहाँ विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारि भावों के वाच्य होने के कारण रसानुभूति होती है। अर्थशक्तिमूल के दो भेद— वस्तु तथा अलङ्कार। वस्तु के पुनः दो भेद—प्रौढोक्तिनिष्पन्न तथा स्वतः-सम्भवी। अलङ्कारध्वनि के उदाहरण—

द्वितीय उद्योत में ध्वनि के भेद व्यंग्य की दृष्टि से किये गये थे किन्तु तृतीय उद्योत में वे व्यञ्जक की दृष्टि से किये गये हैं। अविवक्षितवाच्य के दो भेद हैं---(१) पदप्रकाश्य तथा (२) वाक्यप्रकाश्य। पदप्रकाश्य का उदाहरण—'कः सन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायां।' वाक्यप्रकाश्य का उदाहरण---'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।' विवक्षितान्यपरवाच्य के भेद संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के भी उपरोक्त दोनों प्रकार हैं। असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य की अभिव्यक्ति वर्ण, पद, वाच्य, सङ्घटना तथा प्रबन्ध द्वारा होती है। तीन प्रकार की सङ्घटनायें—असमासा, मध्यमसमासा तथा दीर्घसमासा। सङ्घटना का गुणों के साथ सम्बन्ध[1]। सङ्घटना का आधार वक्ता, अर्थ, विषय तथा रस की

1. देखो, न्यू इ० एण्टि०, भाग ७, पृ० ७६–७८ में सङ्घटना पर एक छोटा लेख।

अनुरूपता है। रस की अभिव्यक्ति, तथा चर्वणा के प्रकार। विभिन्न रसों के सहायक अलङ्कार। कथावस्तु तथा उसका रस के साथ सम्वन्ध। असंलक्ष्यक्रम की विभक्ति, क्रिया पद, कृत्, तद्धित तथा समास के द्वारा अभिव्यक्ति। उसके उदाहरण। रसाभिव्यक्ति के विरोधी तत्त्व। काव्य में एक रस प्रधान होना चाहिये और दूसरे उसके सहायक। वाच्य और गम्य अर्थों में परस्पर भेद का विवेचन। गुणवृत्ति और व्यंग्य में भेद। व्यंग्यव्यञ्जकभाव और अनुमान में भेद। गुणीभूतव्यंग्य नामक काव्य के द्वितीय प्रकार का निरूपण। इसमें व्यंग्य होने पर भी वाच्य अर्थ अधिक चमत्कारपूर्ण होता है। गुणीभूतव्यंग्य के उदाहरण। चित्र नामक काव्य के तृतीय भेद का निरूपण। इसके दो भेद हैं—शव्दचित्र (यमक आदि) तथा वाच्यचित्र (उत्प्रेक्षा आदि)। तृतीय भेद अर्थात् चित्रकाव्य वहाँ होता है जहां कवि का उद्देश्य व्यंग्य अर्थ या अलङ्कार आदि प्रगट करना नहीं होता। काव्य के इन तीन भेदों के मिश्रण से अनेक उपभेद वन जाते हैं। कैशिकी आदि रीतियों तथा उपनागरिका आदि वृत्तियों का निरूपण।

(४) ध्वनि तथा गुणीभूतकाव्य में कवि की प्रतिभा सदा नूतन चमत्कार प्रकट करती रहती है। साधारण वस्तु भी कवि की कल्पना के चमत्कार से नवीन प्रतीत होने लगती है। कवि को अपनी रचना में प्रधान रूप से एक ही रस पर केन्द्रित होना चाहिये। रामायण में प्रधान रस करुण है। महाभारत शास्त्र और काव्य दोनों है। उसका प्रधान रस शान्त है। अनेक शताब्दियों से सैकड़ों कवि काव्य रचते आ रहे हैं। फिर भी कविता का क्षेत्र असीम है। प्रतिभाशाली कवियों के भावों में कहीं-कहीं समानता भी सम्भव है। दो कवियों की रचनाओं में परस्पर साम्य तीन प्रकार का हो सकता है—(१) विम्व—प्रतिविम्व के समान, (२) वस्तु तथा उसके चित्र के समान तथा (३) परस्पर दो मनुष्यों के समान। प्रथम दो प्रकार का साम्य हेय है, किन्तु तृतीय प्रकार का आकर्षक होता है।

ध्वन्यालोक में रामायण और महाभारत के उद्धरण मिलते हैं। महाभारत में से अनुक्रमणी, गीता, गृध्रगोमायुसंवाद के उद्धरण हैं। इनके अतिरिक्त, नीचे लिखे ग्रन्थ एवं ग्रन्थकारों का उल्लेख है—आनन्दकृत अर्जुनचरित (पृ० १८३, २१८), अमरुक, उद्भट (११६, १३१) कादम्बरी, कालिदास, तापसवत्सराज (एक नाटक), धर्मकीर्त्ति, नागानन्द, भट्टबाण, भरत, भामह (४६, २५९), मधुमथनविजय, रत्नावली, रामाभ्युदय, विषमबाणलीला (आनन्द का प्राकृत-

काव्य), वेणीसंहार, सर्वसेन (प्राकृतकाव्य हरिविजय के रचयिता), सातवाहन (जो नागलोक को गये थे, १७९)। सेतुकाव्य, हरिविजय, हरिवंश (कृष्णद्वैपायन की रचना तथा महाभारत के परिशिष्ट के रूप में, ३००), हर्षचरित। नीचे लिखे काव्यों से उद्धरण लिये गये हैं–गाथासप्तशती, मनोरथ, शाकुन्तल तथा कालिदास के अन्य ग्रन्थ, शिशुपालवध तथा सूर्यशतक। उन्होंने संस्कृत तथा प्राकृत के स्वरचित श्लोक भी प्रचुर संख्या में उदाहरण के रूप में उद्धृत किये हैं (प० १२३ पर दो श्लोक, १३४, १३६, २८४, ३०३, ३०६)। यत्र-तत्र, परिकर-श्लोक भी दिये हैं। इसका अर्थ लोचन (पृ० ४०) ने इस प्रकार बताया है—'परिकरार्थं कारिकार्थस्याधिकावापं कर्तुं श्लोकः परिकरश्लोकः'। इसका अर्थ है, वृत्ति के अन्तर्गत मूल की व्याख्या अथवा विस्तार करने वाला श्लोक। परिकर शब्द का अर्थ समझने के लिये नीचे लिखे श्लोक से तुलना कीजिये—

"व्याकरणस्य शरीरं परिनिष्ठितशास्त्रकार्यमेतावत्।
शिष्टः परिकरबन्धः क्रियतेस्य ग्रन्थकारेण॥'

(जे० वी० बी० आर० ए० एस०, भाग १६, अधिक सं, पृ० २९, पेटरसन का काशिका की हस्तलिखित प्रति पर)। पृ० २७७ पर उन्होंने दो श्लोक 'तदिदमुक्तं' शब्दों के साथ प्रस्तुत किये हैं। लोचन ने इसका अर्थ किया है—'मयैवेत्यर्थः'। पृ० २९२ पर उन्होने एक अन्य श्लोक 'तदिदमुक्तं' शब्दों द्वारा प्रस्तुत किया है जिस पर लोचन का टिप्पण है 'उक्तमिति संग्रहार्थं मयैवेत्यर्थः'। पृ० २७८ पर दो प्रसिद्ध श्लोक 'अपारे काव्यसंसारे' तथा 'शृङ्गारी चेत्कविः'तथा चेदमुच्यते शब्दों द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं। जिनकी चर्चा ऊपर (पृ०९-१०) हो चुकी है)। पृ० २८० पर चर्चित विषयों के संग्राहक दो श्लोक 'तदयमत्र संग्रहः' शब्दों द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं।

ध्वन्यालोक का तिथि-निर्णय—आनन्दवर्धन का तिथि-निर्णय संशयग्रस्त नहीं है। राज० (५.३४) का कथन है—

'मुक्ताकरणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात्साम्राज्येवन्तिवर्मः॥'

इससे ज्ञात होता है कि आनन्दवर्धन ने कवि के रूप में कश्मीर नरेश अवन्तिवर्मन् (८५५–८८३ ई०) के राज्य में ख्याति प्राप्त की। अन्य प्रमाणों से भी इस तिथि का समर्थन होता है। उसने उद्भट का निर्देश किया है। अतः उसे आठवीं शताब्दी के पश्चात् रखना होगा। दूसरी ओर, राजशेखर (९००–

९२५ ई०) ने उसका निर्देश किया है। अतः आनन्दवर्धन का रचना-काल ८६०–८९० ई० के वीच होना चाहिये। रत्नाकर ने हरविजय नामक महाकाव्य वालवृहस्पति के राज्य में रचा था। सुभाषितावली में शिवस्वामी नामक कवि के अनेक श्लोक उद्धृत हैं। लोचन का कथन है कि मनोरथ आनन्दवर्धन के समकालीन थे (देखो पृ० २४८)। आनन्दवर्धन ने अर्जुनचरित, ध्वन्यालोक तथा विषमवाणलीला के अतिरिक्त धर्मोत्तमा पर एक ग्रन्थ लिखा था और उसकी रचना ध्वन्यालोक के पश्चात् की थी। धर्मोत्तमा धर्मकीर्त्ति के प्रमाणनिश्चय की टीका है। 'यत्त्वनिर्देश्यत्वं सर्वलक्षणविषये वौद्धानां प्रसिद्धं तन्मतपरीक्षायां ग्रन्थान्तरे निरूपयिष्यामः' (पृ० २९२) इस पर लोचन का निम्नलिखित टिप्पण है—'विनिश्चयटीकायां धर्मोत्तमायां या विवृतिरमुना ग्रन्थकृता तत्रैव तद्वयाख्यातम्।' हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लॉजिक' (पृ० ३२९–३३१) में डा० विद्याभूषण ने प्रमाणविनिश्चय की धर्म्मोत्तरकृत धर्मोत्तमा टीका की तिथि ८४७ ई० वतायी है। धर्मोत्तमा मूल संस्कृत में उपलब्ध नहीं है, केवल तिव्वती अनुवाद प्राप्य है। आनन्द ने देवीशतक नामक स्तोत्र भी रचा था जिसमें यमक, भाषाश्लेष, गोमूत्रिका तथा अन्य चित्रवन्ध वाहुल्य से हैं। उसके १०१वें श्लोक से ज्ञात होता है कि आनन्दवर्धन नोण के पुत्र थे तथा देवीशतक की रचना विषमवाणलीला और अर्जुनचरित के पश्चात् की थी। 'येनानन्दकथायां त्रिदशानन्दे च लालिता वाणी। तेन सुदुष्करमेतत्स्तोत्रं देव्याः कृतं भक्त्या।' हेमचन्द्र ने भी अपने काव्यानुशासनविवेक (पृ० २२५) में वताया है कि आनन्दवर्धन नोण का पुत्र था। देवीशतक पर कय्यट की टीका है जो चन्द्रादित्य के पुत्र तथा वल्लभदेव के पौत्र थे। इनका समय ४०७८ गतकलि (अर्थात् ९७७ ई०) है तथा वे भीमगुप्त के शासन-काल में विद्यमान थे।[1]

---

1. देखो, जरनल ऑफ दि डिपार्टमेंट ऑफ लेटर्स (संख्या ९), कलकत्ता विश्वविद्यालय। इसमें चतुर्थ उद्योत पर अभिनवगुप्त कृत टीका प्रकाशित हुई है, जिसका सम्पादन डा० एस० के० डे ने मद्रास में सुरक्षित दो हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर किया है। इससे ज्ञात होता है कि आनन्दवर्धन ने तत्त्वालोक नामक ग्रन्थ भी रचा था जिसमें शास्त्रनय तथा काव्यनय के परस्पर सम्वन्ध का निरूपण था। तथा ध्वन्यालोक के पृ० २९७ पर आयी हुई 'उदिह०' इत्यादि कारिका सैन्धव भाषा में है। वृत्ति (पृ० ३००) में निम्नलिखित शब्द आये हैं—'मोक्षलक्षण एवैकः परः पुरुषार्थः शास्त्रनये काव्यनये च तृष्णाक्षयसुखपरिपोषलक्षणः शान्तो रसो महाभारतस्याङ्गित्वेन विवक्षित इति सुप्रति-

हस्तलिखित प्रतियों में अभिनवगुप्त कृत टीका के अनेक नाम हैं—सहृदया-लोकलोचन अथवा ध्वन्यालोकलोचन अथवा काव्यालोकलोचन। टीका का नाम लोचन है, आलोचन नहीं, जैसीकि कुछ लोगों की धारणा है। प्रथम तथा तृतीय उद्योत के अन्त में नीचे लिखा श्लोक है—

किं लोचनं विनालोको भाति चन्द्रिकयापि हि।
तेनाभिनवगुप्तोत्र लोचनोन्मीलनं व्यधात्॥'

विश्वनाथ आदि उत्तरवर्त्ती लेखकों ने उसका निर्देश लोचनकार के रूप में किया है। अलङ्कार साहित्य में अभिनवगुप्त कृत टीका का वही स्थान है जो व्याकरण में पतञ्जलि कृत महाभाष्य का और वेदान्त में शाङ्करभाष्य का। अभिनवगुप्त उच्चकोटि के दार्शनिक, काव्य-मर्मज्ञ तथा कवि थे। उनकी टीका कहीं-कहीं मूल से भी अधिक गम्भीर तथा कठिन है। उसने यत्र-तत्र वृत्ति तथा कारिकाओं के विभिन्न पाठों की चर्चा भी की है (देखो, पृ० १८०, कारिका ३.४६ पृ० २९० पर)। लोचन में ध्वन्यालोक के अतिरिक्त नीचे लिखे ग्रन्थ एवं ग्रन्थकारों का उल्लेख है—इन्दुराज (वाहुल्येन उद्धृत), उत्पल (पृ० ३५ परमगुरु के रूप में), भट्टजयन्तक का कादम्वरीकथासार[1] (पृ० १७६)

पादितम्।' इन पर लोचन का कथन है—'शास्त्रनय इति। तत्रास्वादयोगाभावे पुरुपार्थ इत्ययमेव व्यपदेशः सोदरः चमत्कारयोगे तु रसव्यपदेश इति भावः। एतच्च ग्रन्थकारेण तत्त्वालोके वितत्योक्तम्।'

1. कादम्वरीकथासार (काव्यमाला सं०) के कर्त्ता अभिनन्द थे। वे वृत्तिकार जयन्तभट्ट के पुत्र थे। इस ग्रन्थ के प्रस्तावना श्लोक में वश-परम्परा दी गई है। शक्तिस्वामी कर्कोटवंशीय राजा मुक्तापीड के मंत्री थे। उनके पुत्र कल्याणस्वामी हुए। उनके चन्द्र, चन्द्र के जयन्त तथा जयन्त के पुत्र अभिनन्द हुए। राजत० ४.४३ से ज्ञात होता है कि मुक्तापीड का दूसरा नाम ललिता-दित्य था। उसका शासन-काल ७००–७३६ ई० है। अभिनन्द शक्तिस्वामी की पाँचवीं पीढ़ी में हुए। यदि इसके लिये २० वर्ष का व्यवधान मान लिया जाय तो अभिनन्द का समय ८२०–८५० ई० ठहरता है। अभिनवगुप्त ने ग्रन्थकार के रूप में कादम्वरीकथासार के लेखक के रूप में जयन्तक का उल्लेख किया है, अभिनन्द का नहीं। इसका कारण स्पष्ट नहीं है। सम्भवतया यह भूल है अथवा जयन्तक का अर्थ है जयन्त का पुत्र या लिपिकारों ने भूल से जयन्तपुत्रक के स्थान पर जयन्तक लिख दिया। धनपाल (लगभग १००० ई० ने अपनी तिलक-मञ्जरी में (प्रस्तावना श्लोक ३३) अभिनन्द की प्रशंसा की है।

भट्टतौत का काव्यकौतुक (२३१), कुमारिलभट्ट (पृ० २३४), चन्द्रिकाकार (२२१), तन्त्रालोक (२३), तापसवत्सराज (पृ० १८६–१८७), भट्टतौत (३४), दण्डी (१७५), प्रभाकरदर्शन (२३४), भर्तृहरि (वाक्यपदीय के लेखक, पृ० ५५), भागुरि, मनोरथ, विवरणकृत्, यशोवर्म (रामाभ्युदय के लेखक), वत्सराजचरित, वामन, स्वप्नवासवदत्ता (नाटक), हृदयदर्पण (३२, ७६)। उसने स्वरचित श्लोकों को पुन:-पुनः उद्धृत किया है (४३, ४८, ५१, ९१, ११४, १४३, २२३)। बताया गया है कि उनमें से कुछ श्लोक स्तोत्र के हैं (पृ० ९१, २२३)। उसने स्वयं लिखा है (पृ० २२१) कि उसने अपने गुरु भट्टतौतकृत काव्यकौतुक पर विवरण लिखा था। उसने लोचन की रचना तन्त्रालोक के पश्चात् की थी (पृ० २३)।

अभिनवगुप्त प्रतिभा-सम्पन्न लेखक थे। उनके माता-पिता, गुरु तथा ग्रन्थों के लिये आगे देखिये अध्याय २१। लोचन की प्रस्तावना में उन्होंने अपने गुरु का नाम भट्टेन्दुराज बताया है तथा उनके अनेक श्लोक उदाहरण के रूप में उद्धृत किये हैं (२९ ५१, १४२, १९७, २५९, २७९)। २९, ५१ तथा १४२ पृष्ठों पर उनका नाम केवल भट्टेन्दुराज आया है तथा ५१ और १४२ पृष्ठों पर अस्मदुपाध्याय-भट्टेन्दुराज है। उद्धरणों से ज्ञात होता है कि भट्टेन्दुराज ने संस्कृत तथा प्राकृत दोनों में श्लोक-रचना की थी। अन्तिम गाथा प्राकृत में है। लोचन के (पृ० १९७) यथा वास्मदुपाध्यायस्य विद्वत्कविसहृदय-चक्रवर्तिनो भट्टेन्दुराजस्य' शब्दों से ज्ञात होता है कि भट्टेन्दुराज कवि ही नहीं काव्यमर्मज्ञ भी थे। यहाँ लोचन ने इन्दुराज की प्रशंसा की है तथा उन्हें विद्वानों, कवियों एवं सहृदयों का चक्रवर्ती बताया है। अभिनवगुप्त ने भगवद्गीता की टीका में बताया है (बुहलर के० रिपोर्ट पृ० ८० तथा पृ० १४८) कि उसके गुरु भट्टेन्दुराज कात्यायनगोत्रीय थे। उनके पितामह का नाम सौचुक तथा पिता का नाम भूतिराज था। ध्वन्यालोक के शब्दों तथा वहाँ दिये गये उदाहरणों के सम्बन्ध में लोचनकार ने अपने गुरु अथवा उपाध्याय के मत का अनेक बार उल्लेख किया है। ध्वन्यालोक के प्रस्तावना श्लोक 'स्वेच्छाकेसरिणः' पर लोचन (पृ० ३) का कथन है—'एवं वस्त्वलङ्कारसभेदेन त्रिधा ध्वनिरत्र श्लोकेऽस्मद्गुरुभिर्व्याख्यातः'; 'सर्वथालङ्कारादिषु व्यंग्यं वाच्ये गुणीभवतीति नः साध्यमित्यत्राशयोत्र ग्रन्थेऽस्मद्गुरुभिर्निरूपितः' (पृ० ४४); अस्मद्गुरवस्त्वाहु,—अत्रोच्यते इत्यनेनेदमुच्यते' इत्यादि (पृ० २७७)। 'प्रयच्छतोच्चैः कुसुमानि मानिनी' गाथा पर 'अस्मदुपाध्यायास्तु हृद्यतमानि पुष्पाणि अमुके गृहाण गृहाणेत्युच्चैस्तारस्वरेणादरातिशयार्थं प्रयच्छता (पृ० २६७)' कारिका है।

लोचन ने इसकी व्याख्या दूसरे प्रकार से की है। तथा उद्धरणों से प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त के सामने उनके गुरु ने समस्त ध्वन्यालोक की व्याख्या की थी। वह व्याख्या चाहे पुस्तक के रूप में हो या अध्यापन के रूप में।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है—क्या भट्टेन्दुराज और उद्भट के टीकाकार प्रतीहारेन्दुराज एक ही हैं। प्रतीहारेन्दुराज की वंश-परम्परा के विषय में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है। किन्तु यह स्पष्ट है कि वे ध्वनि के समर्थक नहीं हैं। उनके मतानुसार उसका अलङ्कारों में अन्तर्भाव हो जाता है। इसके विपरीत, भट्टेन्दुराज ध्वनि के समर्थक प्रतीत होते हैं। उन्होंने ही अभिनवगुप्त के समक्ष ध्वन्यालोक की व्याख्या की। किन्तु यह तथ्य इन दोनों का भेद सिद्ध करने के लिए अपने-आप में पर्याप्त नहीं है। एक अध्यापक के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह जिस मत का समर्थक नहीं है उसका अध्यापन भी न करे। कुछ अन्य तथ्य भी हैं। अभिनवगुप्त ने उपाध्याय इन्दुराज के साथ प्रतीहार की उपाधि कहीं नहीं लगाई। ऐसे प्रमाणों की भी सम्यक् परीक्षा करनी होगी। प्रतीहारेन्दुराज कौङ्कण निवासी थे और अध्ययन के लिए काश्मीर आये थे। प्रतिहार अथवा प्रतीहार शब्द का अर्थ उच्च अधिकारी है। विश्वनरूप ने याज्ञवल्क्यस्मृति १, ३०७ की वृहस्पतिकृत टीका का उल्लेख करते हुए कहा है—कुलाढय उद्युक्तो मृदुसदात्तः समरचित्त; शूरोऽनुरक्तोऽभेद्यः पत्तिविशेषज्ञ इङ्गिताकारकुशलः प्रतीहारः स्यात्। महाभारत (शान्तिपर्व ८५, २८–२९) विष्णुधर्मोत्तर (२, २४, १२) तथा शुक्रनीति (२, १२१–१२२) ने भी इसके लक्षण दिये हैं। ध्रुवसेन प्रथम (वल्लभी संवत् २०६, ५२५–२६ ई०) के दान-पत्र में दान का दूतक प्रतिहार मम्मक है (ऐपिग्राफिया इण्डका भाग ११, पृ० १०५–९) प्रतीहार शब्द के लिए देखिए, वर्मलात के वसन्तगढ-शिला लेख (इ० ऐपिग्राफिया इण्डिका भाग ९, पृ० १८७–१९२) कन्नौज के राजा चन्द्रदेव (संवत् ११४८) के चन्द्रांवती—ताम्रपत्र (ऐपि० इ० भाग ९, पृ० ३०५) और राजतरङ्गिणी (५, १५१)। अतः ज्ञात होता है कि प्रतीहारेन्दुराज काश्मीरी उच्चाधिकारी रहे होंगे और अन्य इन्दुराजों से भिन्नता प्रकट करने के लिए उनके नाम के साथ प्रतीहार जोड़ा जाने लगा। यह भी सम्भव है कि कोङ्कण सरीखे दूरवर्ती प्रदेश से आकर काश्मीर में उन्होंने जो उच्च सम्मान प्राप्त किया वे उसे अपना गौरव समझते होंगे और इसीलिए प्रतिहार शब्द को अपने नाम के साथ लगाना प्रारम्भ कर दिया। भट्टेन्दुराज तथा प्रतीहारेन्दुराज दोनों काव्यशास्त्र के पण्डित थे तथा न्यूनाधिक एक ही समय में हुए। फिर

भी उन्हें परस्पर भिन्न मानना ही उचित है। सम्भव है, प्रतीहारेन्दुराज भट्ट इन्दुराज के आसन्नपूर्ववर्ती अथवा वृद्ध समकालीन रहे हों। आगे चलकर बताया जायेगा कि मुकुल कृत अभिधावृत्ति मातृका का समय ९००–९२५ ई० के मध्य है। प्रतीहारेन्दुराज मुकुल के शिष्य थे। उन्होंने अपनी टीका के अन्तिम श्लोक में मुकुल की बहुत प्रशंसा की है। उनके शब्दों से ध्वनित होता है कि जब यह टीका रची गई, मुकुल जीवित थे। अतः इस टीका का समय ९२०–९५० ई० का मध्य मानना होगा। आगे बताया जायेगा कि अभिनवगुप्त का साहित्यिक जीवन ९८०–१०२० ई० तक रहा है। अतः उनके गुरु इन्दुराज का समय ९६०–९९० तक मानना चाहिए। अभिनवगुप्त ने प्रतीहारेन्दुराज तथा मुकुल का कहीं निर्देश नहीं किया। यदि प्रतीहारेन्दुराज और भट्टेन्दुराज एक ही होते तो अभिनवगुप्त अपने परम गुरु मुकुल का कहीं-न-कहीं उल्लेख अवश्य करते; जैसाकि उत्पलदेव का किया है। एक बात और है, प्रतीहारेन्दुराज ने अपनी टीका में स्वरचित कोई श्लोक उद्धृत नहीं किया। इससे प्रतीत होता है, वे केवल काव्यसमीक्षक थे, कवि नहीं। दूसरी ओर, भट्टेन्दुराज समीक्षक होने के साथ-साथ प्रसिद्ध कवि भी थे। अभिनवभारती में उनकी गणना वाल्मीकि, व्यास और कालिदास के साथ की गई है—न हि सर्वे वाल्मीकिर्व्यासः कालिदासो भट्टेन्दुराजो वा (अभिनवभारती भाग २, पृ० २९३); अनुभाव-प्राधान्यं यथा—शुद्ध सारस्वत प्रवाहपवित्र सकलवाङ्मयमहार्णवपूर्णभावसम्पादनाद् द्विजराजस्येन्दुराजस्य (अभिनवभारती भाग १, पृ० २८७)। डा० पाण्डे ने अपने अभिनवगुप्त विषयक ग्रन्थ (पृ० ७४ और पृ० १४२) में इन दोनों को एक बताया है किन्तु उन्होंने जो प्रमाण प्रस्तुत किये हैं वे अत्यन्त निर्बल हैं।

लोचन के सामने ध्वन्यालोक पर चंडिका नामक टीका विद्यमान थी, जिसकी रचना अभिनवगुप्त के किसी पूर्वज ने की थी। लोचन ने अनेक स्थलों पर उसका उल्लेख और खण्डन किया है—

चन्द्रिकाकारस्तु पठितमनुपठतीति न्यायेन गजनिमीलिकया व्याचचक्षे तस्य तस्य शब्दस्य फलं तद्वा फलं वाच्यव्यंग्यप्रतीत्यात्मकं तस्य घटना निष्पादना यतोऽनन्यसाध्या शब्दव्यापारैक जन्येति। न चात्रार्थसतत्त्वं व्याख्यानेन किञ्चिदुत्पश्याम इत्यलं पूर्ववंश्यैः सह विवादेन बहुना (लोचन पृ० २३१), आधिकारिकत्वेन तु शान्तो रसो निबद्धव्य इति चन्द्रिकाकारः। तच्चेहास्माभिर्न पर्यालोचितम्। प्रसङ्गान्तरात् (लो० पृ० २२१)। यह मत माणिक्यचन्द्र ने

काव्यप्रकाशसङ्केत (पृ० १०१ मैसूर संस्करण) तथा सोमेश्वर ने प्रकट किया है। प्रथम तथा तृतीय उद्योत के अन्त में नीचे लिखी कारिका है—

किं लोचनं विनालोको भाति चन्द्रिकयापि हि।

इसमें तीन शब्द श्लेषगर्भित हैं—१. आलोक, चन्द्रिका और लोचन। इनका अर्थ चांदनी है और ध्वन्यालोक की टीका भी। लोचन ने ध्वन्यालोक के किसी प्राचीन टीका के शब्द अनेक स्थलों पर उद्धृत किये हैं और उन पर टिप्पण करते हुए लिखा है—इत्यलं पूर्ववंश्यैः सह विवादेन। उदाहरण के लिए देखिए—

(१) यस्तु व्याचष्टे······त्यलं निजपूर्वजसगोत्रैः साकं विवादेन (पृ० १५०–५१);

(२) अन्यस्तु व्याचष्टे—एतच्चापेक्षिकमित्यादिग्रन्थो···इत्यलं पूर्ववंश्यैः सह बहुना संलापेन (पृ० २१६–१७);

(३) यत्तु (यस्तु ?) त्रिष्वपि श्लोकेषु प्रतीयमानस्यैव रसाङ्गत्वं व्याचष्टे स्म स देवं विक्रीय तद्यात्रोत्सवमकार्षीत्।···इत्यलं पूर्ववंश्यैः सह विवादेन (पृ० २६९)।

चन्द्रिका का उल्लेख व्यक्तिविवेक (पञ्चम प्रस्तावना श्लोक) में भी आया है—

ध्वनिवर्त्मन्यति गहने स्खलितं वाण्याः पदे पदे सुलभम्।
रभसेन यत्प्रवृत्ता प्रकाशकं चन्द्रिका यद् दृष्ट्वैव॥

अतः चन्द्रिका का रचनाकाल ९००–९५० ई० मानना होगा।

महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी शास्त्री तथा उनके दो सहयोगियों ने मिलकर लोचन के प्रथम उद्योत पर केरल निवासी उदयोत्तुङ्ग कृत कौमुदी नामक टीका सम्पादित की है, जो मद्रास से १९४४ ई० में प्रकाशित हुई है। यह टीका उत्तरकालीन होने पर भी विद्वत्तापूर्ण है। मेरा अनुमान है कि शेष भाग पर वह टीका अभी तक उपलब्ध नहीं हुई। कौमुदीकार ने मयूरसन्देश नामक काव्य भी रचा था, जिसे ग्रन्थकार के वंशज डा० कुन्हनराजा ने सम्पादित किया है। देखिये, डा० पिशरावती गङ्गानाथ झा इन्स्टीट्यूट की पत्रिका भाग १, पृ० ४४५–४५२। प्रो० पिशरावती का कथन है कि विजयोत्तुङ्ग का समय १४८० ई० है और वे एक राजवंश में उत्पन्न हुए थे। कौमुदीकार ने २२७, २३४, २६१ इत्यादि पृष्ठों पर स्वनिर्मित श्लोक उद्धृत किये हैं।

रत्नाकर ने अपनी ध्वनि गाथापञ्जिका (देखिये, भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट स्थित राजकीय ग्रन्थसंग्रह सूची भाग १२, सं० १८२) में ध्वन्यालोक की प्राकृत गाथाओं पर व्याख्या की है। रत्नाकर लोचनकार के पश्चाद्वर्ती ज्ञात होते हैं, क्योंकि उन्होंने अपनी व्याख्या में अक्षरशः लोचन का अनुसरण किया है। पुष्पिका में उन्हें काश्मीरकाचार्य कहा गया है। यह मानना उपयुक्त नहीं जान पड़ता कि लोचन ने उसका अनुकरण किया है। १३३ पृ० पर आई हुई चन्दमऊ···करइ गरुई आदि गाथा ध्वनिगाथापञ्जिका (पत्र ४ क) में उद्धृत है किन्तु उस पर व्याख्या नहीं है। तथा पृ० २९७ पर आई हुई 'उदिह' आदि खण्डित गाथा न उद्धृत की गई है और न उस पर व्याख्या है। ध्वनिगाथापञ्जिका (पत्र ७ क) से कई स्थानों पर प्राकृत गाथाओं के मूलपाठ एवं उनकी छाया के संयोजन में सहायता मिलती है। देखिये, पृ० १९२ पर अण्णत्त वच्च बालअ आदि प्राकृत गाथा। ध्वन्यालोक में ४६ प्राकृत गाथायें उद्धृत हैं उनमें से २० का मूलस्रोत अभी तक ज्ञात नहीं हुआ। लोचन ने अनेक स्थानों पर (अन्यः, कश्चित् आदि शब्दों में) ध्वन्यालोक की व्याख्याओं एवं टिप्पणों तथा उनमें दिये गये उदाहरणों को उद्धृत किया। अब तक इसका कारण नहीं बताया कि अभिनवगुप्त ने अपने गुरु का नाम किसी भी स्थान पर प्रतीहारेन्दुराज क्यों नहीं बताया ? जो उद्भट के टीकाकार ने अपने लिये सर्वत्र प्रयुक्त किया है। प्रतीहार शब्द का मैंने जो अर्थ दिया है उसका भी किसी ने निराकरण नहीं किया। वर्तमान स्थिति में मैं कह सकता हूँ कि दोनों इन्दुराजों की एकता बताने वाले प्रमाण नहीं के तुल्य हैं। अभिनवगुप्त के गुरु इन्दुराज,[1] श्रीभूतिराज के पुत्र तथा कात्यायन गोत्रीय सौचुक के पौत्र थे। किन्तु प्रतीहारेन्दुराज के पूर्वजों के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि अभिनवगुप्त ने इन्दुराज से केवल काव्यशास्त्र का नहीं, गीता का भी अध्ययन किया था। यह उल्लेखनीय है कि अलङ्कारसर्वस्व की टीका समुद्रबन्ध में (पृ० १३० संस्करण) प्रतीहारेन्दुराज को ही भट्टेन्दुराज कहा गया है और इस प्रकार दोनों की एकता का समर्थन होता है—भट्टेन्दुराजेन प्रीणितप्रणयीत्यादि अप्रस्तुतप्रशंसोदाहरणे ··भट्टोद्भटग्रन्थे···व्याख्यातम्। प्रीणितप्रणयि० आदि श्लोक

---

1. अभिनवगुप्त ने भगवद्गीता पर अपनी टीका के प्रारम्भ में लिखा है—

 भट्टेन्दुराजादाम्नायं विविच्य च चिरंधिया।
 कृतोऽभिनवगुप्तेन सोऽयं गीतार्थसंग्रहः ।।

(निर्णयसागर संस्करण, आठ टीकाओं से संकलित श्लोक ६)।

जोकि भामह में ३, ३० पर आया है, के लिए देखिये, अलङ्कारसारसंग्रह लघुवृत्ति पृ० ३४ अभिनवगुप्त के एक अन्य गुरु भट्टतौत या भट्टतोत थे। उन्होंने काव्यकौतुक नामक ग्रन्थ रचा है, जिस पर अभिनवगुप्त का विवरण है। (देखिये, लोचन पृ० ३४, २२१)। नाट्यशास्त्र (गा० ओ० सी०) के १९वें अध्याय के अन्त में अभिनवभारती (भाग ३) कथन है—द्विजवरतोतनिरूपित सन्ध्यध्यायार्थ तत्त्वघटनेयम्। अभिनवगुप्तेन कृता शिवचरणाम्भोजमधुपेन ॥ प्रत्यभिज्ञा शास्त्र के टीकाकार लोचन (पृ० ३५) ने अभिनवगुप्त के परमगुरु के रूप में है, किन्तु न तो उनके कर्त्ता का नामोल्लेख किया है और न इत्यलं पूर्ववंश्यैः सह विवादेन शब्द जोड़े हैं। उसने जो मत उद्धृत किये हैं उनमें से कुछ चन्द्रिका के हो सकते हैं ओर कुछ भट्टनायक के। देखिये—

(१) यस्तु ध्वनि व्याख्यानोद्यतस्तात्पर्यशक्तिमेव······स नास्माकं हृदयमावर्जयति दे (पृ० ८ और २३);

(२) यस्तु व्याचष्टे···स प्रकृतार्थमेव ग्रन्थार्थमत्यजत् (पृ० ४२ तथा पृ० १५१, १८०, २१७)।

उपरोक्त स्थलों में सम्भवतया चन्द्रिका का उल्लेख है। जबकि पृ० ६९ (यत्तु वाक्यभेदः स्यादिति केनचिदुक्तं तदनभिज्ञतया) २४८ तथा २५९ पर भट्टनायक, मीमांसक तथा अन्य स्वतन्त्र ग्रन्थकारों का उल्लेख प्रतीत होता है।

१६. राजशेखर रचित काव्यमीमांसा

यह ग्रन्थ गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज़ से प्रकाशित हुआ है। (तृतीय संस्करण, १९३४) इसकी विद्वत्तापूर्ण भूमिका श्री० सी० डी० दलाल, पं० आर० ए० शास्त्री और श्री० के० एस० रामास्वामी शास्त्री ने लिखी है। इसी ग्रन्थ का एक अन्य संस्करण पं० केदारनाथ शर्मा द्वारा हिन्दी में अनुवादित बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् से १९५४ में प्रकाशित हुआ है। इसमें इस बात का स्पष्ट उल्लेख नहीं है कि यह ग्रन्थ किस पांडुलिपि पर आधारित है।

यह एक अपूर्व रचना है। इसमें रस, गुण अथवा अलंकारों का विवेचन मुख्यरूप से नहीं है, वरन् इसमें कवियों के लिए व्यवहारोपयोगी तथा मार्गदर्शक सूचनाएं दी गई हैं। यह ग्रन्थ अठारह अध्यायों में विभक्त है। इसमें निहित विषयों की संक्षिप्त रूपरेखा निम्न प्रकार है—

प्रथम अध्याय का नाम शास्त्रसंग्रह है। इसमें शिव द्वारा ब्रह्मा आदि (जिनकी संख्या ६४ है) को काव्यमीमांसा का ज्ञान किस प्रकार प्राप्त हुआ,

इसका वर्णन किया गया है। साथ ही ब्रह्मा से प्रारब्ध गुरु-परम्परा में भिन्न-भिन्न अठारह ग्रन्थकारों ने काव्यमीमांसा के अठारह भागों का किस-किस प्रकार से विवेचन किया है, इसका भी निरूपण है। (दे० पृ० १) अन्त में यायावरीय कुलोत्पन्न राजशेखर ने अठारह ग्रन्थकार मुनियों के मतों का संग्रह किस प्रकार से किया है, इसका भी वर्णन कर दिया है। दूसरे अध्याय का नाम शास्त्र-निर्देश है। इसमें वाङ्मय के दो भेद किये गये हैं—शास्त्र और काव्य। शास्त्र के भी दो भेद हैं—अपौरुषेय तथा पौरुषेय। अपौरुषेय शास्त्रीय वाङ्मय में चार वेद, चार उपवेद (दे० पृ० १८ पाद टिप्पणी) और छः वेदांगों (और उनके विषयों) का अन्तर्भाव होता है। यायावरीय के मतानुसार अलंकार सातवां वेदांग है। पौरुषेय शास्त्रीय वाङ्मय में पुराणों, आन्वीक्षिकी विद्या, पूर्व और उत्तर मीमांसा, अठारह स्मृतियों और विद्या स्थानों का समावेश होता है। कुछ अधिकारी विद्वान् विद्याओं की संख्या १४ मानते हैं तो कुछ १८। यायावरीय ने काव्य को १५वां विद्यास्थान माना है। इसी अध्याय में सूत्र, भाष्य, वृत्ति, पद्धति, टीका, समीक्षा, पंजिका, कारिका इत्यादि शब्दों के अर्थ दिये गये हैं। विद्याओं की संख्या के विषय में भिन्न-भिन्न मत हैं। राजशेखर के मत में साहित्य विद्या पांचवीं विद्या है। तीसरे अध्याय का नाम काव्य पुरुषोत्पत्ति है। इसमें सरस्वती से काव्यपुरुष के जन्म की पौराणिक कथा वर्णित है। काव्य-पुरुष का वर्णन इस प्रकार है, 'शब्दार्थौ ते शरीरम् संस्कृतं मुखम्, प्राकृतं बाहुः, जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम्। समः प्रसन्नो मधुर उदार ओजस्वी चासि। उक्ति चणं च ते वचो, रस आत्मा, रोमाणि छन्दांसि, प्रश्नोत्तर प्रवह्लिकादिकं च वाक्केलिः, अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलंकुर्वन्ति।' (पृ० ६) इसके उपरान्त काव्यपुरुष और साहित्यविद्यावधू इन दोनों का वत्सगुल्म नगर (जो संभवतः बरार प्रान्तगत वर्तमान वाशिमग्राम है) में विवाह हुआ इसका वर्णन है। साथ ही प्रवृत्ति, वृत्ति और रीति की परिभाषाएं दी गई हैं। चौथा अध्याय पदवाक्य—विवेक नामक है। प्रथम इसमें कवि के लिए अपेक्षित अत्यावश्यक गुणों पर विचार किया गया है। यायावरीय के मत में काव्य का एकमात्र कारण शक्ति है, इसीसे प्रतिभा और व्युत्पत्ति—इन दोनों का उद्भव होता है। जबकि दूसरों के मत में कवि बनने के लिए समाधि (अर्थात् चित्त की एकाग्रता) और अभ्यास की आवश्यकता होती है। इसके बाद कवियों के विभिन्न वर्ग बनाये हैं। पांचवे अध्याय का नाम है काव्यपाककल्प। इसमें प्रथम व्युत्पत्ति का अर्थ दिया गया है। शास्त्रकवि और उभयकवि ये दो मुख्य भेद तथा उनके उपभेदों का निरूपण है। कवियों की दस अवस्थाएं, पाक शब्द के भिन्न-भिन्न

अर्थों का भी विवेचन है। छठा अध्याय पदवाक्य विवेक नामक है। इसमें सुप् समास, तद्धित, कृत और तिङ् इन पाँच शब्द-वृत्तियों, वाक्यलक्षण, वैभक्त, शक्त, शक्ति विभक्तिमय—इन तीन वाक्यों की त्रिविध अर्थप्रदर्शक शक्तियों, वाक्य के दस प्रकारों तथा 'गुणवदलंकृतं च वाक्यमेवकाव्यम्' इस काव्यलक्षण का प्रतिपादन किया गया है। सातवें अध्याय का नाम पाठप्रतिष्ठा है। काव्य में देव, अप्सरा, पिशाच आदि के द्वारा प्रयोग में होने योग्य भाषा और वाक्यसरणी, वैदर्भी, गौडी और पांचाली—इन तीन रीतियों, दो प्रकार के काकु (साकांक्ष और निराकांक्ष), उनके उपभेद और उनके उदाहरणों तथा भारत के विभिन्न प्रान्तों के व्यक्तियों की भिन्न-भिन्न उच्चारण-पद्धति, उनकी भिन्न-भिन्न भाषा[1] आदि की इसमें चर्चा है। आठवें अध्याय में काव्यविषय कहाँ से लिया जाय (काव्यार्थ योनयः) इसका निरूपण है। इसके आधार बारह बताये गये हैं, श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, प्रमाणविद्या (मीमांसा और तर्कशास्त्र) समयविद्या, राज-सिद्धांतत्रयी, (अर्थशास्त्र, नाट्यशास्त्र, कामशास्त्र) लोक, विरचना (कवि-मनीषानिर्मितं कथातन्त्रमर्थमात्रं वा विरचना) और प्रकीर्णक। यायावरीय ने इनमें चार और की वृद्धि की है। नौवां अध्याय अर्थव्याप्ति विषयक है। वर्ण्य-विषय दिव्य, दिव्यमानुष, मानुष, पातालीय, मर्त्य पातालीय, दिव्यपातालीय और दिव्यमर्त्य पातालीय हो सकते हैं। उनका स्थान कोई भी हो परन्तु उनका विषय रसयुक्त होना चाहिए (पृ० ४५ रसवत एव निबन्धो युक्तो न नीरसस्येति आपराजितिः।···आमिति यायावरीयः) वर्ण्यविषय भले ही स्वतंत्र पद्य में अथवा प्रबंध में हो परन्तु प्रत्येक के पांच प्रकार होते हैं। दसवें अध्याय में कविचर्या और राजचर्या विषय हैं। नामधातु पारायण, अभिधानकोश, छंदो-विचिति तथा अलंकार मुख्य काव्यविद्याएं हैं और चौसठ कलाएं उपविद्या कह-लाती हैं। देशवार्ता, विदग्धवाद, लोकयात्रा, विद्वद्गोष्ठी आदि के कारण काव्य-निर्माण होता है। कवि बनने के लिए शरीरशुद्धि, वाक्शुद्धि और विचारशुद्धि अपेक्षित है। कवि का निवासस्थान, इसका परिवार, लेखन-सामग्री आदि का निरूपण इसमें किया गया है। कवि को चाहिए

---

1. उदाहरणार्थ, राजशेखर ने लाट, काश्मीर और पांचाल कवियों के विषय में इस प्रकार कहा है: पठन्ति लटभं लाटाः प्राकृतं संस्कृतद्विषः। जिह्वया ललितोल्लापलब्धसौन्दर्यमुद्रया॥ शारदायाः प्रसादेन काश्मीरः सुकविर्जनः। कर्णे-गुडूचीगण्डूषस्तेषां पाठक्रमः किमु॥···पांचाल मंडल भुवां सुभगः कवीनां श्रोत्रे मधु क्षरति किंचन काव्यपाठः॥ काव्य मी० VII. P. 34.

कि वह रात-दिन को आठ भागों में बाँट ले और प्रत्येक भाग में अपना कर्त्तव्य-कर्म निर्धारित कर ले। स्त्रियाँ भी काव्य रचना कर सकती हैं। कवि की परीक्षा लेने के लिए राजा द्वारा सभाग्रहों का निर्माण किया जाना चाहिए। शास्त्रपारंगत और काव्यपटु विद्वानों की परीक्षा लेने के लिए बड़े-बड़े नगरों में सभाएं स्थापित की जानी चाहिए, इत्यादि सूचनाएं दी गई हैं। ग्यारह से तेरह तक के अध्यायों में कवि अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों के ग्रन्थों से शब्द और विचारों को कहाँ तक अपना सकता है इस पर विचार किया गया है। चौदह से सोलह तक के अध्यायों में देश, वृक्ष, पौधे पुष्प आदि से सम्बद्ध कविसमय अर्थात् कवियों द्वारा निश्चित संकेतों का निरूपण किया गया है। इसमें हास्य, कीर्ति आदि भावों के स्पृश्य अथवा दृश्य स्वरूपों की कल्पना करके उनके शुभ्र आदि वर्णों के निरूपण की जो पद्धति है, उसका विवेचन किया गया है। सतरहवें अध्याय में देश के भागों का वर्णन है। इसमें भारत की चार दिशाओं में फैले हुए विभिन्न प्रांतों, नदियों और पर्वतों का निरूपण है साथ ही इनमें कौन-कौनसी विशिष्ट वस्तुएं उत्पन्न होती हैं तथा यहां के लोगों का वर्ण किस प्रकार का है इत्यादि बातों का वर्णन अठारहवें अध्याय का नाम काल विभाग है। इसमें ऋतु, हवाएं, पुष्प, पक्षी इत्यादि का विवेचन है और विभिन्न ऋतुओं के अनुरूप अपेक्षित काव्यव्यापार का निरूपण है।

काव्यमीमांसागत इन विषयों से प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ 'विविध' विषयों के सम्बन्ध में जानकारी देने वाला खजाना है। प्रस्तुत मुद्रित काव्य-मीमांसा ग्रन्थकार द्वारा योजित समग्र ग्रन्थ का एक अंशमात्र प्रतीत होती है। (उदाहरणार्थ, देखिए पृ० ११—तमौपनिषदि के वक्ष्यामः)। केशवमिश्र के अलंकार शेखर की ग्यारहवीं मरीचि के अन्त में राजशेखर रचित दो पद्य उद्धृत किए गए हैं। परन्तु ये पद्य उपलब्ध काव्यमीमांसा में नहीं मिलते। इनमें से एक पद्य इस प्रकार है: अलंकारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसम्पदाम्। उपमा कवि वंशस्य मातैवेति मतिर्मम ॥' यह ग्रन्थ कौटिल्य के अर्थशास्त्र का-सा लिखा गया है। इसकी भाषाशैली कहीं-कहीं बोझिल होती हुई भी सशक्त है। उसने अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों के अनेक पद्य उद्धृत किए हैं। इनमें कालिदास, अमरुशतक, किरातार्जुनीय, कादम्बरी, मालतीमाधव, वेणीसंहार, शिक्षुपालवध, सूर्य-शतक, हयग्रीववध इत्यादि ग्रन्थ और ग्रन्थकार आए हैं। उन्होंने अपने अन्य ग्रन्थों से भी पद्य ग्रहण किए हैं। उन्होंने इसमें बहुतसे अलंकारविषयक ग्रन्थ-कारों के मत उद्धृत किए हैं। कुछ ग्रन्थकारों को पता तो केवल उनके उल्लेखों के

आधार पर ही लगा है। कतिपय ग्रन्थकारों के नाम इस प्रकार हैं : अवन्तिसुन्दरी, आनन्द, आपराजित, उवितगर्भ, उद्भट, कालिदास द्रौहिणि, पाल्यकीर्ति, भरत, मंगल, रुद्रट, वाक्पतिराज, वामन, श्यामदेव, सुरानन्द। उन्होंने आचार्य के नाम से अनेक मतों (कोई १८ वार) का उल्लेख किया है (दे० पृ० ३, ९, १३, १६, २०, २३, ३०) परन्तु ये आचार्य कौन हैं, यह वताना कठिन है। कौटिल्य की भाँति वे भी आचार्यों के मतों से प्रायः असहमति प्रकट करते हैं। वे अपना मत यायावरीय नाम से प्रकट करते हैं। साहित्य के परवर्ती ग्रन्थकारों ने काव्य मीमांसा से वहुधा अवतरण उद्धृत नहीं किए। हेमचन्द्र (काव्यानुशासन, पृ० १२६–१३० और १३०–१३५) और वाग्भट ने तो इस ग्रन्थ से वहुत से वचन उद्धृत किये हैं, विशेषतः इसके १७वें और १८वें अध्यायों से। मैसूर में प्रकाशित काव्यप्रकाश की एक प्रकाश संकेत नामक माणिक्यचंद्रकृत टीका में (पृ० ३०८) 'अभिप्रायवान् पाठधर्मः काकुः स नालंकारी स्यादिति यायावरीयः' यह वाक्य काव्यमीमांसा (पृ० ३१) का है। इसे हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में (पृ० २३५) और सोमेश्वर ने काव्यप्रकाश की काव्यदर्शन नामक टीका में भी उद्धृत किया है। राजशेखर ने अपने ग्रन्थ में कतिपय महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक और साहित्यिक तथ्य दिये हैं। मेवाविरुद्र और कुमारदास जन्मान्ध कवि थे। (का० मी० पृ० १२) मगध के शिशुनाग, कुविन्ददेश के शूरसेन, कुन्तल के सातवाहन तथा उज्जयिनी के साहसांक ने राजदरवारों में विचित्र नियम बनाये थे। इन नियमों के अनुसार बोलने में कठिन प्रतीत होने वाले आठ अक्षरों का राजदरवार में कोई उच्चारण नहीं कर सकता था। कर्ण कठोर लगने वाले संयुक्त अक्षरों का प्रयोग वर्ज्य था। इसी प्रकार संभाषण में पूर्णतः या तो प्राकृत का ही प्रयोग हो अथवा पूणतः संस्कृत का ही (का० मी० पृ० ५०)। वासुदेव, सातवाहन, शूद्रक और सारसाङ्क के संरक्षण में विद्या की वृद्धि हुई। उज्जयिनी में कालिदास, मेण्ठ, अमर, रूपसूर (?) भारवि, हरिचन्द्र, चन्द्रगुप्त ? इन कवियों की परीक्षा हुई तथा उपवर्ष, वर्ष, पाणिनि, पिंगल, व्याडि, वररुचि और पतंजलि की परीक्षा पाटलिपुत्र में हुई। (पृ.५५)। राजशेखर को प्राकृत भाषा से वहुत प्रेम था (का० मी० पृ० ३४, ५१) और उसने विभिन्न प्रान्तों की विविध प्राकृतों का उल्लेख किया है। उदाहरणार्थ, (पृ० ५१) इनके मत में अवन्ती पारियात्र और दशपुर में पैशाची भाषा का प्रभाव था।

अधिकांश संस्कृत कवियों की अपेक्षा राजशेखर ने निजी जीवन का परिचय

विस्तार से दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसके पूर्वज महाराष्ट्रीय थे। वालरामायण नामक नाटक में उसने अकालजलद[1] नामक व्यक्ति से अपने को चौथी पीढ़ी पर वताया है और अकालजलद को उसने महाराष्ट्र चूड़ामणि कहा है। राजशेखर के अनुसार उसके पिता का नाम दुर्दुक (अथवा दुहिक) और माता का नाम शीलवती था। वालरामायण में (१. १३) यह वताया गया है कि राजशेखर के वंश में (यायावर कुल में) अकालजलद, सुरानंद, तरल, कविराज आदि महान् व्यक्तियों ने जन्म लिया। वालरामायण (१.१६) तथा वालभारत (१.१२) में एक जैसा ही पद्य उपलब्ध होता है। इसके अनुसार राजशेखर ने अपने पूर्व जन्मों में वाल्मीकि, मेण्ठ और भवभूति होने का दावा किया है।[2] प्रचण्डपांडव अथवा बालभारत नाटक की प्रस्तावना में उल्लेख आया है कि राजशेखर एक वड़े मंत्री का पुत्र था (उक्तं हि तेनैव महासुमन्त्रि-पुत्रेण यशः प्रसूते विपदोरुणद्धि यशांसि दुग्धे मलिनं प्रमार्ष्टि १.९)। उसकी पत्नी अवन्ति सुन्दरी 'चहुआण' (आधुनिक चौहान) कुलोत्पन्न कन्या थी। वह एक कुशल नारी थी और राजशेखर ने उसके मतों का काव्यमीमांसा (पृ० २०, ४६, ५७) में उल्लेख किया है। उसीकी इच्छा से राजशेखर के प्राकृत नाटक (शाटक) कर्पूरमंजरी का रंगमंच[3] पर अभिनय हुआ। वालरामायण (१.१२) में उसकी रचनाओं का[4] उल्लेख है। अतः इससे स्पष्ट है कि वालरामायण की रचना उनकी तनिक प्रौढावस्था में हुई। कर्पूरमंजरी में यह भी उल्लेख आया

---

1. तदामुष्यायणस्य महाराष्ट्रचूडामणेरकालजलदस्य चतुर्थो दौर्दुकिः शीलवतीसूनुरुपाध्याय श्री राजशेखरइत्यपर्याप्तं वहुमानेन। वालरामायण, १.१३, और विद्धव (१ प्रस्तावना) में उल्लेख है, 'यायावरेण, दौहिकिना कविराजशेखरेण विरचिताया विद्धशालभंजिका नाम नाटिकाया' तथा 'किमा-त्थतत्कालजलदस्यप्रणप्तुः' इत्यादि।

2. वभूव वल्मीकभवकविःपुराततः प्रपदेभुविभर्तृमेण्ठताम्। स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते सम्प्रतिराजशेखरः॥ वालरा० १.१६. वालभा० १–१२।

3. चाहुआण कुलमउलियालिआ राजसेहरकइन्द्रगेहिणी। भत्तुण्डो किदि-भवन्ति सुन्दरी सा पउजाइदुभेदमिच्छदि॥ कर्पूरमंजरी १.१० (डा० घोष का संस्करण।)

4. यद्यस्तिस्वस्तितुभ्यं भव पठन रुचिर्विद्धिनः षट् प्रबन्धान्। तृतीय पद वालरामा० १.१२. (काव्यमाला सीरीज़)।

है कि मृगाङ्कलेखा के रचयिता आपराजित ने उन्हें वालकवि, कविराज तथा राजा निर्भय के राजगुरु के रूप में निर्दिष्ट किया है। इस प्रकार से राजशेखर ने एक के बाद एक प्रतिष्ठित[1] स्थान प्राप्त किया। पहले अध्याय के अंत में (पृ० २) उसने अपने-आपको यायावरीय राजशेखर बताया है। उन्होंने कवियों के उपकार के लिए मुनियों के मतों का संग्रह कर उसकी व्याख्या करते हुए काव्यमीमांसा की रचना की। अतः इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि काव्य-मीमांसा का रचयिता ही उन चार नाटकों का भी रचयिता है।

कर्पूरमंजरी (१.५) से स्पष्ट है कि राजशेखर राजा महेन्द्रपाल के गुरु थे।[2] वालरामायण के प्रथम वाक्य तथा वालभारत (१.६) की एक पंक्ति से यह भी स्पष्ट है कि पूर्वोक्त नाटक राजामहेन्द्रपाल के महोदय[3] स्थित राजदर-बार में विद्वन्मंडली के समक्ष अभिनीत हुए थे। वालभारत (१७) में राजा महीपाल का उल्लेख है, इसीके उपरान्त आये हुए गद्यांश से स्पष्ट है कि महीपाल निर्भय नरेन्द्र के पुत्र थे और वे आर्यावर्त (विन्ध्याचल अथवा नर्मदा के उत्तरी भाग का भारत) के सम्राट् थे। साथ ही इस वात का भी उल्लेख है कि महेन्द्रपाल राजशेखर के शिष्य थे (वालभारत १.११) अतः इससे यह स्पष्ट है कि राजशेखर के परिवार ने महाराष्ट्र छोड़ दिया और राजशेखर स्वयं महोदय (आधुनिक कन्नौज) में आकर निवास करने लगे। वे राजा निर्भय (अथवा महेन्द्रपाल) तथा उनके पुत्र महीपाल के गुरु या उपाध्याय वन गये।

---

1. वण्णिदोज्जेव तक्काल कईणं मज्झम्मि मअङ्कलेहाकहाकारेण अवराइएण। जधा-वालकई कइराओ णिब्भरराअस्स तह उवज्झाओ इह़जस्स पएहिं परंपराय माहप्पमारुढं ॥ कर्पूर० १.८ काव्यमीमांसा (पृ० १९) में राजशेखर के मतानु-सार कविराज का स्थान महाकवि से भी उच्च है।

2. विद्धशाल० १.६ में कहा गया है : 'रघुकुल तिलको भरेन्द्रपालः सकल कला निलय स यस्य शिष्यः ॥'

3. महोदय को सामान्यतः कान्यकुब्ज अथवा कन्नौज समझा जाता है। दे० (ई० आई०) सातवीं प्रति पृष्ठ २३, ३०, ४३ जिसके अनुसार राजकूट के राजा इन्द्र तृतीय ने महोदय अथवा कन्नौज को ध्वस्त कर दिया था, परन्तु भोजदेव (गुर्जर प्रतीहार राजा संवत् ८९३ अथवा ई० सन् ८३६) के बरां ताम्रपत्र से विदित होता है कि महोदय एक स्कन्धावार था और कान्यकुब्ज का उसीमें पृथक् से उल्लेख किया गया है। (ई० आई० १९वीं प्रति पृ० १७) दे०।

राजशेखर बहुत-सी भाषाएं जानते थे और उन्हें प्राकृत से बहुत अनुराग था। कर्पूरमंजरी में उन्हें 'सर्वभाषाचतुर' (१.७ से पूर्व की पंक्ति) कहा गया है। सूत्रधार के अनुचर ने राजशेखर की एक उक्ति उद्धृत की है जिसमें कहा गया है कि किसी भी भाषा में काव्यरचना संभव है यदि उसमें प्रभावित करने की शक्ति हो तथा संस्कृत शब्दों के प्राकृत रूपान्तर से मूल संस्कृत जैसा ही अर्थ निकले। राजशेखर को एक ही पद्य को दो नाटकों में उल्लेख करने की रुचि थी। उदाहरणार्थ, बालरामायण (१.१८) का 'आपन्नार्तिहरः' श्लोक बालभारत (१.११) में इसी रूप में मिलता है तथा बालरामायण (१.२०) का श्लोक 'प्रथयति', बालभारत (१.१४) में इसी रूप में मिलता है। काव्यमीमांसा (पृ० ९४ तत्रापि महोदयं मूलमवधीकृत्येतियायावरीयः) में कहा गया है कि प्रदेश की दिशाओं का निर्धारण महोदय के आधार पर किया जाना चाहिए। दो पद्यों में उसने अपने पूर्वज अकालजलद की प्रशंसा की है जोकि सूक्ति मुक्तावलि[1] ३ में उद्धृत हैं। राजशेखर के विषय में शंकरवर्णन लिखित पद्य को आरंभिक संकलनों[2] में उद्धृत किया गया है। इससे विदित होता है विसुरानंद, जिसे राजशेखर ने अपने परिवार का सदस्य बताया है, चेदि (त्रिपुरी अथवा आधुनिक तिवार जोकि जबलपुर से छः मील की दूरी पर है)[3] राज्य में आकर बस गया। अतः यह संभव है कि सुरानन्द महाराष्ट्र से मध्य भारत की

---

1. अकालजलदेन्दोः सा हृद्या वदनचन्द्रिका। नित्यं कविचकोरैर्यापीयते न च हीयते॥ अकालजदश्लोकैश्चित्रमात्मकृतैरिव। जातः कादम्बरीरामो नाटके प्रवरः कविः॥ सूक्तिमु॰ पृ० ४६ पद्य ८३, ८४ दूसरे पद्य में यह बताया गया है कि कादम्बरी राम ने अकालजलद के पद्यों को चुराकर अपने नाटक में समाविष्ट कर लिया है।

2. पातुं कर्णरसायनं रचयितुं वाचः सतां संमतां व्युत्पत्ति परमामवाप्तु-मवधिं लब्धुं रसस्रोतसः। भोक्तुं स्वादुफलंचजीविततरोर्यद्यस्ति ते कौतुकं तद्भ्रातः श्रृणु राजशेखर कवेः सूक्तीः सुधा स्यन्दिनीः॥ विद्धशाल० १.७ तथा बालरामा० १.१७, सदुक्तिकर्णामृत ५.२७.३ पृ० २९६ और सूक्तिमु. पृ० ४८ में उद्धृत।

3. नदीनां मेकलसुतानृपाणां रणविग्रहः। कवीनां च सुरानन्दश्चेदि मण्डल-मण्डनम्। यायावरकुलश्रेणेर्मुक्तायष्टेश्चमण्डनम्। सुवर्ण बन्धरुचिरस्तरल-स्तरलो यथा॥ सूक्तिमु० पृ० ४७ पद्य ८८–८९ सुरानंद का मत तथा एक पद्य काव्यमीमांसा में पृष्ठ ७५ पर उद्धृत है।

ओर गये और राजशेखर वहां से आगे उत्तर भारत की ओर बढ़े। संकलनकर्ताओं ने सुरानन्द विषयक इस सूक्ति को, तरल तथा अन्य तीस व्यक्तियों से सम्बद्ध सूक्तियों को राजशेखर रचित माना है।[1] संभवत: ये सूक्तियां राजशेखर रचित दी हैं। कन्नौज के राजदरवार में होने के कारण राजशेखर ने महोदय, पांचाल कवियों तथा महोदय सुन्दरियों की वेशभूषा के प्रति विशेष आसक्ति दिखाई है (दे० काव्य० मी० पृ० ८) वेशं नमस्यत् महोदय-सुन्दरीणां वालरामायण १०.८६ पंचालास्तवपश्चिमेन त इमे वामा गिरा भाजना: ···यमुनां त्रिस्रोतसंचारान्तरा।' वह लतादेश (सूरत के समीप का प्रदेश), वहां की भाषा तथा वहां की नारियों के सौन्दर्य से भी परिचित था। यह भी मजे की बात है कि उसने काव्यमीमांसा (पृ० ९३) में दक्षिणापथ (जिस महिष्मती का परवर्ती भाग समझा जाता है) के अन्तर्गत महाराष्ट्र, माहीपक, अश्मक, विदर्भ, 'कुंतल, ऋतकैशिक, सूर्पारक, वानवासकं, नाशिक्य, कोंकण इत्यादि प्रदेशों को माना है। आधुनिक बेलगांव से विलारी (ई० आई० पृ० १४, २६५, ई० आई० पृ० १५, ३२ आई० ए० ८वीं प्रति पृ० १७. कृष्णा और वर्णा के वीच का प्रदेश) कुंतल कहलाता है। अश्मक, (उत्तरी खानदेश) विदर्भ (बरार), कोंकण आदि का पृथक् से उल्लेख है। अत: राजशेखर के अनुसार कोंकण को छोड़कर वर्तमान नासिक से बेलगांव तक का प्रदेश महाराष्ट्र समझा जा सकता है। (अश्मक और कुन्तल के लिए दे० प्रो० वि० वि० मिराशी का लेख, आई० एच० क्यू० प्रति २२ पृ० ३०९–३१५) यह स्पष्ट है कि चारों नाटक जिनमें कर्पूरमंजरी, बालभारत (केवल दो ही अंक के० एम० सीरीज़ में छपे हैं) बालरामायण, विद्धशालमंजिका आते हैं वे सब राजशेखर विरचित हैं। काव्यमीमांसा भी उनकी एक अन्य रचना है। उन्होंने हरविलासनामक एक महाकाव्य भी लिखा था इसका संकेत हेमचन्द्र (काव्यानुशासन पृ० ३३४–३५) ने दिया है और उसने 'स्वनामाङ्कितायथा राजशेखरस्यहरविलासे' यह पद्य उद्धृत किया है।

उसकी पत्नी अवन्तिसुन्दरी की कोई रचना उपलब्ध नहीं है। हेमचन्द्र ने अपनी रचना देशीनाम माला में अवन्तिसुन्दरी के तीन पद्य उद्धृत किये हैं।

---

1. संभवत: ये सूक्तियां हरविलासकाव्य के आरंभ में आती हैं। कुछ भी हो, संकलनकर्ताओं ने १२वीं शताब्दी से इन्हें राजशेखर रचित माना है। दे० इन सूक्तियों के लिए 'कवीन्द्र समुच्चय' की भूमिका, संपादित डा० एफ़०, डब्लू, भामस, पृ० ८०–२

(एक १.८१ और दो १.१५७ पर हैं) काव्यमीमांसा के ४६वें पृष्ठ पर अवन्ति-सुन्दरी का एक मत उद्धृत है और साथ ही एक संस्कृत पद्य भी (वस्तु स्वभावोऽत्र०)।

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि राजशेखर ब्राह्मण था अथवा क्षत्रिय। राजशेखर (राजा चन्द्रःशेखरे यस्य) का अर्थ है शिव। (अमरकोश में चन्द्रशेखर को शिव का पर्याय माना है) वह कन्नौज के दो राजाओं का उपाध्याय अथवा गुरु भी माना जाता है। क्षत्रिय का गुरु होना वर्ज्य नहीं है। परन्तु यह असंभव सा लगता है कि नवीं तथा दसवीं शताब्दी के राजा एक क्षत्रिय को अपना उपाध्याय स्वीकार करें। काव्यमीमांसा में ३४ बार आया हुआ यायावर शब्द भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। (इसके अर्थ के लिए दे० हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र प्रति २ पृ० ६४१–४२ तथा पाद टिप्पणी) यायावर का अर्थ है उस ब्राह्मण से, जोकि बहुत साधारण जीवन व्यतीत करे और जो न तो सन्त उपहार ले और न धन का संचय करे (दे० मिताक्षरा याज० १.१२८) एक क्षत्रिय परिवार को यायावर परिवार कहना कठिन था। इसी प्रकार मनुस्मृति (II. १४१) विष्णु धर्मसूत्र (२९.२) तथा शंखस्मृति (३.२) के अनुसार उपाध्याय वह है जो अपनी आजीविका के लिए वेद और वेदांगों का अध्यापन करे (दे० हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र प्रति २ पृ० ३२२-२४, ३६१) एक ही तथ्य ऐसा है जोकि विशेषतः आधुनिक लेखकों के मस्तिष्क में संदेह उत्पन्न करता है। वह यह है कि राजशेखर की पत्नी एक क्षत्रिय परिवार से थी। परन्तु प्राचीन और मध्यकालीन भारत में अनुलोम विवाह मान्य थे। राजशेखर के समकालीन मेधातिथि ने एक ब्राह्मण को क्षत्रिय पुत्र को दत्तक लेने की स्वीकृति की थी। (हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र प्रति ३ पृ० ६७५). अनुलोम विवाह के विषय में (दे० हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र प्रति २ पृ० ५०–५८ तथा ४४८–४५०) अतः यह मान लेना चाहिए कि राजशेखर ब्राह्मण था। डा० हल्श ने 'इन्डियन एंटी क्वेरी' प्रति ३४, पृ० १७७–१८० में कहा है कि राजशेखर ललितकलाओं का अध्यापकमात्र था। परन्तु जब हम उपाध्याय और यायावर[1] शब्दों के मूल अर्थों की ओर ध्यान देते हैं तो यह कथन नितान्त उपयुक्त नहीं लगता।

---

1. डा० एम० घोष (देखिए, कर्पूरमंजरी की भूमिका पृ० ६९ संस्करण, १९४८) राजशेखर को ब्राह्मण मानने के लिये उद्यत नहीं हैं। वे यायावर कुल तथा यायावर शब्द के प्राचीन स्मृतिगत अर्थ की ओर विशेष ध्यान नहीं देते।

राजशेखर की तिथि निर्धारित करने में अधिक कठिनाई नहीं है। राजशेखर ने रुद्रट के काव्यालंकार (काव्यमीमांसा पृ० ३१), आनन्दवर्धन की वृत्ति, (पृ० १६), उद्भट के सम्प्रदाय (पृ० २२, ४४) और वामन के सम्प्रदाय का उल्लेख किया है। अतः उसका समय निश्चय ही ८७५ ई० सन् के बाद का है। ९५९–६० ई० सन् में रचित यशस्तिलिका के चतुर्थ आश्वास (का० मा० संस्करण भाग २ पृ० ११३) में अनेक कवियों का उल्लेख है उनमें राजशेखर का भी नाम है। लगभग १००० ई० सन् में रचित धनपाल की तिलकमंजरी में यायावर के पद्यांशों की प्रशंसा की गई है (समाधिगुणशालिन्यः प्रसन्नपरिपक्त्रिमाः। यायावर कवेर्वाचोमुनीनामिव वृत्तयः ॥ पद्य ३३) उदयसुन्दरी कथा (८वां उच्छ्वास पृ० ५५८) के लेखक शोधाल ने राजशेखर की प्रशंसा की है ('यायावरः प्राज्ञवरो गणज्ञैराशंसितः सूरिसामजवर्यैः') शोधाल की इस रचना का समय ई० सन् १०२६–५० के बीच का है (दे० भूमिका) अतः राजशेखर ९५० ई० सन् से पहले हुआ। इस विषय में शिलालेखों की भी सहायता मिलती है। सियादोनी के शिलालेख (ई० आई० भाग १, पृ० १६२–१७९) में महोदय (पृ० १७८, पं० ४०) की राजा पालदेव (पृ० १७३) और संवत् ९६० (९०३–४ ई० सन्) का संकेत मिलता है तथा (आई० ए० भाग १६, पृ० १७५–८) महीपाल के अश्निशिलालेख (संवत् ९७४, ९१७ ई० सन्) में महिषपालदेव के उत्तराधिकारी महीपाल का उल्लेख आया है। इनके आधार पर डा० फ्लीट ने महीपाल और उसके पूर्वज निर्भय नरेन्द्र का उल्लेख किया है। अतः राजशेखर का समय ९वीं शताब्दी ई० सन् के अन्त तथा दसवीं शताब्दी के आरंभिक चतुर्थांश में निश्चित होता है। इस तथ्य की पुष्टि अभिनवगुप्त द्वारा राजशेखर की कर्पूरमंजरी का स्पष्ट उल्लेख करते समय हुई है। तथाहि श्रृंगाररसे सातिशयोपगिनी प्राकृतभाषेति सट्टकः कर्पूरमंजर्याख्यो राजशेखरेण तन्मय एव निवद्धः'। (अध्याय १९, पद्य १३० पृ० १७२ भाग ३, नाट्यशास्त्र गा० ओ० सी० संस्करण) अभिनवगुप्त ने वालरामायण की भरत के नाम पर (१६:४९ भाग २, पृ० ३२० जी० ओ० एस० संस्करण) (देखिए, पृ० ५०) जहाँ यह वताया गया है कि जो पद्य हेमचन्द्र ने लोल्लट का वताया था वह काव्यमीमांसा (पृ०, ४, ५) में अपराजित के नाम से उल्लिखित है। चेदि के शासक (ई० आई० भाग १, पृ० २५१) युवराजदेव द्वितीय के बिलहारी शिलालेख के अन्त में एक पद्य आया है जिसमें राजशेखर की प्रशंसा की गई है। 'सुश्लिष्टबन्धघटनाविस्मितकविराजशेखरस्तुत्या। आस्तामियमाकल्पं कृतिश्च कीर्तिश्च पूर्वाच ॥' (पृ० २६२) यद्यपि इसकी तिथि मिटी हुई है तो

भी शिलालेख के संपादक ने लिपि तथा विषय से अनुमान लगाया है कि यह दसवीं शताब्दी का है। इस शिलालेख का प्रो० वी० वी० मिराशी ने पुनः सम्पादन किया है (सी० आई० आई० भाग ४, पृ० २०४–२४ में यह पद्य पृ० २१५ पर आता है।

काव्यमीमांसा के ५८वें पृष्ठ पर राजशेखर ने कहा है कि प्रदेशों के बारे में अधिक तथ्यों की जानकारी के अभिलाषी उनके भुवनकोश को देखें। भुवनकोश को राजशेखर की एक पृथक् रचना मानना आवश्यक नहीं है। दूसरे पृष्ठ पर उसने प्रथम अधिकरण के विषयों का उल्लेख किया है, इनमें अंतिम भुवन कोश है। परन्तु उपलब्ध काव्यमीमांसा के प्रथम अधिकरण में भुवनकोश का उल्लेख नहीं आया। अतः पृष्ठ ९८वें पर संभवतः राजशेखर ने प्रथम अधिकरण के अंतिम भाग की ओर ही संकेत किया है और भुवनकोश को स्वतंत्र रचना के रूप में निर्दिष्ट नहीं किया। परन्तु संपादक का मत (पृष्ठ १५ भूमिका, संस्करण १९२४) इससे भिन्न है। यद्यपि डा० डे० के मतानुसार (एच० एस० पी० भाग १, पृ० १२३) यह संकेत किसी अन्य रचना के लिए है।

यह अनुमान लगाना संभव नहीं है कि राजशेखर की कितनी रचनाएं थीं। जैसाकि ऊपर उल्लेख आया है बालरामायण के अनुसार राजशेखर ने (संभवतः बालरामायण सहित) छः ग्रन्थ रचे ? काव्यमीमांसा में (पृ० ३८) बालरामायण (१.२४) के पद्य 'शमव्यायामाभ्यां', विद्धशालभंजिका (४.५) पद्य मूलंबालक-वीरुधां' तथा बालभारत (१.२ पृ० ७१) के पद्यं ये सीमन्तित०' उद्धृत होने के कारण काव्यमीमांसा को इन नाटकों के उपरान्त की रचना माननी चाहिए। (दे० प्रो० पाठक स्मृति-ग्रन्थ संस्करण १९३४ पृ० ३५९–३६६) में प्रकाशित दी क्रोनालॉजिकल आर्डर ऑफ राजशेखरज् वर्क्स' नामक प्रो० मिराशी लिखित-लेख, इसीका डा० मनमोहन घोष ने भी अनुसरण किया है, (कर्पूरमंजरी की भूमिका पृ० १०१–७२ १९४८ का संस्करण) यद्यपि मैं प्रो० मिराशी के सभी मतों का पूर्ण समर्थन नहीं करता। क्योंकि यह विषय अप्रासंगिक है अतः मैं इस विवाद में नहीं पड़ना चाहता।

काव्यमीमांसा में निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण लेखक तथा रचनाएं उल्लिखित है : अवन्तिसुन्दरी, आनंद, आपराजिति, औद्भटाः, कालिदास, कुमारदास, कौटिल्य, (पृ० ४) पाल्यकीर्ति (पृ० ४६) भरत, मंगल, मेण्ठ, मेघाविरुद्र

1. इत्थं देश विभागो मुद्रामात्रेण सूचितः सुधियाम्। यस्तु जिगीषत्यधिकं पश्यतु मद्भुवनकोशमसौ ॥

(पृ० १२) रुद्रट, वररुचि, वाक्पतिराज[1] (पृ० ६२), वामनीयाः, श्यामदेव (पृ० ११, १३, १७)। कई लेखकों और रचनाओं से जैसेकि भामह (१.७ पृ० ९०) काव्यादर्श (१.७० काव्यमीमांसा पृ० ८२, २.९९ काव्यमीमांसा पृ० २४) आदि से उद्धरण लिये गये हैं परन्तु उनके नामों का निर्देश नहीं है। राजशेखर की रचनाओं के विषय की अधिक जानकारी के लिए निम्नलिखित पुस्तकों से सहायता ली जा सकती है—प्रो० आपटे की पुस्तक 'राजशेखर हिज लाइफ एण्ड राईटिंग' (१८८६ ई० सन्), डा० स्टेनकोनो लिखित 'कर्पूरमंजरी की टीका भाग ३ तथा डॉ० मनमोहनघोष द्वारा संपादित कर्पूरमंजरी की भूमिका. सर सी० वी० कुमारस्वामी शास्त्री का राजशेखर विषयक लेख, (जे० ओ० आर मद्रास, भाग ७, पृ० २५–३२) फेस्टजावेजेकोवी पृ० १६९–१७९ (नोवल लिखित), जे० आई० एच १९३० भाग ९, पृ० ११९–१३१ (प्रो० दशरथ शर्मा का लेख 'ग्लीनींग्स फ्राम राजशेखरज्र वर्क्स'। इस लेख में इस वात पर वल दिया गया है कि राजशेखर के समय आचारहीनता प्रसरित थी और कौलपद्धति का प्रभाव था।

१७. मुकुलभट्ट प्रणीत अभिधावृत्ति मातृका

(निर्णयसागर प्रेस १९१६) यह ग्रन्थ पर्याप्त लघु है फिर भी इसका संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक है। इसमें १५ कारिकाएं है और उस पर ग्रन्थकार ने स्वयं वृत्ति भी लिखी है। इसमें शब्द के मुख्य और लाक्षणिक इन दो प्रकार के अर्थों का विवरण है। लक्षणा का विवेचन विस्तार से किया गया है और उसके उपभेदों को उदाहरणों के साथ समझाया गया है। काव्यप्रकाश जैसी परवर्ती कृतियों में जो लक्षणा का विवरण है वह इस ग्रन्थ पर आधारित है। इसने अपने ग्रन्थ में उद्भट, (उत्प्रेक्षा की परिभाषा) कुमारिलभट्ट, ध्वन्यालोक, भर्तृमित्र, (मीमांसा का लेखक) महाभाष्य, विज्जिका, (दे० दृष्टि हे प्रतिवेशिनि० पद्य) वाक्यपदीय, शबर-स्वामी का उल्लेख किया है। वह भट्टकल्लट का पुत्र था और प्रतिहारेन्दुराज का शिक्षक। अवन्तिवर्मन् (८५५–८८३ ई० सन्) के शासन काल में भट्टकल्लट रहते थे। 'अनुग्रहाय लोकानां भट्टाः श्री कलाटादयः। अवन्तिवर्मणः काले सिद्धा भुवमवातरन्॥' राजतर० ५.६६.[2] माणिक्यचन्द्र के काव्यप्रकाश सङ्केत में इनका

1. यह प्राकृत काव्य गौडवा हो के रचयिता का नाम है।

2. सिद्ध शब्द से यह संकेत मिलता है कि कल्लट प्रौढावस्था का व्यक्ति रहा होगा जबकि उसने अवन्तिवर्मन् के समय रहस्यानुभूति तथा यौगिक शक्ति को प्राप्त किया। वह काश्मीर के शैव सम्प्रदाय की स्पंद शाखा से सम्बन्ध

अनेक स्थलों पर उल्लेख आया है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि अभिधावृत्ति मात्रिका का समय सन् ९००–९२५ ई० सन् होना चाहिए।

१८. भट्टतौत (अथवा तोत) रचित काव्यकौतुक

भट्टतौत अभिनवगुप्त के गुरु थे (लोचन पृ० ३४)। उन्होंने काव्यकौतुक नामक ग्रन्थ लिखा था, जिस पर अभिनवगुप्त ने विवरण नामक टीका लिखी थी (लोचन पृ० २२१)। अभिनवगुप्त ने अपने नाट्यशास्त्र के भाष्य की प्रस्तावना के चौथे पद्य में लिखा है कि तोत ने नाट्यवेद की व्याख्या उन्हें सुनाई। (सद्विप्रतोतवदनोदितनाट्यवेद—तत्वार्थमर्थिजनवाञ्छितसिद्धिहेतोः। माहेश्वराभिनवगुप्तपदप्रतिष्ठः संक्षिप्तवृत्तिविधिना विशदी करोति ॥) नाट्यशास्त्र के उन्नीसवें अध्याय के अंत में पुनः अभिनवगुप्त ने लिखा है कि द्विजश्रेष्ठ तौत ने उन्हें सन्धियों के अध्यायगत नियमों की व्याख्या समझाई। (दे० ऊपर पृ० २० का पद्य)। भट्टतौत का सिद्धान्त था कि शान्तरस मोक्षप्रद होने के कारण सब रसों में श्रेष्ठ है। 'मोक्षफलत्वेन चायं (शान्तोरसः) परम-पुरुषार्थनिष्ठत्वात्सर्वरसेभ्यः प्रधानतमः। सचायमस्मदुपाध्यायभट्टतौतेन काव्य-कौतुके अस्माभिश्च तद्विवरणे बहुतरकृतनिर्णयः पूर्वपक्षसिद्धान्त इत्यलं बहुना।' (लोचन पृ० २२१ कारिका ३.२६)। एक अन्य सिद्धान्त जिसका लोचन (पृ० १८४) में वर्णन आया है, अभिनवगुप्त के उपाध्याय (तौत) का बताया जाता है। 'प्रीत्यात्मा च रसस्तदेव नाट्यं नाट्य एव च वेद इत्यस्मदुपाध्यायः।' अभिनवभारती से तौत के काव्यकौतुक के कतिपय उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। भरत के 'तस्मान्नाटचरसास्मृताः' (नाटचशास्त्र, ६.३६. जी० ओ० एस) इस वचन पर अभिनवगुप्त ने अपना अभिमत इस प्रकार से व्यक्त किया है, 'रससमुदायो हि नाटचम्। न नाटच एव च रसः काव्येऽपि नाटचायमान एव रसः, काव्यार्थविषये हि प्रत्यक्षकल्पसंवेदनोदये रसोदय इत्युपाध्यायाः।' तदाहुः

रखता था। यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि ८९० ई० सन् के लगभग कल्लट वृद्ध हो चला था। अतः उसका पुत्र नवीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश तथा दसवीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों के बीच में रहा होगा। देखिए, ऊपर पृ० १९२ मुकुल के शिष्य प्रतिहारेन्दुराज के विषय में माणिक्यचन्द्र ने काव्यप्रकाश पर संकेत नामक टीका (११५९–६० ई० सन्) लिखी जिसमें मुकुल और उसकी अभिधा (वृत्ति) मातृका नाम उल्लिखित है (पृ० ३२, ३८ मैसूर संस्करण)।

काव्य कौतुके—प्रयोगत्वमनापन्ने काव्ये नास्वादसंभवः । इति । वर्णनोत्कलिका भोगप्रौढोक्त्या सम्यगर्पिता । उद्यानकान्ता चन्द्राद्या भावा प्रत्यक्षवत्स्फुटाः ॥ इति (भाग १, पृ० २९१–९२) इसका तात्पर्य यह है कि जब कवि अपनी अद्भुत चित्रणशक्ति से वर्णित वस्तु को इस प्रकार से पाठकों के सामने प्रस्तुत करता है मानो वह उनके नेत्रों के सामने साकार हों, तभी उन्हें काव्यरस का आस्वादन हो सकता है। नाट्यशास्त्र, भाग १ के २२३वें पृष्ठ पर काव्यकौतुक के उस पद्य की ओर संकेत मिलता है जिसमें रसों की संख्या गिनाई गई है (यत्तूपाध्यायैः काव्यकौतुके रसोद्देशपरे श्लोके निरूपितं आदि) नाट्यशास्त्र के प्रथम भाग में १८७वें पृष्ठ पर भरततोत कृत व्याख्या का संकेत भी मिलता है। (४.२८१ जी० ओ० एस० संस्करण) भरत के एक पद्य पर (४.५१ पृ० ३१० जी० ओ० एस०) एक और आधा पद्य उद्धृत है। इसमें कहा गया है कि जब करुण विप्रलंभ (वियोगियों का प्रेम) पर निर्भर नहीं रहता तब उसकी स्थिति सभी प्राणियों में समान रूप से होती है। (तदुक्तमस्मदुपाध्यायभट्ट-तोतेन—स्वातन्त्र्येण प्रवृत्तौ तु सर्वप्राणिषु सम्भवः।) नाट्यधर्मी (भरत १३, १४, जी० ओ० एस०) पर उसके अध्यापक का एक पद्य उद्धृत है: 'यथोक्त-मुपाध्यायैः—यदत्रास्ति न तत्रास्य कवेर्वर्णनमर्हति। यन्नासम्भवि तत्र स्यात सम्भव्यत्र तु धर्मतः ॥' (भा० २, पृ० २१६) यह पद्य तथा एक अन्य पद्य को अभिनवगुप्त ने १९वें अध्याय (पृ० ७१ जी० ओ० एस० भा० ३) में उद्धृत किया है। भरत के १५वें अध्याय के अन्तिम पद्य में अभिनवगुप्त ने एक पद्य उद्धृत किया है जिसके अनुसार नाटक को प्रभावशाली बनाने के लिए बड़े कवियों को भी चाहिए कि वे उपयुक्त क्रम और पद्धति को अपनायें (स एव क्रम इत्युपाध्यायाः। यदाहुः। महाकवीनां पदवीमुपात्तामारुरुक्षताम्। नासंस्मृत्य पदस्पर्शं सम्पत्सोपानपद्धतिः ॥ इत्यादि। भा० २, पृ० २९२)। अभिनवगुप्त ने (पृ० ७८ जी० ओ० एस० संस्करण भा० ३) कहा है कि रस चमत्कारप्राण, आनन्दैकघन और लोकोत्तर होता है। अपने मत की पुष्टि में उसने वाच्याभिनय के विषय में तौत के छः पद्य उद्धृत किए हैं जिनमें से अन्तिम दो अशुद्ध हैं। २२वें अध्याय के १५३वें पृ० पर तौत का एक आधा पद्य उद्धृत है: न चालङ्कृती नामत्र (?) लक्षणं महदाश्रयमिति, (भा० ३, जी० ओ० एस०)। नाट्य-शास्त्र (३१.५१३–२० चौखंबा संस्करण) में एक आधा पद्य उद्धृत है। इसके अनुसार काव्य में किसी भी प्रकार की भाषा अथवा नाटक में किसी भी प्रकार के पात्र के प्रयोग पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। परन्तु प्रकरण के अनुसार सैन्धवी

भाषा (जोकि सिन्धुदेश की बोली है) का प्रयोग होना चाहिए। 'यत्र भाषा-नियमो नोक्तस्तत्र प्राथम्यात्संस्कृतैव, यथेच्छमित्यन्ये स्त्री पुंभावाश्रयत्वात् प्राकृत-भावैवेत्यपरे, सैन्धव्येव प्रकरणादिति भट्टतोतः। यदाह काव्यकौतुके—न भाषा-नियमः पात्रे काव्ये स्यात्सैन्धवीमिति।' (भ० ओ० रि० आई० प्रतिलिपि पृ० ५०३) बी० ओ० आर० आई प्रतिलिपि के ३४५वें पृष्ठ पर काव्यकौतुक के मत का उल्लेख आया है। बी० ओ० आर० आई० प्रतिलिपि के ३५५वें पृष्ठ पर यह पद्य आया है: 'तथा च भट्टतोतेनोक्तम्—कामावस्था न शृंगारः क्वचिदासां तदङ्गता।' बी० ओ० आर० आई० प्रतिलिपि के ४९७वें पृष्ठ पर एक अशुद्ध तथा महत्त्वपूर्ण अवतरण उपलब्ध है: 'तथा च डोम्बिकासु स एवार्थः प्रधानभूत इति चूड़ामणौ स्पष्टमेवोक्तम्। चोरिअमि···तथा च चिरन्तन्तैयं ···दयप्रवादं पण्डमचूड़ामणिआ इति। तदेतद्भट्टतोतेन काव्यकौतुके वितत्य दर्शितम्। (अध्याय ३१ पद्य ४०८ चौखंवा संस्कृत संस्करण) पण्डमचूडामणिआ शब्द वैसे ही शब्दों की स्मृति दिलाते हैं जैसे कि पृ० १९७ पर उद्धृत है।

अनेक स्थलों पर अभिनवगुप्त ने अपने गुरु के मतों का 'उपाध्यायाः' अथवा 'गुरवः' कहकर उल्लेख किया है (जी० ओ० एस० भाग १, पृ० ३.१०७, २०७, २७५ भाग २, पृ० ६७, ३८६, ३९५, ४२३, ४४०, ४४१ तथा भाग ३, पृ० ३,१०, १९, ४७, ७१ (उपाध्यायपादाः, १६३)। निस्सन्देह तौत ने अभिनव-गुप्त को बहुत प्रभावित किया और अभिनवगुप्त से रस-सिद्धान्त बहुत प्रभावित हुआ है। उपरोक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि काव्यकौतुक का संपूर्ण भले ही न हो अधिकांश भाग पद्यात्मक है। इसने सामान्यतः काव्य-सिद्धान्तों का और विशेषरूप से इसका विवेचन किया है। इसमें नाट्यशात्र के सम्बद्ध प्रकरणों को लेकर उनकी व्याख्या की है। परन्तु इस विषय में पूर्ण जानकारी न होने से यह नहीं कहा जा सकता कि इसने संपूर्ण नाट्यशास्त्र पर विस्तृत टीका लिखी है या नहीं। छत्तीस लक्षणों के विषय में अभिनवभारती के १६वें अध्याय के चौथे पृष्ठ पर यह संकेत मिलता है: 'पठितोद्देशक्रमस्तु अस्मदुपाध्यायपरम्परा-गत।' इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह तौत नाट्यशास्त्र के भाष्यकर्ताओं के एक संप्रदाय के प्रतिनिधि थे।

यह बाद में स्पष्ट होगा कि अभिनवगुप्त का साहित्यिक कार्यकाल ९८० से १०२० ई० सन् के बीच का है। अतः उसके गुरु का साहित्यिक कार्यकाल ९५० से ९८० ई० सन् के बीच का निश्चित होता है। भट्टतौत का एक अन्य सिद्धान्त यह भी है कि कवि, काव्य का नायक तथा सहृदय पाठक का अनुभव

एक-जैसा ही होता है 'नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः' (लोचन पृ० ३४) क्षेमेन्द्र की औचित्य विवाचार चर्चा (कारिका ३५) में प्रस्तुत प्रतिभा की परिभाषा का श्रेय भट्टतोत को ही प्राप्त है : 'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी-प्रतिभा मता।' भट्टतौत का काव्यकौतुक तथा उसकी अभिनवगुप्त द्वारा की गई विवरण नामक टीका अव तक उपलब्ध नहीं हो सकी। इनसे प्राचीन बहुत-सी बातों का पता लगता और काव्यशास्त्र के विभिन्न संप्रदायों द्वारा प्रस्तुत विभिन्न सिद्धान्तों के क्रमिक विकास की जानकारी होती। हेमचन्द्र ने (काव्यानुशासन पृ० ३१६) भट्टतौत के तीन पद्य उद्धृत किये हैं 'नागऋषि कविरित्युक्त-मृषिश्च किल दर्शनात्! विचित्र भावधर्मांशतत्वप्रख्या च दर्शनम्॥ स तत्व-दर्शनादेव शास्त्रेषु पठितः कविः। दर्शनाद्वर्णनाच्चाथरूढालोके कविश्रुतिः॥ तथाहि दर्शने स्वच्छेनित्येप्यादिकवेर्मुनि (नेः ?)। नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना॥' सोमेश्वर काव्यप्रकाश टीका, प्रथम पांडुलिपि २ ब ने भी ये तीन पद्य उद्धृत किये हैं—माणिक्यचन्द्र की काव्यप्रकाश संकेत नामक टीका के अनुसार निम्न पद्य कौतुक से लिये गये हैं। प्रज्ञा···प्रतिभा मता। तदनुप्राणनाजीवद्वर्णनानिपुणः कविः। तस्य कर्म स्मृतं काव्यम्, (पृ० ७ मैसूर संस्करण)। इसीका हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन के तीसरे पृष्ठ पर बिना नाम दिये उल्लेख किया है। व्यक्तिविवेक व्याख्या के १६वें पृष्ठ पर भी यही कहा गया है। 'अनेन कवेः काव्यमिति काव्यकौतुकविहिताम् काव्यस्य शब्दव्युत्पत्ति कविमूलकाव्यत्वप्रतिपादिकां दर्शयति। तत्र ह्युक्तं 'तस्य कर्म स्मृतं काव्यम्' इति॥ यह विचारणीय है कि वामन के सूत्रों पर लिखित कामधेनु में इन्हें भामह रचित वताया गया है। हेमचन्द्र (विवेक पृ० ५९) ने कहा है कि भट्टतौत शंकुक के 'अनुकरणरूपो रसः' इस मत के विरोधी थे। इसी प्रकार माणिक्यचन्द्र (पृ० ६९) ने भी विरोध किया है। सोमेश्वर और अभिनवभारती (भाग १, पृ० ३७) ने भी ऐसा ही माना है।

१९. भट्टनायक प्रणीत हृदयदर्पण

भट्टनायक उन चार लेखकों में से एक है जिन्होंने भरत के रससूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति' की व्याख्या की है और जिनका काव्यप्रकाश (४.९०वाँ) में उल्लेख है। उसका रसविषयक मत इस प्रकार है (१) न ताटस्थ्येन नात्मगतयेन रसः प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते अपितु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादि साधारणीकरणात्मना भावकत्व व्यापारेण भाव्यमानः स्थायी सत्वोद्रेकप्रकाशानंदमयसंविद्विश्रान्तिसतत्वेन

भोगेन युज्यत इति भट्टनायकः (काव्यप्रकाश ४. पृ० ९० वां)। भट्टनायक के रस विषयक विस्तृत मतों को लोचन के ८२--८३ पर देखिए। इसके मतानुसार काव्य अथवा नाटक के अभिधा, भावना और भोगीकृति (रसचर्वणा अथवा भोग)[1] ये तीन कार्य होते हैं। प्रथम अभिधा तो शास्त्र के लिए भी अपेक्षित है। द्वितीय कार्यभावना से विभावादि सीता आदि को पाठक अथवा दर्शकों के समक्ष इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है जिससे कि उनका व्यक्तिगत अस्तित्व मिट जाता है और वे सामान्य अथवा निर्वैयक्तिकरूप में उनके सामने आते हैं (सीता एक पवित्र और सुंदर नारी मात्र रहती है) तीसरे कार्य का संबन्ध प्रेक्षक अथवा पाठक की अंतिम अनुभूति से है (यह अनुभूति ब्रह्मानंद की भाँति स्वसंवेद्य है, इसकी शब्दों में व्याख्या नहीं हो सकती) इसमें प्रेक्षक अथवा पाठक सब-कुछ भूलकर विषय से तादात्म्य प्राप्त करता है। अभिनवभारती (पृ० २७९ भाग १), 'हेमचन्द्र (विवेक पृ० ६१) तथा जयरथ (अलं० स० वि० पृ० ११) ने इस विषय में निम्न पद्य लिखे हैं---(२) अभिधा भावना चान्या तद्भोगीकृतिरेव च। अभिधाधामतां याते शब्दार्थालंकृती ततः॥ भावनाभाव्य एषोपि शृंगारादिगणो-मतः। तद्भोगी कृतिरूपेण व्याप्यते सिद्धिमान्नरः॥' जयरथ ने इसमें आधा पद्य और बढ़ाया है : दृश्यमानाथवामोक्षेयात्यङ्गत्वमियं स्फुटम्। इन अनेक प्रमाणों से सिद्ध होता है कि भट्टनायक हृदयदर्पण का लेखक था। लोचन में भट्टनायक के कुछ पद्य उद्धृत किये गये हैं। इनमें शास्त्र और आख्यान का पारस्परिक अंतर तथा काव्य का इनसे अंतर बताया है। (३) शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः। अर्थतत्वेन युक्तं तु वदन्त्याख्यानमेतयोः। द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यगीर्भवेत्॥' (पृ० ३२) तथा अ० भा० भाग २, पृ० २९८ हेमचन्द्र (काव्यानुशासन पृ० ३, ४) ने इन पद्यों को हृदयदर्पण से उद्धृत किया है। माणिक्यचन्द्र ने भी काव्यप्रकाश (संकेत पृ० ६) में इन पद्यों का उल्लेख किया है। अलंकारसर्वस्व (पृ० १०; ११) में भी भट्टनायक के मतों का सारांश दिया गया है 'भट्टनायकेन तु व्यंग्यव्यापारस्य प्रौढोक्त्याभ्युपगतस्य काव्यांशत्वं ब्रुवतान्यग्भावितं शब्दार्थस्वरूपस्य व्यापारस्यैव प्राधान्यमुक्तम्। तत्राप्यभिधाभाव-कत्वलक्षणव्यापारद्वयोत्तीर्णो रसचर्वणात्मा भोगापरपर्यायो व्यापारः प्राधान्येन

1. लोचन, पृ० ८२ पर उसके मतों का इस प्रकार से उल्लेख आया है : प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते काव्येन रसः। किं त्वन्य शब्दवैलक्षण्यं काव्यात्मनः शब्दस्य त्र्यंशताप्रसादात्। तत्राभिधायकत्वं वाच्यविषयं भावकत्वं रसादिविषयं भोक्तृत्वं सहृदयविषयमिति त्रयोंऽशभूताव्यापाराः॥

विश्रान्तिस्थानतयाङ्गीकृतः ।' इस मत के आधार पर जयरथ ने भट्टनायक को हृदयदर्पण का रचयिता माना है (पृ० १५) । महिमभट्ट ने कहा है कि उन्होंने हृदयदर्पण को पढ़े विना ही ध्वन्यालोक के खंडन करने का यश पाने के लिए व्यक्तिविवेक की रचना की । 'सहसा यशोभिसर्तुं समुद्यतादृष्टदर्पणा मम धीः । स्वालंकारविकल्पप्रकल्पने वेत्ति कथमिवावद्यम् ॥' (इसमें अभिसर्तुं का अर्थ अभिसारिका के समान इस स्थल पर गमन करना और दर्पण का अर्थ शीशा भी गर्भित है । इस पर टीका में कहा गया है : 'दर्पणोहृदयदर्पणाख्यो ध्वनिध्वंसग्रन्थोऽपि' (पृ० १) व्यक्तिविवेक' (पृ० १३) की टीका में हृदयदर्पण से एक आधा पद्य उद्धृत किया गया है : तत्कर्ता च कविः प्रोक्तो भेदेपि हि तदस्ति यत् ।' इति काव्यमूलं कवित्वं प्रतिपादितम् । इससे यह सिद्ध हो जाता है कि भट्टनायक ने ध्वनि-सिद्धान्त का खण्डन करने के उद्देश्य से हृदयदर्पण की रचना की । भम धम्मिअ (ध्व० पृ० १९) उदाहरण पर लोचन (पृ० २३) ने भट्टनायक की कटु आलोचना की है और यह कहकर उसे फटकारा है 'किं च वस्तुध्वनिं दूषयता रसध्वनिस्तदनुग्राहकः समर्थ्यत इति सुष्ठुतरां ध्वनिध्वंसोयम् (लोचन पृ० २३) ध्वन्यालोक से असहमत होने में उसका मुख्य तत्व यह है कि वह ध्वनि को परिभाषा से परे तथा पूर्णतः स्वसंवेद्य मानता है । अतः वह उन विद्वानों का अनुयायी है जिनके बारे में ध्वनिकारिका में कहा गया है 'केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयम्' अथवा उसीमें यह भी कहा गया है 'केचित्पुनर्लक्षणकरणशालीनवुद्धयो ध्वनेस्तत्वं गिरामगोचरं सहृदयहृदयसंवेद्यमेव समाख्यातवन्तः' (पृ० १२) उसके मतानुसार रसचर्वणा (अथवा भोगकृत्व) काव्य की आत्मा है । वह यह मानने को प्रस्तुत नहीं कि ध्वनि ही सामान्यतः काव्य की आत्मा है । 'ध्वनिर्नामापरो योपि व्यापारो व्यंजनात्मकः । तस्य सिद्धेपि भेदे स्यात्काव्यांगत्वं न रूपिता ॥' (लोचन पृ० १४, १९; जयरथ पृ० १०) लोचन में हृदयदर्पण के मतों का वहुधा उल्लेख इसलिए आया है कि उनका खंडन किया जाय । उपरोक्त उद्धरणों के अतिरिक्त, लोचन का पृ० १४ देखिए (काव्येरसयिता सर्वो न बोद्धा न नियोगभाक् ध्व० पृ० २४ के 'अत्ताएत्थ' पद्य पर देखिए लोचन पृ० २४–२५), (एतदेवोक्तं हृदयदर्पणे 'यावत्पूर्णो न त्वेतेन तावन्नैवैवम् इति पृ० ३२; आत्मसद्भावेपि क्वचिदेव जीवव्यवहार इत्युक्तं प्रागेव । तेनैतन्निरवकाशं यदुक्तं हृदयदर्पणे—सर्वत्र तर्हि काव्यव्यवहारः स्यात् इति पृ० ३२; यदाह भट्टनायकः—वाग्धेनुर्दुग्ध एकं हि रसं यल्लाभतृष्णया । तेन नास्य समः स स्याद्दुह्यते योगिभिर्हि यः पृ० ३४; तेन यद्भट्टनायकेन द्विवचनं दूषितं तद्गजनिमीलिकयैव पृ० ३९) । ध्वनिकारिका

(१.१३) में 'व्यङ्क्तः' रूप के प्रति यह संकेत है। और व्यक्तिविवेक में (पृ० १९) लोचन के इस अवतरण की आलोचना की गई है। ७७ (भट्टनायकेन तु यदुक्तं इव शब्दयोगाद्गौणताप्यत्र न काचित्—तच्छ्लोकार्थमपरामृश्यनिश्वासान्ध इवादर्शः) इसका संकेत निश्वासान्धइवादर्शः इस रामायण (पृ० ७६) के पद की ओर है पृ० ७८। यत्तु हृदयदर्पणे उक्तम्—हहा हेति संरम्भार्थोऽयं चमत्कार इति (ध्वन्यालोक पृ० ७४-७५ में स्निग्धश्यामल० इस पद्य के विषय में कहा गया है। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि हृदयदर्पण की रचना काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों की स्थापना तथा ध्वन्यालोक के सिद्धान्त को मिथ्या सिद्ध करने के लिए हुई है। माणिक्यचन्द्र ने लोल्लट, शंकुक और नायक के विषय में पृ० ५०—५१ पर दो पद्यों का उल्लेख किया है। परन्तु संकेत के १४७वें पृष्ठ पर (आनादशर्मा संस्करण) इससे भिन्न आशय निकलता है। क्या यह रचना मूलतः सहृदयदर्पण नाम से प्रसिद्ध थी ? यह जानने के लिए इसी पुस्तक में पृ० १९६—९७ देखिए।

१९३७ के संस्करण से मैं अभिनवभारती का उपयोग नहीं कर सका; क्योंकि उस समय तक उसका कोई भी भाग प्रकाशित नहीं हुआ था। अभिनवभारती के प्रथम भाग के चौथे तथा पांचवें पृष्ठ पर नाट्यशास्त्र के इस प्रथम पद्य के विषय में भट्टनायक का मत उद्धृत है। 'नाट्यशास्त्रं प्रवक्ष्यामि ब्रह्मणा-यदुदाहृतम् ।' इसका अर्थ है कि यह नामरूप संसार मनुष्य के उच्चतम ध्येय (मोक्ष) की प्राप्ति का एक साधन है। और इसी पद्य से हमें शान्तरस की स्थिति के विषय में सुझाव मिलता है। तदुपरान्त उसने भट्टनायक कृत सहृदयदर्पण से निम्न पद्य उद्धृत किया है: नमस्त्रैलोक्यनिर्माण कवये शंभवे यतः। प्रतिक्षणं जगन्नाट्य प्रयोगरसिको जनः॥ यह हृदयदर्पण अथवा सहृदयदर्पण का प्रथम पद्य प्रतीत होता है। स्व० प्रो० वि० वि० सोवानी का विचार है कि भट्टनायक की रचना नाट्यशास्त्र की टीका है। (दे० डा० भांडारकर स्मृति-ग्रन्थ पृ० ३९०) परन्तु यह मत उपयुक्त नहीं लगता। भट्टनायक से लिये गये उपरोक्त उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि भट्टनायक का उद्देश्य ध्वनि को रसमात्र स्थापित करना था। इनके मत में ध्वनिकार द्वारा प्रस्तुत वस्तु-ध्वनि और अलंकारध्वनि ये दो भेद असंगत हैं। साथ ही उसने यह भी कहा है कि रसानुभूति के सिद्धान्त की शब्दों में व्याख्या नहीं की जा सकती। तथा इनके मत में ध्वन्यालोक (पृ० १९ और २४) ममधम्मि० और अत्ताएत्थ० की की गई व्याख्याएं अनुपयुक्त हैं। इस प्रकार हृदयदर्पण में रस का विवेचन हुआ और स्वभावतः इसीके साथ भरत के सूत्र 'विभावानुभाव० की भी व्याख्या हुई।

अभिनवभारती में उद्धृत भट्टलोल्लट, शंकुक आदि के मतों की व्याख्या विस्तार से आई है परन्तु भट्टनायक के पद्यों की व्याख्या कहीं-कहीं प्रस्तुत की गई है (पृ० ४८–५२)। सिद्धिलक्षण के अध्याय (२७ पृ० ३०५ अ० भा० जी० ओ० एस० भाग ३) में अभिनवगुप्त ने भट्टनायक की रचना से निम्न उदाहरण प्रस्तुत किया है: 'प्रधाने सिद्धि भागेऽस्य प्रयोगाङ्गत्वमागताः। गेयादयस्तथैवैतेत्रैघेनं (?) पद्युपयोगिनः। सोपानपदपङ्क्त्या च सा च मोक्षस्पृगात्मिका।' इसके वाद ३०९वें पृष्ठ पर भट्टनायक का उदाहरण प्रस्तुत कर उसे जैमिनी का नितांत अनुगामी मानकर उसका उपहास किया है। 'यत्तु भट्टनायकेनोक्तं सिद्धेरपि नटादेरंगत्वं व्रजन्त्यास्तत्पक्षेयमिति तेन नाट्यंगता समर्थिता फलं च पुरुषार्थत्वादिति केवलं जैमिनिरनुसृत्य इत्यलमनेन। ('फलं च पुरुषार्थत्वात्' के विषय में दे० पूर्वमीमांसा सूत्र तृतीय भाग १.५)। लोचन (पृ० ७६-७७) में भी 'निःश्वासान्ध इवादर्शचन्द्रमा न प्रकाशते' इस पद्य के विषय में भट्टनायक प्रस्तुत मत को अस्वीकार करते हुए उसका इस प्रकार से उपहास किया है। 'न च···कल्पनायुक्ता। जैमिनि सूत्रे ह्येवं योज्यते न काव्येऽपीत्यलम्।' इन उदाहरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि भट्टनायक मीमांसक था अथवा कम-से-कम उसने अपनी रचना मीमांसा के सिद्धान्तों का आधार ग्रहण किया। भट्टनायक के रसचर्वणा अथवा भोग संवन्धी विचार हमें सांख्य सिद्धान्त की स्मृति दिलाते हैं जिसमें पुरुष को कर्ता नहीं वरंन् भोक्तामात्र माना गया है। भट्टनायक का सत्वोद्रेक सिद्धान्त जिसे मम्मट ने भी स्वीकार किया है, उस पर सांख्य के सत्व, रजस्, तमस् इन तीन गुणों का प्रभाव है। मेरे विचार में भट्टनायक उद्भट तथा शंकुक की भांति नाट्यशास्त्र के अविकल भाष्यकर्ता नहीं हैं। ध्वन्यालोक से उसकी प्रमुख मतभिन्नता ऊपर व्यक्त कर दी गई है। भट्टनायक के मत में काव्यशास्त्र से भिन्न है। काव्य पूर्णतः कवि-व्यापार पर आधारित है तथा सबको आनन्द देता है जबकि शास्त्र उपदेश देते हैं और आख्यान (इतिहास, पुराण) सूचनाएं प्रदान करते हैं।

भट्टनायक का काल ध्वन्यालोक के उपरान्त तथा लोचन के पूर्व ९०० से १००० ई० सन् के मध्य में आता है। लोचनगत कटु तथा व्यक्तिगत आक्षेपों से विदित होता है कि संभवतः भट्टनायक ध्वन्यालोक की रचना के समय की अपेक्षा लोचन के रचनाकाल के अधिक समीप रहा होगा। यदि उसे अभिनवगुप्त का समसामयिक अथवा कुछ काल पूर्व का माना जाय तो हृदयदर्पण के रचयिता भट्टनायक तथा राजतरंगिणी में उल्लिखित भट्टनायक में साम्य नहीं हो सकता था। 'द्विजस्तयोर्नायकाख्यो गौरीश

सुरसद्मनो। चातुर्विद्यकृतस्तेनवाग्देवीकुलमंदिरम् ॥' (५.५९)। इसमें शंकर वर्मन के समय (८८३–९०२ ई० सन्) का संकेत है। इस विषय में एकान्त-निर्णय देना कठिन है तो भी मेरे विचार में इन दोनों में साम्य नहीं है। भट्ट-नायक का समय ९३५ से ९८५ ई० सन् के बीच में रहा होगा। 'फ्रेग्मेन्स ऑफ भट्टनायक' टी० आर० चिन्तामणि तथा जर्नल ऑफ बंबई यूनिवर्सिटी द्वारा संकलित, (दे० जे० ओ० आर० मद्रास, भाग १, पृ० २६७–२७६) भट्टनायक-कृत ध्वन्यालोक की आलोचना तथा भट्टनायक का रससिद्धान्त के विषय में (दे० १७ भाग २, पृ० २६७–२७६)। प्रभाकर ने अपने रसप्रदीप (पृ० ३ त्रिवेन्द्रम् संस्करण) में साहित्यदर्पण[1] से उद्धृत 'कीटाणुविद्ध' पद्य को हृदयदर्पण का माना है। भट्टनायक की रचना काव्य, रस तथा ध्वनि-सिद्धान्तों की जान-कारी के लिए बहुमूल्य सिद्ध होती। यह प्रभाकर को १६वीं शताब्दी के अंत में उपलब्ध थी। अब भी यदि अधिक खोज की जाय तो उसकी रचना की पांडुलिपि संभवतः उपलब्ध हो सकेगी।

२०. कुंतककृत वक्रोक्तिजीवित

यह ग्रन्थ अनेक वर्षों तक अनुपलब्ध था। इसकी स्थिति का ज्ञान अलंकार-सर्वस्व, साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थों में उल्लिखित उद्धरणों से ही होता था। इसकी हस्तलिखित प्रति मद्रास में थी। डा० वेलवेलकर की कृपा से हमें यह प्राप्त हुई। इस प्रति का उपयोग मैंने अपने ग्रन्थ के १९२३ के संस्करण में किया था। डा० डे ने १९२३ में दो उन्मेष प्रकाशित किये थे। इनका उपयोग इस संस्करण में किया गया है। आगे उन्होंने १९२८ में एक और संस्करण प्रकाशित किया परन्तु मुझे वह प्रति प्राप्त न हो सकी। जिस पांडुलिपि का यहां उपयोग लिया गया है वह वी० ओ० आर० आई द्वारा १९१९–१९२४ ई० सन् में प्रकाशित है। इसकी क्रमसंख्या ११४ है। देखिए, कटलॉग भाग १२, संख्या २५६, पृ० ३००–३०२।

वक्रोक्तिजीवित के कारिका, वृत्ति और उदाहरण ये तीन भाग हैं और अधिकांश उदाहरण पूर्ववर्ती ग्रन्थों से लिये गये हैं। यह ग्रन्थ चार उन्मेषों में विभक्त है। इसकी हस्तलिखित प्रति चौथे भाग तक ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि इससे और आगे नहीं लिखी जा सकी। इस ग्रन्थ की कारिका, वृत्ति, उदाहरण आदि सभी का रचयिता कुंतक ही है यह बात अनेक प्रमाणों से सिद्ध होती है और इसे वक्रोक्ति जीवित कहा जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि

कुंतक के अनुसार केवल कारिका भाग को ही काव्यालंकार कहा जाना चाहिए। इसका प्रमाण प्रथम उन्मेष की प्रस्तुत कारिका[1] से मिलता है: लोकोत्तर चमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये। काव्यस्यायमलंकारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते ।। इसकी वृत्ति में कहा गया है: ननु सन्ति चिरन्तनास्तदलंकारास्तत् किमर्थमित्याह—अपूर्वः तद्व्यतिरिक्तार्थाभिधायी ।···कोपि अलौकिकः सातिशयः । लोको···सिद्धये-असामान्याह्लादविधायिविचित्रभावसम्पत्तये । यद्यपि सन्ति शतशः काव्यालंकारास्तथापि न कुतश्चिदप्येवंविधवैचित्र्यसिद्धिः। यह भी ध्यान देने की बात है कि भामह, उद्भट और रुद्रट की रचनाओं को काव्यालंकार कहा जाता था। यद्यपि कारिका भाग के लिए काव्यालंकार कहा गया है फिर भी सारे ग्रन्थ को परवर्ती लेखकों ने वक्रोक्तिजीवित माना है। इस विषय में यह वृत्ति-स्पष्ट है: 'तदयमर्थः ग्रन्थस्यास्य अलंकार इत्यभिधानं, उपमादिप्रमेयजातमभिधेयं, उक्तरूपवैचित्र्यसिद्धिः प्रयोजनमिति।' व्यक्तिविवेक (पृ० २८) में शब्दार्थौ सहितौ···कारिणि (वक्रोक्तिजीवित १.८ पृ० ७) ये शब्द उद्धृत मिलते हैं। इसी ग्रन्थ में यह भी कहा गया है कि कतिपय पाठक जो स्वतः को सहृदय मानते हैं, वे वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा मानते हैं। उसी प्रकार आगे (पृ. ३७) 'संरंभः करिकीट० (वक्रोक्तिजीवित १ पृ० १७ में इसे उत्तमकाव्य के उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया गया है) इस श्लोक को देकर इसमें बहुत-से दोष दिखाये गये हैं। तथा अंत में (पृ० ५८) 'काव्यकाञ्चन-कषाश्ममानिना कुन्तकेन निज काव्य लक्ष्मणि। यस्य सर्वनिरवद्यतोदिता श्लोक एष स निर्दशितो मया।' कहकर उपसंहार किया है। इससे स्पष्ट होता है कि महिमभट्ट के अनुसार वक्रोक्तिजीवितगत लक्षण (लक्ष्य) प्रतिपादक कारिकाएं और उनके उदाहरण कुंतक द्वारा ही रचित हैं। महिमभट्ट का समय भी वक्रोक्तिजीवित से बहुत बाद का नहीं है। व्यक्तिविवेक की टीका (पृ० १६) में प्रस्तुत 'अयं श्लोको वक्रोक्तिजीविते वितत्य व्याख्यात इति तत् एवावधार्यः' इस श्लोक के आधार पर भी टीकाकार के अनुसार सिद्ध होता है कि व्याख्या-

---

1. वक्रोक्तिजीवित के चार उन्मेषों का एक सुंदर संस्करण आचार्य विश्वेश्वर की हिन्दी टीका सहित प्रकाशित हुआ है। दिल्ली विश्वविद्यालय के डा० नगेन्द्र ने इसकी एक विस्तृत भूमिका हिन्दी में लिखी है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन अभी हुआ है। इसमें बहुत-सी मुद्रण की अशुद्धियां हैं। इससे यह भी स्पष्ट नहीं होता कि यह ग्रन्थ किस मूल पांडुलिपि अथवा संस्करणों के आधार पर प्रकाशित किया गया है।

रूपवृत्ति और श्लोक भी वक्रोक्तिजीवित के ही भाग हैं। 'एकावलि ग्रन्थ (पृ० १५१) में प्रस्तुत श्लोक आया है : एतेन यत्र कुंतकेन भक्तावंतर्भावितो ध्वनिस्तदपि प्रत्याख्यातम्।' सोमेश्वर ने भी काव्यप्रकाश की टीका (६१ बी० ६७ ए) में कुत्तक (कुन्तक ?) के नाम से दो पद्य उद्धृत किये हैं जिनमें से प्रथम वक्रोक्तिजीवित (कारिका १.३१, पृ० ४८) में उपलब्ध है तथा दूसरा नीचे पादटिप्पणी[1] में दिया जाता है। माणिकचन्द्र के काव्यप्रकाश संकेत में इस श्लोक पर इस प्रकार कहा गया है : 'तरन्तीवाङ्गानि स्खलदमललावण्य-जलधौ' इत्यत्र सादृश्योपचारभूचे यथाचोपचारस्तथा वक्रोक्तिजीवितग्रन्थाज्ज्ञेयः। (पृ० ४०–४१) यह पद्य वक्रोक्तिजीवित (२. पृ० ९९) में उपचारवक्रता के उदाहरणस्वरूप दिया गया है और साथ ही उसकी यह समीक्षा की गई है : 'अत्र चेतनपदार्थसंभविसादृश्योपचारात् तारुण्यतरलतरुणीगात्राणां तरणमुत्प्रे-क्षितम्।' प्रथम और द्वितीय उन्मेष के अंत में उपसंहारात्मक शब्द इस प्रकार है 'इतिराजानककुन्तल (क ?) विरचिते वक्रोक्तिजीविते काव्यालंकारे प्रथमोन्मेषः' और 'इति श्रीकुंतलविरचिते वक्रोक्तिजींविते द्वितीय उन्मेषः।' इस ग्रन्थ का सामान्यतः अध्ययन नहीं हुआ है। इसका सार कुछ विस्तार से नीचे दिया जाता है—

प्रथम उन्मेष—के आरंभ में लिखा है : 'वन्देकवीन्द्रवक्त्रेन्दुलास्यमन्दिर-नर्तकीम्। देवीं सूक्तिपरिस्पंदसुन्दराभिनयोज्ज्वलाम्॥ वाचो विषयनैयत्य-मुत्पादयितुमुच्यते। आदिवाक्येभिधानादि निर्मितेर्मानसूत्रवत्॥ लोकोत्तर चमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये। काव्यस्यायमलङ्कारः कोऽप्यपूर्वोविधीयते॥ धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः। काव्यबंधोभिजातानां हृदयाह्लादकारकः॥' दो पद्यों के उपरान्त की वृत्ति इस प्रकार है : 'कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्याव्याधि-नाशनम्। आह्लाद्यमृतवत्काव्यमविवेकगदापहम्॥ आयत्यांचतदात्वे च रस-निष्यन्दसुन्दरम्। येन सम्पद्यते काव्यं तदिदानीं विचार्यते (१.७)। अलंकृतिरलं-कारमुपोद्धृत्य (र० उ० पो० ?) विवेच्यते। तदुपायतया तत्वं सालंकारस्य काव्यता॥' यह देखने योग्य है कि इन्होंने भामह के समान ही काव्य का प्रयोग (धर्मार्थः···काव्य निबन्धनम्) बताया है और अपने ग्रन्थ का नाम काव्यालंकार दिया है। वृत्ति का आरंभ इस प्रकार से है, 'जगत्त्रितयवैचित्र्यचित्रकर्म विधायि-

---

1. दे० सोमेश्वर के ग्रन्थ की पांडुलिपि ६७ ए सुकुमारेतियत्कुंतकः सन्ति तत्र त्रयो मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः। सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चो-भयात्मकः।

नम्। शिवं शक्तिपरिस्पंदमात्रोपकरणं नुमः ॥'''साहित्यार्थं सुधासिंधोः सारमुन्मीलयाम्यहम्। येन द्वितयमप्येतत्तत्वनिर्मितिलक्षणम्। तद्विदामद्भुतामोदं चमत्कारं विधास्यति ॥' भामह के अनुसरण (१.१६ शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्) पर कुंतक ने भी काव्य की परिभाषा इस प्रकार से की है: 'शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि। बन्धेव्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥' व्यक्ति० में उद्धृत (पृ० २८ और समुद्रबन्ध के पृ० ८ पर) अर्थात् कवि की कल्पना-कुशलता से शब्दार्थ के संयोग से जो चमत्कृतिपूर्ण रचना होती है उसीका नाम काव्य है। सालंकृत शब्द और अर्थ मिलकर काव्य होते हैं और यह कहना उपयुक्त नहीं कि अलंकार काव्य के लिए अनिवार्य हैं। इस उक्ति से ध्वनित होता है कि काव्य की अलंकार के विना भी स्थिति संभव है। किसी भी रचना के काव्यत्व के लिए निम्न गुण अनिवार्य हैं: 'वक्रताविचित्रगुणालंकारसंपदां परस्परस्पर्धाधिरोहः।' (पृ० १०) उन्होंने काव्य का उदाहरण इस प्रकार प्रस्तुत किया है (पृ० १०): 'ततोरुणपरिस्पन्दमन्दीकृतवपुः शशी। दध्रे काम परिक्षाम कामिनीगण्डुपाण्डुताम् ॥' (काव्यप्रकाश, ९ में उद्धृत)। इसके उपरान्त इन्होंने वक्रोक्ति के कार्य का निरूपण किया है: (कारिका १.१०–११) 'शब्दो विर्वाक्षतार्थैकवाचकोन्येषुसत्स्वपि। अर्थः सहृदयाह्लादकारी स्वस्पन्दसुन्दरः ॥ उभावेतावलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः। वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते ॥' (अंतिम अंश जयद्रथ द्वारा पृ० ९ पर उद्धृत) साधारण वोलचाल से भिन्न और उच्चकोटि का चमत्कृतिजनक जो वर्णन है उसे वक्रोक्ति कहते हैं। इसमें कवि की कुशलता सहृदयों को मुग्ध कर लेती है। आगे वक्रोक्तिजीवित की वृत्ति में इस प्रकार कहा गया है: 'वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधान व्यतिरेकिणीविचित्रैवाभिधा वैदग्ध्यं कविकर्मकौशलं तस्य भंगी विच्छित्तिः तया भणितिः।' कुंतक ने रघुवंश के (१४, ७०) के ताम‍भ्यगच्छत्० तथा वालरामायण (६.३४) के 'सद्यः पुरीपरिसरे०' इन दो उदाहरणों को प्रस्तुत करके यह दिखाया है कि प्रथम सहृदयाह्लादकारी काव्य का उदाहरण है तो दूसरा नहीं। साथ ही यह भी दिखाया है कि दूसरे उदाहरण में शब्दों के परिवर्तन से किस प्रकार रमणीयता लाई जा सकती है। उसने उनका उपहास किया है जिन्होंने स्वभावोक्ति को अलंकार माना है। साथ ही कहा है कि जब स्वभावोक्ति में दूसरे अलंकार आयेंगे तो वहां सदैव संकर अथवा संसृष्टि अलंकार होंगे 'अलंकारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलंकृति। अलंकार्थतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते ॥ '''स्पष्टे सर्वत्र संसष्टिरस्पष्टे सङ्करस्ततः' (कारिका १.१२ और १६) वृत्ति में

शब्द और अर्थ के साहित्य की व्याख्या इस प्रकार की गई है : 'तत्र वाचकस्य-वाचकान्तरेण साहित्यमभिप्रेतम्' अर्थात् साहित्य में जो साहचर्य है यह वाचक का दूसरे वाचक से व वाच्य का दूसरे वाच्य से होना चाहिए। वाचक का दूसरे वाच्य से अथवा वाच्य का दूसरे वाचक से नहीं होना चाहिए। शब्दार्थौ सहितावेव प्रतीतौ स्फुरतः सदा।...साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रतिकाप्यसौ। अन्यूनानतिरिक्तत्वं मनोहारिण्यवस्थितिः। (कारिका १,१७. और १८) इसके उपरान्त वृत्ति में (पृ० २६) लिखा गया है : 'मार्गानुगुण्यसुभगो माधुर्यादि गुणोदयः। अलंकरणविन्यासो वक्रतातिशयान्वितः॥ वृत्यौचित्तमनोहारि-रसानां परिपोषणम्। स्पर्धया विद्यते यत्र यथास्वमुभयोरपि॥ सा काप्यवस्थिति-स्तद्विदाह्लादैकनिवन्धनम्। पदादिवाक् परिस्पन्दसारः साहित्यमुच्यते॥ इनका उल्लेख साहित्य मीमांसा, (पृ० १४ त्रिवेन्द्रम् संस्करण) में आया है। वक्रता की व्याख्या इस प्रकार की गई है : 'वक्रत्वं प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिवैचित्र्यम्' (पृ० २७ कारिका १-१९)। इसके वाद कविव्यापारवक्रता के छः निम्न भेद प्रस्तुत किये हैं : वर्णविन्यासवक्रता, पदपूर्वार्द्धव०, प्रत्ययव०, वाक्यव०, प्रकरणव०, प्रबन्धव०। वर्णविन्यासवक्रत्वं, पदपूर्वार्धवक्रता। वक्रतायाः परोप्यस्ति प्रकारः प्रत्ययाश्रयः॥ वाक्यस्य वक्रभावोन्यो विद्यते यः सहस्रधा। यत्रालंकारवर्गोऽसौ सर्वोप्यन्तर्भविष्यति। (इस पद्य का उल्लेख समुद्रबन्ध ने किया है पृ० ९)। वक्रभावः प्रकरणे प्रवन्धेप्यस्ति यादृशः। उच्यते सहजाहार्य सौकुमार्यमनोहरः॥' (कारिका १.२०—२२) पदपूर्वार्ध का अर्थ है—पदस्य सुवन्तस्य तिङन्तस्य वा पूर्वार्धं प्रातिपदिकं धातुर्वा (पृ० २८)। कुंतक ने इनके भदों का उदाहरण सहित निरूपण किया है। इनकी स्थापना है कि वक्रोक्ति काव्य[1] की आत्मा है। यह वक्रोक्ति ही है जो काव्य में प्राणों का संचार करती है, उसे काव्य बनाती है। इसके बिना काव्य की सत्ता ही नहीं हो सकती। परन्तु वक्रोक्ति तव तक नहीं बन सकती जब तक कवि में आवश्यक कल्पनाशक्ति नहीं होती। अतः काव्य में कविव्यापार की प्रधानता होती है। (दे० ५५ भी)। वैचित्र्य के बारे में इनके विचार हैं : 'विचित्रो यत्र वक्रोक्ति वैचित्र्यं जीवितायते। परिस्फुरतियस्यान्तः सा काप्यतिशयाभिधा॥' (कारिका १.२७ पृ० ४५) इसका प्रथम आधा भाग जयरथ ने उद्धृत किया है

1. वृत्ति के २७ वें पृष्ठ के अनुसार यही तात्पर्य निकलता है। 'शरीरं जीवितेनैव स्फुरितेनैवजीवितम्। विना निर्जीवितां येन वाक्यं याति विपश्चिताम्॥ यस्मात्किमपि सौभाग्यं तद्विदामेवगोचरम्। सरस्वती समभ्येतितदिदानीं विचार्यते॥' यही कविव्यापारवक्रताजीवित कहलाती है।

(पृ० ८) उसके उपरान्त उसने वैचित्र्य के कतिपय गुणों का उल्लेख किया है। मांधुर्य, प्रसाद (संयुक्त तथा सुसंबद्ध शब्दों से की गई वाक्यरचना) लावण्य और अभिजात्य ये विशिष्ट गुण होते हैं। लावण्य और अभिजात्य की परिभाशाएं इस प्रकार हैं: अत्रालुप्तविसर्गान्तैः पदैः प्रोतैः परस्परम्। ह्रस्वैः संयोगपूर्वैश्च लावण्यमितिरिच्यते।' (सोमेश्वर द्वारा उद्धृत, पांडुलिपि ११. पी०)। 'यन्नाति कोमलच्छायं नातिकाठिन्यमुद्वहत्। अभिजात्यं मनोहारि तदत्र प्रौढिनिर्मितम्॥' (कारिका १.३१–३२ पृ० ४८–४९) इन सबके उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। किंतारुण्यतरोः० (साहित्यदर्पण १० सन्देह का उदाहरण) इस श्लोक में माधुर्य से वैचित्र्य की सिद्धि बताई गई है। लावण्य का उदाहरण इस प्रकार है: 'श्वासोत्कम्पतरङ्गिणि स्तनतटे धौताञ्जनश्यामलाः। कीर्यन्ते कणशः कृशाङ्गी किममीवाष्पाम्भसाम् विन्दवः। किंचाकुञ्चित कण्ठरोधकुटिलाः कर्णामृतस्यन्दिनो। हुंकाराः कलपञ्चमप्रणयिनस्त्रुटचन्ति निर्यान्ति च॥ (पृ० ४८)। कुंतक ने वैचिन्यमार्ग, सुकुमारमार्ग तथा सौकुमार्य वैचित्र्य संवलितमार्ग ये तीन मार्ग बताये हैं। इनमें अंतिम को मध्यममार्ग कहा जाता है। 'मार्गोऽसौ मध्यमो नाम नानारुचिमनोहरः। स्पर्धया यत्र वर्तन्ते मार्गं द्वितीयसम्पदः।' (कारिका १.३५. पृ० ५०)। डा० नगेन्द्र के संस्करण में माधुर्य, प्रसाद तथा दूसरे गुणों के विषय में कतिपय और भी कारिकाएं, वृत्ति तथा उदाहरण उपलब्ध हैं जिनका यहां उल्लेख नहीं किया गया है। इसके प्रथम उन्मेष में औचित्य तथा सौभाग्य के विषय में भी कारिकाएं दी गई हैं।

दूसरा उन्मेष वर्णविन्यासवक्रता की व्याख्या और विवेचन से आरंभ होता है। उसने इसकी परिभाषा इस प्रकार से दी है: 'एको द्वौ बहवोवर्णाः बध्यमानाः पुनः पुनः। स्वल्पान्तरास्त्रिधासोक्ता वर्णनविन्यासवक्रता॥ वर्णान्तयोगिनः स्पर्शाद्विसक्तास्तलनादयः। रेफादिभिश्च संयुक्ता प्रस्तुतौचित्यशोभिनः॥ (२.१–२ पृ० ६०–६१) इससे यह विदित होता है कि वर्णविन्यासवक्रता प्रायः प्राचीन आलंकारिकों द्वारा निरूपित अनुप्रास ही है। 'एक एकस्य द्वयोर्बहूनां च' उदाहरण लीजिए :—भग्नैलावल्लरीकास्तरलितकदलीस्तम्भताम्बूल जम्बूजम्बीरास्ताल तालीतरल तरल तालासिका यस्य जह्नुः। वेल्लतकल्लोलहेला विस्कलनजडाः कूलकुंजेषु सिन्धो सेनासीमन्तिनी नाम नवरतरताभ्यास तन्द्रीं समीराः॥ 'प्रथम-मरुणच्छायस्तावत्ततः कनकप्रभः' (काव्यप्रकाश ६. पृ० २६० वा० ऊ० उद्धृत) इत्यादि उदाहरण भी वर्णविन्यासवक्रता का ही उदाहरण है। कुंतक एक ही पद्य में अलंकारों की भरमार करना उचित नहीं समझते थे। अलंकारस्य कवयोः यत्रालंकरणान्तरम्। असन्तुष्टा निवध्नति हारादेर्मणिबन्धवत्॥ नातिनिर्बन्ध-

विहिता नाप्यपेशल भूषिता। पूर्वावृत्तपरित्यागनूतनावर्तनोज्ज्वला ।। (प्रथम पद्य व्यक्तिविवेक की टीका में पृ० ४३—४४ पर उद्धृत हैं और वक्रोक्तिजीवित में इसे त्रुटिपूर्ण बताया गया है।) इनके मत में उपनागरिका तथा प्राचीन (उद्भट ?) आचार्यों द्वारा नियमित दूसरी वृत्तियां वर्णविन्यासवक्रता के सदृश ही हैं। 'वर्णच्छायानुसारेण गुणमार्गानुवर्तिनी। वृत्तिवैचित्र्ययुक्तेति सैव प्रोक्ता चिरन्तनैः ।।' (२.५ पृ० ६६) यमक भी वर्णविन्यासवक्रता का ही एक प्रकार है। 'यमकं नाम कोप्यस्याः प्रकारः परिदृश्यते। स तु शोभान्तराभावादिह नातिप्रतन्यते ।। (२.७ पृ० ६७) वर्णविन्यासवक्रता के बाद पदपूर्वार्धवक्रता पर विचार किया गया है और उसके रूढिवैचित्र्यवक्रता आदि प्रकार बताये गये हैं (रूढि का तात्पर्य है रूढिप्रधान शब्द)। 'यत्र रूढेरसंभाव्यधर्माध्यारोप-गर्भता। सद्धर्मातिशयारोप गर्भत्वं वा प्रतीयते ।। लोकोत्तर तिरस्कार श्लाघ्योत्कर्षा-भिधित्सया। वाच्यस्य सोच्यते कापि रूढिवैचित्र्यवक्रता ।। (का० २.८—९ पृ० ६८) जैसाकि प्रथम पद्य में कहा गया है रूढिवैचित्र्य के दो प्रकार हैं— प्रथम प्रकार के उदाहरण हैं' 'कमलाइँ' 'शब्द ताला जाअन्ति' में जैसाकि ऊपर उद्धृत है (ध्व० पृ० ७६) तथा स्निग्ध० (ध्व० पृ० ७५) श्लोक में निहित राम शब्द। रूढिवैचित्र्य के दूसरे प्रकार के (विद्यमान धर्मातिशयवाच्याध्यारोप-गर्भइव) हैं 'ततः प्रहस्याहपुनः पुरंदरं' (रघु० ३.५१ रघुं शब्द) तथा 'रामोसौ भुवनेषु' (काव्यप्रकाश ४ पृ० १८२ पर (उद्धृत) आदि उदाहरण हैं। पद-पूर्वार्ध का दूसरा प्रकार पर्यायवक्रता है। (पर्यायप्रधानः शब्दः पर्यायः) अभि-धेयान्तरतमस्तस्यातिशयपोषकः। रम्यच्छायान्तरस्पर्शात्तदलङ्कर्तुमीश्वरः ।। स्वयं विशेषणेनापि स्वच्छायोत्कर्षपेशलः। पर्यायस्तेन वैचित्र्यं ।।' (२.११—१२. पृ० ७२) इस प्रकार पर्यायवक्रता की व्याख्या है और एक उदाहरण यह है 'नाभि-योक्तुमनृतत्वमिष्यसेकस्तपस्विविशिखेषु चादरः। सन्तिभूभृति हि नः शराः परे ये पराक्रमवसूनि वज्रिणः ।। इसमें 'वज्रिणः' के स्थान पर 'इन्द्रस्य' शब्द प्रयुक्त किया जाता तो वह इतना सशक्त और रमणीय प्रतीत नहीं होता। पदपूर्वार्ध का एक अन्य तथा महत्त्वपूर्ण प्रकार उपचारवक्रता है। उसकी व्याख्या इस प्रकार है: 'यत्र दूरान्तरेऽन्यस्मात् सामान्यमुपचर्यते। लेशेनापि भवत्कांश्चिद्-वक्तुमुद्रिक्तवृत्तिताम् ।। यन्मूला सरसोल्लेखारूपकादिरलंकृतिः। उपचारप्रधाना-सौ वक्रता काचिदुच्यते ।।' (कारिका २, १३—१४ पृ० ८० इन दोनों का जयरथ ने १०वें पृष्ठ पर उल्लेख किया है) उपचारवक्रता के निम्नलिखित उदाहरण हैं: 'न स्निग्धश्यामल० गच्छन्तीनां रमणवसतिं' (पूर्वमेघ ३८) तथा ग अणं च

मत्तमेहम् इत्यादि (प्रथम और अन्तिम को ध्वन्यालोक में क्रमशः अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि के उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया गया है) अतः वक्रोक्तिजीवितकार के मत का सारांश देते हुए अलंकारसर्वस्वकार (पृ० १०) ने इस प्रकार कहा है :' 'उपचारवक्रतादिभिः समस्तो ध्वनिप्रपंचः स्वीकृतः। जयरथ ने 'ग अणंच मत्त मेहं' इस कुंतक-निरूपित पद्य का उल्लेख करके कहा है : 'अत्र मदनिरहंकारत्वे औपचारिके इति उपचारवक्रतादीनामपि ग्रहणम्।' जयरथ के विचार में वक्रोक्ति जीवितकार को उन ग्रन्थकारों में सम्मिलित करना चाहिए जो ध्वनि को 'भाक्त' समझते थे। 'भाक्त' (ध्वन्यालोक में) शब्द 'भक्ति' से लिया गया है और इसका अर्थ लक्षणा अथवा गुणवृत्ति ही है। आनंदवर्धन ने भी इसका प्रयोग भक्ति अथवा लक्षणा से सम्बद्ध अर्थ में किया है। (पृ० ९) अलंकारसर्वस्व पर जयरथ (पृ० ९) का मत इस प्रकार है : 'इदानीं' यदप्यन्यैरस्य भवत्यन्तर्भूतत्वमुक्तं तदपि दर्शयितुमाह—वक्रोक्तिजीवितकारः पुनर्वैदग्ध्यभङ्गीभणितिस्वभावाम् बहुविधो वक्रोक्तिमेव इत्यादि। (उपचार के अर्थ के संबंध में देखिए डा० हरदत्त की रचना, पूना ओरियंटलिस्ट भाग १, पृ० २६ से आगे तथा लेखक के साहित्यदर्पण की व्याख्या पृ० ५९–६०) पदपूर्वार्धवक्रता के विशेषणवक्रता और संवृतिवक्रता ये दो और प्रकार होते हैं। विशेषणस्य माहात्म्यात् क्रियायाः कारकस्यवा। यत्रोल्लसति लावण्यं सा विशेषणवक्रता॥' यत्तु संव्रियते वस्तु वैचित्र्यस्य विवक्षया। सर्वनामादिभिः कैश्चित् सोक्ता संवृत्तिवक्रता॥ (२.१५–१६ पृ० ८३ और ८५)। इन दोनों के क्रमशः उदाहरण निम्नलिखित हैं :— शुचिशीतलचन्द्रिकाप्लुताश्चिर निःशब्दमनोहरः दिशः। प्रशमस्य मनोभवस्यवाहृदितस्याप्यथहेतुतां ययुः॥' तथा 'निवार्यतामालि किमप्ययं बटुः (कुमार ५, ८३)। कुंतक ने कहा है कि अत्र···भगवदपभाषणं च नकीर्तनीयतामर्हतीति संवरणेन रमणीयतां नीतम्। पदपूर्वार्धवक्रता के वृत्तिवैचित्र्यवक्रता, (वृत्ति के कृत, तद्धित, समास, एकशेष, सन्नन्त पांच भेद हैं) भाव वैचित्र्यवक्रता; लिंग वैचित्र्यवक्रता, कर्त्रन्तरङ्गविचित्रता, क्रिया वैचित्र्यवक्रता, कालवैचित्र्यवक्रता, कारकवैचित्र्यवक्रता, संख्यावैचित्र्यवक्रता, पुरुषवैचित्र्यवक्रता, उपग्रहवैचित्र्यवक्रता आदि अनेक उपभेद बताये गये हैं। इनमें से लिंगवैचित्र्यवक्रता का यह उदाहरण है : त्वं रक्षसाभीरुगतोपनीता तं मार्गमेताः कृपया लता मे इत्यादि। रघु० १३, २४ जहां वृक्ष के लिए लता का प्रयोग बहुत आकर्षक लगता है। इसी प्रकार सांख्यवक्रता का उदाहरण है : वयं तत्वान्वेषान्मधुकर-

हृतास्वं खलुकृती' (शाकु० १)। उपग्रहवैचित्र्य में उपग्रह[1] का अर्थ है: 'धातूनां लक्षणानुसारेण नियतपराश्रयः प्रयोगः पूर्वाचार्याणामुपग्रह शब्दाभिधेयतया प्रसिद्धः।' तथा इसका उदाहरण इस प्रकार है: 'तस्या परेस्वपि मृगेषु शरान्मुमुक्षोः कर्णान्तमेत्यबिभिदेनिविडोऽपिमुष्टिः।' (रघु० ९.५८, अत्र विभदे, भिद्यतेस्य स्वयमेवेति कर्मकर्तृकत्व आत्मने पदमितिचमत्कारकारि)।

तृतीय उन्मेष में लेखक ने वाक्यवैचित्र्यवक्रता का विवेचन किया है। इसके साथ ही वस्तुवक्रता का भी विवेचन कर दिया है। वस्तु सहज अथवा आहार्य हो सकती है (कविशक्ति व्युत्पत्ति परिपाकपौढ)। तीसरे और चौथे उन्मेष में कारिकाओं का स्वतंत्ररूप में निर्धारण कठिन है क्योंकि उनका अन्तर्भाव वृत्ति में हो गया है तथा वे पूर्णतः उल्लिखित नहीं हैं। 'उदारस्वपरिस्पन्दसुन्दरत्वेनवर्णनम्। वस्तुनो वक्रशब्दैकगोचरत्वेनवक्रता॥' कुंतक ने इस स्थान पर ध्वन्यालोक के पृ० २७८ पर उपलब्ध श्लोक 'अपारे काव्यसंसारे··· परिवर्तते' (दे० इस पुस्तक के पृष्ठ ७–८) उद्धृत किया गया है। सहज और आहार्य उत्कृष्ट मिश्रण का निम्नलिखित श्लोक उत्तम उदाहरण है: 'अस्याः सर्गं विधौ०' (विक्रमोर्वशीय १.१०)। उन्होंने सजीव तथा अन्य वस्तुओं के काव्य में प्रयोग की विधि के विषय में लिखा है तथा यह भी समझाया है कि रस, भाव आदि के परिपोष से काव्य को कैसे रमणीय बनाया जा सकता है। 'तिष्ठेत् कोपवशात्' (विक्रमोर्वशीय ४.९) इस श्लोक तथा तापस वत्सराज नाटक के दूसरे अंक में वत्सराज के दुःखालाप को क्रमशः विप्रलंभ शृंगार और करुण के उदाहरणरूप में दिया गया है। 'चूताङ्कुरास्वाद०' (कुमार ३.३२) तथा 'इदं सुलभवस्तु' (विक्रमो० २.६) ये दोनों उदाहरण चेतन और अचेतन वस्तुओं के वर्णन में रसोद्दीपन की सामर्थ्य कैसी होती है तथा उससे सौन्दर्य किस प्रकार से उत्पन्न होता है, यह दिखाने के लिए दिये गये हैं। इसी प्रकरण में रसवत्, प्रेयः, ऊर्जस्वि, समाहित, उदात्त इन पूर्व ग्रन्थकारों द्वारा निरूपित अलंकारों को वास्तव में अलंकार माना जाय अथवा नहीं, इस विषय में विवेचन करके यह निष्कर्ष निकाला गया है कि ये अलंकार नहीं हैं वरन् अलंकार्य हैं। (पांडुलिपि १०४) अलंकारो न रसवत्०···स्वरूपादतिरिक्तस्या परस्या प्रतिभासनात्॥···ऊर्जस्व्युदात्ताभिधयोः पौर्वापर्यप्रणीतयोः। अलंकरणयोस्तद्वद्भूषणत्वं

1. उपग्रह का अर्थ परस्मैपद अथवा आत्मनेपद है। महाभाष्य के इस श्लोक 'तिङ्भिर्हितेन भावेन कालपुरुषोपग्रहाभिव्यंजन्ते कृदभिहितेन पुनर्न व्यज्यन्ते' (किलहार्न संस्करण २, पृ० ५७ पा० ३.१.६७ पर)।

न विद्यते ।। उन्होंने रसवत् की विभिन्न परिभाषाओं 'रसवद्दर्शितस्पष्ट शृंगारादि रसं यथा' (भामह ३.६) 'रसवद्रससंश्रयात्' रसवद्रसपेशलम् (काव्यादर्श २.२७५) की आलोचना की है । उसके शब्द इस प्रकार हैं : 'दर्शिताः स्पष्टा अस्पष्टाश्च शृंगारादयो यत्रेति व्याख्याने काव्यव्यतिरिक्तो न कश्चिदन्यः समासार्थभूतः सलक्ष्यते योऽसावलंकारः । (पांडुलिपि १०६) यद्यपि रसवद्रससंश्रयात् इति कैश्चिल्लक्षणमकारि तदपि न सम्यक् समाधेयतामधितिष्ठति तथाहि रसःसंश्रयो यस्यासौ रसःसंश्रयः तस्मात् कारणादयं रसवदलंकारः सम्पद्यते । तथापि वक्तव्यमेव कोसौ रसव्यतिरेकवृत्तिरन्यः पदार्थः । काव्यमेवेति चेत्तदपि पूर्वमेव प्रत्युक्तम् । तस्यस्वात्मेति क्रिया विरोधादलंकारत्वानुपपत्तेः ।···रसपेशलमितिपाठे न किंचिदत्रातिरिच्यते ।' (पृ० २३२) । कुंतक ने ध्वन्यालोक (पृ० ९३) के तन्वीमेघ०' तथा तरङ्गभ्रूभंगा (पृ० ९२) इन दोनों का उल्लेख किया है और उनका ध्वनिकारिका (२.५) में विवेचन किया है, (प्रधानेऽन्यत्र० जैसाकि अभियुक्त की प्रति पृ० १०९) कुंतक ने ध्वन्यालोक के रसवदलंकार से सम्बद्ध 'किं हास्येन' (पृ० ८७-८८) तथा 'क्षिप्तो०' (ध्व० पृ० ८९) इन दोनों उदाहरणों का विवेचन करते हुए ध्वन्यालोक के मत का खंडन किया है । इन्होंने उद्भट, भामह तथा दण्डी द्वारा प्रस्तुत प्रेयः तथा ऊर्जस्वि की परिभाषाओं का भी खंडन किया है । इनके मतानुसार रसवदलंकार के उपयुक्त उदाहरण निम्नलिखित हैं—'उपोढरागेण विलोलतारकं' (ध्वन्या० पृ० ४१), चलापाङ्गांदृष्टि (शाकुंतल १.२१) तथा ऐन्द्रं धनुः (अलंकारसर्वस्व पृ० ९२ तथा साहित्यदर्पण १०) भामह ने दीपक की जो तीन प्रकार की व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं वे भी इनके मत में सदोष हैं । भामह के उदाहरण का निरूपण करके इन्होंने उद्भट-निरूपित 'अन्तर्गतोपमा धर्माः' इन शब्दों का उसमें अन्तर्भाव करना उपयुक्त माना है । कुंतक ने उद्भट को 'अभियुक्त तरैः' अर्थात् अत्यन्त विद्वान् इस विशेषण से संवोधित किया है । इन्होंने दीपक का वास्तविक उदाहरण 'असारं-संसारं···विधातुं व्यवसितः' को माना है । (मालतीमाधव, ५ अत्र विधातुं व्यवसितः कर्ता संसारादीनामसारत्वप्रभृतीन्धर्मानुद्द्योतयन् दीपकालंकारमुवाप्तवान् पा० प्रति पृ० १२७) । इसके उपरान्त कुंतक ने रूपक, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्त व्याजस्तुति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति तथा अन्य दस-वीस अलंकारों के लक्षणों का परीक्षण करके अपनी निजी दृष्टि से भी उनका स्पष्टीकरण किया है । उन्होंने 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' श्लोक को उत्प्रेक्षा के उदाहरणरूप में दिया है और उस पर लिखा है (अत्र दण्डिना विहितमिति न पुनर्विधीयते) कि दण्डी ने इस पर विचार किया है अतः हम इसे छोड़ देते हैं । परिवृत्ति अलंकार पर विचार

करते समय 'शस्त्रप्रहारं ददता भुजेन तव भूभुजाम्। चिरार्जितं हृतं तेषां यशः कुमुदपाण्डुरम् ॥' दण्डी का यह उदाहरण (का० द० २, ३५६) देकर लिखा है: 'तथा च लक्षणकारेणात्रैवोदाहरणं दर्शितम्।' ग्रन्थ के पृ० १६१ पर उसने ध्वनिकारिका १.१३ का तथा श्लाघ्याशेषतनुं (ध्व० पृ० ११७) का उल्लेख किया है जोकि आनन्दवर्धन के पद्य हैं। कुंतक ने चतुर्थ उन्मेष के प्रारंभ में इस प्रकार लिखा है: 'एवं सकलसाहित्यसर्वस्व कल्पवाक्यवक्रताप्रकार प्रकाशनान्तरमवसरप्राप्तां इत्यादि।'

चतुर्थ उन्मेष में इन्होंने प्रकरणवक्रता और प्रबन्धवक्रता का विवेचन किया है। प्रकरणवक्रता के उदाहरणस्वरूप 'किं वस्तुविद्वन् गुरवे प्रदेयं, यावद्यते साधयितुं तवार्थम्' आदि रघुवंश के पंचम सर्ग से अनेक श्लोक दिये गये हैं तथा उन पर 'कुवेरं प्रति सामन्तसंभावनया जयाध्यवसायः कामपि सहृदयाह्लादकारितां प्रतिपद्यते' (प्रति पृ० १७९) इस प्रकार अपना अभिमत दिया है। इसी प्रकार शाकुन्तल में दुर्वासा के शाप का नियोजन प्रकरणवक्रता का सुंदर उदाहरण है। दूसरा उदाहरण रघुवंशगत मृगया प्रकरण है जिसका विस्तृत निरूपण करके कुंतक ने कहा है: 'दशरथेन राज्ञा स्थविरान्धतपस्विवालवधो व्यधीयतेति एक वाक्यशक्यप्रतिपादनः पुनरयमप्यर्थः परमार्थसरससरस्वतीसर्वस्वायमान प्रतिमाविधानकलेशेन तादृश्या प्रकरणविच्छित्या विस्फारितश्चेतनचमत्कार-करणतामधितिष्ठति (पाण्डुलिपि १९०) प्रधानवस्तुनिष्पत्त्यै वस्त्वन्तर विचित्रता। यत्रोल्लसति सोल्लेखा सापराप्यस्य वक्रता ॥ (अस्य प्रकरणस्य) मुद्राराक्षस के छठे अंक में प्रस्तुत यह कथागत वाक्य 'ततः प्रविशति रज्जुहस्तः पुरुषः' प्रकरणवक्रता का उदाहरण है। प्रवन्धवक्रता की परिभाषा (हस्तलिपि पृ० २०३) इस प्रकार से दी गई है—'इतिवृत्तान्यथावृत्तरससम्पदपेक्षया। रसान्तरेणरम्येण यत्र निर्वहणं भवेत्। तस्या एव कथा मूर्तेरामूलोन्मीलितश्रियः। विनेयानन्दनिष्पत्त्यै सा प्रबन्धस्य वक्रता ॥ रामायण और महाभारत प्रवन्धवक्रता के उदाहरण हैं। (रामायणमहाभारतयोश्च शांताङ्गित्वं पूर्वसूरिभिरेव निरूपितम्' (पांडुलिपि पृ० २०४) कुंतक की यह उक्ति संभवतः ध्वन्यालोक (पृ० २९८–३००) को ध्यान में रखकर प्रस्तुत हुई है। प्रवन्धवक्रता का एक और प्रकार इस रूप में वर्णित है: 'त्रैलोक्याभिनवोल्लेखनायकोत्कर्षपोषिणा। इतिहासैक-देशेन प्रबन्धस्य समापनम् ॥ तदुत्तर कथावर्ति विरसत्वजिहासया। कुर्वीत यत्र-सुकविः सा विचित्रास्य वक्रता।' इसका उदाहरण किरातार्जुनीय काव्य है। महाकवि अपनी रचना के नामकरण तथा उदाहरणों में भी अपना कल्पना-चमत्कार दिखा देते हैं। (आस्तां वस्तुषु वैदग्ध्यं काव्ये कामपि वक्रताम्। प्रधान

संविधानाङ्गनाम्नापि कुरुते कविः। कुंतक ने उदाहरणस्वरूप अभिज्ञान-शाकुन्तल, मुद्राराक्षस, प्रतिमानिरुद्ध, मायापुष्पक, कृत्यारावण आदि का उल्लेख किया है। साथ ही उन्होंने हयग्रीव, शिशुपालवध, पाण्डवाभ्युदय, रामानन्द, रामचरित आदि नामों को सौन्दर्यहीन बताया है। कथानक एक-जैसा होने पर भी प्रतिमा-गुण से उसमें पृथक् सौन्दर्य उत्पन्न किया जाता है। (हस्तलिपि पृ० २०९) 'कथोन्मेषे समानेपि वपुरीव निजैर्गुणैः। प्रबन्धाः प्राणिन इवभासन्ते हि पृथक् पृथक् ॥'

वक्रोक्तिजीवित में ध्वनि या व्यंग्य की काव्य की आत्मा के रूप में स्वतंत्र सत्ता का प्रत्याख्यान किया गया है और वक्रोक्ति के व्यापक स्वरूप में ही इसके अन्तर्भाव का प्रयत्न किया गया है। सामान्य पद्धति से भिन्न या उससे भी उच्च प्रकार की चमत्कारक वस्तु को वे काव्य की आत्मा मानते हैं। कुंतक ने प्रथम अधिक बल कविव्यापार पर दिया है और दूसरा सौन्दर्यजन्य आनंद पर जिसका सहृदय काव्य या नाटक से आस्वाद लेता है। जयरथ तथा एकावली (पृ० १५) के अनुसार वक्रोक्तिजीवित का अन्तर्भाव भक्तिवादी संप्रदाय में किया गया था। इसका उल्लेख ध्वन्यालोक की प्रथम कारिका में आया है, (भाक्तमाहुस्तमन्ये) परन्तु यह कथन उपयुक्त नहीं है। द्वितीय भाग में निरूपित वक्रोक्ति संप्रदाय के विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

पांडुलिपि में प्रत्येक उन्मेष के अंत में लेखक का नाम राजानक कुंतलक के रूप में दिया गया है। परन्तु व्यक्तिविवेक के पद्य (पृ० २१६ काव्य काञ्चन०) में कुंतक नाम आया है। गोपाल ने अपने काव्यप्रकाश की टीका (भूमिका, पद्य २) में सूचित किया है कि इनका कुंतक होना चाहिए। वक्रानुरञ्जनीमुर्वित चञ्चूमिव मुखे वहन्। कुंतकः क्रीडति सुखं कीर्तिस्फटिकपंजरे ॥ (कुंतक का तात्पर्य एक छोटे माले से है, जिसकी तुलना तोते की चोंच से की जा सकती है, परन्तु 'कुंतल का अर्थ केश लेने पर यह तुलना संभव नहीं है।

वक्रोक्तिजीवित एक अत्यंत मूल्यवान् कृति है। यह अत्यन्त उपेक्षित अवस्था में पड़ी हुई है। इसका उद्धार आवश्यक है। वक्रोक्तिजीवित को काव्य की आत्मा मानने के सिद्धान्त के विषय में तथा कुंतक द्वारा प्रस्तुत विचित्र संज्ञा-परिभाषाओं के विषय में चाहे कोई कुछ भी सोचे परन्तु यह ग्रन्थ मौलिकता, महान् साहित्यिक कुशाग्रता और सुन्दर विचारों से परिपूर्ण है। भट्टतौत तथा इनकी मान्यता में समानता है कि उत्तम का उत्स कवि की निजी प्रतिभा ही है। उन्होंने अत्यन्त उपयुक्त उदाहरण चुने हैं और अपने क्षेत्र का बहुत विस्तार

कर दिखाया है। उपर्युक्त विवेचन में स्थानाभाव के कारण केवल सुप्रसिद्ध उदाहरणों का ही उल्लेख किया गया है। परन्तु इससे पाठक को यह अनुमान नहीं लगाना चाहिए कि उन्होंने अधिकांश रूप में कालिदास के ही उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। इस ग्रन्थ में पांचसौ से भी अधिक उदाहरण हैं। कारिकाओं की रचना वहुत ही सरल और स्पष्ट पद्धति में की गई है और वृत्तियों की रचना उच्च साहित्यिक शैली में की गई है, जिसमें माधुर्य और सरसगुण है। कुंतक ने भामह और दण्डी के ग्रन्थ से अधिकांश अवतरण लिये हैं और इनसे कुछ कम उद्भट की रचना से। इन्होंने अलंकारों की अपने वक्रोक्ति सिद्धान्त से संगति विठाने का प्रयत्न किया है। इन्होंने अपने पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य का अन्धानुसरण नहीं किया है, उन सवकी आलोचना ही की है। फिर भी कुंतक, आनन्दवर्धन, भामह और दण्डी के प्रशंसक रहे हैं। उदाहरणार्थ, इन्होंने भामह प्रस्तुत तीन प्रकार के दीपक और ऊर्जस्वि अलंकार विषयक विवेक को सदोप माना है। 'कैश्चिदुदाहरणमेव व्यक्तत्वाल्लक्षणं मन्यमानैस्तदेव प्रदर्शितम्। यथा—ऊर्जस्विकर्णेन यथा पार्थाय पुनरागतः।' इत्यादि (भामह ३.७) इन्होंने आशीः को अलंकार मानने वालों के मत को भी सदोष ठहराया है। (दण्डी ने इसे अलंकार माना है) रुद्रट के प्रसिद्ध पद्य 'भणतरुणिरमणमन्दिर' तथा अनुरणन्मणिमेखलं (रुद्रट २.२२–२३) के विषय में इन्होंने कहा है: (पृ० ७ डे का संस्करण) 'प्रतिमादारिद्र्यदैन्यादतिस्वल्पसुभाषितेन कविना वर्णसावर्ण्य-रम्यतामात्रमत्रोदितं न पुनर्वाच्यवैचित्र्यकणिका काचिदस्तीति' (प्रतिभा की दरिद्रतावश कवि ने इन पद्यों में केवल वर्णसादृश्य से माधुर्य लाने का प्रयत्न किया है परन्तु वास्तव में इनमें अर्थरमणीयता तो तिलमात्र भी नहीं है) और इन पद्यों को ग्राम्य वताया है। कुंतक ने आनन्दवर्धन की वृत्ति से प्रथम पद्य 'स्वेच्छाकेसरिणः…नखाः' उद्धृत किया है। और इसे क्रियावैचित्र्य का उत्तम उदाहरण माना है। इन्होंने वहुत से ग्रन्थों का उल्लेख किया है। इनके द्वारा निरूपित लेखकों तथा रचनाओं में से कुछ के नाम हैं: उत्तररामचरित, उदात्तराघव (जिसमें लक्ष्मण को मारीच मृग का पीछा करते हुए दिखाया गया है) उद्भट, कालिदास, (सहज सौकुमार्य गुणों से युक्त काव्य का रचयिता) किरातार्जुनीय, कुमारसंभव, कृत्यारावण, छलितराम, तापसवत्सराज, (जिसमें प्रत्येक अंक में करुणरस क्रमशः अधिक रमणीय होता गया है) दण्डी, ध्वनिकार, नागानंद, पांडवाभ्युदय, पुष्पदूषितक, प्रतिमानिरुद्ध, बालरामायण, भट्टवाण, भरत, भवभूति, भामह, मंजीर (मध्यममार्ग के कवि के रूप में) महाभारत, मातृगुप्त, (मध्यममार्ग का कवि) मायापुष्पक, मालती०, मुद्राराक्षस,

मेघदूत, रघुवंश, राजशेखर, रामचरित, रामानन्द, रामाभ्युदय, रामायण, रुद्रट, विक्रमो०, वीरचरित, वेणीसंहार, शाकुन्तल, शिशुपालवध, सर्वसेन (सुकुमार मार्ग का कवि) सेतुप्रबंध, (नाटक) हयग्रीववध, हर्षचरित (इसमें चन्द्रोदय के अनेक सुन्दर वर्णन हैं) आदि। हमें प्राप्त प्रति में अनेक स्थान रिक्त हैं और प्रतिलिपिकार ने इस बात को 'अत्र ग्रन्थपातः' लिखकर स्पष्ट कर दिया है। अनेक स्थानों पर अंतरश्लोक अथवा अनन्तरश्लोक के रूप में कतिपय कारिकाएं उसमें आई हुई हैं। 'अन्तर श्लोक' शब्द महिमभट्ट के व्यक्तिविवेक (पृ० ४६, ५४, ५५, इत्यादि) में भी आया हुआ है और हेमचन्द्र ने अपने विवेक में (पृ० ३९२) में इसका अर्थ इस प्रकार दिया है: 'अन्तरे मध्ये वक्तव्य शेषाभिधायकौ श्लोकौ अन्तरश्लोकौ।' डा० डे के संस्करण के १०१ पृष्ठ पर नियमित एक श्लोक को संग्रहश्लोक कहा गया है। इसमें परिकरश्लोक नाम का कोई श्लोक नहीं है। वक्रोक्तिजीवितकार ने ध्वनिकार, रुद्रट तथा राजशेखर कृत बालरामायण का उल्लेख किया है अतः यह दसवीं शताब्दी के प्रथम चरण के बाद की रचना प्रतीत होती है। अतः जयरथ का यह वचन 'यद्यपि वक्रोक्तिजीवितहृदयदर्पणकारावपि ध्वनिकारानन्तरभाविनावेव तथापि तौ चिरन्तनमतानुयायिनावेवेति तन्मतम् इत्यादि (अलं स० वि० पृ० १५) उपयुक्त ही लगता है। व्यक्तिविवेक (पृ० २८, ३७, ५८) में महिमभट्ट ने वक्रोक्तिजीवित का उल्लेख कर उसकी आलोचना की है। कुंतक के मत का अलंकारसर्वस्व में सार दिया है और साहित्य मीमांसा में इसके बहुत-से श्लोक उद्धृत हैं। महिमभट्ट ने, जिस प्रकार से वक्रोक्तिजीवित (पृ० २८) का (सहृदयमानिनः केचिदाचक्ष्यते) उल्लेख किया है, उससे प्रतीत होता है कि कुंतक उसका समसामयिक अथवा कुछ पूर्ववर्ती था। महिमभट्ट ने लोचनकार का उल्लेख भी उसी ढंग से किया है (व्यक्तिविवेक पृ० १९) 'अत्र केचिद्विद्वन्मानिनः···यदाहुः'। यह ध्यान देने की बात है कि लोचनकार ने वक्रोक्तिजीवित का बिल्कुल भी उल्लेख नहीं किया और कुंतक ने अभिनवगुप्त का भी उल्लेख नहीं किया है। अतः वह लोचनकार का भी समसामयिक था। डा० पी० सी० लाहिरी ने अपने ग्रन्थ 'इण्डियन कल्चर' भाग ३, पृ० ५३०–३४ में अभिनवभारती में लक्षण विषय पर तथा 'कन्सेप्ट ऑफ रीति एण्ड गुण' (पृ० १७–२०) नामक ग्रन्थ में कहा है कि अभिनवगुप्त निरूपित लक्षणों का विवेचन वक्रोक्ति० से प्रभावित है और अभिनव कुंतक की रचना से परिचित थे। डा० मुकर्जी बी० सी० का भाग १, पृ० १८३ में भी यही बात कही है। दूसरी ओर डा०

संकरन ने अपने लेख 'दी थिअरी ऑफ़ रस एण्ड ध्वनि' पृ० ११९–१२० में यह स्वीकार किया है कि लोचन अथवा अभिनवभारती का संपूर्ण वक्रोक्ति-जीवित में कहीं भी उल्लेख नहीं है। इन्होने कुंतक और अभिनव के बहुत मिलते-जुलते अवतरणों का उल्लेख किया है और कहा है कि इससे इस मत का समर्थन दृढ़ता से होता है कि अभिनव वक्रता के स्वरूप से भली प्रकार से परिचित थे जिसे कुंतक ने प्रस्तुत किया था, संभवतः वे वक्रोक्तिजीवित रचना से भी परिचित थे। यदि संपूर्ण रचना अभिनवभारती तथा लोचन से पूर्व अभिनवगुप्त के समक्ष होती तो वे अवश्य ही इसके मतों की विस्तृत रूप से आलोचना करते। जबकि उन्होंने भट्टनायक तथा अन्य ग्रन्थकारों की कड़ी आलोचना की है। डा० राघवन के मत (जी० ओ० आर० मद्रास, भाग ६, पृ० २१८–२२ तथा इण्डियन कलचर भाग ३, पृ० ७५६) में अभिनवगुप्त को कुंतक का ऋणी मानने के मत को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण नहीं मिलते। मैं डा० संकरन तथा डा० राघवन के इस मत का समर्थन करता हूं कि अभिनवगुप्त कुंतक के ऋणी थे अथवा उससे परिचित थे। इस मत की स्पष्ट उद्घोषणा करने में पर्याप्त प्रमाणों का अभाव है। डा० हरदत्तशर्मा ने कुंतक प्रतिपादित गुणस्वरूप के विषय में एक लेख लिखा है (दे० आई० एच० क्यू० भाग ८, पृ० २५७–२६६)।

२१. अभिनवगुप्त

अभिनवगुप्त मध्यकालीन भारत के महान् व्यक्तियों में से एक थे। वे तीव्र प्रतिभावान् तथा प्रकांड पंडित थे। वे बहुत बड़े ज्ञानी थे। वे बहुत-से ग्रन्थों के प्रणेता समझे जाते हैं। उनके कतिपय ग्रन्थों से हमें उनके पूर्वजों, माता-पिता, अन्य संबन्धियों, गुरु तथा उनकी रचनाओं के विषय में पर्याप्त जानकारी मिलती है। अभिनवगुप्त ने अपने पूर्वजों के विषय में संक्षिप्त परिचय परात्रिंशिका की टीका के अंत में तथा 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिणी' के अंत में दिया है। (संख्या १८ काश्मीर संस्कृत सीरीज पृ० २७८–८०) तथा (सं० ६५ पृ० ४०५) परात्रिंशिका में भैरव (शिव) और भैरवी (शक्ति) का ३५ श्लोकों में संवाद दिया गया है। उसके कथनानुसार उसके पूर्वज अभिगुप्त आरंभ में अन्तर्वेदी (गंगा और यमुना के बीच का प्रदेश) में रहते थे। वे काश्मीर के राजा ललितादित्य के आमंत्रण पर काश्मीर आये (दे० डा० पांडे रचित अभिनवगुप्त, परिशिष्ट ए०, पृ० ३३७ इसमें तन्त्रालोक के ३७वें आह्निक से एक अवतरण उद्धृत है) राजतरंगिणी (४.६६० और ६७३) के अनुसार जयापीड

के वाद ललितापीड ने ७८३ से ७९५ ई० सन् के वीच के १२ सालों तक राज्य किया। अभिगुप्त के परिवार में वराहगुप्त का जन्म हुआ और वराहगुप्त का पुत्र चुखल शिव का बड़ा भक्त था। अभिनव इसीका पुत्र था।[1] अभिनवगुप्त के पिता का वास्तविक नाम नृसिंहगुप्त था। परन्तु वे चुखल नाम से प्रसिद्ध थे। तन्त्रालोक के इस प्रथम श्लोक (विमल कलाश्रयाभिनवसृष्टिमहाभरित-तनुश्च जननी पंचमुखगुप्तरुचिर्जनकः) में आये हुए मोटे अक्षरों की व्याख्या करते हुए इनके दो अर्थ बताये हैं। जयरथ के मतानुसार अभिनवगुप्त के पिता का नाम नृसिंहगुप्त तथा माता का नाम विमला अथवा विमलाकला था। अभिनव-गुप्त को 'योगिनी भूः' नाम से संबोधित किया जाता था क्योंकि वे उच्च आध्या-त्मिक व्यक्तियों की सन्तान थे और इस कारण वे त्रिक्शास्त्र पर लिखित संपूर्ण आगमों का संग्रह कर उनकी रचना करने में समर्थ थे (दे० तन्त्रालोक

---

1. अभिनवगुप्त के पिता का नाम विभिन्न रूप में लिखा गया अथवा छपा है। जैसे, परात्रिशिका तत्वविवरण में चुखल, तंत्रालोक (काश्मीर एस० एस० भाग २३, १.१२ सचुखुलुको दिश्यादिष्टं मे गुरुरुत्तमः) में चुखुल अथवा चुखुलक। बुहलर की काश्मीर रिपोर्ट, P. CLV, में विचुलख तथा अभिनव-भारती (जी० ओ० एस० भाग २, पृ० ११७) में दुःखल आया है। अभिनव-भारती के तीसरे भाग में (जी०ओ०एस०) २७वें अध्याय के अंत में अभिनवगुप्त के पिता का नाम सुखल अथवा नृसिंहगुप्त भी आया है। इनमें कुछ अशुद्धियां लिपि ठीक प्रकार से न पढ़े जाने के कारण हुई हैं। मालिनी विजयवार्तिक (काश्मीर, एस० एस० अंक ३१) के आरंभ में अभिनवगुप्त ने इस प्रकार कहा है : 'गुरुभ्योऽपि गरीयांसं युक्तं श्री चुखुलाभिधम्। वन्दे यत्कृतसंस्कारः स्थितोऽस्मि गलितग्रहः ॥ (पांचवां श्लोक) नृसिंहगुप्तायति नेत्थमत्रवृत्तिस्वरूपं प्रकटं व्यधायि। यत्तत्रिणेत्रेणहृददन्तरात्मस्वरूपमेव प्रकटं व्यधायि ॥ (यह श्लोक अभिनवभारती के २०वें अध्याय में वृत्तियों के विषय में आया है, पृ० १०७ अ० भा० भाग ३, जी० ओ० एस०) तन्त्रालोक (१.१ सं० २३, पृ० १४) में जयरथ ने कहा है कि 'अस्य हि ग्रन्थकृतः श्रीनरसिंहगुप्तविमलाख्यौ पितरौ इति गुरवः ॥' (नरसिंहगुप्त तथा विमला अभिनवगुप्त के माता-पिता थे तथा अभिनवगुप्त परमशिव का अवतार था, इस बात को विस्तार से समझने के लिए दे० डा० राघवनकृत 'राइटर्स कोटिट इन अभिनवभारती, जे० ओ० आर, मद्रास भाग ६, पृ० १५३)।

१.१ पर जयरथकृत विवेक पृ० १४–१५) अभिनवगुप्त ने कहा है कि उसने अपने भाई मनोरथगुप्त, काश्मीर के राजा यशस्कर[1] के मन्त्री वल्लभ के पुत्र कर्ण नामक ब्राह्मण तथा व्याकरण, तर्क और मीमांसा में कुशल रामदेव के लिए परात्रिशिका पर भाष्य लिखा। इसी प्रकार उसने अपने शिष्य कर्ण तथा मन्द्र के अनेक आग्रह पर मालिनीविजयवार्तिक की रचना की। हास्याभास पर अपने चाचा वामनगुप्त का पद्य अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में उद्धृत किया है। (अभिनवभारती, भाग १, पृ० २९७, जी० ओ० एस० संस्करण अध्याय ४४५ पृ० २९५ नाट्यशास्त्र)। अभिनवगुप्त ने लिखा है कि उसके पिता के ममेरे दादा यशोराग एक बहुत प्रसिद्ध व्यक्ति थे। (इति शोडषमध्यायं ग्रन्थ-निर्ग्रन्थिकं व्यधात्। यशोराशेर्यशोरागनाम्नो दौहित्रदेहजः ।।) अभिनवगुप्त ने इनका उल्लेख गर्व के साथ किया है तथा उन्हें एक प्रसिद्ध व्यक्ति बताया है। इससे यह संकेत मिलता है कि अभिनवगुप्त के ये सम्बन्धी ज्ञान की किसी विशिष्ट शाखा में प्रसिद्ध रहे हों अथवा किसी उच्च पद पर रहे हों। परन्तु इस समय हमें यशोराग के विषय में कुछ भी जानकारी नहीं है।

ऐसा विदित होता है कि अभिनवगुप्त आजीवन ब्रह्मचारी थे। वे शिव के बड़े भक्त थे। उन्होंने ज्ञान-प्राप्ति[2] तथा प्रतिभा के विकास के लिए अनेक आचार्यों के चरणों में अध्ययन किया। उनकी रचनाओं को कई वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। उनकी रचनाओं का एक वर्ग तन्त्र विषयक है। तन्त्रालोक उनकी एक बहुत विशाल रचना है। इसमें तन्त्रालोक (१.१८ काश्मीर संस्कृत सीरीज, भाग २२, पृ० ३५) में गिनाये गये आगमतन्त्रों का विवेचन किया गया है। उदाहरणार्थ, देखिए दशाष्टादशवस्वष्टभिन्न[3] यच्छासनं विभोः।

1. राजतरंगिणी (६.२–९९) से प्रतीत होता है कि राजा यशस्कर ने ९३९–९४८ ई० सन् के बीच के नौ सालों में राज्य किया होगा।

2. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिणी, काश्मीर (एस० एस० अंक ६५, १९४३ ई० सन्) के अंत में पृ० ४०५ पर दूसरा और तीसरा श्लोक इस प्रकार है: 'तज्जन्मदेहपदभाक् पदकाव्यमानसंस्कारसंस्कृतमतिः परमेश-शक्तिः। सामर्थ्यतः शिवपदांबुजभक्तिभागीदारात्मजप्रभृतिबन्धुकथामनाप्तः ।। नानागुरुप्रवरपादनिपातजातसंवित्सरोरुहविकासनिवेशितश्रीः ।।'

3. इसका अर्थ है दस, अठारह और चौंसठ। चौंसठ के ८, ८ के आठ वर्ग बनाये गये हैं। तन्त्रालोक के अनुसार जो कोई भी इन ३७ आह्निकों को ध्यान से पढ़ेगा वह स्वयं भैरव बन जाएगा (१.२१४–१५)।

तत्सारं त्रिक्शास्त्रं हि तत्सारं मालिनी मतम् ॥' इसी भाग में मालिनी विजय-वार्तिक, (काश्मीर के पूर्वीभागस्थ प्रवरपुर में अभिनवगुप्त द्वारा लिखित) परात्रिंशिकाविवरण, तन्त्रालोकसार आदि आते हैं।

दूसरे वर्ग में स्तोत्र आते हैं जिनके नाम भैरवस्तव, क्रमस्तोत्र आदि हैं। तथा इसीमें बोधपंचाशिका आदि कतिपय छोटे ग्रन्थ आते हैं। (काश्मीर संस्कृत सीरीज सं० १४) तृतीयवर्ग में काव्यशास्त्र तथा नाटचशात्र संवन्धी रचनाएं आती हैं जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। काव्यशास्त्र में उनके गुरु इन्दुराज[1] थे तथा नाट्यशास्त्र में तौत[2] थे। इन दो वर्गों में प्रस्तुत लोचन

1. लोचन के अंत में ध्वन्यालोक के चौथे उद्योत में (डा० डे द्वारा संपादित जे० ऑफ० लेटर्स कलकत्ता, यूनिर्वसिटी, भाग नौवां, पृ० ४२) सिद्धिचेल तथा इन्दुराज इन दो गुरुओं का उल्लेख आया है (सिद्धिचेल चरणाब्ज-परागपूते भट्टेन्दुराजमतिसंस्कृतवुद्धिलेशः)। सिद्धिचेल नामक गुरु का लोचन अथवा अभिनवभारती में किसी भी अन्य स्थान पर उल्लेख नहीं आया। इसे इस प्रकार से भी पढ़ा जा सकता है: 'परागपूत-भट्टेन्दुराज०' तव इसका अर्थ निकलेगा कि भट्टेन्दुराज सिद्धिचेल के चरणकमल के पराग से पवित्र हुआ अर्थात् सिद्धिचेल भट्टेन्दुराज का गुरु था।

2. अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र के अनेक हस्तलिखित ग्रन्थों को वड़े ध्यान तथा परिश्रम से पढ़ा और उन्हें वहुत से भागों से दो-दो पाठान्तर उपलब्ध हुए। उदाहरणार्थ, लक्षणों के नाम तथा परिभाषाएं, छंदों की परिभाषाएं, गुण और दोषों के भेदों का क्रम उन्हें पृथक्-पृथक् प्राप्त हुआ। दे० इसी ग्रन्थ का पृ० १३ जहां पर इन दो वातों के विषय में अवतरण दिये गये हैं। यहां पर उद्धृत दूसरे अवतरण में अभिनवगुप्त ने स्पष्टरूप से कहा है कि उसने गुरु-परम्परा (तौत) का अनुसरण किया है। गुण तथा दोषों के विषय में इनके विचार इस प्रकार हैं: (नाट्यशास्त्र १६.८७ 'अतः परं प्रवक्ष्यामि काव्यदोषान् गुणांस्तथा।' भाग २, पृ० ३३१ जो० ओ० एस०) केषुचित् पुस्तकेषु चैतद्ग्रन्थः पश्चाद्दृश्यते, वाहुल्येन प्रथमं दृश्यते इति तथैव व्याचक्ष्महे। हम ऊपर देख चुके हैं कि यदि नाट्यशास्त्र पर अभिनवगुप्त की टीका उपलब्ध न होती तो नाट्यशास्त्र संवन्धी विशाल साहित्य से सर्वथा अपरिचित थे। अभिनवगुप्त काव्य और नाट्य से वहुत अनुराग रखते थे अतः उन्होंने दृढ़ता से कहा है: (भाग ३, पृ० ७४ जी० ओ० एस०) रामायणेपि तथा वर्णितमितिचेत्किमतः। वेदेपि तथा वर्ण्यतां न वयमतः बिभीमः। स हि भागः काव्यं यश्च यस्य रसोऽभि-सन्धिवर्ण्य इत्युक्तमसकृत्।

तथा अभिनवभारती ये दो रचनाएं ज्ञान की स्मारक, समीक्षा-कौशल, साहित्यसौन्दर्य तथा शैली की उत्कृष्टता के द्योतक हैं। महिमभट्ट को छोड़कर उनके परवर्ती इन दो विषयों के प्रसिद्ध लेखकों ने उनका अनुसरण किया है। (दे० अलंकारशास्त्र पर काश्मीर शैव संप्रदाय के प्रभाव के विषय में प्रो० एस० पी० भट्टाचार्य का लेख, जे० ओ० आई० वडौदा भाग १, पृ० २४५–५२) इसके मतानुसार स्मरण, परिणाम, उल्लेख आदि सभी अलंकारों की उत्पत्ति शैव दर्शन के प्रभाव से हुई है। मेरे मत में इस चिन्तन में बहुत खींचतान है।

अभिनवगुप्त की रचनाओं का चौथा वर्ग काश्मीर के शैवाद्वैतदर्शन (प्रत्यभिज्ञा शास्त्र) से सम्बद्ध है। इन्होंने अपने ग्रन्थ ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी (१.१.२०५) में गुरु-परम्परा का उल्लेख इस प्रकार किया है। त्र्यंबक इसका संस्थापक था, उसके परिवार में सोमानंद नाथ का जन्म हुआ था जिसने इस पद्धति की शिवदृष्टि नाम से व्याख्या की। उदयाकर का पुत्र उत्पल सोमानंद नाथ का शिष्य था, इसने १९० कारिकाओं में प्रत्यभिज्ञा सूत्र की रचना की तथा स्वयं ही इस पर वृत्ति और टीका लिखी (पृ० १७५ ऊपर) उसका शिष्य लक्ष्मणगुप्त था और अभिनवगुप्त[1] लक्ष्मणगुप्त का शिष्य था। लक्ष्मणगुप्त की कोई रचना अब तक उपलब्ध नहीं है। ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिणी के अंत में तीसरा श्लोक इस प्रकार है: 'श्रीशास्त्रकृद्धटित लक्ष्मणगुप्तपाद सत्योपदर्शित शिवाद्वयवाददृप्तः ॥ (काश्मीर० एस० एस० सं० ६५) इससे यह तात्पर्य निकलता है कि शैवाद्वैतवादी दर्शन को शास्त्रकार (उत्पल ?) ने व्यवस्थितरूप दिया तथा लक्ष्मणगुप्तपाद ने इसकी ठीक-ठीक व्याख्या की। मालिनी विजयवार्तिक[1] में अभिनवगुप्त ने अपने गुरु लक्ष्मण की बहुत प्रशंसा की है। अभिनवगुप्त ने स्वयं दो महत्त्वपूर्ण रचनाएं प्रत्यभिज्ञाशास्त्र पर लिखी हैं। एक उपलदेव की प्रत्यभिज्ञाकारिका पर ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी (जिसे लघुवृत्ति भी कहा जाता है) और उनकी प्रत्यभिज्ञाकारिका पर उपदेव लिखित टीका पर ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी (जिसे बृहतीवृत्ति भी कहा जाता है) नामक दूसरी रचना की है।

तन्त्रों के अध्ययन में उनके गुरुओं की परंपरा इस प्रकार थी—सुमतिनाथ, सोमदेव, शंभुनाथ, अभिनवगुप्त। दे० तन्त्रालोक पर जयरथ की टीका

---

1. तद्दृष्टिसंसृतिच्छेदि प्रत्यभिज्ञोपदेशिनः। श्रीमल्लक्ष्मणगुप्तस्य गुरोर्विजयते वचः। (श्लोक ८)

भाग १, पृ० २३६, तन्त्रालोक प्रथम आह्निक, श्लोक १३ और २१ तक तन्त्रसार का तीसरा आरंभिक पद्य जोकि शंभुनाथ के विजय में लिखा गया है।

अभिनवगुप्त ने कहा है कि उन्होंने ज्ञान की खोज में तर्क (न्याय, वैशेषिक आदि) पद्धतियों का, बौद्ध अरहत तथा वैष्णव[1] सिद्धान्तों के पंडितों का आश्रय लिया। अभिनवगुप्त यौगिक अभ्यास में कुशल थे। उनका विचार था कि उन्होंने शिव अथवा परम सत्य को उपलब्ध कर लिया है। उनका यह भी विश्वास था कि शिव की प्रेरणा से वे आध्यात्मिक ज्ञान और शान्ति की खोज में निकले हुए साधारण लोगों को मुक्ति का मार्ग दिखा सकते हैं। स्वयं सिद्धि प्राप्त करने पर भी उन्होंने दूसरों के उपकारार्थ ग्रन्थों[2] की रचना की। प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी[3] के अंत में अभिनवगुप्त ने कहा है कि 'शिवदृष्टि' में गुरुओं द्वारा निरूपित मार्ग को उन्होंने सरल तथा सर्वग्राह्य बनाया है। जो भी व्यक्ति इस मार्ग का अनुसरण करता है वह पूर्ण बन जाता है और शिव में मिल जाता है। उन्होंने अपने परमार्थसार के अंत में (श्लोक १०५) उद्घोषित किया है कि उन्होंने १०० आर्या छन्द में रहस्यतत्व का सारांश दे दिया है। अभिनवगुप्त ने शिव[4] के चरणों में बैठकर अध्यात्मज्ञान प्राप्त किया। १३वें आह्निक के २१५वें

1. अहमप्यत एवाधः शास्त्रदृष्टिकुतूहलात्। तार्किकश्रौतबौद्धार्हद्वैष्ण-वादीनसेविषि॥ (तन्त्रालोक, १३ आह्निक श्लोक ३४५—३४६; भाग ८, पृ० २०६ काश्मीर एस० एस०)

2. शिवरस्मृतिकृतार्थोपि परार्थं दुःखलात्मजः (चुखलात्मजः ?)। अ०भा० भाग २, पृ० ११७; इति यज्ज्ञेयसतत्त्वं दर्श्यते तच्छिवाज्ञया। मया स्वसंवित सत्तर्कपतिशास्त्रत्रिकक्रमात्॥ तंत्रालोक १, आह्निक श्लोक १०६; स्वसंवित स्वानुभवः सत्तर्को युक्तिः पतिशास्त्रं भेदप्रधानं शैवं त्रिकं परादिशवितत्रयाभि-धायकं शास्त्रं क्रमः चतुष्टयार्थः (जयरथ रचित विवेकः)।

3. इति प्रकटितो मया सुघट एष मार्गो नवो महागुरुभिरुच्यतेस्म शिवदृष्टि-शास्त्रे यथा। तस्य निदधत्पदं भुवनकर्तृतामात्मनो विभाव्य शिवतामयीमनिशमा-विशन् सिद्ध्यति॥ ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृ० २७१ से ३३. काश्मीर (एस० एस०)।

4. शिवचरणस्मरणदीप्तेन धूतशब्द (परमार्थसार श्लोक १०५) की योगेश्वर ने इस प्रकार व्याख्या की है: 'उपदेष्टुः समाविष्टमहेश्वर स्वभावोऽनेन-वाक्येनोक्तः स्यात्।

श्लोक में उन्होंने सुनिश्चल, रुद्रभक्ति, मन्त्रसिद्धि, सर्वतत्त्ववशित्व, कृत्यसंपद् (प्रारब्धकार्य निष्पत्ति) इन पांच गुणों का उल्लेख किया है, जोकि उच्च आध्यात्मिक सिद्धि-प्राप्त व्यक्ति में होते हैं। कवित्व, सर्वशास्त्रार्थवेतृत्व तथा इस पर लिखित जयरथ की टीका (भाग ८, पृ० १३७ संख्या ४७ काश्मीर एस० एस०) में कहा गया है कि ये पांचों लक्षण अभिनवगुप्त में विद्यमान थे। अपने मत की पुष्टि में जयरथ ने अभिनवगुप्त के गुरु का एक श्लोक भी उद्धृत किया है। प्रत्यभिज्ञाकारिका के अंतिम श्लोक की व्याख्या करते हुए 'जनस्यायत्नसिद्धयर्थमुदयाकरसूनुना। ईश्वरप्रत्यभिज्ञेयमुत्पलेनोपपादिता।।' काश्मीर एस० एस० भाग ३३, पृ० २७६) अभिनवगुप्त ने निर्भीकता के साथ कहा है कि इस प्रत्यभिज्ञा दर्शन का सम्बन्ध मानवमात्र से है, चाहे वे किसी भी मत[1]-संप्रदाय के अनुयायी क्यों न हों।

शैवाद्वैतवाद के सभी सिद्धान्तों अथवा रचनाओं का इस ग्रन्थ में निरूपण करना इस ग्रन्थ की परिधि के बाहर है। इस विषय में पूर्ण जानकारी पाने के लिए श्री० जे० सी० चटर्जी रचित काश्मीर शैवेज्य (१९१४) तथा डा० के० सी० पांडे द्वारा अभिनवगुप्त पर लिखित सुन्दर शोध-प्रबन्ध[2] देखिए जिसमें अभिनवगुप्त का ऐतिहासिक तथा दार्शनिक दृष्टि से अध्ययन किया गया है (चौखम्बा संस्कृत स्टडीज, भाग १) इस विषय में डा० भांडारकर रचित ग्रन्थ 'वैष्णव इज्म तथा शैवइज्म' भी द्रष्टव्य है।[3]

---

1. यस्य कस्यचिज्जन्तोरिरिति नात्र जात्याद्यपेक्षा काचिद् इति सर्वोपकारित्वमुक्तम्। (ई० पृ० वि० भाग २, पृ० २७६)।

2. यद्यपि मैंने डा० पांडे के कुछ मतों की आलोचना की है तो भी मैं उनके इस परिश्रमपूर्ण कार्य की प्रशंसा करता हूं कि उन्होंने शैवाद्वैतवादी दर्शन तथा अभिनवगुप्त से सम्बद्ध सभी रचनाओं का संकलन किया है। मुझे खेद है कि उन्होंने कवि द्वारा अपनाई हुई अभिनवभारती की संपादन शैली का अनुसरण किया जिसके परिणामस्वरूप उन्होंने यह अनुपयुक्त मत मान लिया कि अभिनवगुप्त ने नाट्यदेव को उद्धृत किया है। और इन्होंने अपने शोध-प्रबन्ध के १२१ से १२५ तक के पृष्ठ अनावश्यकरूप में लिख डाले। कवि द्वारा अभिनवभारतीय दिये गये संकेत (अ० भा० भाग १, पृ० २५३) को भी वे भूल गये।

3. पृष्ठ १३० पर एक अशुद्धि है। यहाँ पर उदयाकार को सोमानंद का शिष्य बताया गया है। वास्तव में उदयाकार उत्पल का शिष्य है।

काश्मीर-परंपरा के अनुसार अपने १२सौ शिष्यों सहित भैरवीस्तोत्र का पाठ करते हुए एक गुफा में प्रविष्ट हुए और अन्तर्धान हो गये। (जे० आर० ए० एस० १९१० ई० सन् १३३४, पृ० १३३६ पर नं० १,) डा० ग्रियर्सन के मतानुसार यह गुफा वीरु अथवा प्राचीन नाम वहुरुपा में स्थित है जो श्रीनगर से १३ मील दक्षिण-पश्चिम की ओर है।

अभिनवगुप्त के काल-निर्णय के विषय में कोई कठिनाई नहीं आती। उनकी रचना ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तविमर्शिनी (काश्मीर एस० एस० सं० ६५) के अंत में इस ग्रन्थ की रचना-तिथि का उल्लेख इस प्रकार है : (श्लोक १५ पृ० ४०७) 'इति नवतितमेस्मिन्वत्सरेऽन्तेयुगांशेतिथिशशिजलधिस्थे मार्गशोर्षावसाने। जगति विहितबोधामीश्वरप्रत्यभिज्ञाव्यवृणुतपरिपूर्णां प्रेरितः शम्भुपादैः॥' इसका तात्पर्य यह निकलता है कि यह रचना ४११५ कलिवर्ष में पूर्ण हुई जबकि लौकिक वर्ष[1] (काश्मीर में) मार्गशीर्ष के अंत में (१०१४ ई० सन्) ९० था। भैरवस्तव के अंत में उन्होंने तिथि का निर्देश इस प्रकार किया है : 'वसुरसपौषे कृष्णदशम्यामभिनवगुप्तः स्तवमिमकरोत्। येन विभुर्भव मरुसन्तापं शमयति सटिति जनस्यदयालुः॥ (वुहलर की काश्मीर रिपोर्ट, पृ० CLXII) भैरवस्तव की रचना लौकिक वर्ष ६८ में (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी की रचना से २२ वर्ष पूर्व) अर्थात् ९९२–९३ ई० सन् में पूर्ण हुई। कर्मस्तोत की रचना लौकिक वर्ष ६६ में हुई। अर्थात् यह रचना ईश्वर० टीका से ठीक २४ वर्ष पूर्व की है (षट्षष्टिनामके वर्षे नवम्यामसितेऽह्नि। मयाभिनवगुप्तेन मार्गशीर्षे स्तुतः शिवः॥ देखिए डा० पांडे लिखित अभिनवगुप्त पृ० ४१२) ये तीनों तिथियां ई० सन् ९९०– तथा १०१४–१ के बीच में आती हैं। तन्त्रालोक नाम का विशाल ग्रन्थ (जिसकी २९ अहनक काश्मीर एस० एस० के ३७ भागों में आई है) लोचन के पूर्व लिखा गया। लोचन के परवर्ती

---

2. 'लोककाल' अथवा 'लौकिकवत्सर' के लिए वुल्हर की काशमीर रिपोर्ट पृ० ५९–६० और स्टेन की राजतरंगिणी की भूमिका देखिए। इस युग को सप्तर्षियुग भी कहते हैं। यह युग कलियुग (२५ वर्ष) में शुरू हुआ। यह अब भी काशमीर में प्रचलित है। सामान्यतः उसका उल्लेख करते हुए शताब्दियों का उल्लेख नहीं किया जाता। ४०९० वर्ष को (=४११५ वर्ष कलियुग) अभिनवगुप्त ने ९० वर्ष के रूप में गिनाया है। (सप्तर्षि अथवा लौकिक युग की तिथियों के जानने के लिए देखिए, शिलालेख ई० आई० भाग २०, संख्या १४४१–१४४५ पृ० १९७)।

विशाल ग्रन्थ का नाम अभिनवभारती है। यह भरत लिखित नाट्यशास्त्र की टीका है। अभिनवगुप्त[1] ने और भी कई ग्रन्थों की रचना की। अतः यह मानना उपयुक्त नहीं होगा कि अभिनवगुप्त का साहित्यिक रचनाकाल ९८०–१०२० ई० सन् के बीच आए केवल ३५ अथवा ४० वर्षों तक ही रहा है। अभिनवगुप्त ने अपने प्रथम ग्रन्थों की रचना (तन्त्रालोक उनमें से एक है) लगभग ३० वर्ष की आयु में की—यह मान लेने पर उसका जन्मकाल लगभग ९५० ई० सन् निश्चित होता है। इन तिथियों की पुष्टि करने के लिए कई तर्क सहायक हैं। अभिनवगुप्त ने अपने शिष्य कर्ण के लिए परात्रिंशिका पर टीका लिखी। कर्ण राजा यशस्कर के एक मन्त्री का पुत्र था, जिसकी मृत्यु ९४८ ई० सन् में हुई। कर्ण की आयु तन्त्र सिद्धान्तों को समझ लेने योग्य अवश्य होगी। अतः परात्रिंशिका की रचना के समय उसकी आयु २५ अथवा ३० वर्ष के लगभग अवश्य ही होगी। यदि कर्ण का जन्मकाल ९६० ई० सन् के लगभग मान लिया जाय तो यह भी कहा जा सकता है कि परात्रिंशिका विवरण की रचना ९८० ई० सन् के लगभग हुई होगी। क्षेमेन्द्र ने बृहद्कथा-मंजरी और भारतमंजरी के अन्त में कहा है कि उसने साहित्य का अध्ययन अभिनवगुप्त[1] से किया। हमें विदित है कि क्षेमेन्द्र ने १०५० ई० सन् में समय-मातृका[3] की रचना की और १०६६ ई० सन् में दशावतारचरित की। वह

---

1. अभिनवगुप्त की रचनाओं को जानने के लिए परात्रिंशिका विवरण (काशमीर एस० एस० १८) की भूमिका (पृ० १५, शैव संप्रदाय संबंधी पुस्तकों के लिए) देखिए। और डा० के० सी० पांडे का 'अभिनवगुप्त' पृ० १२२–१२४; डा० राघवन का लेख जे० ओ० आर मद्रास भाग १४ पृ० ३१८–३२८ न्यू कैट० भाग १, पृ० २२४–२२६ ये भी देखिए।

2. श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्यात्साहित्यं बोधवारिधेः। आचार्यशेखरमणेर्विद्या विपतिकारिणः॥ बृहत्कथाम०, उपसंहार पृ० ३७, भारतमंजरी, उपसंहारात्मक पद्य आठ (यहां केवल पद्यों के अंश ही दिए गए हैं।)

3. समयमातृका (अंतिम पद्य २ और ४) में कहा गया है कि उसकी रचना राजा अनन्त के शासनकाल में लौकिक युग के २५वें वर्ष में हुई। दशावतारचरित (अंतिम पाँचवां पद्य) में कहा गया है कि उसकी रचना काशमीर के राजा कलश के शासनकाल में लौकिकयुग के ४१वें वर्ष में हुई। अनन्त का शासन १०२८–१०६३ ई० सन् तक रहा। उसने अपने पुत्र कलश के लिए सिंहासन छोड़ दिया। कलश ने १०६३–१०८९ ई० सन् तक राज्य किया।

एक बड़े ग्रन्थकार थे। उनका सहित्यिक कार्यकाल १०३० से १०७० ई० सन् के बीच माना जा सकता है। अतः इससे स्पष्ट होता है कि क्षेमेन्द्र अभिनवगुप्त के उतरवर्ती जीवनकाल में उनके सम्पर्क में आए।

२२. धनंजयरचित दशरूप (अथवा दशरूपक)

यह रचना धनिक लिखित अवलोक नामक टीका सहित अनेक बार प्रकाशित हुई है। यह रचना सन् १८६५ में एफ० ई० हाल द्वारा बी० आई० सीरीज में तथा सन् १९१२ में न्यूयार्क में प्रतिलिपि रूप में व्याख्या और भूमिका सहित हास द्वारा प्रकाशित की गई। इस ग्रन्थ में उल्लिखित उद्धरण १९४१ सन् में निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित चतुर्थ संस्करण से लिये गये हैं। डा० हाल तथा डा० राघवन (श्रृंगारप्रकाश भाग १, पृ० १८८–१९०) ने कहा है कि दशरूप की मूल प्रति तथा उसकी अवलोक टीका में उद्धृत पाठों में पर्याप्त अंतर है। इससे प्रतीत होता है कि उसमें बहुत से प्रक्षिप्तांश जोड़ दिये गये हैं।

यहां दशरूप का उल्लेख इसलिए आवश्यक है क्योंकि इसमें रस-सिद्धान्त का विवेचन मिलता है। वैसे इस रचना का संबंध नाट्यशास्त्र मात्र से है. काव्यशास्त्र के विभिन्न विषयों से नहीं। इस रचना में लगभग ३०० कारिकाएं हैं और उनका चार प्रकाशों में विभाजन है। भरत ने बीसवें अध्याय के प्रथम दो श्लोकों में कहा है (चौखम्बा संस्करण) के० एम० संस्करण का १८वां अध्याय) कि वे १० प्रकार के नाटकों को उनके नाम, कार्य तथा रंगमंचगत अभिनव सहित प्रस्तुत करेंगे। नाटक, प्रकरण, अङ्क, व्यायोग, भाण, समवकार वीथि, प्रहसन, डिम, ईहामृग ये नाटक के प्रमुख दस प्रकार हैं। इनमें से नाटक और प्रकरण बहुत महत्त्वपूर्ण हैं तथा नाटक के अन्य प्रकारों के लिए आधार (प्रकृति) का काम करते हैं। उदाहरणार्थ, भरत के मत में नाटिका की रचना इन्हींके आधार पर होती है। (देखिए अध्याय २० पद्य ६२–६३) इस रचना का नाम दशरूप या दशरूपक इस कारण है क्योंकि यह नाटक के (रूपक के) दस प्रमुख प्रकारों का प्रतिनिधित्व करता है। भरत ने काव्य और नाट्य को समानार्थी माना है।[1] वामन के मत में काव्यरचना में

---

1. देव नाट्यशास्त्र १६.१६९ काव्यबन्धास्तु कर्तव्याः षट्त्रिंशल्लक्षणान्विताः। 'षट्त्रिंशल्लक्षणान्येवं काव्यबन्धेषु निर्दिशेत्। १७.५ तथा १७.४२ और १२१.

दशरूपकों का स्थान उच्च है।[1] (काव्यालंकार सूत्र २. ३. ३०) रस तथा नाट्य की एकता से सम्बद्ध भट्टतौत का मत पृ० २१९ पर उद्धृत किया जा चुका है। संस्कृत नाट्यशास्त्र के विषय में तीन वहुत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचनाएं हुई हैं। इनमें भरत के नाट्यशास्त्र, दशरूप[2] (अवलोक सहित) तथा साहित्यदर्पण का नाम उल्लेखनीय है। बूलर (ई० आई० भाग १, पृ० २२२ से २३८) द्वारा संपादित मालवा के राजाओं की उदयपुर प्रशस्ति तथा इन्हीं राजाओं की किलहार्न द्वारा संपादित नागपुर प्रशस्ति (ई० आई० २ पृ० १८०–१९४) में परमार राजाओं की वंशावली निम्न प्रकार दी गई है। परमार—उत्तराधिकारी

---

1. अवस्थानुकृतिर्नाट्यं रूपं दृश्यतयोच्यते। रूपकं तत्समारोपाद्दशधैव-रसाश्रयम्॥ दशरूप १.७ इसका तात्पर्य यह है कि नाट्य को रूप इसलिए कहा जाता है क्योंकि इसे देखा जाता है (जैसे शरीर की आकृति या रूप को देखा जाता है) और इसे रूपक इस कारण भी कहा जाता है कि इसे रंगमंच पर अभिनीत करते समय अभिनेता दूसरों के कार्यों को आरोपित कर लेते हैं। (उदाहरणार्थ, अभिनेता का राम-अभिनायक बनना) दशरूपक के अर्थ की व्याख्या के लिए देखिए, जे० ओ० आर मद्रास १९३३, पृ० २७७,९० डा० राघवन)

2. इस रचना का अंतिम श्लोक इस प्रकार है: विष्णोः सुतेनापिधनंजयेन विद्वन्मनोरागनिबन्धहेतुः। आविष्कृतं मुंजमहीशगोष्ठी वैदग्ध्यभाजाः दशरूप-मेतत्॥ इससे स्पष्ट है कि इस रचना का मूल नाम दशरूप है। इस टीका के उपसंहारात्मक श्लोकों में दशरूपावलोक को विष्णु के पुत्र धनिक रचित कहा गया है। हॉल ने अपनी भूमिका के तीसरे पृष्ठ पर कहा है कि अवलोक की पांडुलिपि में धनिक को उत्पलराज का अधिकारी बताया गया है। बूलहर ने उदयपुर प्रशस्ति में (ई० आइ० भाग १, पृ० २२७) धनिक को उत्पलराज (अथवा वाक्पति) का महासाध्यपाल बताया है। मुंज और वाक्पतिराज दोनों एक ही व्यक्ति हैं क्योंकि धनिक ने इन दोनों के विषय में एक ही श्लोक लिखा है। साथ ही नागपुर प्रशस्ति (ई० आई० भाग २, पृ० १८४ श्लोक २३) में यह लिखा गया है कि मुंज सीयक का पुत्र था, वहां वाक्पति का कोई उल्लेख नहीं है। नवसाहसांक चरित (११.९३) में कवि मित्र का उल्लेख इस प्रकार आया है 'अतीते विक्रमादित्ये गतेस्तं सातवाहने। कविमित्रेविशश्राम यस्मिन् देवी सरस्वती॥'

उपेन्द्र—बैरिसिंह १—सीयक १—वाग्पति १ बैरसिंह २—हर्ष—हर्ष का पुत्र वाक्पति २—वाक्पति कामार्ड सिन्धुराज, सिन्धुराज का पुत्र भोज, भोज का[1] सम्बन्धी उदयादित्य—लक्षमदेव तथा नरवर्भदेव। वाक्पति का दूसरा नाम मुंज तथा उत्पलराज था और सिन्धुराज को नवसाहसांक तथा कुमार नारायण भी कहा जाता था। पद्मगुप्त (परिमल) रचित नवसाहसांकचरित (११. १०१–१०२) में वाक्पति के अनुज सिन्धुराज को नवसाहसांक भी कहा गया है। धनपाल रचित तिलकमंजरी में भी इस वंशावली का संक्षिप्त उल्लेख इस प्रकार है। वैरसिंह—सीयक अथवा श्री हर्ष—श्री हर्ष के पुत्र वाक्पतिराज और सिन्धुराज—सिन्धुराज का पुत्र भोज।

प्रथम प्रकाश में गणेश, विष्णु, भरत तथा सरस्वती वन्दना के उपरान्त दशरूपकों का निरूपण किया है। इसके उपरान्त नृत्य, नृत्त, लास्य, ताण्डव, पांच सन्धियाँ, उनके अंग, निष्कंभ, चूलिका, अंकास्य, अंकावतार, प्रवेशक आदि की परिभाषाओं का उल्लेख है। दूसरे प्रकाश में विभिन्न प्रकार के नायक-नायिकाएं, उनकी विशेषताएं, उनके मित्र, चार वृत्तियां तथा उनके अंगों का वर्णन किया गया है। तीसरे प्रकाश में नाटक[2] का आरंभ कैसा होना चाहिए, प्रस्तावना किस प्रकार की होनी चाहिए, नाटक के दस प्रकार किन-किन गुणों से युक्त होने चाहिए इत्यादि विषय में व्यावहारिक सूचनाएं दी गई हैं। चौथे प्रकाश में रस-सिद्धान्त का विस्तार से विवेचन किया गया है। धनिक की टीका विद्वत्तापूर्ण है तथा उसमें प्रचुर उदाहरण हैं। धनिक ने ३३० से भी अधिक पद्य उद्धृत किये हैं इनमें से बीस तो उनके निजी हैं और कतिपय उन्होंने प्राकृत में भी लिखे हैं (२.३४ में दो पद और २.३७ में एक पद) धनिक ने काव्यनिर्णय नामक ग्रन्थ की रचना की होगी, इसकी प्रतीति हमें उसके विवेचन से होती है (४.३७)। इस काव्यनिर्णय ग्रन्थ से उन्होने सात पद्य उद्धृत किये हैं। 'न रसादीनां काव्येन' सहव्यंग्यव्यंजक भावः किं तर्हि भाव्यभावक संबंधः।

---

1. संवत् ११६१ (११०४–५ ई० सन्) में लिखित नागपुर प्रशस्ति (ई० आई० भाग २,१८० पृ० १८५ श्लोक ३२) में यह पद्य उद्धृत है। 'तस्मिन् वासव वन्धुतामुपगते राज्ये च कुल्या कुले मग्नस्वाभिनीतस्यबन्धुरुदयादित्यो भवद्भूपतिः ॥

2. दशरूप में कहा गया है कि नाटक अन्य नाटक-भेदों के निर्माण के मूल आधार का काम देता है। 'प्रकृतित्वादथान्येषां भूयोरसपरिग्रहात्। संपूर्ण लक्षणत्वाच्चपूर्वं नाटकमुच्यते ॥' ३–१.

काव्यं हि भावकम् । भाव्याः रसादयः' (४.३७) धनिक की इस उक्ति से पता लगता है कि उनकी मान्यता भट्टनायक से मिलती-जुलती है। दशरूप के अनुसार कथावस्तु रामायण तथा वृहत्कथा से लेना चाहिए (१.६८) । स्थानाभाव के कारण धनिक द्वारा उद्धृत सभी रचनाओं का यहां उल्लेख नहीं हो पाया है। उनके विशेष रुचिकर उद्धरण निम्नलिखित में से हैं । वाक्पतिराजदेव अथवा मुंज ('प्रणयकुपिताम' नामक पद्य एक स्थान पर वाक्पतिराजदेव द्वारा तथा अन्य स्थान पर मुंज द्वारा रचित माना गया है ४.५८ और ६०), पद्मगुप्त (२.४० के अंतर्गत 'चित्रवर्तिन्यपि नृपे' नवसाहसाङ्क०, ६.४२), विद्धशालभंजिका १.३१ (सुधावद्धग्रासैरुपवन० ४.५३), कर्पूरमंजरी (रंडाचंडा १.२२ दशरूप ३.१५ के अंतर्गत) ।

कारिकाओं का रचियता धनंजय विष्णु का पुत्र था और राजा मुंज का राजसभासद था। धनिक भी विष्णु का पुत्र था। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि वह धनंजय का भाई था। कारिकाओं की रचना मुंज के शासनकाल में हुई। दशरूप का रचनाकाल निर्धारण करने के लिए मुंज (वाक्पतिराज) के शासनकाल की जानकारी आवश्यक है। नवसाहसांकचरित पर बूहलर तथा ज़कारी लिखित लेख (अनूदित आई० ए० भाग ३६, पृ० १४९–१७२) में वाक्पतिराज (मुंज) का वर्णन आया है (पृ० १६८–७०) । आई० ए० भाग ६, के ५१–२ पृ० पर वाक्पतिराज का संवत् १०३१ (९७४ ई० सन्) का एक शिलालेख मिलता है। इस शिलालेख में अहिच्छत्र से आये धनिक पंडित के पुत्र वसंताचार्य को भूमि की स्वीकृति दिए जाने का उल्लेख है। आई० ए० भाग १४ के पृ० १५९–६१ पर वाक्पतिराज का एक ताम्रस्वीकृतिपत्र है (संवत् १०३६; ९७९ ई० संन्)। इससे पता चलता है कि वाक्पतिराज ने देवी भट्टेश्वरी के नाम पर उजजयिनी में एक गांव दान किया था। यह भी पता चलता है कि तैलाप २ (आई० ए० ३३, पृ० १७०) ने मुंज को परास्त कर उसे बन्दी बनाया तथा उसका वध कर दिया। अमितगति ने राजा मुंज के शासनकाल में सुभाषित रत्नसन्दोह नामक ग्रन्थ की रचना संवत् १०५० (९९३–४ ई० सन्) में की। शाका संवत् ९१९ (९९७–८ ई० सन्) में अथवा इससे पूर्व तैलाप २ की मृत्यु हुई। इससे यह पता चलता है कि वाक्पतिराज अथवा मुंज का वध ई० संवत् ९९३–४ तथा ९९७ के बीच में हुआ। मुंज का शासनकाल अधिक पूर्व से न सही, परन्तु ९७४ ई० सन् से अवश्य आरंभ हो गया होगा। अतः दशरूप का रचनाकाल ई० सन् ९७४–९६ के बीच का निश्चित होता है। वसन्ताचार्य (आई० ए० भाग ६, पृ० ५१–२ सन् ९७४) का पिता धनिक

पंडित तथा दशरूप का टीकाकार एक ही व्यक्ति हैं—यह बताना बहुत कठिन है। कुछ भी हो, दशरूप की रचना १०वीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में हुई। परन्तु ऐसा विदित होता है कि इसकी टीका कुछ समय उपरान्त लिखी गई। सिन्धुराज (नवसाहसांक) वाक्पतिराज (मुंज) के उत्तराधिकारी हुए और नवसाहसांकचरित (एक महाकाव्य) की रचना सिन्धुराज[1] के आदेश से पद्मगुप्त (परिमल) ने की। (सिन्धुराज के परिचय के लिए देखिए : आई० ए० भाग ३६, पृ० १७०–२) धनिक द्वारा नवसाहसांकचरित से उल्लिखित एक पद्य से यह सिद्ध होता है कि इसकी टीका १००० ई० सन् से पूर्व नहीं लिखी गई। यदि हम धनिक और धनिक पंडित जैसाकि (डा० गांगुली ने अपने इतिहास पृ० २८५ पर कहा है; आई० ए० भाग ६) को एक ही व्यक्ति मान लें तो यह कहना पड़ेगा कि अवलोक की रचना करते समय धनिक बहुत वृद्ध व्यक्ति (लगभग ८० वर्ष के या उससे भी अधिक) रहे होंगे।

वाक्पतिराज और सिन्धुराज की जानकारी के लिए डा० डी० सी० गांगुली का 'हिस्ट्री ऑफ दी परमार डाईनेस्टी' (पृ० ४५–८१) देखिए। दशरूप (१.६) के इस पद्य में (आनन्दनिस्यन्दिषु रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धिः। योपीति हासादिवदाह साधुस्तस्मै नमः स्वादुपराङ्मुखाय) ऐसा प्रतीत होता है कि भामह (१.२) का उपहास किया गया है।

धनिक के अवलोक पर नृसिंह रचित एक टीका मिलती है (दे० बुल्लेटिन ऑफ लंडन स्कूल आफ औरियंटल स्टडीज भाग ४, पृ० २८०)। उसने भोज के सरस्वती कंठाभरण पर भी टीका लिखी है। बहुरूप मिश्र द्वारा दशरूपक पर एक महत्त्वपूर्ण टीका लिखी गई है। (इसके परिचय के लिए देखिए डा० राघवन जे० ओ० आर मद्रास भाग ८, पृ० ३२१–३४ डा० राघवन ने मुझे सूचित किया है कि एक स्नातकोत्तर विद्यार्थी ने बहुरूप की टीका सहित दशरूपक का समीक्षात्मक संस्करण प्रकाशन के लिए तैयार किया है।

कुछ विद्वानों ने धनंजय और धनिक को एक ही व्यक्ति माना है। परंतु यह अनुपयुक्त है। इस समस्या के विवेचन के लिए डा० डे० का एच० एस०

---

1. दे० नवसा० १.९ नैते कवीन्द्राः कतिकाव्यबंधे तदेव राजा किमहं नियुक्तः। उपसंहारात्मक पद्य में कहा गया है :—यच्चापलं किमपि मंदधिया मयैवमासूत्रितं नरपते नवसाहसांक। आज्ञैव हेतुरिह ते शयनीकृतोग्रराजन्यमौलिकुसुमा न कवित्वदर्पः॥

पी० भाग १, पृ० १३२–४ देखिए। दशरूप और उसकी टीका अवलोक की रचना संभवतः अभिनवगुप्त द्वारा अभिनवभारती लिखने से पहले हो चुकी थी। अभिनवगुप्त सर्वप्रथम कृति क्रमस्तोत्र है जिसकी रचना ९९० ई० सन् में हुई। यह पहले लिखा जा चुका है कि दशरूप की रचना ९७४–९९६ ई० सन् के बीच हुई और उस पर धनिक की टीका १००० ई० सन से पूर्व नहीं लिखी गई। अतः धनंजय और धनिक अभिनवगुप्त के समसामयिक थे। किसी भी स्थिति में इन दोनों की रचनाओं में एक-दूसरे का उल्लेख नहीं आया है, यद्यपि वे दोनों अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों में नितान्त भिन्न-भिन्न मत रखते हैं। दोनों में महत्त्वपूर्ण भिन्नताएं इस प्रकार हैं—१. दशरूप में नाट्यशास्त्र की दृष्टिसे शांत को उपयुक्त रस नहीं माना है और शांत का स्थायीभाव शम को स्वीकार नहीं किया है (इत्युत्साहजुगुप्सा क्रोधो हासः स्मयो भयं शोकः। शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य ॥) दशरूप के ४.३५ पर धनिक ने अनेक मतों का उल्लेख करने के बाद लिखा है: 'सर्वथा नाटकादावभिनयात्मनि स्थायित्वमस्माभिः निषिध्यते। तस्य समस्तव्यापारप्रविलयरूपस्याभिनयायोगात्।' इसके विपरीत अभिनवगुप्त ने शान्त को नौवां तथा सबसे महत्त्वपूर्ण रस माना है (अभि० भा० भाग १, पृ० ३४०) २. दशरूप (४.३७–३९) में धनिक द्वारा की गई धनंजय की कारिका से पता चलता है कि वे ध्वन्यालोक के सिद्धान्त के विरोधी थे। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि रस काव्य से ध्वनित नहीं होता वरन् पाठक अथवा प्रेक्षकों द्वारा उसका अनुभव अथवा आस्वादन किया जाता है। 'अतो न रसादीनां काव्येन सह व्यंग्यव्यंजकभावः। किं तर्हि भाव्यभावक संबंधःकाव्यं हि भावकं भाव्या रसादयः। तेहि स्वतो भवन्त एव भावकेषु विशिष्टविभावादिमता: काव्येन भाव्यन्ते।' (धनिक ४.३७ पर) इस विषय में उन्होंने भट्टनायक का अनुसरण किया है। (धनंजय और अभिनवगुप्त के लिए दे० डा० के० सी० पांडे न्यू० आई० ए० भाग ६, पृ० २७२–२८२)।

२३. राजानक महिमभट्ट प्रणीत व्यक्तिविवेक

यह रचना त्रिवेन्द्रम सीरीज़ (१९०९) से टीका सहित प्रकाशित हुई है और यह टीका द्वितीय विमर्श के मध्य में समाप्त हो जाती है। महिमभट्ट ने ध्वन्यालोक के ध्वनि-सिद्धान्त का प्रत्याख्यान करने के लिए व्यक्तिविवेक की रचना की। महिमभट्ट ने ध्वन्यालोक में निरूपित शब्दों की तीन शक्तियों अभिधा, लक्षणा और व्यंजना में से व्यंजना का खंडन किया है। साथ ही उसने इस बात का भी खंडन किया है कि व्यंजनाशक्ति से भाव ध्वनित होते हैं। इनके

मंत में शब्दों की एकमात्र शक्ति अभिधा ही है। प्रतीयमान अर्थ का जो बोध होता है वह वाच्चार्थ से ही अनुमानित होता है। शब्द और अर्थ में व्यंग्य-व्यंजक भाव मानना उपयुक्त नहीं। रस काव्य की आत्मा है, इस मत का महिम-भट्ट ने विरोध नही किया। जैसाकि ध्वन्यालोक में आया है "वाच्यस्तदनुमितो वायन्नार्थोऽर्थान्तरं प्रकाशयति। संवन्धतः कुतश्चित्सा काव्यानुमितिरित्युक्ताः ।।इति। एतच्चानुमानस्यैव लक्षणं नान्यस्य। यदुक्तं 'त्रिरूपलिंगाख्यानंपरार्थानानुमानं' इति। केवलं संज्ञाभेदा। काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न वस्यचिद्विमतिः। संज्ञायां सा केवलमेषापि व्यक्तयोगतोस्य कुतः ।। (व्यक्ति विवेक पृ० २२) इसका अंतिम श्लोक इस प्रकार है : 'प्राणभूताः ध्वनेर्व्यक्तिरिति सैव विवेचिता। यत्वन्यत्तत्र विमितिः प्रायो नास्तीत्युपेक्षितम्'। अलंकारसर्वस्व के १५वें पृष्ठ पर उल्लिखित वाच्यस्तदनु-मितोवा०' इस श्लोक को जयरथ ने व्यक्तिविवेक से लिया हुआ माना है। इस सिद्धान्त का सर्व प्रथम पुरस्कर्ता महिमभट्ट को ही मानना उपयुक्त नहीं है। ध्वन्यालोक में पहले ही इस मत का पूर्वपक्षी के रूप में उल्लेख करके उसका उत्तर देने का प्रयत्न किया गया है। 'अस्त्यभिसंधानावसरे व्यंजकत्वं शब्दानां गमकत्वं तच्च लिंगत्वमतश्च व्यंग्य प्रतीतिर्लिङ्गप्रतीतिरेवेति लिङ्गलिङ्गि-भाव एव तेषां व्यंग्यव्यंजकभावो नापरः कश्चित्...न पुनरयं परमार्थो यद् व्यंजकत्वंलिंगत्वमेव सर्वत्र व्यंग्यप्रतीतिश्च लिंगप्रतीतिरेवेति।...काव्यविषये च व्यंग्यप्रतीतीनां सत्यासत्यनिरूपणस्याप्रयोजकत्वमेवेति तत्र प्रमाणान्तर व्यापार परीक्षोपहासयैव सम्पद्यते। तस्माल्लिंगिप्रतीतिरेव सर्वत्र व्यंग्यप्रतीति-रिति न शक्यते वक्तुम्।' व्यक्तिविवेक में भक्तिवादियों (गुणवृत्तिवादी उपचार या लक्षणावादी) के तर्कों की व्याख्या की गई है और व्यञ्जकत्व को उससे भिन्न नहीं माना गया है(दे० ध्वनि० पृ० ५९, ६७ तस्यादन्यो ध्वनिरन्या च गुण-वृत्तिः)। मल्लिनाथ के तरल (पृ० २५, १९१—१९७) के अनुसार शंकुक भी अनुमानवादी थे। महिमभट्ट के मतों की अलं० स० (पृ० १५.१६) और एकावली में तथा अन्य लेखकों द्वारा[1] कड़ी आलोचना की गई है। एकावली में कहा गया है : 'यद्पुनरनुमानतोनातिरिच्यते ध्वनिरित्याचष्ट महिमभट्टस्तदपि

---

1. आरंभिक टीकाकार माणिक्यचन्द्र तथा सोमेश्वर ने काव्यप्रकाश, के निम्न अवतरण (ननुवाच्यादसम्बद्धं तावन्नप्रतीयते, पृ० २५२—५४ वामनाचार्य संस्करण) को स्पष्टतः महिमभट्ट निरूपित नहीं कहा है। परन्तु गोविन्द ठक्कुर तथा अन्य परवर्ती लेखकों ने ऐसा किया है। अतः यह कहना कुछ संदिग्ध है कि काव्यप्रकाश में व्यक्तिविवेक की आलोचना हुई है।

पलालायमानम् (अर्थात् निःसार) अनुमानस्य चाङ्गंव्याप्तिः' और यह स्थापना की गई है कि शब्दार्थ साधन (या हेतु) तथा ध्वनि (या साध्य) में कोई सतत संबन्ध नहीं है। व्यक्तिविवेक तीन भागों में विभक्त है, इन्हें विमर्श कहा गया है। प्रथम विमर्श के प्रथम श्लोक में लेखक ने इस प्रकार प्रतिज्ञा की है : 'अनुमानान्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्। व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम् ॥' प्रथम ध्वनि की व्याख्या इस प्रकार दी गई है: 'यत्रार्थः शब्दो वा०' (ध्वनिका० १.१३) और उसमें दोष दिखाये गये हैं और कहा गया है कि यदि इन दोषों को निकाला जाय तो यह परिभाषा अनुमान पर घट सकती है। ध्वनि की उपरोक्त परिभाषा पर महिमभट्ट का प्रथम आक्षेप यह है कि अर्थ शब्द को उपसर्जनीकृतात्मत्व विशेषण लगाना उपयुक्त नहीं है। दूसरा आक्षेप यह है कि लक्षण में शब्द इस शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिए। क्योंकि शब्द का अभिधा के अतिरिक्त अन्य कोई व्यापार नहीं होता। तीसरा आक्षेप वा अवयव के बारे में है। काव्य-विशेष या समासगत विशेष इस शब्द पर भी उसका आक्षेप है। क्योंकि ध्वनिकार के मतानुसार किसी भी प्रकार का काव्य क्यों न हो, उसमें इसकी आत्मा के रूप में स्थिति रहती ही है। (ध्व० लो० पृ० २५६)। महिमभट्ट के मत में सूरिभिः शब्द भी अनावश्यक है। इस प्रकार उन्होंने कुल १० दोष गिनाये हैं। उन्होंने कहा है 'अर्थस्य विशिष्टत्वं शब्दः सविशेषणस्तदः पुंस्त्वम्। द्विवचन वा शब्दौ च व्यक्तिर्ध्वनिनाम काव्यवैशिष्ट्यम्' ॥ वचनं च कथनकर्तुःकथिताध्वनिलक्ष्मणीतिदशदोषाः। (पृ० २१–२२) उनके निजी कथन का आशय यह है :—'सर्वंएवहिशाब्दो व्यवहारः साध्यसाधनभावगर्भतया प्रायेणानुमानरूपोऽभ्युपगन्तव्यः; तस्य परमप्रवृत्तिनिवृत्तिनिबन्धनत्वात् तयोश्च सप्रत्ययासप्रत्यामात्मनोरन्यथा-कर्तुमशक्यत्वतः (पृ० ३) तथा यह भी कहा है : 'अर्थोऽपि द्विविधो वाच्योऽनु-मेयश्च। तत्र शब्दव्यापारविषयो वाच्यः। स एव मुख्य उच्यते।···तत एव तदनुमिताद्वालिंगभूताद्यदर्थान्तरमनुमीयते सोऽनुमेयः। स च त्रिविधः, वस्तुमात्रम-लंकाररसादयश्चेति। तत्राद्यौ वाच्यावपिसंभवतः। अन्यस्त्वनुमेय एवेति वक्ष्यते।' (पृ० ७) उसके मतानुसार शब्द के वाच्य और अनुमेय दो अर्थ निकलते हैं। दूसरे लेखकों द्वारा निरूपित लक्षणा अनुमान के अन्तर्गत आती है। उदाहरणार्थ, सुवर्ण पुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः' (ध्व० लो० पृ० ५८ पर अविपक्षितवाच्य ध्वनि का उदाहरण), पत्युःशिरश्चन्द्रकलामनेन (ध्व० पृ० २६७), एवंवादिनि देवर्षौ (ध्व० पृ० १२४) इन श्लोकों में प्रतीय-मान अर्थ अनुमान के अन्तर्गत ही आयेगा। 'अत्रहि सर्वत्र सुलभाः विभूतयः

शूरादीनामित्ययमर्थोऽनुमीयत इत्येतद्वितनिष्यते' (क० वि० पृ० ९) वाच्य अर्थ तथा प्रतीयमान अर्थ में लिंग लिङ्गिभाव होता है अतः वाच्य से प्रतीयमान तक आने की प्रक्रिया का तात्पर्य अनुमान ही है।' वाच्य प्रतीयमानयोर्वक्षमाणक्रमेण लिंगलिङ्गिभावस्य समर्थनात्सर्वस्यैव ध्वनेरनुमानान्तर्भावः समन्वितो भवति तस्य च तदपेक्षया महाविषयत्वात्। (क० वि० पृ० १२) वह ध्वनिकार के इन शब्दों पर ही विशेष बल देता है कि जब मुख्यार्थ ध्वनि होता है तभी वह अधिक रमणीय प्रतीत होता है। साररूपोह्यर्थः स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रकाशितः सुतरां शोभामावहति' (ध्व० पृ० ३००) ध्वन्यालोक में निरूपित ध्वनि के अनेक उदाहरणों में प्रदर्शित तात्पर्यभूत व्यंग्यार्थ सीधे वाच्यार्थ से सूचित नहीं होता वरन् वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ इन दोनों के बीच अनुमान की एक या एक से अधिक सीढ़ियां लांघनी पड़ती हैं। (उदाहरणार्थ, वाणि अअ हत्थिदन्ता०' (ध्वन्यालोक पृ० १५७) 'गोर्वाहीकः' काल में तात्पर्यार्थ की प्रतीति अनुमान से ही होती है। कारण 'वाहिक' और बैल वास्तव में एक नहीं हो सकते अतः उनमें समान धर्म है, यह तात्पर्य अनुमान द्वारा ही निकाला जाता है। 'तस्माद्योयं वाहीकादौ गवादिसाधर्म्यविगमः सः तत्वारोपान्यथानुपपत्ति परिकल्पितोऽनुमानस्यैव विषयः न शब्दव्यापारस्येति स्थितम्' (पृ० २४) 'गंगायांघोषः' इस वाक्य के लिए भी यही हेतु प्रस्तुत किया गया है। उन्होंने प्रतिपादित किया है कि ध्वनिकारिकागत शब्दों को थोड़े भिन्न अर्थ में लिया जाय तो ध्वनि का अर्थ भक्ति ही होगा। भक्त्या बिभर्ति चैकत्वं रूपाभेदादयं ध्वनिः। न च नाव्याप्त्यतिव्याप्त्योरमावाल्लक्ष्यते तया॥ सुवर्णपुष्पामित्यादौ न चाव्याप्तिः प्रसज्यते। यतः पदार्थवाक्यार्थभेदाद्भक्तिर्द्विधोदिता॥ अतस्मिंस्तत्समारोपो भक्तेर्लक्षणमिष्यते। अर्थान्तरप्रतीत्यर्थः प्रकारः सोपि शष्यते।' (वि० पृ० २६ की ध्वनिकारिका १.१७ पृ० ५९–६१ से तुलना कीजिए) शब्द की एक ही व्यापक वृत्ति होती है वही वाच्य और व्यंग्य दिखा देती है। वाण का उदाहरण देकर इसका प्रतिपादन करने वाले भट्ट प्रभाकर आदि के मतों का महिमभट्ट ने खंडन किया है। (पृ० २७–२८) वक्रोक्तिजीवितकार (कारिका, १.७–८ शब्दार्थौ सहितौ वक्र०) के मत का भी इन्होंने खंडन किया है। कविप्रयुक्त चमत्कृतिजनक शब्दों से सूचित होने वाला अर्थ यदि उस सरल वाच्यार्थ से भिन्न है तो वक्रोक्ति का भी ध्वनि के समान ही अनुमान में अन्तर्भाव करना पड़ेगा (पृ० २८) उनका यह निश्चित मत है कि अभिधा ही शब्द की एकमात्र अर्थद्योतक शक्ति है, अन्य कोई नहीं है। नापि शब्दस्याभिधाव्यतिरेकेण व्यापारान्तरमुपपद्यते येनार्थान्तरं' प्रत्याययेत्, व्यक्तेरनुपपत्तेः

सम्बधान्तरस्य चासिद्धेः। (पृ० २९) ध्वनिकार ने सामान्यतः काव्य का लक्षण तो नहीं दिया परन्तु ध्वनि तथा गुणीभूत व्यंग्य––इन काव्य के दो प्रकारों का सविस्तार विवेचन किया है, इस बात पर महिमभट्ट ने उसका उपहास किया है। 'किं च काव्यस्य स्वरूपमुत्पादयितुकामेन मतिमता तल्लक्षणमेव सामान्येनाख्यातव्यम्···यत्तु तदनाख्यायैव तयोः प्रधानेतरभावकल्पनेन प्रकारद्वयमुक्तं तदप्रयोजकमेव। (पृ० ३२) महिमभट्ट ने ध्वनिकार निरूपित (पृ० ३५) अविवक्षित वाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य इन दो संज्ञाओं को भी सदोष बताया है। इनके मत में विवक्षितवाच्य के 'अग्निर्माणवकः' जैसे उदाहरण भक्ति के ही होंगे। और यदि कोई अर्थ विवक्षित अर्थात् प्रधान होगा तो अन्य पर नहीं कहलायेगा अतः 'विवक्षितान्यपरवाच्य' संज्ञा ही असंगत है।

दूसरे विमर्श में उन्होंने अनौचित्य दोष पर विचार किया है। यह दो प्रकार का होता है—१. अर्थविषयक, २. शब्द विषयक। अर्थ विषयक अनौचित्य तब होता है जब विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों का नियोजन अनुपयुक्त रीति से करके रस-निष्पत्ति का प्रयत्न किया जाता है। और इसकी व्याख्या इनके पूर्ववर्ती आनन्दवर्धन आदि लेखकों ने की है। बहुरंग अनौचित्य के पांच भेद हैं—विधेयाविमर्श, प्रक्रमभेद, क्रमभेद, पौनरुक्त्य और वाच्यावचन। सम्पूर्ण द्वितीय विमर्श (पृ० ३७–११२) इन पांच दोषों की व्याख्या और उदाहरण से भरा हुआ है। बीच-बीच में अन्य विषयों की चर्चा भी हो गई है। प्रथम दोष विधेयाविमर्श का पृ० ३७–५८ पर विवेचन हुआ है। इन्होंने वक्रोक्तिजीवित (पृ० १७) के इस श्लोक को निर्दोष काव्य के उदाहरण-स्वरूप लिया है। 'संरम्भः करिकीटमेघशकलोद्देशेन सिंहस्य यः सर्वस्यैव स जातिमात्रनियतो हेवाकलेशः किल। इत्याशाद्विरदक्षयाम्बुदघटाबन्धेप्यसंरब्धवान् योसौ कुत्र चमत्कृतेरतिशयं यात्वंबिकाकेसरी'—इसमें महिमभट्ट के अनुसार विधेयाविमर्श दोष तीन बार आया है। प्रथम दोष यह है कि इसमें असंरब्धवान्, यह अनुपयुक्त नञ् समास आया है। दूसरा दोष यह है कि इस पद्य में जो सम्बन्धवाचक सर्वनाम 'योसौ' है इसकी जोड़ी में संबंध दर्शक 'सः' सर्वनाम नहीं है। तीसरा दोष यह है कि अम्बिका केसरी समास अनुपयुक्त है क्योंकि अम्बिका शब्द-समास में आकर गौण बन गया है। अतः इसका अर्थ भी गौण हो गया है। और वह एकदम प्रमुख रूप में दिखाई नहीं देता (कवि का उद्देश्य अम्बिका की प्रमुखरूप में स्तुति करने से था। उन्होंने इन दोषों को दूर करने के लिए पठन-क्रम सुझाया है (पृ० ५७)। विधेयाविमर्श के विषय

में उनके विचार संक्षेप में इन शब्दों में प्रस्तुत किए गए हैं, 'तदिदमत्र तात्पर्यं यत् कथंचिदपि प्रधानतया विवक्षितं न तन्नियमेनेतरेण सह समासमर्हतीति। इतरच्च विशेष्यमन्यद्वास्तु न तत्र नियमः।' (पृ० ५२) महिमभट्ट ने दोनों प्रकार के ऐसे बहुत-से उदाहरण प्रस्तुत किए हैं जिनमें बड़े-बड़े कवियों द्वारा इन नियमों का पालन किया गया है तथा जिनमें इनका उल्लंघन किया गया। साथ ही उन्होंने यह सुझाव दिया है कि पद्य-रचना किस प्रकार की जानी चाहिए। जिनमें इन नियमों का पालन हुआ है, वे उदाहरण निम्नलिखित हैं: 'सूर्याचन्द्रमसौ यस्य मातामहपितामहौ।' (विक्रमो० ४·३८); अंगराज, सेनापते, द्रोणोपहासिन आदि (वेणी० ३); रामस्य पाणिरसि दुर्वहगर्भखिन्न० (उत्तरराम० २)। इससे विपरीत उदाहरण निम्नलिखित हैं:—'आसमुद्रक्षितीशानाम्' (रघु० १ यह इस प्रकार होना चाहिए—आसमुद्रात्); 'पृथ्वि-स्थिरा भव···देवः करोति हरकार्मुकमाततज्यम्' (बाल-रामायण १·४८; साहित्यद० में अर्थान्तर० के अन्तर्गत उद्धृत)—यहां पर 'देवो धनुः पुररिपोर्विदधात्यधिज्यम्' पाठ अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य 'हर' का धनुष है। प्रक्रमभेद का विवेचन पृ० ५८-६६ तक हुआ है। 'प्रक्रमभेदोऽपि शब्दानौचित्यमेव। स हि यथा प्रक्रममेकरसप्रवृत्तायाः प्रतिपत्ति-प्रतीतेरुत्खात इव परिस्खलनखेददायी रसभंगाय पर्यवस्यति।···स चायमनन्त प्रकारः संभवति प्रकृति प्रत्ययपर्यायादीनां दद्विषयभावाभिमतानामानन्त्यात्' (पृ० ५८) और यथोद्देशं हि प्रतिनिर्दोषोस्य विषयः (पृ० ५९) दोष के उदाहरण इस प्रकार हैं ('ते हिमा...सिद्धं चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः॥ (कुमार० ६·२४, अस्मै के लिए तत् के स्थान पर उस जैसा ही अन्य सर्वनाम चाहिए); 'उदन्वच्छिन्ना भूः स च निधिरपां योजनशतं' भर्तृहरि (मिता भूः पत्यापां स च पतिरपां आदि अधिक उपयुक्त है); 'गाहन्तां महिषा' (शाकुन्तल २·६ गाहन्तां, अभ्यस्यतु और लभतां इन कर्तृ रूपों के लिए तीसरे चरण में भी यही रूप होना चाहिए अतः 'कुर्वन्त्वस्तभियोवराहततयोमुस्ता०' पाठ उपयुक्त होगा। फिर भी कर्तृप्रक्रम भेद (अर्थात् प्रथम और मध्यम पुरुष के लिए अन्य पुरुषक का प्रयोग) दोष नहीं वरन् गुण है, उदाहरणार्थ, 'अयं जनः प्रष्टुमनास्त-पोधने' (इसमें 'अहं' के लिए आया है, कुमार० ५)। प्रथम भेद का विवेचन पृ० ६६·६९ में हुआ है। इसका उदाहरण है: 'कला च सा कान्तिमतीकलावत-स्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी' (कुमार० ५ ७१ इसमें द्वितीय च 'त्वम्' के बाद आना चाहिए)। पौनरुक्त्य का विवेचन पृ० ६९–८४ पर हुआ है। यदि

शब्दों का आशय भिन्न-भिन्न हो तो 'शब्द पुनरुक्तत्व' दोष नहीं कहलाता, उदाहरणार्थ, 'हसति हसति स्वाभिन्नयुच्चैरुदत्यपिरोदिति' इसमें हसति शब्द दो बार आया है वह एक बार तृतीय पुरुष का एकवचन रूप हैं और दूसरी बार सप्तमी का एकवचन अतः इसमें पौनरुक्त्य दोष नहीं होगा। यदि दुबारा आये हुए शब्द का आशय भी वही निकले तो भी इसमें दोष न होकर लाटानुप्रास नामक अलंकार की स्थिति होगी। (अन्य उदाहरण हैं : वस्त्रायन्ते नदीनां सितकुसुमधराः शक्रसङ्काशकाशाः काशाभा भान्ति तासां नवपुलिनगताः श्रीनदी हंसहंसाः' वामनीयवृत्ति ४·१·१०) आर्थ पौनरुक्त्य के उदाहरण निम्न हैं : विसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः' (मेघ०) 'त्वगुत्तरासङ्गवती मधीतिनीम् (कुमार० ५·१६) इनमें 'वत्' प्रत्यय अनावश्यक है क्योंकि यही आशय बहुव्रीहि समास के द्वारा ग्रहण किया जा सकता है। 'गेयस्य' के वाद प्रयुक्त 'इव' शब्द भी इसमें अनावश्यक लगता है। (पृ० ७२)—'वर्णैः कतिपयैरेव ग्रथितस्य स्वरैरिव। अनन्ता वाङ्मयस्याहो गेयस्येव विचित्रता ।। इसके स्थान पर उपयुक्त पाठ इन्होंने इस प्रकार सुझाया है 'गेयस्य वाङ्मयस्याहो अपर्यन्ता विचित्रता ।।' वाक्यार्थ विषयपौनरुक्त्व का उदाहरण है : 'सहसा विदधीत न क्रियां' (किरात० २·३०) इसमें द्वितीय अर्धांश 'अविवेकः परमापदां पदं' का भी वही आशय है। 'यदायदाहिधर्मस्य' (गीता० ४–७) में भी पुनरुक्तत्व है क्योंकि 'अभ्युत्थानमधर्मस्य का अर्थ भी 'धर्मस्यग्लानि' ही है। पुनरुक्त के विषय में महिमभट्ट ने 'कहा है' न च सामर्थ्य सिद्धेऽर्थे शब्दप्रयोगमाद्रियन्ते सत्कवयः' (पृ० ७७) तथा साः (प्रतीति) यावद्भिरुपजायते तावतामेव प्रयोगो युक्तो नातिरिक्तानाम् ।' (पृ० ७८) इस टीका में ठीक ही गया है कि काव्य का कारण सूत्र नहीं है (नहीदं वाक्यं लक्षणशास्त्रं येन मात्रालाघवं चिन्त्यते। तत्रापिवा न नियमेन लाघवामाश्रितं महद्भिः। पृ० ४४) जहां कहीं विशिष्ट अर्थ का बोध होता है वहां पौनरुक्त्य दोष नहीं होता, उदाहरणार्थां कुर्या हरस्यापि पिनाकपाणेः।' (कु० सं० ३.१०) पंचमदोष वाच्यावचन का पृ० ८४–१०९ पर विवेचन किया गया है। इसका एक उदाहरण है 'कमलमनंभसि, कमले कुवलये' 'इत्यादि। इसमें कमल के स्थान पर 'तस्मिश्च कुवलये' सर्वनाम होना चाहिए। क्योंकि इसमें पहला कमल और दूसरा कमल एक ही वस्तु के वोधक हैं। जहां एक अलंकार आसानी से आ गया हो उसे हटाकर दूसरा लाने का प्रयत्न करना इनके मत में वाच्चावचनदोष होता है। 'यत्रान्यस्यालंकारस्यविषयेऽलंकारान्तरनिवंधःसोपिवाच्यावचनंदोषः' (पृ० ८६) इसका उदाहरण है—'भैरवाचार्यस्तु दूरादेवदृष्ट्वा राजानं शशिनमिव जलनिधिश्चचाल, (हर्षचरित ३.२०) इसमें

'राजानम्' शब्द से 'शशिनं' का आशय निकलता है और यह श्लेषालंकार का उपयुक्त स्थान है उपमा का नहीं, जैसाकि कवि ने दिखाया है। श्लेष के विषय में महिमभट्ट के विचार हैं—'तस्मादर्थान्तर व्यक्तिहेतौ कस्मिंश्च नासमि। यः श्लेष-वन्धनिर्वन्धः क्लेशायैव कवेरसौ'॥ (पृ० ८९) श्लेष के लिए श्लेष की रचना करना इनके मत में वाच्चावचनदोष होगा। इन्होंने आनंदवर्धन के ध्वन्यालोक (पृ० १२३) में उल्लिखित पद्य (सर्वैकशरणमक्षयमधीशमीशं) में वाच्चावचन-दोष वताया है (पृ० ९५)। ध्वन्यालोक में उद्धृत शब्दशक्ति मूलध्वनि के अन्य अनेक उदाहरणों में भी इन्होंने यही दोष निकाला है। अपने कथन का उपसंहार करते समय इन्होंने लिखा है कि वड़े-वड़े कवियों ने भी इस दोष की ओर ध्यान नहीं दिया है। 'उमावृषाङ्कौशरजन्मनायथा' (रघुवंश ३.२३) इसमें इन्होंने पौनरुक्त्य, प्रक्रम भेद और अवाच्यवचन ये तीन दोष वताये हैं। प्रथम ध्वनिकारिका के पद्य 'काव्यस्यात्माध्वनिरिति' को भी सदोष माना है। इसमें 'इति' शब्द 'आत्मा' के वाद नहीं रखा गया अतः यहां प्रक्रम भेद दोष है, इसीमें पौनरुक्त्य दोष भी हैं क्योंकि 'वुधैः' और 'पूर्वं' इन दो शब्दों का उल्लेख अनावश्यक है। (समाम्नात शब्द स्वयं भूतकाल का द्योतक है अतः इसमें 'पूर्वं' शब्द का कथन अनावश्यक है) इस प्रकार अनेक दोषों को दिखाते हुए उनके शुद्ध पाठ का भी इन्होंने निरूपण किया है और अंत में इन्होंने अपने विचार-संक्षेप में किन्तु दृढ़ता के साथ इस प्रकार प्रस्तुत किये हैं। व्यक्तिविवेक के ११२ पृष्ठ पर इन्होंने ध्वन्यालोक के प्रथम श्लोक का शुद्ध पाठ इस प्रकार वताया है: 'तेनवरमयमत्र पाठः श्रेयानल्पदोषत्वात्। काव्यस्यात्मेत्यमलमतिभिर्यो ध्वनि-र्नाम गीतस्तस्याभावं जगदुरपरे भक्तिरित्येवमन्ये। केचिद्वाचाम विषय इति प्रस्फुरत्तत्वमन्तस्तेनब्रूमः सहृदयजनप्रीतये तत्स्वरूपम् इति॥...तस्मात्स्थितमेत-द्यथा शब्दस्याभिधानमन्तरेण न व्यापारान्तरं संभवतीति। गमयन्त्यर्थमुखेन हि सुप्तिङ्वचनादयोऽपरानर्थान्। तेन ध्वनिलक्ष्मविधौ। शब्दग्रहणं विफलमेव॥ इतिसंग्रहार्या।

तृतीय विमर्श में ध्वन्यालोक के लगभग ४० श्लोक लेकर इन्होंने यह वताने का प्रयत्न किया है कि इनका अंतर्भाव अनुमान में ही हो जाता है। उदाहरणार्थ मम धम्मिअ (ध्व० पृ० १९) इस पद्य में अनुमान के अतिरिक्त कुछ नहीं है। 'केवलं योसौ भ्रमणविधौ हेतुभावेन दृप्तपंचाननव्यापारस्तत्रोपात्तः स एव विमृश्यमानः परम्परया धार्मिकस्य तन्निषेधे पर्यवस्यति तयोर्वाध्यवाधकभावेनाव-स्थानात्' (पृ० ११३)। रसों के वारे में भी उसने कहा है कि उनकी अनुभूति

अनुमान के अन्तर्गत ही आती है। 'यापि विभावादिभ्यो रसादीनां प्रतीतिः सानुमान एवान्तर्भावमर्हति । विभावानुभावव्यभिचारिप्रतीतिर्हि रसादिप्रतीतेः साधनमिष्यते' (पृ० ११९)। महिमभट्ट ने अपने मत का उपसंहार इस प्रकार किया है: तदेवं सर्वस्यैव ध्वनेरनुमानान्तर्भावाभ्युपगमः श्रेयानिति।' (पृ० १३७)

राजानक पदवी से स्पष्ट होता है कि महिमभट्ट काश्मीर के निवासी थे। उनके पिता का नाम श्रीधैर्य था और वे श्यामल नाम के एक बड़े कवि के शिष्य थे। क्षेमेन्द्र ने अपनी सुवृत्ततिलक और औचित्यवि० में श्यामल के पद्यों को उद्धृत किया है और सुभाषितावलि (संख्या २२९२) में भी ये मिलते हैं। श्यामिलक पादताडिक (दे० अ० भा० भाग १, पृ० १७८) नामक भाण का लेखक है जिसका संपादन श्री कवि ने किया है। महिमभट्ट ने अपना ग्रन्थ भीम के पुत्रों के लिए लिखा। भीम संभवतः उसका दामाद था 'आधातुं व्युत्पत्तिं नप्तॄणां क्षेमयोगभाजानाम्। सत्सु प्रथितनयानां भीमस्यायितगुणस्य तनयानाम् ॥' संभवतः 'क्षेमयोग भाजानाम्' शब्द द्व्यर्थक है। क्षेम, योग, भाज (?) संभवतः महिमभट्ट के दौहित्र थे। यदि वे उसके पोते होते तो रचनाकार पौत्राणां शब्द का प्रयोग छन्द को विगाड़े विना ही कर सकता था। महिमभट्ट ने काव्यशास्त्र पर तत्त्वोक्तिकोश नाम का एक अन्य ग्रन्थ भी लिखा है: 'इत्यादि प्रतिभातत्त्वमस्माभिरूपपादितम्। शास्त्रे तत्त्वोक्तिकोशाख्ये इति नेह प्रपंचितम् ॥' (पृ० १०८) उसकी रचना अलंकार विषयक साहित्य पर लिखी गई महत्त्वपूर्ण रचनाओं में से है। इसे अप्रसिद्धि अथवा उपेक्षा के गर्त से निकालना चाहिए। उसकी रचना महिमभट्ट के बुद्धिमत्तापूर्ण तर्क, विद्वत्ता, संवद्ध आलोचना शक्ति तथा रचयिता की गहन विचारशक्ति की परिचायक है। अलंकार विषयक परवर्ती लेखकों में से किसी ने उसका अनुसरण नहीं किया और ख्यातिलब्ध आनन्दवर्धन की तुलना में उसे अपेक्षित श्रेय नहीं मिला। उसने अपने शब्द दोष संवंधी विचारों पर लगाए गए सभी आक्षेपों का उन्मूलन यह कहकर किया है: 'स्वकृतिष्वयन्त्रितः कथमनुशिष्यादन्यमयमिति न वाच्यम्। वारयति भिषगपथ्यादितरान् स्वयमाचरन्नपि। (पृ० ३७) ऐसा प्रतीत होता है कि महिमभट्ट वहुत अभिमानी तथा आत्मविश्वासी भी थे (पृ० ९७ अत्रोदाहरण प्रत्युदाहरण प्रतीत्योर्यदन्तरं तन्मतिमतामेवावभासते, अन्येषां तु शपथप्रत्येयमेव'; पृ० १०९ 'ता एता दोषजातयो महाकवीनामपि दुर्लक्षा इत्यवसीयन्ते')। ऐसा प्रतीत होता है कि रस को अनुमेय मानने में उसने शंकुक का अनुसरण किया है। उसके मतों की साहित्यदर्पण (५.४) में विस्तृत तथा कड़ी आलोचना की

गई है। (एकावली पृ० ३२ भी देखिए) महिमभट्ट ने प्राय: पाणिनी के मतों का आचार्य के नाम से उल्लेख किया है (पृ० ५५) पर्युदास और प्रसज्यप्रतिषेध इन विपयों पर इन्होंने वहुत विद्वत्तापूर्ण चर्चा की है (पृ० ३८–३९) अनेक वार इन्होंने दूसरों के मतों का 'तदुक्तम्' 'यदाहु:' आदि शब्दों द्वारा उल्लेख किया है। (पृ० ६, ७, ८२, १२१) इन्होंने संग्रहश्लोक अथवा संग्रह[1]आर्या इस नाम से अनेक पद्य दिये हैं जिनमें पूर्ववर्ती गद्य का सारांश आ जाता है (पृ० ६, १४, १८, २२–२३, २६, ३२, ३४–३५, ५६ आदि)। संग्रहश्लोकों की संख्या १४६ हैं इनमें से पांच आर्या हैं। इनमें से कतिपय किसी विषय पर पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष के रूप में श्लोक आये हैं। ये सभी संग्रहश्लोक इनकी निजी रचनाएं हैं। अन्य स्थानों पर इन्होंने अन्तरश्लोक अथवा अन्तरार्या के रूप में कतिपय श्लोक दिये हैं (पृ० २८, ३९, ४६, ५४, ८५–८६, ९७, १०९, ११०, १३६)। संग्रहश्लोकों में पूर्ववर्ती विवेचन का सारांश दिया होता है तो अंतरश्लोकों में उस विवेचन को समृद्ध किया जाता है। एक स्थान पर (पृ० ९७) अंतरश्लोक इनकी निजी रचनाएं प्रतीत नहीं होती। उदाहरणार्थ दो पद्य लीजिए: 'अनुवाद्य-मनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत्।' 'विधेयोद्देशभावोऽयम्'। अलंकार-विवेचन प्रसंग में उन्होंने कतिपय स्थलों पर कारिकाएं दी हैं, ये संग्रहश्लोक अथवा अंतरश्लोक के अन्तर्गत नहीं आती (पृ० ७४, ७६, ७७, १०८)। इनकी रचना संभवत: इन्होंने स्वयं की हो। इन्होंने प्रचुरमात्रा में कालिदास, भरत, भारवि की रचनाओं तथा ध्वन्यालोक से उदाहरण लिये हैं। इन्होंने उत्तररामचरित, उद्भट, चन्द्रिका (भूमिका पद्य ५), वालरामायण, (पृ० ४०, ५०), भल्लट, भामह, माघ, रत्नावली, लोचन वक्रोक्तिजीवित, वामन, वेणिसंहार, विद्धशाल-भंजिका (पृ० ८५) हर्षचरित हृदयदर्पण (भूमिका, पद्य ४) आदि से उद्धरण ग्रहण किये गये हैं। व्यक्तिविवेक के मतों का सार अलंकारसर्वस्व में दिया है अत:

---

1. पृ० ९८ पर तीन संग्रहश्लोक दिये गये हैं जिनमें से प्रथम श्लोक 'येन यस्या संवन्धौ दूरस्थेनापि तेन स:। पदानां समासानामानन्तर्यमकारणम्॥ उदाहरण प्रतीत होता है। तन्त्रवार्तिक (जै० ३ १.२७) में कहा गया है: 'दूरस्थत्वादशक्योऽस्योपसंहार इति चेत् न। यस्य येनार्थसंवन्ध इति न्यायात्' (पृ० ७४४ आनंद संस्करण)। संपादक ने पूरा श्लोक इस प्रकार दिया है: 'यस्य येनार्थसंवन्धो दूरस्थेनापि तस्य स:। अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम्॥' अभिनवभारती भाग, १. पृ० २१० पर 'तथापि यस्य येनार्थसम्बन्ध इत्यर्थक्रमआदर्तव्यो न शब्द:' इस न्याय का उल्लेख किया गया है।

महिमभट्ट का समय ई० सन् ११०० से पूर्व निर्धारित होता है। उसने स्वयं वालरामायण और विद्धशालभंजिका के उद्धरण लिये हैं तथा वक्रोक्तिजीवित और लोचन की आलोचना की है (पृ० १९ लोचन के पृ० ३८–३९ का अवतरण उद्धृत है) अतः इसका समय ई० सन् १०२० के उपरान्त रहा होगा। सरस्वती तीर्थ, गोविन्द ठक्कुर तथा काव्यप्रकाश के अन्य टीकाकारों का कहना है कि मम्मट ने पांचवे उल्लास में यद्यपि महिमभट्ट का स्पष्ट नाम नहीं लिया गया है, तो भी व्यक्तिविवेक के सिद्धान्तों का खंडन किया गया है। 'ननु वाच्यादसंवद्धं तावन्न प्रतीयते' इत्यादि काव्यप्रकाशगत (उल्लास ५, पृ० २५२) विवेचन व्यक्तिविवेक के (पृ० १५ और १११) एतद्विषयक विवेचन से मिलताजुलता है। ७वें उल्लास में काव्यप्रकाशकार ने दोषों का विवेचन व्यक्तिविवेक के अनुसार ही किया है। वास्तविकता यदि ऐसी है तो महिमभट्ट का काल ई० सन् १०२० और १०५० के बीच का रहा होगा। यदि मम्मट द्वारा व्यक्तिविवेक का उल्लेख करना संदिग्ध माना जाय तो भी उसका समय १०२० से ११०० के बीच में निश्चित होता है। गोपाल काव्यप्रकाश की टीका में महिमभट्ट[1] के विषय में एक श्लोक लिखा है।

व्यक्तिविवेक की प्रकाशित टीका अपूर्ण है। यह टीका केवल दो विमर्शों पर ही है। लेखक का नाम नहीं दिया गया है। परन्तु इसका लेखक वही प्रतीत होता है जिसने अलंकारसर्वस्व की वृत्ति लिखी है। इस टीका में टीकाकार ने एक स्थान पर (पृ० ४४) हर्षचरित वार्तिक और दूसरे स्थान पर (पृ० ३२) साहित्य मीमांसा और नाटक मीमांसा का लेखक अपने-आपको वताया है। जवकि अलंकारसर्वस्व वृत्ति (पृ० ७७) के लेखक ने इन ग्रन्थों को स्वरचित वताया है। जयरथ (पृ० १३) के मत में अलंकारसर्वस्व (वृत्ति) कार ने व्यक्तिविवेक पर टीका लिखी है। 'व्यक्तिविवेक विचारे हि मयैवैतद्वितत्य निर्णीतमिति भावः'। व्यक्तिविवेक की टीका वहुत विद्वत्तापूर्ण है परन्तु मूल लेखक और टीकाकार (जोकि ध्वन्यालोककार का दृढ़ अनुयायी है) में मतभिन्नता है अतः वह अनेक स्थानों पर मूल लेखक (महिमभट्ट) की कड़ी आलोचना करता है। इसने तीसरे प्रस्तावनात्मक श्लोक (ध्वनिकारस्य वचो विवेचनं नः) में कहा है : 'यथास्थित पाठे तु ध्वनिकारस्येति वचः शब्दान्वितमिष्यमाणं प्राधान्याद्विवेचनशब्दान्वितं प्रतीयते। एतच्चास्य साहित्यविचार

---

1. रसामृतनदीमग्ने ध्वनिकारे महागुरौ। अनुमायापि महिमा काव्यगोष्ठीं न मुञ्चति॥ (पृ० ३)

दुर्निरूपकस्य प्रमुख एव स्खलितमिति महान् प्रमादः ।' महिमभट्ट की गर्वोक्तियों पर भी इसने आलोचना की है : (पृ० ४१) तदेतदस्य विश्वमगणनीयं मन्यमानस्य-स्वात्मनः सर्वोत्कर्षशालिताख्यापनमिति ।' (दे० पृ० ४४ भी) परन्तु टीकाकार ने महिमभट्ट को 'महामति' कहकर उचित सम्मान भी प्रदान किया है (पृ० १५, १६) इसमें टीकाकार ने निजी अनेक संग्रहश्लोक भी दिये हैं (पृ० ३) के श्लोक में मूल श्लोक का उत्तर प्रस्तुत है तथा पृ० १२ का श्लोक मूल ग्रन्थ के पृ० १४ पर उल्लिखित श्लोक का उत्तर है। पूर्ववर्ती भाष्यकारों का नाम 'केचित्' शब्द (पृ० ३२) द्वारा उल्लिखित है। इसने हर्ष और वाण के विषय में एक प्रसिद्ध श्लोक 'हेम्नो (हेम्नां) भार शतानि' का उल्लेख किया है तथा भर्तृमेण्ठ के विषय में भी एक अन्य श्लोक उद्धृत किया है। इसने बृहती नामक (पृ० ४५) ग्रन्थ की रचना करने का अपना विचार व्यक्त किया है। टीकाकार ने अक्षपाद, दण्डी (दण्डो ग्रन्थः पृ० ४७), धर्मकीर्ति का एक वार्तिक (पृ० ३४) उद्भट, ध्वनिकार, वक्रोक्तिजीवित, वामन, परिमल (पृ० ५३) सहृदय तथा-सौगताः (संस्कृत में पृ० ४१) का उल्लेख किया है। मूलपाठ के विषय में भी इसने अनेक स्थानों पर विवेचन किया है (पृ० ३३, ३५, ५१) में प्रक्षिप्तांश के विषय में निर्देश किया है। यह और अलंकारसर्वस्व की वृत्ति का लेखक एक ही हैं अतः इसका समय ११३५–११४५ ई० सन् के लगभग रहा है। सरयू नदी के तट पर चामुण्डसिंह राजा द्वारा लिखाई गई व्यक्तिविवेक की तिलकरत्ना नामक टीका है। इसके लिए दे० प्रो० एस० आर० भाण्डारकर की हस्तलिखित प्रतियों के अनुसन्धान से संबन्धित रिपोर्ट। यह अनुसन्धान राजपूताना और मध्यभारत में १९०४ से १९०५ और १९०५ से १९०६ के बीच में हुई, (पृ० ३९–४० तथा पृ० ८५–८७)।

२४. भोजरचित सरस्वतीकण्ठाभरण तथा शृङ्गारप्रकाश

सरस्वतीकण्ठाभरण अनेक बार प्रकाशित हुआ है (मि०. बुरुआह द्वारा बनारस में १८८७ में तथा के० एम० सीरीज़ में १९३४ में प्रकाशित हुआ)। इन पृष्ठों में के० एम० संस्करण (१९३४) से उद्धरण लिए गए हैं। यह जगद्धर (४) के राजा रामसिंह (परिच्छेद १–३) के आश्रय में लिखी गई टीका सहित प्रकाशित हुआ। सरस्वतीकण्ठाभरण एक बृहद्ग्रंथ है परन्तु यह अधिकांश रूप में संग्रहात्मक है। यह पांच परिच्छेदों में विभक्त है। इसके प्रथम परिच्छेद में काव्यप्रयोजन, काव्यलक्षण, काव्यभेद, १६ पददोष, १६

वाक्यदोष, १६ वाक्यार्थदोष, २४ शब्दगुण, २४ वाक्यार्थ गुण का निरूपण है। द्वितीय परिच्छेद में लेखक ने २४ शब्दालंकार, उदाहरणार्थ जाति, रीति, वृत्ति, छाया, मुद्रा, गुंफना, शय्या, यमक, श्लेष, प्रहेलिका आदि का विवेचन किया है। तृतीय परिच्छेद में २४ अर्थालंकारों, जाति, विभावना, हेतु, अहेतु, सूक्ष्म, उत्तर, विरोध, संभव, अन्योन्य, परिवृत्ति, निदर्शन, भेद, समाहित, भ्रांति, वितर्क, मीलित, स्मृति, भाव, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति और अभाव का निरूपण है। चतुर्थ परिच्छेद में २४ शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों का विवेचन किया गया है जिसमें उपमा, रूपक, साम्य, संशय, अपह्नुति, समाधि, समासोक्ति, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुतप्रशंसा, तुल्ययोगिता, लेश, (व्याजस्तुति जैसा ही) सहोक्ति, समुच्चय, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, विशेषोक्ति, परिकर, दीपक, क्रम, पर्याय, अतिशयोक्ति, श्लेष, भाविक और संसृष्टि का वर्णन है। पांचव परिच्छेद में रसों, भावों, नायक, नायिकाओं—उनके उपभेदों, विशेषताओं, पांच मुख-प्रतिमुख आदि संधियों, भारती आदि चार वृत्तियों का विवेचन है। कुल मिलाकर इसमें ६४३ कारिकाएं हैं। इनमें से कतिपय तो यथावत् रूप में काव्यादर्श, ध्वन्यालोक तथा अन्य रचनाओं से ली गई हैं। उदाहरणार्थ पाँचवें परिच्छेद की ५–६ कारिकाएं काव्यादर्श १.२१–२२ से मिलती हैं और पांचवें परिच्छेद की तीसरी कारिका (शृंगारी चेत् कविः) ध्वन्यालोक (पृ० २७८) में मिलती है। पांचवें परिच्छेद की प्रथम कारिका (रसोऽभिमानो-हंकारः शृंगार इति गीयते) अग्निपुराण के उपरोक्त (पृ० ८) पद्यों (३३८.१–४) से बहुत मिलती-जुलती है। इसी प्रकार सर०क० २.२, ३९, ७५, श्लोक लगभग ऐसे ही हैं जैसे अग्निपुराण के ३४१.१८–१९, २१ और ३४२. १०वें श्लोक। डा० डे ने जे० आर० ए० एस० १९२३ पृ० ५३७–४९ पर कहा है कि भोज अग्निपुराण का ऋणी है। मैं इस निष्कर्ष से सशंकित हूं। उनका कथन अनुपयुक्त है क्योंकि 'शृंगारी चेत्' यह श्लोक सरस्वतीकण्ठाभरण (५.३) और अग्निपुराण (३३८–११) इन दोनों में मिलता है जैसाकि ऊपर पृ० ७–८ पर बताया गया है।

सरस्वतीकण्ठाभरण में अधिकांश उद्धरण दंडी के काव्यादर्श से लिए गए हैं। लगभग २०० श्लोक काव्यादर्श के हैं। भामह से बहुत कम उद्धरण लिए गए हैं (उदाहरणार्थ सरस्वतीकण्ठाभरण १.१२९ पर दी हुई प्रसाद की परिभाषा भामह २.३ से ग्रहण की गई है।) सरस्वतीकण्ठाभरण में १५०० से अधिक उदाहरण पूर्ववर्ती कवियों से ग्रहण किए गए हैं इसलिए यह ग्रंथ संस्कृत-साहित्य की कालानुक्रमणिका की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रंथ का

महत्त्व आफ्रेश्ट के समय बहुत था परन्तु अब कम हो गया है क्योंकि वामन का काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, ध्वन्यालोक और लोचन जैसे ग्रंथ उपलब्ध हो गए हैं। भोज ने कालिदास और भवभूति के ग्रंथों से बहुत उद्धरण लिए हैं। इनके अतिरिक्त अभिधानमाला, कादंबरी, कामशास्त्र, छलितराम, जैमिनि, तापसवत्स-राज, ध्वन्यालोक, बाण, भट्टि, भरत, भामह, भारवि, महाभारत, रत्नावली, राजशेखर, रामायण, रुद्रट, विक्रान्तशूद्रक (एक नाटक), वेणीसंहार, शिशुपाल वध आदि से भी उद्धरण लिए हैं। यद्यपि धनिक की दशरूप की टीका में आए हुए कुछ पद्य सरस्वतीकण्ठाभरण में उद्धृत हैं परन्तु इससे यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि भोज ने इन पद्यों को अवलोक से ग्रहण किया है (जैसाकि डे ने माना है; देखिए एच० एस० पी० भाग १, पृ० १४५)। यह नितान्त संभव है कि भोज ने उन्हें उन रचनाओं से ग्रहण किया जो दोनों, धनिक और उसके लिए उपलब्ध कीं। परन्तु एक श्लोक ऐसा है जिसे धनिक ने अपनी रचना मानी है (दशरूप में ५.७२ यथा च ममैव—लक्ष्मीपयोधरोत्संग-कुंकुमारुणितां हरेः। बलिरेव स येनास्य भिक्षापात्रीकृतः करः ॥) जिसका सरस्वतीकण्ठाभरण (४. श्लोक ९८ पृ० ४६२ अन्योक्ति के एक उदाहरण रूप) में भी उल्लेख मिलता है। कुछ विषयों में इनके विचार विशिष्ट प्रकार के हैं। भोज के विवेचन में सर्वत्र एक प्रकार की प्रमाणवद्धता या समानता मिलती है। उदाहरणार्थ पद्य के (दोष १६) तो वाक्य के भी १६ ही दोष हैं; शब्द के गुण २४ तो वाक्यार्थ के भी २४ ही हैं। रीति ६ प्रकार की है तो वृत्ति और मुद्रा भी ६ ही प्रकार के हैं। उपमा, आक्षेप, समासोक्ति, अपह्नुति और कतिपय अन्य अलंकारों का शब्द और अर्थ से संबंध दिखाया है। इस प्रकार का मत इन का अपना ही है। इस विषय में वे संभवतः अग्निपुराण (देखिए अध्याय ३४४) अथवा किसी अन्य पूर्ववर्ती रचना का अनुसरण करते हैं। इन्होंने रीति को शब्दार्थालंकार माना है और इसके वैदर्भी, पांचाली, गौड़ीया, अवन्तिका, लाटीया और मागधी—६ भेद गिनाए हैं। जैमिनि के ६ प्रमाणों को इन्होंने अलंकार ही मान लिया है। यद्यपि प्राचानों का अनुसरण कर इन्होंने ८ रस माने हैं परन्तु जिस प्रकार से उन्होंने इनका विवेचन किया है उससे प्रतीत होता है कि इन्होंने शृंगार को ही एकमात्र रस माना है। एकावली (पृ० ९८) में कहा गया है कि भोजराजकृत शृंगारप्रकाश में केवल एक रस को ही स्वीकार किया गया है (राजा तु शृंगारमेकमेव शृंगारप्रकाशे रस-मुररीचकार, जिस पर तरल नामक टीका में कहा गया है 'भोजराज मत महाराजा-त्विति')। इससे हमारे मत की पुष्टि होती है। रत्नायण (पृ० २२१) में भी

कुमारस्वामी ने शृंगारप्रकाश से ऐसा ही मत उद्धृत किया है 'शृंगार एक एव रस इति शृंगारप्रकाशकारः'। नाट्यशास्त्र के विषय में भोज और शृंगार-प्रकाश के मतों का भावप्रकाशन (पृ० १२, २१३, २१९, २४२, २४५, २५१) में उल्लेख मिलता है। मन्दारमरन्दचम्पू (पांचवां पृ० १०७) में यही कहा गया है 'अथ भोजनृपादीनां मतमत्र प्रकाश्यते। रसो वै स इति श्रुत्या रस एकः प्रकीर्तितः। अतो रसः स्याच्छृंगार एक एवेतरे तु न। धर्मार्थकाममोक्षाख्याभेदेन स चतुर्विधः॥' इनका दूसरा विशिष्ट मत यह है कि इन्होंने गुण तथा रस को अलंकार ही मान लिया है। इन्होंने दंडी के शब्द 'काव्यशोभाकरान् धर्मान्' (काव्यादर्श २.१–२) का उल्लेख किया है और लिखा है कि 'तत्र काव्यशोभा-करानित्यनेन श्लेषोपमावद्गुणरसभावतदाभासप्रशमादीनप्युपगृह्णाति (पांचवाँ परिच्छेद पृ० ७०४)। भोज के इन विशिष्ट मतों में से कुछ का उल्लेख पूर्ववर्ती ग्रंथकारों ने भी किया है। माणिक्यचन्द्र के काव्यप्रकाश संकेत में भोज और कण्ठाभरण का बार-बार उल्लेख आया है (उदाहरणार्थ देखिए पृ० ३००, ३३२, ३३८, ३३९)। पृ० ४६९ पर कहा गया है कि 'श्री भोजेन जैमिन्युक्त षट् प्रमाणानि संभवश्चालंकारतयोक्तानि'। हेमचन्द्र (काव्यानुशासनविवेक पृ० २९५) ने कहा है, 'जातिगतिरीतिवृत्तिच्छाया···शय्यापीति वाक्ये···संभव प्रत्यक्षागमोपमानार्थापत्त्यभावलक्षणाश्चार्थालंकारा ये भोजराजेन प्रतिपादिताः' आदि। जयरथ (पृ० २४४–४५) ने कहा है कि भोज ने संसृष्टि अलंकार को ही माना है, संकर अलंकार को नहीं।

जब मैंने हिस्ट्री ऑफ अलंकार लिट्रेचर (१९२३) को प्रकाशित किया तब मुझे भोज का शृंगारप्रकाश उपलब्ध नहीं था। उसके उपरान्त डा० राघवन ने शृंगारप्रकाश (प्रति १ और २, पृ० १–५४२) का अध्ययन प्रकाशित किया। शृंगारप्रकाश एक बृहद्ग्रंथ है। संस्कृत काव्यशास्त्र पर लिखी पुस्तकों में यह सबसे बड़ी रचना है। यह ग्रंथ पूर्णरूप से अब तक प्रकाशित नहीं हुआ है। इसके केवल तीन प्रकाश (२२वां, २३वां, २४वां) १९२६ में मेलकोट के महाराज श्री यतिराज स्वामिन् की अध्यक्षता में प्रकाशित हुए हैं। डा० शंकरन के ग्रंथ 'थ्योरीज ऑफ रस एंड ध्वनि' में एक छोटा ११वां अध्याय आया है। डा० राघवन ने अपने ग्रंथ भोज के शृंगारप्रकाश (पृ० ५१३–४२ प्रति २, भाग १) में इसके मूल अवतरण दिए हैं। ऐसी स्थिति में मैं डा० राघवन के ग्रंथ (पृ० १०–१; १३–६९) और प्रकाशित[1] तीन प्रकाशों की भूमिका में

1. हाल ही में प्रकाश के १–८ परिच्छेद श्री जी० आर० जौयसर ने इंटर-

दी हुई संस्कृत समरी के आधार पर विषयों की संक्षिप्त रूपरेखा ही प्रस्तुत करूंगा। हस्तलिखित प्रति में बहुत-से स्थान रिक्त हैं। संपूर्ण २६वां अध्याय नहीं है और २५ तथा २७वें अध्याय के कुछ भाग भी नहीं मिलते (डा० राघवन पृ० ३)। शृंगारप्रकाश में नाट्यशास्त्र और काव्यशास्त्र दोनों का विवेचन हुआ है जैसाकि परवर्ती ग्रंथ साहित्यदर्पण और प्रतापरुद्रयशोभूषण में हुआ है। शृंगारप्रकाश में 'शब्दार्थौ सहितौकाव्यं' यह काव्य-परिभाषा दी गई है (भामह का यही मत था १.१६) और यह प्रतिपादित किया गया है कि अभिमान और अहंकार का प्रतीक शृंगार ही एकमात्र रस है। शृंगारप्रकाश के ३६ अध्यायों की संक्षिप्त विषय-सूची इस प्रकार है: (१) काव्य, शब्द और अर्थ की परिभाषाएं, प्रत्येक के १२ कार्य, (२) प्रातिपदिक, इसके भेद तथा उपभेद, (३) पद और वाक्य का अर्थ तथा उसके प्रकार (४) अर्थ के १२ प्रकार जैसे क्रिया, काल, कारक इत्यादि (५) उपाधि का अर्थ (६) विभक्ति का अर्थ (७) शब्द की विभिन्न शक्तियां जैसे अभिधा, विवक्षा, तात्पर्य इत्यादि (८) दूसरे शब्दों के संबंध, से शब्द शक्तियों का विकास जैसे व्यपेक्षा, सामर्थ्य इत्यादि (९) काव्य में दोषों का त्याग और गुणों का ग्रहण (१०) शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार (११) रस (१२) नाटक और उसकी ६४ विशेषताएं (१३) रति, मोक्षशृंगार, धर्मशृंगार, वृत्तियां, रीतियां (१४) हर्ष और ४८ भाव (१५) रति के आलंबन विभाव (१६) रति के उद्दीपन विभाव (१७) अनुभाव (१८) धर्मशृंगार का वर्णन (१९) अर्थ शृंगार (२०) कामशृंगार (२१) मोक्षशृंगार, नायक-नायिका विभाग और नायक-नायिका गुण (२२) अनुराग (सामान्य प्रेम) (२३) विप्रलंभ और संयोगशृंगार (२४) विप्रलंभ (२५) पूर्वानुराग विप्रलंभ (२६) अनुपलब्ध हैं (२७) अभियोग विधि (२८) दूती-विशेषदूतकर्मोपवर्णन (२९) दूत प्रेषण, सन्देशदान इत्यादि (३०) भावस्वरूप (३१) प्रवासोपवर्णन (३२) करुणरस विनिर्णय (३३) संभोग-स्वरूप (३४) प्रथमानुरागानन्तर संभोग (३५) मानप्रवासकरुणानन्तरसंयोग (३६) चतसृणां संभोगावस्थानां वर्णनम्।

मैं मूल शृंगारप्रकाश नहीं पढ़ सका हूं, केवल तीन प्रकाशित प्रकाशों का ही मैंने अध्ययन किया है अतः यह निर्णय देना कठिन है कि इसमें इतने श्लोक हैं। परन्तु अनुमानतः इसमें सहस्रों श्लोक होंगे। प्रकाशित तीन प्रकाशों में ही

नैशनल अकाडेमी ऑफ संस्कृत रिसर्च मैसूर (१९५५) के लिए संपादित किए हैं।

४६७ उदाहरण हैं, इनमें से २५१ प्राकृत में हैं। बाइसवें प्रकाश में कुल उदाहरणों का तीन-चौथाई भाग प्राकृत के उदाहरणों से भरा है। पूरे शृंगार-प्रकाश का उत्तम संस्करण बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा। इससे साहित्यिक रचनाओं की कालानुक्रमणिका की जानकारी होगी, प्राकृत तथा बहुत-से अन्य श्लोकों के शुद्ध पाठ का पता चलेगा और सबसे अधिक एकरस के अद्वितीय सिद्धान्त का परिचय मिलेगा।

भोज अनेक ग्रन्थों के रचयिता थे। ऐसा प्रतीत होता है कि इन्होंने धर्मशास्त्र पर भी लिखा है। मिताक्षरा, (प्रायः धारेश्वर के नाम से) तथा दायभाग में इसका उल्लेख आया है। योगसूत्र की टीका राजमार्तण्ड में इस प्रकार का वर्णन आया है : 'शब्दानामनुशासनं विदधता पातञ्जले कुर्वता वृत्तिं राजमृगांकसंज्ञकमपि व्यातन्वता वैद्यके। वाक्चेतो वपुषां मलः फणभृतां भर्त्रेव येनोद्धृतस्तस्य श्रीरणरंगमल्लनृपतेर्वाचोजयन्त्युज्ज्वला ॥' (श्लोक ४ भूमिका) इनके खगोलशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ करण अथवा राजमृगांक की रचना लगभग १०४२–१०४३ ई० सन् में हुई। इसकी मूलतिथि शकसवत् ९६४ हैं।[1] डा० भांडारकर इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि ('अर्लि हिस्ट्री ऑफ दि डेक्कन' पृ० ६०) भोज ११वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुए हैं। डा० बुलहर (विक्रमांकदेव चरित की भूमिका, पृ० १९) के मत में भोज का समय इससे कुछ बाद का माना जाना चाहिए। इन्होंने दो मुख्य कारण दिये हैं। राजतर० (पृ० २५९) में कहा गया है : 'स च भोज नरेन्द्रश्च दानोत्कर्षेण विश्रुतौ। सूरी तस्मिन् क्षणे तुल्यौ द्वावास्तां कविबान्धवौ ॥' डा० बुलहर के अनुसार यह अवतरण १०६२ ई० सन् के बाद का होना चाहिए जब कलश काश्मीर के राजा बने। दूसरा कारण यह है कि सरस्वतीकण्ठाभरण में चौरपंचाशिका से श्लोक उद्धृत हैं और बुलहर के मत में यह रचना बिल्हण की है। बुलहर ने राजतरंगिणी के 'तस्मिन् क्षणे' इन शब्दों पर विशेष बल दिया है। और एक टीका में 'सः' का संकेत अनंत से माना गया है। चौरपंचाशिका के लेखक का निर्णय भी विवादरहित नहीं है। भोजप्रबन्ध के अनुसार एक भविष्यवाणी यह थी कि भोज ५५ वर्ष तक राज्य करेगा। भोज का चाचा मुंज ९९४–९९७ के बीच में

---

1. शाको वेदर्तुनन्दनो रविघ्नो माससंयुतः। अधो देवान्वितोद्विस्थ-स्त्रिवेदघ्नस्तयोर्हृतः ॥ राजमृगाङ्क (डी० सी० हस्तलिपि नं० १०५.१८७३–७४, श्लोक २)।

तैलप द्वारा मारा गया था। मुंज का उत्तराधिकारी उसका भाई सिन्धुराज, सिन्धुल अथवा नवसाहसाङ्क बना। भोज के एक उत्तराधिकारी जयसिंह के एक शिलालेख (जिसकी तिथि संवत् १११२, १०५५–१०५६ ई० सन्) में जयसिंह के समय के विषय में प्रचलित विवाद का निर्णय कर देता है। (ई० आई० भाग ३, पृ० ४६–५० धारा के राजा जयसिंह का मान्धाता शिलालेख) इससे स्पष्ट है कि भोज १०५४ ई० सन् के उपरान्त जीवित नहीं रहा होगा। भोज का राज्यकाल बहुत बड़ा था। उसके अनुदान संबंधी भी कुछ तिथियां मिलती हैं (आई० ए० भाग ६, पृ० ५३ संवत् १०७८)। राजा सिन्धुराज के आदेश से नवसाहसांकचरित लिखा गया था। उसमें इसके आक्रमणों का वर्णन है। अतः सिंधुराज ने भी कुछ वर्षों तक राज्य किया होगा। इससे यह निश्चित हो जाता है कि भोज १००५ के लगभग राजगद्दी पर बैठा, उससे पूर्व नहीं। सरस्वतीकण्ठाभरण और शृंगारप्रकाश की रचना १००५ से १०५४ के बीच में हुई होगी, संभवतः भोज के राज्यकाल के अन्त में अर्थात् १०३० से १०५० के बीच हुई होगी। सरस्वतीकण्ठाभरण में मुंज की स्तुति में एक श्लोक आया है: 'सौजन्याम्बुनिधे···श्रीमुंज किमित्यमुं जनमुपस्प्रष्टुं दृशा नार्हसि ॥' (१ परि० कारिका ७१ पृ० ६०)। धार प्रशस्ति में अर्जुनवर्म (जिसकी तिथियां १२११, १२१३ और १२१५ ई० सन् हैं) को भोज का उत्तराधिकारी और अवतार कहा गया है। (ई० आई० भाग ८, पृ० ९६) भोज और सिन्धुराज के प्रति मुंज के अत्याचारों की कथा भोजप्रबंध और मेरुतुंग की प्रबंध चिन्तामणि में आती है (पृ० ३२–६ टौने का अनुवाद)। साथ ही यह कथा भी आयी है कि भोज वाक्पतिराज का उत्तराधिकारी बना। ये दोनों कथायें केवल कपोल-कल्पित हैं क्योंकि अनेक शिलालेखों के तथ्य यह सिद्ध करते हैं कि सिंधुराज वाक्पतिराज का उत्तराधिकारी बना और उसे परम भट्टारकमहाराजाधिराज परमेश्वर की उपाधि मिली। (देखिए बांसवाड़ा शिलालेख ई० आई ११ पृ० १८१ तिथि १०७६, बेतम शिलालेख तिथि पूर्वलिखित, ई० आई० भाग १८, पृ० ३२०; धारा के जयसिंह की मांधाता शिलालेख तिथि १११२ संवत्; एक अन्य शिलालेख तिथि संवत् १०७९ आई० एच० क्यू० भाग ८, पृ० ३०५–१५ और उज्जैन शिलालेख तिथि संवत् १०७८, आई० ए० ६ पृ० ५३)। भोज चिरकाल तक रुग्ण रहे और उनकी मृत्यु गुजरात के राजा भीम तथा त्रिपुरी के राजा कलचुरीकरण के साथ युद्ध में हुई (प्रबंधचिन्तामणि, टौने का अनुवाद पृ०४)। सुकृत-संकीर्तन (२.१६–१८) में भोज की राजा भीम द्वारा पराजय का वर्णन है तथा कुमारपाल की वड़नगर प्रशस्ति (११५१ ई० सन् आई०

ए० भाग १, पृ० २९३, पृ० २९७ पर) में कहा गया है कि भीम के घुड़सवारों ने धारा को ध्वस्त कर दिया। भोज की इस दयनीय अवस्था का नागपुर प्रशस्ति में उल्लेख है (ई० आई० भाग २, पृ० १८०–९१ श्लोक ३२)। भोज के लिए देखिए डा० गांगुली का 'हिस्ट्री ऑफ दी परमार डाईनेस्टी' पृ० ८२–१२२; जे० आई० एच० भाग ६, पृ० ७९ से ८७ देखिए मालवा के परमारों की कालानुक्रमणिका के लिए (मि० दिक्षालकर)। प्राचीन और मध्यकालीन भारत के सुप्रसिद्ध राजाओं में से एक राजा भोज था। वह कवि और साहित्य के महान् आश्रयदाता के रूप में तथा मन्दिरों के निर्माता और साहित्य के स्रष्टा के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुके थे। उनका नाम श्रद्धा से लेने योग्य है। मालवा के राजाओं की उदयपुर प्रशस्ति (ई० आइ० भाग १, पृ० २२२, २३५ पर) में भोज की उपलब्धियों के विषय में यह श्लोक आया है 'साधितं विहितं दत्तं ज्ञातं तद्यन्न केनचित्। विमन्यत् कविराजस्य श्रीभोजस्य प्रशस्यते।' (उसने सफलता प्राप्त की, कार्य कर दिखाया, दान दिया और ज्ञान प्राप्त किया जो दूसरों को प्राप्त नहीं था। ऐसे गौरवपूर्ण राजा (कविराज) के लिए और क्या अधिक प्रशस्ति की जा सकती है। उपरोक्त राजतरंगिणी में भोज को कवि बांधव कहा गया है। सरस्वतीकण्ठाभरण (२. श्लोक २३९, ९९वीं कारिका पर) में भोज का उल्लेख इस प्रकार आया है: 'जय जय जय श्रीमन् भोज प्रभाति विभावरी वद वद वद श्रव्यं० विद्वन्निदं ह्यवधीयते। शृणुशृणुशृणु त्वद्वत्सूर्योऽनुरज्यति मण्डलं नहि नहि नहि क्षमा मार्तण्डः क्षणेन विरज्यते ॥'

आजद के मत में भोज ने मध्यकालीन भारत के सभी वैज्ञानिक विषयों पर ८४ ग्रन्थ लिखे हैं जिसका उल्लेख डा० राघवन ने पांचवें पृष्ठ की दूसरी टिप्पणी में किया है। डा० राघवन ने उन सभी व्यक्तियों का उपहास-सा किया है जिन्होंने इन सभी रचनाओं को भोजरचित नहीं माना है तथा जिन्होंने इनमें से कुछ रचनाओं को भोज के आश्रित व्यक्तियों द्वारा रचा हुआ माना है। (पृ० ५–६ भाग १) डा० राघवन द्वारा उद्धृत प्रो० कीथ का मत न तो तर्क-संगत है और न विश्वसनीय है। प्रो० कीथ यूनिवर्सिटी के प्राचार्य थे, उन पर पढ़ाने का अधिक भार नहीं था और न उन पर सरकारी काम का बोझ था। और वे राजा भोज के समान निरन्तर युद्ध में भी नहीं लगे थे। इसके अति-रिक्त कीथ की सभी रचनाओं की संख्या भोज की वृत्तियों का एक चौथा भाग मात्र है और कीथ की कुछएक रचनाएं तो बहुत ही छोटी-छोटी हैं। भोज ने कर्णाट, गुजरात, चेदि, तुरुष्क आदि पड़ौसी राजाओं से निरंतर युद्ध किया। (उदयपुर प्रशस्ति, ई० आई० भाग १, पृ० २३०–२३२)। विक्रमांकदेव चरित

(१. ९१) में कहा गया है : 'प्रभार पृथ्वीपतिकीर्तिधारां धारामुदारां कवली चकार' (वूल्हर की भूमिका, पृ० २३) । जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, भोज के अंतिम वर्ष दुःख में व्यतीत हुए।

भोज की कुछ रचनाएं वहुत बड़ी हैं। इन्होंने काव्यशास्त्र तथा व्याकरण पर सरवस्तीकण्ठाभरण नामक ग्रन्थ लिखा। इनका सोमरांगण सूत्रधार नामक ग्रन्थ, जिसमें ७ हजार श्लोक हैं, जी० ओ० एस द्वारा प्रकाशित हुआ है। इनका व्याकरण सम्वन्धी ग्रन्थ सरस्वतीकण्ठाभरण मद्रास यूनिवर्सिटी संस्कृत सीरीज़ से (१९३७) तथा त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज़ से प्रकाशित हुआ है। धर्मशास्त्र से यह विदित होता है कि इन्होंने भूपालकृत समुच्चय, (दे० कृत्यरत्नाकर पृ० ४९९ पर पांडुलिपि) भुजवल भीम, (रघुनंदन के तिथितत्व, संस्कारतत्व, श्राद्धतत्व में उद्धृत) राजमार्तण्ड (आह्निकतत्व में उद्धृत) आदि ग्रन्थ लिखे। प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक ने तीन पांडुलिपियों से राजा मार्तण्ड के १४६२ श्लोकों में से २८६ को जो तिथि, व्रत तथा उत्सव सम्वन्धी हैं, उद्धृत किया है। (अवोदी, भाग ३६ अंश ३–४ पृ० ३०६–३३९. दे० प्रस्तुत लेखक का 'भोज एण्ड रिजवर्क्स ऑन धर्मशास्त्र एण्ड अॅस्ट्रालॉजी' नामक लेख, जे० ओ० आर, मद्रास, भाग २३, पृ० ९४–१२७.) इनके युक्तिकल्पतरु नामक ग्रन्थ को डा० एन० एन० ला (१९१४) ने कलकत्ते से प्रकाशित किया तथा तत्वप्रकाश त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज़ द्वारा प्रकाशित हुआ। भोज ने यह ग्रन्थ शृंगारप्रकाश के अतिरिक्त शृंगारमंजरी नामक कथा भी लिखी है (एन्नल्स ऑफ् वेंकटेश्वर ओरियण्टल इन्स्टीटयूट भाग २, पृ० ४५९–४६० तथा ई० आई० भाग १, पृ० २३१–२३२ पर वूल्हर का संकेत) इन्होंने ओषधियों के विषय में राजमार्तण्ड लिखा जिसके श्लोकों की संख्या ४१८ है। (वैद्यजाधवजी द्वारा १९२४ में प्रकाशित) भोज ने इसी नाम की पतञ्जली के योगसूत्र पर एक टीका लिखी है, जिसे काशी संस्कृत सीरीज़ में पांच अन्य टीकाओं सहित प्रकाशित किया गया है।

सरस्वतीकण्ठाभरण की टीका का नाम रत्नदर्पण है, इसकी रचना तिरहूत के राजा रामसिंहदेव के आदेश से महामहोपाध्याय रत्नेश्वर ने की।. इसका समय १४वीं शताब्दी प्रतीत होता है। केवल प्रथम तीन परिच्छेदों की टीका ही प्रकाशित हुई है। यह टीका विद्वत्तापूर्ण है और इसमें आनंदवर्धन, काव्यप्रकाश, चन्द्रगोमिन्, राजशेखर, रुद्रट, लोचनकार, शृंगारप्रकाश आदि का उल्लेख आया है। यह भी संकेत दिया है कि इसने काव्यप्रकाश की एक टीका भी लिखी है। 'हा तो जो जलदेड नैव मदनः साक्षादयंभूतले' (प्रथम परिच्छेद कारिका ११८ पृ० ११०–१११) इस श्लोक के वारे में टीकाकार का मत यह है कि 'हा' 'तो'

शब्द मराठी हैं और इनका अर्थ 'अयं''स': होता है। इसके और भी टीकाकार हैं परन्तु उनका यहां उल्लेख नहीं किया गया है।

२५. क्षेमेन्द्ररचित औचित्यविचारचर्चा तथा कविकण्ठाभरण

क्षेमेन्द्र काश्मीरी थे। उन्होंने अनेकों विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। भारतमंजरी, बृहत्कथामंजरी के अतिरिक्त उन्होंने लगभग ४० ग्रन्थ लिखे। राजतरंगिणी (१.१३) में क्षेमेन्द्ररचित नृपावलि (राजावलि) का उल्लेख आया है। परन्तु यह ग्रंथ अभी तक उपलव्ध नहीं हो पाया है। काव्यशास्त्र में उनका योग बहुत कम है तथा अलंकारशास्त्र पर भी उनका अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। उन्होंने छन्दों के ठीक प्रयोग के विषय में संकेत देकर यह भी बताया है कि किन कवियों ने कौन-कौन से छन्दों का श्रेष्ठ प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ, अभिनन्द ने अनुष्टुप्, पाणिनी ने उपजाति, भारवि ने वंशस्थ, कालिदास ने मन्दाक्रान्ता, रत्नाकर ने वसन्ततिलक, भवभूति ने शिखरिणी, राजशेखर ने शार्दूलविक्रीड़ित का श्रेष्ठ प्रयोग किया है। औचित्यविचारचर्चा में क्षेमेन्द्र की निजी वृत्ति सहित कारिकाएं दी गई हैं। इसमें अनेकों लेखकों तथा रचनाओं से उदाहरण लिए गए हैं, जिनमें कुछ क्षेमेन्द्र की अपनी ही हैं। उनके मत में औचित्य रससार है 'औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे। रसजीवित-भूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना' (कारिका ३)। क्षेमेन्द्र द्वारा की गई औचित्य की परिभाषा इस प्रकार है: 'उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्। उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते॥' (पृ० ७) तब उन्होंने औचित्य का निम्नलिखित तत्त्वों से संवंध दिखाकर व्यापक चित्रण किया है। औचित्य का संवंध पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण (ओज आदि), अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, उपसर्ग, काल, देश आदि अनेक वस्तुओं से दिखाया है। क्षेमेन्द्र ने औचित्य का विवेचन एक विषय से संबद्ध उपयुक्त तथा अनुपयुक्त उदाहरण देकर किया है। औचित्यविचारचर्चा में लेखक ने ध्वन्यालोक (३.७–१४ तथा १७४–१८६) के सिद्धान्तों का सविस्तार विवेचन किया है। इन सिद्धान्तों का सार ध्वन्यालोक के निम्न श्लोक में आ जाता है: 'अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम्। प्रसिद्धौचित्यवन्धुस्तु रसस्योपनिषत्परा।' (पृ० १८०)[1]। स्थानाभाव के कारण

---

1. वक्रोक्तिजीवित में भी बताया गया है (कारिका १.३७–८ पृ० ५२–४ डा० डे का संस्करण) कि औचित्य उल्लिखित तीनों भागों का विशिष्ट गुण है। यत्र वक्तुः प्रमातुर्वा वाच्यं शोभातिशायिना। आच्छाद्यते स्वभावेन तदप्यौचित्य-मुच्यते॥ १.३१. रघुवंश ५.१५ तथा किरातार्जुनीय ८.६ को इस पद्य के उदाहरणस्वरूप लिया गया है।

क्षेमेन्द्र द्वारा उद्धृत बहुत-से ग्रंथकार तथा रचनाओं का यहां उल्लेख नहीं हो सकता है। क्षेमेन्द्र ने परिमल, कालिदास रचित कुन्तेश्वर दौत्य, गौड़कुंभकार, भट्टमल्लट, भट्टतौत तथा अपने गुरु भट्टगंगक[1] को उद्धृत किया है। औचित्य-विचारचर्चा में उन्होंने अपनी कविकर्णिका काव्यालंकार का भी उल्लेख किया है। परन्तु यह रचना अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी। कविकर्णिका काव्यालंकार को कविकण्ठाभरण से अतिरिक्त रचना मानना संदिग्ध है। कविकण्ठाभरण (के० एम० संस्करण १९३७) ५ संधियों में विभक्त है तथा इसमें ५५ कारिकाएं हैं। इन संधियों के विषय क्रमिकरूप से इस प्रकार हैं: 'तत्राकवेः कवित्वाप्तिः शिक्षाप्राप्तगिरः कवेः। चमत्कृतिश्च शिक्षापतौ गुणदोषोद्गति-स्ततः॥ पश्चात्परिचयप्राप्तिरित्येते पंच संधयः (१.३४)। इन्होंने शिष्यों के तीन वर्ग बनाए हैं और कवियों को छायोपजीवी, पदकोपजीवी, पादोपजीवी, सकलोपजीवी, भुवनोपजीव्य—इन भेदों में विभक्त किया है और इन्होंने नाट्य, तर्क, व्याकरण के अध्ययन के विषय में तथा काव्य के गुण और दोषों के विषय में कवियों को कतिपय उपयोगी संकेत दिये हैं। कविकण्ठाभरण (३.२) में इन्होंने चमत्कार के दस प्रकारों का वर्णन किया है (चमत्कार, रसास्वाद, विस्मय अथवा वक्रत्व)। इन्होंने अपने दो ग्रंथों में निम्नलिखित ग्रंथों का उल्लेख किया है: अवसरसार, अमृततरंग (काव्य), कनकजानकी, कविकर्णिका, चतुर्वर्गसंग्रह, चित्रभारत नाटक, देशोपदेश, नीतिलता, पद्य कादंबरी, बौद्धावदान कल्पलता, मुक्तावलिकाव्य, मुनिमतमीमांसा, ललित रत्नमाला, लावण्यवती, (काव्य), वात्स्यायनसूत्रसार, विनयवल्ली और शिशुवंश। सुवृत्ततिलक में इन्होंने कलश के एक श्लोक का उल्लेख किया है और कविकण्ठाभरण (पांचवीं संधि) में अपने शिष्य भट्टोदयसिंह के ललिताभिधान महाकाव्य तथा एक अन्य शिष्य राजपुत्रलक्ष्मणादित्य के एक (पद का उल्लेख किया है। क्षेमेन्द्र के पिता का नाम प्रकाशेन्द्र तथा इनके पितामह का नाम सिन्धु था। उसका परिवार बहुत संपन्न था उसके पिता अत्यधिक दानी[2] और उदार थे। इन्होंने रामयशस् की

---

1. औचित्यविचारचर्चा पर सहृदयतोषिणी नाम की टीका मिलती है जो मद्रास से १९०६ में प्रकाशित हुई। देखिए डा० डे का एच० एस० पी० भाग १, पृ० १४२ तथा देखिए डा० राघवन लिखित 'हिस्ट्री ऑफ औचित्य,' जे० ओ० आर० मद्रास भाग ६, पृ० १११–३४ और १२५–१६२।

2. दशावतारचरित के अन्त में दूसरा श्लोक इस प्रकार है: 'काश्मीरेषु

प्रेरणा से अनेक ग्रंथ लिखे। बृहत्कथामंजरी में इन्होंने लिखा है कि इन्होंने साहित्य का अध्ययन अभिनवगुप्त के चरणों में रहकर किया है: 'श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्यात् साहित्यं बोधवारिधेः।' वे मूलतः शैव थे परन्तु बाद में सोमाचार्य के सम्पर्क से वैष्णव बन गए। इन्होंने अपने ग्रन्थों में अपने को व्यासदास कहा है। इनकी समयमात्रिका का समय २५वां लौकिक काल अर्थात् १०५० ई० सन् है और दशावतारचरित का रचनाकाल ४१वां लौकिक काल (४१४१) जब कलश राज्य कर रहे थे अर्थात् १०६६ ई० सन् है। औचित्यविचारचर्चा और कवि० की रचना राजा अनन्त के समय में हुई (तस्य श्रीमदनन्तराजनृपतेः काले किलायं कृतः'—औचित्य० और 'राज्ये श्रीमदनन्तराजनृपतेः काव्योदयोयं कृतः'—कवि०)। राजा अनन्त ने काशमीर १०२८ से १०६३ तक राज्य किया और १०६३ में उसने अपने पुत्र का राज्याभिषेक किया। अनन्त की मृत्यु १०८१ ई० सन् में हुई जबकि उसकी आयु ६१ वर्ष की थी। क्षेमेन्द्र की उक्तियों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उनकी ये दोनों रचनाएं अनन्त के राज्यकाल में ही लिखी गईं। अतः क्षेमेन्द्र ने ये दोनों ग्रंथ १०६३ से पहले लिखे हैं और उनका साहित्यिक कार्यकाल ११वीं शताब्दी द्वितीय और तृतीय चरण में निर्धारित होता है। चूंकि क्षेमेन्द्र अभिनवगुप्त के शिष्य थे और अभिनवगुप्त का साहित्यिक कार्यकाल ९८०–१०२० के बीच रहा है, अतः क्षेमेन्द्र का जन्म ९९० ई० सन् के लगभग हुआ होगा और इनकी मृत्यु १०६६ ई० सन् के कुछ समय बाद हुई होगी। इनकी रचनाओं के संबंध में अधिक जानकारी के लिए देखिए बूहलर की काशमीर रिपोर्ट (पृ० ४५–८), जे० बी० बी० आर० ए० एस० भाग १६ (अतिरिक्त प्रति संख्या पृ० ५.९) और भाग १६, पृ० १६७–१७९ (औचित्य० पर पीटरसन का लेख), डा० डे का ग्रंथ एच० एस० पी० भाग १, पृ० १४२–३, डा० सूर्यकान्त का विस्तृत निबंध पूना, औरियन्टलिस्ट भाग १७; १९५२ पृ० १.२२०, यह लेख क्षेमेन्द्र के जीवन, उनकी

बभूव सिन्धुरधिकः सिन्धोश्च निम्नाशयः प्राप्तस्तस्यः गुणप्रकर्षयशसः पुत्रः प्रकाशेन्द्रताम्। विप्रेन्द्रप्रतिपादितान्नदानधनभूगोसंघकृष्णाजिनैः प्रख्यातातिशयस्य तस्य तनयः क्षेमेन्द्रनामाभवत्॥' भरतमंजरी के अन्त में (काव्यमाला संस्करण पृ० ८४९–८५० श्लोक ३.५) क्षेमेन्द्र ने अपने पिता के उपकारकार्यों का वर्णन किया है। कतिपय उपकारों का औचित्यविचारचर्चा के अन्त में भी उल्लेख है।

रचनाएं औचित्यविचारचर्चा, कविकंठाभरण तथा सुवृत्तितिलक और उनके अनुवादों के लिए पढ़ा जा सकता है।

२६. मम्मट प्रणीत काव्यप्रकाश

प्रस्तुत लब्धप्रतिष्ठ ग्रन्थ अनेक बार प्रकाशित हुआ है। इसमें वामनाचार्य की बालबोधिनी टीका युक्त (पांचवां संस्करण १९३३) काव्यप्रकाश से उद्धरण लिये गये हैं। इसका प्रथम मूल प्रकाशन वम्बई संस्कृत सीरीज़ में हुआ था। अलंकारसाहित्य में काव्यप्रकाश का विशिष्ट स्थान है। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में शताब्दियों से प्रचलित मतों का इसमें सार आ गया है और यह स्वयं अनेक सिद्धान्तों के विकास का मूलस्रोत वना है। वेदान्त में जैसे शारीरकभाष्य और व्याकरण में जैसे महाभाष्य वैसे ही काव्यशास्त्र में काव्यप्रकाश भावी भाष्य और व्याख्याओं का उद्गम वन गया है। इस ग्रन्थ का महत्त्वपूर्ण गुण यह भी है कि इसमें विवेचन पूर्ण और सर्वांगीण होने के साथ-साथ संक्षिप्त भी है। इसमें कुल १४२ कारिकाएं (जिन्हें प्रायः सूत्र कहा जाता है)[1] हैं और इनमें काव्यशास्त्र के सभी अंगों का विवेचन आ गया है। इसमें दस उल्लास हैं और कारिका, वृत्ति और उदाहरण इसके तीन भाग हैं। उपमा, व्यतिरेक आदि के साधारण उदाहरणों को छोड़कर शेष सभी उदाहरण मम्मट ने अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों से लिये हैं। इस ग्रन्थ के विषय संक्षेप में इस प्रकार हैं: प्रथम उल्लास में काव्य का प्रयोजन, काव्य हेतु, काव्यपरिभाषा, इसके उत्तम, मध्यम और अधम भेदों का निरूपण है। द्वितीय में शब्द को वाचक, लाक्षणिक और व्यंजक तीन प्रकार और उनके वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य तीन प्रकार के अर्थों का निरूपण है। कतिपय ने चौथी शक्ति तात्पर्यार्थ भी बताई है। इसमें इन शक्तियों की व्याख्या और लक्षणा तथा व्यंजना के भेदों का निरूपण है। तृतीय उल्लास में सब प्रकार के अर्थ, व्यंजक कैसे हो सकते हैं और ऐसी स्थिति में व्यंजना शक्ति किस प्रकार हो सकती है इसका विवेचन है। चतुर्थ उल्लास में ध्वनि के अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य इन दो भेदों तथा इनके उपभेदों का निरूपण है, रस का स्वरूप, स्थायीभाव, विभाव, व्यभिचारीभाव तथा रस संबंधित विभिन्न सिद्धान्तों का विवेचन है। पांचवें उल्लास में मध्यम-काव्य या गुणीभूत व्यंग्य और उसके ८ प्रकारों का वर्णन है। छठे में काव्य के

---

1. विद्याचक्रवर्तिन की संप्रदायप्रकाशिनी में (त्रिवेन्द्रम संस्करण) में कारिकाओं को सूत्र कहा गया है (दे० पृ०, ७, ८१)। चण्डीदास ने भी अपनी टीका में यह लिखा है: 'कारिकाकारसूत्रकृत' (पृ० ८८)।

तीसरे प्रकार, चित्र या अधम काव्य तथा उसके दो प्रकार शब्दचित्र और अर्थ-चित्र का निरूपण है। सातवें में पद, वाक्य, अर्थ तथा रस के दोषों का निरूपण है। साथ ही यह बताया गया है कि कतिपय स्थलों में दोष किस प्रकार से रमणीयता उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। आठवें में गुण और अलंकारों का परस्पर अन्तर बताकर माधुर्य, ओज और प्रसाद इन तीन गुणों का निरूपण किया है। इन गुणों की परिभाषाएं दी गई हैं। अन्य प्रतिपादित गुणों का इन तीन गुणों में अन्तर्भाव होता है अथवा वे केवल दोषाभाव स्वरूप हैं। कई विशिष्ट वर्णों के संयोग से गुण उत्पन्न होते हैं। नौवें उल्लास में वक्रोक्ति (इसके दो प्रकार श्लेष और काकु), अनुप्रास (छेकानुप्रास और वृत्यनुप्रास) और तीन वृत्तियों (उपनागरिका, परुषा और कोमला जिन्हें वामन और अन्य आचार्यों ने वैदर्भी, गौडी और पांचाली कहा है), लाटानुप्रास, यमक (इसके विभिन्न प्रकार), श्लेष, चित्र (खंगवन्ध, मुरजवन्ध आदि इसके विभिन्न प्रकार), पुनरुक्तवदाभास इन शब्दालंकारों का निरूपण है। १०वें उल्लास में ६१ अर्थालंकारों का निरूपण है। अलंकारदोषों का निरूपण दोषों के अन्तर्गत सातवें उल्लास में किया गया है।

यह स्पष्ट हो गया होगा कि मम्मट ने नाट्यशास्त्र को छोड़कर काव्यशास्त्र के सभी विषयों का किस प्रकार से विवेचन कर दिया है। मम्मट ने अपने विवेचन के क्षेत्र को व्यापक वनाया है। इन्होंने लगभग ६२० श्लोकों को अन्य लेखकों से ग्रहण करके अपने मत का स्पष्टीकरण किया है। स्थानाभाव के कारण यहां पर विस्तार से उन सभी लेखकों और उनकी रचनाओं के जिनसे उद्धरण लिए गए हैं, यहां उल्लेख करना संभव नहीं है। निम्नलिखितों का इन्होंने स्पष्ट नामोल्लेख किया है : आचार्य अभिनवगुप्त, कालिदास, कामशास्त्र, उद्भट, ध्वनिकार अथवा ध्वनिकृत, बाण, भट्टनायक, भरत, महाभाष्यकार, मयूर, रुद्रट, लोल्लट, वाक्यपदीय, शंकुक, श्रीहर्ष। जिनका नाम से उल्लेख नहीं है वे निम्नलिखित हैं :—कालिदास और भवभूति की रचनाएं, अमरूशतक, कर्पूरमजरी, कुट्टनीमत, चण्डीशतक, नवसाहसांकचरित, नागानंद, बालरामायण, भट्टी, भर्तृहरि, भल्लट, भामह, भास, माघ, रत्नावली, राघवानंद, विज्जका, विद्धशालभंजिका, विष्णुपुराण, वेणीसंहार, हयग्रीववध, हरविजय। यद्यपि मम्मट का विवेचन अपने पूर्ववर्ती ध्वन्यालोक, उद्भट, भामह, रुद्रट, (जिनकी रचनाओं से लगभग ३० श्लोक उद्‌धृत हैं), वामन, अभिनवगुप्त आदि पर आधारित है तो भी वह स्वतंत्र विचार रखने वाला व्यक्ति है। प्राचीन आचार्यों

के प्रति श्रद्धा रखते हुए भी उन्होंने अवसर आने पर उनकी आलोचना की है उदाहरणार्थ उन्होंने श्लेष के विषय में भट्टोद्भट के विचारों की कड़ी आलोचना की है। (देखिए नौवां उल्लास पृ० ५१६–२७)। सातवें उल्लास के अन्त में (पृ० ४४८–४९) 'सत्यं मनोरमारामाः सत्यं रम्या विभूतयः। किंतु मत्तांगनापांगभंगलोलं हि जीवितम् ॥' (ध्व० पृ० २८४) श्लोक पर ध्वन्यालोक के मत को उन्होंने सदोष बताया है। इस मत में कहा गया है कि इस श्लोक का प्रथम अर्धांश श्रृंगार के विभावों से आरंभ होता है और दूसरा अर्धभाग शांत में अन्तर्भूत होता है। फिर भी इसमें विरोध नहीं है क्योंकि इसमें श्रृंगार रस द्वारा श्रोता को उपदेश ग्रहण के लिए उत्सुक बनाकर फिर उपयुक्त उपदेश किया गया है। इससे काव्य में सौंदर्य आया है। यद्यपि मम्मट ने रुद्रट के बहुत-से श्लोकों को ग्रहण किया है फिर भी अनेक स्थलों पर वे रुद्रट से अपना भिन्न मत रखते हैं। उदाहरणार्थ मम्मट की समुच्चय पर यह उक्ति (धुनोति चासिं तनुते च कीर्तिमित्यादेः, कृपाणपाणिश्च भवान्रणक्षितौ। ससाधुवादाश्च सुराः सुरालये इत्यादेश्च दर्शनात्, 'व्यधिकरणे इति, एकस्मिन् देशे इति च न वाच्यम्।' (पृ० ६९१) रुद्रट की निम्न उक्ति का विरोध करती है;—'व्यधिकरणे वा यस्मिन्गुणक्रिये' आदि (७.२७)। इसी प्रकार मम्मट के कारणमाला विषयक निम्न शब्द भी रुद्रट के हेतु के लक्षण और उसके उदाहरण (७.८२–३) को अनुलक्षित कर कहे गए हैं:—'हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदतो हेतुः' इति 'हेत्वलंकारो न लक्षितः···अविरलकमलविकासः···कालः इत्यत्र काव्यरूपतां कोमलानुप्रासमहिम्नैव समाम्नासिषुर्न पुनर्हेत्वलंकारकल्पनया' (पृ० ७०६–७)। इसी प्रकार अनुमान विषयक उक्ति 'साध्यसाधनयोः पौर्वापर्यविकल्पे न किंचिद्वैचित्र्यमिति न तथा दर्शितम्' (पृ० ६९८) यह उक्ति भी रुद्रट के आशय से मिलती है (८.५६) इन्होंने (उल्लास, ८ पृ० ४७१–७२) वामन प्रतिपादित गुण और अलंकारों के पारस्परिक भेद (काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणा। तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः। काव्या० सू० ३.१.१–२) की आलोचना की है। इसी प्रकार वामन द्वारा प्रतिपादित ओज की प्रौढिरूप में की गई व्याख्या का खंडन किया है। 'पदार्थे वाक्यरचनं वाक्यार्थे च पदाभिधा। प्रौढिर्व्याससमासौ चाभिप्रायत्वमस्य च ॥ इति या प्रौढिरोज इत्युक्तं तद्वैचित्र्यमात्रं न गुणः, तदभावेऽपि काव्यव्यवहार प्रवृत्तेः। (८ उल्लास। पृ० ४८०–८१)। वामन के मत में 'अर्थस्य प्रौढिरोजः' (काव्या० सूत्र ३.२.२) और इन्होंने वृत्ति में 'पदार्थे०' इस श्लोक को उद्धृत किया है। यद्यपि मम्मट ने भामह के तीन श्लोकों (१.१३–१५) को छठे उल्लास में उद्धृत किया है। और उसके 'सैषासर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो

विभाव्यते ।···कोलंकारोऽनयाविना ।। (२.८५) इस श्लोक को १०वें उल्लास (विशेष के अन्तर्गत पृ० ७४४) में उद्धृत किया है तथापि मम्मट ने भामह (काव्यं नातिसमस्तार्थं काव्यं मधुरमिष्यते १–३) का दोष निकाला है। मम्मट कहते हैं : 'आह्लादकत्वं माधुर्यं शृंगारे द्रुतिकारणम् ।···श्रव्यत्वं पुनरोजः प्रसाद-योरपि' (आठवां उल्लास पृ० ४७४) मम्मट ने बड़े-बड़े कवियों के दोषों को दिखाने में भी शंका अनुभव नहीं की। 'मृदुपवनविभिन्नो०' (विक्रमो० ४, २२) इत्यादि श्लोक में अमंगलाश्लील दोष, 'दिवाकराद्रक्षति यो ग्रहासु' (कु० सं० १.१२) में अनुचितार्थ दोष, 'अतिथि नाम काकुत्स्थात्पुत्रमायं कुमुद्वती' (रघु० १७,१) में भग्न प्रक्रम, गाहन्तां महिषानिपानसलिलं (शाकु० २.६) में भग्न प्रक्रम, 'वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्मजन्मता' (कु० सं० ५.७२) में अविमृष्टविधेयांश दोष आदि दोष कालिदास के काव्य से भी मम्मट ने निकाले हैं।

कतिपय परवर्ती टीकाकारों ने इस मत की पुष्टि की है कि कारिकाएं भरत द्वारा रचित हैं। उनका कहना है कि मम्मट ने केवल उनकी टीका की है (दूसरे शब्दों में मम्मट केवल एक वृत्तिकार हैं)। विद्याभूषण की साहित्यकौमुदी में कहा गया है कि :—'सूत्राणां भरतमुनीशवर्णितानां वृत्तीनां मितवपुषां कृतौ ममास्याम ।' (भूमिका में दूसरा श्लोक)। इसी ग्रंथ के अन्त में यह भी उल्लेख आया है कि :—'मम्मटाद्युक्तिमाश्रित्य मितां साहित्यकौमुदीम् । वृत्तिं भरत-सूत्राणां श्रीविद्याभूषणो व्यधात् ।।' (देखिए पीटरसन की दूसरी रिपोर्ट पृ० १०–११)। इसी प्रकार महेश्वर (जीवानन्द संस्करण पृ० ३) ने भी भरत को काव्यप्रकाश की कारिकाओं का रचयिता माना है। जयराम ने अपनी तिलक नाम की रचना में यह मत प्रकट किया है कि भरत कारिकाओं के रचयिता थे। परन्तु उपसंहारांश में उन्होंने कहा है कि कारिकाएं तथा वृत्ति एक ही लेखक की रचना हैं। (देखिए पीटरसन की दूसरी रिपोर्ट पृ० १०७)। यह मत निम्नलिखित तीन तथ्यों पर आधारित है :—(१) कतिपय काव्यप्रकाश की कारिकाएं नाट्यशास्त्र के श्लोकों के समान हैं। उदाहरणार्थ 'शृंगारहास्य ···स्मृताः,' 'रतिर्हासश्च,' 'निर्वेद ग्लानि···नामतः,' चौथे उल्लास की प्रस्तुत कारिकाएं नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय के १५, १७, १८–२१–६.१९–२२ से मिलती-जुलती हैं। (२) प्रथम कारिका पर वृत्ति 'ग्रन्थारम्भे विघ्न विघाताय समुचितेष्टदेवतां ग्रन्थकृत्परामृशति' यह है। इससे स्पष्ट होता है कि वृत्तिकार कारिकाकार से भिन्न व्यक्ति है। (३) दसवें उल्लास में 'समस्त वस्तुविषयं श्रौता आरोपिता यदा' यह कारिका और इस पर 'बहुवचनं विवक्षितम्' नामक वृत्ति में मतभेद लगता है। कारिकाकार और वृत्तिकार यदि एक ही होते तो

'श्रौतानारोपितौयदि' इस प्रकार के शब्द आते। इस पर थोड़ा विचार करने पर विदित होगा कि ये तीनों तर्क निर्बल हैं। काव्यप्रकाश की १४३ कारिकाओं में से बहुत थोड़ी कारिकाएं नाट्यशास्त्र[1] से ग्रहण करली हों क्योंकि उन्हें इन कारिकाओं में निजी कथन मार्मिक ढंग से व्यक्त किया गया प्रतीत हुआ होगा। उन्हें इससे अधिक उत्तम रीति से अपना मत देखने में संशय था। नाट्यशास्त्र उस समय रस विवेचन के लिए अग्रगण्य ग्रन्थ था अतः उसमें से कारिकाएं लेने में किसी प्रकार की न्यूनता की अनुभूति नहीं होती थी। मम्मट ने तो अन्य ग्रन्थों से भी बहुत-सी कारिकाएं अक्षरशः उद्धृत की हैं। उदाहरणार्थ, सातवें उल्लास (पृ० ४०६) की 'कर्णावतंसादिपदे वर्णादि ध्वनिर्निर्मितिः। सन्निधानादि बोधार्थम्' यह कारिका वामन के काव्यालंकार सूत्र की कर्णावतंसश्रवणकुंडलशिरः शेखरेषुकर्णादिनिर्देशः सन्निधेः' (२-२.१४) इस कारिका पर आधारित है। कर्णावतंसादि श्लोक वामन ने उद्धृत (२.१, १९) किया है। 'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः,' उपकुर्वन्तितंसन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्' यह आठवें उल्लास (पृ० ४६२-४६४) की कारिका ध्वनिकारिका (तमर्थमवलम्वन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः। अङ्गाश्रितास्त्वलंकाराः मन्तव्याः कटकादिवत् २.७) से मिलती-जुलती है। 'ग्रन्थकृत् परामृशति' इस तृतीय पुरुष प्रयोग करने में वास्तविकता यह है कि इसमें ग्रन्थकार अपनी निरभिमानता दिखाते हैं। यह प्राचीन ग्रन्थकारों की पद्धति रही है। 'मैं ग्रन्थ रचता हूँ' इस प्रकार का प्रथम पुरुष का प्रयोग वे सहसा नहीं करते। देखिए 'आवर्त्त' पृ० १ पर साहित्यदर्पण नामक टीका जिसमें मेधातिथि और कुल्लुक को उद्धृत किया है। 'समस्तवस्तु···यदा' इस कारिका तथा इस पर की वृत्ति में वास्तविक कोई भेद नहीं हैं। इस वृत्ति का अर्थ भली प्रकार नहीं समझा गया। कारिका में बहुवचन का प्रयोग सामान्य नियम का प्रतिपादन करने के लिये हुआ है समस्तवस्तुविषय रूपक में सामान्यतः आरोप्यमाण गुण बहुत-से होंगे अतः 'आरोपिता' इस बहुवचन का प्रयोग हुआ। 'आरोपविषया इवारोप्यमाणायदा' इस वृत्ति में भी आरंभ में इस प्रकार कहा गया है: 'बहुवचनमविवक्षितम्' ये वृत्तिगत शब्द विशेष उदाहरण की ओर संकेत करते हैं जिस ओर संभवतः ध्यान नहीं जाना चाहिए। आरोप्यमाण

---

1. जयराम ने अपनी रचना तिलक में कहा है: 'कारिकाणां भरतसंहितायां कासांचिद् दर्शनं न दोषाय प्रामाण्यज्ञापनार्थम् क्वचित्तासां लिखनात्।' (पीटर्सन की दूसरी रिपोर्ट पृ० १०७) ग्रन्थकर्ता के विषय में इन्होंने इस प्रकार कहा है: 'ग्रन्थकृदित्यादिना निर्देशस्तु धीरोदात्तस्वस्य संगोपनाय।'

विषय दो होने पर भी समस्तवस्तुविषय रूपक होता है, यह कहना वृत्ति का उद्देश्य है। इसका कारिका में स्पष्टरूप में उल्लेख नहीं आ सका अतः वृत्ति में स्वतंत्ररूप में उल्लेख किया गया है।

कारिका और वृत्ति दोनों के रचयिता मम्मट ही हैं इस विषय में स्वतंत्र और स्पष्ट आधार दिये जा सकते हैं। (१) मम्मट ने कहीं भी यह नहीं कहा कि वे दूसरे के ग्रंथकार पर वृत्तिरूप टीका लिख रहे हैं। वृत्ति में मंगलाचरण का पृथक् उल्लेख नहीं है। यदि केवल वृत्ति ही उसकी होती तो आरंभ में मंगलाचरण आता जोकि नहीं आया। कारिका के आरंभ में तो मंगलाचरण है। (२) 'कारणान्यथकार्याणि' इस चौथे उल्लास की कारिका की वृत्ति में 'तदुक्तं भरतेन विभावानुभाव व्यभिचारि०' कहा गया है। काव्यप्रकाश की कारिका यदि भरत की होती तो वृत्तिकार ने 'भरतेन' के स्थान पर 'तदुक्तमनेनैवान्यत्र' अथवा 'तदुक्तं कारिकाकृतान्यत्र' इत्यादि कहा होता। (३) एक कारिका 'साङ्गमेतन्निरङ्गं तु शुद्धं माला तु पूर्ववत्' है। इसमें मालारूपक का संकेत दिया गया है और कहा गया है कि यह पूर्वोक्त मालोपमा के समान है। परन्तु मालोपमा का उल्लेख स्पष्टतः केवल वृत्ति में ही है। अतः इससे स्पष्ट है कि कारिका और वृत्ति एक ही व्यक्ति द्वारा रची गई हैं।[1]

(४) माणिक्यचन्द्र, जयन्त, सरस्वती तीर्थ, सोमेश्वर आदि काव्यप्रकाश के आरंभिक टीकाकारों ने वृत्तिकार और कारिकाकार में कहीं भी भेद नहीं माना है। प्रत्युत प्राचीन अनेक टीकाकारों ने तो यह स्पष्ट कर दिया है कि कारिका और वृत्ति दोनों एक ही व्यक्ति ने लिखी हैं। काव्यानुशासन की टीका (पृ० ४) में हेमचन्द्र ने कहा है: 'एवमानंदयशश्चतुर्वर्गोपायव्युत्पत्तीनां काव्यप्रयोजनताम-साधारणीं प्रतिपाद्य यत्कैश्चित् श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिवधनं···नर्थं निवारणं

---

1. 'माला तु पूर्ववत्' इस पद्य पर बहुत लिखा गया है। (आई० ए० भाग ४७, पृ० २३. जमरमेन, एनल्स ऑफ़ बी०ओ०आर०आई० भाग ६, पृ० ५०–५४, प्रो० दिवेकर, एनल्स ऑफ़ जी० ओ० आर० आई० भाग ८, पृ० ४१९–४२४, डा० डे का प्रो० दिवाकर को उत्तर: जेड० डी० एम० जी० ६७, पृ० ३५ नोबल) दिवेकर का आक्षेप यह है कि 'कारिकागत माला तु पूर्ववत्' का तात्पर्य मालोपमा नहीं हो सकता जैसाकि वृत्ति में लिखा गया है। क्योंकि बीच में बहुत-सी अन्य कारिकाएं आ जाती हैं अतः वे 'पूर्ववत्' से सांग का तात्पर्य लेते हैं। दिवेकर के मत पर डा० डे० ने गंभीर आक्षेप उठाये हैं। जैसाकि न्याय की उपरोक्त (पृ० २५५.१) उक्ति 'यस्य येनार्थसंबन्धो···आनन्तर्यमकारणम्' से स्पष्ट है कि दूरान्वय कोई गंभीर विषय नहीं है।

प्रयोजनत्रयमुपन्यस्तम् । इसमें 'काव्यं यशसेऽर्थकृते' यह कारिका और इसकी वृत्ति को एक ही लेखक की रचना मानकर हेमचन्द्र ने लिखा है। अन्यत्र हेमचन्द्र ने कहा है: (काव्यानुशा० पृ० १०९) 'यथाह मम्मटः—अगूढमपरस्याङ्ग' इत्यादि (जोकि उल्लास ५.१–२ में है) इसमें हेमचन्द्र ने (जिसने काव्यानुशासन की रचना मम्मट के समय से ५० वर्ष के अन्दर ही की है। यह स्पष्टरूप में कहा है कि कारिकाएं मम्मट की ही रचनाएं हैं। जयरथ ने कारिकाकार और वृत्तिकार के लिए काव्यप्रकाशकृत् इस एक ही संज्ञा का प्रयोग किया है। (दे० पृ० १०२, १३७, १५०, १९९)। प्रतापरुद्रीयकार ने काव्यप्रकाश (दे० पृ० ६.९०, २२५, २३६) नाम से ही कारिकाओं का उल्लेख किया है। चित्र मीमांसाकार ने भी (पृ० ८०) उत्प्रेक्षा अलंकार की परिभाषा से संबंधित कारिका और उसके उदाहरण को काव्यप्रकाशिकाकार की ही रचना माना है। रसगंगाधर (पृ० ३०) में भी कारिकाओं को मम्मट रचित माना गया है। जयराम (अपने तिलक में), भीमसेन (अपने सुधासागर पृ० ४ चौखंभा संस्कृत सीरीज़), गोपाल (अपने साहित्यचूड़ामणि पृ० ४ त्रिवेन्द्रम संस्करण) और कमलाकर भट्ट ने कहा है कि कारिकाकार और वृत्तिकार एक ही व्यक्ति है। अतः मम्मट को कारिकाओं का रचयिता भी मानना चाहिए।

काव्यप्रकाश के अन्त में यह श्लोक आता है—'इत्येष मार्गो विदुषां विभिन्नोप्यभिन्नरूपः प्रतिभासते यत् । न तद्विचित्रं यदमुत्र सम्यग्विनिर्मिता संघटनैव हेतुः ॥' इस श्लोक की आरंभिक टीकाकारों ने भी व्याख्या करते समय दो अर्थ निकाले हैं। इनमें से प्राचीनतम टीकाकार माणिक्यचन्द्र ने कहा है 'अथ चायं ग्रंथोऽन्येनारब्धोऽपरेण च समर्थित इति द्विखंडोऽपि संघटानवशादखंडायते।' काव्यप्रकाश संकेत (पीटरसन की द्वितीय रिपोर्ट पृ० १३ और कलकत्ता औरियंटल जरनल भाग २, प्रो० एस० पी० भट्टाचार्य द्वारा संकेतित) में भी यह कहा गया है: 'एतेन महामतीनां प्रसरणहेतुरेष ग्रन्थो ग्रन्थकृतानेन कथमाप्यसमाप्तत्वादपरेण च पूरितावशेषत्वात् द्विखंडोपि' इत्यादि । सोमेश्वर ने भी कहा है: 'अथ च सुधियां विकासहेतुर्ग्रन्थोयं कथंचिदपूर्णत्वादन्येन पूरितशेष इति द्विखंडोपि' इत्यादि । राजानकानन्द के काव्यप्रकाशनिदर्शन (१६६५ ई० सन् में लिखा गया) में लिखा गया है कि मम्मट ने परिकरतक ग्रंथ लिखा है और शेष अलक द्वारा पूर्ण किया गया है। यदुक्तं—कृतः श्रीमम्मटाचार्यवर्यैः परिकरावधिः । प्रबंधः पूरितः शेषो विधायालकसूरिणा ॥ अन्येनाप्युक्तंकाव्यप्रकाशदशकोपि निबंधकृद्भ्यां द्वाभ्यां कृतोपि कृतिनायं रसतत्त्वलाभः । इत्यादि (देखो जे० बी० बी० आर० ए० एस० भाग १६, अतिरिक्त संख्या २३)।

काव्यप्रकाश संकेत के प्रथम और दसवें अध्याय के अन्त में उपसंहारात्मक शब्द इस प्रकार हैं : 'इति श्रीमद्राजानकामल्लमम्मटरुचकविरचिते निजग्रन्थकाव्य-प्रकाश संकेते प्रथम उल्लासः' और 'कृती राजानक मम्मटालकरुचकानाम' (दे० पीटरसन की द्वितीय रिपोर्ट पृ० १४)। संवत् १२१५ (सन् ११५८ ई० सन्) में काव्यप्रकाश की एक हस्तलिखित प्रति में उपसंहारात्मक शब्द इस प्रकार लिखे गए हैं : 'कृती राजानकमम्मटालकयोः' (दे० प्रो० एस० आर० भांडारकर, रिपोर्ट १९०५–६, पृ० ७९)। काव्यप्रकाश के लेखक द्वय का उल्लेख अर्जुनवर्म देव ने अमरूशतक की टीका में भी किया है। इसने 'भवतु विदितम्' (काव्यमाला संस्करण श्लोक ३० पृ० २९) श्लोक के वाद कहा है 'यथोदाहृतं दोषनिर्णये मम्मटालकाभ्यां प्रसादे वर्तस्व' इत्यादि। (दे० काव्यप्रकाश पृ० ४३८)। अन्यत्र अमरू के 'लीलातामर साहतो०' (पृ० ५५, श्लोक ७२) पर अर्जुनवर्मदेव ने कहा है : 'अत्र केचिद्वायुपदेन जुगुप्साश्लीलमिति दोषमाचक्षेत...तदा वाग्देवता-देश इति व्यवसितव्य एवासौ। किंतु ह्लादैकमयीवरलब्धप्रसादौ काव्यप्रकाशकारौ प्रायेण दोषदृष्टी इत्यादि'। ('लीलाताम०' श्लोक के लिए देखिए काव्यप्रकाश पृ० २७८)। अर्जुनवर्मदेव धारा नगरी के भोज से १३वें क्रम पर हुआ था। उसके राज्यकाल के १२११–१२१६ तक के शिलालेख मिलते हैं। अतः लगभग १५० वर्षों में ही मम्मट को सरस्वती का अवतार माना जाने लगा। अर्जुनवर्म देव के शब्दों से यह भी आशय निकलता है कि अलक ने १०वें उल्लास पर ही नहीं वरन् सातवें उल्लास पर भी काम किया था। काव्यप्रकाश के रचयिता के रूप में अलक का संवंध है—इस परम्परागत बात को सुनकर अर्जुनवर्मदेव ने संभवतः उसका संपूर्ण ग्रन्थ से संवंध दिखा दिया हो।

डा० एच० आर० दिवेकर (जे०आर०ए०एस० १९२७ पृ० ५०५–५२०) ने कतिपय प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मम्मट ने परिकर अलंकार तक की कारिकाओं का ही निर्माण किया है। शेष कारिकाएं और संपूर्ण वृत्ति की रचना अलक ने की है। कई स्थलों पर उनके दिये गए कारण आत्मपरख हैं और वे सभी अविश्वसनीय हैं। वहुत-से हस्तलिखित ग्रंथों में अलक नाम लिखा है परन्तु डा० स्टेन ने कहा है कि काशमीरी पंडितों में प्रचलित नाम अल्लट है। अन्य किसी नाम की उसे जानकारी नहीं है (दे० सूची जम्मू हस्तलिखित ग्रंथमाला पृ० २३–६)। अतः करनल जैकब के मत में भी अलट ही शुद्ध रूप है, अलक नहीं (ज० आर० ए० एस० १८९७ पृ० २८२)। किन्तु मैं आधुनिक पंडितों की परम्परा की अपेक्षा प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों को अधिक महत्त्व देता हूं (हस्तलिखित प्रतियों में से एक

में दिया हुआ अलक नाम ११५८ ई० सन्० के लगभग का है; दे० गोड़े भाग १ पृ० २३४–८; इसके उपसंहार में संवत् १२१५ आश्विन सुदी १४ बुध अर्थात् बुधवार ८ अक्तूबर ११५८ ई० सन् दिया हुआ है। और अन्त में कहा गया है : 'कृती राजानकमम्मटालकयोः ।···अणहिल्लपाटके···शाकम्भरिभूपाल श्रीकुमारपालदेव—कल्याणविजय' इत्यादि ।) कुमारपाल ने ११४२ से ११७३ ई० सन् तक राज्य किया। अलक नाम भी अल्लट अथवा अलट की भांति काशमीरी नाम है। रुद्रट, मम्मट, कल्लट, भल्लट इत्यादि के समान कुन्तक, शंकुक, लंकक, मंखक—इस प्रकार के प्रसिद्ध काशमीरी नाम हैं। इस विषय[1] पर मेरा लेख आई० ए० १९११ पृ० २०९ देखिए। विधाचक्रवर्तिन की संप्रदायप्रकाशिनी नामक (त्रिवेन्द्रम संस्करण) का अंतिम श्लोक इत्येष० पर इस प्रकार कहा है : 'मन्मथग्रंथशेषं परिपूरितवतोयमलर्कस्य स्वापेक्षः श्लोकः' (प्रति २ पृ० ४४९) ।

जोनराज ने जिस अलकदत्त का संधिविग्रहिक नाम से उल्लेख किया है और जिसने कल्याण को (संभवतः यह राजतरंगिणीकार कल्हण होगा) काव्यमीमांसा-शास्त्र पढ़ाया, जिसका मंखक के श्रीकंठचरित (२५.७८–८०) में उल्लेख मिलता है, वहीं अलकदत्त काव्यप्रकाशकार है अथवा अन्य कोई व्यक्ति, यह निर्णय करना कठिन है।

मम्मट के व्यक्तिगत जीवन के विषय में विशेष जानकारी नहीं मिलती।

---

1. जेड० डी० एम० जी० भाग ६६, पृ० ४४७–४९० में 'काव्यप्रकाश के दो लेखक' शीर्षक लेख में सुकठणकर ने वताया है कि काव्यप्रकाश १० में परिकर के उपरान्त का भाग रुद्रट का निकट अनुसरण करता है। जबकि परिकर तक का भाग इसका अनुसरण नहीं करता। १०वें उल्लास के उत्तरवर्ती भाग में नवसाहसांकचरित से ६ उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं जबकि काव्यप्रकाश के दसवें उल्लास के प्रथम भाग में इस काव्य से कोई भी उक्ति नहीं दी गई है। एक स्थान पर आश्चर्यजनक समता द्रष्टव्य है। आई० ए० भाग ५८, १९२९ पृ० १६१ में मेवाड़ के राजा अल्लट के समय का एक शिलालेख है, इसकी तिथि संवत् १०१० है इसमें मम्मट का आमात्य नाम से उल्लेख आया है। इससे पता चलता है कि यह नाम केवल काश्मीर तक ही सीमित नहीं था। चाहमान विग्रहराज के हर्ष नामक शिलालेख (ई० आई० भाग २, पृ० ११६, पृ० १२२ पर ई० सन् लगभग ९७०) में एक अल्लट (भावरक्त) नामक पशुपत का उल्लेख मिलता है।

वह महाभाष्यप्रदीपकार कैयट और ऋकप्रातिशाख्य भाष्यकार उवट का ज्येष्ठ भ्राता था और उसके पिता का नाम जैयट था। इसका सुधासागर ग्रंथ में भीमसेन ने परिचय दिया है जिसका डा० पीटरसन ने उल्लेख किया है। वह काशमीर में पैदा हुआ परन्तु उसने बनारस में अध्ययन किया और अपने भाइयों को पढ़ाया। यह परिचय एक ऐसे लेखक ने दिया है जो मम्मट के छः शताब्दी बाद हुआ है (१६७२–३)। इसलिए उसका कथन बहुत-कुछ कल्पना पर आधारित प्रतीत होता है। मम्मट, कैयट, उवट—इन नामों के ध्वनि साम्य पर उसने इन तीनों के भाई होने की कल्पना करली होगी। ऋकप्रातिशाख्य के उवट लिखित भाष्य से पता लगता है कि वह वज्रट (जैयट नहीं) का पुत्र था और आनंदपुर का निवासी था। उवट ने राजसनेयसंहिताभाष्य भोज के राज्य-काल में लिखा (भोजे राज्यं प्रशासिति)। अतः इससे मम्मट को उवट का भाई मानने में कोई कठिनाई नहीं आती परन्तु उसे उवट का भाई मानने पर कैयट का भाई नहीं माना जा सकता क्योंकि कैयट का पिता जैयट था और उवट का वज्रट। काशमीरी पंडितों के मतानुसार नैषधीय काव्य का कर्ता श्रीहर्ष का मम्मट मामा था (बूल्हरकृत काश्मीर रिपोर्ट पृ० ६८)। मम्मट बहुत बड़ा विद्वान् था और उसका अध्ययन बहुत विस्तृत था। उसने व्याकरणशास्त्र का भी गंभीर अध्ययन किया था। उसने महाभाष्य और वाक्यपदीय इन ग्रंथों से वचन उद्धृत किए हैं और उपमा का विभाजन व्याकरणशास्त्र की दृष्टि से किया है। विभावना की व्याख्या में क्रियाशब्द हेतु के अर्थ में प्रयुक्त किया है। शब्दों के जाति आदि संकेतों का विवेचन करते समय वैयाकरणों के मतों का उन्होंने अनुसरण किया है। और वैयाकरण का अर्थ ही विद्वान् मनुष्य इस प्रकार समीकरण किया है। इन्होंने शब्दव्यापार विचार नामक एक अन्य छोटा ग्रंथ लिखा है जो निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित हुआ है। इस ग्रंथ में इन्होंने द्वितीय उल्लास के विषय भिधा और लक्षणा का विस्तार से विवेचन किया है। राजानक विशेषण भी उनके नाम के पीछे लगाया जाता है। आज भी काशमीरी ब्राह्मणों को यह पदवी दी जाती है। इसका अर्थ लगभग राजा ही है (दे० राजतर० ६.२६१, राजी कृतज्ञभावेन सापि मन्त्रिसमान्तरे। तमाजुहाव निर्द्रोहं स्वयं राजानकाख्यया ॥') मम्मट सारे भारत में अत्यन्त लोकप्रिय काव्यशास्त्र के लेखक बन गए। इसका प्रमाण काव्यप्रकाश पर लिखी गई उपलब्ध लगभग ७५ टीकाएं हैं।

मम्मट ने अभिनवगुप्त (जो १०१५ सन् में जीवित थे) और नवसाहसांक-चरित (१००५ के लगभग लिखा गया) का उल्लेख किया है। इन्होंने भोज

द्वारा विद्वानों के प्रति दिखाई गई उदारता का भी उल्लेख किया है। (यद्विद्वद्भवनेषु भोजनृपतेस्तत्त्यागलीलायितं—उदात्त अलंकार का उदाहरण)। यह श्लोक यदि भोज के जीवनकाल में रचा गया है तो अवश्य ही उनके उत्तरवर्तीकाल में रचा गया होगा; क्योंकि उनका यश फैलने के लिए कई वर्ष लगे होंगे। यह ऊपर दिखाया जा चुका है कि भोज का राज्यकाल १०५४ ई० सन् के बाद नहीं रहा होगा। अतः काव्यप्रकाश भी संभवतः १०५० से पहले नहीं लिखा गया होगा। हेमचन्द्र ने अपना काव्यानुशासन लगभग ११४३ ई० सन् में लिखा और उसने मम्मट का उल्लेख किया है। (दे० ऊपर पृ० २७१) काव्यप्रकाश की टीका माणिक्यचन्द्र ने संवत् १२१६ (अर्थात् ११५९-६० ई० सन्) में लिखी और इसकी हस्तलिखित प्रति पर १२१५ (संवत्) अर्थात् ११५८ ई० सन् तिथि है। (दे० प्रो० गौड़ का लेख जे० ओ० आर० मद्रास भाग १३, पृ० ४९—हस्तलिखित प्रति की तिथि के लिए)। यह आगे सिद्ध किया जाएगा कि अलंकारसर्वस्व में काव्यप्रकाश का उल्लेख है और काव्यप्रकाश संकेत में काव्यप्रकाश पर लिखी हुई पूर्ववर्ती टीकाओं का उल्लेख है। (पृ० ३ और ५ कलकत्ता ओ० जे० भाग २)। अतः कुछ भी हो, काव्यप्रकाश की रचना ११०० ई० सन् से पूर्व निर्धारित होती है। इस प्रकार काव्यप्रकाश की तिथि १०५० और ११०० ई० सन् के बीच निर्धारित होती है।

काव्यप्रकाश के अनेक भाष्यकारों में माणिक्यचन्द्र, सोमेश्वर, सरस्वतीतीर्थ और जयन्त का विशेष उल्लेख करना आवश्यक है क्योंकि ये आरंभिक टीकाकारों में से थे। रुचक लिखित काव्यप्रकाश संकेत का संपादन प्रो० एस० पी० भट्टाचार्य ने अंग्रेजी टीका सहित किया है (कलकत्ता औरियंटल जनरल, भाग २, पृ० १–७५)। साथ ही प्रो० सुख थणकर ने काव्यप्रकाश के १०वें उल्लास पर ग्रंथ के अन्त में टीका लिखी है। गोविन्दठक्कुर का भाष्य (प्रदीप) बहुत ही विद्वत्तापूर्ण है। इनका समय संभवतः १५वीं शताब्दी था। गीता को छोड़कर शायद ही अन्य कोई प्राचीन संस्कृत का ग्रंथ हो जिस पर इतनी अधिक टीकाएं[1] लिखी गई हों।

---

1. कमलाकर (जिन्होंने १६१२ ई० सन् में निर्णयसिन्धु की रचना की) ने काव्यप्रकाश की अपनी टीका में यह कहा है: 'काव्यप्रकाशे टिप्पणयः सहस्रं सन्ति यद्यपि। ताभ्यस्त्वस्या विशेषो यः पंडितैः सोऽवधार्यताम्। (डी० सी० हस्तलिपि, सं० ४३९, सन् १८९५–१९००, सरकारी हस्तलिपि, बी० ओ० आर० आई० केटालॉग भाग १२, पृ० १२९ में उल्लिखित) महेश्वर ने भावार्थचिन्ता-

२७. रुय्यक प्रणीत अलंकारसर्वस्व

यह अलंकारशास्त्र पर लिखा गया एक प्रामाणिक ग्रंथ है। लेखक ध्वनि संप्रदाय के कट्टर अनुयायी हैं और इन्होंने काव्य की आत्मा के विषय में उपलब्ध भामह, उद्भट, रुद्रट, वामन, वक्रोक्तिजीवितकार, व्यक्तिविवेककार और ध्वनिकार के मतों का सारांश दिया है। इन्होंने पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, वृत्त अनुप्रास, यमक, लाटानुप्रास, विचित्र का वर्णन करने के वाद ७५ अर्थालंकारों का निरूपण किया है। आरंभ में उपमा अलंकार का वर्णन किया है। रुय्यक ने मम्मट से अधिक अलंकारों की परिभाषा दी हैं और उनका मम्मट की अपेक्षा अधिक विस्तार से विवेचन किया है। इस ग्रंथ में १९३९ ई० सन् के के० एम० संस्करण से उद्धरण लिए गए हैं। इन्होंने परिणाम, रसवत्, प्रेयः, ऊर्जस्वि, समाहित, भावोदय, भावसंधि और भावशवल इन अलंकारों का मम्मट से अधिक विवेचन किया है और स्वयं विकल्प और विचित्र नामक दो नए अलंकार दिए हैं (पृ० १९८–२०० जैसाकि उन्होंने स्वयं कहा है: 'पूर्वैरकृतविवेकोत्र दर्शित इत्यवगन्तव्यम्,' विचित्र के वारे में जयरथ ने कहा है: 'एतद्धि ग्रंथकृतैकामिनवत्वेनोक्तम् पृ० १६८–९)। मेरी साहित्यदर्पण की टीका से यह स्पष्ट हो जायगा कि विश्वनाथ अलंकारसर्वस्व के कितने ऋणी थे और उससे इन्हें कितनी अधिक प्रेरणा मिली। एकावली, कुवलयानन्द तथा अन्य रचनाओं पर भी इसका प्रभाव पड़ा है। यह ग्रंथ तीन भागों में विभक्त है। प्रथम सूत्रों का स्थान है (जो गद्य में हैं) जिसमें अलंकारों की परिभाषाएं दी गई हैं। इसके उपरान्त वृत्ति और उदाहरण आते हैं जो पूर्ववर्ती ग्रन्थों से लिए गए हैं। जिन ग्रन्थों अथवा ग्रन्थकारों का नाम निर्देश या अप्रत्यक्ष उल्लेख अलंकारसर्वस्व में आया है उनमें उल्लेखनीय निम्नलिखित हैं: अलंकार मंजरी (पृ० १८), उद्भट, विल्हण का विक्रमांकदेवचरित (पृ० १५०, दो श्लोक, १.११.१२), भामह (२२८), वामन (पृ० १६०), श्रीकंठस्तव (पृ० २३, चार श्लोक उद्धृत हैं), मंख का श्रीकंठचरित, हरिश्चन्द्रचरित (पृ० १३०)। इन्होंने उद्भट (पृ० १५६, २१९, २४९, २५६) के विचारों का उल्लेख किया है और राजानकतिलक के उद्भटविवेक अथवा उद्भटविचार (५.१४६, २५७) इस ग्रंथ के मतानुसार प्रायः अलंकारसर्वस्वकार ने विवेचन किया है—यह जयरथ (पृ० १५८) का मत है। एक स्थान पर (पृ० १५१) इन्होंने ध्वन्यालोक (पृ० १३६) से अपना मतभेद

मणि में इस प्रकार कहा है: 'काव्यप्रकाशस्यकृता गृहे-गृहे टीका तथाप्येष तथैव दुर्गमः। सुखेन विज्ञातुमिमं यः ईहते धीरः स एतां निपुणं विलोकताम्॥

दिखाया है। 'स वक्तुमखिलांशवतो हयग्रीवाश्रितान्गुणान् । योम्वुकंभैः परिच्छेदं कर्तुं शक्तो महोदधेः ।') ध्वन्यालोक में यह आक्षेप ध्वनि का उदाहरण माना गया है। इन्होंने लोचन पर दिए गए (पृ० ५२) पर 'किं वृतान्तैः परगृहगतैः' इत्यादि व्याजस्तुति के उदाहरण (पृ० १४४) को सदोष वताया है। अलंकार-सर्वस्व में काव्यप्रकाश का कई स्थलों पर उल्लेख आया है और उसके मतों की समीक्षा की गई है। उदाहरणार्थ सर्वस्व (पृ० १३६) में पर्यायोक्त का यह उदाहरण आता है : 'राजन्राजसुता न पाठयति मां देव्योपि तूष्णीं स्थिताः··· चित्रस्थानवलोक्य शून्यवलभावेकैकमाभाषते' और कहा गया है कि 'अन्ये तु दंडयात्रौद्यतं त्वां बुद्ध्वा त्वदरयः पलाय्य गता इति कारणरूपस्यैवार्थस्य प्रस्तुतत्वात्कार्यरूपोर्थोऽप्रस्तुत एव राजशुकवृत्तान्तस्याप्रतुतत्वात्प्रस्तुतार्थं प्रति स्वात्मानं समर्पयतीत्यप्रस्तुतप्रशंसैवात्र न्याय्येति वर्णयन्ति'। काव्यप्रकाशकार ने इसे अप्रस्तुतप्रशंसा के उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया है। सर्वस्व (पृ० १३०) में 'अलंकारोऽथ वस्त्वेव शब्दाद्यत्रावभासते। प्रधानत्वेन संज्ञेयः शब्दशक्त्युद्भवो द्विधा ॥' इस श्लोक को न्याय का उदाहरण माना गया है। यह काव्यप्रकाश (चौथा उल्लास, पृ० १२८) की एक कारिका है। काव्यप्रकाश की भाविक की परिभाषा 'प्रत्यक्षा एव पत्रार्थाः अलंकारसर्वस्व में (पृ० २३०) 'अत एव प्रत्यक्षा एव ('इव' समुद्रवन्व में) यत्रार्थाः क्रियन्ते इत भाविनः। तद् भाविकम् 'इत्येव मन्यैर्भाविकलक्षणमकारि' इस रूप में उल्लिखित है।

काव्यप्रकाश में 'राजतित०' को शब्दालंकारसङ्कर का उदाहरण मानकर लिखा है : 'अत्र यमकमनुलोमप्रतिलोमश्च चित्रभेदः पादद्वयगते परस्परापेक्षे' (पृ० ७५९) इस विषय में सर्वस्वकार ने लिखा है : 'शब्दालंकार संकरस्तु कैश्चिदुदाहृतोयथा—राजतितरीयमभिहतः···सारा वनदा। अत्र यमकानुलोम प्रतिलोमयोः शब्दालंकारयोः 'परस्परापेक्षत्वेनाङ्गाङ्गि संङ्कर इति। एतत्तु न सम्यगावर्जकम्। शब्दालंकारयोः शब्दवदुपकार्योपकारकत्वाभावेनाङ्गाङ्गिभावाभावात्। शब्दालंकार संसृष्टिस्त्वत्रश्रेयसी' (पृ० २५०)। स्फुटमेकत्र विषये शब्दार्थालंकृतिद्वयम्। व्यवस्थितं च (काव्यप्रकाश १०पृ.७६५) इस कारिका को ध्यान में रखकर, सर्वस्वकार ने समीक्षा की है : 'अतएव व्यवस्थितत्वमन्यानुभाषितमप्रयोजनकम्' (पृ० २५५) कोई अलंकार शब्दालंकार है अथवा अर्थालंकार इसका निर्धारण आश्रयआश्रयिभाव के आधार पर हो सकता है न कि अन्वयव्यतिरेक के। 'लोकवदाश्रयाश्रयिभावश्च तत्तदलंकारनिवन्धनम्। अन्वयव्यतिरेकौ-तु तत्कार्यत्वेप्रयोजकौ।' (पृ० २५६) सर्वस्वकार के प्रस्तुत मत के विपरीत मम्मट का प्रतिपादन मिलता है। काव्यप्रकाशकार की 'स्वसिद्धये पराक्षेपः पराथ

स्वसमर्पणम्' इस द्वितीय उल्लास (पृ० ४३) की कारिका का सर्वस्व (पृ० ४) में उल्लेख मिलता है। काव्यप्रकाश की अनेक कारिकाएं सर्वस्व में मिलती हैं केवल इसी आधार पर मम्मट को रुय्यक का पूर्ववर्ती सिद्ध नहीं किया जा सकता। क्योंकि बहुत-सी कारिकाएँ स्वयं काव्यप्रकाशकार ने दूसरे ग्रन्थों से ली हैं अतः दोनों ही लेखकों पर अन्य ग्रन्थकारों का ऋण संभव है। फिर भी ऊपर उल्लिखित वृत्ति के अवतरणों से इस विषय का निर्णय किया जा सकता है। जयरथ की विमर्शिनी टीका (पृ० १८९, २०४) से भी यह प्रश्न सुलझता है। इसके अतिरिक्त चित्र, काव्यलिंग, व्याजोक्ति, उत्तर, मीलित, समाधि, इत्यादि अलंकारों की परिभाषा काव्यप्रकाश और अलंकारसर्वस्व में समानरूप से मिलती है और इनके लगभग ७६ उदाहरण काव्यप्रकाश के १०वें उल्लास में तथा अलंकारसर्वस्व में एक जैसे ही हैं।

अलंकारसर्वस्व की वृत्ति के रचयिता का प्रश्न विवादास्पद बना हुआ है। काव्यमाला संस्करण की वृत्ति के प्रथम श्लोक में लिखा है : 'निजालंकार सूत्राणां-वृत्यातातपर्यमुच्यते।' रुय्यक के लगभग ७५ वर्ष बाद विमर्शिनीकार जयरथ हुए। इन्होंने अपने पाठ में 'निजालंकार' ही दिया है अर्थात् इनके मत में सूत्रकार और वृत्तिकार एक ही व्यक्ति थे। परवर्ती ग्रन्थकारों ने रुचक अथवा रुय्यक को ही वृत्ति का कर्ता माना है। उदाहरणार्थ, प्रतापरुद्रयशोभूषण की टीका रत्नापण में कहा : 'तदुक्तं रुचकेन एषार्थाश्रयापि धर्मविषये श्लिष्टशब्दहेतुका क्वचिद्दृश्यते' (पृ० ३९३ : यही सर्वस्व पृ० ७२ पर है) 'न चेदं विषमाद्यभेदेन्तर्भवति। इहहि स्वनिषेधो वैपरीत्यं गमयति विषमेतु व्यत्यय इति भेदस्य रुचकेनोक्तत्वात्' (पृ० ४२५, सर्वस्व का पृ० १६८) काव्यग्रहणं तर्कवैलक्षण्यार्थम्। तेन व्याप्तिपक्षधर्मतादयो न क्रियन्ते इति रुचकः (पृ० ४४८, यह सर्वस्व के पृ० १८१ पर है) : चित्रमीमांसा में (पृ० ७२) 'ये तु उद्भिन्नवस्तु निगूहनं व्याजोक्ति···तेषामिहापि व्याजोक्तिरेवनापह्नुतिरितिरुचकादयः' लिखा है (दे० अलंकारसर्वस्व पृ० २१९) और सर्वस्व की वृत्ति को रुचक की माना है। परन्तु बर्नेल को तंजौर में उपलब्ध हस्तलिखित थी प्रति में श्लोकार्ध 'गुर्वलंकारसूत्राणां वृत्या' इस प्रकार है और त्रितेन्द्रम प्रति में भी इसी प्रकार का पाठ है। परन्तु त्रिवेन्द्रम प्रति के अंत में 'इति मंखुको वितेने काश्मीरक्षितिप सन्धिविग्रहिकः। सुकविमुखालंकारं तदिदमलंकारसर्वस्वम्।' इस प्रकार का श्लोक आया है। समुद्रबंध ने अपनी टीका के अंत में लिखा है : 'मङ्खुक निबन्धविवृत्तौविहितायामिह समुद्रबंधेन।' और कई अन्य स्थलों में भी (पृ०२)

कदाचिन्मङ्खुकोपज्ञं और (पृ० ४) व्यक्तिविवेककाराभिमतस्त्वनुमानौपक्षः···मङ्खुकस्यपूर्वपक्षत्वेनाप्यनभिमतइत्याहुः' वृत्ति का रचयिता मङ्खुक को बताया गया है। 'मङ्खुक' शब्द मङ्खक का अशुद्ध रूप है। मङ्खककृत श्रीकंठचरित (२५. २६.३०) के अनुसार रुय्यक मङ्खक (३.६३ और ७२) अथवा मङ्ख (१.५६) का गुरु था और राजतरंगिणीकार के कथनानुसार काश्मीर के राजा जयसिंह ने मङ्खक को अपना सन्धिविग्रहिक अर्थात् सामदंड मंत्री बनाया था। 'सन्धिविग्रहिको मङ्खकाख्योऽलंकार सोदरः। समठस्याभवत्प्रष्ठः श्रीकण्ठस्य प्रतिष्ठया। (८.३५.४ तथा देखिए श्रीकण्ठचरित, पृ० ३.६६ भी) अतः अलंकारसर्वस्व के रचयिता में मङ्खक के नाम की परंपरा दक्षिण भारत में चल पड़ी। अनेक कारणों से प्रस्तुत परंपरा खंडनीय है। समुद्रवन्ध को छोड़कर शायद ही किसी लेखक ने मङ्खक को वृत्ति का रचयिता माना है।[1] इसके विपरीत दक्षिण भारत के लेखक कुमारस्वामी (दे० रत्नापण पृ० ३९३, ३९६, ४२५.४४८) और जगन्नाथ (रस गंगाधर पृ० २५१, ३४२–३, ३५२, ४८२) इत्यादि ग्रंथकारों ने सूत्र और वृत्ति दोनों का लेखक एक ही माना है। इसके अतिरिक्त जयरथ ने जो स्वयं काशमीरी पंडित थे और १३वीं शताब्दी के प्रथम चरण में हुए, अलंकारसर्वस्व के सूत्र और वृत्ति दोनों का लेखक रुय्यक को ही माना है। जयरथ के वाद लगभग १३०० ई० सन् में समुद्रवन्ध की टीका लिखी गई। मंखक रुय्यक का शिष्य था। अतः उसने अपने गुरु के ग्रंथ का प्रसार करने के लिए वहुत परिश्रम किया होगा और उस ग्रंथ को दोवारा लिखते समय उसमें कुछ संवर्धन किया होगा। अतः संभव है कि इस कारण उसके श्रीकंठचरित में से वहुत-से पद्य (२.४९ पृ० २५, और ५.२३, ६.१६ और १०.१० पृ० ११४–११५) अलंकारसर्वस्व में आ गए हों। (ऐसा प्रतीत होता है कि गुरु अपने शिष्य के ग्रंथ से पद्य उद्धृत कर रहा हो)। वृत्ति का रचयिता मंखक है, ऐसा भास होने का कारण यह है कि श्रीकंठचरित के वहुत-से पद्य अलंकारसर्वस्व में आ गए हैं। वृत्ति में अप्रामाणिक संवर्धन और परिवर्तन किए गए हैं। ऐसा जयरथ ने स्पष्ट कहा है। और उन्होंने अनेक स्थलों पर मूल ग्रंथ में किए गए सदोष परिवर्तनों का उल्लेख किया है। (दे० पृ० ६३, ८५, १३७,

---

1. परन्तु चित्रमीमांसा (पृ० १०) का निम्नलिखित अवतरण विचारणीय है :—'किंतु श्लेषस्यालंकारान्तरविविक्तविषयाभावेन निरवकाशतया बलवत्त्वेन··· श्लेष एव नोपमेति मंखकादिभिरभ्युपेयते'। दे० पृ० १२६ अलंकारसर्वस्व।

१५८, १६० तथा देखो जे०ओ० आर० मद्रास भाग २६, १९५६–७ पृ० ४०–५२ 'आथरशिप ऑफ दी अलंकारसर्वस्व' लेख श्री एस० वेकंठसुब्रामान्यम लिखित और इसीके पृ० ५३–४ पर डा० वी० राघवन लिखित लेख) ।

सहृदयलीला के उपसंहारात्मक[1] पद्य से प्रतीत होता है कि राजानक तिलक के पुत्र का दूसरा नाम रुचक था । (दे० पिशेल की शृंगारतिलक की भूमि के पृ० २८–९) । जयरथ ने निश्चयपूर्वक कहा है (पृ० १३०) कि काव्यप्रकाशसंकेत (जिसे रुचक लिखित माना जाता है । अलंकारसर्वस्व के लेखक की रचना है । यह मत एक काशमीरी लेखक की है जो अलंकारसर्वस्व के उपरान्त एक शताब्दी के अन्दर-ही-अन्दर हुआ है। अतः यह मत बहुत महत्त्वपूर्ण तथा स्वीकरणीय है । काव्यप्रकाश संकेत में कहा गया है कि ग्रंथकार ने तिलक से काव्यशास्त्र का अध्ययन किया (दे० पृ० १३९ ऊपर की टिप्पणी) । परवर्ती ग्रंथकारों ने रुचक नाम का ही अनेक बार प्रयोग किया है (दे० रत्नापण पृ० ३९३, ३९६) । बहुत-से लेखक अलंकारसर्वस्व के स्थान पर संक्षिप्तरूप सर्वस्व लिखते हैं (रत्नापण पृ० ४२४, ४४९, ४५२, रस गंगाधर पृ० २२०. २२७, ३५५, चित्र मीमांसा पृ० ९८) । सूत्र और वृत्तियों को अलंकारसर्वस्व अथवा केवल सर्वस्व कहकर अनेक वार लिखा गया है। (दे० एकावली तरल पृ० १३६, १४६, २३७; प्रतापरुद्र० पृ० २९१; रत्नापण पृ० ३४१, ४५२) । अलंकारसर्वस्व का अनुवाद जेकोवी ने जर्मन भाषा में किया (दे० जैड० डी० एम० जी० भाग ६२) ।

अलङ्कारसर्वस्व के अतिरिक्त रुय्यक ने निम्नलिखित अन्य ग्रंथ भी लिखे हैं :—(१) अलंकारानुसारिणी (जयरथ द्वारा उल्लिखित पृ० ४४, ७३, ७६) (२) काव्यप्रकाश संकेत (विमर्शिनी का १३० पृष्ठ) (३) नाटकमीमांसा (४) व्यक्तिविवेक विचार (५) श्रीकंठस्तव (दे० अलंकारसर्वस्व पृ० २३, उदाहरणं मदीये श्रीकण्ठस्तवे') (६) सहृदयलीला (७) साहित्यमीमांसा (८) हर्षचरित-वार्तिक । अन्तिम दो ग्रंथों के विषय में अलङ्कारसर्वस्व में इस प्रकार कहा गया है (पृ० ७७) : एषा (उत्प्रेक्षा) च समस्तोपमाप्रतिपादकविषयेपि हर्षचरितवार्तिके साहित्यमीमांसायां च तेषु तेषु प्रदेशेषूदाहृता । इह तु

---

1. उपसंहार इस प्रकार है :—'कृतिः श्रीविपश्चिद्वरराजानकतिलकात्मज श्रीमदालङ्कारिकसमाजाग्रगण्य श्रीराजानकरुय्यकस्य राजानकरुचकापरनाम्नोऽलङ्कारसर्वस्वकृतः ।'

ग्रंथविस्तरभयान्न प्रपंचिता' । जयरथ के मत में व्यक्तिविवेक की टीका रुय्यक द्वारा ही लिखी गई है । 'वाच्यस्य प्रतीयमानेन तादात्म्यातदुत्पत्त्यभावादि नेह प्रतन्यत इति व्यक्तिविवेक विचारे हि मयैवैतद्वितत्य निर्णीतमिति भावाः' । व्यक्ति-विवेक की टीका में लिखा है (त्रिवेन्द्रम संस्करण पृ० ४४) कि हर्षचरितवार्तिक भी उसी लेख की रचना है : 'एतदस्माभिर्हर्षचरितवार्तिके विस्तृत्य प्रतिपादितम्' । यही मत (पृ० ५० पर भी देखिए) । इसी ग्रंथ में (पृ० ३२) नाटकमीमांसा और साहित्यमीमांसा का रचयिता भी लेखक ने अपने-आपको माना है । आफरेश्ट (सी० सी० पृ० ३२ बी) ने कहा है कि जल्हण के सोमपाल विलास पर अलङ्कारानुसारिणी एक टीका है । यह मत उन्होंने रत्नकंठ (१६८१ ई० सन्) के स्तुतिकुसुमांजलिगत (८.१९ 'तथाहि कविवरजल्हणकृते सोमपाल-विलासे···अस्यार्थः श्रीराजनकरुचकविरचितायमलङ्कारानुसारिण्यां' इत्यादि) वचन को आधार मानकर व्यक्त किया है । परन्तु जयरथ के कथन के अनुसार अलङ्कारानुसारिणी यह अलङ्कारों पर स्वतंत्र ग्रंथ है और इसमें प्रतीयमानो-त्प्रेक्षा के ४८ प्रकार माला रूपक इत्यादि विषय पर विस्तार से विवेचन किया गया है । केवल दूसरे की पुस्तक पर लिखी गई टीका में इतना विस्तृत विवेचन मिलना कठिन है । व्यक्तिविवेकविचार (पृ० ४५) से स्पष्ट है कि लेखक बृहती नामक एक अन्य ग्रंथ लिखने का विचार रखता है । यदि यह ग्रंथ पूरा हो जाता तो रुय्यक के ग्रंथों की संख्या १० हो जाती । सहृदयलीला (के० एम० सीरीज़ में प्रकाशित, पिशेल द्वारा १८८६) चार उल्लेखों में विभक्त छोटी-सी रचना है जिनका नाम गुण, अलङ्कार, जीवित और परिकर है । प्रथम उल्लेख में रूप, वर्ण, प्रभा आदि रमणीय स्त्री के दस गुणों का वर्णन है और दूसरे में विभिन्न प्रकार के आभूषणों (सुवर्ण, मोती, रत्न आदि), उबटन, फूलों, जिन्हें स्त्रियां धारण करती हैं, का वर्णन किया है । तीसरे में सौन्दर्य का प्राण जो यौवन है उसका वर्णन किया है । चौथे उल्लेख में सौन्दर्यवर्धक साधनों का वर्णन किया है ।

साहित्यमीमांसा ग्रंथ त्रिवेन्द्रम सीरीज़ में १९३४ में प्रकाशित हुआ । यह संस्करण केवल एक हस्तलिखित प्रति पर आधारित है जबकि तुलना के लिए तंजोर में हस्तलिखित प्रति का एक अन्य छोटा भाग उपलब्ध था । संपादक ने इस ग्रंथ के अतिरिक्त अथवा लुप्त स्थानों का संकेत दिया है । यह बृहद्ग्रंथ है । इस ग्रंथ में कारिकाएं हैं । गद्य में वृत्ति है और उदाहरण भी दिए गए हैं । दुर्भाग्य से लेखक का नाम न तो आदि में मिलता है और न अन्त में । लगभग ६०० श्लोक

अन्य बहुत-सी रचनाओं से लिए गए हैं। इनमें से १०० प्राकृत में हैं। यह ग्रंथ ८ प्रकरणों में विभक्त है। प्रथम और अन्तिम बहुत संक्षिप्त हैं (लगभग प्रत्येक प्रकरण लगभग दो मुद्रित पृष्ठों का है)। इसका संक्षिप्त सारांश इस प्रकार है: (१) वाच्य और वाचक की वन्दना (परा अपरा ब्रह्म के प्रतीक), आठ वर्ण्य विषयों की गणना की है: वृत्ति, विवक्षा, तात्पर्य, प्रतिभाग, व्यपेक्षण, सामर्थ्य, अन्वय, एकार्थ्य, (इन आठ विषयों को साहित्य कहते हैं) दोषत्याग, गुणाधान, अलंकार योग और रसान्वय—ये चार साहित्य परिष्कार हैं जिनसे साहित्य-निर्माण होता है। सत्कवि, विदग्ध कवि, आरोचकि कवि, सतृणाभ्यवहारक कवि, ये चार प्रकार के कवि होते हैं। उत्तम, मध्यम, अधम (सात्विक, राजस और तामस) ये तीन प्रकार के रसिक होते हैं। (२) वृत्ति की परिभाषा, (जैसे पदानां व्यापारः) उसके मुख्या, लक्षणा, गौणी तीन प्रकार; इन तीनों की परिभाषा, विवक्षा, प्रविभाग, (प्रकृति, प्रत्यय, वाक्य, महावाक्य) व्यपेक्षण (आकांक्षा), सामर्थ्य (भेद, संसर्ग और उभय), अन्वय (परस्पर ग्रंथन), एकार्थ्य (एकवाक्यता) इनकी परिभाषाएं तथा उदाहरण दिये गये हैं। ये आठ तत्व साहित्य का निर्माण करते हैं। (साहित्य भाषा और व्याकरण का नाम है काव्यशास्त्र का नहीं) साहित्य और काव्य का भेद (काव्य का दोषत्याग आदि चार परिष्कारों से संबंध है)(३) दोष, पद के अप्रयुक्त, ग्राम्य; असमर्थ, अनर्थक, साधारण प्रसिद्धार्थ, (१) आदि छः दोष, विभिन्न प्रकार के विरोधों की परिभाषाएं और उनके उदाहरण दिये गये हैं (एक या दो पृष्ठ लुप्त हो गये हैं) (४) काव्य के गुण, बाह्य और आभ्यन्तर, शब्दगुण बाह्य हैं और अर्थ गुण आभ्यन्तर। दस गुण (श्लेषः प्रसादः, समता, माधुर्यं, सुकुमारता। अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्ति समाधयः ।।)[1] उनकी परिभाषाएं और उदाहरण दिये गये हैं। (५) अलङ्कार-परिभाषा (काव्येशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते। काव्यादर्श, २.१), गुण और अलङ्कार का भेद, अनुप्रास, क्रम, श्लेष, मुद्रा, दीपक, युक्ति, पठिति, गुम्फना, चित्र, यमक आदि शब्दालंकार, इनकी परिभाषाएं और उदाहरण दिये गये हैं। लाटानुप्रास, परुषा, उपनागरिका और कोमला ये तीन वृत्तियां, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, विभावना, अपह्नुति, भ्रम, साम्य, संशय, संकर ये अर्थालङ्कार, इनकी परिभाषाएं और उदाहरण आये हैं। अन्य अलङ्कारों का अन्तर्भाव इनमें ही हुआ है अथवा वक्रोक्ति के अन्तर्गत इनका विवेचन हुआ है। (६)[2] रस, रस के

1. यह पद्य काव्यादर्श (१.४१) का है।

2. छठा और सातवां प्रकरण सबसे बड़ा है। इनके पृष्ठ क्रमशः ५४–११८ और ११९–१५९ हैं।

कारण (बीज), प्रकृति, सहकारीतत्व तथा रस-निष्पत्ति में सहायक अन्य तत्वों का विवेचन हुआ है। भाव, उनके प्रवान और अप्रधानभेद, प्रधानभाव आठ प्रकार के हैं, इन्हें स्थायी कहा जाता है। अप्रधानभाव वाह्य आठ हैं जिन्हें सात्विक कहा जाता है। ३३ आभ्यन्तरभाव हैं जिन्हें व्यभिचारी भाव कहा जाता है। इसमें इनकी गणना, परिभाषा और उदाहरण आये हैं। रस की व्याख्या, प्राचीनों द्वारा निरूपित आठ रस, शान्त रस का कतिपय ने उल्लेख किया है। इसका स्थायीभाव धृति माना है। कतिपय ने तीन और रसों की वृद्धि की है। शृंगार के संभोग और विप्रलंभ दो भेद। विप्रलंभ और करुण का भेद, अन्य रस, वैदर्भी, आवन्ती, पांचाली और गौडी ये चार रीतियां, इनकी विभिन्न रसों से उपयुक्तता, लाटी और मागधी कीर्ति का उपरोक्त चार रीतियों से साम्य, कैशिकी, भारती, सात्वती और आरभटी वृत्तियां, इनका विभिन्न रसों में प्रयोग, संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाएं, वक्रोक्ति, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, सहोक्ति तथा कतिपय अन्य वक्रोक्ति-प्रकार, ध्वनि, वर्ण, पद, (पूर्वार्द्ध और प्रत्यय) वाक्य, प्रकरण और प्रवन्ध में वक्रत्व की स्थिति, ३६ लक्षणों की गणना और प्रथम तीन के उदाहरण[1] दिये गये हैं। ७ कवियों के चार प्रकार के साधना श्रम: सर्वकलावीक्षा नियोगस्तस्य शीलनम्। स क्लेशः कर्णोद्योगः प्रतिभाभास्वती मतिः। प्रज्ञानवनवोन्मेषशालिनीप्रतिभेति वा), चार प्रकार के कवि होते हैं: सत्कवि, जो वैदर्भीशैली में लिखते हैं, (जैसे वाल्मीकि और कालिदास) विदग्ध कवि, जो वक्रोक्ति का आश्रय लेते हैं, (जैसे व्यास और बाण) अरोचकि कवि, जो अर्थालङ्कारों को अपनाते हैं (जैसे माघ और भारवि) सतृणाभ्यवहार (कवि, जो गौडी शैली में लिखते हैं तथा जो श्लेष चित्र और यमक आदि पर बल देते हैं (जैसे शिवभद्र[2])। कवि समय, कवियों के लिए कतिपय आवश्यक सुझाव दिये गये हैं। जैसे पाद के आरंभ में खलु, वत, हन्त आदि का प्रयोग वर्ज्य होना चाहिए। पाद के अन्त में आये हुए ह्रस्व स्वर को सामान्यतः (सदैव[3] नहीं)

---

1. नाट्यशास्त्र (जी० ओ० एस०) के १६वें अध्याय में प्रथम ७ पद्य हैं जिनमें उपजाति छन्द में लक्षण गिनाए गए हैं। उनका यह उल्लेख हुआ है और उदाहरण वे ही हैं जो अभिनवभारती में आये हैं।

2. वामन ने (१.२.१–३) कवियों के आरोचकिन और सतृणाभ्यवहारिणः इन दो प्रकार के कवियों के बारे में कहा है। (दे० काव्यमीमांसा पृ० १४; इन दो प्रकारों के अतिरिक्त राजशेखर निरूपित 'मत्सरिणः' और 'तत्त्वाभिनिवेशिनः' के लिए)।

3. इनमें से बहुत-से वामन के सदृश हैं उदाहरणार्थ: 'न कर्मधारयः कार्यो

गुरू मान लेना चाहिए। (जैसे, वामन, ५.१.३–५) वेद, पाणिनि, वार्तिक, भाष्य, निरुक्त, सूत्र, स्मृति आदि आये हुए शब्दों के उदाहरणों को कवि प्रयुक्त कर सकते हैं। कालिदास और बाण आदि द्वारा प्रयुक्त शिष्ट-प्रयोगों का अनुसरण करना चाहिए) पात्रों की संबोधन-शैली किस प्रकार की होनी चाहिए। विभिन्न प्रान्तों की स्त्रियों के गुण, स्वभाव तथा वर्ण का वर्णन भी इसमें किया गया है। आवन्त्य, दाक्षिणात्य, पौरस्त्य तथा ओड्रमागध इन प्रवृत्तियों का उल्लेख है। विभिन्न प्रान्तों के विभिन्न ऋतुओं में मनाये जाने वाले त्यौहारों तथा खेलों का वर्णन है। छः प्रमाणों का भी इसमें निर्देश है। ८ जो पाठक काव्य का आस्वाद लेता है, उसे परमानंद की प्राप्ति होती है (ईदृशं भावयन्काव्यं रसिकः परमं सुखम्। प्राप्नोति कालवैषम्याद्गुणतस्त्रिविधोपि सन्॥) ऋग्वेद (१०–७१.२ सक्तुमिव०) और उत्तररामचरित (आविर्भूत ज्योतिषाम् ४.१८) में उल्लेख आया है कि कवि के शब्दों की महिमा बहुत अधिक होती है और उत्तम काव्य के अर्थ के मनन से अनुपम आनंद की प्राप्ति होती है।

जिन लेखकों तथा रचनाओं का नामोल्लेख हुआ है वे इस प्रकार हैं: अक्षपाद, अनर्घराघव, उत्तररामचरित, कादम्बरी, कालिदास, कात्यायन (पृ० १०८), जैमिनी, धनदत्त (पृ० ९४), बाण, भगवदज्जुक (पृ० ७२) भवभूति, (पृ० ५४ भवभूतिः श्मशानांके जगाद रसिकप्रभुः।) भामह (पृ० ८९), भारवि, भोजराज, महावीरचरित, माघ, मालतीमाधव, वक्रोक्ति-कार (पृ० ११७), वामन (पृ० ३२) वाल्मीकि, विन्ध्यवासिन (पृ० ४३), वेणीसंहार, व्यास, शिवभद्र (पृ० १२०)। जिनका नामोल्लेख नहीं हुआ है वे निम्नलिखित हैं: काव्यादर्श से एक दर्जन से भी अधिक परिभाषाएं तथा उदाहरण लिये गये हैं। इसी प्रकार उद्भट के अलंकारसारसंग्रह से भी एक दर्जन के लगभग परिभाषाएं और उदाहरण लिये गये हैं। उद्भट की रचना के प्रथम दो श्लोकों के उपरान्त प्रतिहारेन्दुराज की टीका में से पद्य उद्धृत किये गये हैं। पुनरुक्त···कैश्चिदुपाहृता इति पठित्वा एवमाचार्या व्याचक्षते अत्रालंकारः ·········र्थालंकारता—इति' (पृ० ३९) पृ० ५४ पर दशरूप का यह पद्य उद्धृत है: 'विरुद्धैरवि···णाकरः (४.३४) पृ० ५१ पर सरस्वतीकण्ठाभरण (४.४१–४३) के ढाई श्लोक उद्धृत हैं (अपह्नुतिर०···कथ्यते) पृ० ८७ पर 'वैदर्भादिकृतः पन्था' यह कारिका उद्धृत है (सरस्वतीकण्ठाभरण २.२७)।

बहुव्रीहिप्रतीतिदः। संभाव्यस्य निषेधे च द्वौ निषेधावुदाहृतौ (पृ० १२८)। वामन (५.१; ७ और ९)।

कुमारिल के तन्त्रवार्तिक से पृ० १३७ पर आठ श्लोक उद्धृत किये गये हैं (पृ० २५९–२६०, व्याकरणाधिकरण।) औड, महोदय और अवन्ती की स्त्रियों की वेशभूषा के संबंध में पृ० १४५–१४६ पर तीन श्लोक आये हैं। ये श्लोक राजशेखर की काव्यमीमांसा (पृ० ८–९) में भी आते हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि काव्यप्रकाश का दो बार उल्लेख आया है। प्रथम उल्लेख (शक्तिर्निपुणता० १.३) पृ० ११९ पर है, दूसरी बार पृ० ८५ पर वृत्ति के दूसरे उल्लास, (पृ० २६ वामनाचार्य) का यह अवतरण 'आकांक्षा सन्निधि···समुल्लसति' उद्धृत है। वक्रोक्तिजीवित का साहित्यमीमांसा पर बहुत अधिक प्रभाव है। शब्दार्थौ-सहितावेव (वक्रोक्ति जीवित १.१७ पृ० २४) और ततोरुण० यह उदाहरण पृ० १३ पर आये हैं। पृ० १४–१५ पर वक्रोक्तिजीवित के ९ श्लोक उद्धृत हैं। पृ० ११७ पर छः प्रकार की वक्रोक्तियों का वर्णन करने वाले श्लोक वक्रोक्तिजीवित (१.१९–२१) से लिये गये हैं। पृ० ११६ पर भी यही उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। 'एतदेववर्णविन्यासवक्रत्वं चिरन्तनेष्वनुप्रास इति प्रसिद्धम्' (वक्रोक्ति० पृ० २८) और ये शब्द साहित्यमीमांसा (पृ० ११७ एतदेव··· प्रसिद्धमिति व्याख्यातम्) में भी उद्घृत हैं। आचार्यों के नाम से बहुत-से पद्य (पृ० २१–२५, ७५, ८५, ८६, ९४) उद्धृत किये गये हैं। डा० राघवन ने यह सिद्ध किया है कि साहित्यमीमांसा में शृंगारप्रकाश का अनुसरण हुआ है। साथ ही दोनों में कुछ अंतर भी बताया है। साहित्यमीमांसा को रुय्यक की रचना मानने में उन्हें भी कुछ संशय है (पृ० ९९–१०० दे० डा० राघवन का 'शृंगारप्रकाश', भाग १, पृ० ८८.१०३)।

साहित्यमीमांसा के दो विशिष्ट गुण हैं। १. इसमें शब्द की व्यंजना शक्ति का कोई उल्लेख नहीं है, परन्तु इसमें तात्पर्य वृत्ति का विवेचन है जो रसानुभूति में सहायक होती है (अपदार्थोऽपि वाक्यार्थो रसस्तात्पर्यवृत्तितः पृ० ८५) २. उन्होंने बहुत थोड़े अलङ्कारों का विवेचन किया है और वक्रता के अन्तर्गत समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, सहोक्ति आदि का उल्लेख किया है।' विशिष्टा-दृष्ट जन्मन आत्मगुणोद्भूति हेतोरनादिवासनारूपस्याहंकारस्य च रसत्वमैक्यम् च निषिद्धमस्माभि। नतु कूटस्थात्मस्वरूपस्यानंदस्यैकरूपस्य भेदोवक्तुं न शक्यते इत्यादि ॥ (पृ० १६१) इस श्लोक से स्पष्ट होता है कि रुय्यक ने शृंगारप्रकाश के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया।

साहित्यमीमांसा की उपयुक्त विशेषताओं के कारण हमारे संमुख एक कठिनाई आती है। साहित्यमीमांसा अलङ्कारसर्वस्व के रचयिता रुय्यक की

रचना की, जैसाकि उन्होंने स्वयं कहा है। सर्वस्वकार ध्वनिसिद्धान्त और व्यंजनाशक्ति का कट्टर अनुयायी था जैसाकि ऊपर (पृ० १६) कहा जा चुका है। (अस्ति तावत् व्यंग्यनिष्ठो व्यंजनाव्यापारः)। इसमें उपमा से लेकर ७५ अर्थालङ्कारों की गणना की गई है। जिसमें समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, रसवद्, ऊर्जस्वि, प्रेयः भी आ जाते हैं। लेखक के मत में परस्पर विरोध के कारण का अनुमान इस प्रकार लगाया जा सकता है: साहित्यमीमांसा की रचना इन्होंने उस समय की जब वे अपेक्षाकृत युवक और वक्रोक्तिजीवित से प्रभावित थे। जब अलङ्कारसर्वस्व की रचना की तब वे परिपक्व मस्तिष्क के थे और ध्वन्यालोक तथा अभिनवगुप्त से पूर्णतः प्रभावित थे। यदि यह अनुमान उपयुक्त नहीं है तो यह मानना पड़ेगा कि त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज़ की साहित्य-मीमांसा अलङ्कारसर्वस्व के लेखक की रचना नहीं है, वरन् किसी अन्य लेखक की है। मेरे विचार में यह दूसरा विकल्प बहुत उपयुक्त नहीं है तो भी इसे बिल्कुल असंभव नहीं कहा जा सकता। अलङ्कारसर्वस्व (पृ० १५९) में अनुक्तनिमित्ता विभावना का यह उदाहरण आया है: 'अंगलेखामकाशमीरसमा-लंभनपिंजराम्। अनलक्तकताम्राभामोष्ठलेखां च बिभ्रतीम्।' इसे उद्भट ने विभावना के उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया है (पृ० ३८ काव्यालङ्कार) के० एम० सीरीज़ में प्रकाशित सर्वस्व में इस श्लोक में विहित अलङ्कार के विषय में चार मतों का उल्लेख किया है। जयरथ के मत में इस स्थल पर सर्वस्व का मूल पाठ दूषित कर दिया गया है क्योंकि सर्वस्व का लेखक साहित्यमीमांसा में इस श्लोक की टीका करते समय केवल दो मतों का उल्लेख करता है: 'ग्रंथ-कृतापि साहित्यमीमांसायमेतच्छ्लोकविवृतौ पक्षद्वयमेवोक्तम्। लेखकैश्चास्य ग्रंथस्य प्रतिपदमेव विपर्यासः कृतः।' उद्भट की विभावना की परिभाषा प्रस्तुत करने के उपरान्त साहित्यमीमांसा में (पृ० ४७) यह श्लोक आता है और इसमें लिखा है: 'अंगलेख···बिभ्रतीम् इत्यादिः संपाद्येन पिंजरत्वाद्युपमानेन स्वाभाविकस्य पिंजरत्वादेरुपमेयस्याभेदाध्यवसायोऽतिशयोक्त्या द्रष्टव्यः।' अतः इससे स्पष्ट है कि मुद्रित साहित्यमीमांसा वह साहित्यमीमांसा है जिसे जयरथ रुय्यकरचित मानता है। प्रतापरुद्रयशोभूषण (पृ० ११) ने साहित्यमीमांसा के मत का इस प्रकार उल्लेख किया है: 'प्रपंचितं साहित्यमीमांसायाम्। नायकगुणग्रथिताः सूक्तिस्रजः सुकृतिनामाकल्पमाकल्पन्ति'—इति। यह उक्ति मुझे साहित्यमीमांसा (त्रिवेन्द्रम संस्करण) में उपलब्ध नहीं हो सकी।

रुय्यक का समय सहज ही निर्धारित किया जा सकता है। इन्होंने विक्रमांक-देव चरित (बूल्हर के अनुसार लगभग १०८५ में रचा गया) से उद्धरण लिए

हैं और व्यक्तिविवेक और काव्यप्रकाश की आलोचना की है। इससे सर्वस्त्र का रचनाकाल ११०० ई० सन् के वाद निश्चित होता है। रुय्यक मंखक[1] के गुरु थे। मंखक के वड़े भाई काशमीर के राजा जयसिंह (११२८–११४९ ई० सन्) के सांधिविग्रहिक थे जैसाकि श्रीकंठचरित (२५.६६) में कहा गया है। बूल्हर के अनुसार (काशमीर रिपोर्ट पृ० ५०) मंख के श्रीकण्ठचरित की रचना ११३५–११४५ ई० सन् के बीच हुई। यदि श्रीकण्ठचरित के श्लोक आरंभ से ही अलङ्कारसर्वस्व की वृत्ति में लिए गए हों, तो सर्वस्व का रचनाकाल ई० सन् ११५० के लगभग मानना होगा। इसके अतिरिक्त, सर्वस्व में (पृ० ११८) में असमाप्तजिगीषस्य, राजतरंगिणी (४.४४१) का यह श्लोक आया है। यही श्लोक अभिनवभारती (भाग १, पृ० ३०५) में भी आया है। अतः इससे कोई भी काल-निर्वारण विषयक निर्णय नहीं निकाला जाना चाहिए। डा० डे का यह विचार कि सर्वस्व राजतरंगिणी (जे० आर० ए० एस० १९२७ पृ० ४७४) का ऋणी है, असंगत है। माणिक्यचन्द्र के काव्यप्रकाश (११५९–६० में रचित) में अलङ्कारसर्वस्व का कई वार उल्लेख आया है (पृ० ३२१, ३५५ मैसूर संस्करण)। अतः यह सिद्ध होता है कि अलङ्कारसर्वस्व की रचना ११३५–११५० ई० सन् के लगभग हुई (दे० जैड० डी० एम० जी० ६२, पृ० २८९)।

अलंकारसर्वस्व की जयरथ की विमर्शिनी नामक टीका विद्वत्तापूर्ण है और उसको पंडितराज जगन्नाथ ने (पृ० ३२५, ३३७, ३५२, ३८०, ३८७, ४१४, ४१८) अनेक स्थानों पर उद्धृत किया है तथा उसकी आलोचना की है। इनके द्वारा उल्लिखित लेखक और रचनाओं में से कुछ ये हैं :—अनंगलेखा, अलंकार-भाष्यकार (पृ० ४४, १० ६, २१७), अलङ्कारवार्तिक (पृ० ७१) अलङ्कारसार (पृ० ८८, ९७, १७१, १७२), अलङ्कारानुसारिणी, उद्भटविवेक अथवा विचार, काव्यप्रकाश, काव्यप्रकाशसंकेत (पृ० १३०), तिलक, पृथ्वीराजविजय (पृ० ८२) प्रत्यभिज्ञा, भोजदेव (पृ० १५४, २४४), मम्मट, राजतर० (पृ० २४३,

---

1. श्रीकण्ठचरित (२५.१५) में मंख ने कहा है कि उसके वड़े भाई लंकक ने समय-समय पर विद्वानों की सभा बुलाई और ४८ से आगे के श्लोक ३० व्यक्तियों के समक्ष पढ़े गए। इन व्यक्तियों में सुहल और तेजकण्ठ काशमीर के राजदरवार में कन्नौज के राजा गोविन्दचन्द्र तथा कौंकण के राजा अपरादित्य के राजदूत के रूप में आए थे। २९ से ३० तक के श्लोकों में रुय्यक की गुरु के रूप में वहुत प्रशंसा की गई है।

२४४ इसमें शुद्ध उपमा विषयक १२ श्लोक आए हैं जिनमें ललितादित्य का वर्णन है), रुद्रट, लोचनकार (पृ० १४४) वक्रोक्तिजीवितकार (पृ० १८८)। इन्होंने अनेक स्थलों पर पाठान्तरों की चर्चा की है (पृ० २६,४७, ६३, १५८, २१५ इत्यादि)। इन्होंने रुय्यक की भी आलोचना की है (पृ० ८९, १३७)। इन्होंने 'अन्यैः' (पृ० ५) शब्द से सर्वस्व के पूर्ववर्ती टीकाकारों का भी उल्लेख किया है। इन्होंने विवेक नाम का एक (अभिनवगुप्त के तंत्रालोक पर टीका) ग्रंथ रचा है। इसके अंत में इन्होंने अपनी विस्तृत वंशावली दी है (दे० बूल्हर की काशमीर रिपोर्ट पृ० ९८ और CXLVIII-CXLX)। उसके परदादा के भाई उच्छलराजा (११०१–११११ ई० सन्) के मन्त्री थे। जयरथ ने शंखधर से विद्या ग्रहण की और सुभटदत्त ने उन्हें दीक्षा दी। जयरथ के छोटे भाई जयद्रथ ने हरचरितचिन्तामणि (३२ प्रकरणों में के० एम० सीरीज़ से प्रकाशित) की रचना की। अतः वे १३वीं शताब्दी के प्रथम चरण में हुए। जयरथ ने पृथ्वीराजविजयकाव्य का उल्लेख किया है और उसमें सुप्रसिद्ध पृथ्वीराज चौहान के (जोकि ११९३ ई० सन में वन्दी वनाए गए) पराक्रम का वर्णन किया है। इससे भी यह समय उपयुक्त सिद्ध होता है। समुद्रबन्ध की (त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज़ द्वारा १९ ६ में प्रकाशित) उतनी विद्वत्तापूर्ण विस्तृत नहीं है जितनी कि जयरथ की। यह टीका केरल (मालावार) स्थित कोलंब के राजा रविवर्मा (यदुवंश) के दरवार में लिखी गई। इस राजा का जन्म १२६५ ई० सन् में हुआ था। इस टीका में रविवर्मा के सम्मान में श्लोक (पृ० १२, १३, ५४, १९६ इत्यादि) लिखे गए हैं और विभिन्न पाठों का विवेचन किया गया है (पृ० ५२)। साथ ही रुय्यक के ग्रंथ (पृ० ११७) से लुप्त उदाहरणों पर खेद प्रकट किया गया है और सर्वस्व के (पृ० ८८, १३२, २२७) अन्य टीकाकारों का व्याख्याओं को भी उल्लेख किया गया है। इनके मत में काव्य[1] के आवश्यक गुणों के विषय में पांच मत प्रचलित हैं। संजीविनी नाम की एक तीसरी टीका विद्याचक्रवर्तिन ने लिखी है। इसका उल्लेख मल्लीनाथ की तरल टीका में (पृ० ३१, २२१) रत्नापण में (पृ० ५४, ३१९, ३७७,

---

1. पांच पाक निम्नलिखित हैं :—(१) उद्‌भट और अन्य आचार्यों का अलङ्कार-संप्रदाय, (२) वामन का रीति-संप्रदाय, (३) वक्रोक्तिजीवित, (४) भट्टनायक का, (५) आनन्दवर्धन का। (दे० समुद्रबन्ध पृ० ४)। अलङ्कारसर्वस्व की वृत्ति के अनुसार व्यक्तिविवेक का अनुमान-पक्ष गंभीर विचार करने योग्य नहीं है।

३८७ इत्यादि) और चित्रमीमांसा (पृ० ७, ७४) में मिलता है। अलङ्कारों के पारस्परिक भेद को दर्शाने वाले बहुत-से श्लोक इस टीका में मिलते हैं (उदाहरणार्थ रूपक और परिणाम)। डा० राघवन से मुझे सूचना मिली है कि उनके एक विद्यार्थी ने विद्याचक्रवर्तिन टीका सहित अलङ्कारसर्वस्व का समालोचनात्मक संस्करण प्रकाशन के लिए तैयार किया है।

२८. वाग्भट प्रणीत वाग्भटालंकार

यह ग्रंथ के० एम० सीरीज़ (१९३३) में सिंहदेवगणि की टीका सहित प्रकाशित हुआ है। अलङ्कारशास्त्र में वाग्भट नाम के दो व्यक्ति आते हैं। यह प्रथम व्यक्ति हैं। यह ग्रंथ विस्तृत विवेचनात्मक ग्रंथ नहीं है। यह पाँच परिच्छेदों में विभक्त है, जिसमें २६० श्लोक आते हैं। अधिकांश श्लोक अनुष्टुप् छन्द में लिखे गए हैं। परिच्छेद के अन्त में कतिपय पद्य अन्य छन्दों में रचे गए हैं। इसमें ओजोगुण (३.१४) का चित्रण करने वाला एकमात्र गद्य का अवतरण है। यह इस प्रकार है :—'समराजिरस्फुरदरिनरेशकरिनिकरशिरः सरससिन्दूरपूरपरिचयेनेवारुणितकरतलो देवः।' प्रथम परिच्छेद में काव्य का लक्षण दिया गया है। उसकी उत्पत्ति का कारण प्रतिभा बताकर प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास की परिभाषाएं दी गई हैं। काव्य-निर्माण के लिए कौन-सी परिस्थिति अनुकूल होती है और कवि के लिए अपनाने योग्य परम्पराओं का उल्लेख किया गया है। दूसरे परिच्छेद में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, भूतभाषा (पैशाची) इन चार भाषाओं में काव्यरचना करनी चाहिए। काव्य के भेद, छन्दोनिवद्ध और गद्य-निबद्ध—ये दो तथा गद्य-पद्य और मिश्र—ये तीन प्रकार के भी किए गए हैं। इसके वाद पद और वाक्य के आठ दोषों का लक्षण उदाहरण सहित विवेचन करके अर्थ-दोषों का निरूपण किया गया है। तीसरे परिच्छेद में काव्य के दस गुण और लक्षण उदाहरण सहित दिए गए हैं। चौथे में चित्र, वक्रोक्ति और अनुप्रास इन शव्दालङ्कारों तथा उनके उपभेदों का ३५ अर्थालङ्कारों और वैदर्भी तथा गौड़ीया—इन दो रीतियों का विवेचन किया गया है। पांचवें परिच्छेद में नौ रस, नायक और नायिकाओं के भेद और तत्संबंधी अन्य विषयों का निरूपण है।

वाग्भट जैन थे। इनका नाम बाहड या वाहड़ (प्राकृत) इस रूप में मिलता है। यह किसी राजा के मंत्री थे और इनके पिता का नाम सोम था। 'वंयण्डसुत्ति-संपुड-मुत्तिअमणिणोपहासमूह व्व। सिरिबाहडत्ति तणओ आसि वुहो तस्य सोमस्स' (४.१४८ पृ० ७२)—इस पद्य की समीक्षा करते हुए टीकाकार ने लिखा है :

'इदानीं ग्रंथकार इदमलङ्कारकर्तृत्वख्यापनाय वाग्भटाभिधस्य महाकवेर्महामात्यस्य तन्नाम गाथयैकया निदर्शयति'। वाग्भट के सभी उदाहरण स्वरचित प्रतीत होते हैं। इनमें से कतिपय प्राकृत में हैं (उदाहरणार्थ दे० ४.४९, ५३, ५४, ७४, ७८, १०६, १०७, १४८)। इन्होंने 'नेमिनिर्वाणमहाकाव्य' (जिसके लेखक वाग्भट हैं) के छः श्लोकों को उद्धृत किया है (जैकोबी द्वारा निर्दिष्ट जे० आर० ए० एस० १८९७ पृ० ३०९; 'कक्काकुकंकके कांककेकिकोकैककुः ककः। अकुकौकः काककाक्ककऋक्काकुकुककांककुः' (४.१२)—इस श्लोक पर टीका में इस प्रकार लिखा गया है:—'कक्काकु इत्येष श्लोक एकव्यंजनो नेमिनिर्वाणमहाकाव्ये राजीमती परित्यागाधिकारे समुद्रवर्णनरूपो ज्ञेयः'। परन्तु यह श्लोक प्रकाशित नेमिनिर्वाण (के० एम० सीरीज़) में उपलब्ध नहीं होता, यद्यपि नेमिनिर्वाण (७.५०) का काव्यालङ्कार में महायमक एक उदाहरणस्वरूप का वाग्भट ने उल्लेख किया है। इससे प्रतीत होता है कि वाग्भट ही दोनों ग्रंथों का लेखक था। वाग्भटालङ्कार में उदाहरणस्वरूप दिए गए श्लोकों में अह्लिवाड़ के चालुक्यवंश गत कर्ण राजा के पुत्र जयसिंह राजा का बहुत उल्लेख आता है। उदाहरणार्थ, 'इन्द्रेण किं यदि स कर्णनरेन्द्रसूनुरैरावणेन किमहो यदि तद्द्विपेन्द्रः। दंभोलिनाप्यलमलं यदि तत्प्रतापः स्वर्गोप्ययं ननुमुधा यदि तत्पुरी सा ॥ (४.७६) जगदात्मकीर्तिशुभ्रंजनयन्नुद्दामधामदोः परिघः। जयति प्रताप पूषा जयसिंहः क्ष्माभृदधिनाथः (४.४५); अणहिल्लपाटकं पुरमवनिपतिः कर्णदेवनृपसूनुः। श्रीकलशनामधेयः करी च रत्नानि जडतीह' ॥ (४. १३२)। (दे० ४.८१, ८५) इनमें से प्रथम में (आः स्यन्दनध्वजधृतोद्धुरताम्रचूडः श्रीकर्णदेवनृपसूतुरयं रणाग्रे) यह लिखा है कि अनहिल्वाड चालुक्य की ध्वजा में मुर्गे का चिह्न था। जयसिंह ने १०९३ ई० सन् से—११४३ ई० सन् तक राज्य किया (दे० आई० ए० भाग ६, पृ० १८०; अणहिल्वाड चालुक्यों की तिथि सहित वंशावली पृ० २१३ पर बूल्हर ने प्रस्तुत की है।) कुमारपाल के शासनकाल की वाडनगर प्रशस्ति के लिए देखिए ई० आई० भाग १, पृ० २९३। प्रभाचन्द्र के प्रभावकचरित्र (पृ० २०५) से के० एम० सीरीज़ के संपादकों ने स्पष्ट किया है कि वाग्भट का समय संवत् ११७९ और १२१३ (११२३ और ११५६ ई० सन्) था। अतः वाग्भट १२वीं शताब्दी के प्रथम अर्धांश में रहे और उनका काव्यालङ्कार ११२५—११४३ ई० सन् के बीच लिखा गया। सिंहदेवगणि के अतिरिक्त जिनवर्धन सूरी, गणेश, शेमहंसगणि, राजहंसोपाध्याय आदि की अनेक टीकाएं इस पर उपलब्ध होती हैं।

२६. हेमचन्द्र रचित काव्यानुशासन

यह ग्रंथ लेखक की निजी टीका के काव्यमाला सीरीज़ में प्रकाशित हुआ है। इसमें इसी ग्रंथ से उद्धरण लिये गये हैं। इसका एक अन्य संस्करण दो भागों में छपा है (महावीर जैन विद्यालय सीरीज़ में प्रकाशित संस्करण, श्री० आर० सी० पारिख लिखित भूमिका पृ० १–CCCXXX और प्रो० आठवले लिखित टीका पृ० १–२७६) यह ग्रंथ तीन भागों में विभक्त है। इसमें सूत्र (गद्य में) वृत्ति तथा उदाहरण हैं। सूत्रों को काव्यानुशासन, सूत्रों की वृत्ति को अलङ्कारचूड़ामणि और टीका को विवेक नाम दिया गया है। विवेक टीका वृत्ति का स्पष्टीकरण करके थोड़े-बहुत उदाहरण प्रस्तुत करती है. परन्तु अनेक स्थलों पर यह अपूर्ण है। उदाहरणार्थ इसकी प्रस्तावना में कहा गया है : 'विवरीतुं क्वचिद् दृब्धं नवं सन्दर्भितुं क्वचित। काव्यानशासन-स्यायं विवेकः प्रवितन्यते ।।' काव्यानुशासन में आठ अध्याय हैं। प्रथम में काव्य का उद्देश्य, काव्य का हेतु, (जैसे प्रतिभा) प्रतिभा के सहायक (व्युत्पत्ति, अभ्यास) काव्य की परिभाषा, शब्द और अर्थ का स्वरूप, मुख्यार्थ, गौणार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ का अर्थ आदि का निरूपण है। द्वितीय में रसों, स्थायिभावों सात्विकभावों, व्यभिचारिभावों का विवेचन हुआ है। तृतीय में शब्द-दोष, वाक्य-दोष, रस-दोष, अर्थ-दोष आदि का विवेचन है। चतुर्थ में माधुर्य, ओजस् और प्रसादगुणों तथा इनमें सहायक अक्षरों का निरूपण हुआ है। पांचवें में अनुप्रास, यमक, चित्र, श्लेष, वक्रोक्ति, पुनरुक्ताभास इन छः शब्दालङ्कारों का वर्णन है। छठे में उन्तीस अर्थालङ्कारों की चर्चा है। इन्होंने संसृष्टि का अन्तर्भाव संकर में किया है, दीपक का लक्षण ऐसा दिया है जिससे इसमें तुल्ययोगिता का समावेश हो, परिवृत्ति नामक अलङ्कार का लक्षण दिया है, इसमें मम्मट के पर्याय और परिवृत्ति दोनों का अन्तर्भाव होता है। रस, भाव इत्यादि से सम्बद्ध रसवत्, प्रेयः, ऊर्जस्वि, समाहित आदि अलङ्कारों का वर्णन नहीं किया गया है। इनमें अनन्वय और उपमेयोपमा को उपमा के प्रकार मानकर जाते-जाते उल्लेख कर दिया है। प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त तथा दूसरे लेखकों द्वारा निरूपित निदर्शना का अन्तर्भाव इन्होंने निदर्शन में ही कर दिया है। स्वभावोक्ति और अप्रस्तुतप्रशंसा को इन्होंने क्रमशः जाति और अन्योक्ति नाम दिया है। उपर्युक्त अनेक अलङ्कारों का लक्षण न देने का कारण भी उन्होंने बताया है। (पृ० २९२–२९४) सातवें अध्याय में नायक और नायिका के गुण और प्रकारों का उल्लेख है। आठवें में प्रेक्ष्य और श्रव्य—ये दो काव्य के मुख्य भेद तथा उनके उपभेदों तथा लक्षणों का विवेचन किया है।

हेमचन्द्र का काव्यानुशासन मौलिक नहीं है यह संग्रहात्मक[1] है । राजशेखर कृत काव्यमीमांसा, काव्यप्रकाश, ध्वन्यालोक और लोचन से इसमें मुख्य आधार ग्रहण किया गया है ! (उदाहरणार्थ, तुलना कीजिए : हेमचन्द्र के पृ० ८–१० से काव्यमीमांसा के पृ० ५६, हेमचन्द्र के पृ० ११–१६ से काव्यमीमांसा के पृ० ४२–५४, हेमचन्द्र के पृ० १२२–१२३ से काव्यमीमांसा के पृ० ४२–४४) इन्होंने स्पष्टतः कहा है कि अभिनवगुप्त और भरत के मतों का आधार लिया है । 'साधारणीभावना च विभावादिभिरिति श्रीमानभिनवगुप्ताचार्यः । एतन्मतमेवास्माभिरुपजीवितं वेदितव्यम् (पृ० ६६ पर विवेक) ; तेऽस्माभिर्भरतमतानुसारिभिरुपेक्षिताः' । (काव्यानु० पृ० ३१६) । इस ग्रंथ का एक गुण यह है कि इन्होंने वृत्ति और टीका में लगभग १५०० उदाहरण विभिन्न ग्रंथों से प्रस्तुत किये हैं ! परन्तु इनका परवर्ती आलङ्कारिकों पर बहुत कम प्रभाव रहा और इनका उल्लेख कम ही किया गया है । (केवल रत्नापण को छोड़कर, रत्नापण,

---

1. श्री विष्णुपादभट्टाचार्यजी ने मेरे इस विचार पर कि काव्यानुशासन में विशेष मौलिकता नहीं है, यह संग्रहमात्र है, आपत्ति उठाई है (इंडियन कल्चर भाग १३, पृ० २१८–२४) । इन्होंने बताया है कि हेमचन्द्र ने मम्मट के इस मत से कि अर्थ काव्यरचना का प्रयोजन है, असहमति प्रकट की है । हेमचन्द्र मुकुल और मम्मट से भी मत-भिन्नता रखते हैं । लक्षण को रूढ़ि और प्रयोजन पर आधारित मानने की अपेक्षा प्रयोजन पर ही आधारित मानते हैं । हेमचन्द्र ध्वनिकार से भी मत-भिन्नता रखते हैं (पृ० ४६) । ध्वनिकार ने अर्थशक्तिमूलध्वनि को स्वतः संभवी कवि प्रौढ़ोक्तिनिष्पन्न और कवित्त वद्धवक्तृप्रौढ़ोक्ति०—इन तीन प्रकारों में विभक्त किया है । मम्मट ने श्लेषमूलाप्रस्तुतप्रशंसा का उदाहरण पुंस्त्वादपि प्रविचलेत् दिया है जबकि हेमचन्द्र इसे शब्दशक्तिमूलध्वनि का उदाहरण मानते हैं । रसों में अलङ्कारों का समावेश करके बड़े-बड़े कवियों ने नियम का उल्लंघन किया है, इस दोष का ध्वनिकार ने निर्देश नहीं किया, जबकि हेमचन्द्र ने निर्देश कर दिया है । इन सब बातों को मानने पर भी काव्यानुशासन को मौलिक मानना कठिन है । इस प्रकार की मत-भिन्नता तो कई अन्य लेखकों में भी मिलती है । यह ध्यान देने योग्य बात है कि अभी-अभी त्रिलोकनाथ झा ने (जनरल ऑफ बिहार रिसर्च सोसाइटी भाग XLIII प्रति १–२, १९५७ पृ० २२–३) एक विस्तृत निबंध लिखा है जिसमें उन्होंने व्यक्तिविवेक के लेखक का हेमचन्द्र पर ऋण दिखाया है और उसके काव्यानुशासन के विषय में मेरे मत का समर्थन किया है ।

पृ० ४६, ७५, २२४, २३३, २५९, २७९, २९९)। इन्होंने अपने महान् व्याकरणिक ग्रन्थ (शव्दानुशासन) सिद्ध हेमचन्द्र की रचना के वाद ही काव्यानुशासन की रचना की। इन्होंने छन्दोनुशासन, द्रव्याश्रयकाव्य, अभिधानचिन्तामणि, देशीनाममाला, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, योगशास्त्र आदि की भी रचना की। (इनके जीवन और रचनाओं के लिए दे० श्री आर० सी० पारीख की भूमिका, पृ० CCLIII–CCCXXX.) इनके द्वारा उल्लिखित रचनाओं तथा लेखकों (जिनकी संख्या वहुत अधिक है) में से निम्नलिखित का नाम उल्लेखनीय है : अवन्तिसुन्दरी, उषाहरण, दण्डी, भट्टतोत, भट्टनायक, पञ्चशिखशूद्रककथा, भामह विवरण, भोजराज, मम्मट, मंगल, मायुराज, यायावरीय, रावणविजय, वामन, शाक्याचार्य राहुल, (पृ० ३१६) राजशेखर का हरविलास, हरिप्रवोध, हृदयदर्पण। कीर्तिकौमुदी (१.१८) में इनकी प्रशंसा इस प्रकार से की गई है : 'सदाहृदि वहेम श्रीहेमसूरेः सरस्वतीम्। सुवत्त्या शव्दरत्नानि ताम्रपर्णी जितायया।'

जैन लेखकों में हेमचन्द्र का उच्च स्थान है। वह वृहद् ग्रन्थकार थे और इन्होंने ज्ञान की अनेक शाखाओं पर ग्रन्थ रचे हैं। हेमचन्द्र के जीवन की जानकारी के लिए सोमप्रभ रचित कुमारपाल प्रतिवोध (संवत् १२४१ अथवा ११८५ ई० सन् में रचित) प्रभाचन्द्र के प्रभावक चरित (संवत् १३३४ ई० सन् १२७७ में रचित तथा सिंघी जैन-ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित), मेरुतुङ्ग के प्रवन्धचिन्तामणि (संवत् १३६४ ई० सन् १३०७ में रचित तथा टॉनि द्वारा अनूदित), राजशेखर के प्रवन्धकोश (पृ० ४६–५४, संवत् १४०५ सन् १३४८ में सिंघी जैन सीरीज़ द्वारा प्रकाशित) आदि से सामग्री मिलती है। प्रभावक चरित (पृ० १८३–२१२) में हेमचन्द्र के जीवन के संवन्ध में विस्तृत परिचय मिलता है। हेमचन्द्र धंधुका में मोड वनिया परिवार में उत्पन्न हुए। इनके माता-पिता का नाम चाच अथवा चाचिग और पाहिनी था। हेमचन्द्र का मूल नाम चंगदेव था। हेमचन्द्र के विषय में चार महत्त्वपूर्ण तिथियों का उल्लेख प्रभावकचरित (पृ० २१२) में निम्न प्रकार आया है : वे कार्तिक पूर्णिमा संवत् ११४५ (ई० सन् १०८८) में उत्पन्न हुए, संवत् ११५० (ई० सन् १०९३) में इन्होंने विद्या आरंभ की, वे संवत् ११६६ (ई० सन् ११०९) में वे सूरि अथवा आचाय वन गये। संवत् १२२९ (ई० सन् ११७३) में ८४ वर्ष की आयु में इनका देहान्त हुआ। हेमचन्द्र के गुरुदेव चन्द्र थे। 'फोरविस' ने अपने ग्रन्थ रसमाला में सिद्धराज और कुमारपाल नामक दो राजाओं का उल्लेख किया है। इनसे हेमचन्द्र का संवंध रहा (भाग १, पृ० १६५–१९७ ऑक्सफोर्ड प्रेस संस्करण

१९२४) । वुहलर का 'उवेरदास लेवेनदेस जेनस भोंकिस हेमचन्द्र' (१८८९) यह लघुस्मृतिग्रंथ कुछएक अनावश्यक बातों को छोड़कर पूर्ण प्रामाणिक है। इस जर्मन-ग्रन्थ का अनुवाद डा० मणिलाल पटेल ने अंग्रेज़ी में किया तथा १९३६ में यह सिंघी जैन सीरीज़ द्वारा प्रकाशित हुआ। हेमचन्द्र ने मम्मट का उल्लेख (पृ० १०९) किया है तथा काव्यप्रकाश (५.१०२) से डेढ़ श्लोक उद्धृत किया है। हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन शब्दानुशासन के बाद लिखा और काव्यानुशासन में कुमारपाल का कोई उल्लेख नहीं आया है। इन तथ्यों से सिद्ध होता है कि काव्यानुशासन लगभग ११४० ई० सन् की रचना है। जयसिंह सिद्धराज के आदेश पर इन्होंने शब्दानुशासन लिखा। जयसिंह का शासनकाल १०९३ से ११४३ ई० सन् तक रहा। उसके उत्तराधिकारी कुमारपाल ने ११४३ से ११७२ ई० सन् तक राज्य किया। श्री०आर० सी० पारीख के मत में काव्यानुशासन की रचना ११३६ से ११४३ ई० सन् के बीच में हुई (भूमिका, पृ० CCLXII)।

३०, जयदेवकृत चन्द्रालोक

भारतवर्ष में यह ग्रंथ अनेक बार प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ में विवेचन के लिए गुजराती प्रेस से प्रकाशित वैद्यनाथपायगुंड की रामाटीका सहित संस्करण प्रयोग में लाया गया है। चन्द्रालोक काव्यशास्त्र पर अनुष्टुप् छन्द में लिखा गया सिद्धान्त निरूपण से संबंधित ग्रंथ है। भामह और दंडी के समान जयदेव ने अपने उदाहरण दिए हैं। यह ग्रंथ १० मयूखों में विभक्त है और इसमें लगभग ३५० पद्य हैं। इसकी शैली सुगम और स्पष्ट है। भाषा प्रवाहमयी और मधुर है। और यह कृति नवसिखियों द्वारा समझी जाने योग्य शैली में लिखी गयी है। इसके विषय इस प्रकार हैं: प्रथम मयूख में काव्य की परिभाषा, काव्यहेतु (प्रतिभा, श्रुत और अभ्यास सहित), शब्दों के रूढ़, यौगिक और योगरूढ़—इन तीन प्रकारों का विवेचन किया गया है। दूसरे मयूख में शब्द, अर्थ, वाक्य इत्यादि के दोष दिए गए हैं। तृतीय में कवि अपने काव्य में रमणीयता बढ़ाने के लिए जिन उपायों की योजना करता है उनका विवेचन। (उदाहरणस्वरूप 'ईदृशश्चरितैर्जानि सत्यं दोषकरो भवान्')। चौथे में दस गुणों का। पांचवें में अनुप्रास (छेका०, वृत्त अनु०, लाटानु०), पुनरुक्ताभास, यमक, चित्र—इन शब्दालंकारों तथा एक सौ अर्थालंकारों का निरूपण है। पांचवें मयूख के मध्य में अर्थालंकारों के आरंभ में एक नवीन मंगलाचरण आता है। छठे मयूख में रसों, भावों, गौडी, लाटी और पांचाली रीतियों तथा पांच वृत्तियों (मधुरा, प्रौढ़ा, परुषा, ललिता और भद्रा) का विवेचन है। सातवें में व्यंजना और ध्वनि के भेद (ध्वन्यालोक के अनुसार) तथा आठवें में गुणीभूत व्यंग्य के

भेदों का निरूपण है । नवें में लक्षणा तथा दसवें में अभिधा का विवेचन है । श्लोकों की संख्या इसके भिन्न-भिन्न संस्करणों में भिन्न-भिन्न है ।

जयदेव को पीयूपवर्ष कहा जाता है । इसका उल्लेख उसके ग्रंथ में मिलता है :—'चन्द्रालोकममुं स्वयं वितनुते पीयूपवर्षः कृती' (१.२); 'अनेनासावाद्यः सुकवि जयदेवेन रचिते चिरं चन्द्रालोके सुखयतु मयूखः सुमनसः ॥' (१.१६) । चन्द्रालोक पर गागाभट्ट की एकागम नाम की टीका मिलती है । इसमें जयदेव का दूसरा नाम पीयूषवर्ष भी वताया गया है । 'जयदेवस्यैव पीयूषवर्ष इति नामान्तरम्' (चौखंभा संस्कृत सीरीज़) । जयदेव के पिता का नाम महादेव और माता का नाम सुमित्रा था । 'महादेवः सत्रप्रमुखमखविद्यैकचतुरः सुमित्रा तद्भक्तिप्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ' (१.१६) प्रसन्नराघव नाटक के रचयिता जयदेव भी महादेव और सुमित्रा के ही पुत्र थे (प्रसन्न रा० १.१४–५) और वे तर्कशास्त्र में वहुत कुशल थे । इसका प्रमाण यह श्लोक है :—'ननु अयं प्रमाणप्रवीणोपि श्रूयते ।···सूत्रधारः—येषां कोमलकाव्यकौशलकला लीलावती भारती तेषां कर्कशतर्कवक्रवचनोद्गारेपि किं हीयते ॥' (१.१८) । यह जयदेव गीतगोविन्दकार से भिन्न था । गीतगोविन्दकार जयदेव भोजदेव और रामदेवी का पुत्र था और बंगाल के वीरभूम जिले के किन्दुविल्व का निवासी था । पीयूपवर्ष जयदेव वंगाल का निवासी प्रतीत नहीं होता । भाष्यालोक नाम तर्कशास्त्र के ग्रंथ का कर्ता पक्षधर जयदेव और चन्द्रालोक का पीयूषवर्ष जयदेव—ये दोनों एक ही थे ।

चन्द्रालोक की रचना का काल निश्चित करना कठिन है । चन्द्रालोक में किसी लेखक के नाम का उल्लेख नहीं है, परन्तु 'अंगीकारोति यः काव्यं शव्दार्थावनलंकृती । असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती ॥' (१.८) इस श्लोक में स्पष्टतः काव्यप्रकाश की इस कारिका की ओर संकेत है : 'तद्दोषौ शव्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि ।' उपरोक्त पृ० २७५ पर हम यह देख चुके हैं कि अलंकारसर्वस्व प्रथम रचना है जिसमें विचित्र और विकल्प—इन दो अलंकारों की परिभाषा की गई है । चन्द्रालोक में भी इन दोनों अलंकारों की परिभाषा तदनुरूप है । ('तुलमवल विरोधो विकल्पः' अलङ्कारसर्वस्व, पृ० १९८ 'विकल्पस्तुल्यवलयोर्विरोधश्चातुरीयुतः' चन्द्रालोक ५.९६) : 'स्वविपरीतफल निष्पत्तये प्रयत्नो विचित्रं', अलंकारसर्वस्व पृ० १६८ : 'विचित्रं चेत् प्रयत्नः स्याद् विपरीतफलप्रदः' । (चन्द्रालोक ५.८२)[1] ।

---

1. यह उल्लेखनीय है कि जीवानंद आदि चन्द्रालोक के कतिपय संस्करणों में विकल्प और विभिन्न की परिभाषाएं क्रमशः इस प्रकार हैं : 'विरोधे तुल्य-

चन्द्रालोक में लगभग १०० अलंकारों की परिभाषाएं उदाहरण सहित मिलती हैं। इससे विदित होता है कि जयदेव परवर्ती अलंकार-लेखक है। अलंकारों की संख्या उसे परवर्ती सिद्ध करने में सहायक होती है। मम्मट ने केवल ६१ अर्थालंकारों का निरूपण किया है, जबकि सर्वस्व में लगभग ७५ का उल्लेख है। अत: चन्द्रालोक अलंकारसर्वस्व के बहुत बाद की रचना है, इसकी रचना लगभग १२०० ई० सन् से पूर्व हुई होगी। साहित्यदर्पण (४.३) में प्रसन्नराघव का यह श्लोक उद्धृत है: 'कदली कदली' इत्यादि (१. ३७)। प्रसन्नराघव के कतिपय श्लोक शारङ्गपद्धति (तिथि, १३६१ ई० सन्) में भी उद्धृत हैं। (दे० १६४ प्रसन्नरा० १.९, ३५२० (१.३३) ३५५७ (२.२२) ३६२६ (७.५९), ३६३१ (७६०)। अत: जयदेव १२५० ई० सन् से पूर्व रहा होगा। इसलिए चन्द्रालोक का रचनाकाल १२०० और १२५० ई० सन् के बीच का हो सकता है। केशवमिश्र के अलङ्कारशेखर (पृ० १७) में जयदेव पंडित नामक कवि का उल्लेख आया है जिसने उत्कल के राजा के दरबार में अपनी तर्ककुशलता से पंडितों को हराया। इसका संकेत संभवत: चन्द्रालोक के रचयिता की ओर है। कुवलयानंद के अंत में यह श्लोक आया है: 'चन्द्रालोको विजयतां शरदागम संभवः। हृद्यः कुवलयानंदो यत्प्रसादादभूदयम् ॥' इस श्लोक के 'चन्द्रालोको', 'शरदागम संभव:' और 'कुवलयानंदो' के दो अर्थ निकलते हैं। वैद्यनाथ के कथनानुसार 'शरदागम' चन्द्रालोक का मूल आधार है। परन्तु यह मत असंगत है। शरदागम चन्द्रालोक की टीका का नाम है। इसे प्रद्योतन भट्टाचार्य ने लिखा है जो बुंदेलराजा वीरभद्र के आश्रय में रहता था। (दे० काशी सं० सीरीज़ द्वारा १९२९ में प्रकाशित टीका)। इसी प्रद्योतन ने १५५७ ई० सन् में कामसूत्र पर टीका लिखी। कुवलयानंद ने स्पष्ट कहा है कि इस रचना में अलङ्कार संबन्धी चन्द्रालोक की परिभाषाओं और उदाहरणों का समावेश हुआ है। (दे० अप्पय दीक्षित के अन्तर्गत)।

३१. विद्याधरकृत एकावली

यह ग्रंथ मल्लिनाथ की तरल नामक टीका सहित बी० एस० सीरीज़ में श्री त्रिवेदी द्वारा संपादित हुआ है। इस रचना के कारिका, वृत्ति और उदाहरण—ये तीन भाग हैं। इस कृति की विशेषता यह है कि इसके सभी उदाहरण स्वयं विद्याधर रचित हैं तथा इसमें उन्होंने अपने आश्रयदाता उत्कल

बलयो विकल्पालंकृतिर्मता' तथा 'विचित्रं तत्प्रयत्नश्चेद्विपरीतफलेच्छया' गुजराती प्रेस के संस्करण में दी हुई परिभाषा साहित्यदर्पण की परिभाषा है।

(उड़ीसा) के राजा नरसिंह की स्तुति की है। उन्होंने आरंभिक सातवें श्लोक में इस प्रकार कहा है: 'एष विद्याधरस्तेषु कांतासंमितलक्षणम् । करोमि नरसिंहस्य चाटुश्लोकानुदाहरन् ॥' विद्याधर (१.४–६) ने शास्त्र के शब्दप्रधान (मधुसंमित), अर्थप्रधान (मित्रसंमित, जैसे इतिहास अर्थात् महाभारत इत्यादि) और ध्वनिप्रधान (कांतासंमित) ये तीन प्रकार बताए हैं। इस दृष्टिकोण से यह रचना प्रतापरुद्रयशोभूषण, नंजराजयशोभूषण, रघुनाथभूपालीय और अलङ्कारमंजूषा से मिलती-जुलती है। यह ग्रंथ ८ उन्मेषों में विभक्त है; उनके विषय इस प्रकार हैं:—(१) काव्य का हेतु (प्रतिभा, बहुशास्त्रदर्शिता और अभ्यास); काव्य की परिभाषा; भामह, महिमभट्ट तथा अन्य ग्रंथकारों के मतों का विवेचन। (२) वाचक, लाक्षणिक और व्यंजक—शब्द के ये तीन भेद तथा अभिधा, लक्षणा और व्यंजना—शब्द की इन तीन शक्तियों का विवेचन। (३) ध्वनि के उपभेद। (४) गुणीभूत व्यंग्य का विवेचन। (५) तीन प्रकार के गुण और तीन रीतियां। (६) दोष। (७) शब्दालङ्कार। (८) अर्थालङ्कार। प्रथम उन्मेष में विद्याधर ने ध्वन्यालोक का पूर्णतः अनुसरण किया है। उनकी रचना काव्यप्रकाश और अलङ्कारसर्वस्व पर आधारित है। अलङ्कारों का विवेचन करने में वे काव्यप्रकाश की अपेक्षा सर्वस्व को अधिक महत्त्व देते हैं। उदाहरणार्थ, उन्होंने परिणाम, उल्लेख, विचित्र तथा विकल्प इन अलङ्कारों का सर्वस्व की भाँति ही विवेचन किया है जबकि ये अलङ्कार काव्यप्रकाश में उपलब्ध नहीं हैं। उन्होंने जिन अन्य ग्रंथों तथा ग्रंथकारों का उल्लेख किया है, उनके नाम इस प्रकार हैं:—अभिनवगुप्त, अलङ्कारसर्वस्व, काव्यप्रकाश, बिल्हण, भोज, महिमभट्ट, वामन, श्रीहर्ष, हम्मीर, हरिहर तथा अर्जुन। उन्होंने दशरूप, नैषधीय और राजशेखर से भी उदाहरण लिए हैं। उन्होंने केलिरहस्य नाम का कामशास्त्र संबंधी ग्रंथ भी लिखा है (दे० श्री त्रिवेदी लिखित भूमिका पृ० XV—XVI)।

श्री त्रिवेदी ने अपनी भूमिका में विद्याधर के समय के संबंध में सभी तथ्यों का संग्रह किया है। वे (पृ० XXIII) इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि विद्याधर केसरिनरसिंह (१२८२–१३०७) अथवा प्रतापनरसिंह (१३०७–२७ ई० सन्) के आश्रित थे। प्रस्तावनात्मक श्लोक ११ में कवि हरिहर और राजा अर्जुन (अर्जुन वर्मदेव) का उल्लेख मिलता है। (इसकी तिथि जानने के लिए ऊपर पृ० २७२ देखिए)। इसलिए एकावली की रचना १३वीं शताब्दी के प्रथम अर्धांश के उपरान्त हुई। सिंहभूपाल के (लगभग १३३० ई० सन्) प्रसारणो-सुधाकर में एकावली का उल्लेख इस प्रकार मिलता है:—'उत्कलाधिपतेः

शृंगाररसाभिमानिनो नरसिंहदेवस्य चित्तमनुवर्तमानेन विद्याधरेण कविना वाङ्मभ्यन्तरी कृतोसि। एवं खलु समर्थितमेकावल्यमानेन' (पृ० २.६ त्रिवेन्द्रम संस्करण) पृ० २५८ और २०० पर शिंगभूपाल ने प्रसन्नराघव को उद्धृत किया है। यह एक एकावली का रचनाकाल १२८५–१३२५ ई० सन् के बीच निर्धारित होता है।

तरल एक आदर्श टीका है। इसकी रचना महाकाव्यों के सुविख्यात टीकाकार मल्लिनाथ द्वारा हुई है जो संभवतः १४वीं शताब्दी के अन्त में और १५वीं शताब्दी के आरंभ में हुए। (दे० मल्लिनाथ की जीवनी और कृतियों के लिए श्री त्रिवेदी की भूमिका, पृ० XXIV—XXX)।

३२. विद्यानाथ रचित प्रतापरुद्रयशोभूषण

प्रतापरुद्रयशोभूषण का एक सुन्दर संस्करण बंबई सरकार की संस्कृत-ग्रंथमाला में श्री त्रिवेदी ने प्रकाशित किया है। (१९०९) इसमें मल्लिनाथ के पुत्र कुमारस्वामी की रत्नापण टीका है। इस ग्रंथ का एक और संस्करण रत्नापण टीका सहित मद्रास में १९१४ में प्रकाशित हुआ (जिसका तीसरा संस्करण १९५० में छपा है)। यह रचना दक्षिणभारत में वहुत लोकप्रिय है। इस ग्रंथ के तीन भाग हैं—कारिका, वृत्ति और उदाहरण। तैलंगना के काकतीय वंश के प्रतापरुद्रदेव (वीररुद्र अथवा रुद्र) राजा का इन उदाहरणों में यशोगान है। इस राजा की राजवानी एक शिला (वर्तमान वरंगल) थी, 'प्रतापरुद्रदेवस्य गुणानाश्रित्य निर्मितः। अलंकार प्रबंधोयं सन्तः कर्णोत्सवोस्तु वः॥' (१.९)। इस दृष्टिकोण से इसका एकावली से साम्य है। प्रतापरुद्र० में नौ प्रकरण हैं: नायक, काव्य, नाटक, रस, दोष, गुण, शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार और मिश्रालङ्कार। इसमें अन्य लेखक और वृत्तियों का नामोल्लेख इस प्रकार है:—अनर्घराघव, अभिनयदर्पण, अलङ्कारसर्वस्व, उद्भट, काव्यप्रकाश, दंडिन्, दशरूपक, वालरामायण, भरत, भामह, भोज, रुद्रभट्ट, शृंगारतिलक, साहित्यमीमांसा। तीसरे प्रकरण में एक नाटक की आवश्यकताओं के उदाहरण देते हुए 'प्रतापरुद्र-कल्याण' नामक नाटक को आदर्श नाटक के रूप में प्रस्तुत किया गया है (पृ० १४९–२१८)। सामान्यतः उन्होंने काव्यप्रकाश का अनुसरण किया है परन्तु अलङ्कार के विषय में मम्मट की अपेक्षा अलङ्कारसर्वस्व को अधिक महत्त्व दिया है। इन्होंने मम्मट द्वारा अनिर्दिष्ट परिणाम, उल्लेख और विकल्प की परिभाषाएं दी हैं। इनकी विकल्प की परिभाषा (विरोधस्तुल्यवलयोर्विकल्पालंकृतिर्मता पृ० ४५६) लगभग चन्द्रालोक के समान ही है। प्रतापरुद्रदेव, महादेव और मुम्मडि अथवा मुम्मुडम्वा के पुत्रथे।

मुम्मुडंबा रुद्रांबा की कन्या थी। रुद्रांबा रुद्र के नाम से प्रसिद्ध थे। अपने पिता गणपति के उपरांत इन्होंने एकशिला में राज्य किया। यह कहा जाता है कि प्रतापरुद्रदेव ने यादववंश (देवगिरि के रामदेव १२७१–१३०९) सेवण को पराजित किया। इस घटना से और अन्य शिलालेखों से यह पता चलता है कि प्रतापरुद्रदेव १३वीं शताब्दी के अंतिम चरण में और १४वीं शताब्दी के प्रथम चरण में राज्य करते थे। मुहम्मद तुगलक की सेना ने १३२३ ई० सन् में उन्हें वन्दी वना लिया। इसलिए प्रतापरुद्रयशो० की रचना १४वीं शताव्दी[1] के प्रथम चरण में हुई होगी।

कुमारस्वामी की रत्नापण टीका सुन्दर है परन्तु मल्लिनाथ की तरल नामक टीका इसकी अपेक्षा अधिक सुन्दर है। इन्होंने वहुत-से लेखकों का उल्लेख किया है जिनमें से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं: अलङ्कारचूड़ामणि, एकावली, एकावली-तरल, कविकल्पद्रुम, गोपाल, चक्रवर्तिन् (अलङ्कारसर्वस्व संजीवनी के लेखक), दशरूपक, नरहरि, नाटकप्रकाश, पंचपादिका, पदमंजरी, भट्टमल्ल, भावप्रकाश, भोजराज, महिमभट्ट मानसोल्लास, रसनिरूपण (नरहरि का), रसमंजरी, रसार्णव, रुचक, वसंतराजीय, विदग्ध मुखमंडन, विद्याधर, शारदातनय, शिंगभूपाल, शृंगार-प्रकाश, संजीवनी, साहित्यचिन्तामणि, साहित्यदर्पण, हेमचन्द्र। एक अन्य टीक रत्नशाण नाम की अपूर्ण है जिसमें रत्नापण का उल्लेख है।

---

1. काकतीय वंशावली इस प्रकार है :—(१) बेतम (२) प्रोद अथवा प्रोल (३) रुद्र (४) महादेव, रुद्र का भाई (५) गणपति अथवा गणप्प, महादेव का पुत्र; गणपति की कन्या गणपंवा ने वेत से विवाह किया; गणपति की दूसरी कन्या रुद्रांवा रुद्रदेव के नाम से प्रसिद्ध थी। उसने इस वंश के छठे राजा के रूप में राज्य किया। (७) प्रतापरुद्रदेव रुद्र की कन्या का पुत्र था (दे० गणपंबा का यनमदल शिलालेख, ई० आई० भाग ३, पृ० ९४; प्रतापरुद्र के समय का अरुलाल-पेरूमल शिलालेख तिथि शक १२३८, सन् १३१६–७ ई०; रुद्रदेव अथवा रुद्रांवा का मलकापुरम शिलालेख तिथि शक ११८३, १२६१–२ ई० सन् जरनल ऑफ आंध्रा; एच० आर० एस० भाग ४, पृ० ४७; 'इण्डियन कल्चर' भाग ३, पृ० ४६५–७५, जरनल ऑफ आंध्रा, एच० आर० एस० भाग ३, पृ० १११–८ पर 'सम इन्ट्रेस्टिंग फेक्टस अवाउट दी काकतीयास', लेख श्री एम० रामराव।) काकती दुर्गा का नाम है। काकतीय शासक शूद्र और शैव थे।

३३. वाग्भट रचित काव्यानुशासन

यह वाग्भट द्वितीय हैं। यह रचना इनकी निजी 'अलङ्कारतिलक' टीका सहित के० एम० सीरीज़ में १९१५ में प्रकाशित हुई। इस रचना के सूत्र गद्य में हैं तथा वृत्ति और उदाहरण अधिकांशतः दूसरों से लिये गये हैं। यह ग्रन्थ पांच अध्यायों में विभक्त है। इसका अधिकांश भाग गद्य-सूत्रों के रूप में है तथा टीका में व्याख्या और उदाहरण आते हैं। प्रथम अध्याय में काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु (प्रतिभा, इसके सहायक, व्युत्पत्ति और अभ्यास) और इनकी परिभाषाएं आती हैं। इसीमें कविसंकेत, काव्यलक्षण, उसके गद्य, पद्य और मिश्र भेद, महाकाव्य, आख्यायिका, कथा, चम्पू, मिश्रकाव्य (दशरूपक और गेय) की परिभाषाएं आती हैं। दूसरे अध्याय में पद और वाक्य के १६ दोष, अर्थ के १४ दोष, दण्डी और वामन निरूपित १० गुण आदि का विवेचन हुआ है। लेखक के मत में वस्तुतः माधुर्य, ओजस् और प्रसाद—ये तीन ही गुण हैं। इसमें वैदर्भी, गौडीया और पांचाली रीतियों का भी वर्णन आया है। तृतीय अध्याय में ६३ अर्थालंकारों की परिभाषाएं दी गई हैं जिनमें से कतिपय उल्लेखनीय अलंकार निम्न हैं: अन्य, अपर, पूर्व, लेश, पिहित, मत, उभयन्यास, भाव और आशीः। चतुर्थ अध्याय में चित्र, श्लेष, अनुप्रास, वक्रोक्ति, यमक, पुनरुक्तवदाभास इन छः शव्दालंकारों और इनके भेदों का विवेचन किया गया है। पांचवें अध्याय में नौ रस, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव, नायक-नायिकाओं के प्रकार, प्रेम की दस अवस्थाएं तथा रस-दोषों का विवेचन हुआ है। इस ग्रन्थ के लेखक जैनी थे। इन्होंने भेदपाट (मेवाड़) राहडपुर, नलोटकपुर इन स्थानों का उल्लेख किया है। वे नेमिकुमार के पुत्र थे अतः ये स्पष्टतः वाग्भटालंकार के रचयिता वाग्भट प्रथम से भिन्न हैं। इस विषय में इन्होंने स्वयं लिखा है: 'दण्डी-वामन वाग्भटादि प्रणीता दशकाव्यगुणाः। परंतु माधुर्योजः प्रसादलक्षणां स्त्रीनेवगुणान् मन्यामहे' (काव्यानुशासनवृत्ति, पृ० ३१)। इन्होंने अपनी टीका (पृ० ३०५) में विभिन्न प्रदेशों, नदियों, वृक्षों, विभिन्न प्रदेशों की विशिष्ट वस्तुओं की सविस्तर सूची दी है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन्होंने ऋषभदेवचरित नामक महाकाव्य लिखा था। संभवतः छन्दोनुशासन (पृ० २२) नामक छन्दशास्त्र की कृति भी इन्हीं की है। वाग्भट अर्थात् स्वयं ग्रन्थकार के लिए एक श्लोक (पृ० ५८) आया है। दूसरा श्लोक नेमिकुमार को उद्दिष्टकर (पृ ३२ पर) लिखा गया है: 'गायन्तिरासकविद्याविभेधपाटनामोधुनापि तव नेमिकुमार

कीर्तिम् ।' इन्होंने अनेक ग्रन्थों और लेखकों का उल्लेख किया है, जैसे, अब्धि-मथन, (अपभ्रंश निबद्ध पृ० १५) आनंदवर्धन, काव्यप्रकाश, (पृ० २९), चन्द्रप्रभकाव्य, त्रिविक्रम (पृ० २०) दमयन्ती (पृ० १९) नेमिनिर्वाण, (पृ० १६) बालरामायण (पृ० ६७) भीमकाव्य (ग्राम्य भाषा में रचित पृ० १५) राजीमती परित्याग, लीलावती, पद्यमयीकथा (पृ० १८) वासवदत्ता (चम्पू पृ० १९)। विष्णुविजय, शीता (एक कवयित्री थी), शृंगारतिलक, (पृ० ६१७६३ श्लोक अस्माकं सखि और गाढ़ालिंगन०) इस ग्रन्थ में मौलिकता नहीं है। इन्होंने राजशेखर की काव्यमीमांसा, काव्यप्रकाश तथा अन्य ग्रन्थों का आधार लिया है और अन्य ग्रन्थों के उदाहरणों का अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है। उदाहरणार्थ, यमक के अन्तर्गत रम्भारामा० श्लोक वाग्भटालंकार (४.३०) से और नेमि-निर्वाणकाव्य (७.५०) से उद्धृत किया है। काव्यानुशासन की एक हस्तलिखित प्रति (एग्लिग्सकेटालॉग सं० ११५७) की तिथि संवत् १५१५ (१४५८–१४५९ ई० सन्) है। इन्होंने वाग्भट और काव्यप्रकाश का उल्लेख किया है अतः इनका समय ११५० ई० सन् के बाद का है। ये संभवतः १४वीं शताब्दी में रहे।

३४. विश्वनाथ प्रणीत साहित्यदर्पण

विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ में अपने बारे में जो परिचय दिया है उसके अति-रिक्त और अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। वे एक सुप्रसिद्ध और विद्वान् ब्राह्मण परिवार से थे। उनके वृद्ध प्रपितामह का नाम नारायण था वे बहुत बड़े विद्वान् थे, उन्होंने अलंकारशास्त्र[1] पर एक ग्रंथ रचा था। इनके पिता चन्द्रशेखर कवि और विद्वान् थे। इनके श्लोकों को विश्वनाथ ने प्रायः उद्धृत किया है (पृ० १०८ १२२, १७८, १९२ आदि, निर्णयसागर संस्करण, १९२२) विश्व-

1. (तत्प्राणत्वं चास्मद्वृद्धप्रपितामह सहृदयगोष्ठी गरिष्ठ कवि पंडितमुख्य श्रीमन्नारायणपादैरुक्तम्।) (सा० द० ३.२०३) परन्तु काव्यप्रकाश दर्पण में विश्वनाथ ने नारायण को अपना पितामह बताया है। 'यदाहुः श्रीकलिंगभूमण्डला-खण्डलमहाराजाधिराजश्रीनरसिंहदेवसभायां धर्मदत्तंस्थगयन्त···अस्मत् पिता-मह श्रीमन्नारायणदासपादाः' काव्य० भूमिका, पृ० २१ वा०)। इसकी दो व्याख्यायें संभव हैं, १. नारायण वास्तव में विश्वनाथ के वृद्ध प्रपितामह थे, परन्तु संक्षेप में उन्हें पितामह कहा गया है। २. ये दोनों नारायण एक-दूसरे से भिन्न हैं. इनका पौत्र और पितामह का सम्बन्ध है। भारत में प्रायः पौत्र का नाम पितामह के नाम पर रखा जाता है।

नाथ ने पुष्पमाला (६.२५ पर) तथा भाषार्णव नामक अपने पिता के दो ग्रन्थों का उल्लेख किया है। इन ग्रन्थों में संस्कृत, शौरसेनी, महाराष्ट्री तथा अन्य प्राकृत भाषाओं की विशेषताओं का विवेचन किया है। विश्वनाथ ने अपनी काव्यप्रकाश की टीका में कतिपय संस्कृत शब्दों के उड़िया पर्यायवाची शब्द देकर उनकी व्याख्या की है। इससे प्रतीत होता है कि वे उड़ीसा[1] के निवासी थे। विश्वनाथ और उसके पिता संभवतः कलिंगदेश के राजा के महत्त्वपूर्ण अधिकारी थे। दोनों को सन्धिविग्रहिक महापात्र की पदवी से विभूषित किया गया था। प्रथम परिच्छेद के उपसंहारात्मक[2] पद्य तथा साहित्यदर्पण[3] के अंतिम श्लोक से यह स्पष्ट है कि विश्वनाथ वैष्णव थे। वे स्वयं कवि थे, उन्होंने अलंकारों के उदाहरणस्वरूप संस्कृत तथा प्राकृत में लिखित अपने पद्य अनेक स्थलों पर उद्धृत किये हैं। साहित्यदर्पण के अतिरिक्त उन्होंने अनेक ग्रन्थ रचे, जिनमें से कुछ का उल्लेख साहित्यदर्पण में मिलता है। इनमें १. महाकाव्य-राघवविलास (संस्कृत में लिखा गया ३.२२२–२२४ के अंतर्गत) २. कुवलयाश्व चरितकाव्य (प्राकृत में लिखा गया ३.१४९); प्रभावती परिणय नामक नाटिका (३.५८) चन्द्रकला नामक एक अन्य नाटिका (३.९६) तथा प्रशस्ति-रत्नावली नामक १६ भाषाओं का करंभक (६.३३७) आते हैं। साहित्यदर्पण के उपरान्त उन्होंने नरसिंह[4] विजय नामक काव्य तथा क.व्यप्रकाशदर्शन नामक काव्यप्रकाश की टीका भी लिखी (दे० काव्यप्रकाश की भूमिका पृ० २५ वा०) काव्यप्रकाश का टीकाकार चण्डीदास विश्वनाथ के पितामह[5] का अनुज था।

विश्वनाथ के काल-निर्धारण में अधिक कठिनाई उपस्थित नहीं होती। सौभायवश कई तथ्य उपलब्ध हैं जिनके आधार पर हम उनका काल-निर्णय कर सकते हैं।

---

1. देखिए काव्यप्रकाश, पृ० २५ पर वामनाचार्य की भूमिका, 'वैपरीत्यं रुचि कुर्विति पाठः अत्र चिकुपदं काश्मीरादि भाषायां श्लीलार्थबोधकम्, उत्कलादि-भाषायां धृतकाण्डकद्रव' इत्यादि।

2. 'श्रीमन्नारायण चरणारविंदं धूव्रत इत्यादि', 'काव्याधर्मप्राप्तिर्भगवन्ना-रायणचरणारविन्दस्तपादिनः' पृ० १.

3. 'यावत्प्रसन्नेन्दुनिभानना श्रीर्नारायणस्याङ्कमलंकरोति।'

4. अनन्तदास ने पृ० ९ पर लिखा है: 'यथा मम तातपादानां विजय-नरसिंहे'

5. 'अस्मत् पिता महानुज कवि पंडितमुख्य श्रीचण्डीदासपादानां तु खण्डरस नाम्ना', ७.३१.

साहित्यदर्पण की जम्मू[1] में रखी हुई हस्तलिखित प्रति की तिथि विक्रमी संवत् १४४० अथवा १३८४ ई० सन् है। इससे स्पष्ट है कि साहित्यदर्पण की रचना १३८४ ई० सन् पूव हुई होगी। विश्वनाथ ने मुसलमान राजा अलाउद्दीन[2] का एक श्लोक में उल्लेख किया है। हम देख चुके हैं कि विश्वनाथ उड़ीसा के निवासी थे। श्लोक में निर्दिष्ट राजा सुलतान[3] अलाउद्दीन खिलजी है। उसके प्रिय मलिककाफर नाम के सेनापति ने दक्षिण पर आक्रमण किया और वरंगल पर अधिकार कर लिया और कन्याकुमारी तक अपनी विजयपताका फहराई। कहा जाता है कि अलाउद्दीन का ई० सन् १३१६ में विष प्रयोग से वध किया गया। ऐसी स्थिति में उपरोक्त श्लोक यदि अलाउद्दीन के जीवनकाल में रचा गया माना जाय तो साहित्यदर्पण की रचना ई० सन् १३०० से पूर्व नहीं हो सकती। इन दो तथ्यों से यह स्पष्ट है कि साहित्यदर्पण की रचना १३०० और १३८४ ई० सन् के बीच हुई होगी।

यह समय निर्धारित करने के लिए आंतर और बाह्य प्रमाण पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं :—

१. आंतर प्रमाण—(अ) जयदेव[4] के गीतगोविन्द से विश्वनाथ ने एक श्लोक उद्धृत किया है। परंपरागत जानकारी के अनुसार जयदेव, गोवर्धन, शरण, उमापति और कविराज के साथ राजा लक्ष्मणसेन के आश्रय में रहता था। इनका एक शिलालेख सं० ११७३ अथवा १११६ ई० सन् का मिलता है। जयदेव ने स्वयं ही गोवर्धन तथा अन्य लेखकों को अपना समकालीन[6] बताया

---

1. दे० डा० स्टेन की अलंकारशास्त्र (पृ० ६४) शीर्षक के अन्तर्गत हस्तलिखित प्रतियों की जम्मूस्थित सूची।

2. सन्धौसर्वस्वहरणं विग्रहे प्राणनिग्रहः। अलावदीननृपतौ न सान्धेर्न च विग्रहः (४.१४, पृ० २४४ निर्णयसागर संस्करण)।

3. साहित्यदर्पण में सुलतान शब्द को संस्कृतमय बनाकर 'सुरमाण' लिखा गया है : 'गंगांम्यसि सुरत्राणतवनिः शान निस्वनः', (पृ० ३० उत्प्रेक्षा के अंतर्गत)।

4. 'हृदिविसलताहारोनायं इत्यादि', पृ० २९ निश्चय के अन्तर्गत, इस श्लोक को सुभाषितावली में भी जयदेव रचित माना गया है।

5. बुहलर की काश्मीर रिपोर्ट पृ० ६४.

6. वाचः पल्लवयतुमापतिधरः सन्दर्भशुद्धि गिरां जानीते जयदेव एव शरणः श्लाघ्यो दुरूहद्रुते। श्रृंगारोत्तर सत्प्रमेयवचनैराचार्य गोवर्धनः स्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः श्रुतधरोधोयी कविक्ष्मापतिः॥ (गीतगोविन्द, चौथा श्लोक)।

है। अतः कहा जा सकता है कि जयदेव १२वीं शताब्दी के प्रथम अर्द्धांश में रहे होंगे।

(ब) विश्वनाथ ने जयदेव के प्रसन्नराघव (पृ० १३७) से एक श्लोक (कदली-कदली इत्यादि ४.३ के अन्तर्गत) उद्धृत किया है। जयदेव १२०० से १२५० ई० सन् के बीच हुए। साहित्यदर्पण की भूमिका में हम यह दिखा चुके हैं कि विश्वनाथ ने अनेक स्थलों पर रुय्यक के अलंकारसर्वस्व से अक्षरशः उदाहरण[1] ग्रहण किये हैं तथा कई स्थलों पर उनकी आलोचना भी की है। हमें विदित है कि रुय्यक श्रीकण्ठचरित के लेखक मंखक के गुरु[2] थे। मंखक ने श्रीकण्ठचरित के २५वें सर्ग में लिखा है कि उन्होंने अपना ग्रन्थ अपने बड़े भाई अलंकार[3] के निवासस्थान पर एक विद्वद्सभा में दिखाया। श्री अलंकार काशमीर राजा जयसिंह के मन्त्री[4] थे। (११२९-११५० ई० सन्) श्रीकण्ठचरित की रचना प्रौढ़ावस्था में ११४० ई० सन् के लगभग हुई। रुय्यक के सर्वस्व के लोकप्रिय होने में तथा उड़ीसा निवासी विश्वनाथ द्वारा उसका आधार ग्रहण किये जाने में बहुत समय बीता होगा।

(स) विश्वनाथ ने श्रीहर्ष[5] रचित नैषधीयचरित से कुछ श्लोक उद्धृत किए हैं। श्रीहर्ष की तिथि कुछ समय से विद्वानों के विवाद का विषय बनी हुई है। श्रीहर्ष के कथनानुसार वे कान्यकुब्ज[6] के एक राजा के आश्रित थे। राजशेखर ने अपने प्रबंधकोष (संवत् १४०५ में लिखा गया) में लिखा है कि

---

1. उदाहरणार्थ, दे० पृ० ४१, ४२, ६० तथा उनकी व्याख्या।

2. तं श्रीरुय्यकमालोक्य सप्रियं गुरुमग्रहीत्।
सौहार्द्रं प्रश्रयरसश्रोतः सम्भेदमज्जनम्॥ श्रीकण्ठ० XXV. ३०।

3. मदग्रजन्मनः श्रीमल्लंककस्य सभागृहम्। नेध्यासते च विस्रब्धाः सारसा इव मानसम् XXV.१५. लंकक अलंकार का दूसरा नाम रहा होगा। तीसरे सर्ग में मंखक ने लिखा है कि वह चारों भाइयों में सबसे छोटा था। उसके तीन भाई श्रृंगार, भृंग और अलंकार थे (श्लोक, ४५, ५३, ५६)।

4. एकं श्री जयसिंहपार्थिवपतिकाश्मीरमीनध्वजम्।
तस्योपासितसन्धिविग्रहमलंकारं द्वितीयस्तुमः॥ श्रीकण्ठ० XXV. ६१।

5. हनूमदाद्यैः इत्यादि (पृ० ३१), धन्यासि वैदर्भि इत्यादि (पृ० ३६) क्रमशः नैषधीय ९.१२३ तथा ३.११६ से लिए गए हैं।

6. 'ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्' इत्यादि यह नैषधीय का अन्तिम श्लोक है।

श्रीहर्ष काशी के राजा जयन्तचन्द्र के मन्त्री हीरा के पुत्र थे।[1] संभवतः यही जयन्तचन्द्र कनौज का राजा जयचन्द्र था। जयचन्द्र के प्रारंभिक शिलालेखों में से एक की तिथि संवत् १२२३[2] है। बूल्हर ने नैषधीय के रचनाकाल का अनुमान ११६७ तथा ११७४ ई० सन् के बीच लगाया है। नैषधीय के एक टीकाकार डा० गदाधर ने श्रीहर्ष को वाराणसी के राजा गोविन्दचन्द्र का आश्रित माना है। मंख ने कहा है कि गोविन्दचन्द्र नामक कान्यकुब्ज के एक राजा ने काश्मीर[3] के राजा जयसिंह के दरबार में एक राजदूत को भेजा था। अतः यह मानना असंभव नहीं कि यह राजा वही हो जिसका गदाधर ने उल्लेख किया है। संभवतः वाराणसी और कान्यकुब्ज ये दोनों स्थान उसी राजा की राजधानी रहे हों। यह भी कहा जा सकता है कि उस राजा ने कान्यकुब्ज के राजसिंहासन पर बैठने के पश्चात् वाराणसी को विजय किया हो। एक दूसरी तर्क-विधि भी है जिससे लगभग उपरोक्त तिथि ही निर्धारित होती है। श्रीहर्ष ने खंडनखंडखड्य[4] नामक रचना भी लिखी। इसमें उन्होंने उदयन के एक पद्य को दूषित करके उद्धृत किया है तथा लेखक[5] का उपहास किया है। उदयन ने अपनी लक्षणावली की रचना शक संवत् ९०६ अथवा ९८४–५ ई० सन् में की। 'तर्काम्बरांक प्रतिमेष्वतीतेषु शकान्ततः। वर्षेषूदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम् ॥'

(द) काव्यप्रकाश का एक टीकाकार चण्डीदास विश्वनाथ के पितामह का छोटा भाई था। यह दिखाया जा चुका है कि (पृ० २७४) कि काव्यप्रकाश

---

1. जे० बी० आर० ए० एस० भाग १०, पृ० ३१ से आगे।

2. दे० प्रोफेसर भंडारकर की रिपोर्ट १९०४–५ पृ० ४३, ८७.

3. अन्यः स सुहलस्तेन ततोऽन्धत पंडितः।
दूतो गोविन्दचन्द्रस्य कान्यकुब्जस्य भूभुजः॥ श्रीकण्ठ० XXV. १०२.

4. 'षष्ठः खंडनखण्डतोऽपि सहजात्क्षोदक्षमे तन्महाकाव्येऽयं व्यगमन्नलस्य चरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः॥' (नैषधीय चरित के छठे सर्ग के अंत में)

5. दे० न्यायकुसुमांजली की भूमिका (पृ० १५)। उदयन का श्लोक इस प्रकार है :—'शंका चेदनुमास्त्येव न चेच्छंका ततस्तराम्। व्याघातावधिराशंका तर्कः शंकावधिर्मतः॥' न्यायकुसुमांजली (तृतीयस्तवक, श्लोक ७, पृ० ३८२) के जिस श्लोक का श्रीहर्ष ने खंडन किया है, वह इस प्रकार है :—'तस्मादस्माभिरप्यस्मिन्नर्थे न खलु दुष्पठा। त्वद्ग्यथैवान्यथाकारमक्षराणि कियन्त्यपि। व्याघातो यदि शंकास्ति न चेच्छंका ततस्तराम्। व्याघातावधिराशंका तर्कः शंकावधिः कुतः॥'

१०५० और ११० ई० सन् के बीच की रचना है। चण्डीदास काव्यप्रकाश के आरंभिक टीकाकारों में से नहीं है तथा विश्वनाथ उससे दो पीढ़ी पूर्व का लेखक है। मेरे इस मत का कि (मेरी व्याख्या का पृ० ७३) मान्य और उपजीव्य शब्द रुय्यक की ओर संकेत करते हैं, प्रो० भट्टाचार्य ने अपने काव्यप्रकाश के संस्करण (कलकत्ता, ओ० जे० भाग २, पृ० १० टिप्पणी) में खंडन किया है। उनके मत में विश्वनाथ का निर्देश चंडीदास की दीपिका से है। परन्तु मेरा मत कदाचित् असंगत नहीं है। उन्होंने यह स्वीकार किया है कि साहित्यदर्पण के ये शब्द दीपिका में उपलब्ध नहीं हैं। मैंने उस प्रकरण के दो अर्थ इस प्रकार दिए हैं: (१) रुय्यक ने अपने 'मान्य' तथा 'उपजीव्य' मम्मट का विरोध किया है। इस पर विश्वनाथ ने रुय्यक की निन्दा की है। अथवा (२) वे अपने 'मान्य' तथा 'उपजीव्य' रुय्यक की अधिक आलोचना नहीं करते।

(ई) विश्वनाथने धर्मदत्त के शब्दों का उल्लेख किया है। धर्मदत्त[1] विश्वनाथ के पितामह (प्रपितामह ?) नारायण के समकालीन थे। कलिंग के राजा नरसिंह की राजसभा में नारायण ने धर्मदत्त को पराजित कर दिया था। नारायण विश्वनाथ के पितामह थे अथवा प्रपितामह थे, इससे विशेष अन्तर नहीं पड़ता। कलिंग के बहुत-से राजाओं का नाम नरसिंह था। इसके अतिरिक्त उनके राज्यारोहण[2] के विषय में बहुत अनिश्चितता है। साहित्यदर्पण की एक हस्तलिखित प्रति ई० सन् १३८४ की है। इसलिए कलिंग के नरसिंह राजाओं में से नरसिंह चतुर्थ की सभा में नारायण थे, यह नहीं कहा जा सकता। चतुर्थ नरसिंह ई० सन् १३७३–१४११ के बीच राज्यारूढ़ हुए थे। नरसिंह तृतीय भी नारायण का आश्रयदाता नहीं हो सकता क्योंकि उसका राज्या-रोहण काल ई० सन् १३२८–६१ के बीच था। अतः नारायण का आश्रयदाता नरसिंह द्वितीय ही हो सकता है। इसका राज्यारोहण काल १२७०–१३०३ के बीच निश्चित होता है। इसके लेखों में इसे कविप्रिय कहा गया है। अतः वह कवियों का आश्रयदाता होगा। यदि नारायण विश्वनाथ के वास्तव में वृद्ध

---

1. तदाहः धर्मदत्तः स्वग्रन्थ रसे 'सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते। तच्चमत्कार सारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतोरसः। तस्माददद्भुतमेवाह नारायणो रसम् ॥' सा० द० ३.१.३.

2. श्री० त्रिवेदी के एकावली संस्करण की भूमिका में कलिंग के राजाओं पर डा० भंडारकर की टिप्पणी देखिए।

प्रपितामह था तो उसका आश्रयदाता नरसिंह प्रथम होगा क्योंकि उसका राज्यारोहण काल ई० सन् १२५२ के लगभग है।

(२) वाह्य प्रमाण इस प्रकार हैं :—(क) कुमारस्वामी कृत प्रतापरुद्रीय की टीका रत्नापण[1] में साहित्यदर्पण का दो वार नामोल्लेख हुआ है। १५वीं[2] शताब्दी में हुए सुप्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ के पुत्र कुमारस्वामी थे।

(ख) गोविन्द ठक्कर ने अपने काव्यप्रकाश प्रदीप में मम्मट की काव्य-परिभाषा पर विश्वनाथ की आलोचना तथा विश्वनाथ की काव्य-परिभाषा को उसका[3] नामोल्लेख किये विना उद्धृत किया है। गोविन्द की तिथि १६०० ई० पूर्व है। क्योंकि काव्यप्रकाश के एक टीकाकार कमलाकर भट्ट ने अपना निर्णयसिन्धु[4] १६१२ ई० सन् में पूर्ण किया था। इन्होंने गोविन्द का उल्लेख किया है।

यहां तक के विवेचन से स्पष्ट होता है कि विश्वनाथ ने १२वीं शताव्दी के बहुत-से लेखकों का उल्लेख किया है। १५वीं तथा १६वीं शताव्दी के लेखकों ने विश्वनाथ का नामोल्लेख किया है। इस प्रकार पूर्वोल्लिखित १३००–१३८० ई० सन् के वीच विश्वनाथ का समय रहा, यह निर्विवाद रूप से तथा स्वतंत्र प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है।

प्रथम परिच्छेद में औपचारिक मंगलाचरण के उपरान्त विश्वनाथ ने काव्य के फल का निरूपण किया है। इन्होंने अन्य ग्रन्थकारों द्वारा निरूपित काव्य-

---

1. दे० प्रतापरुद्रयशोभूषण, पृ० २४५, २४८ साहित्यदर्पण ३.१४६–१४७ और १५० में आये हुए उद्धरण मद और मोह इन व्यभिचारिभावों की परिभाषाएं हैं।

2. दे० डा० भंडारकर लिखित मालतीमाधव की भूमिका और भट्टिकाव्य पर श्री० त्रिवेदी की भूमिका (पृ० XXIV—XXV)।

3. अर्वाचीनास्तु "यथोक्तस्य काव्यलक्षणत्वे काव्यपदं निर्विषयं प्रविरल विषयं वा स्यात्। दोषाणां दुर्वारत्वात्। तस्मात् 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" इति तल्लक्षणम्। 'तथा च द्रष्टेऽपि रसान्वये काव्यत्वमस्त्येव। परं त्वपवर्षमात्रम्। तदुक्तं कीटानुविद्धरत्नादि' इत्यादि। एवं चालंकारादि सत्वे उत्कर्षमात्रं नीरसेतु चित्रादौ काव्यव्यवहारो गौणः।" इत्याहुः। प्रदीप, पृ० १३ निर्णयसागर।

4. वसुऋतु ऋतुभूमिते गतेब्दे नरपति विक्रमतोऽथ याति रौद्रे। तपसि-शिवतिथौ समापितोऽयं रघुपतिपादसरोरुहेऽर्पितश्च ॥

लक्षणों का विवेचन किया है अंत में इन्होंने अपना निजी मत सोदाहरण समझाया है। दूसरे परिच्छेद में वाक्य और शब्द का लक्षण देकर शब्द की तीन शक्तियों का विस्तृत विवेचन किया है। तृतीय परिच्छेद में रस भाव तथा अन्य तत्सम्बद्ध विषयों का पूर्ण विवेचन किया है। चतुर्थ में काव्य के ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य—दो प्रमुख भेद और उनके उपभेदों की सुविस्तृत व्याख्या की है। पांचवें में लेखक ने व्यंजनावृत्ति की स्थापना की है। इसके विरोधी मतों का सतर्क खंडन किया है। छठे में नाट्यशास्त्र की सविस्तर, सांगोपांग चर्चा की है। सातवें में उन्होंने काव्य के दोषों का विवेचन किया है। आठवें में काव्य के तीन गुणों का निरूपण किया है। इनके मत में अन्य ग्रन्थकारों द्वारा निरूपित अन्य गुण इन तीन गुणों में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं अथवा वे गुण ही नहीं हैं। नौवें परिच्छेद में लेखक ने वैदर्भी, गौडी, पांचाली और लाटी इन काव्य-रचना की शैलियों की व्याख्या की है। दसवें में शब्दालंकार तथा अर्थालंकारों का विवेचन हुआ है।

संस्कृत के अलंकारशास्त्रियों की पंक्ति में विश्वनाथ द्वितीय कोटि के लेखक हैं। आनंदवर्धन, मम्मट और जगन्नाथ की दीप्ति के सामने इनकी ज्योति मंद पड़ जाती है। फिर भी विश्वनाथ की रचनाओं में कई गुण हैं। इसका सबसे उत्कृष्ट गुण यह है कि इन्होंने एक ही ग्रन्थ की परिधि में अलंकारशास्त्र तथा इसकी शाखाओं की पूर्ण व्याख्या करदी है। दण्डी[1], मम्मट, जगन्नाथ आदि बहुत-से काव्यशास्त्रज्ञों ने अपने ग्रन्थों में नाट्यशास्त्र का विवेचन नहीं किया है। साहित्यदर्पण में नाट्यकला और विभिन्न नाटक-प्रकारों की संपूर्ण, सविस्तर और सांगोपांग चर्चा हुई है। इस प्रकार संस्कृत नाट्यशास्त्र के क्षेत्र में भरत का नाट्यशास्त्र, धनंजय का दशरूप और विश्वनाथ का साहित्यदर्पण ये तीन ग्रंथ त्रिमूर्ति बन गये हैं। साहित्यदर्पण का दूसरा गुण इसकी सरल और प्रवाहमयी, भाषा-शैली है। मम्मट ने सप्रयत्न संक्षिप्तता अपनाई है अतः पाठक को काव्यप्रकाश का अध्ययन करते समय स्थान-स्थान पर कठिनाई अनुभव होती है। जगन्नाथ अपनी अलंकृत भाषा, सूक्ष्म तर्क-शैली तथा पूर्ववर्ती ग्रंथकारों की कटु आलोचना से पाठकों को आतंकित कर देता है। विश्वनाथ के साहित्यदर्पण में कतिपय स्थलों पर सूक्ष्म विवेचन आ गया है

1. दण्डी ने कहा है : 'मिश्राणि नाटकादीनि तेषामन्यत्रविस्तरः।' काव्यादर्श, १.३१ भामह ने कहा है : 'नाटकं द्विपदीशम्यारासकस्कन्धकादि यत्। उक्तं तदभिनेयार्थमुक्तोन्यैस्तस्य विस्तरः॥' १.२४।

परन्तु सामान्यतः इनका विवेचन अत्यन्त स्पष्ट है। इनका ग्रंथ स्वतंत्र विवेचनात्मक नहीं है, वरन् संग्रहात्मक है। साहित्यदर्पण के भाष्य में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि विश्वनाथ कितना अधिक अलंकारसर्वस्व[1] का ऋणी है।

कभी-कभी वह निजी चिंतन को त्यागकर सर्वस्व का अन्धानुकरण करता है।[2] इन्होंने उदाहरणों के चुनने में अधिक समय देकर श्रम नहीं किया। प्रथम, द्वितीय और दसवें परिच्छेद में आये हुए २'५० उद्धरणों में से लगभग ८५ तो ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश और सर्वस्व के हैं और इनके निजी २० श्लोक हैं। जिन नवीनताओं का उसने प्रतिपादन[3] किया है उसमें वे असफल रहे हैं। कई स्थलों पर उनका मत सर्वथा असंगत[4] है। इन दोषों के होने पर भी इनके ग्रंथ से संस्कृत-साहित्यशास्त्र का सरल और उपयुक्त परिचय मिलता है। प्रो० एस० पी० भट्टाचार्य लिखित 'विश्वनाथ कविराज' और उनके द्वारा उद्धृत विस्मृत आलंकारिक' लेख (जे० ओ० आई० बड़ोदा भाग ६. पृ० ३५७–३६५) देखिए।

साहित्यदर्पण की टीकाओं से अनुमान लगाया जा सकता है कि बंगाल के अतिरिक्त अन्यत्र यह ग्रंथ अधिक लोकप्रिय नहीं हुआ। हस्तलिखित प्रतियों के खोज संबंधी लेखों से अब तक इसकी पांच टीकाओं[5] का पता लगा है। इनमें से रामचरण की टीका निर्णयसागर से प्रकाशित हुई है। यह टीका यद्यपि कुछ उपयोगी है फिर भी यह प्रदीप और उद्योत के समान विद्वत्तापूर्ण और मार्ग-दर्शक नहीं है। उदाहरण के लिए लिए गए श्लोक कहां से उद्धृत हैं, इसका उसमें उल्लेख नहीं है और उनकी व्याख्या भी नहीं मिलती। इसमें लेखक की परिभाषाओं की तुलना अन्य लेखकों से प्रायः नहीं की गई है। कई स्थलों पर

---

1. दे० पृ० १२७, २०९, २१६, ३१० इत्यादि।

2. दे० परिणाम, व्यतिरेक और अर्थान्तरन्यास का विवेचन।

3. उदाहरण के लिए मेरे साहित्यदर्पण की व्याख्या से, निश्चय पृ० १३८–४१ और अनुकूल; पृ० २३०–१।

4. देखिए व्याख्या के पृ० १००, १२५, २१३, २४३।

5. दे० अनन्तदास की हस्तलिखित प्रति (१६२६); १७०० में लिखी रामचरण की टीका, मथुरानाथ शुक्ल की टीका गोपीनाथ की प्रभा और महेश्वर की विज्ञप्रिया टीका।

इसमें बड़े-बड़े दोष रह गए हैं।[1] देहली के श्री मोतीलाल बनारसीदास ने १९३८ ई० सन् (उस समय लाहौर) में दो टीकाओं सहित साहित्यदर्पण का प्रकाशन किया था। इसमें महेश्वरभट्ट की विज्ञप्रिया और विश्वनाथ के पुत्र अनन्तदास की लोचन नामक टीका मुद्रित है। लोचन संक्षिप्त होते हुए भी विद्वत्तापूर्ण तथा प्रसंगानुकूल टीका है। विज्ञप्रिया विस्तृत और विद्वत्तापूर्ण टीका है। महेश्वर ने काव्यप्रकाश पर भी टीका लिखी है। इनका समय १७वीं शताब्दी का मध्य भाग है। हाल ही में काशी ग्रंथमाला (१९५५ का द्वितीय संस्करण) ने संपूर्ण साहित्यदर्पण प्रकाशित किया है जिसमें आचार्य (कृष्णमोहन शास्त्री ने लक्ष्मी नामक एक संस्कृत-टीका लिखी है। विद्याभवन ग्रंथमाला (बनारस) से डा० सत्यव्रत सिन्हा का हिन्दी-टीका सहित एक और संस्करण (१९५७) छपा है।

३५. भानुदत्त प्रणीत रसमंजरी और रसतरंगिणी

रसमंजरी दो टीकाओं सहित बनारस संस्कृत सीरीज़ से प्रकाशित हुई है। रसतरंगिणी पी० रेग्नॉड की 'लॉरेगैंटिकं संस्कृत' (पृ० ४३–६६) नामक ग्रंथ के अन्तर्गत बंबई के वेंकटेश्वर मुद्रणालय से प्रकाशित हुई है। रसतरंगिणी आठ तरंगों में विभक्त है। (१) कृष्ण की भक्ति में मंगलाचरण, परिभाषाएँ, भाव और स्थायिभाव के भेद-उपभेद, (२) विभाव की परिभाषाएं और भेद, (३) कटाक्ष आदि अनुभाव, (४) स्तम्भ, स्वेद, रोमा च आदि आठ सात्विक भाव, (५) व्यभिचारिभाव, (६) रस और शृंगार का विस्तृत विवेचन, (७) हास्य और अन्य रस, (८) स्थायिभाव (आठ प्रकार), व्यभिचारिभाव (२० प्रकार) रस, (आठ प्रकार) इन तीनों से उत्पन्न तीन प्रकार की दृष्टियां और इनमें से कतिपय के उदाहरण। कतिपय रसों की अन्य रसों से उत्पत्ति तथा रस-विरोध का भी वर्णन है। रसमंजरी रसतरंगिणी से कुछ छोटा ग्रंथ है तथा इसके विवेच्य विषय भी कुछ भिन्न हैं। रसमंजरी में नायिकाएं तथा उनके भेद (दो-तिहाई ग्रंथ इसी विवेचन से भरा हुआ है), नायिका की सखी, दूती, नायक (शृंगार में) उसके भेद, नायक के सखा (पीठमर्द, विट, चेट, विदूषक इत्यादि), स्तम्भ आदि आठ सात्विक गुण, शृंगार के दो प्रकार, विप्रलम्भ की दस अवस्थाएं इत्यादि विषयों का रसमंजरी में विवेचन हुआ है।

कुछ अपवाद छोड़कर दोनों ग्रंथों में आये हुए सारे उदाहरण भानुदत्त रचित हैं जैसाकि लेखक ने स्वयं कहा है। 'अवगाहस्ववादेविदिव्यां रसतरंगिणीम्।

---

1. दे० निश्चय (१३९); विशेष (२५५–२५७); भाविक (पृ० ३०७–८)।

अस्मत्पद्येन पद्येनरचयश्रुतिभूषणम्' ।। (रस० त० ८.२९) तथा 'पद्येन स्वीकृतेन तेन कविना श्रीभानुना योजिता ।' (रसमंजरी का अंतिम श्लोक) रसतरंगिणी में भरत और भानुदत्त के पिता के उद्धरण अनेक बार आये हैं (पृ० १६, ८१, १४१, १६८)। दोनों ग्रन्थों में अमरुशतक से उद्धरण आये हैं। ताम्बूलाहरणच्छलेन० यह १८वां श्लोक रसतरंगिणी में पृ० १०९ पर तथा प्रस्थानं वलयैः कृतं यह ३५वां श्लोक रसमंजरी पृ० १८३ पर आया है। इनका उल्लेख 'प्राचीन ग्रंथ लेखन' के रूप में किया है। रसमंजरी का बनारस संस्कृत सीरीज़ संस्करण उपयोग में लाया गया है। दोनों ग्रंथों में लेखक ने प्राचीनों का उल्लेख इस प्रकार किया है :—पूर्वाचार्य (रसत० १७५); प्राचीन लिखित (रसमं० पृ० ४३); पूर्व ग्रंथकारसम्मति (रसत० पृ० १६८); प्राचीन सम्मति (रसत० पृ० १७०, १८२)। इन्होंने रसतरंगिणी में रसरत्नदीपिका (पृ० २०) और शृंगारतिलक (पृ० ६७) का उल्लेख किया है। रसमंजरी की रचना रसतरंगिणी (पृ० १३०) से पूर्व हुई थी। इन्होंने रसत० (पृ० १७७) में प्राचीन ग्रंथ नाम से निम्न श्लोक लिया है:—'अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम्। प्रसिद्धौचित्यवद्वस्तु रसहर्षाय जायते ।।' यह श्लोक ध्वन्यालोक (पृ० १८०) और व्यक्तिविवेक (पृ० ३१) में लगभग इसी रूप में मिलता है।

रसमंजरी में इन्होंने अपने पिता का नाम गणेश्वर और गंगातट पर विदेह नामक गांव को अपना निवासस्थान बताया है ('तातो यस्य गणेश्वरो कविकुलालंकारचूड़ामणिर्देशो यस्य विदेहभूः सुरसरित्कल्लोलकिर्मीरिताः ।।') कुछ ग्रंथों में विदर्भभूः पाठ आता है लेकिन सुर···रिताः शब्द से इसका संबंध नहीं जुड़ता। बर्नेलकृत तंजोर की ग्रंथसूची से स्पष्ट होता है कि भानुदत्त मैथिल थे। इंडिया ऑफिस में रखी एगलिंग की हस्तलिपियों की सूची (भाग ३, संख्या १२११ पृ० ३५३) में रसमंजरी की एक हस्तलिपि को (संवत् १७८०) मैथिल श्री गणनाथ सन्मिश्र० कृत माना है।

रसमंजरी की दो प्रकाशित टीकाएं मिलती हैं। एक त्र्यंबक के पुत्र अनन्त पंडित की व्यंग्यार्थकौमुदी गोदावरी के तट पर १६३५ ई० सन् में पुण्यस्तंभ (आधुनिक पुणतांबी) में रची गई है। दूसरी टीका प्रकाश नामक १८वीं शताब्दी के प्रथम अर्धांश में शिवभट्ट के पुत्र नागेशभट्ट ने लिखी।

गीतगौरीश अथवा गीतगौरीपति नामक गीतिकाव्य भानुदत्त रचित माना जाता है। जो गीतगोबिन्द के अनुकरण पर है। दस प्रकरणों में इसमें गौरी का शिव के प्रति प्रेम वर्णित है। इसमें दिखाया गया है कि पद्यों को (८, ८ के

वर्ग में) किस प्रकार रागों के आधार पर गाया जाय (उदाहरणार्थ, असावरी, कर्नाटक, केदार, भूपाल, भैरवी, मालवा इत्यादि)। दे० एगलिंग की ग्रंथसूची; इंडिया ऑफिस, ग्रंथमाला भाग ७, पृ० १४४३–४५ संख्या ३८४७। यह ग्रंथ बम्बई में १८८७ में ग्रंथरत्नमाला में प्रकाशित हुआ था परन्तु मुझे इसकी प्रति उपलब्ध नहीं हो सकी। इस तरंगिणी और रसमंजरी का लेखक ही गीतगौरीश का लेखक प्रतीत होता है। एगलिंग की ग्रथसूची भाग ७, पृ० १५४०–४१ में कुमारभार्गवीय नामक एक अन्य ग्रंथ मिलता है जिसमें कार्तिकेय का वर्णन मिलता है। यह १२ उच्छ्वासों में है और गद्य तथा पद्य मिश्रित है। इसमें लेखक की वंशावली इस प्रकार दी गई है :—रत्नेश्वर—सुरेश्वर—विश्वनाथ—रविनाथ—भवनाथ—महादेव—गणपति—भानुदत्त। प्रस्तावना के अठारहवें श्लोक में भानुदत्त के पूर्वज सुरेश्वर द्वारा वेदान्त पर वार्तिक लिखे जाने का उल्लेख मिलता है। परन्तु यह सर्वथा असंगत है। सुरेश्वर ने वार्तिक की रचना नौवीं शताब्दी में की अतः यह मानना असंभव है कि भानुदत्त के पूर्वज सुरेश्वर, जोकि क्रम में सातवें हैं, नवीं शताब्दी में हुए थे।

डा० हरदत्त शर्मा (अन्नल्स ऑफ बी० ओ० आर० आई० भाग १७४, पृ० २४३–२५८) ने यह सिद्ध किया है कि पद्य-रचना, सुभाषित हारावली तथा रसिक जीवन आदि कतिपय परवर्ती संग्रहों में उद्धृत रसमंजरी और रसतरंगिणी के श्लोकों को भानुकर रचित माना गया है। उन्होंने यह भी सिद्ध किया है कि भानुकर और भानुदत्त एक ही व्यक्ति है। रसतरंगिणी; (५. पृ० ७३) के 'क्षोणी पर्यटनं श्रमाय विहित''कुज्ञानेन मया प्रयाग नगरे नाराधिनारायणः' श्लोक से विदित होता है कि भानुदत्त ने भारत के विभिन्न भागों में पर्यटन किया था तथा वे वीरभानु के आश्रय में थे। अतः उनकी तिथि १६वीं शताब्दी के आरंभ में होनी चाहिए। डा० डे ने इसी भाग (पृ० २९७—२९८) में भानुकर और भानुदत्त को एक ही व्यक्ति नहीं माना है। मेरे मत में भी इन दोनों को एक मानने के प्रमाण संतोषजनक नहीं मिलते। डा० राघवन (अन्नल्स ऑफ बी० ओ०आर० आई० भाग VXIII पृ० ८५–८६) के मत में किसी कृति का लेखक निश्चित करने के लिए उपरोक्त संग्रहों को एकमात्र आधार नहीं मानना चाहिए। डा० हरदत्त शर्मा ने (पृ० २५७ भाग १७, अन्नल्स ऑफ बी० ओ० आर० आई० रसिक जीवन के जिस श्लोक को आधार माना है यह राजशेखर की बालरामायण (१.२८) में भी आता है। हम देख चुके हैं कि (पृ० १४८–१५०) रुद्रट और रुद्रभट्ट के विषय में इन संग्रहों के कारण कितना भ्रम उत्पन्न हुआ है। प्रो० देवस्थली (न्यू आई० ए० भाग ७, पृ० १११–११७) ने भानुदत्त

सम्बन्धी कई प्रश्नों की जांच की है। वे इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि रसतरंगिणी, रसमंजरी, अलंकारतिलक, गीतगौरीश, कुमारभार्गवीय और चित्र-चन्द्रिका (अलंकारतिलक में रसरचना को भानुदत्तकृत माना है परन्तु अभी तक इसकी कोई हस्तलिखित प्रति उपलब्ध नहीं हुई) इन छः ग्रंथों का रचयिता भानुदत्त है। उन्होंने शृंगार-दीपिका नामक एक हस्तलिखित प्रति का भी उल्लेख किया है जोकि अभी तक उपलब्ध नहीं हुई। इस कृति को निश्चयपूर्वक भानुदत्त की रचना नहीं माना जा सकता। उन्होंने भानुदत्त को मैथिल सिद्ध किया है तथा यह बताया है कि शारङ्गधर पद्धति (१३६३ ई० में रचित) में भानुदत्त के किसी श्लोक का उल्लेख नहीं आया है। अतः भानुदत्त का काल शारङ्गधर पद्धति की रचना के उपरान्त ही मानना चाहिए। अनुल्लेख होने का तर्क संतोषजनक नहीं है। भानुदत्त तथा भानुकर के पूर्वजों का काल निर्धारण करने के लिए पुष्ट प्रमाणों की आवश्यकता है।

भानुदत्त ने सरस्वतीकण्ठाभरण, काव्यप्रकाश और गीतगोविन्द का उल्लेख किया है अतः इसका समय लगभग १२५० ई० सन् से पूर्व नहीं हो सकता। स्टेन की जम्मू में निहित हस्तलिखित प्रतियों की सूची से पता चलता है कि नृसिंह के पुत्र गोपाल लिखित विकास (अथवा विलास) नामक रसमंजरी की टीका की तिथि १४८४ ई० है स्टेन ने यहां दो गल्तियां की हैं। वास्तव में यह तिथि १४९४ है पदन्तु उन्होंने इसे संवत् काल की तिथि मान ली है। परन्तु अंगीरों के उल्लेख से यह सिद्ध हो जाता है कि यह शक संवत् है। (दे० प्रो० एस० आर० भंडारकर की रिपोर्ट १९०४–१९०६ पृ० ३६ तथा प्रो० गोड़, अन्नल्स ऑफ् बी० ओ० आर० आई० भाग १६, पृ० १४५–१४७) अतः इस हस्तलिखित ग्रंथ की तिथि १५७२ ई० सन् निश्चित होती है। रत्नापण (२८० पृ०) में रसमंजरी के मत का उल्लेख निम्न प्रकार आया है: 'नायकयोर्निमित्ततो विप्रयोगः प्रणयमानापरपर्यायो विरहविप्रलंभ इत्यर्थः । रसमंजर्यां परस्परमाज्ञोल्लंघनं प्रणयमान इति' इसे उद्धरण मानना आवश्यक नहीं है। संभवतः यह रसमंजरी के पृ० ४२–४४ पर आये (बनारस संस्कृत सीरीज़ १९०४) मतों का सारांश है। अतः भानुदत्त की तिथि १२५० तथा १५०० ई० सन् के बीच रही होगी।) १९२३ ई० में मैंने यह अनुमान लगाया था कि भानुदत्त मिथिला के राजा के मंत्री गणेश्वर के पुत्र थे और गणेश्वर चण्डेश्वर के चाचा थे। यदि हम कुमारभार्गवीय में दी गई उपरोक्त भानुदत्त की वंशावली मेरे 'हिस्ट्री ऑफ घर्मशास्त्र' (भाग १, पृ० ३७१ टिप्पणी ८८९) में दी हुई

गणेश्वर की वंशावली से तुलना करें तो उपरोक्त अनुमान का समर्थन नहीं हो सकेगा। मित्रा के नोटिसिज़ (भाग ९, संख्या ३११५, पृ० १९४–५) में नृसिंह के पुत्र शेषचिन्तामणिकृत परिमल नामक रसमंजरी की टीका का उल्लेख उपसंहार में आता हैं। इसकी तिथि संवत् १६०९ (१५५२–३ ई० सन्) बताई गई है। इस टीका की उपरोक्त तिथि सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। संभवतः यह इस टीका की प्रतिलिपि की तिथि है। डा० भंडारकर की १८८३–८४ ई० सन् की प्रतिलिपियों के संबंध में आई रिपोर्ट का उपसंहार भिन्न प्रकार है और इसमें तिथि का कोई उल्लेख नहीं मिलता। डा० हरदत्तशर्मा के विचारों में समय-समय पर परिवर्तन होता रहा है (दे० पृ० २४८ अन्नल्स ऑफ बी० ओ० आर० आई० भाग १७)। एक समय तो उन्होंने कहा था कि भानुकर ने निज़ाम का उल्लेख किया है और उसकी प्रशंसा की है (यह उत्तरवर्ती संग्रहों का मत है)। उस समय वे इस निज़ाम को निज़ामशाही वंश का राजा मानते थे। परन्तु उनके हाल के विचार में ये लोदी वंश के राजा निज़ामखां हैं। (पृ० २५४)। भानुदत्त के अगले पद्यों में शेरशाह की प्रशंसा की गई है (शेरशाह १५४०–५)। अतः यदि भानुकर और भानुदत्त एक ही व्यक्ति हैं तो भानुदत्त का समय लगभग १५४० प्रतीत होता है। यह प्रायः असंमान्य तिथि है। यदि रसमंजरी की टीका की १५५२-३ में प्रतिलिपि की गई और भानुदत्त का समय लगभग १५४० था तो रसमंजरी, उसकी टीका और उस टीका की प्रतिलिपि का समय १०–१५ वर्ष तक का ही होगा। यह विदित होता है कि विवादचन्द्र (दे० पटना यूनिवर्सिटी जनरल भाग ३, संख्या १,२; पंडित रमानाथ झा का लेख) के लेखक मिसरू मिश्र की बहन से भानुदत्त ने विवाह किया था। मैंने अपने हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र (भाग १, पृ० ३९९) पर स्पष्ट किया है कि मिसरूमिश्र का समय १५वीं शताब्दी का मध्य भाग होना चाहिए। अतः भानुदत्त का समय भी उस तिथि से कुछ ही वर्ष बाद का होना चाहिए। रसमंजरी (बनारस संस्करण पृ० २३२, श्लोक १२१) में लिखा है :—'भेदो वाचि दृशोर्जलं कुचतटे स्वेदः प्रकंपोधरे पाण्डुर्गण्डतटी वपुः पुलकितं लीनं मनस्तिष्ठति। आलस्यं नयनश्रियश्चरणयोः स्तंभः समुज्जृम्भते तात्कं राजपथे निजामधरणीपालोयमालोकितः॥' इसमें मुस्लिम शासक निज़ाम का उल्लेख है। व्यंग्यार्थकौमुदी में कहा गया है कि यह देवगिरि का राजा था। यदि डफ की 'क्रानालोजी ऑफ इंडिया' में देखें तो १४००–१५५० ई० सन् के बीच कम-से-कम एक दर्जन शासक हुए हैं जो निज़ाम कहलाते थे और जिन्होंने

दक्षिण अथवा मध्य भारत और अन्य स्थानों पर राज्य किया था। अतः यह कहना कठिन है कि रसमंजरी में किस मुस्लिम शासक से संकेत है। डा० हरदत्तशर्मा (आई० एच० क्यू० भाग १०, पृ० ४७८ में) ने इसका आधार लेकर कहा है कि कतिपय संग्रहों में भानुकर का उल्लेख है और उसके कतिपय पद्यों में निज़ाम, वीर भानु और कृष्ण का भी उल्लेख है। वर्तमान समय में भानुकर नाम का कोई बड़ा लेखक विदित नहीं है। अतः डा० शर्मा और अन्य लेखक भानुदत्त और भानुकर को एक ही व्यक्ति मान लेते हैं लेकिन मैं इसे उपयुक्त स्वीकार नहीं करता। हम उन सभी कवियों से परिचित नहीं हैं जो शताब्दियों से चले आए हैं। इसके अतिरिक्त भानुदत्त का संक्षिप्त रूप भानु हो गया हो; जैसाकि भीमसेन का भीम उल्लेख किया जाता है। जहां तक मुझे जानकारी है एक भी ऐसा उदाहरण नहीं है जिसमें हरदत्त, रुद्रदत्त और रुचिदत्त का कहीं पर भी हरकर, रुद्रकर अथवा रुचिकर के रूप में उल्लेख आया हो। अतः यह संदिग्ध है कि भानुदत्त और भानुकर एक ही व्यक्ति है। पंडित बद्रीनाथ झा द्वारा संपादित रसपारिजात[1] में भानुदत्त और उसके पिता के पद्य संकलित हैं। कतिपय श्लोक भानुदत्त ने निज़ामशाह, कृष्ण और वीरभानु को संबोधित करके लिखे हैं। परन्तु इससे इतना ही सिद्ध होता है कि भानुदत्त को इन तीनों का आश्रय प्राप्त था।

अभी-अभी प्रो० जी० वी० देवस्थली ने भानुदत्त के अलंकारतिलक का प्रकाशन किया है (जो तीन हस्तलिखित प्रतियों पर आधारित है; देखो जे०वी०

---

1. रसपारिजात भानुदत्त की रचना है। इसमें भानुदत्त तथा उनके पिता गणपति के लगभग एक सहस्र श्लोक संकलित हैं। यह ग्रंथ दस पल्लवों में विभक्त है। दूसरे और तीसरे पल्लवों में ८९ श्लोक हैं। इनमें से ८० श्लोक भानुदत्त के निजी हैं। १४ श्लोकों में निज़ामशाह अथवा निज़ाम की प्रशंसा की गई है। वीरभानु की पांच श्लोकों में कृष्ण की दो श्लोकों में तथा संग्राम साहि की एक श्लोक में ही प्रशंसा की गई है। डा० डे के विचार में निज़ामशाह अहमदनगर के संस्थापक राजा थे, जबकि पंडित रामनाथ झा के मत में (जरनल पटना यूनिवर्सिटी भाग ३, ऊपर उद्धृत) वह इस वंश के दूसरे राजा थे और कृष्ण नाम विजयनगर के कृष्णदेवराय का था, जो १५०९ ई० सन् में राजगद्दी पर बैठे और १५३० तक शासन करते रहे। यह सब अनुमान ही है। ठोस आधार एक ही है कि भानुदत्त ने मिसरूमिश्र की बहन से विवाह किया है। अतः भानदत्त १४५०–१५०० ई० सन् के बीच अवश्य ही रहे हैं।

बी० आर० ए० एस० न्यू सीरीज़, भाग २३, पृ० ५७-८२ और भाग २४-२५, पृ० ९३–१२०) । यह पांच परिच्छेदों में विभक्त है । यह गद्य और पद्य मिश्रित है । उदाहरण लेखक के अपने हैं अथवा उनके पिता के, जिसका बार-बार उल्लेख हुआ है (पृ० ६०, ६१, ६२, ९४, ९५ इत्यादि) इसकी विषय-सूची इस प्रकार है : परिच्छेद १ :—वाराहावतार संमान में मंगलाचरण के उपरान्त इन्होंने भानु सन्त कवि के रूप में अपना उल्लेख किया है । इन्होंने कहा है कि रस आत्मा है, काव्य शरीर है, गति, रीति, वृत्ति, दोषहीनता, गुण और अलंकार ये इन्द्रियां हैं । व्युत्पत्ति प्राण है और अभ्यास मन है । काव्य उत्तम, मध्यम और अधम तीन प्रकार का होता है । भाषा के अनुसार काव्य संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्र चार प्रकार का होता है । शब्द और अर्थ काव्य होते हैं और रीति काव्य का धर्म होता है । कैशिकी इत्यादि छः वृत्तियां होती हैं । (२) परिच्छेद :–इसमें पद, वाक्य, वाक्यार्थ से संबंधित दोषों का विवेचन है । (३) परिच्छेद :– बाह्य, आन्तर और वैशेषिक तीन प्रकार के गुण । बाह्य गुण का संबंध शब्द से है और अन्तर का अर्थ से । श्लेष आदि २४ गुण होते हैं । (४) परिच्छेद :—अलंकारों की परिभाषा (औपाधिक प्रकर्ष हेत्वलंकारः) वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र, पुनरुक्तवदाभास आदि काव्य प्रकाशानुसार छः शब्द संस्कारों तथा कंठाभरण के अनुसार गति, रीति, वृत्ति, छाया आदि का भी वर्णन है । (५) परिच्छेद :–कुल ४८ अर्थालंकार हैं । भानुदत्त ने वृत्ति, पद-दोष, वाक्य और वाक्यार्थदोष तथा अन्य विषयों में सरस्वतीकंठाभरण का निकट से अनुसरण किया है । जिन लेखकों और रचनाओं का उल्लेख किया है, उनमें से निम्नलिखित हैं :—कंठाभरण (भोज का सरस्वतीकंठाभरण), काव्यप्रकाश, गीतगोविन्द (भाग २४, पृ० ९४) चित्रचन्द्रिका (इनकी अपनी रचना, भाग २४, पृ० ९६), दंडी (भाग २३, पृ० ५८, ७९, नाम दंडीकर आया है), भरत, वामन । इन्होंने अपने पिता का नाम नहीं दिया है और न अपने विषय में कोई परिचय ही दिया है । अन्त में इन्होंने लिखा है :—'विबुधा पद्यसूत्रेण गुम्फितालंकृतिर्मया । सूत्रभंगो यथा न स्यादेत्तस्याः कलयेत्तथा ।।' इससे संकेत मिलता है कि उदाहरणस्वरूप श्लोक उसके निजी हैं ।

३६. रूपगोस्वामीकृत भक्तिरसामृतसिन्धु और उज्ज्वलनीलमणि

चैतन्य प्रवर्तित (१४८६-१५३३ ई० सन्) वैष्णव आन्दोलन ने प्रेम और रहस्यवाद की पद्धति प्रचलित की । डा० डे ने अपने ग्रंथ 'वैष्णव फेथ एण्ड मूवमेंट इन बंगाल' में इस आन्दोलन के विषय में विस्तृत सप्रमाण विवेचन किया है ।

इस आन्दोलन से हमारा संबंध इस कारण है कि रूपगोस्वामी ने इससे प्रभावित होकर उपर्युक्त दो ग्रंथों की रचना की और इसमें रससिद्धान्त की शब्दावली और आवरण में कृष्ण पर आधारित भक्तिसिद्धान्त की स्थापना की। धर्मानुराग और आध्यात्मिक रहस्यवाद को सांसारिक प्रेम और इच्छाओं की भाषा और भाव के आवरण में प्रस्तुत किया है। इस स्थल पर स्थानाभाव के कारण इनके ग्रंथों का संक्षिप्त परिचय देना भी कठिन है। उज्ज्वलनीलमणि की अत्यन्त संक्षिप्त रूपरेखा ही यहां प्रस्तुत करता हूं। जिन्हें अधिक जानकारी की आवश्यकता हो मूल पुस्तक को भक्ति रसामृत सिन्धु उज्ज्वलनीलमणि के विषय में डा० डे लिखित ग्रंथ का अध्ययन करें (पृ० १२६–१५३; पृ० १५३–१६७ क्रमशः और 'भक्तिरसशास्त्र इन बंगाल वैष्णवविजय' डा० डे लिखित लेख; आई. एच. क्यू. भाग ८, पृ० ६४३–६८८ दे०)।

उज्ज्वलनीलमणि[1] के० एम० सीरीज़ (१९३२) में रूपगोस्वामी के भतीजे जीवगोस्वामी (रूप के छोटे भाई वल्लभ का पुत्र) लिखित लोचनरोचनी तथा

---

1. अंतिम श्लोक इस प्रकार है :—'अयमुज्ज्वलनीलमणिर्गहनमहाघोषसागर प्रभवः। भजतु तव मकर कुण्डल परिसर सेवौचितीं देव।।' यह समुद्र सदृश नन्दव्रज में निवास करने वाले श्रीकृष्ण के कानों तक पहुंचे। उज्ज्वलनीलमणि शब्द का संकेत इस रचना तथा श्रीकृष्ण से है। क्योंकि श्रीकृष्ण श्रृङ्गार के साक्षात् अवतार हैं। इनका उल्लेख घननील नाम से किया जाता है। 'उज्ज्वलः श्रृंगार रस एव नीलमणि···गहन प्रभवः'इस श्लोक से भी ध्वनि निकलती है कि उज्ज्वलनीलमणि पूर्वलिखित ग्रन्थ 'भक्तिरसामृतसिन्धु' से उत्पन्न हुआ है। जीवगोस्वामी ने अपनी टीका की प्रस्तावना के दूसरे श्लोक में स्पष्ट किया है कि यद्यपि उज्ज्वलनीलमणि का श्रीकृष्ण की श्रृङ्गार-लीलाओं से प्रत्यक्ष संबन्ध है फिर भी लेखक का प्रयोजन अन्य रचनाओं की भांति नग्न रूप में कहीं भी और किसी भी व्यक्ति के सामने प्रस्तुत करना नहीं है। 'पुरा संक्षेपेणोदितत्वे हेतुरतिरहस्यत्वादिति निवृत्तानां लौकिकादुज्ज्वलाख्यरसात्तत्साम्यम्।······तथा भागवते ये केचित् तस्मिन् बहुमानिनोपि तात्पर्यालोचनायां न चतुरास्तैरपि दुरूहोऽयं रस इति तेभ्योऽपि गोप्य एव कार्यः किमुत विधयिभ्यः इति रहस्यमेवात्रमुख्यो हेतुरिति भावः। अत्र तु विस्तरेण वचने हेतु रहस्यत्वादित्येव। कालदेशपात्रविशेष संबन्धेन रहस्यत्वं प्राप्येत्यर्थः। ल्यब्लोपे पंचमीस्यात्। यद्वा पृथगित्यनेनैव रहस्य इति व्यज्यते। तस्माद् ग्रन्थान्तरवद्यत्र कुत्रचिन्नायं प्रकाशनीय इत्युपदिष्टम्।' भागवत का उद्धरण देते हुए रूप ने कहा है कि व्रजनारियों के पति कृष्ण से ईर्ष्या नहीं करते थे और उन्हें पतिव्रता समझते थे। 'न जातु व्रजदेवीनां पतिभिः

विश्वनाथ चक्रवर्तिन की आनन्दचन्द्रिका नामक टीका सहित प्रकाशित हुआ है। आनन्दचन्द्रिका शक १६१८ में वृन्दावन में रची गई। इसका प्रथम श्लोक इस प्रकार है :——'नामाकृष्टरसज्ञः शीलेनोद्दीपयन् सदानन्दम्। निजरूपोत्सव-दायी सनातनात्मा प्रभुर्जयति ॥' (सनातन शब्द कृष्ण और साथ ही रूप के बड़े भाई के लिए भी प्रयुक्त होता है)। दूसरे श्लोक में कहा गया है कि पूर्वलिखित ग्रन्थ (भक्तिरसामृत सिन्धु) में भक्तिरस का (जोकि रसों में प्रमुख कहा जाता है; शांतप्रीतिप्रेयोवत्सलोज्ज्वलनामसु) संक्षेप में विवेचन किया गया था क्योंकि इसका विषय गूढ़ रहस्यमय है। परन्तु उज्ज्वल० में इसका विस्तार से विवेचन हुआ है। भक्तिरस का स्थायीभाव मधुरा रति है और जब यह विभाव आदि के द्वारा आस्वाद की स्थिति में पहुँच जाता है तब इसे मधुर कहते हैं: 'वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः स्वाद्यतां मधुरारतिः। नीता भक्तिरसः प्रोक्तो मधुराख्यो मनीषिभिः ॥' भरत ने अपने नाट्यशास्त्र (६ पृ० ७३ जी०ओ०एस० संस्करण; पद्य ५०, पृ० ३०१–३०२) में कहा है; 'श्रृंगारो नाम रतिस्थायिभाव-प्रभव उज्ज्वल वेषात्मकः। यथा यत् किंचिल्लोके शुचि मेध्यं दर्शनीयं वा तच्छृङ्गारे-णानुमीयते (णोपमीयते)। यस्तावदुज्ज्वलवषः स श्रृंगारवानित्युच्यते।···तदेवमेव गुर्वाचारसिद्धो हृद्योज्ज्वलवेषात्मकः श्रृंगारो रसः।' उज्ज्वलनीलमणि में स्थायि-भाव प्रकरण (श्लोक ५४–५५; द्वितीय संस्करण का पृ० ४१७) में कहा गया है कि स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, महाभाव आदि छः भाव प्रेम की लीलाएँ हैं। इनकी तुलना इन्होंने गन्ना, रस, गुड़, खाण्ड, शर्करा और मिश्री से की है। (वीज-मिक्षुः स च रसः स गुडः खण्ड एव सः। स शर्करा सिता सा च सा यथा स्यात्सितोपला। अतः प्रेमविलासाः स्युर्भावाः स्नेहादयस्तु षट् ॥) इस संसार में जो कुछ पवित्र, शुद्ध और नेत्रों के लिए आकर्षक है वह श्रृंगार का द्योतक है। श्रृंगार का प्रमुख तत्त्व आकर्षक और सुन्दर आकृति तथा रमणीय वेष-भूषा है। इस रस में आलंबन विभाव कृष्ण (जैसाकि मधुरा रति का विषय है), उसके वल्लभ जोकि मधुरा रति के आश्रय हैं; कृष्ण के गुण (उसका सौन्दर्य, शारीरिक और मानसिक यौवन, मधुर-भाषण आदि), उसके कार्य और उसकी सजावट उद्दीपन विभाव हैं। प्रसिद्ध चार प्रकार के नायक (धीरोदात्त, धीरोद्धत्त, धीरललित और धीर-प्रशान्त) भेदों का वर्णन करने के बाद उसके दो अन्य भेद पति (जैसे रुक्मणि और सत्यभामा के) और उपपति (जैसाकि व्रज की नारियों के) किए गए हैं। इन चार उपभेदों के भी

सहसंगमः। तथाहि श्रीदशमे। नासूय-खलु कृष्णाय मोहितास्तस्यमायया। मान्य-माना स्व पार्श्वस्थान स्वानस्वानदारान् व्रजौकसः ॥ (१, ३१ पृ० ५८–५९) यह अंतिम श्लोक भागवत के १० वें स्कन्ध पूर्वार्ध, अध्याय ३३, ३८ से है।

पूर्णतम, पूर्णतर और पूर्णभेद होते हैं। पति और उपपति कभी अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट ये चार प्रकार होते हैं। इन सभी भेदों की परिभाषाएँ और उदाहरण दिए गए हैं। साथ ही गुणों और कार्य-व्यापारों का वर्णन किया गया है, (अनुकूल पति राम और अनुकूल उपपति राधा के लिए कृष्ण हैं)। इस प्रकार नायक के ९६ भेद हैं। नायक के चेट, विट, विदूषक, पीठमर्द, प्रियनर्मसख आदि पाँच मित्र हैं।

इनकी परिभाषाएँ और उदाहरण दिए गए हैं।[1] हरि की प्रेमिकाओं के दो भेद हैं—स्वकीया और परकीया। कृष्ण की स्वकीयाओं की संख्या १६१०८ है जोकि द्वारका में निवास करती हैं। इनमें से रुक्मणि, सत्या, जांववती, अर्कनंदिनी, शैव्या, भद्रा, कौशल्या, माद्री आदि आठ प्रमुख हैं। परकीया दो प्रकार की होती हैं—कन्या और प्रौढ़ा जो प्रायः व्रज में निवास करती थीं। प्रोढ़ा नायिकाएँ तीन प्रकार की थीं :–साधनपरा, देवी, नित्यप्रिया। साधनपराओं के पुनः दो भेद हैं। यौथिक्या और अयौथिक्या। समूह में काम करने वाली यौथिक्या कहलाती हैं। इनके मुनि और उपनिषद् दो भेद हैं। अयौथिक्या के भी दो प्रकार हैं–प्राचीन और नव। देवियाँ वे थीं जो कृष्ण के साथ पृथ्वी पर जन्म लेती थीं। राधा और

---

१. रूपगोस्वामी के मत में जिस प्रेम को अनुचित या गुप्त प्रेम कहकर सामान्यतः तिरस्कृत किया जाता है वह शृङ्गार की चरम कोटि है। साधारण व्यक्तियों के लिए इस प्रकार का प्रेम वर्ज्य है, परन्तु पूर्ण अवतारी कृष्ण के लिये यह प्रेम त्याज्य नहीं है; क्योंकि इन्होंने अपने भक्तों को रहस्यमय प्रेम का आस्वाद देने के लिए अवतार धारण किया है। 'अत्रैव परमोत्कर्षः शृंगारस्य प्रतिष्ठितः। तथा च मुनिः बहुवार्य ते यतः खलु यत्र प्रच्छन्न कामुकत्वं च/या च मिथो दुर्लभता सा परमा मन्मथस्य रतिः ॥ लघुत्वमत्र यत्प्रोक्तं तत्तु प्राकृत नायके। न कृष्णे रसनिर्यास स्वादार्थं मवतारिणि' ॥ उज्ज्वल० (१. १६–१८ पृ०१४–१५) भागवत में यह श्लोक हैः (१०–३३,३०–३१) "धर्म व्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणाञ्च साहसम्। तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा ॥ न तत्समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः। विनश्यत्याचरन् मौढ्याद्यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम् ॥" उज्ज्वलनीलमणि में भागवत का उल्लेख करते हुए निम्न चेतावनी दी है: "वर्तितव्यं शमिच्छद्भिर्भक्तवन्नतु कृष्णवत्। इत्येवं भक्तिशास्त्राणां तात्पर्यस्य विनिर्णयः ॥ रामादिवद्वर्तितव्यं न क्वचिद्रावणादिवत्। इत्येष मुक्तिधर्मादि पराणां न-य इष्यते।" परन्तु यह उपदेश सामान्य जनता के लिये बहुत ऊंचा है। काव्यप्रकाश (१.५.१०)के 'रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवदित्युपदेशञ्च' ये शब्द सम्भवतः भागवत से लिये गये हैं।

चन्द्रावलि—ये नित्यप्रियाओं में थीं। राधा के गुणों की सोदाहरण गणना की गई है। सखियों के पाँच भेद हैं। स्वकीया और परकीया। स्वकीया और परकीया के तीन-तीन भेद होते हैं। वे हैं—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा। इनकी परिभाषाएँ, उदाहरण और उपभेद दिये गये हैं। सब प्रकार की नायिकाओं के पुनः आठ भेद हैं—अभिसारिका, वासकसज्जा, उत्कंठिता, खंडिता, विप्रलब्धा, कलहांतरिता, प्रोषित-पतिका, स्वाधीनभर्तृका। इनकी परिभाषाएँ, उदाहरण और अनेक उपभेद दिये गए हैं। कुल मिलाकर ३६० प्रकार की नायिकाएँ हैं। स्वयंदूती और आप्तदूती—दो प्रकार की दूती हैं। इनके उपभेद और गुणों का वर्णन है। सखियाँ, उनके गुण और विशेषताओं का निरूपण है। उद्दीपन विभाव अर्थात् हरि और उसकी प्रियाओं के गुण (मानसिक, वाचिक, कायिक), उनका चित्रण, उनके नाम, उनके कार्य, उनका मंडन और उनसे संबंधित वस्तुएँ (जैसे बाँसुरी, गीत, निर्माल्य और तुलसी का पौधा आदि) हैं। इसके बाद अनुभाव, बीस सात्विक गुण, जिसमें भाव, हाव, हेला (३ अंगज) तथा शोभा, कान्ति आदि सात स्वाभाविक और अयत्नज और लीलाविलास आदि स्व-भावज दस गुण आते हैं। स्तम्भ, स्वेद आदि सात्विक भाव, निर्वेद, ग्लानि आदि तैंतीस व्यभिचारिभावों के उपरान्त शृङ्गार या मधुररति की व्याख्या की गई है। दृढ़ रति को प्रेमा कहा जाता है। इसके स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव छः पर्याय हैं। जैसे गन्ने से गुड़, खाण्ड, शर्करा, सिता, सितोपला आदि बनते हैं। प्रेमा के उपभेद। शृंगार दो प्रकार का है—विप्रलम्भ और सम्भोग। सम्भोग के दो भेद मुख्य और गौण और इसके दो उपभेद भी हैं।

काव्यशास्त्र की अन्य रचनाओं से उज्ज्वलनीलमणि की दो विशेषताएँ हैं। इसमें भक्तिरस का सविस्तर विवेचन हुआ है और सभी उदाहरणों का सबन्ध कृष्ण, उनके भक्तों, उनके स्वभाव तथा कार्यों से है।

रूपगोस्वामी ने नाटकचन्द्रिका नामक नाटकशास्त्र पर ग्रन्थ भी लिखा है। ग्रन्थ के आरंभ में इन्होंने उल्लेख किया है कि भरत और रससुधाकर का इन्होंने अनुसरण किया है तथा भरत-मत के विरुद्ध होने के कारण साहित्यदर्पण-कार के मत को अस्वीकार किया है। यह आठ भागों में विभक्त है। इसमें नाटक से सम्बद्ध नायक, नान्दी, सन्धि, पताका, विष्कम्भक, भाषा, वृत्ति और तदनुरूप रसों का विवेचन किया गया है। इसके बहुत-से उदाहरण वैष्णव ग्रन्थों से लिये गये हैं। (विषय-विश्लेषण के लिए देखिए—मित्रा के 'नोटिसिस' भाग ९,

सं० ३१६०, पृ० ४०–४१) डा० डे ने रूप लिखित पद्यावली का ढाका यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन सीरीज़ में संपादन किया है।

रूपगोस्वामी और जीवगोस्वामी की व्यक्तिगत जीवनी के विषय में परिचय देना आवश्यक है। सनातन, उसके छोटे भाई रूप और जीव (सबसे छोटे भाई वल्लभ अथवा अनुपम के पुत्र) वृन्दावन के गोस्वामियों में सुविख्यात हैं। इनका परिवार मूलतः कर्नाट ब्राह्मण[1] था। १४वीं शताब्दी के अंत में वे बंगाल आये। सनातन, रूप और जीव चैतन्य अथवा गौरांग के भक्ति आन्दोलन में जुट गये। रूप ने भक्तिरसामृतसिन्धु और उज्ज्वलनीलमणि में भक्तिरस-शास्त्र व्यवस्थित रूप दिया। जबकि जीव ने चैतन्य संप्रदाय के दर्शन का विवेचन किया। (दे० अफ्रेश की ग्रंथ-सूची, भाग १, पृ० ५३३, डा० डे का ग्रंथ 'वैष्णव फेथ एण्ड मूवमेंट इन बंगाल', पृ० ११३–११४, रूप की कृत्तियों के लिए तथा जीव की रचनाओं के लिए ११६ से ११८ पृष्ठ। उज्ज्वलनीलमणि में आये हुए ग्रन्थों और लेखकों में से निम्न के नाम उल्लेखनीय हैं: उद्धव-संदेश, पृ० ११५, १२६, १८१, २९१ आदि। कर्णामृत पृ० ६०२, क्रमदीपिका, पृ० ४२५, गीतगोविन्द, पृ० १४०, १९९, २१५ इत्यादि, छन्दोमंजरी, जगन्नाथ वल्लभ (पृ० ५२५ पर एक प्राकृत श्लोक) दशरूपक, दानकेलिकौमुदी (एक नाटक पृ० १९८, २७२, २८३ आदि) पद्मपुराण, पद्यावलि (इसकी अपनी रचना का बार-बार उल्लेख आया है), भरत, (अनेक बार उद्धृत) भागवत

---

1. एम० टी० केनेडी ने अपनी पुस्तक 'चैतन्य मूवमेंट' (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९२५, पृ० ४५–४६) में लिखा है कि जब चैतन्य वृन्दावन जा रहे थे तो रामकेलि स्थान पर उनकी भेंट दो विशिष्ट व्यक्तियों से हुई। ये दोनों राजघराने के मराठा ब्राह्मण थे। उनके पूर्वज बंगाल में जा बसे थे तथा उन्होंने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था इसलिए ये गौड के मुसलमानी राजदरबार में ऊँचे पद पर पहुँच गये थे। वे तुरन्त चैतन्य की ओर आकृष्ट हुए और उसके अनुयायी बन गए। चैतन्य ने उन्हें सनातन और रूप नाम दिया। इन दोनों व्यक्तियों ने चैतन्य के भक्ति-आंदोलन में प्रमुख भाग लिया। डा० डे ने अपनी 'अर्लिहिस्ट्री ऑफ़ दि वैष्णव फेथ', (पृ० ७३, टिप्पणी २) में इस विचार का खंडन किया है कि सनातन और रूप ने इस्लाम धर्म स्वीकार किया था, क्योंकि इस विषय में कोई प्रमाण नहीं मिलता। परन्तु इन्होंने इसके विरुद्ध जो प्रमाण दिया है वह न तो संतोषजनक है और न ही अंतिम निर्णायक है।

(विशेषत: दशमस्कन्ध), मुक्ताचरित, (पृ० ३१८), मुनि (अर्थात् भरत पृ० १४, ४० इत्यादि), रससुधाकर[1] (पृ० २८२, २९६ आदि) रुक्मणीस्वयंवर (पृ० ३३३), रुद्र[2] (पृ० ५४), ललितमाधव[3] (दस अंकी नाटक जिसका अनेक बार उल्लेख आया है) वामन पुराण (पृ० ६५), विदग्धमाधव (सात अंकी नाटक, के० एम० सीरीज़ में प्रकाशित, अनेक बार उद्धृत), विष्णुगुप्त संहिता (पृ० ५४), विष्णुपुराण (पृ० ३५२), सप्तशती, हंसदूत (पृ० २३२), हरिवंश ।

रूप और जीव का समय निर्धारण करने में कोई कठिनाई नहीं आती। रूप ने दानकेलिकौमुदी की रचना १४९५ ई० सन् में की। विदग्धमाधव नाटक के अंत में आये एक श्लोक से विदित होता है कि इसका रचनाकाल संवत् १५८९ (१५३२–३३ ई० सन्) है। 'नन्दसिन्धुरवाणेन्दु संख्ये संवत्सरेगते विदग्ध-माधवं नाम नाटकं गोकुले कृतम् ।' (के० एम० संस्करण) मित्रा ('नोटिसीज़' भाग ९, सं० ३१५९) के मतानुसार उत्कलिकामंजरी की रचना १५५० ई० सन् (१४७१ शक) में हुई । भक्तिरसा० की तिथि स्पष्टत: १४६३ शक (१५४१–४२ ई० सन्) है। तदुपरान्त उज्ज्वलनीलमणि की रचना हुई (दे० डी० स्टेन का जम्मू कैटलॉग पृ० २२२) इन तिथियों से स्पष्ट है कि रूप का साहित्यसृजन-काल कम-से-कम ५५ वर्ष का रहा होगा। डा० डे० के मत में सनातन और रूप ये दोनों १५५४ ई० सन् तक जीवित थे और कुछ ही महीनों के अंतर से उनकी इसी वर्ष में मृत्यु हुई। अत: रूप का जीवनकाल लगभग

1. शिंग भूपाल का रसार्णव सुधाकर (त्रिवेन्द्रम संस्करण) और रस-सुधाकर एक ही रचना है। उज्ज्वल० पृ० २३२ में उद्धृत रससुधाकर का यह 'अलोलैरनुमीयते०' श्लोक रसार्णवसुधाकर १, पृ० ४५ में भी आता है। उज्ज्वलनी० के २९६ पृष्ठ पर आये हुए 'दुरासदे०' तथा 'वर्षासुतासु०' ये दोनों श्लोक रसार्णव के क्रमश: ४५ और ४७ पृष्ठ पर आते हैं। डा० डे० (एच० एस० पी० भाग १, पृ० २५६) को संशय है कि रससुधाकर और रसार्णव-सुधाकर एक ही रचना है।

2. 'वामतादुर्लभत्वं च···परममायुधं' उज्ज्वलनीलमणि के ५४वें पृष्ठ पर उद्धृत प्रस्तुत रुद्र का श्लोक शृंगार तिलक (पिशेल संस्करण २.४१, पृ० ५२) में आता है ।

3. ललितमाधव के विषय में दे० एग्लिंग की ग्रंथ-सूची भाग ७, पृ० १५९२ सं० ४१७९ ।

१४७०, १५५४ ई० सन् तक था। जीव की जन्म-तिथि के विषय में दो भिन्न परंपराएं हैं। एक के अनुसार उनकी जन्म-तिथि शक १४३५ (१५१३–१४ ई० सन्) है। दूसरी परंपरानुसार १४४५ शक (१५२३–२४ ई० सन्) मानी जानी चाहिए। जीव का माधव-महोत्सव १५५५ ई० सन् में रचा गया जबकि उनकी रचना गोपाल चम्पू की तिथियाँ १५८९ और १५९२ ई० सन् है। (सनातन रूप और जीव की तिथियों के लिए दे०, डा० डे० का उपर्युक्त ग्रंथ, पृ० ११९–१२२)।

३७. केशवमिश्ररचित अलंकारशेखर

यह ग्रंथ के० एम० सीरीज़ से प्रकाशित हुआ है। इसमें कारिका, वृत्ति और उदाहरण तीन भाग हैं। लेखक ने स्वयं कहा है कि कारिकाएँ शौद्धोदनि की रचनाएँ हैं। 'अलंकार विद्यासूत्रकारो भगवाञ्छौद्धोदनिः परमकारुणिकः स्वशास्त्रे प्रवर्तयिष्यन्प्रथमं काव्यस्वरूपमाह' (पृ० २); श्रुतमेवान्यथाकारमक्षराणि कियन्त्यपि।' (पृ० ८३) यह निर्णय करना कठिन है कि शौद्धोदनि वास्तव में लेखक का नाम है अथवा किसी बौद्ध लेखक ने इन कारिकाओं की रचना की। तदुपरान्त ये शौद्धोदनि के नाम (भगवान् बुद्ध का एक नाम) की समझी गई। अलंकारशे० में काव्यादर्श, काव्यमीमांसा, ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश, वाग्भटालंकार आदि ग्रंथों का आधार ग्रहण किया गया है और श्रीपाद (अलंकार विषयक एक अपरिचित लेखक) का बार-बार उल्लेख आया है। यह ग्रंथ ८ रत्नों और २२ मरीचियों में विभक्त है। इसके विषय निम्न प्रकार हैं:—१. काव्य की परिभाषा, 'रसादिमद्वाक्य' के रूप में और उसके हेतु प्रतिभा आदि। २. तीन रीतियाँ (वैदर्भी, गौड़ी और मागधी); उक्ति और मुद्रा के विभिन्न प्रकार। ३. शब्द की तीन वृत्तियाँ–शक्ति, लक्षणा और व्यंजना। ४. पद के आठ दोष। ५. वाक्य के बारह दोष। ६. अर्थ के आठ दोष। ७. संक्षिप्तत्व, उदात्तत्व, प्रसाद, उक्ति और समाधि आदि ये पाँच शब्दगुण। ८. भाविकत्व, सुशब्दत्व, पर्यायोक्ति और सुधर्मिता–ये चार अर्थगुण। ९. पूर्वोक्त दोष, कुछ स्थलों पर गुण बन जाते हैं। उन्हें वैशेषिक गुण कहा जाता है। अथवा वे दोष नहीं रहते। १०. चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास, गूढ़, श्लेष, प्रहेलिका, प्रश्नोत्तर और यमक–आठ शब्दालंकार। ११. उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, अपह्नुति, समाहित, स्वभाव, विरोध, सार, दीपक, सहोक्ति, अन्यदेशक (जोकि मम्मट का असंगति अलंकार है), विशेषोक्ति और विभावना। ये १४ अर्थालंकार हैं। इसमें उपमा के १० भेदों का चित्रण है। १२. रूपक के उपभेद। १३. उत्प्रेक्षा, समासोक्ति आदि अन्य

अलंकारों की परिभाषा और उदाहरण दिये गये हैं। कामिनी, उसके वर्ण, केश, मस्तक, भौहें आदि उपमान दिये गए हैं। १४. कवि को अपने नायक की शारीरिक विशेषताओं का वर्णन किस प्रकार करना चाहिए—यह बताया गया है। १५. सादृश्यवाचक शब्दों का तथा कविसमय का निरूपण है। १६. राजा, रानी, प्रदेश, नगर, नदी आदि वर्ण्य विषय और उनके निरूपणयोग्य गुणों का आख्यान। १७. प्रकृति की विभिन्न वस्तुओं के रंगों का वर्णन। १८. एक से लेकर १००० तक की संख्या दिखाने वाली वस्तुओं के नाम दिये गये हैं। साथ ही गतागत, संस्कृत-प्राकृत ऐक्यता (अर्थात् भाषासम) आदि शब्द-चमत्कार बताए हैं। १९. समस्या पूर्ति। २०. रस को काव्य की आत्मा माना गया है। नौ रस, नायक और नायिका के भेद, उपभेद तथा विभिन्न भावों का निरूपण है। २१. रसदोष। २२. रसों के लिए अनुकूल वर्णों (अक्षरों) का निरूपण।

शौद्धोदनिरचित कारिकाओं का समय ११वीं शताब्दी के बाद का लगता है। इन्होंने काव्य का लक्षण रस के आधार पर दिया है (पृ० २) और रस को काव्य की आत्मा कहा है (पृ० ६)। शौद्धोदनि ने पृ० ८३ पर व्यक्ति-विवेक के लेखक महिमभट्ट का उल्लेख किया है और इनका विवेचन वाग्भटालंकार से बहुत मिलता-जुलता है (पृ० २७ की वाग्भटालंकार की पृ० २८ से तुलना कीजिए)। अलंकारशेखर में निम्नलिखित ग्रंथों और लेखकों के नाम आते हैं:—कविकल्पलता, (पृ० ४८ पर श्रीपाद का अनुसरण हुआ है। गोवर्धन (इसका बार-बार उल्लेख आया है; पृ० १७, २९, ३७, ४३, ४९ इत्यादि), भार्गवसर्वस्व (पृ० २४), भोजराज (पृ० ७), महिमा (पृ० ८१ पर 'अनौचित्यादृते' पद, ध्वन्यालोक पृ० ४५ पर और व्यक्तिविवेक में भी आता है), राजशेखर (पृ० ३२, ६७), श्रीपाद (अनेक बार उल्लिखित, पृ० ४, ५, २३, २७, ३२, ७२, ८३ आदि); श्रीहर्ष (पृ० ४१)। लेखक ने बताया है कि अलंकारशेखर से पूर्व इन्होंने कवियों के उपकार के लिए सात रचनाएँ की हैं (प्रस्तावना का तीसरा पद)। इनमें से इन्होंने अलंकारसर्वस्व (पृ० ९, ३८) और काव्यरत्न (पृ० ७२) इन दो का उल्लेख किया है। 'वाक्यरत्ने' शब्द (पृ० १२ पर) भूल से 'काव्यरत्ने' के स्थान पर लिखा गया है।

केशवमिश्र ने प्रस्तावना में लिखा है कि उन्होंने अलंकारशेखर की रचना धर्मचन्द्र के पुत्र राजा माणिक्यचन्द्र की प्रेरणा से की। धर्मचन्द्र रामचन्द्र का पुत्र था। रामचन्द्र दिल्ली के काबिल (अफ़गान) राजा को पराजित करने वाले सुशर्मा नाम के राजा का वंशज था। कनिंघम के अनुसार (आर्कलोजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया भाग ५, पृ०१६०) माणिक्यचन्द्र कांगड़ा का राजा था और १५६३

ई० सन् में धर्मचन्द्र के बाद सिंहासनारूढ़ हुआ और लगभग १० वर्ष तक राज्य करता रहा। अतः अलंकारशेखर की रचना १६वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुई।

३८. अप्पय्य दीक्षित

अप्पय्य दीक्षित बहुमुखी विद्वान् और अनेक ग्रंथों के लेखक थे। इन्होंने सौ से अधिक ग्रंथों की रचना की है। जिनमें से कम-से-कम तीन ग्रंथ काव्यशास्त्र विषयक हैं। वृत्तिवार्तिक के दो परिच्छेद हैं, इनमें रूढि, योग और योगरूढि—ये तीन प्रकार की अभिधाएँ, चार प्रकार की लक्षणा और दो शब्दशक्तियों का विवरण है। लक्षणा के प्रथम शुद्धा और गौणी दो भेद किये गये हैं और प्रत्येक के निरूढ और फल उपभेद और इन उपभेदों के पुनः उपभेद किये गये हैं। इनका दूसरा ग्रंथ कुवलयानंद विद्यार्थियों के उपयोग का अलंकार-ग्रंथ है। इसमें प्रायः चन्द्रालोक से परिभाषाएँ और उदाहरण लिये गये हैं। 'एषां चन्द्रालोके दृश्यन्ते लक्ष्यलक्षण श्लोकाः। प्रायस्त एव च तेषामितरेषांत्वभिनवा विरच्यन्ते ॥' (श्लोक ५) इन्होंने इसकी रचना राजा वेंकटपति के आदेश से की। 'अमुं कुवलयानंदमकरोदप्पदीक्षितः। नियोगाद्वेंकटपतेर्निरुपाधिकृपानिधेः।' कुवलयानंद में इन्होंने अपना मत तथा अन्यों के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। चन्द्रालोक के १०० अलंकारों में इन्होंने १५ और जोड़ दिये हैं। कुवलयानंद के कुछ संस्करणों (निर्णय सा० संस्करण १९१०) में चिरंजीव भट्टाचार्य रचित काव्य-विलास से कतिपय शब्दालंकारों की भर्ती की गई है। इनका तीसरा ग्रन्थ चित्रमीमांसा अधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रथम अलंकार-लक्षणों की कारिकाएँ दी गई हैं। तत्सम्बन्धी इतरों के मतों की गद्य में चर्चा की गई है और अंत में आवश्यक हुआ तो उसका खंडन भी किया गया है। इसमें प्रथम इन्होंने ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य और चित्रकाव्य के इन भेदों का संक्षिप्त विवेचन किया है। शब्दचित्र में रमणीयता न होने के कारण इन्होंने केवल अर्थचित्रों का ही वर्णन किया है। इन्होंने उपमा को २२ अलंकारों का आधार माना है। दुर्भाग्यवश चित्रमीमांसा का मुद्रित संस्करण (के० एम० सीरीज़) अतिशयोक्ति तक ही है, इसमें उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय, स्मरण, रूपक, परिणाम, ससन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति इन अलंकारों का विवेचन हुआ है। चित्रमीमांसा के अंत में आये हुए एक श्लोक में लिखा है कि यह ग्रन्थ बीच में ही खंडित हो गया है। फिर भी यह ग्रन्थ अपूर्ण अरुण और अर्धचन्द्र के समान आनंददायक है। 'अप्यर्ध चित्रमीमांसा न मुदे कस्य मांसला। अनूरुरिव धर्मांशोरर्धेन्दुरिव धूर्जटेः ॥'

जगन्नाथ मुद्रित चित्रमीमांसा में अपह्नुति तक ही विवेचन हुआ है। 'अधिकं निदर्शनालंकार प्रकरणे चिन्तयिष्यते' ('चित्र० पृ० १३१)' इससे स्पष्ट होता है कि उनके मत में और अधिक अलंकारों के विवेचन की इच्छा थी। कुवलयानंद में श्लेष के अंत में इन्होंने इस प्रकार कहा है : 'एतद्विवेचनं तु चित्रमीमांसायां द्रष्टव्यम् ।' इस पर वैद्यनाथ ने इस प्रकार समीक्षा की है : 'यद्यप्युत्प्रेक्षा ग्रन्थानंतरं चित्रमीमांसा न क्वापि दृश्यते ।' इससे स्पष्ट है कि वैद्यनाथ की उपलब्ध चित्रमीमांसा की अपेक्षा हमें इसका कुछ अधिक अंश उपलब्ध हो सका है। यह विदित होता है कि अप्पय्य ने लक्षणरत्नावलि नामक एक अन्य ग्रंथ लिखा है। इसमें इन्होंने नान्दी, सूत्रधार, पूर्वरंग, प्रस्तावना आदि नाटक के पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या की है। दे०, जे० ओ० आर० मद्रास भाग ४, पृ० २४२–२४४ ।

लेखक का नाम विभिन्न रूपों में उपलब्ध होता है (अप्पदीक्षित, अप्पयदी०, अप्पय्यदीक्षित आदि)। अप्पय रूप के लिए दे० रसगंगाधर पृ० २१४। चित्र-मीमांसा खंडन के तृतीय प्रस्तावनात्मक श्लोक में अप्पय्य नाम आया है। छन्द के लिए यह आवश्यक था : 'सक्षमं विभाव्य मयका समुदीरितानामप्पय्यदीक्षित-कृताविह दूषणानाम् ।' रसगंगाधर (पृ० १२०) में यह भी रूप आया है। कुवलयानन्द के अन्तिम श्लोक (अमुं···दीक्षितः) में अप्पदीक्षित रूप आता है और रसगंगाधर में (पृ० २०९, २२६, २४९, २५४ इत्यादि) यह रूप भी मिलता है। अप्पयदीक्षित की जगन्नाथ ने कटु आलोचना की है। दीक्षित नाम पर इन्होंने भद्दे विशेषणों का प्रयोग किया है। (जैसे, 'दीर्घश्रवस' का प्रयोग रसगंगाधर पृ० २३९ पर तथा 'द्रविड पुंगव' का प्रयोग ४२० पर है) अप्पय्य-दीक्षित भारद्वाज गोत्र के तमिल शैव ब्राह्मण थे। शिवादित्यमणिदीपिका के आरंभ में आये निम्न श्लोक से उनकी अद्वैत शिवभक्ति का परिचय मिलता है। 'यद्यप्यद्वैत एव श्रुति शिखरगिरा भागमानां च निष्ठा।···प्रत्नैराचार्यरत्नैरपि-परिजगृहे। शंकराद्यैस्तदेव ॥ तथाप्यनुग्रहादेव तरुणेन्दु शिखरामणेः। अद्वैत वासनापुंसाभाविर्भवति नान्यथा ॥' (हल्श की रिपोर्ट २. पृ० १००) १६३७ ई० में रचित नीलकण्ठ विजय (१.४४) में उल्लेख आया है कि इन्होंने १०० ग्रन्थों की रचना की।

अप्पय्यदीक्षित ने एकावली, प्रतापरुद्रयशोभूषण तथा अलंकारसर्वस्व संजीवनी को उद्धृत किया है। अतः इनका समय १४वीं शताब्दी के बाद का होना चाहिए। अप्पय के निश्चित समय के विषय में मत-भिन्नता है। सामान्यतः १५५४ ई०

सन् से १६२६ ई० सन् का समय स्वीकार किया जाता है। (दे० ई० आई० भाग १२, पृ० ३४० श्रीरंगार्य द्वितीय का ताम्रपत्र, तिथि शक १४९९) इस ताम्रपत्र के लेख के अनुसार तंजौर के नायक वंश के राजा शिवाप्पनायक की प्रार्थना पर विजयनगर के राजा श्रीरंगदेवराय ने माधव (विजयेन्द्रतीर्थ) को अरमोली मंगल नामक गांव दान में दिया। यही माधव संन्यासी बनने से पूर्व सुविख्यात अप्पय्य के मित्र थे। ३४५ पृष्ठ पर संपादकों ने अप्पय्य की आत्मार्पण स्तुति के विषय में लिखी गई शिवानंद यति कृत टीका से निम्न श्लोक उद्धृत किया है: 'वीणातत्वज्ञ संख्यालसित कलि समाभाक् प्रमादी च वर्षे कन्यामासे तु कृष्ण प्रथम तिथियुतेऽप्युत्तर प्रोष्ठपादे। कन्यालग्नेऽद्रिकन्यापतिर्मितदयासेवधि-र्वैदिकेषु श्रीगौर्यैर्प्राग्यथाहस्मसमजनिविरिञ्चीशपुर्यां कलेशः ॥ लग्ने रवीन्दु सुतयोर्मकरे च मान्यौ मीने शशिन्यथवृषे रविजे च राहौ। चाग्रे गुरौ क्षितिसुते मिथुने तुलायां शुक्रे शिखिन्यलिगते शुभलग्न एवम्' यह अप्पय्य दीक्षित की जन्म-पत्रिका है, इससे उनका जन्म कलि ४६५४ में हुआ था। पत्र के संपादकों ने आगे लिखा है कि नीलकण्ठ दीक्षित के शिवलीलार्णवकाव्य के अनुसार (नीलकण्ठ अप्पय्य के छोटे भाई अच्चन का पोता था) अप्पय्य ७२ वर्ष तक जीवित रहे और इन्होंने एकसौ ग्रन्थ रचे। (१.६ कालेन शम्भुःकिल तावतापि कलाश्चतुष्षष्टि मिताः प्रणिन्ये। द्वासप्तर्ति प्राप्य समाप्रबंधाच्छतं व्यधादप्पयदीक्षितेन्द्रः ॥) श्री० वाई भट्टिलंगशास्त्री (जे० ओ० आर० मद्रास भाग ३, पृ० १४०–१६०) ने इस तिथि को नितांत संदिग्ध माना है। इनके मत में उपरोक्त दो श्लोकों में उद्धृत जन्म-पत्रिका अप्पय के जीवनचरित के लेखकों की वनावटी है। इन्होंने यह भी कहा है कि इनकी रचनाओं में आये हुए चिम्ना, तिम्मा, चिन्ना, बोमा तथा वेंकट राजाओं के नामों से इनका समय १५२० ई० सन् से १५९३ ई० सन् के बीच का माना जाना चाहिए। अप्पय्य के पूर्वजों केनिवासस्थान 'अद्य पालम्' में कलाकण्ठेश्वर नामक मंदिर के एक शिलालेख की तिथि १५०४ शक अथवा १५८२ ई० सन् है। उपरोक्त लेखक ने इस तिथि को अप्पय्य की तिथि-निर्धारण का आधार माना है (पृ० १४१–१४९)। इसकी लिपि के अनुसार अप्पय्य रंगराज के पुत्र थे तथाचिन्नावोमा उनके आश्रयदाता थे और इन्होंने सौ ग्रन्थ लिखे।

श्री शास्त्री के अनुसार अप्पय्य १५८२ ई० सन् में वृद्ध हो चुके होंगे। यह तर्क देना संभव है कि किसी व्यक्ति ने अप्पय्य की मृत्यु के बहुत समय उपरान्त यह शिलालेख खुदवाया हो, साथ ही यह कैसे सिद्ध किया जा सकता है कि यह लेख अप्पय्य के जीवनकाल में ही खोदा गया हो।

यदि जन्म-पत्रिका को बनावटी कहा जा सकता है तो शिलालेख की तिथि को भी अप्पय्य की पूर्ववर्ती कहा जा सकता है; क्योंकि वे बहुत ख्याति प्राप्त कर चुके थे। श्री शास्त्री के अनुसार यदि अप्पय्य की १५९३ ई० सन् मृत्यु मानी जाय तो उनके जीवन से सम्बद्ध कतिपय तथ्यों की व्याख्या करनी कठिन हो जाएगी। हम आगे देखेंगे कि जगन्नाथ का साहित्य-रचना-काल १६२०–१६६५ ई० सन् के बीच का है। जगन्नाथ ने वैयक्तिक रूप से अप्पय्य की निंदा की है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यद्यपि अप्पय्य जगन्नाथ से आयु में बड़े थे फिर भी कुछ समय के लिए समकालीन रहे। इस बात से इस समस्या का समाधान नहीं हो सकता कि जगन्नाथ सब द्रविड़ों से घृणा करते थे। साथ ही नीलकण्ठ दीक्षित ने नीलकण्ठ विजय चम्पू नामक ग्रन्थ की रचना गतकलि ४७३८ अथवा १६३७ ई० सन् में की। परंपरानुसार बारह वर्ष की आयु में नीलकण्ठ के दीक्षित को वृद्ध अप्पय्य का आशीर्वाद मिला। अप्पय्य अच्चन के बड़े भाई थे और अच्चन नीलकण्ठ के दादा थे। इसके अनुसार अप्पय्य की तिथि अधिक विश्वसनीय बनती है। साथ ही वेंकट प्रथम का १५२३ शक (अथवा १६०१–१६०२ ई० सन्) का एक शिलालेख भी इसका प्रमाण है। (ई० आई० भाग ४, पृ० २६९–२७१)। चिन्ना बोमा वेलूर (विल्लोर) के राजा थे। उनका पुत्र लिंगमनायक वेंकट प्रथम का समसामयिक था (दे० ई० आई, भाग ४, पृ० २६९ और २७०) इससे स्पष्ट है कि अप्पय्य को प्रथम चिन्ना बोमा का आश्रय प्राप्त हुआ, तदुपरान्त वेंकट का। मैं श्री शास्त्री उल्लिखित शिलालेख का अन्धानुसरण करने के लिए उद्यत नहीं हूँ। मैं पूर्वस्थापित तिथि १५५४–१६२६ ई० सन् को ही स्वीकार करूंगा। यह संभव है कि अप्पय्य का जन्म १५५४ ई० से कुछ पूर्व हुआ हो। अप्पय्य के वंशज महालिंग शास्त्री ने एक ही शिलालेख के आधार पर अप्पय की जन्मतिथि १५२० ई० सन् स्थापित की है तथा उनकी मृत्यु १५९३ ई० सन्। मेरे लिए इस मत का अनुसरण करना कठिन है। (अप्पय्य के जीवन, परिवार, वंश, ग्रंथ आदि से संबद्ध सूचनाओं के लिए दे० यादवाभ्युदय भाग २, पृ० १५ से आगे की संस्कृत-प्रस्तावना) चित्रमीमांसा के उल्लेखानुसार (के० एम० संस्करण पृ० ६३) वक्षःस्थलाचार्य अप्पय्य के पूर्वज थे। (सन्देहालंकार ध्वनिर्यथा अस्मद्कुलकूटस्थ वक्षःस्थलाचार्यकृतेवरदराजवसन्तोत्सवे कांचित् कांचन गौरांगी ···वक्षःस्थलं वैक्ष्यत ॥) कइयों के मत में अप्पय्य के दादा आचार्य (अथवा अच्चान्) दीक्षित वक्षःस्थलाचार्य कहलाते थे। दूसरे उल्लेखानुसार वक्षःस्थल

अप्पय्य के प्रपितामह थे। अच्चन् की दूसरी पत्नी से कई पुत्र हुए उनमें सबसे बड़े का नाम रंगराज था। अप्पय्य और अच्चान् रंगराज के पुत्र थे। समरपुंगव दीक्षित लिखित यात्रा प्रबंध (२.८६) में उल्लेख आया है कि इसका लेखक अप्पय्य का शिष्य था और रंगराजाध्वरि राजा चिन्न बोम के आश्रित थे। (२.९५) (दे० अप्पय्य लिखित ५४ ग्रंथों के लिए यादवाभ्युदय की संस्कृत-भूमिका, पृ० २३–२७, अप्पय्य दीक्षित कृत शिवाद्वैत निर्णय की भूमिका, प्रो० एस० एस० सूर्यनारायण शास्त्री द्वारा संपादित एवं अनूदित, मद्रास यूनिवर्सिटी १९२९, पृ० ९–१५ इसमें अप्पय्य दीक्षित के सभी ग्रंथों की सूची दी गई है)। इनके बहुत-से ग्रंथ लुप्त हो गये हैं। हुल्श की 'साउथ इन्डियन मेनुस्क्रिप्ट्सरिपोर्ट', (भाग २, पृ० ९०–१००) में अप्पय्य के ग्रंथ शिवादित्य मणिदीपिका से एक अवतरण उद्धृत है। इसमें अप्पय्य ने आचार्य दीक्षित और रंगराज को क्रमश: अपना दादा और पिता बताया है। उपसंहारात्मक श्लोक के अनुसार उन्हें चिन्न बोम्म से ग्रंथ-रचना की प्रेरणा मिली। चिन्न बोम्म चिन्न वीर का पुत्र और लिंगमनायक का पिता था। इन तीनों का उल्लेख शक १५२३ के विलापक दानपत्र में आया है (आई० ए० भाग १३, पृ० १२७, टिप्पणी १७, तथा ई० आई० भाग ४, पृ० २६९) चिन्न बोम्म के शिलालेखों की तिथि १४७१ और १४८८ शक है। (दे० 'साउथ इन्डियन इन्स्क्रिप्शन्स' भाग १, पृ० ६९ और पृ० ८४) चिन्नकोंड के राजा वेंकट प्रथम ने अप्पय्य को कुवलयानंद की रचना के लिए प्रेरित किया। वेंकट प्रथम के शिलालेखों की तिथि १५०८–१५३५ शक अथवा १५८६ ई० सन् से १६१३ है (ई० आई० भाग ३, पृ० २३८) डा० राघवन (प्रोसीडिंग ऑफ दि टेंन्थ सेशन ऑफ ऑल इंडिया ओरियंटल कान्फ्रेंस पृ० १७६–१८०) ने बताया है कि एक ही परिवार की तीन पीढ़ियों में अप्पय्य नाम के तीन व्यक्ति पैदा हुए हैं। इस निरूपण से पर्याप्त भ्रम उत्पन्न हुआ है।

३९. जगन्नाथ प्रणीत रसगंगाधर

यह ग्रंथ नागेश भट्ट की मर्मप्रकाश नामक टीका सहित के० एम० सीरीज द्वारा संपादित हुआ है। यह काव्यशास्त्र पर (विशेषत: अलंकारों के विषय में) एक प्रामाणिक ग्रंथ है। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में ध्वन्यालोक और काव्यप्रकाश के बाद रसगंगाधर का ही नाम आता है। जगन्नाथ यद्यपि आधुनिक ग्रंथकार हैं परन्तु प्राचीन संस्कृत पर उनका अद्भुत आधिपत्य है। रसगंगाधर (पृ० ३) में

उन्होंने स्वयं गर्व से कहा है कि उदाहरण उनके निजी हैं। 'निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं काव्यं मयात्र निहितं न परस्य किंचित्। किं सेव्यते सुमनसां मनसापि गन्धः कस्तूरिका जननशक्तिभृता मृगेण ।।' उनके श्लोक सरल, प्रवाहमयी और प्रसादमयी शैली में रचे गए हैं तथा वे पर्याप्त कवित्व प्रतिभा के परिचायक हैं। उनकी निरूपण शैली में प्रथम विषय की परिभाषा दी जाती है, उसका विवेचन किया जाता है और निजी उदाहरण देकर उसका स्पष्टीकरण किया जाता है और अपने पूर्ववर्तियों के मतों की समीक्षा की जाती है। इनके गद्य की विशेषता यह है कि उसमें स्पष्टता, शैली की सशक्तता और उच्च समीक्षात्मक गुण मिलते हैं। वे अपने स्वतंत्र विचार रखते हैं। और उन्होंने प्राचीन प्रतिष्ठित लेखकों के मतों की अवसर आने पर कड़ी आलोचना की है। उदाहरणार्थ, ध्वन्यालोक ('प्राप्तश्रीः' श्लोक को रूपक ध्वनि का उदाहरण मानने के विषय में पृ० २४७), मम्मट (पृ० ५, २२९, ३२४); अलंकारसर्वस्व (पृ० २५१, २६९, ३०१, ३४२ इत्यादि); साहित्यदर्पण (पृ० ७) आदि की जगन्नाथ ने समीक्षा की है। उनकी समालोचना में संतुलित निर्णय मिलता है। उनकी समीक्षा में उच्चकोटि की व्यंग्यात्मकता और सूक्ष्मता के साथ-साथ भाषागत सुसभ्यता मिली है (केवल अप्पय्य के विचारों का विवेचन स्थल छोड़कर)। इनकी समीक्षा की उपयुक्तता को अधिकांश स्थलों पर स्वीकार ही करना पड़ता है। जगन्नाथ रचनात्मक प्रतिभायुक्त कवि थे और उनमें पर्याप्त मात्रा में सौंदर्य-आस्वाद की शक्ति थी। (वे कवि भी थे और सहृदय भी)। जगन्नाथ का संस्कृत भाषा पर महत्त्वपूर्ण आधिपत्य था और इसका उन्हें गर्व भी था। अपने मस्तिष्क की स्थिति के अनुसार दुःख अथवा आनन्द से भरे हुए श्लोकों की रचना कर सकते थे। वे अपने श्लोकों में शब्दध्वनि से भाव व्यक्त कर देते थे। भामिनीविलास के अन्त में उन्होंने कहा है: 'धुर्यैरपि माधुर्यैर्द्राक्षाक्षीरेक्षुमाक्षिक सुधानाम्। वन्द्यैव माधुरीयं पंडितराजस्य कवितायाः ।।'

रसगंगाधर पर्याप्त विशद ग्रन्थ है अतः इसकी रूपरेखा मात्र से इसके समग्र विषयों का अनुमान लगाना कठिन है। इसमें के० एम० संस्करण का उपयोग किया गया है। इन्होंने प्रथम आनन का 'रमणीयार्थः प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' इस काव्य-परिभाषा से प्रारम्भ किया है। काव्य की विभिन्न परिभाषाओं का विवेचन किया है। केवल प्रतिभा को काव्य का एकमात्र स्रोत माना है। उत्तमोत्तम, उत्तम मध्यम और अधम में काव्य के चार प्रकार माने गये हैं। रस, भाव और तत्सम्बद्ध विषयों की व्याख्या की गई है। गुण तीन हैं अथवा उस उस विषय में विभिन्न मतों की विवेचना की गई है। भाव, रसाभास, भावोदय

आदि की व्याख्या की है। दूसरे आनन में ध्वनि के भेदों का विवेचन हुआ है। अर्थ-निर्धारण करने वाले संयोग, विप्रयोग आदि का भी निरूपण हुआ है। अभिधा, लक्षणा तथा उनके भेद, उपमा तथा अन्य अलंकार (कुल ७०) आदि का भी विवेचन हुआ है। उपलब्ध ग्रन्थ में केवल उत्तरअलंकार तक ही विवेचन मिलता है। जगन्नाथ के ५० वर्ष उपरान्त हुए नागेश की टीका में भी उत्तर-अलंकार तक ही विवेचन मिलता है। यह मानना उपयुक्त नहीं कि रसगंगाधर की रचना करते समय बीच में ही जगन्नाथ की मृत्यु हो गई। चित्रमीमांसा खंडन के दूसरे प्रस्तवनात्मक श्लोकों से पता चलता है कि उन्होंने चित्रमीमांसा की रचना रसगंगाधर के बाद की। 'रस गंगाधरे चित्रमीमांसायां भयोदिता। ये दोषास्तेऽत्रसंक्षिप्य कथ्यन्ते विदूषां मुदे॥' चित्रमीमांसा खंडन के १२वें पृष्ठ पर इन्होंने लिखा है : 'विशेषस्तु उदाहरणालंकार प्रकरणे रसगंगाधरादवसेयः।' परन्तु उपकाव्य रसगंगाधर में उदाहरण अलंकार के प्रसंग में इस प्रकार का कोई कथन नहीं मिलता। जगन्नाथ के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ निम्न प्रकार हैं : १. रसगंगाधर, २. काव्यशास्त्र विषय व चित्रमीमांसा खंडन, ३. मनोरमा कुचमर्दन[1] (अथवा मर्दिनी) व्याकरण विषयक यह ग्रन्थ सिद्धान्तकौमुदी की भट्टोजी दीक्षितरचित प्रौढ़मनोरमा टीका का खंडन करने के लिए लिखा गया है। (४–८) पाँच लहरियाँ (रसगंगाधर से उल्लिखित पृ० १०९ पर सुधा, अमृत का यमुना के लिए दस शार्दूल विक्रीडित छन्दों में के० एम० संस्करण, लक्ष्मी का ४१ श्लोकों में, करुणा का वियोगिनी तथा अन्य छन्दों[2] के ६० श्लोकों में के० एम० संस्करण गंगा अथवा पीयूष का ५२ शिखरिणी छन्दों में) ९. जगदाभरण (दाराशिकोह की प्रशंसा में) १०. आसफ विलास, नवाब आसफ

1. शेप श्रीकृष्ण के शिष्य भट्टोजी ने अपने ग्रन्थ मनोरमा में जगन्नाथ के गुरु का खंडन किया। इससे जगन्नाथ रुष्ट हो गये अतः जगन्नाथ ने मनोरमा-कुचमर्दिनी के आरम्भ में ही अपने क्रोध का घड़ा भट्टोजी के सिर पर फोड़ दिया। इन्होंने भट्टोजी को गुरुद्रुह अथवा गुरुविद्रोही कहकर संबोधित किया है। इस प्रकार जगन्नाथ ने दीक्षित के विरुद्ध अभद्र किन्तु चमत्कारिक नाम 'मनोरमाकुचमर्दिनी' के द्वारा अपना मत व्यक्त किया। दे० कलकत्ता ओरियंटल जरनल भाग ३, सं० ३ पृ० ४१–५१ जगन्नाथ द्वारा भट्टोजी की आलोचना के लिए।

2. इनमें से कुछएक भामिनीविलास और रसगंगाधर में आये हैं (उदाहरणार्थ, वाचा निर्मलया पृ० ६६ पर)।

खाँ के विषय में रचित, इनकी मृत्यु १६४१ ई०में हुई। ११ प्राणाभरण आसाम के कामरूप अथवा कमता के राजा प्राणनारायण की प्रशंसा में (विभिन्न[1] छन्दों में रचित ५१ श्लोक) १२. भामिनीविलास (अन्योक्ति, शृंगार, करुण और शान्ति पर चार समुल्लासों में) १३. यमुनावर्णनचम्पू (रसगंगाधर पृ० १९ और १२८ पर उद्धृत)।

रसगंगाधर में जगन्नाथ के गंगालहरी आदि अन्य बहुत-से ग्रन्थों से उदाहरण लिये गये हैं। (समृद्धं सौभाग्यं पृ० २४३, समुत्पत्तिः पृ०४९१) भामिनीविलास से भी उदाहरण लिये गये हैं। (दिगन्ते श्रूयन्ते० पृ० ४०२, पुरासरासि० पृ० ४०३)।

जगन्नाथ, उनकी तिथि, उनकी कविता, उनकी साहित्यिक समालोचना तथा ग्रन्थों आदि के विषय में विस्तृत जानकारी के लिये दे० श्री वी० ए० रामस्वामी शास्त्री के लेख (जरनल, अन्नामलाई यूनिवर्सिटी भाग २, पृ० २०१–२०८, भाग ३, पृ० १०६, ११६, २२९–२४४, भाग ४, पृ० १४९–१५८, २६२ से २७४)। विद्वान् शास्त्री जी ने उपर्युक्त लेखों को स्वयं संशोधित तथा परिवर्द्धित किया है और 'जगन्नाथ पंडित' नाम से ३२ पृठों की एक पृथक् कृति प्रकाशित की है। (१९४२ अन्नम लिंगम्)।

जगन्नाथ आन्ध्रवेगिनाडि परिवार के तैलंग ब्राह्मण थे। पेरु भट्ट अथवा पेरं भट्ट[2] इनके पिता का नाम था। इन्होंने अपने पिता तथा शेषवीरेश्वर के चरणों में शिक्षा पाई। पेरु भट्ट अद्वैत में ज्ञानेन्द्र भिक्षु के शिष्य थे, न्याय और वैशेषिक में महेन्द्र के पूर्व मीमांसा खंडदेव के (बनारस में) तथा व्याकरण में वीरेश्वर (उपनाम शेष)। (दे० रसगंगाधर के प्रस्तावनात्मक श्लोक २,३) ऐसा प्रतीत होता है कि शाहजहां ने जगन्नाथ को पंडितराज की उपाधि से विभूषित किया। भामिनीविलास के अनुसार इन्होंने अपना यौवन दिल्ली के शासक के आश्रय में व्यतीत किया। (दिल्ली वल्लभ पाणि पल्लव तले नीतं नवीनं वयः)

---

1. प्राणनारायण मुगल शासक के सामंत थे और इनकी मृत्यु १६६६ ई० सन् में हुई।

2. प्राणाभरण के अन्त में यह श्लोक है : तैलंगान्वय मंगलालय महालक्ष्मी दयालालितः। श्रीमद्पेरं भट्ट सूनुरनिशं विद्वल्ललाटं तपः। संतुष्टः कमताधिपस्यकवितामाकर्ण्य तद्वर्णनं श्रीमत्पण्डितराज—पंडित जगन्नाथों व्यधासीदिदम्॥ रसगंगाधर के प्रस्तावनात्मक श्लोकों में पिता का नाम पेरु भट्ट दिया है) शाहजहां के पुत्रों के पारस्परिक संघर्ष के समय वे संभवतः आसाम में आ बसे थे।

इन्होंने आसफ विलास में आसफ की मृत्यु पर शोक प्रकट किया है। संभवतः यह शाहजहां के प्रिय खानखाना थे, इनकी मृत्यु १६४१ ई० सन् में हुई। जगन्नाथ ने जगदाभरण के शाहजहां के पुत्र दारा की प्रशंसा की है। (आसफ के लिये दे० सुधेववाणी, रसगंगाधर पृ० १६६ युक्तं तु याते, पृ० ४५७, शाहजहां के लिये दे० भूमिनाथ साहवदीन, श्लोक पृ० २१०)। चित्रमीमांसा खंडन की एक प्रतिलिपि की तिथि संवत् १७०९ अथवा १६५२-५३ ई० सन् है। अतः ये दोनों रचनाएँ १६५० से पूर्व तथा १६४१ ई० सन् के बाद की हैं। ये रचनाएँ एक प्रौढ़ मस्तिष्क की देन हैं अतः सिद्ध होता है कि जगन्नाथ का साहित्य-रचनाकाल १६६२ और १६६५ ई० सन् के बीच का है।

एक अन्य दृष्टिकोण से भी जगन्नाथ की तिथि यही निश्चित होती है। सिद्धान्त कौमुदी पर भट्टोजी दीक्षित लिखित प्रौढ़ मनोरमा की आलोचना करने के लिए मनोरमाकुचमर्दिनी की रचना की। प्रौढ़ मनोरमा की एक प्रतिलिपि (बी०ओ०आर०आई० सं० ६५७, १८८३-८४, डी०सी० संग्रह) की तिथि संवत् १७१३ अथवा १६५६-१६५७ ई० सन् है। शब्दकौस्तुभ की एक प्रतिलिपि की तिथि १६३३ ई० सन् है। भट्टोजी के गुरु नृसिंहाश्रम ने अपने तत्त्वविवेककी रचना १५४७ ई० सन् में की जब कि भट्टो जी के शिष्य नीलकण्ठ शुक्ल ने शब्दशोभा की रचना १६३७ ई० में की। अतः भट्टोजी का साहित्य-रचनाकाल १५८० और १६३० ई० के बीच निश्चित होता है। चूंकि भट्टोजी शेष कृष्ण के शिष्य थे अतः वे जगन्नाथ से लगभग एक पीढ़ी पूर्व रहे होंगे। पेरु भट्ट और जगन्नाथ शेष कृष्ण के पुत्र शेष वीरेश्वर के शिष्य थे। दे० प्रो० पी०के० गौड़, अन्नल्स ऑफ दि वेंकटेश ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट तिरुपति भाग १ प्रति २, पृष्ट ११७-१२७ तथा उनका' लेख वरदराज एण्ड हिज वर्क्स : पी०बी० काणे फेशरिफ्ट में पृ० १८८-१९९)।

जगन्नाथ की एक यवन सुन्दरी (लवंगी) के साथ की प्रेम-कथा (यवनी नवनीतादि श्लोकों में उल्लिखित) मनघडंत प्रतीत होती है। यह उन लोगों ने उड़ाई है जो जगन्नाथ की तीव्र और कटु आलोचना से असन्तुष्ट थे। इसी प्रकार जगन्नाथ और वृद्ध अप्पय्य के वनारस में मिलन की कथा तथा प्रस्तुत श्लोक (रसगंगाधर पृ० ४२१ किं निःशंकशेपे......जननी जागर्ति जाह्नवी निकटे ॥) भी अप्रमाणिक है। क्योंकि वृद्धावस्था में अप्पय्य दक्षिण भारत से बाहर नहीं गये। (गौड़, भाग २, पृ० ४६० से आगे)

नागेश एक बहुत बड़े विद्वान् थे। इन्होंने कई शास्त्रों पर टीकाएँ लिखी हैं। व्याकरण और धर्मशास्त्र उनके विशिष्ट क्षेत्र हैं। वे अठारहवीं शताब्दी

के प्रथम चतुर्थांश में हुए। नीचे उद्धृत वंशावलि से स्पष्ट है कि नागेश जगन्नाथ से दो पीढ़ियों के उपरान्त हुए। रसमंजरी की नागेश लिखित टीका की एक प्रतिलिपि की तिथि माघ संवत् १७६९ फरवरी सन् १७१३ ई० है। दे० एगलिंग्स केटालॉग भाग ३ पृ० ३५५-३५६, तथा हिस्ट्री आफ् धर्मशास्त्र भाग १ पृ० ४५३-४५६। काव्यशास्त्र में भी इन्होंने निम्न ग्रन्थों पर टीकाएं लिखी है :— रसगंगाधर पर मर्म प्रकाश, काव्य प्रकाश की टीका गोविंद के प्रदीप पर उद्योत, मम्मट के काव्यप्रकाश पर उदाहरण दीपिका, भानुदत्त की रसमंजरी पर प्रकाश, कुवलयानंद पर अलंकारसुधा और विषमपदव्याख्यान षट्पदानंद, रसतरंगिणी पर टीका।

(अ)

शेष श्रीकृष्ण
- शेषवीरेश्वर (पुत्र और शिष्य)
  - पुत्र (पुरुषोत्तम)
  - पुत्र चक्रपाणि (इन्होंने भट्टोजी की मनोरमा के उत्तर में 'परम खंडन' लिखा)
  - पेरुभट्ट (शिष्य)
    - जगन्नाथ (पेरुभट्ट के पुत्र और शेषवीरेश्वर के शिष्य)
- भट्टोजी (शिष्य)

(ब)

लक्ष्मीधर
- भट्टोजी (पुत्र) और शेषवीरेश्वर के शिष्य
  - वीरेश्वर (पुत्र और शिष्य)
    - हरिदीक्षित पुत्र और शिष्य
      - नागेश (शिष्य)
  - भानुजी उपनाम रामाश्रम (पुत्र)
- रंगोजी भट्ट (पुत्र)
  - कौण्ड भट्ट (पुत्र)

बनारस के शेष परिवार के लिए द० आई० ए० १९१२, पृ० २४५–२५३. भट्टोजी के उत्तराधिकारियों के विषय में विद्वानों में बहुत मत-भेद है। जहां तक मेरा विचार है ऊपर लिखित वंशावली पर्याप्त उपयुक्त है ।

संस्कृत काव्यशास्त्र के अंतिम महान् लेखक जगन्नाथ हैं । अतः इस विषय को यहीं समाप्त कर देना उपयुक्त है।

[द्वितीय भाग]

साहित्य शास्त्र का उद्गम और विकास

१. काव्य-रचना का आदिस्वरूप :—काव्य का यथार्थ लक्षण करके अन्य साहित्य-विद्याओं से उसका पार्थक्य दिखाना बहुत कठिन है। गद्य में रचित ग्रंथ काव्यग्रंथ हो सकता है या नहीं, इस प्रश्न को छोड़ दिया जाय तो वास्तविक कविता के लिए इन तीन गुणों की आवश्यकता होती है—विशिष्ट प्रकार की भाषासारणी, इसकी विषय-सामग्री और विषय प्रतिपादन की प्रवृत्ति। इस दृष्टि से आर्यों का आदिग्रंथ ऋग्वेद यद्यपि मुख्यरूप से धर्मग्रंथ है तो भी उसमें अच्छे काव्य के अनेक गुण हैं। विशेषतः उषा विषयक सूक्तों में सरस काव्य के अनेक उदाहरण दिखाये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ 'अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्। जायेवपत्य उशतीसुवासा उषा हस्रेव नि रिणीते अप्सः॥' ऋग्वेद १.१२४.७॥ इस मंत्र में चार उपमाएं हैं। अंतिम दो उपमाएं किसी भी देश के काव्य में उपलब्ध हो सकती हैं। 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥'[1] ऋग्वेद १.१६४.२०। इसमें सुन्दर भाव हैं, जिसे संस्कृत-आलंकारिकों के अनुसार उत्तम प्रकार की रूपकातिशयोक्ति कहा जा सकता है। (निगीर्याध्यवसानं तु प्रकृतस्य परेण यत्)। द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परिद्यामृतस्य। (ऋग्वेद १.१६४.११) इसमें व्यतिरेक अलंकार कहा जा सकता है। 'स्वसुर्जारः शृणोतु नः' (ऋ० ६.५५.५) 'यत्रा सुपर्णा अमृतस्य' आदि (ऋ० १.१६४.२१ के निरुक्त

---

1. इस मंत्र के विषय में राजशेखर ने काव्यमीमांसा में लिखा है: उपकारकत्वादलंकारः सप्तममङ्गं इति यायावरीयः। ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानाद्वेदार्थानवगतिः। यथा—द्वा सुपर्णा···अभिचाकशीति' (पृ० ३) रसगंगाधर (पृ० ३१६) में भी 'इयं चातिशयोक्ति र्वेदेपिदृश्यते यथा—द्वा सुपर्णा···शीति।' इस प्रकार लिखा है। अतिशयोक्ति का एक अन्य उदाहरण है—चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासोऽस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यां आ विवेश॥' (ऋ० ४.५८.३) इस श्लोक की निरुक्त १३.७ और महाभाष्य भाग १, पृ० ३ में व्याख्या हुई है। ऋग्वेद १०.६३.१० (=वाज०सं० २१.६) में यज्ञ अथवा द्युलोक को नौका के रूप में कहा गया है।

३.१२ में दो अर्थ निकाले गये हैं)[1] मंत्रों में श्लेष अलंकार की प्रवृत्ति दिखाई देती है।

ऋग्वेद १०.१४६.१ (अरण्यान्यरण्यान्यसौ या प्रेव नश्यसि । कथा ग्रामं न पृच्छसि न त्वा भीरिव विन्दती ३॥) में उत्प्रेक्षा है। इसकी समता काव्यादर्श (देखिए ऊपर पृ० ८८) के 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' श्लोक से की जा सकती है। ऋग्वेद २.३५.१३ के 'सोऽपां नपादनभिम्लातवर्णो ऽन्यस्येवेह तन्वाविवेश' इस श्लोक में भी सुन्दर उत्प्रेक्षा है।

प्रो० चारुदेव शास्त्री ने अपने महत्त्वपूर्ण लेख 'भर्तृहरि एण्ड दी वाक्यपदीय' (पूर्वी ऑल इंडिया ओरियंटल कान्फ्रेंस की कार्यवाही, पृ० ६३०-६५५) के ६५०वें पृष्ठ पर कहा है कि भर्तृहरि ने अपनी महाभाष्य टीका में एक वस्तु की उसीसे तुलना की जा सकती है (जिसे अनन्वय अलंकार कहते हैं)। निम्न कारिका में इसकी स्थिति है: 'दस्युहेन्द्र इवेत्येत् दैन्द्रे मंत्रे प्रयुज्यते। अन्यत्र दृष्टकर्मेन्द्रो यथेत्यस्मिन् विवक्षिते ॥' प्रो० चारुदेव ने इस मंत्र को 'इन्द्र इव ह्युपस्तूयसे इन्द्र इव दस्युहाभव क्षेत्राणि सृज'[2] इस रूप में प्रस्तुत किया है परन्तु यह नहीं वताया कि कहां से लिया गया है। मंत्र का अर्थ यह है कि 'हे इन्द्र तुम्हारी प्रशंसा इंद्र के समान की जाती है, तुम इन्द्र के समान दस्युओं के विनाशक हो, हमारे लिये क्षेत्र निर्माण कीजिए।

डा० डे० (एच०एस०पी० भाग १, पृ० ३४१) ने कहा है, 'डा० काणे आई० ए० XLI, १९१२ पृ० १२० ने वैदिक साहित्य में अलंकार प्रयोग पर आवश्यकता से अधिक वल दिया है' परन्तु यह कथन असंगत है। मैंने अपने मन्तव्य का संक्षेप में और विनम्रता से प्रस्तुत किया है। अतः मुझे यहां इसकी व्याख्या करनी आवश्यक हो गई। सर्वप्रथम ऋग्वेद के मंत्रों के कथोपकथन का उल्लेख आवश्यक है। इनमेंसे कतिपय वहुत अधिक कवित्वमय और कल्पनापूर्ण हैं। और ये परवर्ती संस्कृत-नाटकों के लिये मार्गदर्शक रहे हैं। निम्नलिखित कथोपकथन का उल्लेख किया जा सकता है: ऋग्वेद ३.३३ (विश्वामित्र और नदियां) : १०.१० (यम

1. शतपथ ब्राह्मण में 'हित' और वर्ष शब्दों में श्लेष है। हित के दो अर्थ हैं स्थित और हितकारी, वर्ष के भी वर्ष और वर्षाऋतु दो अर्थ हैं। (१.३.१.२५ और २.२.३.७ एस० वी० ई० भाग १२, पृ० ७७, ३१५) महिषी के भी दो अर्थ हैं महारानी और भैंस, (६.५.३.१ एस०वी०ई० भाग ४१, पृ० २३५)।

2. यह मंत्र 'इन्द्र इव दस्युहा भवापः क्षेत्राणि संजय' इस रूप में मैत्रायणी संहिता (४.१२.७३) में मिलता है।

और यमी) : १०.१०८ (सर्मा और पार्णि); १.१६५ और १७० (इन्द्र मारुत और अगस्त्य); १.१७९ (अगस्त्य लोपामुद्रा तथा शिष्य) ४.१८ (इन्द्र अदिति और वामदेव); ४.४२ (इन्द्र और वरुण); ७.३३ (वशिष्ट, उसके पुत्र और इन्द्र); ८.१०० (नेम भार्गव और इन्द्र); १०.२८ (इन्द्र और वसुकर की पत्नी); १०.५१-५३ (देवता और अग्नि); १०.८६ (इन्द्र, इन्द्राणि और वृषकपि)। इनमेंसे कतिपय अस्पष्ट अथवा गूढ़ार्थक हैं और एक-दो (उदाहरणार्थ १०.८६) सर्वथा अज्ञात हैं। ऋ० १०.११९ एक स्वगत भाषण है। इसमें कवि ने कल्पना की है कि सोम से उन्मत्त इन्द्र स्वयं से आलाप करने लगता है। इसी प्रकार ऋ० १.२४ भी सुनःशेप का स्वगत भाषण ही है। सुनःशेप गाथा को एत० ब्रा० में विस्तार से दिया गया है। ऋ० में सैकड़ों सुन्दर उपमाएं मिलती हैं। (दे० चौथे और पांचवें मंडल की उपमाओं के लिए प्रो० एच० डी० वेलंकर का विस्तृत विवेचन, जे० बी० बी० आर० ए० एस भाग १४, पृ० १–४७ तथा भाग १६, पृ० १–४२। दे० श्री० ए० वेंकटसुबिह द्वारा अनूदित ए० वर्गेन का 'फिगर्ज ऑफ स्पीच इन ऋ०' नामक लेख, एनल्स ऑफ बी० ओ० आर० आई० भाग १७, पृ० ६१–८३, २५९–८८। वेंकटसुबिह द्वारा अनूदित ए० वर्गेन का 'ला सिंटेक्स डेस कम्पैरीजन्स वैदिक्स' (१८८६) नामक लेख, एनल्स बी० ओ० आर० आई भाग १६, पृ० २३२–२६१। श्री शास्त्री का 'फिगर्ज ऑफ स्पीच इन ऋग्वेद' नामक लेख एनल्स ऑफ बी० ओ० आर० आई भाग २८, पृ० ३४–६४।) ऋग्वेदकालीन कवियों ने उपमा, अतिशयोक्ति, रूपक आदि अलंकारों का प्रयोग (उदाहरणार्थ, ऋग्वेद ३.२७.१५, ९.६४.१ वृषासोमः) ही नहीं किया, वरन् काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों का भी उन्हें कुछ ज्ञान था। निम्नलिखित उद्धरणों से यह बात स्पष्ट होगी। वे अक्षर और शब्दों की पुनरावृत्ति को अधिक पसंद करते थे। यही आगे चलकर अनुप्रास कहलाया। उदाहरणार्थ, 'रक्षाणो अग्नेतवरक्षणेभी राक्षाणे (४.३.१४), प्रतार्यग्ने प्रतरं न आयुः (४.१२.६), अब्जागोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम् (४.४०.५), वयमग्ने वनूयां त्वोतावसूयवो' (५.३.६)। इसी प्रकार कतिपय पदों के आरंभ में एक ही शब्द की पुनरावृत्ति हुई है। उदाहरण के लिए दे० ४.२३.३–५ ऋग्वेद ४.४०.५. 'हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्'। ऋग्वेद ५.२७.४ दद्ऋचा सन्नियतेददन्मेघा मृतायते' और ५.७६.२ दिवाभिपित्वेऽवसा-गमिष्ठा पत्यवर्तिंदाशुषे शंभविष्ठा) अंतिम दो में यमक की स्थिति दिखाई देती है। ऋषि कहता है कि वह अपनी वाणी से देवता के सामने सशक्त और नवीन मंत्रों का निर्माण करता है। (प्र तव्यसीं नव्यसीं धीतिमग्नये वाचो मतिं सह

सः सूनवे भरे ऋक् १.१४३.१) एक अन्य रोचक उदाहरण ऋग्वेद १०.७१.२ में मिलता है : 'सक्तुमिवतित उना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचम क्रत । अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ।।' (बुद्धिमान् मनुष्य अपनी बुद्धि से (कवित्वमय वाणी से) पदों का निर्माण इस प्रकार करता है जिस प्रकार कि जौ को वरसाने से भूसा अलग हो जाता है और अनाज अलग हो जाता है) इसी प्रकार की बुद्धि रखने वाले व्यक्ति उस काव्य के अर्थ को समझ सकेंगे । इस प्रकार के काव्य में उदात्त आनंद निहित[1] होता है । इससे स्पष्ट है कि सामान्य भाषा और काव्य की भाषा में अंतर होता है । कवि को उपयुक्त शब्द चुनने पड़ते हैं और कविता उदात्त आनंद की ओर ले जाती है । ऋग्वेद १०.१२५.५ वाक् का स्तुति में वाक्रचित मंत्र है । इसमें वाक्शक्ति का प्रभावशाली और चित्रात्मक रूप में वर्णन है । एक अर्धांश यहां उद्धृत किया जाता है; 'यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ।।' ऋग्वेद १.७१.४. (उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्व शृण्वन्न शृणोत्येनाम् । उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उशती सुवासाः ।।)इस पद की निरूक्त(१.१९) और महाभाष्य (भाग १. पृ०४) में व्याख्या की गई है । इसमें दो प्रकार के व्यक्तियों का निरूपण है एक वे जो भाषण का महत्त्व नहीं समझते और दूसरे वे हैं जो भाषण के आंतरिक अथ को अधिक महत्त्व देते हैं अपेक्षाकृत शब्दों के वाह्य रूप के । ऋग्वेद में काव्य अथवा कविता शब्द का अनेक बार उल्लेख आया है । उदाहरणार्थ, ऋग्वेद ३.१.१७ आदेवानामभवः केतुरग्नेमन्द्रो विश्वानि काव्यानि विद्वान्, हे अग्नि तुम देवताओं की पताका हो और सब काव्यों की ज्ञाता हो । 'अग्निर्विश्वानि-काव्यानि विद्वान्' के लिए दे० ३.१.१८, ४.३.१६ ऋग्वेद ६.११.३ 'मधु च्छन्दो भनतिरेभइष्टौ (गायक आहुति के समय एक मधुर मंत्र गाता है) : ८.३.१५ उदुत्ये मधुमत्तमा गिरः स्तोमास ईरते' (वे व्यक्ति स्तुतिगीत मधुर वाणी में बोलते हैं) । ऋग्वेद में गाथा शब्द (गेय पद) भी प्रायः आता है । उदाहरणार्थ, ८.६.४३ 'तं गाथया पुराण्या पुनानमभ्यनूषत' (प्राचीन गाथा से सोमदेवता का आह्वान कहते हैं) : दे० १०.८५.६ भी । इनसे स्पष्ट है कि प्राचीन समय में भी मधुर शब्दमय काव्य का वहुत अधिक महत्त्व था । यद्यपि काव्य का कोई सिद्धान्त निर्मित नहीं हुआ था फिर भी इसके मूल बीज वहां निहित थे ।

---

1. इस पद की निरूक्त ४.१० और महाभाष्य (भाग १, पृ० ४) के आरंभ में व्याख्या की गई है । यह साहित्यमीमांसा पृ० १६१ पर भी उद्धृत है । दे० ऊपर पृ० २७१ ।

शतपथ ब्राह्मण १.२.५.१६ में नारीसौन्दर्य के विषय में उन्हीं बातों पर बल दिया है. जिन पर उत्तरवर्ती अभिजात संस्कृत कवियों ने दिया है। (एवमेव हि योषां प्रशंसन्ति पृथुश्रेणीर्विमृष्टान्तरान् सा मध्ये संग्राह्येति) कविता के विभिन्न अंगों से विषय में उपलब्ध पूर्वोक्त विवेचन सामान्यतः पर्याप्त होगा। जहां तक नाटक और नाटक प्रदर्शन का संबन्ध है निम्नलिखित तथ्यों की ओर ध्यान देना चाहिए। नाटक-प्रदर्शन के सामान्यतः कथोपकथन, गीत, संगीत और नृत्य—चार अंग होते हैं। ये चारों अंग वैदिक साहित्य में विकसित हुए थे। कथोपकथन का पहले उल्लेख आ चुका है। इसके उपरान्त ब्रह्मोद्य' (प्रश्न और उत्तर) आते हैं, जैसेकि वाज० सं० २३.९–१२ और ४५–६२ में तथा शतपथ ब्राह्मण १३.२.६.९–१७ और १३.५.२.१२–२१ (एस० बी० ई० भाग ४४, पृ० ३१४–३१६ और पृ० ३८८–३९०) में इनकी व्याख्या की गई है। तै० सं० ७.४.१८ और तै० ब्रा० ३.९.५ भी देखिए। वैदिक संस्कारों में कई काम ऐसे किये जाते हैं जिनका निरूपण नाटक से मिलता-जुलता है। प्रथम अध्वर्यु और सोम-विक्रेता में वार्तालाप है। (दे० हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, भाग २, पृ० ११४३ अदि व्याख्याएं) महाव्रत नामक पक्ष में ब्राह्मण और शूद्रों की नकली लड़ाई करने का वर्णन है। वे गोल और श्वेत खाल के लिए लड़ाई करते हैं जो सूर्य का प्रतीक है और इसका आयोजन इस प्रकार से किया जाता है कि इसमें आर्य की विजय होती है। (दे० हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र भाग २, पृ० १२४४। इसी संस्कार में ढोल बजाये जाते हैं, पुरोहित मंत्रोच्चारण करते हैं, उनकी पत्नियां वृन्दगान करती हैं, और बहुत-से वाजे बजाये जाते हैं, और दास–दासियां सिर पर पानी के घड़े रखकर नृत्य करते हैं, गौणों की स्तुति में गीत गाये जाते हैं। (हि० आ० धर्मशास्त्र पृ० १२४४–४५) इसकी तुलना तै० सं० ७.५.१० से कीजिए। अश्वमेध में अश्वाहुति के उपरान्त यज्ञपुरोहित और महारानी के बीच तथा ब्रह्मपुरोहित और राजा की प्रियरानी के बीच अश्लील शब्दों का आदान-प्रदान होता था। (हि० आ० धर्मशास्त्र भाग २, पृ० १२३४–३५)। अश्वमेध में एक ब्राह्मण और राजन्य एक वर्ष तक प्रतिदिन वीणावादन में लगे रहे और इन्होंने स्वयं रचित तीन-तीन गीत गाये। ब्राह्मण के गीत में था[1] :

---

1. अयजतेत्यददादिति ब्राह्मणो गायति···अयुध्यतेत्यमुं संग्रामजयदिति राजन्यो···तिस्रोऽन्योगाथागायति तिस्रो अन्यः। शतपथ ब्राह्मण १३.१.५.६ : तस्यै प्रयाजेषु तायमानेषु ब्राह्मणो वीणा गार्थी दक्षिणत उत्तरमन्द्रामुदाघ्नं स्तिस्रः स्वयं संभृता गाथा गायति···। शत० १३–४.२.८)।

'आपने यह दान दिया, आपने इतना बलिदान किया। राजन्य के गीत में था : 'आपने यह युद्ध किया, आपने यह युद्ध जीता।' (दे० हि० आ० धर्मशास्त्र भाग २, पृ० १२३१) शतपथ ब्राह्मण में वीणा की उत्तर मन्दरा नामक तान का उल्लेख आया है। बहुत-से वाद्ययन्त्रों का उल्लेख आया है। उदाहरणार्थ, दुन्दुभिः (ऋग्वेद १.२८.५, ६.४७.२९, वाज० सं० २९.५५–५६) : गर्गर (ऋग्वेद ७.६९.९) : वाण (ऋग्वेद १०.५०.१, ९.९७.८, १०.३२.४, तै० सं० ७.५.९ २. बाणः शततन्तु भविति) आते हैं। वाज० संहिता (३०.१९) और तै० ब्रा० (३.४.१३ में वीणा तूणव, दुन्दुभि, शंख आदि के वजाने वालों का उल्लेख है। ऋग्वेद १.९२.४ में उषा की तुलना एक नर्तकी (नृतु) से की गई है, जो अपने शरीर पर आभूषण पहनती है और जिसका वक्ष नग्न है। (अधिक पेशांसि वपते नृतुरिवापोर्णुते वक्ष उस्रेव वर्जहम्।) ऋग्वेद १०–९४.४–५ में नृत्य का भी उल्लेख आया है। वाज० सं० (३०.६) में प्रतीकात्मक पुरुषमेध में सूत को नृत्य का और शैलूष को गीत का आदेश दिया जाता है। इसकी तै० ब्रा० ३.४.२ से तुलना कीजिए। (जहां पर इसके विपरीत कहा गया है, जैसे, गीताय सूतं नृताय शैलूषम्) एत० आर० ३.२.५ में केशयुक्त चर्म से वने हुए आवरण में रखी गईं वीणा का उल्लेख हैं जिसके बहुत-से भाग होते थे। कौषी ब्रा० २९.५ में त्रिवृधै शिल्पं, नृत्यं गीतं वादितमिति कहा गया है। अतः स्पष्ट है कि वैदिक साहित्य के आरंभिक काल में भी धार्मिक स्वरूप के नाटक-प्रदर्शन मिलते थे। शोडर, विंडिश, आल्डनवर्ग, पिशेल, कोनो आदि पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृत नाटक के उद्गम के विषय में विभिन्न सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं। इन सव की प्रो० ए० बी० कीथ ने संस्कृत ड्रामा (१३–२७) में आलोचना की है। भरत के नाट्यशास्त्र से पता लगता है कि अभिजात्य संस्कृत नाटक का मूल आधार वैदिक युग में मिलता है। भरत ने कहा है (नाट्यशास्त्र १.१७ चौ० सं० तथा जी० ओ० एस० सं०) कि पाठय (उच्चारण और संवाद), गीत, अभिनय और रस क्रमशः ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्व वेद से लिये गये हैं (दे० ऊपर पृ० २९)। बौद्ध० ग्र० १.४.५. (मैसूर सं०) तथा हिर० ग्र० (१.२४.६) में एक ऐसा श्लोक मिलता है जिसमें चक्रवाक पक्षियों का उल्लेख है जो संस्कृत नाटको में प्रेम के प्रतीक रहे हैं। 'चाक्रवाकं संवननं यन्नदीभ्य उदाहृतम्। यद्वित्तौ देवगन्धर्वौ तेन संवनिनौ स्वः ॥' (मासिकधर्म के चौथे दिन पति अपनी पत्नी को इस प्रकार कहता है) दे० हिर० ग्र० के लिए एस० वी० ई० भाग ३० पृ० १९८ तथा अन्यगृह सूत्रों के लिए दे० हि० ऑफ धर्मशास्त्र भाग २, पृ० २२४ सीमन्तोन्नयन।

यद्यपि उपनिषदों में दार्शनिक सत्य का अन्वेषण किया गया है फिर भी उनमें उत्तम कवित्वमय अवतरण मिलते हैं। उदाहरणार्थ, "धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रंशरं ह्यु पासानिशितंसन्धयीत । आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सौम्य विद्धि ॥" (मुण्डकोपनि० २.२.३)। इसी प्रकार 'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेवतु (कठोप० १.३.३) रसश्लोक में भी सुंदर रूपक मिलता है। इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।···त्पुरुषपरः। आदि श्लोक में सार अलंकार है। अश्वमेध में एक वर्ष तक के पाठ के लिए जिसे पारिप्लव कहा जाता है हि० आ० धर्मशास्त्र भाग २, पृ० १२३१–३३ तथा शतपथ ब्रा० १३.४.३ (एस० वी० ई० भाग ४४ पृ० ३६०–३७१) देखिए एत० ब्रा० में (७.१८. १०=३३.६) शुनःशेप की गाथा को शौनःशेपाख्यान कहा गया है। जिसे होत्र पुरोहित को राजसूय यज्ञ में गाना पड़ता था) एत० ब्रा० (३.२५.१–१३.१) में सौपर्णाख्यान का भी उल्लेख है।

२. ई० सन् से शताब्दियों पूर्व उत्तम प्रकार की काव्यरचना हुई, इसके पर्याप्त प्रमाण हैं। यह सभी विद्वान स्वीकार करते हैं कि प्रस्तुत महाभारत द्वितीय शताब्दी ई० सन् से बाद की रचना नहीं है और इसका बहुत बड़ा भाग ५०० ई० सन् पूर्व का है। इसी प्रकार कतिपय विद्वान (डा० कीथ, जे० आर० ए० एस १९१५ पृ० ३२०) रामायण को चौथी शताब्थी ई० सन् पूर्व तो कतिपय (डा० जैकोबी आदि) इसे ६०० ई० सन् पूर्व का मानते हैं। इन दोनों महाकाव्यों में उत्तम प्रकार की कविता मिलती है। महाभारत से बहुत-से अवतरण ध्वन्यालोक में उद्धृत किए गए हैं (पृ० १५३ जहां पर 'या निशा सर्व-भूतानाम्' को उद्धृत किया गया है और पृ० २९९ पर 'भगवानवासुदेवश्च कीर्त्यंते अत्र सनातनः' आदि पर्व अध्याय १ पृ० २५६ का उद्धरण)। काव्य-प्रकाश में भी (चतुर्थ उल्लास पृ० १७९ गृध्रगोमायु संवाद, शांति पर्व १५३)[1] महाभारत से उद्धरण आए हैं। रामायण से भी ध्वन्यालोक में उद्धरण आए हैं (ध्वन्यालोक पृ० ७६ रविसंक्रान्त० श्लोक अरण्य० २२.१३ में)। महाभारत

---

1. शान्ति पर्व, १५३ गृध्रगोमायुसंवाद के श्लोक ११, १२, १९, ६५ (=सी० आर० संस्करण अध्याय १४९ श्लोक ८, ९, १५, ६०) काव्यप्रकाश में प्रबंध निष्ठ ध्वनि के उदाहरण स्वरूप उल्लिखित हैं। 'या निशा' इत्यादि पर ध्वन्यालोक की टीका इस प्रकार है (पृ० १५४) 'अनेन हि वाक्येन निशार्यो न जागरणार्थः कश्चिद्विवक्षितः किं तर्हि तत्वज्ञानावहि तत्वमतत्व पराङ्मुखत्वंच मुनेः प्रतिपाद्यत इति तिरस्कृत वाच्यस्यास्यव्यंजकत्वम् ।'

काव्य की अपेक्षा धर्मशास्त्र है। यद्यपि इसमें अहं भावना व्यक्त नहीं की गई है फिर भी यह अनेक कवियों का उपजीव्य रहा है ('इतिहासोत्तमादस्माज्जायंते कविबुद्धयाः' आदि पर्व २.३८५ और 'इदं कविवरैः सर्वैराख्यानमुपजीव्यते' आदि पर्व २.३८९)। रामायण अपने उद्देश्य, स्वरूप और विषय की दृष्टि से वास्तव में काव्य है[1]। इसमें वर्णन की प्रचुरता और कल्पना की ऊंची उड़ान है। उदाहरणार्थ समुद्र का कवित्वमय वर्णन (हसन्तमिव फेनौघैर्नृत्यन्तमिव चोर्मिभिः), युद्ध काण्ड में (४.११५ से आगे), आकाश का सुन्दरकांड में (५७.१ से ४) कल्पनामय चित्रण और अयोध्याकांड में (६९.२८ से आगे) विस्तृत रूपक—इसके प्रमाण हैं। दशरूप (१.६८) में नाटककारों को नाटक की कथावस्तु रामायण और बृहत्कथा से लेने की सम्मति दी गई है। 'अक्रूरो ददते मणिम्' निरूक्त (२.२) का यह उदाहरण किसी लौकिक काव्य ग्रंथ से लिया गया है। पाणिनि के सूत्र (अधिकृत्यकृतेग्रंथे ४.३.८७) तथा निम्न सूत्र से पाणिनि के पूर्ववर्ती लौकिक काव्यग्रंथों का पता लगता है। रुद्रट के टीकाकार नमिसाधु २.८ के अनुसार पाणिनि ने पाताल विजय नामक महाकाव्य लिखा। नमिसाधु ने अपने मत की पुष्टि के लिए पाणिनि की रचना से एक पूर्ण श्लोक का तथा एक अन्य श्लोक का एक अंश उद्धृत किया है। राजशेखर[2] के अनुसार

---

1. वालकाण्ड २.१५ पर आया 'मा निषाद···मोहितम्' प्रसिद्ध श्लोक है, २.१८ का श्लोक 'शोकार्तस्य प्रवृत्तो में श्लोको भवतु नान्यथा' है : ४०–४१ समाक्षरैश्चतुर्मिर्थः पादैर्गीतो महर्षिणा ॥ सोनुव्याहरणाद्भूयशोकः श्लोकत्वमागतः। वालकाण्ड में अभिजात्य संस्कृत श्लोक का उद्गम बताया गया है और रस-सिद्धान्त के युक्त बीज भी इसमें निहित है। रघुवंशकर १४.७० (श्लोकवमापद्यत यस्यशोकः) श्लोक में वालकाण्ड के शब्दों की प्रतिध्वनि है और इसी प्रकार ध्वन्यालोक १.५ पृ० ३१ में भी है। 'काव्यस्यातमा स एवार्थस्यातथा चादिकवेः पुरा। क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकावमागतः'। इसके उपरान्त ध्वण्यालोक (पृ० ३२) में 'मा निषाद०' श्लोक मिलता है।

2. राजशेखर ने सूक्ति मुक्तावलि के ४२वें पृष्ठ पर स्वस्ति पाणिनये तस्मे यस्य रुद्रप्रसादतः। आदौ व्याकरणं काव्यमनु जाम्ववतीजयः॥ श्लोक उद्धृत किया है। पाणिनि के सभी श्लोकों के संग्रह के लिए दे० कवीन्द्र० की भूमिका के ५१–५३ पृष्ठ। यहां दो प्रश्न उसमें हैं १ क्या कविपाणिनि वैयाकरण पाणिनि एक हि व्यक्ति हैं? २ क्या पाताल विजय (दे० रुद्रट पर नमिसाधु की टीका २.८,) और जाम्ववती विजय एक ही रचना है? प्रथम प्रश्न के विषय में

जाम्बवती जय काव्य के रचनाकार वैयाकरण पाणिनि थे। (पीटरसन की चौथी रिपोर्ट LXXVI) सुवृत्त तिलक (३.३०) में उल्लेख आया है कि पाणिनि उपजाति छंद की रचना में सिद्ध हस्त थे। संग्रहों में वहुत से श्लोक पाणिनिरचित वताये गये हैं (दे० पीटरसन लिखित सुभाषितावली की प्रस्तावना पृ० ५८ इसका उपोढरागेण० श्लोक पाणिनि रचित बताया गया है जो (सदुक्ति० पृ० ५८, सूक्तिमुक्तावली पृ० २६० शार्ङ्ग० सं० ३६३४ में आया है। यही श्लोक ध्वन्यालोक के ३५वें पृष्ठ पर विना नाम-निर्देश के आया है) सुभा० सं० १८१५ में आया 'ऐन्द्रं धनु' श्लोक पाणिनि रचित माना गया है। यह वामन के काव्य० सू० ४.३.२७ और व्यक्ति विवेक पृ० ७५ पर आता है। अधिकृत्यकृते ग्रंथे अथवा लुवाख्यायिकाभ्यो की एक वार्तिक से स्पष्ट होता है कि आख्यायिका नामक साहित्यांग पतंजलि के वहुत पूर्व से प्रचलित था। पतंजलि ने वररुचि रचित एक काव्य का उल्लेख किया है ('यत्तेन कृतं न च तेन प्रोक्तं[1] वाररुचं काव्यं जालूकाः श्लोकाः' महाभाष्य भाग २, पृ० ३१५)। पृ० २-३ पर पतंजलि ने भ्राज नामक कतिपय श्लोकों का उल्लेख किया है। उन्होंने 'यस्तु प्रयुंक्ते' श्लोक उद्धृत भी किया है और इसकी विस्तृत व्याख्या की है। इन श्लोकों को कैयट ने कात्यायन रचित माना है। दे० काव्यमीमांसा पृ० २५-७। 'लुवाख्यायिकाभ्यो वहुलम्'—इस वार्तिक का विवेचन करते हुए पतंजलि ने वासवदत्ता सुमनोत्तरा[2] और भैमरथी इन तीन रचनाओं का

मत-भेद है। मेरे विचार में पीटरसन प्रस्तुत सतर्क मत अपना लेना चाहिए (सुभा० की प्रस्तावना पृ० ५८ टिप्पणी)। एच० आई० क्यू० भाग १३, पृ० १६७-१७१ में श्री कृष्णदेव उपाध्याय ने सिद्ध किया है कि १०९५ शक अथवा ११७३ ई० सन् रचित शरणदेव की दुर्घटवृत्ति में जाम्बवती विजय के द्वितीय पंचम और अठारहवें प्रकरण से तीन श्लोक उद्धृत किये गये हैं (इनका अन्यत्र कहीं उल्लेख नहीं मिलता, इनमें से दो उपजाति और एक अनुष्टभ छन्द में है)।

1. सूक्तिमुक्तावलि पृ० ४३ पर राजशेखर का उद्धृत मत है:—'यथार्थता कथं नाम्निमा भूद्वररुचेरिह। व्यधत्त कंठाभरणं यः सदा रोहणप्रियः॥' संग्रहों में वररुचि रचित माने गए श्लोकों के संवंध में देखिए पीटरसन लिखित सुभा० की भूमिका; पृ० १०८-९।

2. राजगृह के धनाढय व्यापारी सुमन और उसकी पत्नि उत्तरा की कथा के विषय में देखिए 'पूना ओरियंटलिस्ट' भाग ७, पृ० १९७-२००। पाणिनि (४.२.६० भाग २, पृ० २८४) में पतंजलि ने सौमनोत्तरिकः शब्द का उल्लेख किया है (अर्थात् आख्यायिका सुमनोत्तरा का पाठक)।

आख्यायिका साहित्यांग के रूप में उल्लेख किया है। (महाभाष्य भाग २, पृ० ३१३, पृ० २८४)। उन्होंने कंसवध और बाली के तिरस्कार संबंधी दो रचनाओं और इन विषयों के नाटकीय प्रदर्शन का उल्लेख किया है (भाग २, पृ० ३४, ३६)[1]। एक अन्य अवतरण में उन्होंने अभिनेताओं की पत्नियों का उल्लेख किया है :—व्यञ्जनानि पुनर्नटभार्यावद्भवन्ति। नटानां स्त्रियो रगं गता यो यः पृच्छति कस्य यूयं कस्य यूयमिति तं तं तव तवेत्याहुः' (भाग ३, पृ० ७)। महाभाष्य में पूर्ववर्ती कवियों से बहुत-से उद्धरण मिलते हैं। इनमें से कतिपय में काव्यगत सौंदर्य है उदाहरणार्थ 'असि द्वितीयोनुससार पाण्डवम्' तथा संकर्षणद्वितीयस्य वलं कृष्णस्य वर्धताम्' (भाग १, पृ० ४२६); जवान कंसं किल वासुदेवः (भाग २, पृ० ११९); जनार्दनस्त्वात्मचतुर्थ एव (भाग ३, पृ० १४३); प्रियां मयूरः प्रतिनर्नृतीति और यद्वत्त्वं नरवर नर्नृतीषि हृष्टः (भाग ३ पृ० ३३८); एति जीवन्तमानन्दः (भाग १ पृ० २७७); वरतनु संप्रवदन्ति कुक्कुटाः[2] (भाग १ पृ० २८३) ('एति'[3] इत्यादि श्लोक युद्धकांड में आता

---

1. महाभाष्य में कहा गया है :—इह तु कथं वर्तमानकालता कंसं घातयति बलिं बन्धयतीति चिरहते कंसे चिर-बद्धे च बलौ। अत्रापि युक्ता। कथम्। ये तावदेते शोभनिका नामैते प्रत्यक्षं कंसं घातयन्ति प्रत्यक्षं च बलिं बन्धयन्तीति। चित्रेषु कथम्।···ग्रंथिकेषु कथम्। यत्र शब्द गडुमात्रं लक्ष्यते। तेऽपि तेषामुत्पत्ति-प्रभृत्या विनाशादृद्धीर्व्याचक्षाणाः सतो बुद्धिविषयान् प्रकाशयन्ति। (भाग २, पृ० ३६)। इसका संकेत तीन पृथक वस्तुओं की ओर है। शोभनक (इनकी व्याख्या कैयट ने इस प्रकार की है :—कंसाद्यनुकारिणां नटानां व्याख्यानौपाध्यायाः) कंस वध का अभिनय प्रस्तुत करते हैं। चित्रों में घटनाओं का चित्रण होता है तथा कवियों की कृतियों में शोभनकों के अभिनीति कार्यों का वर्णन होता है। पतंजलि के अनुसार कतिपय अभिनेताओं के मुख लाल रंग तथा अन्य के काले रंग से रंगे होते हैं।

2. औचित्यविचारचर्चा में (कारिका २४) क्षेमेन्द्र ने निम्न पद्य को कुमारदास रचित मानकर उद्धृत किया है :—'अयि विजहीहि दृढ़ोपगूहनं त्यज नवसंगमभीरु वल्लभम्। अरुणकरोद्गम एष वर्तते वरतनु संप्रवदन्ति कुक्कुटाः॥' वहां महाभाष्य का उद्धरण समस्यापूर्ण रूप में लिया गया है। सर० क० (२.२६ पृ० १५१) में अयि विजहीहि श्लोक शब्दालंकारगति के उदाहरण स्वरूप आता है।

3. दे० आई० ए० भाग १४, पृ० ३२६ से आगे और इन्डिशस्टडीन भाग १२, पृ० २९३–४९६।

है जहां इसे लौकिकी गाथा कहा गया है, १२९.२)। रसादिभ्यश्च सूत्र (पा. ५.२.९५) का महाभाष्य में (भाग २ पृ. ३९४) रसिको नटः यह उदाहरण आया है। इससे संकेत मिलता है कि उस समय में भी रसों और अभिनेताओं के पारस्परिक संबंध के विषय में विचार प्रचलित थे। महाभाष्य के समय में भी सुन्दर युवति के मुख की उपमा चन्द्रमा से दी जाती थी। महाभाष्यकार ने चन्द्रमुखी देवदत्ता (भाग १.३९७) उदाहरण दे कर स्पष्ट किया है कि यद्यपि चन्द्रमा के अनेक गुण हैं, परन्तु प्रस्तुत उपमा से प्रयोजन प्रियदर्शनता है। 'उपमानानि सामान्यवचनैः' (पा. २.१.५५) पर महाभाष्य में यह उल्लेख आया है :—चन्द्रमुखी देवदत्तेति वहवश्चन्द्रे गुणा या चासौ प्रियदर्शनता सा गम्यते' (महाभाष्य)। महाभाष्य में 'यदारंभका रंगं गच्छन्ति नटस्य श्रोष्यामः ग्रन्थिकस्य श्रोष्यामः' (भाग १ पृ. ३२९ पा. १.४.२९ 'आख्यातोपयोगे पर)[1] उल्लेख भी आया है। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि पतंजलि का संकेत रंग मंच पर वार्तालाप करने वाले अभिनेताओं की ओर हैं। उनका निर्देश मूक नाटक संबंधी प्रदर्शन से नहीं है। पा. २.४.७७ (भाग १ पृ ४९५) पर महाभाष्य का अगासीन्नटः उद्धरण आया है। इससे स्पष्ट होता है कि नट भी गाता था। पाणिनि के 'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः (४.३.११०) सूत्र का भी वही अथ क्यों नहीं लेना चाहिए, यह बात मेरे समक्ष स्पष्ट नहीं है। कीथ आदि पाश्चात्य विद्वानों ने पाणिनि रचित नटसूत्र को अभिनेता और नाटक शास्त्र विषयक रचना अस्वीकार कर हठ धर्मी का परिचय दिया है। 'द संस्कृत ड्रामा' पृ. ३१.२९१)। उनके अनुसार पाणिनि ने इस रचना में केवल मूक नाटक के नियमों के प्रतिपादन किया है। केवल मूक नाटक विषयक कोई रचना अभी तक उपलब्ध नहीं हो पाई है।

डा० विजेसेकेर ने नाटक का आदि अस्तित्व सिद्ध करने के लिए प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों से प्रमाण प्रस्तुत किया है। (आई०एच०क्यू० भाग १ पृ०१९६-२०६) १९७ पृष्ट पर इन्होंने गामणि संयुक्त (४, पृ० ३०६) से एक अवतरण उद्धत किया है। इसमें नटगामणि (नटों का नेता) भगवान से इस प्रकार कहता है, :— 'योऽसो नटो रंगमज्झे समाजमज्झे सच्चालिकेन जनं हासेति रमेति इत्यादि (वह नट जो सत्य और मिथ्या का मिश्रण करके रंगमंच अथवा दंगल में लोगों को हंसाता और प्रसन्न करता है। पृ० २०० पर इन्होंने बुद्ध के वार्तालाप से

---

1. उपयोग का अर्थ है नियमपूर्वकविद्यास्वीकारः। ऐसे स्थान पर आख्याता (वक्ता) के लिए पंचम विभक्तियुक्त होती हैं जैसे उपाध्यायादधीते में।

एक अवतरण उद्धृत किया है। इसमें नृत्य, गीत, वादित, प्रेक्षा, आख्यान और शोभानगरक का उल्लेख आता है। यहां तक के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि लगभग ५०० ई० पूर्व से १०० ई० पूर्व तक के अभिजात्य संस्कृत साहित्य के अधिकांश लौकिक कवित्व सामग्री एकत्रित है। इससे काव्य व्यापार, काव्य के लक्ष्य, आख्यायिक आदि विभिन्न काव्यांगों साहित्यिक वर्गीकरण, साहित्यांगों के रचना संबंधी प्रामाणिक नियमों का निर्धारण, अथवा संक्षेप में काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों का प्रतिपादन और साहित्यिक समालोचना आदि सभी विषयों के सम्बन्ध में विचारों को प्रोत्साहन मिला होगा। इस समय से लेकर लौकिक काव्य की रचना और नियमों का विस्तृत प्रतिपादन, इन दोनों विषयों का विकास अवश्य साथ ही हुआ होगा।

३. **काव्यशास्त्र का आदि विकास** :—द्वितीय शताब्दी ई० और इससे पूर्व के शिलालेखों से स्पष्ट होता है कि इससे पूर्व काव्यशास्त्र के सिद्धान्त का उद्‌गम हो चुका था। (इस विषय में तथा काव्यशात्र के विकास की सामान्य जानकारी के लिए देखिए आई०ए० १९१२ में आए मेरे लेख पृ० १२४-८, २०१-८। शिलालेख संबंधी सामग्री के लिए देखिए प्रो० घाटे अनूदित आई० ए० १९१३ में प्रकाशित बूहलर का 'डाई इन्डिश इन्शरिपटेन' नामक लेख; पृ० २९, १३७, १७२, १८८, २३०, २४३।) 'सेवन ब्राह्मी इन्सक्रिप्शन्स फ्राम मथुरा' (ई०आई० भाग २४. १९९ से आगे) नामक लेख में प्रो० ल्यूडर्स ने कहा है कि एक शिलालेख में भुजंगविजृम्भित छन्द में, एक श्लोक मिलता है। अतः यह स्वीकार करना पड़ेगा कि काव्यसाहित्य ईसा से प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्व पूर्ण रूप से विकसित था। जूनागढ़ (१५० ई०सन्) में उपलब्ध रुद्रदामन नामक शिलालेख तत्कालीन काव्यशास्त्र के विकास के विषय में पर्याप्त प्रकाश डालता है (इस शिलालेख के लिए दे० ए०एस०डब्ल्यू०आई० भाग २ पृ० १२८ और ई०आई० भाग ८ पृ० ३६.) इस उपलब्ध शिलालेख में केवल दो क्रियाएं आई हैं। इसके गद्य का रूप एक लम्बे समास का है। यह पुनरुक्ति और शब्दाडंबर से परिपूर्ण है। एक संक्षिप्त उद्धरण इस बात को स्पष्ट कर देगा 'सर्वक्षत्राविष्कृतवीरशब्द-जातोत्सेकाविधेयानां यौधेयानां प्रसह्योत्सादकेन···शब्दार्थगान्धर्वन्यायाद्यानां विद्यानां महतीनां पारणधारणविज्ञानप्रयोगावाप्तविपुलकीर्तिना···स्फुटलघुमधुर-चित्रकान्तशब्दसमयोदारालंकृतगद्यपद्य यमधिगत महाक्षत्रपनाम्ना नरेन्द्रकन्या स्वयंवरानेक माल्यप्राप्तदाम्ना महाक्षत्रपेणरुद्रदाम्ना (पृ० ४४)' इससे स्पष्ट है कि द्वितीय शताब्दी ई०सन् में अथवा इससे पूर्व काव्य गद्य और पद्य इन दो भागों में विभक्त था। उत्तरवर्ती ग्रन्थों में आए कुछ गुणों का नामोल्लेख भी

इससे पूर्व हो चुका था। (स्फुट[1], मधुर, कान्त, उदार गुण काव्यादर्श के प्रसाद, माधुर्य, कान्ति और उदारता से मिलते हैं)। गद्य और पद्य दोनों का अलंकृत होना आवश्यक था। नाट्यशास्त्र (१७. १०२, १०६, १०७ के०एम० संस्करण १६. १०३, १०७–१०८ और जी०ओ०एस० संस्करण १६. १०४, ११०, ११२), में माधुर्य, उदात्त और कान्त की परिभाषाएँ दी गई हैं। इस शिलालेख का रचयिता अपने समकालीन काव्यशास्त्र में प्रस्तुत कवियों के स्तर की रचना करने का प्रयत्न कर रहा था। अतः इस शिलालेख का उस समय के उच्च स्तर से मूल्यांकन किया जाय तो यह अधिक नहीं तो मध्यम कोटि का काव्य अवश्य ठहरता है। रुद्रदामन् के प्राकृत शिलालेख से कुछ पूर्व आये नासिक सिरी पुलुमाइ शिलालेख में भी यही विशेषताएं हैं (वम्वई गजेटियर भाग १६., पृ० ५५० और ई०आई०, भाग ८, पृ० ६०, सं० २)। ई० सन् की प्रथम दो शताब्दियों में संस्कृत और प्राकृत में शिलालेख रचे गए तथा उनकी साहित्यिक शैली लगभग एक जैसी है। धन (देव अथवा भूति) का अयोध्याशुङ्ग शिलालेख संस्कृत में है (ई०आई० भाग २०, पृ० ५४)। धन सेनापति पुष्यमित्र से छठे क्रम में आते हैं। रुद्रदामन् के शिलालेख का उल्लेख आ चुका है। खारवेल का शिलालेख प्राकृत में है। इसका ऊपर ५.१९ और टिप्पणी ३ में उल्लेख आ चुका है। इसमें रुद्रदामन् के शिलालेख की सभी विशेषताएँ हैं और गन्धर्व वेद, नटगीत, वादित्र तथा उत्सवसमाज का उल्लेख किया गया है। इस शिलालेख से तथा श्री पुलुमाइ के १९वें साल में खोदे गये नासिक-शिलालेख से एक उद्धरण नीचे[2] दिया

---

1. कौटिल्य (शासनाधिकर २. १० पृ. ७१) ने 'अर्थक्रमः, संबन्धः, परिपूर्णता, माधुर्यमौदार्यं स्पष्टत्वमिति लेखसंपत्' कहा है और अंतिम तीन की इस प्रकार परिभाषाएँ दी हैं : 'सुखोपनीतचार्वर्थशब्दाभिधानं माधुर्यम्। अग्राम्यशब्दाभिधानमौदार्यम् प्रणीतशब्दप्रयोगः स्पष्टत्वमिति।' वामन के काव्यसूत्र (३.२.११, १३, १४) से तुलना कीजिए। काव्यसूत्र में आया हुआ अग्राम्यत्वमुदारता और कौटिल्य में समानता है।

2. महाराजेन···पसथसुभलखनेन चतुरन्तलुठितगुणोपहितेन कलिंगाधिपतिना सिरिखारवेलेन···ततो लेखरूपगणनाववहारविधिविसारदेन सवविजावदातेन नववसानि योवराजं पसासितं···सवपासण्डपूजको सवदेवायतनसंखारकारको अपतिहतचकिवाहिनिबलो चकधुरगतचको··· राजा खारवेलसिरि। (ई. आई. भाग २०, पृ. ७९-८०); नासिक शिलालेख सं. २, बम्बई गजेटियर भाग १६, पृ. ५५० और ई.आई. भाग ८, पृ. ६०। 'राजरञोगोतमितपुतस हिमवतमदरपवतसमसारस··· सवराजलोकमंडलपतिगहीतसासनस·····दिवसकरविबोधितकमलविमलसदिस-

गया है। यह विचारणीय है कि यह शिलालेख पुनरुक्तियों, भाषा की सशक्तता और सरसता तथा दीर्घ समासों से युक्त है। काव्यादर्श आदि उत्तरवर्ती ग्रंथों में ये सब गद्य की विशेषताएँ मानी गई हैं (ओजः समासभूयस्त्वमेतद्गद्यस्य जीवितम् कव्यादर्श १.८०)। संभवतः इस उक्ति का आधार लुप्त प्राचीन गद्यग्रंथ हैं जिनका संस्कृत-प्राकृत शिलालेखों के रचयिताओं ने अनुकरण किया था। (अन्य अधिक प्राचीन शिलालेखों के लिए दे० डॉ० आर० सी० मजूमदार लिखित 'एन्शन्ट इण्डियन कालोनीज़ इन दि फार ईस्ट' ग्रंथ भाग १, प्रति ३, पृष्ठ १। पृष्ठ १ पर आये चम्पा के संस्कृत वो चन शिलालेख इसकी तिथि दूसरी और तीसरी शताब्दी ईस्वी-पूर्व है। इसमें वसन्ततिलका छन्द में दो श्लोक आये हैं। आई. एच. क्यू. भाग १६, पृष्ठ ४८४ (डॉ. जी. कोडीस), भाग १७, पृ० १०७-११० (डॉ० डी. सी. सरकार) : युवमहाराज विष्णुगोप के पुत्र और महाराज स्कन्दवर्मन द्वितीय के पौत्र पल्लववंशी राजा सिंहवर्मन का पिकिर का दानसंबंधी शिलालेख जिसमें दीर्घसमासयुक्त संस्कृत गद्य का प्रयोग है। ४थी शताब्दी ई. सन् के एक शिलालेख में हरिषेण-रचित महाराज समुद्रगुप्त की प्रशस्ति आई है। (दे. फ्लीट का 'गुप्ता इन्स्क्रिप्शन्स', सं. १, पृ० ८)। इस प्रशस्ति की गद्यशैली बाण की गद्यशैली के तुल्य है। इससे पता लगता है कि समुद्रगुप्त को कविराज की पदवी दी गई थी क्योंकि उन्होंने बहुत से काव्यों की रचना करके विद्वानों को प्रेरित किया था। एक संक्षिप्त उद्धरण पर्याप्त होगा : 'कृपणदीनानाथातुरजनोद्धरणसमन्त्रदीक्षाद्युपगतमनसः समिद्धस्य विग्रहवतो लोकानुग्रहस्य धनदवरुणेन्द्रान्तकसमस्य स्वभुजवलविजितानेकनरप्रतिविभवप्रत्यर्पणनित्यव्यापृतायुक्तपुरुषस्य निशितविदग्धमतिगान्धर्वललितैर्व्रीडितत्रिदशपतिगुरुतुंबरुनारदादेर्विद्वज्जनोपजीव्यानेक काव्यक्रियाभिः प्रतिष्ठित कविराज शब्दस्य इत्यादि।'

इन शिलालेखों से स्पष्ट है कि चौथी शताब्दी के बहुत पूर्व ही काव्यशास्त्र ने पर्याप्त उन्नति कर ली थी। इस विषय में अन्य प्राचीन प्रमाण भी मिलते हैं। निघण्टु (३.१३) में ऋग्वेद से १२ उक्तियाँ संगृहीत हैं और उनको उपमा कहा गया है (उदाहरणार्थ—इदमिव, इदं यथा, अग्निर्न, तद्वत्)। निरुक्त में निघण्टु के इस भाग का विवेचन करते समय लेखक ने यास्क के पूर्वज गार्ग्य द्वारा प्रतिपादित उपमा की वैज्ञानिक परिभाषा प्रस्तुत की है और कहा है कि ऋग्वेद में कई बार श्रेष्ठ की कनिष्ठ से तुलना की गई है (सामान्यतः नियम

वदनस··पटिपुणचदमडलससिरीकपियदसनस··सुविभततिवगदेसकालस पोरजननिविसेससुमुखदुखस··सकयवनपल्हवनिसूदनस धमोपचितकरविनियोगकरस इत्यादि।'

है कि उपमान उपमेय से श्रेष्ठ अथवा अधिक प्रसिद्ध होता है) अर्थात् उपमा यदतत्तत्सदृशमिति गार्ग्यस्तदासां कर्म ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयांसं वा प्रख्यातं वोपमिमीतेऽथापि कनीयसा ज्यायांसम्' ३.१३। इसके उपरान्त निरुक्त में ऋग्वेद १०.४.६ से उद्धरण (तनूत्यजेव तस्करा वनर्गू इत्यादि) आया है। यहाँ पर भुजाओं की निराश चोरों से तुलना की गई है। ऋग्वेद १०.४०.२ से भी उद्धरण (कुह स्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना इत्यादि आया है। यहाँ पर अश्विनों की तुलना देवर से की गई है और उस का अपने भाई की विधवा से संयोग दिखाया गया है। यास्क ने पूर्णा और लुप्ता उपमा के इन दो भेदों को पहले से ही स्पष्ट कर दिया था। उदाहरणार्थ 'लुप्तोपमान्यर्थोपमानीत्याचक्षते' (निरुक्त ३.१८)। पूर्णा उपमा के उपमान, उपमेय (अथवा उपमित), सामान्य और संबंधवाचक शब्द (जैसे इव, तुल्य)—ये चार अंग होते हैं। पाणिनि से बहुत पूर्व ही ये पारिभाषिक (अथवा सांकेतिक) शब्द भाषा में स्थापित हो गए थे। निम्न सूत्रों से इसका स्पष्टीकरण हो जायगा : 'उपमानानि सामान्यवचनैः' तथा 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' (पा० २.१.५५–५६); 'तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम्' (पा० २.३.७२); 'उपमानादाचारे' (पा० ३.१.१०) (क्यच् स्यात्); 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः। तत्र तस्येव' (पा० ५.१.११५–६)। पाणिनि ने शिलालिन और कृशाश्व ('पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः' तथा 'कर्मन्दकृशाश्वादिनिः' ४.३.११०–१११) द्वारा रचित नटसूत्रों का उल्लेख किया है। इन सूत्रों की विषय-सामग्री की जानकारी के लिए कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। यदि वे सूत्र कहे जाने के अधिकारी थे, तो अवश्य ही उन में अभिनेता के कार्य-संबंधी आदेश और अभिनेताओं द्वारा दर्शकों की भावनाओं को प्रोत्साहन आदि विषयों का उल्लेख हुआ होगा। संक्षेप में कहा जा सकता है कि इन सूत्रों का संबंध रस-सिद्धान्त से है। वेदान्तसूत्रों में उपमा और रूपक नामक दो अलंकारों का उल्लेख आया है ('अतएव चोपमा सूर्यकादिवत्' ३.२.१८ तथा 'आनुमानिकमप्येकेषां शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च', १.४.१)। अश्वघोष-कृत 'बुद्धचरित' के रचनाकाल में काव्यशास्त्र का कोई सिद्धान्त प्रचलित था। (बुद्धचरित की रचना संभवतः प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी ई० सन् में हुई। इसकी रचना तृतीय शताब्दी के बाद की तो किसी प्रकार भी नहीं हो सकती क्योंकि लगभग ४१४–२१ ई० सन् में इसका अनुवाद चीनी भाषा में हुआ था।) प्रत्येक प्रकरण के अन्त में विभिन्न छन्दों में रचे गए श्लोक आते हैं। लेखक ने पुनरुक्ति का बहुत प्रयोग किया है (१.१४-१५; ५.२६)। उसने 'हरितुरगतुरंगवत्तुरंगः' (५.८७) आदि पुनरुक्ति का भी प्रयोग किया है। इसी प्रकार वे यथासंख्य के प्रेमी हैं (५.४२ और ९.१६)।

बुद्धचरित (२.५१) में रसान्तरम् शब्द प्रयुक्त है। अश्वघोष-रचित सौंदरानन्द नामक दूसरे महाकाव्य के विषय में भी यही कहा जा सकता है। १०:२ में अनुप्रास और १०.११ में यमक प्रयुक्त है—'चलत्कदम्बे हिमवन्नितम्बे तरौ प्रलंबे चकरो ललंबे।' नाट्यशास्त्र १७.८४ (हली, वली, लली इत्यादि) से तुलना कीजिए। यही श्लोक के० एम० संस्करण (१६.८५) और जी० ओ० एस० सं० (भाग २, अध्याय १६. ८४, पृ० ३३०) में आया है। प्रो० ल्यूडर्स ने १९११ में अश्वघोष के सारिपुत्रप्रकरण नामक नाटक को प्रकाशित किया। इस नाटक में नौ अंक हैं। इससे सिद्ध होता है कि जिस समय भास और कालिदास आदि के नाटक साहित्य-क्षेत्र में आये उस समय संभवतः नाटच-शास्त्र के आधारभूत प्राचीन नाठक लुप्तप्राय अथवा विस्मृत हो चुके थे। सभा-पर्व ११.३६ में नाटक के विषय में इस प्रकार कहा गया है—'नाटका विविधा काव्याः कथाख्यायिककारिकाः'। अश्वघोष ने हाव और भाव इन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है (भावज्ञानेन हावेन चातुर्याद्रूपसंपदा—बुद्धचरित ४.१२)। हाव और भाव के लिए दे० नाट्चशास्त्र २४. ८–१०)। नाट्यशास्त्र (जी० ओ० एस० सं०, भाग ३, अध्याय २२ .६–८) में निम्न श्लोक आया है : देहात्मकं भवेत्सत्त्वं सत्त्वाद्भावः समुत्थितः। भावात्समुत्थितो हावो हावाद्धेला समुत्थिता ॥ वागङ्गमुखरागैश्च सत्त्वेनाभिनयेन च। कवेरन्तर्गतं भावं भावयन्भाव उच्यते ॥ यह ऊपर सिद्ध किया जा चुका है (पृ० ४७) कि नाट्यशास्त्र ३०० ई० सन् के बाद की रचना नहीं है। इसमें रस-सिद्धान्त का, नाट्यशास्त्र का, चार अलंकारों और गुणों का पूर्ण विवेचन हुआ है। कालिदास अनुप्रास के प्रेमी हैं और उन्होंने रघुवंश (९) में यमक का प्रयोग किया है। भारवि (जिनका एहोल शिलालेख में उल्लेख आया है) की तिथि ५८० से ५९० ई० सन् के उपरान्त की नहीं हो सकती। किरातार्जुनीय[1] के १५वें सर्ग में गोसूत्रिका (श्लोक० १२), सर्वतोभद्र (२५), एकाक्षर (१४ जिसमें केवल एकमात्र व्यंजन न् आता है)आदि चित्रबंध के उदाहरण आते हैं। विभिन्न प्रकार के यमक भी आते हैं (श्लोक ३५, ३७, ५२)। एक ऐसा भी श्लोक है जिसके तीन अर्थ निकलते हैं (४५)। सुबन्धु ने अपनी वासवदत्ता नामक रचना में काव्यशास्त्र के विषयों

1. किरातार्जुनीय के १५वें सर्ग के ५वें श्लोक में एकाक्षरपाद आता है। १४वें श्लोक के सभी पदों में एकाक्षर है। सर्वतोभद्र और विभिन्न प्रकार के यमक भी आते हैं। श्लोक ४५ के तीन अर्थ हैं। यह ऊपर (११९-२०) स्पष्ट किया जा चुका है कि भारवि लगभग ५८०–५९० ई० सन् में रहे होंगे।

की ओर संकेत किया है। सुबंधु ने प्रत्येक अक्षर में अपने श्लेष-प्रयोग के चातुर्य की प्रशंसा की है (प्रत्यक्षर-–श्लेषमयप्रबन्धविन्यास वैदग्ध्य-निधिर्निबन्धम्)। इन्होंने वक्रोक्ति, काव्य की आत्मा, का उल्लेख किया है। इन्होंने एक ऐसे निपुण कवि की रचना का उल्लेख किया है जिसमें तु, हि आदि पूरक शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ है। यह रचना दीर्घ प्रकरणों में विभाजित है और इसमें वक्त्र छन्द का प्रयोग हुआ है ('अग्रहेणापि काव्यजीवज्ञेन' पृ. ११३-११४ हाल संस्करण, 'सत्कविकाव्यबंधइवानववद्धतुहिनिपातः' पृ. १३४, 'दीर्घोच्छ्वासरचनाकुलं सुश्लेषवक्त्रघटनापटु सत्कविवचनमिव' पृ. १८४)। इन्होंने शृंखलाबन्ध, उत्प्रेक्षा और आक्षेप (पृ. १३६) का उल्लेख किया है। पृ. ४१ पर 'यस्य समरभुवि भुजदण्डेन कोदण्डं कोदण्डेन शरा...आसादितम्' मालादीपक मिलता है और पृ. ५३ तथा पृ. २०३-२१४ पर यमक आया है। प्रस्तुत लेखक-लिखित हर्षचरित्र की भूमिका (पृ. ११-१२, १९१८ ई. सन्) के अनुसार संभवतः सुबन्धु बाण का पूर्ववर्ती है। लेखक अब भी अपने मत पर दृढ़ है। पी. ओ. भाग ११, पृ. २९ से आगे यह सिद्ध किया गया है कि जिनभद्र ने विशेषावश्यक भाष्य में वासवदत्ता और तरंगवती का उल्लेख किया है तथा एक प्राचीन हस्तलिपि के अनुसार जिनभद्र की रचना शीलादित्य के शासनकाल में शक ५३१ (६०९ ई. सन्) में वल्लभी नामक स्थान पर पूर्ण हुई। संभवतः जिनभद्र का संकेत सुबन्धु-लिखित वासवदत्ता से है। यदि ऐसा है तो सुबन्धु की तिथि छठी शताब्दी ई. सन् के अंतिम चतुर्थांश के उपरान्त की नहीं हो सकती। बाण ने अक्षरच्युतक, मात्राच्युतक, बिन्दुमती-प्रहेलिका आदि पहेलियों का उल्लेख किया है। इन्हें कथा और आख्यायिका के परस्पर भेद की जानकारी थी ('उच्छ्वासान्तेप्यखिन्नास्ते येषां वक्त्रे सरस्वती। कथमाख्यायिकाकारा'... हर्षचरित-भूमिका, श्लोक १०)[1] इन्होंने श्लेष, उत्प्रेक्षा, उपमा,

1. दे. ऊपर पृ. १०७—बाण के मत में कादम्बरी-कथा और हर्षचरित-आख्यायिका है। डॉ. डे. का यह मत आश्चर्यजनक है (एच. एस. पी. भाग १, पृ० ६७) कि बाण ने हर्षचरित को कथा और कादम्बरी को आख्यायिका माना है। लेखन की विस्मृति से अथवा डॉ. डे द्वारा कादम्बरी के अंतिम प्रस्तावनात्मक श्लोक 'द्विजेन ... धिया निबद्धेयमतिद्वयी कथा' तथा बाण के पुत्र के 'याते दिवं पितरि तद्वचसैव सार्धं, विच्छेदमाप भुवि यस्तु कथाप्रबन्धः' (श्लोक ६) 'क्षिप्ता कथानुघटनाय मयापि वाणी' आदि की ओर ध्यान न देने से यह भूल हो गई है। हर्षचरित का १९वाँ प्रस्तावनात्मक श्लोक है 'तथापि नृप-

दीपक, जाति ('हरन्ति कं नोज्ज्वलदीपकोपमैः' इत्यादि कादम्बरी में और 'श्लेष-प्रायमुदीच्येषु...उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षरडम्बरः' हर्षचरित में) आदि अलंकारों का उल्लेख किया है । इन्होंने राजा को काव्यरूप अमृतरस का झरना कहकर उसकी स्तुति की है ('आगमः काव्यामृतरसानाम्', कादम्बरी, प्रथम गद्यांश)। अतः ६०० ई. सन् तक अनेक अलंकारों की परिभाषाएं निश्चित हो चुकी थीं और कवियों के मार्गदर्शन के लिए नियम बनाये जा चुके थे और कथा, आख्या-यिका आदि काव्यरूपों का स्वतंत्र स्वरूप निर्धारित किया जा चुका था । बाण के समय तक (अथवा कुछ उपरान्त तक) रचे गये काव्यशास्त्र-संबंधी अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं (उदाहरणार्थ दण्डी और भामह की रचनाएं) ।

४. शास्त्र का नामकरण

भामह, वामन, रुद्रट आदि के काव्यशास्त्र-संबन्धी ग्रन्थ सामान्यतः काव्या-लंकार नाम से प्रसिद्ध हैं । यह नाम संभवतः इन ग्रन्थों में अलंकारों के महत्त्व को ध्यान में रखकर दिया गया है ('प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस उक्ति का अनुसरण किया गया है)। वामन ने काव्यालंकारसूत्र में कहा है कि अलंकार शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है—(१) सुन्दर वस्तु के रूप में और (२) अलंकार के रूप में (अलंक्रियते अनेन) इनके मत में काव्यशास्त्र-संबंधी ग्रन्थ को काव्यालंकार इसलिये कहते हैं कि इसमें काव्यगत सौन्दर्य का निर्देश और आख्यान किया जाता है । इससे हम काव्य को ग्राह्य और श्रेष्ठ मानते हैं (काव्यं ग्राह्यमलंकारात् । सौन्दर्यमलंकारः—काव्या. सू., १. १. १-२) (वृत्ति—अलंकृतिरलंकारः । करणव्यु-त्पत्त्या पुनरलंकारशब्दोयमुपमादिषु वर्तते) । कामधेनु में कहा गया है— 'योऽयमलंकारः काव्यग्रहणहेतुत्वेन उपन्यस्यते तद्व्युत्पादकत्वाच्छास्त्रमपि अलंकार-नाम्ना व्यपदिश्यत इति शास्त्रस्यालंकारत्वेन प्रसिद्धिः प्रतिष्ठिता स्यादिति सूच-यितुमयं विन्यासः कृतः काव्यं ग्राह्यमलंकारादिति' । यह विवेचन शास्त्रीय है, क्योंकि जिन प्राचीन साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों को अलंकार नाम नहीं दिया गया उनमें भी अलंकारों की प्रधानता है : उदाहरणार्थ, दण्डी के काव्यादर्श के तीन-चतुर्थांश में शब्दालंकार-अर्थालंकारों की व्याख्या और उनका स्पष्टीकरण हुआ है । काव्यादर्श (१. २.) में कहा गया है—'यथासामर्थ्यमस्माभिः क्रियते काव्य-लक्षणम्' । ध्वन्यालोक (पृ. ११, १३) में काव्यशास्त्र के रचयिताओं को 'काव्य-

---

तेर्भक्त्या ··· करोम्याख्यायिकामम्भोधौ जिह्वाप्लवनचापलम्' इससे अधिक और स्पष्ट प्रमाण क्या चाहिए ?

लक्षणविधायिनः' कहा गया है। भामह ने शुरू (१. १ पर) में अपनी रचना को काव्यालंकार कहा है परन्तु अंत (६. ६४) में इन्होंने 'अवलोक्य मतानि सत्कवीनामवगम्य स्वधिया च काव्यलक्ष्म' इस प्रकार कहा है। ध्वन्यालोक (१. ३) में भी 'काव्यलक्ष्मविधायिभिः' का उल्लेख आया है (उपमा-आदि अलंकारों के व्याख्याताओं को भी इसी से निर्देश किया गया)। काव्यशास्त्र का दूसरा नाम साहित्य है। प्राचीन ग्रन्थों में इस शब्द का प्रयोग तीन विभिन्न किन्तु परस्पर मिलते हुए अर्थों में किया गया है। आधुनिक काल में इसका प्रयोग सामान्यतः काव्यशास्त्र के लिए किया जाता है। 'साहित्यसंगीतकलाविहीनः' नामक श्लोक में साहित्य शब्द काव्य के अर्थ में प्रयुक्त है। 'साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थं काव्यामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः' (बिल्हण, विक्रमांकदेवचरित, १. ११) इस श्लोक में साहित्य शब्द सामान्य साहित्य (वाङ्मय-मात्र) के अर्थ में आया है। काव्यरूपी अमृत का उद्गम साहित्यरूपी समुद्र से माना गया है (अर्थात् काव्य साहित्य का सार है)। प्रतीहारेन्दुराज ने अपने गुरु मुकुल की मीमांसा और शास्त्रों में निपुणता की प्रशंसा करते हुए उन्हें 'साहित्यश्रीमुरारेः' कहा है। यहाँ पर स्पष्टतः साहित्य शब्द साहित्यशास्त्र के लिए प्रयुक्त हुआ है (साहित्यश्रीमुरारेः से पूर्व आये हुए मीमांसा, व्याकरण और तर्क शब्द भी इसी अर्थ में आये हैं)। मुकुल ने अपनी प्रस्तुत कृति का 'पदवाक्यप्रमाणेषु तदेतत् प्रतिबिंबितम्, यो योजयति साहित्ये तस्य वाणी प्रसीदति' (अभिधावृत्ति०, पृ. २२) पर इस प्रकार कहा है: 'व्याकरणमीमांसातर्कसाहित्यात्मकेषु चतुर्षु शास्त्रेषूपयोगात्।' राजशेखर ने (काव्यमीमांसा, पृ. ४) कहा है: 'पंचमी साहित्यविद्येति यायावरीयः। सा हि चतसृणामपि विद्यानां निष्यन्दः।' मंखक ने कहा है 'विना न साहित्यविदाऽपरत्र गुणः कथंचित् प्रथते कवीनाम्।' (श्रीकण्ठचरित, २.१२) इन अवतरणों से स्पष्ट होता है कि नौ सौ ईस्वी सन् (राजशेखर के समय) से कुछ पूर्व साहित्य शब्द का प्रयोग काव्यमीमांसाशास्त्र के अर्थ में होता था। इससे और अधिक समय पूर्व यह अर्थ कब रूढ़ हुआ, बताना कठिन है। साहित्य शब्द 'सहित' से लिया गया है। जब काव्य का लक्षण 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' बताया गया तब काव्य की परिभाषा प्रस्तुत करने वाले काव्य-समीक्षाशास्त्र को साहित्य नाम दिया गया। राजशेखर ने साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है—'शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या' (काव्यमीमांसा, पृ. ५) इसी प्रकार व्यक्तिविवेकटीका (पृ. ३६) में 'न च काव्ये शास्त्रादिवदर्थप्रतीत्यर्थं शब्दमात्रं प्रयुज्यते सहितयोः शब्दार्थयोस्तत्र प्रयोगात्। साहित्यं तुल्यकक्षत्वेनान्यूनातिरिक्तत्वम्' इस प्रकार कहा गया है। भामह

ने 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' (१. १६) कहा है और वक्रोक्तिजीवित (१. ८ और १७ और पृ. २२७ पर उद्धृत) में भी यही कहा गया है। शिशुपालवध में 'शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते' (२. ८६) इस प्रकार उल्लेख आया है। वास्तविक काव्य की रचना के लिए साहित्य के शब्दार्थ में विशेष सौन्दर्य अपेक्षित है। इसका विवेचन वाद में किया जायेगा। अतः साहित्य शब्द का प्रयोग संभवतः ७वीं अथवा ८वीं शताब्दी ई. सन् के उपरान्त हुआ। जे. ओ. आर., मद्रास, भाग ९, पृ. १२८-१३४ के 'सम कन्सेप्ट्स आफ़ अलंकार-शास्त्र' (पृ. २६४-६७) नामक लेख में डॉ. राघवन ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है। इनके मत में दण्डी और भामह के समय से पूर्व संस्कृत काव्य-शास्त्र का नाम क्रियाकल्प था। इन्होंने वात्स्यायन के कामसूत्र में उल्लिखित ६४ कलाओं की सूची तथा रामायण, उत्तरकाण्ड के शब्दों (अध्याय ९४.७) 'क्रियाकल्पविदश्चैव तथा काव्यविदो जनान्' का आधार लिया है। इस बात का कोई निश्चित प्रमाण नहीं है कि रामायण का ९४वाँ अध्याय वास्तव में उसी का अंश है। परन्तु डॉ. राघवन ने विना किसी प्रमाण के ही यह मान लिया है कि यह रामायण का ही वास्तविक भाग है अथवा इस महाकाव्य का एक पुराना अंश है। उत्तरकाण्ड को रामायण का वास्तविक अंश मानने पर भी यह प्रमाणित नहीं होता कि शास्त्र को क्रियाकल्प कहते हैं। 'काव्यविद्' का अर्थ 'काव्यशास्त्र का ज्ञाता' हो सकता है। इसकी तुलना ऊपर उद्धृत 'साहित्यविद्या' से कीजिए। अतः क्रियाकल्प की व्याख्या किसी अन्य पद्धति से करनी होगी। उपर्युक्त प्रसंगानुसार क्रिया का अर्थ काव्यक्रिया हो सकता है और क्रियाकल्प का अर्थ काव्यरचनाप्रक्रिया हो सकता है, न कि काव्यशास्त्र का समग्र ग्रन्थ। कल्प शब्द का अर्थ इसके पारिभाषिक अर्थ 'श्रौत वलि' (जैसा कि कल्पसूत्र में आया है) के साथ ही साथ प्रक्रिया भी है। क्रिया का निजी अर्थ मृत्यु-संबंधी अथवा उसके बाद के संस्कारों से भी हो सकता है। उदाहरणार्थ विष्णुपुराण, ३. १३. ३४ (पूर्वाः क्रिया मध्यमाश्च तथा चैवोत्तराः क्रियाः)। क्रियापद्धति नामक बहुत से ग्रंथ हैं जिन में मृत्यु-संबंधी अथवा उसके उपरान्त के संस्कारों का आख्यान हुआ है (उदाहरणार्थ डी. सी. हस्तलिपि; १८७९-८० की संख्या ११८, १८८४-८७ की संख्या २०७, १८८०-८१ की संख्या १५६, १८८४-८६ की संख्या ९९)। यदि स्वयं क्रिया (प्रसंग को छोड़कर) का अर्थ काव्य (भामह और दंडी से पूर्व) है तो ऊपर उद्धृत समुद्रगुप्त-प्रशस्ति में 'काव्यक्रियाभिः' इस उल्लेख की तथा नाट्यशास्त्र (२२.२३) में 'मया काव्यक्रियाहेतोः प्रक्षिप्ता द्रुहिणाज्ञया' इस उल्लेख की क्या आवश्यकता थी? यह श्लोक के. एम.

संस्करण २०, २३ और जी. ओ. एस. संस्करण २०.२४ भाग ३, पृ. ९० पर आता है जहाँ पर अ. भा. की व्याख्या इस प्रकार है:—'काव्यस्य क्रिया काव्यरूपतापादनं तदेव हेतुः ततः'। कामसूत्र १. ३. १६ में ६४ कलाओं की गणना की गई है जिनका अभ्यास कन्याओं को गुप्त रूप से करना पड़ता था (अभ्यासप्रयोज्यांश्च चातुःषष्टिकान्योगान् कन्या रहस्येकाकिन्यभ्यसेत्—कामसूत्र १. ३. १४)। यही कलाएँ वेश्याओं को भी सीखनी पड़ती थीं (काम., १. ३. २०)। इस सूची में निम्न श्लोक आया है—'संपाठ्यं मानसी काव्यक्रिया, अभिधानकोषः, छन्दोज्ञानम्, क्रियाकल्पः, छलितकयोगाः।' यह भी उल्लेखनीय है कि कन्याओं और वेश्याओं को अपनी शिक्षा के लिए तथा योग्य वरों अथवा प्रेमियों को आकर्षित करने के लिए गीत, वाद्य, नृत्य, आलेख्य के साथ-साथ ऊपर लिखित कलाएँ भी सीखनी पड़ती थीं। संस्कृत ललितकलाशास्त्र के किसी भी गंभीर ग्रंथ में साहित्यशास्त्र को कला कहा गया है अथवा इसके कला कहे जाने की संभावना है—इसका मुझे ज्ञान नहीं। कामसूत्र का प्रयोजन तो केवल इसी से है कि कन्याओं के द्वारा काव्यरचना (संभवतः प्रेम-काव्य) किए जाने के लिए उनका मार्गदर्शन करना आवश्यक था। काव्यक्रिया शब्द वहुत निकटवर्ती होने के कारण कामसूत्र में केवल क्रियाकल्प शब्द का प्रयोग हुआ है न कि काव्यक्रियाकल्प का। कालिदास ने स्वयं एक अन्य स्थल पर क्रिया का प्रयोग संस्कार के अर्थ में किया है (कुतो धर्मक्रियाविघ्नः)। उन्होंने इस का प्रयोग 'ज्ञानप्राप्ति' के अर्थ में भी किया है। उदाहरणार्थ—'शिष्टा क्रिया कस्यचिद्' (मालविका० १)। सौन्दरानन्द १. ५५ में इस प्रकार लिखा है—'समाजैरुत्सवैर्दायैः क्रियाविधिभिरेव च। अलंचक्रुरलंवीर्यास्ते जगद्धाम तत्पुरम्॥' यहाँ यह मानना संभव नहीं कि नगर काव्यालंकारशास्त्रों से अलंकृत था। यहां क्रियाविधि का अर्थ धार्मिक संस्कारों के विधान से है। डॉ. राघवन ने ललितविस्तर पृ. १५६ (लेफमैन संस्करण) का आधार लिया है। यहां क्रियाकल्प शब्द आता है। परन्तु उनका मत सर्वथा असंगत है। ललितविस्तर के प्रकरण[1] (बी. आई. संस्करण) में ऐसी ९० वस्तुओं की गणना की गई है

---

1. ललितविस्तर पृ. १७८-१७९ 'लिपिमुद्रा—गणना .... अक्षक्रीडायां काव्यव्याकरणे ग्रन्थरचिते रूपे रूपकर्मणि .... वीणायां वाद्यनृत्ये गीतपठिते .... लास्ये नाट्ये .... निर्घण्टौ निगमे पुराणे इतिहासे वेदे व्याकरणे निरुक्ते शिक्षायां छन्दसि यज्ञकल्पे ज्योतिषि सांख्ये योगे क्रियाकल्पे वैशेषिके वैशिके अर्थविद्यायां बार्हस्पत्ये' इत्यादि।

जिन में बोधिसत्त्व ने निपुणता प्राप्त की। यदि प्रसंग ऐसा हो कि क्रियाकल्प शब्द वेदांग तथा कतिपय अन्य विद्याओं के बीच में आए तो इसका अर्थ केवल श्राद्धकल्प होगा, विशेषतः उस समय जब कि यज्ञकल्प शब्द इससे पूर्व आए। डॉ. राघवन ने स्वयं उल्लेख किया है कि काव्यादर्श (१. ९) में क्रियाविधि शब्द प्रयुक्त हुआ है। मनुष्यों की व्युत्पत्ति के विषय में दण्डी ने पूर्ववर्ती लेखकों के मतों का उल्लेख किया है, ऐसी स्थिति में डॉ. राघवन ने क्रियाविधि को शास्त्र का नाम क्यों नहीं दिया? स्थानाभाव के कारण मैं इस विषय का अधिक विस्तार नहीं कर सकता। डॉ. राघवन के अनुसार प्राचीन काल में शास्त्र के स्थान पर आये नये नाम को मैं स्वीकार नहीं करता। यह ध्यान देने की बात है कि भागवत-पुराण(१०. ४५. ३६) के पाँच बड़े टीकाकारों की रचनाओं में (६४ कलाओं की सूची के अन्तर्गत) क्रियाकल्प के स्थान पर क्रियाविकल्प पाठ आया है। अतः काव्यशास्त्र का प्राचीन नाम क्रियाकल्प है इस मत का आधार दृढ़ नहीं है क्योंकि मूलतः क्रियाकल्प पाठ ही संदिग्ध है। श्रीधर ने स्पष्ट कहा है कि उसकी गणना का आधार शैवतन्त्र है न कि कामसूत्र। कलाओं का उल्लेख प्राचीन काल से ही अनेक रूपों में आया है। स्वयं कामसूत्र (१. ३. १७) में उल्लेख आया है कि पांचाल (बाभ्रव्य) ने ६४ कलाओं की एक अन्य सूची प्रस्तुत की है—'पांचालिकी च चतुःषष्टिरपरा। तस्याः प्रयोगाननन्ववेत्य सांप्रयोगिके वक्ष्यामः'॥ (कामसूत्र, १. ३. १७-१८) यहाँ कला का अर्थ भिन्न है, इसका तात्पर्य संभोग की विभिन्न स्थितियों से है। कामसूत्र के दूसरे अधिकरण का नाम सांप्रयोगिक है। दे० 'तदान्ध्रीषु प्रायेणेति संवेशनप्रकारा बाभ्रवीयाः।' (२. ६. २१) कामसूत्र (१. १. १०) के सातवें अधिकरण में पांचाल बाभ्रव्य की एक रचना का उल्लेख आया है। कलाओं की विभिन्न सूचियों के लिए दे० आई. एच. क्यू., भाग ८, पृ. ५४२-४८ (प्रो. चिन्ताहरण चक्रवर्ती), आई. एच. क्यू., भाग ५, पृ. ८८ से आगे (डॉ. आचार्य), जे. आर. ए. एस. १९१४ पृ. ३५५ तथा क्षेमेन्द्र-लिखित कलाविलास, जिसके चौथे और दसवें प्रकरणों में दो विभिन्न सूचियाँ दी गई हैं। नाट्यशास्त्र के अनुमानानुसार कलाओं की संख्या ६४ है (३४. ४४, ३५. ६०)। वासवदत्ता (पृ. १४०, हाल-संस्करण) में भी ६४ कलाओं का ही उल्लेख है।

५. अलंकारशास्त्र के विषय

अगला प्रश्न है कि काव्यशास्त्र की परिधि में किन-किन विषयों का समावेश हो सकता है? प्रथम भाग में साहित्यशास्त्र के ग्रन्थ और ग्रन्थकारों का वर्णन

करते समय प्रत्येक ग्रन्थ के विषयों का थोड़ा-बहुत निरूपण हो चुका है। इस स्थल पर सभी विषयों को एकत्र करके उनका संक्षेप में पारस्परिक संबन्ध दिखाया जाएगा। काव्यशास्त्र का प्रथम विषय है काव्य-प्रयोजन तथा काव्य का उद्देश्य। काव्य-निर्माण के लिए कवि में कौन-कौन से विशिष्ट गुण होने चाहिए (अर्थात् काव्य-हेतु का विवेचन) इस पर भी विचार करना आवश्यक है। काव्य की परिभाषा का उल्लेख किया जा चुका है। काव्य-परिभाषा के समय सामान्यतः शब्द और अर्थ का उल्लेख किया जाता है तथा यह भी बताया जाता है कि काव्य की आत्मा अथवा इसके सार का आधार क्या है? (जिससे काव्य में काव्यत्व आता है) काव्य की आत्मा क्या है? इस विषय में सर्वाधिक मत-भिन्नता है। क्योंकि शब्द और अर्थ काव्य के लिए आवश्यक हैं इसलिए शब्द की विभिन्न शक्तियों तथा शब्दार्थ के संबन्ध का विस्तार से विवेचन आवश्यक है। इसी से शब्द की अभिधा, लक्षणा और व्यंजना-वृत्तियों, उनके उपभेदों, वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य अर्थ के इन तीन भेदों का निरूपण आवश्यक हो जाता है। समालोचक को विभिन्न दृष्टियों से काव्य के अनेक भेदों का निरूपण करना पड़ता है। उदाहरणार्थ काव्य के बाह्य रूप की दृष्टि से गद्य, पद्य और मिश्र तीन भेद होते हैं। काव्य में आवश्यक गुणों की प्रधानता तथा गौणता की दृष्टि से काव्य के उत्तम, मध्यम और अधम तीन भेद हो जाते हैं। एक अन्य दृष्टि से काव्य दृश्य और श्रव्य दो प्रकार का होगा। भाषा की दृष्टि से संस्कृत, प्राकृत आदि भेद होंगे। काव्य के दृश्य और श्रव्य भेद होते ही नाट्यशास्त्र का विशाल क्षेत्र-विस्तार हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। काव्य में कतिपय गुण आवश्यक हैं। इनकी संख्या के विषय में (३, १०, २४ इत्यादि) बहुत मत-भिन्नता है। गुणों से विभिन्न भाषाशैलियों का संबन्ध होने के कारण रीतियों का विवेचन आवश्यक हो जाता है। काव्य दोषरहित होना चाहिए अतः पद, वाक्य, अर्थ, रस आदि से संबद्ध दोषों का विवेचन आवश्यक है। अंत में काव्य-संबन्धी अलंकारों (जैसे शब्दालंकारों, अर्थालंकारों अथवा दोनों) का विवेचन होता है। कतिपय काव्यशास्त्र के ग्रन्थ इससे भी आगे बढ़ गये हैं और उन में कवियों के लिए व्यावहारिक नियमों (जैसे कविसमय आदि) तथा विभिन्न विषयों का ज्ञान (जैसे भूगोल, वृक्षादि वस्तुवर्णन) कराया जाता है।

साहित्यशास्त्र में अन्तर्भूत होने वाले उपर्युक्त विभिन्न विषयों का प्रत्येक ग्रन्थ में अन्तर्भाव होता है यह नहीं समझना चाहिए। काव्यशास्त्र-संबन्धी ग्रन्थों के विभिन्न वर्ग बनते हैं: (१) साहित्यदर्पण, प्रतापरुद्रयशोभूषण आदि ग्रन्थों में नाट्यशास्त्र-सहित काव्यशास्त्र के सभी विषयों का समावेश हो गया है।

(२) नाट्यशास्त्र को छोड़कर शेष उपर्युक्त विषयों का विवेचन अनेक प्रसिद्ध ग्रन्थों में आ गया है। इस वर्ग में दण्डी के काव्यादर्श, भामह, रुद्रट और वाग्भट के काव्यालंकार, वामन के काव्यालंकारसूत्र, मम्मट के काव्यप्रकाश, पंडितराज जगन्नाथ के रसगंगाधर आदि का समावेश होता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में स्थानाभाव के कारण नाट्यशास्त्र-संवन्धी सभी ग्रन्थों का पूर्ण विवरण नहीं आ सका है, केवल रस-सिद्धान्त से संबद्ध कतिपय ग्रन्थों का ही उल्लेख किया गया है। (३) नाट्यशास्त्र, दशरूपक इत्यादि कतिपय ग्रन्थों में केवल नाट्यशास्त्र और रससिद्धान्त का ही विवेचन हुआ है। (४) बहुत-से ग्रन्थ केवल अलंकारों से ही संबद्ध हैं; उदाहरणार्थ अलंकारसारसंग्रह, अलंकारसर्वस्व, कुवलयानन्द, चित्रमीमांसा आदि। (५) कतिपय ग्रन्थों में साहित्यशास्त्र के एक विशिष्ट सिद्धान्त का ही प्रतिपादन हुआ है; उदाहरणार्थ ध्वनि-सिद्धान्त विषयक ध्वन्यालोक, वक्रोक्तिजीवित, व्यक्तिविवेक आदि। (६) कतिपय ग्रन्थों में अभिधा आदि शब्दशक्तियों का ही विवेचन है; उदाहरणार्थ अभिधावृत्तिमातृका, वृत्तिवार्त्तिक, शब्दव्यापारविचार आदि। (७) कतिपय में नाट्यशास्त्र को छोड़कर केवल रस-सिद्धान्त का ही विवेचन हुआ है; जैसे शृंगारतिलक, रसतरंगिणी आदि। (८) कतिपय में केवल विशिष्ट विषयों का ही निरूपण है; उदाहरणार्थ, रसमंजरी में नायक और नायिका के भेदोपभेदों और तत्सम्वद्ध वातों का विवेचन है। यशस्तिलक भाग १. पृ. ४७९ (तीसरा आश्वास, श्लोक २७४, निर्णयसागर-संस्करण) पर यह श्लोक आया है: 'त्रिमूलकं द्विधोत्थानं पंचशाखं चतुश्छदम्। योऽगं वेत्ति नवच्छायं दशभूमिं स काव्यकृत्॥' त्रिमूलकं-लोकोवेदोध्यात्मं (व्यक्तिविवेक, पृ. ७ और ३५, टिप्पणी २ से तुलना कीजिए), द्विधोत्थानं का संकेत शब्दार्थों से है, पंचशाखं का निर्देश परुषा, उपनागरिका, ग्राम्या आदि पाँचों वृत्तियों से है। चतुश्छदं का संकेत चार वृत्तियों से है। अगंवृक्षं; नवच्छायं=नवरसपूर्णं; दशभूमिं=दशगुणकम्।

ध्वन्यालोक (पृ. २७८) के एक श्लोक के अनुसार सत्कवि स्वेच्छा से चेतन को अचेतन और अचेतन को चेतन रूप में काव्य में प्रस्तुत कर सकता है (भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत्। व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतंत्रतया॥)।

अग्निपुराण में एक बहुत महत्त्वपूर्ण उक्ति कही गई है जिसके अनुसार कवि विरल होते हैं और उनमें भी 'शक्ति' (कल्पनापूर्ण) युक्त कवि वहुत कम होते हैं (नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा। कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा॥ अग्निपुराण, अ. ३३७. ३-४)।

६. काव्यप्रयोजन

काव्य एक कला है। इसका प्रत्यक्ष प्रयोजन और उद्देश्य सौन्दर्यानन्द प्रदान करना है। संस्कृत के आचार्यों ने आरंभ से ही इस प्रयोजन को स्वीकार किया है। नाट्यशास्त्र के अनुसार भरत ने नाट्यकला का प्रचार सब लोगों को आनंद प्रदान करने के साधन-रूप में किया है। 'क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत्' और 'वेदविद्येतिहासानामाख्यानपरिकल्पनम् । विनोदजननं लोके नाट्यमेतद्-भविष्यति ॥' नाट्य. १. ११ और ११६-७ (के. एम. सं. १-११, १२० और जी. ओ. एस. भाग १. पृ. ९ और ४५, अ. १. ११ और १२३); 'तथापि प्रीतिरेव प्रधानं.... प्राधान्येनानन्द एवोक्तः' (लोचन पृ. १४) और 'प्रीत्यात्मा च रसस्तदेव नाट्यं नाट्य एव च वेद इत्यस्मदुपाध्यायः' (लोचन पृ. ११४); 'सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्या-न्तरमानन्दं' (काव्यप्र. १)। काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में इसके अतिरिक्त भी अनेक काव्यप्रयोजनों का निरूपण किया गया है। इनमें से कतिपय का संवन्ध प्रत्यक्ष कवि से है तो कतिपय का पाठक से। पाठक से संवद्ध प्रयोजन हैं—(१) आनंद, शान्ति, (२) धर्म, नीति और अध्यात्मशास्त्र का ज्ञान प्राप्त होना, (३) कला और व्यवहार-ज्ञान में कुशलता। कवि के लिए काव्य यश और धन भी प्रदान करता है। नाट्यशास्त्र के अनुसार दुःखी और चिन्ताग्रस्त व्यक्तियों के मन को नाट्य विश्राम और शान्ति प्रदान करता है। 'दुःखार्त्तानां श्रमार्त्तानां शोकार्त्तानां तपस्विनाम्। विश्रामजननं लोके नाट्यमेतद् भवि-ष्यति ॥' (१. १११-१२) भामह के मत में 'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च। प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्यनिवन्धनम् ॥' १. २; सर. क. १. २. 'निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम् । रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति'; वामन के अनुसार 'काव्यं सद्दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्ति-हेतुत्वात्' १. १. ५. 'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये। सद्यः परनिर्वृतये कांन्तासंमिततयोपदेशयुजे ॥' (काव्यप्र. १.) प्रस्तुत श्लोक में छः काव्य-प्रयोजनों का उल्लेख है: यश, धन, व्यवहारज्ञान, पापनाश, पर-मानंद की प्राप्ति और कान्ता-सदृश मधुर उपदेश। दशरूपक (१. ६) में पुरुषार्थ-ज्ञान अथवा व्युत्पत्ति को काव्य का प्रयोजन मानने वाले भामह तथा अन्य व्यक्तियों का उपहास किया गया है। इसी प्रकार भामह के मत में (५. ३, पृ. ७६ पर उद्धृत) काव्य मधु के सदृश होता है जिससे कटु औषधि ग्रहण करने की प्रेरणा भी मिलती है। यह मत पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र के सिद्धान्तों

से मिलता-जुलता है। जैसा कि प्रो. ई. एफ. केरिर ने अपने ग्रन्थ 'थिअरि आफ़ व्यूटी' (पृ. ४३, सं. ५वाँ, १९४९) में कविता की व्याख्या करते हुए कहा है कि 'काव्य से कटु आस्वाद भी मधुर वन जाता है।'

'रामादिवद्वर्तितव्यम्०' इत्यादि वचनों में मम्मट ने काव्य के जीवन पर पड़ने वाले प्रभावों की ओर संकेत किया है। हेमचन्द्र (पृ. २) के मत में इन में से तीन ही प्रयोजन ग्राह्य हैं: 'काव्यमानन्दाय यशसे कान्तातुल्यतयोपदेशाय च' और अन्य प्रयोजनों की उपलब्धि तो अन्य साधनों से भी हो सकती है; (दे० रुद्रट १. ४. ८-१३, २१ और १२. १ 'ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे। लघु मृदु च नीरसेभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः') । काव्य का प्रयोजन धर्म, नीति, दर्शन आदि का प्रत्यक्ष उपदेश करना नहीं वरन् अप्रत्यक्ष रूप से ही उनका संकेत देना है। जैसा कि मम्मट ने कहा है 'कान्तेवसरसतापादनेनाभिमुखीकृत्य रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवदित्युपदेशं. . . करोतीति' (दे० साहित्यदर्पण, पृ. ४ पर मेरा विवेचन) । काव्यशास्त्र-संवन्धी अधिकांश ग्रन्थों में इन्हीं विचारों की प्रतिध्वनि मिलती है। उज्ज्वलनीलमणि पृ. ५५-५६ में उद्धृत भागवत १० का निम्न श्लोक देखिए: 'वर्तितव्यं शमिच्छद्भिर्भक्तवन्न तु कृष्णवत्। इत्येवं भक्तिशास्त्राणां तात्पर्यस्य विनिर्णयः। रामादिवद्वर्तितव्यं न क्वचिद्रावणादिवत्।' भामह, वामन और सर. क० द्वारा प्रयोजन के अन्तर्गत प्रयुक्त प्रीति शब्द की व्याख्या कवि के साथ भी की जा सकती है। कलात्मक काव्यसृजन में कवि को अनुपम आनंद की अनुभूति होती है। मम्मट के 'सद्यः परनिर्वृतये' शब्द (परम आनंद की अनुभूति) अधिक उपयुक्त हैं। अश्वघोष जैसे आरंभिक लेखक ने भी कहा है कि मोक्ष से असंवद्ध विषय को काव्यधर्म का पालन करने के लिए अपनाया है क्योंकि कटु औषधि भी मधुयुक्त होने से आस्वाद्य वनती है (यन्मोक्षात्कृतमन्यदत्रहि मया तत्काव्यधर्मात्कृतं, पातुं तिक्तमिवौषधं मधुयुतं हृद्यं कथं स्यादिति'। सौन्दरानंद १८. ६३) ।

७. काव्य-हेतु

अधिकांश साहित्यशास्त्र के ग्रन्थकारों ने प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास इन तीनों को काव्योत्पत्ति के लिए आवश्यक माना है। 'नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च वहुनिर्मलम्। अमन्दश्चाभियोगोस्याः कारणं काव्यसंपदः'॥ (काव्यादर्श १, १०३); 'काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः. . . .शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनाम्॥ विलोक्यान्यनिबंधांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः॥' (भामह १. ५. और १०); 'त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः' (रुद्रट १. १४); 'शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्। काव्यज्ञ-

शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥' (काव्यप्र. १. ८) दे० एकावली १. १२; वाग्भटालंकार १. ३; और अलंकारशेखर पृ. ४ भी। कतिपय अन्य ग्रन्थकारों के मत में प्रतिभा ही श्रेष्ठ कवि का एकमात्र गुण है। राजशेखर ने कहा है: 'सा (शक्तिः) केवलं काव्ये हेतुरिति यायावरीयः' (६. ११); 'प्रतिभैव च कवीनां काव्यकरणकारणम्। व्युत्पत्त्यभ्यासौ तस्या एव संस्कारकारकौ न तु काव्यहेतू।' (वाग्भट का अलंकारतिलक, पृ. २)। 'तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा' (रसगंगाधर, पृ. ८)। प्रतिभा ऐसी शक्ति है जिससे कवि को काव्य-विषय रमणीयता से परिपूर्ण दिखायी देता है और वह अपने पाठकों के लिए उपयुक्त भाषा में अनुभूत सौन्दर्य का प्रत्यक्ष चित्र प्रस्तुत कर देता है। इस शक्ति से वह पाठकों के हृदय में सुप्त अनुभूतियों को पुनः जागृत करता है। साथ ही सामान्य मनुष्य द्वारा पहले कभी भी अनुभव न किये हुए तथा नित्य-नवीन प्रतीत होने वाले रमणीय प्रसंगों और वस्तुओं को वह पाठकों के समक्ष चित्रवत् प्रस्तुत कर देता है। कवि एक प्रकार का सिद्धपुरुष और भविष्यद्रष्टा होता है। वह अपनी अद्भुत दृष्टि से अदृष्टपूर्व और रमणीय वस्तुओं को तो देखता ही है, साथ ही निजी अनुभूत रमणीय वस्तुओं को भाषा के माध्यम से वर्णन करके अन्य सामान्य लोगों के लिए भी ग्राह्य बना देता है। प्रतिभा की निम्न परिभाषाओं से यह बात स्पष्ट हो जाएगी—'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता.... वर्णनानिपुणः कविः' (भट्टतौत, काव्यकौतुक, दे० ऊपर पृ. २१); 'प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा तस्या विशेषो रसावेशवैशद्य-सौन्दर्यकाव्यनिर्माणक्षमत्वं' और 'शक्तिः प्रतिभानं वर्णनीयवस्तुविषयनूतनोल्लेखशालित्वम्' (लोचन, पृ. ३४ और १६४); 'अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः। यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते।' (ध्व., पृ. २७८); 'प्रसन्नपदनव्यार्थयुक्त्युद्बोधविधायिनी। स्फुरन्ती सत्कवेर्बुद्धिः प्रतिभा सर्व-तोमुखी ॥' (वाग्भटालंकार १. ४)। वामन ने लिखा है: 'कवित्वबीजं प्रति-भानम्' (१. ३. १६ की वृत्ति), रुद्रट (१. १५-१६) ने भी ऐसा ही लिखा है। ध्वन्यालोक (पृ. २९६) का यह प्राकृत श्लोक भी द्रष्टव्य है: 'अतहट्टिए[1] वि तहसंठिए व्व हिअअम्मि जा णिवेसेइ। अत्थविसेसे सा जअइ विकडकवि गोअरा वाणी ॥' राजशेखर (पृ. ११) और भट्टतौत (ऊपर २२१ पृ.) ने

---

1. (छाया) अतथास्थितानपि तथासंस्थितानिव हृदये या निवेशयति। अर्थविशेषान्सा जयति विकटकविगोचरा वाणी ॥ इसका तात्पर्य है—वाणी-प्रसादादेव कविगोचरो वर्णनीयार्थो विकटो निःसीमा संपद्यते।

कवि की प्रतिभा की द्विविध शक्तियों का वर्णन किया है। एक से वह सौन्दर्य-युक्त वस्तुओं का साक्षात्कार करता है और दूसरी से निजी सौन्दर्यानुभूति को पाठकों के लिए उपयुक्त भाषा द्वारा ग्राह्य बना देता है। सामान्यतः अधिकांश श्रेष्ठ संस्कृत-कवियों ने प्रत्यक्ष रूप में नीति को अपने ग्रन्थों का लक्ष्य मानने का प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने नाटकों को सुखान्त बनाया और अंत में नीति का प्रत्यक्ष उपदेश देने की अपेक्षा काव्य में विचार तथा आनंदमय वातावरण प्रस्तुत किया। उनका प्रमुख मनोभाव आनंद ही रहा। इसकी अभिव्यक्ति उन्होंने स्त्री-पुरुषों के पारस्परिक सामान्य संबन्धों, आवेगों, अनुरक्तियों, पक्ष-पात आदि के माध्यम से की है। स्थानाभाव के कारण मैं प्रतिभा[1] के स्वरूप पर यहाँ गहन विचार प्रस्तुत नहीं कर सकता। प्रतिभा उस बौद्धिक शक्ति का नाम है जिससे नये-नये विचारों का उन्मेष होता है और जिसके द्वारा वर्ण्य वस्तु का नवीन चित्रीकरण होता है।

प्रतिभा (या प्रतिभान) या शक्ति की व्याख्या के लिए प्रज्ञा शब्द का प्रयोग किया जाता है। स्मृति, मति और प्रज्ञा का पारस्परिक अंतर इस प्रकार बताया गया है: 'त्रिधा च सा (बुद्धिः) स्मृतिः मतिः प्रज्ञेति। अतिक्रान्तस्यार्थस्य स्मर्त्री स्मृतिः वर्तमानस्य मन्त्री मतिः अनागतस्य प्रज्ञात्री प्रज्ञा सा त्रिप्रकारापि कवीनामुपकर्त्री' (काव्यमी., पृ. १०)। संप्रदायप्रकाशिनी (काव्यप्रकाश की टीका, त्रिवेन्द्रम-संस्करण) में निम्न श्लोक आया है: 'स्मृतिर्व्यतीतविषया मतिरागामिगोचरा। बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञेया प्रज्ञा त्रैकालिकी मता।' (पृ. १३) रुद्रट (१. १६) ने प्रतिभा के सहजा और उत्पाद्या भेद किये हैं तो हेमचन्द्र

---

1. सामान्यतः प्रतिभा का अनुवाद 'कल्पना' के रूप में किया जाता है। प्रतिभा को 'आंतरिक सृजनात्मक शक्ति' मानना अधिक उपयुक्त है। आई. ए. रिचर्ड्स ने कोलरिज के निम्न शब्दों को आधार मानकर कल्पना की परिभाषा (पृ. २४२) की है—'कल्पना एक अद्भुत और संश्लेषणात्मक शक्ति है जो विरोधी अथवा विषम गुणों के संतुलन अथवा समन्वय में व्यक्त होती है। यह पुरानी चिरपरिचित वस्तुओं में नित्य नवीनता का आभास देती है। जिसके द्वारा मनोभावों की स्थिति में तथा उसकी अभिव्यक्ति-प्रक्रिया में असाधा-रणता आ जाती है। आई. ए. रिचर्ड्स (प्रिंसिपल्स आफ़ लिटरेरि क्रिटिसिज़्म, १९२५ सं., पृ. २३९-४३, अध्याय XXXII) के अनुसार इस शब्द के छः अर्थ हैं। कालरिज ने 'इमेजिनेशन' (कल्पना) और 'फेन्सी' में अंतर दिखाया है जब कि दूसरे यह अन्तर नहीं करते।

ने (काव्यानु०, पृ. ४-५) उत्पाद्या और औपाधिकी (अर्थात्, बाह्य कारणों-मन्त्र-शक्ति या ईश्वरीय कृपा से प्राप्त) किये हैं। दंडी आदि प्राचीन ग्रंथकारों के अनुसार कविगत प्रतिभा नैसर्गिक है (नैसर्गिकी च प्रतिभा, पृ. ३४८ पर उद्धृत)। रुद्रट (१. १६), हेमचन्द्र (पृ. ४) तथा अन्य ग्रन्थकारों के अनुसार व्युत्पत्ति और अभ्यास द्वारा प्रतिभा उज्ज्वल और चमत्कृत होती है। ध्वन्यालोक (पृ. १६९) से स्पष्ट होता है कि यदि कवि के पास शक्ति अथवा प्रतिभा है तो व्युत्पत्ति के अभाव से उत्पन्न दोषों को वह छिपा सकता है। यदि कवि के पास प्रतिभा का अभाव है और केवल व्युत्पत्ति है तो उसकी रचना के दोष सहसा व्यक्त होंगे ('अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संह्रियते कवेः। यस्त्वशक्तिकृतो दोषः सः झटित्यवभासते।' ध्वन्या. पृ. १६९)। महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि मनुष्य प्रतिभावान् कैसे बनता है? ऐसा विदित होता है कि आदि-लेखकों के मत में प्रतिभा का जन्म उन संस्कारों से होता है जो जन्म-जन्मान्तर से मनुष्य की आत्मा पर पड़ते हैं। (उदाहरणार्थ, काव्यादर्श १- १०४ 'न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना'; काव्यमीमांसा १. पृ. १२ 'जन्मान्तर संस्कारापेक्षिणी सहजा'; वामनवृत्ति १. ३. १६ 'कवित्वबीजं जन्मान्तरसंस्कारगतविशेषः कश्चित्; अ. भा. भाग १, पृ. ३४६ 'कवेः वर्णनानिपुणस्य यः अन्तर्गतोऽनादिप्राक्तनसंस्कारप्रतिभानमय': इत्यादि)। रसगंगाधर (पृ. ८-९) में इस सिद्धान्त को नहीं माना गया कि प्रतिभा का जन्म सर्वथा अदृष्ट से ही होता है। काव्यमीमांसा में प्रतिभा के,·कारयित्री और भावयित्री, दो भेद किये गये हैं (काव्यमीमांसा, पृ. १२-१४): पृथगेव हि कवित्वाद्भावकत्वं, भावकत्वाच्च कवित्वम् स्वरूपभेदाद् विषयभेदाच्च (काव्यमीमांसा, पृ. १४)। काव्यमीमांसा (पृ. ११) में शक्ति और व्युत्पत्ति का भेद किया गया है और शक्ति को काव्य का एकमात्र हेतु माना गया है। 'शक्तिकृते प्रतिभा व्युत्पत्तिकर्मणी। शक्तस्य प्रतिभाति शक्तश्च व्युत्पद्यते। या 'शब्दग्राममर्थसार्थमलंकारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा। अप्रतिभस्य पदार्थसार्थः परोक्ष इव। प्रतिभावतः पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव।' रुद्रट (१. १५) ने कहा है 'मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य। अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः।' शक्ति उस तत्त्व का नाम है जिसके द्वारा शान्त मन में नये-नये वर्ण्य विषयों तथा शब्दों का विस्फुरण होता है (ध्वन्यालोक, १.६)। लोचन के अनुसार (सरस्वती महान् कवियों को असामान्य कल्पना-शक्ति प्रदान करती है)। महान् कवियों की यह विशेषता होती है कि वे भावावेग से ऐसे काव्य का सृजन करते हैं जिसमें सौन्दर्य और स्पष्टता आ जाती है।

म० म० कविराज गोपीनाथ के विद्वत्तापूर्ण लेख 'दी डाक्ट्राइन ऑफ़ प्रतिभा इन इण्डियन फिलासफी' के लिए दे० एनल्स बी. ओ. आर. आई., भाग ५; प्रो. श्रीकण्ठय्या के लेख 'इमेजिनेशन इन इंडियन पोइटिक्स' के लिए दे० आई. एच. क्यू. भाग १३, पृ. ५८-८४।

यह ध्यान देने की बात है कि उत्तम काव्य के पाठक में कल्पना और संस्कार का होना अनिवार्य है। उदाहरणार्थ, 'नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः' (लोचन, ऊपर पृ. २०० पर उद्धृत) अथवा 'न जायते तदास्वादो विना रत्यादिवासनाम्', साहित्यदर्पण, ३. ९)।

व्युत्पत्ति की व्याख्या अधिक कठिन नहीं है। ऐसा कोई भी विषय नहीं है जिसका कवि वर्णन न कर सके, अतः कवि में विशिष्ट संस्कारों का होना अनिवार्य है जिससे वह समकालीन और भावी पाठकों के मन को प्रभावित कर सके। नाट्यशास्त्र में 'नैतज्ज्ञानं' (२१. १२२, ऊपर पृ. ३५ की दूसरी टिप्पणी); 'छन्दोव्याकरणकलालोकस्थितिपदपदार्थविज्ञानात् । युक्तायुक्तविवेको व्युत्पत्तिरियं समासेन ।।' (रुद्रट १. १८); लोकशास्त्रकाव्येषु निपुणता व्युत्पत्तिः, (हेमचन्द्र, पृ. ५) काव्यमीमांसा के ५वें अध्याय में शास्त्रकवि, काव्यकवि और उभयकवि और उनके उपभेदों के विषय में महत्त्वपूर्ण जानकारी दी गई है (पृ. १७)। साथ ही कवित्व की दस अवस्थाओं का वर्णन किया गया है (पृ. १९)। क्षेमेन्द्र के सुवृत्ततिलक (के. एम. संस्करण) में साहित्य के अन्य भेद सुझाये गये हैं। 'शास्त्रं काव्यं शास्त्रकाव्यं काव्यशास्त्रं च भेदतः। काव्यं विशिष्टशब्दार्थसाहित्यसदलंकृतिः । शास्त्रकाव्यं चतुर्वर्गप्रायं सर्वोपदेशकृत् । तत्र केवलशास्त्रेऽपि केचित् काव्यं प्रयुञ्जते ।।' २-४ । भट्टिकाव्य शास्त्रकाव्य का उदाहरण है। पालि-ग्रन्थों में भी कवियों का इसी प्रकार से वर्गीकरण किया गया है। अंगुत्तरनिकाय में चिंताकवि, सुतकवि (श्रुतकवि), अत्थकवि और पटिभान कवि—ये चार भेद कवियों के बताये गये हैं (भाग २, पालि टैक्स्ट्स सोसायटी संस्करण, पृ. २३०)। मनोरथपूरणी (भाग ३, पृ. २११) टीका में यह व्याख्या आयी है : 'यो चिन्तेत्वा काव्यं करोति स चिन्ताकविं नाम यो सुत्वा करोति अयं सुतकवि नाम यो एकमत्थं निस्साय करोति अयमत्थकविः। यो तं खणं येव वंगीसथेरो विय अत्तनो पट्टिभानेन करोति अयं पट्टिभानकवि नाम।' साहित्यमीमांसा (त्रिवेन्द्रम संस्क.) के अनुसार—श्रम, नियोग, क्लेश और प्रतिभा—कवि के ये चार अंग माने हैं (उदाहरण के लिए दे० ऊपर पृ. २८१)।

इस विषय में दे० डॉ. टामस का लेख 'भांडारकर कमेमोरेशन' ग्रन्थ पृ. ३७५-७६ में। साथ ही दे० प्रो. कालिचरणशास्त्री लिखित 'रिक्विजिट्स आफ

ए पोइट[1] नाम व लेख; जरनल आफ़ डिपार्टमेंट आफ़ लैटर्स, कलकत्ता-यूनि-वर्सिटी, भाग २६, पृ. १-३१) । ध्वन्यालोक में कवि की सृजनात्मक शक्ति के विषय में सुंदर और उदात्त शैली में जो कहा गया है वह अद्वितीय है—"कवि अनन्त काव्य-संसार का रचयिता है। सृष्टि वही रूप धारण कर लेती है जो रूप उसे वह प्रदान करना चाहता है। यदि कवि शृंगार का वर्णन करता है तो समस्त काव्यसंसार शृंगार से परिपूर्ण लगता है और यदि वह वैराग्य का वर्णन करता है तो सर्वत्र वैराग्य की भावना ही व्याप्त दिखाई देती है।" व्यक्ति-विवेक में भी कवि-प्रतिभा की व्याख्या ऐसी ही उदात्त शैली में प्रस्तुत की गई है। इसके अनुसार प्रतिभा उस प्रज्ञा का नाम है जिससे कवि रसानुकूल शब्दार्थों के चिंतन में लीन हो जाता है। परम तत्त्व के स्पर्श से प्रज्ञा जागृत हो जाती है। प्रतिभा शिव का तृतीय नेत्र है। इसके द्वारा कवि भूत, वर्तमान और भविष्य का ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

८. काव्य-लक्षण

अनेक ग्रन्थकारों ने काव्य की विभिन्न परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं। काव्यत्व किस में है, इसे दृष्टि में रखकर ग्रन्थकारों ने काव्य-लक्षण प्रस्तुत किये हैं। कतिपय लक्षण, लक्षण न होकर केवल वर्णन-मात्र हैं। आरंभिक कतिपय ग्रन्थ-कारों ने काव्य-लक्षण करते समय शब्द और अर्थ को समान महत्त्व दिया है जब कि कतिपय ने केवल शब्द को अधिक महत्त्व दिया है। कइयों की काव्य की अपेक्षा काव्य-परिभाषा समझना अधिक कठिन है (उदाहरणार्थ, 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' विश्वनाथ-प्रस्तुत काव्य-परिभाषा)। इनमें से कतिपय परिभाषाओं का एक-एक वर्ग बनाने का प्रयत्न किया जायगा। निम्नलिखित लक्षणों में शब्द और अर्थ पर समान बल दिया गया है: 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' (भामह १. १६; निर्दोष और सालंकार काव्य-लक्षण के लिए दे० १. ११ और १३ भी); 'ननु शब्दार्थौ काव्यम्' रुद्रट २. १); 'शब्दार्थौ सहितौ वक्र०' (वक्रोक्ति-

---

1. अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः। यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥ शृंगारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्। स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत् ॥ (ध्व. पृ. २७८, ऊपर पृ. १८३, टिप्पणी ३ पर उद्धृत)

रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्तिमितचेतसः। क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः ॥ सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते । येन साक्षात्करोत्येष भावांस्त्रैकाल्यवर्तिनः ॥ व्यक्तिविवेक, पृ. १०८।

जीवित' ऊपर पृ. २२७); 'तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' (मम्मट); 'गुणालंकार सहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ। ....काव्यं काव्य-विदो विदुः'॥ (प्रतापरुद्रीय०); 'शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालंकारौ काव्यम्' (वाग्भटकृत काव्यानुशासन, पृ. १४); 'अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्' (हेमचन्द्र, पृ. १६); १. १. १ पर वामन की वृत्ति देखिए। अन्य ग्रन्थकारों ने शब्द पर अधिक वल दिया है : 'तैः शरीरं च काव्या-नामलंकाराश्च दर्शिताः। शरीरं तावदिष्टार्थं व्यवच्छिन्ना पदावली।' (काव्या-दर्श १. १०); 'इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली। काव्यं स्फुटदलंकारं गुणवद्दोष-वर्जितम्'॥ (अग्निपुराण ३३६. ६-७); 'रमणीयार्थः प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' (रसगंगाधर पृ. ४); चन्द्रालोक १. ७ भी देखिये। सामान्यतः जगन्नाथ का लक्षण अधिक उपयुक्त है, क्योंकि इसमें विवादास्पद प्रश्न नहीं रहते। ध्वन्यालोक (१., पृ. ८) में भी एक स्थल पर ऐसी ही परिभाषा आयी है। उदाहरणार्थ--'सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्'। दूसरे वर्ग के काव्य लक्षणों में काव्य के एक विशेष अंग पर वल दिया गया है। यद्यपि काव्य में वोलचाल की भाषा के शब्दों का प्रयोग हो सकता है तो भी शब्दों के चुनने में व्यावहारिक भाषा से भिन्नता अपनानी पड़ती है। सौन्दर्य की दृष्टि से भाषासरणि की योजना की जाती है। परन्तु उपर्युक्त परिभाषाएँ एक दृष्टि से त्रुटिपूर्ण हैं। दंडी के अनुसार शब्द यदि काव्य का शरीर है तो उसी रूपक का का आधार लेकर यह प्रश्न किया जा सकता है कि काव्य की आत्मा क्या है? इस प्रश्न का उत्तर अनेक संप्रदायों[1] ने भिन्न-भिन्न रूप में दिया है। भरत के रस-

1. कतिपय विद्वानों ने 'संप्रदाय' शब्द के प्रयोग पर आपत्ति उठायी है। उनका तर्क यह है कि सभी लेखकों को रस, गुण, रीति, अलंकार आदि की जानकारी थी। वे रस, गुण अथवा अलंकार के विरोधी नहीं थे। परन्तु यह वस्तुस्थिति नहीं है। उत्तम काव्य के चार या पाँच तत्त्व होते हैं। भरत, दण्डी, भामह आदि इनसे परिचित थे। परन्तु प्रश्न यह है कि काव्य की आत्मा क्या है (काव्यरूपक के आधार पर उसका शरीर, उसके अंग और उसकी आत्मा)? यहाँ यह स्पष्ट है कि लेखकों में काव्य की आत्मा के विषय में मत-भिन्नता है। उदा-हरणार्थ, वामन के मत में 'रीतिरात्मा काव्यस्य', ध्वनिकार के अनुसार 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति' (ऊपर पृ. १३६ पर उद्धृत ध्वनिकार वामन का मत भी देखिये), वक्रोक्तिजीवितकार ने ध्वनि अथवा व्यंग्य को काव्य की आत्मा न मानकर उसकी स्वतंत्र स्थिति का खंडन किया है। और ध्वनि अथवा

संप्रदाय ने रस को काव्य (नाट्य) की आत्मा माना है। जबकि आनंदवर्धन के ध्वनिसंप्रदाय ने रस-कल्पना का विस्तार करके व्यंग्य को काव्य की आत्मा कहा है। निम्न लक्षण रस-संप्रदाय और ध्वनि-संप्रदाय से प्रभावित हैं: 'आस्वादजीवातुः पदसंदर्भः काव्यम्' (चण्डीदास, काव्यप्रकाशप्रदीपिका, पृ० १३); 'काव्यं रसादिमद्वाक्यं श्रुतं सुखविशेषकृत्' (शौद्धोदनि, अलंकार-शेखर, पृ. २); 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' (साहित्यदर्पण); 'निर्दोषं गुणवत् काव्यमलंकारैरलंकृतम्। रसान्वितं कविः कुर्वन्कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति ॥' (सरस्वती०)। स्थानाभाव के कारण इन लक्षणों पर प्रस्तुत आलोचनाओं की व्याख्या करना कठिन है। कतिपय की व्याख्या के लिए मेरे साहित्यदर्पण की टीका के पृ. ५-३० देखिए। रस, ध्वनि, गुण, अलंकार, रीति आदि की काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों में स्थिति जानने के लिए विभिन्न संप्रदायों तथा विभिन्न सिद्धान्तों का निरूपण आवश्यक है। उपलब्ध ग्रन्थों के अनुसार मुख्य संप्रदाय कालक्रम से इस प्रकार हैं—रस, अलंकार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति। ध्वन्यालोक (पृ. ५-१२) में लेखक ने तीन संप्रदायों का उल्लेख किया है। एक ने ध्वनि का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं किया है, दूसरे के अनुसार ध्वनि का भक्ति (उपचार अथवा लक्षणा) में ही अन्तर्भाव हो जाता है; तीसरे के मत में ध्वनि-तत्त्व का वैज्ञानिक विवेचन संभव नहीं है परन्तु इसका अनुभव केवल सहृदय पाठक ही कर सकता है (सहृदयहृदयसंवेद्य)। प्रथम संप्रदाय (ध्वन्यभाववादिनः) के पुनः तीन उपसंप्रदायों का उल्लेख आया है जो कि परस्पर कुछ भिन्नता रखते हैं (लोचन, पृ. ४)। समुद्रबन्ध ने कुछ भिन्न रूप में पाँच संप्रदायों का उल्लेख किया है, 'इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम् तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन व्यापारमुखेन व्यंग्यमुखेन वेति त्रयः पक्षाः। आद्येप्य-लंकारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम्। द्वितीयेऽपि भणितिवैचित्र्येण भोगकृत्त्वेन-

---

व्यंग्य को व्यापक वक्रोक्ति में अन्तर्भूत किया है। प्रत्येक ने एक-एक भिन्न तत्त्व पर विशेष बल दिया है। यह स्थिति शंकर, भास्कर, रामानुज, माधव और वल्लभ के वेदान्त-संप्रदायों से मिलती-जुलती है। इन सब ने उपनिषद् और वेदान्त-सूत्रों का आधार लिया है और जीव, ब्रह्म और जगत् की सत्ता स्वीकार की है। परन्तु इनके पारस्परिक संबन्ध के विषय में इनमें मत-भिन्नता है। अतः ये संप्रदाय पृथक्-पृथक् माने गये हैं। संस्कृत काव्य-शास्त्र के विभिन्न संप्रदायों के विषय में भी यही बात चरितार्थ होती है।

वेति द्वैविध्यम्। इति पंचसु पक्षेष्वाद्य उद्भटादिभिरंगीकृतः, द्वितीयो वामनेन, तृतीयो वक्रोक्तिजीवितकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन, पंचम आनंदवर्धनेन।' (पृ. ४) परन्तु समुद्रवंध ने भरत के रस-सिद्धान्त का उल्लेख नहीं किया जब कि भट्टनायक रस-सिद्धान्त का अनुयायी है। यद्यपि इनकी रस-विवेचन की सरणी विशिष्ट है (पृ. २२१-२२३)। इन्होंने अपने शव्दशक्ति-विषयक विवेचन में ध्वनिकार का अनुसरण नहीं किया है। इसके साथ ही महिमभट्ट का मत भी है कि ध्वनि का अनुमान में ही अन्तर्भाव होता है। इस मत का अन्य कोई अनुयायी नहीं है अतः इसे पृथक् संप्रदाय नहीं माना जा सकता। वक्रोक्तिजीवित-कार का भी संभवतः कोई अनुयायी नहीं था और न कोई इस प्रकार का संप्रदाय था। साथ ही वक्रोक्ति का अर्थ भी समय-समय पर वदलता गया। जयरथ ने अपनी विमर्शिनी टीका (पृ. ९) में दो श्लोक उद्धृत किये हैं। इसमें ध्वनि-सिद्धान्त के विरोधी वारह सिद्धान्तों का निरूपण किया है: 'तात्पर्यशक्ति-रभिधा लक्षणानुमिती द्विधा। अर्थापत्तिः क्वचित्तन्त्रं समासोक्त्याद्यलंकृतिः॥ रसस्य कार्यता भोगो व्यापारान्तरवाधनम्। द्वादशेत्थं ध्वनेरस्य स्थिता विप्रति-पत्तयः॥' इनके अनुसार ध्वनि-सिद्धान्त के विरोधी मुख्य तीन ही सिद्धान्त हैं (दे० प्रो० सोवानिका, 'प्रिध्वनि स्कूल्स आफ़ अलंकार' लेख, भांडारकर कमेमोरेशन ग्रन्थ, पृ० ३८३ से आगे)। काव्य की आत्मा के संवन्ध में प्रचलित विभिन्न पक्षों के लिए संप्रदाय शव्द सर्वथा उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। परन्तु संस्कृत-काव्यशास्त्र के लेखकों ने इस शव्द का वहुधा प्रयोग किया है। यहाँ तक कि राजशेखर की काव्यमीमांसा में वामन के अनुयायियों के मतों तथा उद्भट के अनुयायियों के मतों को 'वामनीयाः' और 'औद्भटाः, कह कर प्रयोग किया गया है (पृ. १४, २० और पृ. २२, ४४ क्रमशः)। अतः संप्रदाय शव्द रस, अलंकार और ध्वनि के लिए अव भी प्रयुक्त हो सकता है। अभिनवभारती (जी. ओ. एस. भाग १, पृ. २६६) में भी नाट्यशास्त्र (६. १०) पर औद्भटों के मतों का उल्लेख आया है। (पं. डी. टी. तात्याचार्य-लिखित लेख 'डेफि-नेशन आफ़ पोइट्रि ऑर काव्य', जे. ओ. आर. मद्रास भाग ३, पृ. ८५-१००, १७०-१८०, १९९-२२३, ३३१-३४२, और भाग ४, ४५-५६।

रस-सम्प्रदाय

उपलब्ध ग्रंथों में इस संप्रदाय का आद्य प्रणेता भरत का नाट्य-शास्त्र है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि नाट्य-शास्त्र से पूर्व रस के विषय में विचार उप-लब्ध न हों। प्रस्तुत नाट्यशास्त्र की रचना से पूर्व ही अनुवांश्य और आर्या (श्लोक) उपलब्ध हैं। वाद में इनका समावेश नाट्यशास्त्र में किया गया (दे० ऊपर

पृ. १७)। नाट्यशास्त्र की रचना नाटकीय प्रदर्शन की दृष्टि से की गई। यह ऊपर पृ. २१० पर देखा जा चुका है कि काव्य और नाटक एकार्थक थे (अध्याय १६. १६९, १७.५ इत्यादि)। रस-सिद्धान्त का अभिनवभारती में विस्तार से विवेचन हुआ है (जी. ओ. एस. भाग १, पृ. २७४-९५)। ध्वन्यालोक और लोचन (पृ. ५४-७२ और पृ. १८२ से आगे क्रमशः) का विवेचन कुछ कम विस्तृत है। समालोचक, कवि और ध्वन्यालोक तथा नाट्यशास्त्र के टीकाकार अभिनवगुप्त ने स्वयं इस प्रकार कहा है—नाट्यरसाः स्मृताः (नाट्य० ६, जी. ओ. एस., पृ. २९१ पर) 'नाट्यात्समुदायरूपाद्रसाः, यदि वा नाट्यमेव रसाः। रससमुदायो हि नाट्यम्। न नाट्य एव च रसाः काव्येपि।' इस प्रकरण का शेषांश ऊपर पृ. २१९ पर उद्धृत है। अभिनवभारती में इस प्रकार उल्लेख आया है—'काव्यं तावन्मुख्यतो दशरूपकात्मकमेव।...तत्र ये स्वभावतो निर्मलमुकुरहृदयास्त एव संसारोचितक्रोधमोहाभिलाषपरवशसनसो न भवन्ति तेषां तथाविधदशरूपकाकर्णनसमये साधारणरसनात्मकचर्वणग्राह्यो रससञ्चयो नाट्यलक्षणः स्फुट एव। ये त्वतथाभूतास्तेषां प्रत्यक्षोचिततथाविधचर्वणालाभाय नटादिप्रक्रिया स्वगतक्रोधशोकादिसंकटहृदयग्रन्थिभञ्जनाय गीतादिप्रक्रिया च मुनिना विरचिता। सर्वानुग्राहकं हि शास्त्रमिति न्यायात्तेन नाट्य एव रसा न लोके इत्यर्थः। काव्यं च नाट्यमेव।' (भाग १, पृ. २९२)। सामान्य रूप से रस का अर्थ 'आस्वाद' है। परन्तु इसका लाक्षणिक अर्थ 'काव्य तथा नाटक में सौन्दर्य की भावात्मक रसानुभूति' है। मम्मट ने कवि की रचना को 'ह्लादैकमयी' माना है (जिस में आनन्द-मात्र अनुभूत हो)। इस में पाठक पर पड़ने वाले काव्य के प्रभाव पर वल दिया गया है। संस्कृत के काव्यशास्त्रज्ञ इस वात से परिचित थे कि साहित्य को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। जैसा कि डिक्विसी ने भी माना है: ज्ञान का साहित्य और शक्ति का साहित्य। प्रथम प्रकार का साहित्य उपदेश देता है और द्वितीय प्रकार का उद्वेलित करता है। एक ही रचना में दोनों प्रकारों का संमिश्रण हो सकता है परन्तु इन दोनों का पार्थक्य भी संभव है। संस्कृत-साहित्य हो या अन्य साहित्य, समालोचना का प्रमुख संवन्ध द्वितीय प्रकार के साहित्य से होता है। द्वितीय प्रकार के साहित्य में सत्य-असत्य का निर्णय कठिन होता है—क्योंकि इसमें काव्य, नाटक और उपन्यास अन्तर्भूत होते हैं। सहज ज्ञान और आहार्य ज्ञान में अन्तर होता है। काव्य के ध्वनित अर्थ के विषय में सत्य और असत्य का प्रश्न उद्भूत नहीं होता, इसका स्पष्टीकरण ध्वन्यालोक (पृ. ५३) में किया गया है। 'काव्यविषये च व्यंग्यप्रतीतीनां सत्यासत्यनिरूपणस्याप्रयोजकत्वमेवेति तत्र प्रमाणान्तरव्यापारपरीक्षोपहास्यैव संपद्यते।' ध्वन्यालोक की रचना से पूर्व रसों का काव्य से सामान्य

संबन्ध व्यवस्थित रूप से निर्धारित नहीं किया गया था। परन्तु यह कहना असंगत होगा कि साहित्यशास्त्रकार रसों के प्रयोग या उनके महत्त्व से अपरिचित थे। काव्यादर्श (१. ६२) में कहा गया है: 'कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिंचति। तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा।' काव्यादर्श (२. २८०-२९२) में रसवत् अलंकार को आठ रसों में से एक रस पर आधारित माना गया है। साथ ही स्पष्ट किया गया है कि दण्डी स्थायी भाव और रस के अंतर को जानते थे (काव्यादर्श १. ५१, ६४ भी देखिए। भामह ३. ६ (रसवद् दर्शितस्पष्टशृंगारादिरसं यथा) ने स्पष्ट किया है कि वे रसों से परिचित थे परन्तु इन्होंने काव्य में इसे सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व नहीं माना। इन्होंने (१. २१) में कहा है कि महाकाव्य विविध रसों से युक्त होना चाहिए—'युक्तं लोकस्व-भावेन रसैश्च विविधैः पृथक्'। वामन ने भी कहा है—'दीप्तरसत्वं कान्तिः' (३. २. २४)। दण्डी (१. ३१) और भामह (१. २४) ने नाटक (जिसे वे काव्य का प्रकार मानते हैं) के नियमों का विवेचन नहीं किया है, इनकी जानकारी के लिए वे अन्य ग्रन्थों को देखने की अनुमति देते हैं। इससे प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में काव्य और नाटक का पृथक्-पृथक् वर्ग मानते थे। काव्यशास्त्र के आरंभिक लेखकों ने प्रथम रसों का विवेचन नहीं किया है। रुद्रट ही सर्वप्रथम लेखक हैं जिन्होंने अपने काव्यालंकार में रसों का विवेचन किया है। शिशुपालवध (१४. ५०) (रुद्रट से लगभग सौ वर्ष पूर्व रचित) में नाटकों[1] के संबन्ध में रसों का उल्लेख आया है। भरत के नाट्यशास्त्र में भी रस प्रमुख विवेच्य विषय नहीं है। नाट्य-प्रदर्शन से इसका संबन्ध होने के कारण इसका विवेचन किया गया है। नाटक का प्रयोजन चार प्रकार के अभिनयों[2] द्वारा प्रेक्षकों में रस उत्पन्न करना है। नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटक में रस के बिना कुछ भी संभव नहीं है (नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते। नाट्यशास्त्र जी. ओ. एस. भाग १, पृ. २७४)। अभिनवभारती के अनुसार समस्त नाट्य-प्रदर्शन में रस सूत्र के समान पिरोया हुआ होता है (एक एव तावत्परमार्थतो

---

1. स्वादयन्रसमनेकसंस्कृतप्राकृतैरकृतपात्रसंकरैः। भावशुद्धिविहितैर्मुदं-जनो नाटकैरिव बभार भोजनैः॥ शिशुपालवध, १४. ५०।

2. आंगिक (सिर, मुख, हाथ तथा शरीर के अन्य अंग-संचालन से संबद्ध, नाट्यशास्त्र अ. ८-१३); वाचिक (छन्द, लक्षण, अलंकार, कथावस्तु से संबद्ध, अध्याय १५-२२)—आहार्य (वेशभूषा, आभूषण इत्यादि, अ. २३); सात्त्विक (रोमांच, अश्रु, भाव, हाव आदि, अ. २४)—ये चार प्रकार के अभिनय होते हैं।

रसः सूत्रस्थानीयत्वेन रूपके प्रतिभाति। अभिनवभारती, भाग १, पृ. २७३)। नाट्यशास्त्र का अधिकांश भाग नाटककार और अभिनेता से सम्बद्ध विषयों के विवेचन से पूर्ण है। जब कि प्रेक्षकों पर पड़ने वाले अभीष्ट भावात्मक प्रभाव का मुख्यतः छठे और सातवें अध्याय में विवेचन हुआ है। यह ध्यान देने योग्य है कि काव्यमीमांसा के अनुसार पृ. १, (ऊपर पृ. १ पर उद्धृत) भरत ने रूपकों का और नंदिकेश्वर ने रसों का विवेचन किया है। परन्तु प्रस्तुत नाट्यशास्त्र में दोनों विषयों का विवेचन मिलता है तथा नंदिकेश्वर की रस-विषयक कोई प्राचीन रचना उपलब्ध नहीं होती। मैंने अपने ग्रन्थ के पिछले संस्करण में स्पष्ट किया था कि रस-सिद्धान्त का आधार कुछ तो शरीरव्यापार-संबन्धी और कुछ मनोवैज्ञानिक है। यह भी स्पष्ट किया गया था कि नाटक या काव्य से मनुष्य के भाव और मनोवेग किस प्रकार जागृत या उद्वेलित होते हैं। परन्तु मैंने इसके मनोवैज्ञानिक आधार का स्पष्टीकरण नहीं किया था। इस सिद्धान्त के मनोवैज्ञानिक आधार का यहाँ संक्षिप्त विवेचन करना उपयुक्त समझता हूँ।

यहाँ आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के विभिन्न मतों के विवेचन के लिए स्थान, समय और क्षमता का अभाव है। बहुत से तथ्यों पर मनोवैज्ञानिकों में मत-भिन्नता है। मक्डूगल जैसे मनोवैज्ञानिक के मत का मैं यहाँ संक्षेप में उल्लेख करूँगा। 'दी इनर्जीज़ आफ़ मैन' (१९३२, अध्याय ७, पृ० ९७-९८) नामक ग्रन्थ में उन्होंने मानव की १८ सहज प्रवृत्तियों की सूची दी है। डॉ. आर. जे. एस. मक्डोवल ने 'सेन साइकालॉजी' (१९४४) नामक ग्रन्थ में मक्डूगल की सूची को १४ प्रवृत्तियों में संक्षिप्त कर दिया है और इनसे संबन्ध रखने वाले मनोभावों का इस प्रकार उल्लेख (पृ. २०-२१) किया है—

सहज प्रवृत्ति	सम्बन्धित मनोभाव
१. भय से भागना	भय
२. युद्ध	क्रोध
३. अपकर्षण	घृणा
४. मातृ-भावना	वात्सल्य
५. जिज्ञासा	औत्सुक्य
६. आत्म-प्रतिष्ठा	गर्व
७. अधीनता	दासत्व
८. उदासीनता	दैन्य
९. काम	रति

१०.	सामाजिकता	एकाकीपन
११.	भक्ष्यान्वेषण	क्षुधा
१२.	परिग्रह	अधिकार-भावना
१३.	निर्माण	सृजनोत्साह
१४.	हास्य	हास

नाटक को देखते समय प्रेक्षकों के मन पर क्या प्रभाव पड़ता है इस विषय में भरत एवं उनके अनुयायियों द्वारा किये गये विवेचन का उल्लेख करेंगे । पर ध्यान देने की वात है कि उनका उद्देश्य सीमित था और मनुष्य की आरंभिक स्थिति अथवा उसके वाल्यकाल एवं तदुपरान्त के जीवन से सम्वद्ध किसी पूर्ण या व्यापक मनोवैज्ञानिक पद्धति से उनका सम्वन्ध नहीं था । उनके अनुसार नाटकीय प्रदर्शन केवल दो इन्द्रियों—चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय, को प्रभावित करता था (क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत् । नाट्यशास्त्र १. ११.) । यह हुआ शरीर-व्यापार से सम्वद्ध आधार । जो चक्षुरिन्द्रिय से मनुष्य को प्रभावित करते हैं उनमें नृत्य, अभिनय, सज्जा, चित्रकला आदि का समावेश होता है । श्रोत्रेन्द्रिय से सम्वद्ध कलाओं में सामान्यतः भाषण, काव्योच्चारण (पाठ्य), संगीत और गायन आते हैं । वे इस वात से परिचित थे कि नाटकीय प्रदर्शन से प्रेक्षकों को आनंद मिलता है भले ही इसमें दुःखद घटनाएँ आयी हों । सामान्य जीवन में करुणा और भय से आनंद और शान्ति प्राप्त नहीं होती । परन्तु नाटक में दुःखद घटनाओं के माध्यम से प्रस्तुत करुणा और भय का प्रभाव भिन्न रूप में पड़ता है । अतः उन्होंने काव्य के आस्वादक सहृदय स्त्री-पुरुषों के काव्यानंद के स्वरूप का विश्लेषण और वर्णन किया है । काव्यानंद (एस्थेटिक प्लेज़र) या आनंद का स्वरूप एक ही है (रस[1] वस्तुतः एक ही है) । जिस प्रकार भाषण में वाक्यों से अर्थ ग्रहण किया जाता है और वाक्य शब्दों तथा अक्षरों में विभक्त रहते हैं इसी प्रकार उनके मत में संवेदन, अनुभूति या

---

1. अभिनवभारती में रस की स्फोट से तुलना की गई है : 'तेन रस एव नाट्यं यस्य व्युत्पत्तिः फलमित्युच्यते । तथा च रसादृते इत्यत्र एक वचनोपपत्तिः (नाट्यशास्त्र ६.३४) । ततश्च मुख्यभूतान्महारसात्स्फोटदृशीवासत्यानि वा, अन्विताभिधानदृशीवोपायात्मकानि सत्यानि वा, अभिहितान्वयदृशीव तत्समुदायरूपाणि वा रसान्तराणि भागाभिनिवेशदृष्टानि रूप्यन्ते ।' ६. १६, भाग १, पृ. २६९ ।

प्रभाव के आठ भेद किये जा सकते हैं जो शृंगार, हास्य[1] आदि कहलाते हैं। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों की उपलब्धियों से तुलना करते हुए यह कहना उपयुक्त नहीं है कि रसवादियों ने मनुष्यों में केवल आठ या नौ ही सहज प्रवृत्तियाँ मानी हैं तथा उन्होंने शोक एवं अन्य एक-दो भावों को मूलभूत, सहजात अथवा सहज प्रवृत्तियों के रूप में मानकर गलती की है। उनके सिद्धान्तानुसार नाटक-प्रदर्शन से प्रेक्षक द्वारा आस्वाद्य अनुभूति आनंद से परिपूर्ण होती है; इस अनुभूति में दुःख की स्थिति का प्रश्न ही नहीं उठता। यह अनुभूति भिन्न-भिन्न प्रकार की इसलिए लगती है कि मन में रति, शोक आदि वासनाएँ सुप्त होती हैं और ये विभिन्न प्रकार के अभिनयों से जागृत की जाती हैं। अभिनवभारती में कहा गया है : 'अस्मन्मते तु संवेदनमेवानंदघनमास्वाद्यते तत्र का दुःखाशंका केवलं तस्यैव चित्रताकरणे रतिशोकादिवासनाव्यापारस्तदुद्‌बोधने चाभिनयादि-व्यापारः' (भाग १. पृ० २९३. ६. ३७ पर)[2]। श्रेष्ठतम काव्यसिद्धान्त

---

1. भावप्रकाशन (२., पृ. ४६) में कहा गया है कि रस सामाजिकाश्रय है और काव्यास्वाद आठ प्रकार का है—'यतोऽष्टधा मनोवृत्तिः सभ्यानां नाट्य-कर्मणि। अष्टावेवानुभूयन्ते तासूक्तास्तै रसाः पृथक्॥ सामाजिकैस्तु रस्यन्ते यस्मात्तस्माद्रसाः स्मृताः।' भावप्रकाशन के पृ. ५८-५९ भी दे. विशेषतः 'वर्धिताः स्थायिनो भावा नायकादिसमाश्रयाः। अनुकारतया नाट्ये क्रियमाणा नटादिषु। रसतां प्रतिपद्यन्ते सामाजिकमनःसु ते। संस्कारैः प्राक्तनैस्तैश्च रस्यन्ते यत्त-तो रसाः॥' दशरूप (४. ३८-३९) में भी इसी प्रकार कहा गया है। लोचन (पृ. २३) में कहा गया है कि काव्य के ध्वनित अर्थ (अथवा रस) के आस्वाद के लिए वक्ता (कवि अथवा नाटककार) तथा श्रोता में सहयोग होना चाहिए ('वक्तृप्रतिपत्तृप्रतिभासहकारित्वं हि अस्माभिर्द्योतनस्य प्राणत्वेनोक्तम्)।'

2. इस विषय में मतैक्य नहीं है। नाट्यदर्पण (पृ. १५८-५९) में रस में दुःख की स्थिति के सिद्धान्त का विवेचन विस्तार से हुआ है। शृं. प्र. में भी 'रसा हि सुखदुःखावस्थारूपाः' उल्लेख आया है (दे. डॉ. राघवन-कृत 'नंबर अफ़ रसाज़', पृ. १५५)। अधिकांश लेखकों के मत में नाटक-प्रदर्शनजन्य रस का आस्वाद आनंदमय है। इस में संदेह नहीं कि जब अभिनेता रोता है तब कतिपय प्रेक्षकों के नेत्र भी अश्रुपूर्ण हो जाते हैं। साहित्यदर्पण (३. ८) में 'अश्रुपातादयस्तद्वद्द्रुतत्वाच्चेतसो मताः' यह विवेचन आया है। लोचन (पृ. १८) में यह सिद्धान्त निम्न प्रकार आया है—'यस्तु स्वप्नेऽपि न स्वशब्द-वाच्यो न लौकिकव्यवहारपतितः, किन्तु शब्दसमर्प्यमाण हृदयसंवादसुंदर-

के अनुसार संसार की कोई भी वस्तु असुन्दर नहीं होती। प्रत्येक वस्तु सुन्दर बन जाती है जब कवि अथवा नाटककार अपनी सृजनात्मक कल्पना-शक्ति से आदर्शमय चित्रण करता है; तथा, जब प्रेक्षक अथवा पाठक अपनी कल्पनामय अनुभूति से उसका आस्वाद लेता है। इसका नाट्यशास्त्र (२१. १२२) के 'नैतज्ज्ञानं' इत्यादि श्लोक में स्पष्ट उल्लेख मिलता है। (ये शब्द पृ. ३५, टिप्पणी २ तथा भामह के ग्रन्थ ५. ४ में भी द्रष्टव्य हैं)।

अनेक ग्रन्थों में रसानुभूति के सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना हुई है। उदाहरणार्थ नाट्यशास्त्र (६-७); अभिनवभारती सहित, सरस्वतीकण्ठाभरण (५) शृंगारप्रकाश, दशरूप, शृंगारतिलक, भावप्रकाशन, रसतरंगिणी आदि। इन सभी ग्रन्थों में प्रस्तुत मतों को विस्तार से जानना कठिन है और उनकी पारस्परिक भिन्नता दिखानी भी कठिन है। भरत का ग्रन्थ आद्य ग्रन्थ है इसलिए मैं इस ग्रन्थ तथा इसकी टीका अभिनवभारती का आधार लूँगा। रससूत्र पर प्रस्तुत विभिन्न मतों का संक्षेप में उल्लेख करूँगा। रस-सिद्धान्त का मूलभूत वाक्य निम्नलिखित है : 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' (नाट्यशास्त्र ६. पृ. २७४ जी. ओ. एस.) इसके विषय में दो बातें ध्यान

विभावानुभावसमुदित-प्राङ्निविष्टरत्यादिवासनानुराग-सुकुमारस्वसंविदानंदचर्वण-व्यापाररसनीयरूपो रसः' । (दे. अभिनवभारती, भा. १, पृ. २९० पर भी) 'सामाजिकानां हि हर्षैकफलं नाट्यं न शोकादिफलम् ।' नाट्यदर्पण का अवतरण इस प्रकार है—'स्थायी भावः श्रितोत्कर्षो विभावव्यभिचारिभिः। स्पष्टानुभावनिश्चेयः सुखदुःखात्मको रसः ..... यत्पुनः सर्वरसानां सुखात्मकत्वमुच्यते तत्प्रतीतबाधितम् ।' (पृ. १५८-५९) । कतिपय ग्रन्थों के अनुसार रसास्वाद की स्थिति में क्षण भर के लिए मन की अन्य चेतनाएँ लुप्त हो जाती हैं और काव्यास्वाद की स्थिति ब्रह्मानन्द के समान हो जाती है। यह स्थिति तब तक रहती है जब तक कि विभाव तथा अन्य भावों का व्यापार चलता है। काव्यप्रकाश ४. पृ. ९२ से तुलना कीजिए। 'सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितः स्थायी रत्यादिकः ....चर्व्यमाणैकताप्राणो विभावादिजीवितावधिः....पुर इव परिस्फुरन्.... अन्यत्सर्वमिव तिरोदधद् ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिकचमत्कारकारी शृंगारादिको रसः।' साहित्यदर्पण (३. २-३) से इसकी तुलना कीजिए। रसों में दुःख के मिश्रण के विषय में साहित्यदर्पण (३. ४-५) में यह उल्लेख आया है—'करुणावादपि रसे जायते यत्परं सुखम्। स चेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्। किं च तेषु यदा दुःखं न कोपि स्यात्तदुन्मुखः ॥'

देने योग्य हैं। १. इसमें स्थायि शब्द का उल्लेख नहीं है, २. यह कुछ अस्पष्ट है, विशेषतः संभोग और निष्पत्ति शब्दों के नियोजन के विषय में। लोल्लट, शंकुक, नायक और अभिनवगुप्त ने क्रमशः इस सूत्र की चार व्याख्याएँ की हैं। रसगंगाधर (पृ. २८) में आठ विभिन्न व्याख्याओं का उल्लेख आया है।

लोल्लट, शंकुक और भट्टनायक के मूल ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। इनके मतों का सारांश उनके विरोधी अभिनव, मम्मट आदि ने प्रस्तुत किया है और हमें इन्हीं का आधार लेना पड़ता है। ये चार मत क्रमशः उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद, भक्तिवाद और अभिव्यक्तिवाद कहलाते हैं। (अभिव्यक्तिवाद को मम्मट तथा अन्य अनेक लेखक मानते हैं।) इन प्राचीन ग्रन्थकारों के मतों का संक्षिप्त उल्लेख करने से पूर्व हमें रससूत्र-गत पारिभाषिक शब्दों में निहित विचारों को समझना चाहिए। सभी प्रेक्षकों अथवा काव्य-पाठकों में कतिपय स्थायी और प्रमुख प्रवृत्तियाँ होती हैं जो सामान्यतः सुप्त दशा में रहती हैं; वे भाषण, गायन, अभिनय, संगीत आदि नाटकगत तत्त्वों से तथा काव्यगत शब्दों से उद्रिक्त होकर प्रेक्षक अथवा पाठकों के मन को आनंद की अवस्था में पहुँचा देती हैं। इन्हीं स्थिर रहने वाले भावों को स्थायी कहते हैं। भरत (भाग १, पृ. ३५०-३५१) ने इन मनःस्थितियों के स्थायित्व की व्याख्या की है। यद्यपि राजा और सेवक एक जैसे शरीरावयव वाले होते हैं, फिर भी एक राजा कहलाता है और दूसरे उसके अनुचर होते हैं; इसी प्रकार एक भाव स्थायीभाव कहलाता है और दूसरे उसके सहयोगी विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी कहलाते हैं। इनके सहयोग से स्थायीभाव रस की स्थिति (काव्यानंद या आस्वाद) प्राप्त कर लेता है। 'यथा नरेन्द्रो बहुजनपरिवारोऽपि सन् स एव नाम लभते नान्यः सुमहानपि पुरुषः। तथा विभावानुभावव्यभिचारिपरिवृतः स्थायी भावो रस-नाम लभते। भवति चात्र श्लोकः——यथा नराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः। एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह ॥' (नाट्यशास्त्र, के. एम. सं., अ. ७. ८ और जी. ओ. एस. सं. ७., पृ. ३५०-५१) दशरूप (४.३४) में स्थायीभाव की व्याख्या एक अन्य दृष्टि से भी हुई है। इसके अनुसार स्थायीभाव समुद्र के समान है अन्य भाव बीच-बीच में उठने वाली तरंगों के समान हैं परन्तु स्थायी की गंभीरता बनी रहती है। अतः स्थायीभाव वह प्रमुख भाव है जो अन्य भावों से उच्छिन्न नहीं होता और अन्य भावों को वह अपना अनुचर बना लेता है। नाटक-प्रदर्शन से उत्पन्न होने वाले तथा पाठक को आनंद की स्थिति में पहुँचाने वाले रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय—— ये आठ स्थायीभाव कहलाते हैं। किसी-किसी ने नौवें स्थायीभाव शम की अभिवृद्धि की है। इन स्थायीभावों से उत्पन्न काव्या-

स्वादजन्य आनंद को रस कहते हैं। भरत (६. भाग १, पृ. २८८-२९१) ने काव्यास्वाद को रस क्यों कहा जाता है इस की व्याख्या की है। जिस प्रकार मनुष्य वहुत से द्रव्यों (गुड़, दही, इलायची, काली मिर्च आदि) से तैयार किये गये व्यंजनों का आस्वाद लेते हैं इसी प्रकार प्रेक्षक अन्य विभिन्न भावों अभिनय, उच्चारण आदि से ध्वनित स्थायीभावों का आस्वाद लेते हैं और आनंद प्राप्त करते हैं इसीलिए वे नाट्यरस कहलाते हैं। सामान्य जीवन में रस के अनेक अर्थ होते हैं। उदाहरणार्थ पारा, माधुर्य तथा अन्य रस (मधुराम्ललवणकटुकषाय-तिक्तभेदात्), सार, तीव्ररुचि, अर्क, काढा, शरीरगतधातु इत्यादि। (अभिनव-भारती भाग १, पृ. २८९) काव्य और नाटक में इसका विशिष्ट अर्थ है। यह अर्थ आस्वाद के रूपक के आधार पर लिया गया है— 'रसनाद्रसत्वमेषां मधुरा-दीनामिवोक्तमाचार्यैः' (रुद्रट १२. ४)। 'विभावानुभावसात्त्विकव्यभि-चारिभावैरुपनीयमानः परिपूर्णः स्थायिभावो रस्यमानो रसः।' (रसतरं. ६) रसतरंगिणी में 'चरमसमयपर्यंतस्थायित्वादस्य स्थायित्वव्यपदेशः' यह उक्ति आयी है। अनुभाव की परिभाषा इस प्रकार है : 'अनुभावो विकारस्तु भाव-संसूचनात्मकः।' इस पर धनिक (दशरूप ४. ३) ने कहा है—'स्थायिभावा-ननुभावयन्तः सामाजिकान् सभ्रूविक्षेपकटाक्षादयो रसपोषकारिणोऽनुभावाः'। आठ अनुभावों को सात्त्विक भाव कहते हैं—पृथग्भावा भवंत्येतेऽनुभावत्वेपि सात्त्विकाः। सत्त्वादेव समुत्पत्तेस्तच्च तद्भावभावनम्। स्तंभप्रलयरोमांचाः स्वेदो वैवर्ण्यवेपथू। अश्रु वैस्वर्यमित्यष्टौ स्तम्भोऽस्मिन् निष्क्रियाङ्गता। प्रलयो नष्टसंज्ञत्वं शेषाः सुव्यक्तलक्षणाः।।' (दशरूप ४. ४-६) सात्त्विक के स्वरूप-प्रतिपादन में मत-भिन्नता है। दशरूप के अनुसार सत्त्व का अर्थ सहानुभूतिमय हृदय से है और सात्त्विक का अर्थ है, सत्त्वेन निर्वृतं' (इसी प्रकार का मत साहित्यदर्पण ३. १३४ में भी देखिए)। परन्तु रसतरंगिणी (४) में सात्त्विक को 'सत्त्वं जीवशरीरं तस्य धर्माः सात्त्विकाः। इत्थं च शरीरभावाः स्तम्भादयः सात्त्विका भावा इत्यभिधीयन्ते' इस प्रकार कहा गया है। निम्नलिखित ४९ भावों के विषय में नाट्यशास्त्र में इस प्रकार लिखा गया है—'नानाभिनयसंबद्धान् भावयन्ति रसानिमान्। यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः।। न भाव-हीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः। परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत्।। व्यंजनौषधिसंयोगो यथान्नं स्वादुतां नयेत्। एवं भावा रसाश्चैव भावयन्ति पर-स्परम्।।' (६.३४, ३६-३७) यह ध्यान देने की वात है कि 'स्थायि' शब्द इस सूत्र में नहीं आता। स्त्री और पुरुष के संवन्ध से प्रेम का प्रदर्शन होता है और इस प्रेमभाव के चन्द्रोदय, वसंत, पुष्प, लताकुंज आदि उद्दीपन होते हैं। प्रेम के

आधारभूत स्त्री-पुरुषों को आलंबन[1] विभाव कहा जाता है और इनके प्रेम के उद्दीपक तत्त्वों को उद्दीपन विभाव कहते हैं । नेत्रसंचालन, कटाक्ष, स्मितवदन आदि शरीर की वाह्य चेष्टाओं से भावों का संप्रेषण किया जाता है अतः इन्हें अनुभाव कहा जाता है। कतिपय अस्थायी और गौण मनोभाव होते हैं जो अनेक स्थायी भावों के साथ आते हैं और उन्हें परिपुष्ट करते हैं, इन्हें संचारी भाव कहा जाता है, जैसे निर्वेद, ग्लानि, शंका आदि। ये संचारी भाव रति, शोक आदि स्थायी भावों को परिपुष्ट करने में सहायक होते हैं । इनकी संख्या ३३ है और भरत ने (भाग १, पृ. ३५६ से आगे) इनका विस्तृत वर्णन किया है (विविध-माभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः) । रति, हास, शोक आदि प्रमुख स्थायी भाव जव उपयुक्त विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से जागृत होते हैं तव वे शृंगार, हास्य और करुणरस की स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं। यह ध्यान देने की वात है कि नाटककार शृंगार, करुण आदि रस का प्रत्यक्ष नामोल्लेख नहीं करता वरन् वह केवल उपयुक्त विभावों का (नायक, नायिका और उनके उद्दीपन विभावों का), तज्जन्य अनुभावों (जैसे कटाक्ष आदि) का

---

1. नाट्यशास्त्र (६., भाग १., पृ. ३४७-४८) में विभाव की 'विज्ञान' रूप में व्याख्या की गई है और कहा गया है कि विभाव केवल कारण, निमित्त अथवा हेतु है। इन्हें विभाव इसलिए कहते हैं क्योंकि इनसे वहुत-से विषयों का ज्ञान होता है (उदाहरणार्थ स्थायी भाव तथा व्यभिचारी भाव, जो वाचिक और आंगिक अभिनयों पर आधृत हैं) 'वागादयोऽभिनया येषां स्थायिव्यभिचारिणां ते वागाद्यभिनयसहिता विभाव्यन्ते विशिष्टतया ज्ञायन्ते यैस्ते विभावाः' (अभिनवभारती)। अनुभाव के लिए ऊपर उद्धृत दशरूप (४. ३) देखिए। विभाव' ४९ हैं इनमें आठ स्थायी भाव, तेंतीस व्यभिचारी भाव और आठ सात्त्विक भाव आते हैं। सात्त्विक भावों में स्तम्भ (भय, क्रोध आदि से उत्पन्न स्थिरता), स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु, प्रलय आदि आठ हैं । प्रलय का अर्थ है : 'सुख-दुःखाभ्यां चेष्टाज्ञाननिराकृतिः' (साहित्यदर्पण ३. १३९); अर्थात्, सुख या दुःख से चेष्टा और ज्ञान का लुप्त हो जाना । यह ध्यान देने की वात है कि ४९ भावों में विभाव और अनुभावों का (सात्त्विक भावों को छोड़कर) समावेश नहीं हुआ है । विशिष्ट परिस्थितियों में स्थायीभाव भी व्यभिचारी भाव बन जाते हैं। उदाहरणार्थ जब शृंगार प्रमुख रस होता है तब रति स्थायीभाव होता है और यदि इसमें प्रसंगवश हास्य आता है तो वह संचारी बन जाता है। यद्यपि हास्य की गणना स्थायीभावों में की गई है।

ही उल्लेख करता है और यह प्रेक्षकों पर ही छोड़ देता है कि वे इनका आस्वाद लें। अतः कहा जाता है कि रस ध्वनित होता है न कि कथित। इसके विपरीत, यदि कोई लेखक किसी रचना में श्रृंगार अथवा करुणरस का नाम से उल्लेख-मात्र करे और सदुनुकूल तत्त्वों का निरूपण न करे, तो उससे रसानुभूति नहीं होगी। रस सामान्य से परे होता है। इसकी अनुभूति केवल सहृदय को ही होती है और इसके अस्तित्व का प्रमाण सहृदय की चर्वणा अथवा आस्वाद से ही मिलता है। रस-सिद्धान्त का सर्वांगीण विस्तृत विवेचन के लिये दे० नाट्य-शास्त्र (अ. ६ और ७), दशरूप (४था प्रकाश), साहित्यदर्पण (३) और रस-तरंगिणी। श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत–ये आठ रस हैं (दे. नाट्यशास्त्र ६. १५ पृ. २६८-६९; जी. ओ. एस. सं. और के. के. एम. सं. ६. १६)। कतिपय ने शान्त रस की अभिवृद्धि की है।

रस-सिद्धान्त को आदिकाव्य रामायण पर घटाया जाता है। वालकाण्ड में वर्णन आया है कि ऋषि वाल्मीकि ने एक शिकारी द्वारा क्रौंच-मिथुन में से एक को मारे जाते हुए देखा। हिंसात्मक ढंग से प्रेमी-युगल को पृथक् कर देना तथा उसमें से क्रौंची का वध हो जाना आदि करुणरस के विभाव हैं। क्रौंच द्वारा विलाप तथा हृदयविदारक क्रन्दन करना करुणरस के अनुभाव हैं। इनसे वाल्मीकि के हृदय की सुप्त सहानुभूति जागृत हो उठी। एक क्षण के लिए वे उसके शोक में तन्मय हो गये। इससे छन्दोवद्ध काव्य उनके हृदय से प्रस्फुटित हुआ (मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।)। यह नहीं सोचना चाहिए कि ऋषि का हृदय सामान्य-जन की भाँति शोकाकुल हो गया। रघुवंश (१४. ७०) और ध्वन्यालोक (ऊपर पृ. ३३२ टिप्पणी पर उद्धृत) में प्रयुक्त शोक शब्द नाटकीय अर्थ से सम्बद्ध है (जैसे स्थायी भाव)[1]। ऋषि वाल्मीकि निरीह पक्षी के शोक से व्याकुल नहीं

---

1. ध्वन्यालोक के ये शब्द 'काव्यस्य स एवार्थः सारभूतः सन्निहितसहचरी-विरहकातरक्रौञ्चाक्रन्दजनितशोक एव श्लोकतया परिणतः' (पृ. ३२) तथा लोचन (पृ. ३१७) के शब्द 'क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगेन सहचरीहननोद्भूतेन साहचर्य-ध्वंसनेनोत्थितः' गंभीर कठिनाई प्रस्तुत करते हैं। रामायण के सभी संस्करणों के अनुसार नर पक्षी मारा जाता है और मादा पक्षी विलाप करता है। ध्वन्या-लोककार और लोचनकार के समक्ष ऐसा पाठ उपलब्ध था जिसके अनुसार मादा पक्षी तीर से मारा जाता है। यही नहीं, वरन् राजशेखर-रचित काव्यमीमांसा (पृ. ७) में भी 'निषादनिहितसहचरीकं क्रौञ्चयुवानं करुणक्रेंकारया गिरा क्रन्दन्तमुद्वीक्ष्य' इत्यादि पाठ आया है और मेरे द्वारा दी गई ध्वन्यालोक की

हुए वरन् उनका हृदय समस्त घटना से उद्वेलित हो उठा और इससे काव्यमय उद्गार निकल आये (मा निषाद. इत्यादि) । कवि की भावुक प्रवृत्ति और कल्पना-शक्ति ने वस्तुस्थिति को आदर्शरूप दिया और उससे काव्य प्रस्फुटित हो गया । जब कवि का हृदय विशिष्ट परिस्थितिजन्य अलौकिक भावानुभूति से परिपूर्ण होता है तब उसके हृदय से काव्य का प्रस्फुटन होता है । लोचन (पृ. ३२) में यह कहा गया है : 'यावत्पूर्णो न चैतेन तावन्नैवैवमिति' । प्रत्येक पाठक कविता

व्याख्या का इससे समर्थन होता है । स्व. म. म. प्रो. कुप्पुस्वामी ने कौमुदी पर लिखित उपलोचन नामक टीका में 'निहतः सहचरीविरहकातरः क्रौञ्चः' इत्यादि व्याख्या दी है । परन्तु यह संतोषजनक नहीं है । ध्वन्यालोक में सन्निहित शब्द है न कि निहत । इसके अतिरिक्त लोचन में 'सहचरीहनन' शब्द आया है । यदि 'निहत' पाठ को सही मान लें तो 'सहचरीविरहकातरनिहत· क्रौञ्च' पाठ होना चाहिए, क्योंकि जब उसका वध हुआ होगा तो उससे पूर्व वह सहचरी के विरह से कातर होगा । नर क्रौञ्च पक्षी निहत होने के उपरान्त विरह-कातर किस प्रकार हो सकता है ? इसके अतिरिक्त यह श्लोक राम के जीवन की ओर संकेत देता है । जब सीता का रावण ने अपहरण किया तब राम ने उसे मृत समझकर विलाप किया (भवभूति ने राम की इस दशा का वर्णन इस प्रकार किया है—अपिग्रावा रोदिति....) । अतः क्रौञ्ची-हनन का संबन्ध सीतापहरण से है, क्रौञ्च का क्रंदन राम-विलाप से संबन्धित है । काव्य-मीमांसा में इसका स्पष्ट उल्लेख है । अभी-अभी श्री जी. एच. भट्ट ने (जे. ओ. आई. बड़ौदा, भाग ९, प्रति २, पृ. १४८-१५१) इस घटना पर एक लेख लिखा है । इसमें उन्होंने ध्वन्यालोक के 'निहतसहचरीविरहकातरक्रौञ्चाक्रन्द-जनित' इस पाठ को अधिक सही माना है और इस रचना की निराले ढंग से व्याख्या की है । जैसे 'निहतश्च सहचरीविरहकातरश्च निहत. . . कातरः स चासौ क्रौञ्चश्च क्रौञ्च्याः आक्रन्दश्च' इत्यादि । समास को व्यस्त करने का यह निराला ढंग है । इस व्याख्या में क्रमविपर्यय हो गया है । क्रौञ्च प्रथम कातर होगा इसके बाद उसका वध हुआ होगा, अतः सहचरीविरहकातरनिहत इत्यादि पाठ होना चाहिए । प्रो. भट्ट ने आक्रन्द का सहचरी से संबन्ध स्थापित कर दिया है । सीधी और सरल रचना आक्रन्द और इससे पूर्ववर्ती क्रौञ्च से संबन्ध-स्थापन में है । इससे पूर्व उल्लिखित श्लोकों के उद्धरण से मैं प्रभावित नहीं हुआ । जब यह सिद्धान्त स्थापित किया गया कि नरपक्षी की मृत्यु हुई तो तदनुसार उपर्युक्त श्लोकों का प्रक्षिप्त समावेश कर देना संभव है ।

की उस भावमय अनुभूति का आस्वाद नहीं ले सकता। पाठक का पर्याप्त मानसिक विकास होना चाहिए जिससे वह काव्यगत परिस्थितियों का अपने मन में साक्षात्कार कर सके। यही तौत का मत है। इसका उल्लेख लोचन (पृ. २२०) में किया गया है:—'नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः'।

कवि काव्यगत भावात्मक चित्रण को प्रत्येक पाठक के लिए प्रेषणीय नहीं बना सकता। वह अपने काव्य-वर्णित भावानुरूप भावों को सहृदय में जागृत कर सकता है। शब्दों के माध्यम से कवि-संप्रेषित भावनाओं में तथा सहृदय द्वारा अनुभूयमान भावनाओं में एकरूपता होनी चाहिए।

रस-सिद्धान्त के विषय में अनेक ग्रन्थ और लेख लिखे गए हैं। उनमें से कतिपय प्रमुख का ही मैं यहाँ उल्लेखमात्र करूँगा। दे. डॉ. डे लिखित 'हिस्ट्री आफ़ संस्कृत पोयटिक्स' भाग २, पृ. २१-३२, १३५-१७४ तथा 'दी थ्येरी आफ़ रस', मुकरजी सिल्वरजुबली कमेमोरेशन ग्रंथ, भाग ३, पृ. २०७-२५३ में; डॉ. ए. संकरन, 'थ्येरीज़ आफ़ रस एंड ध्वनि' विशेषतः पृ. १५-७, ९१-११७; 'शृंगारप्रकाश' भाग १, प्रति २, पृ. ४१८-५४२ पर डॉ. राघवन की टीका; डॉ. के. सी. पांडे लिखित 'इण्डियन एस्थटिक्स'; १९५०; 'ए क्रिटिकल सर्वे आफ़ इण्डियन एस्थटिक्स', जर्नल आफ गंगानाथ झा इन्स्टिट्यूट, भाग ३, पृ. ३७९-४२६; प्रो. एस. पी. भट्टाचार्य रचित 'साईकालॉजिकल बेसिस आफ़ अलंकार लिट्रेचर', मुकरजी सिल्वर जुबली कममोरेशन ग्रंथ में भाग ३, पृ. ६६१-८२; पी. एस. नाइडू का 'रस डाक्ट्रिन' नामक लेख, जर्नल आफ़ अन्नमलाई-यूनिवर्सिटी भाग १०, पृ. १-१२; डॉ. बी. एल. अत्रे का लेख 'साईकालॉजी आफ़ ब्यूटी', जर्नल आफ़ बनारस-यूनिवर्सिटी भाग ६, पृ. ४३-५५; प्रो० वाडेकर का 'कन्सैप्ट आफ़ स्थायिभाव', ऐनल्स आफ़ बी. ओ. आर. आई., भाग २४, पृ. २०७-१४; प्रो० के. एन. वाटवे का 'साईकॉलॉजी आफ रस थ्येरी', ऐनल्स आफ़ बी. ओ. आर. आई. सिल्वरजुबली ग्रंथ भाग २६, पृ. ६६९-६७७; पंचपगेश शास्त्री लिखित 'फिलासफी आफ़ एस्थैटिक प्लेजर', अन्नमलाई-यूनिवर्सिटी १९४०; आशुतोष मुकरजी का लेख 'रस कल्ट इन दी चैतन्य-चरितामृत', एस. जी. भाग ३, औरियण्टेलिया भाग ३, पृ. ३६८-८८; प्रो. एस. पी. भट्टाचार्य का 'कार्नरस्टोन आफ़ रस आईडियोलोजी,' प्रोसीडिंग्ज आफ़ आल इण्डिया औरियण्टल कान्फरेंस, १३वीं बैठक पृ. २५३-६७; एन. बालसुब्रह्मण्य लिखित 'दी आलंकारिकाज़ एंड दी सीमेंटिक्स आफ़ सजैशन' जर्नल ऑफ़ मैसूर-यूनिवर्सिटी, भाग १६, संख्या १; डॉ. राकेश गुप्त का 'साईकालॉजीकल स्टडीज़ इन रस', अलीगढ़ १९५०; प्रो. एम. हिरियन्न-रचित

'आर्ट एक्सपीरियंस', डॉ. राधाकृष्णन की ६०वीं वर्षगाँठ पर भेंट किए गए तुलनात्मक अध्ययन-ग्रंथ में पृ. १७६-८८; रेनियरो नोली कृत 'एस्थैटिक एक्सपीरियंस अकार्डिंग टू अभिनवगुप्त', रोम १९५६; एच. एल. शर्मा की 'दी क्रिटीकल एंड कम्पैरेटिव स्टडी आफ़ इण्डियन एस्थैटिक्स', जे. जी. जे. आर. आई. भाग १५, प्रति ३, और ४, पृ. १८७-१९२; डा. के. सी. पांडे रचित 'इण्डियन एस्थैटिक्स' नामक पुस्तक के 'कम्पैरेटिव एस्थैटिक्स' भाग में, भाग १, संस्करण २, १९५० ।

शान्त रस तथा रस-संख्या के विषय में महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठते हैं। डॉ. राघवन ने इन दोनों विषयों का विवेचन किया है (जे. ओ. आर. मद्रास, भाग १०, पृ. १-१०, ९७-११४, २४०-२५० और भाग ११, पृ. १२-२१; ७७-११५, २६९-२८४)। 'नंबर आफ़ रसाज़' (१९४०) नामक स्वतंत्र ग्रन्थ में जे. ओ. आर. मद्रास सीरीज़ द्वारा प्रकाशित लेखों का अन्तर्भाव हुआ है। इस ग्रन्थ में भी उपर्युक्त दोनों विषयों का विवेचन आ गया है। शान्त रस के विवेचन के लिए ऊपर पृ. १२-१३ भी देखिए । विक्रमोर्वशीय (२. १८), काव्यादर्श (२. ३९२) और भरत के ग्रन्थ (६. १५-१६) के अनुसार रस मूलतः केवल आठ थे। परन्तु उद्भट (४. ५) और विष्णुधर्मोत्तरपुराण (ऊपर पृ. ६८) में नौ रसों का उल्लेख आया है। इससे सिद्ध होता है कि शान्त रस का समावेश लगभग सातवीं शताब्दी से हुआ। भावप्रकाशन (पृ. ४७) के अनुसार वासुकि ने ही सर्वप्रथम शान्त रस की सत्ता स्वीकार की। कतिपय ग्रन्थकारों के अनुसार शान्त रस की स्थिति कविता में हो सकती है, नाटक में नहीं। दे. दशरूप ४. ३५ (शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य) और भावप्रकाशन (पृ. ४७) (नाटकादिनिबन्धे तु तपश्चरणवस्तुनि। अभिनेतुमशक्यत्वात्तद्वाक्यार्थ-पदार्थयोः। सामाजिकानां मनसि रसः शान्तो न जायते ॥)। शान्त की स्थिति नाटक में क्यों न स्वीकार की जाय, इसके अनेक कारण हैं। यह कहना कठिन है कि प्रेक्षक-समूह को शान्त रस के आस्वाद से प्रभावित किया जा सकता है। नाटकीय प्रदर्शन का वातावरण, संगीत, गायन, सजावट आदि शम भाव के विरोधी तत्त्व हैं। एकांत स्थल में बैठकर कविता के अध्ययन से शान्त रस की उत्पत्ति हो सकती है। ध्वन्यालोक (चतुर्थ उद्योत, पृ. २९८-३००) में विस्तृत विवेचन कर स्पष्ट किया गया है कि महाभारत का अंगी रस शान्त है, तो रामायण का करुण रस। प्रबोधचन्द्रोदय जैसे नाटक को रंगमंच पर प्रस्तुत करना संभव है परन्तु प्रेक्षकों की संख्या बहुत कम होगी। यदि नाटक को 'अवस्थानुकृतिः' (दशरूप, १. ७) कहा जाता है तो सिद्धान्ततः इसमें कोई भी

कारण नहीं है कि शान्त रस को कुशल अभिनेताओं द्वारा उपयुक्त उपकरणों से रंगमंच पर प्रस्तुत न किया जा सके। अभिनवगुप्त ने इसके विपरीत शान्त रस को सर्वश्रेष्ठ रस माना और इसका संवन्ध मानव-जीवन के अंतिम उद्देश्य मोक्ष से स्थापित किया। क्योंकि सभी प्रकार का काव्यास्वाद अलौकिक और व्रह्मास्वाद के सदृश है (दे. अभिनवभारती, भाग १५. ३४०, 'सर्वरसानां शान्त-प्राय ऐवास्वादः)। अभिनव और धनंजय के अनुसार शम शान्त का स्थायी भाव है, वैराग्य और संसारभीरुता इसके विभाव हैं, मोक्षशास्त्रचिन्ता अनुभाव हैं; निर्वेद, मति, धृति, स्मृति व्यभिचारी भाव हैं। मम्मट (४. ३५—'निर्वेद-स्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः') और संगीतरत्नाकर के अनुसार शान्त का स्थायीभाव निर्वेद है। जव कि अन्य लेखकों के अनुसार जुगुप्सा अथवा उत्साह स्थायीभाव है (रसतरंगिणी, श्लोक १३७४)। डॉ. राघवन ने अपने ग्रन्थ 'नंवर आफ रसाज़' (पृ. ९२-१०६) में अभिनवभारती में लिखित शांतरस का अंश शुद्ध रूप में प्रस्तुत किया है। शान्तरस के विषय में चन्द्रिका के मत के लिए ऊपर पृ. २०७ देखिए (अधिकारिकत्वेन शान्तो रसो न निवद्धव्यः)। हम ऊपर देख चुके हैं कि रुद्रट ने प्रेयान् नामक दशम रस का उल्लेख किया है। अभिनवभारती (भाग १, पृ. ३४१-४३) में अन्य लेखकों द्वारा प्रस्तुत स्नेह (आर्द्रता स्थायीभाव), लौल्य और भक्ति का उल्लेख किया गया है तथा कहा गया है कि स्नेह का रति और उत्साह में अन्तर्भाव होता है, लौल्य का हास या रति में तथा भक्ति का रति में। क्योंकि देवादि-विषयक रति को भावमात्र कहा गया है (रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः। भावः प्रोक्तः—काव्यप्र. ४. ३५) न कि शृंगार। अन्य लेखकों ने भक्ति को पृथक् रस माना है। संगीतरत्नाकर के मत में (श्लोक १३७०-७१, पृ. ८१५) नट पात्र (वर्तन) के समान होता है जिसमें रस रखा जाता है। जिस प्रकार पात्र रस का आस्वाद नहीं लेता उसी प्रकार नट भी रसास्वाद नहीं लेता। इसमें अन्य लेखकों द्वारा प्रस्तुत भक्ति (श्रद्धा स्थायीभाव), स्नेह और लौल्य—इन तीन रसों का उल्लेख किया गया है परन्तु इन्हें मान्यता नहीं दी गई है। ध्वन्यालोक[1]

1. शान्तश्च तृष्णाक्षयसुखस्य यः परिपोषस्तल्लक्षणो रसः प्रतीयते। तथा चोक्तम् यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्। तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥ यदि नाम सर्वजनानुभवगोचरता तस्य नास्ति नैतावता-सावलोकसामान्यमहानुभावचित्तवृत्तिविशेषवत् प्रतिक्षेप्तुं शक्यः (ध्वन्यालोक ३., पृ. २१९-२०)। 'यच्च' यह श्लोक शान्तिपर्व १७५. ३५ तथा वायुपुराण ९३. १०१ में भी है।

के अनुसार नागानंद नाटक में शान्त और शृंगार दोनों रसों की स्थिति है। शान्त का स्थायीभाव तृष्णाक्षयसुख है। इन्होंने अपने मत के समर्थन में महाभारत से एक श्लोक प्रस्तुत किया है और यह भी कहा है कि यद्यपि सभी व्यक्ति तृष्णाक्षय-सुख का अनुभव नहीं कर पाते तो भी कोई वात नहीं है। लोचन में नाट्यशास्त्र के इस मत का उल्लेख आया है कि नाट्य के अन्तर्गत धर्म, क्रीडा, सम्पत्ति और शम दिखाये जाते हैं (त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्। क्वचिद्धर्मः क्वचित् क्रीडा, क्वचिदर्थः क्वचिच्छमः—पृ. १०४)। इसमें कहा गया है कि शम ध्वनित होता है यद्यपि सभी प्रेक्षकों की इसमें रुचि नहीं होती। परन्तु प्रेक्षकों की रुचि इसकी कसौटी नहीं है। कई वीतरागी शृंगार में भी रुचि नहीं दिखायेंगे। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि शृंगार रस ही नहीं है। कइयों के मत में यदि शम को शांत का स्थायी भाव माना जाय तो नट में इस गुण के अभाव से नाटक में शान्त रस नहीं आ सकता। संगीतरत्नाकर का उत्तर नीचे[1] दिया जाता है। सहृदय की भांति नट स्वयं अभिनीत वस्तु का आस्वाद नहीं ले सकता। जव वह भय अथवा क्रोध का अभिनय करता है तव वह स्वयं इन भावों की वास्तविक अनुभूति नहीं करता।

हम ऊपर (पृ. २४८) कह चुके हैं कि भोज ने शृंगारप्रकाश में 'रस एक ही है' इस सिद्धान्त की स्थापना की है। इनके अनुसार कविता रस के कारण सरस वनती है और इस एक रस को शृंगार कहा जा सकता है, जिसका रूप अभिमान तथा अहंकार-जैसा ही है। यह मनुष्य की आत्मा में व्याप्त रहता है क्योंकि आत्मा पर जन्म-जन्मान्तर से उसके संस्कार पड़े रहते हैं और इसी एक कारण से आत्मा के अनेक गुणों की उत्पत्ति होती है। (रसोभिमानोऽहंकारः शृंगार इति गीयते। योऽर्थस्तस्यान्वयात्काव्यं कमनीयत्वमश्नुते॥ विशिष्टादृष्टजन्मायं जन्मिनामन्तरात्मसु। आत्मसम्यग्गुणोद्भूतेरेको हेतुः प्रकाशते॥) (स. क., ५. १-२) भोज ने शृंगार को अहंकार के समतुल्य वताया है जो वस्तुतः रसा-

---

1. शान्तस्य शमसाध्यत्वान्नटे च तदसंभवात्। अष्टावेव रसा नाट्येष्विति केचिदचूचुदन्। तदचारु यतः कंचिन्न रसं स्वदते नटः। सामाजिकास्तु लिहते रसान् पात्रं नटो मतः। (संगीतरत्नाकर ७., पृ. ८१६, श्लोक १३७०-७१) जगन्नाथ के (रसगंगाधर, पृ. ३०) ने 'अष्टावेव. . . . नटः' शब्द उद्धृत किये हैं और शांत को नौवाँ रस माना है। अभिनवभारती (भाग १, पृ. २९२) में कहा गया है: 'नटे तर्हि किमास्वादनोपायः। अत एव पात्रमित्युच्यते। नहि पात्रे मद्यास्वादोपि तदुपायकः'।

नुभूति को आनंदमय ब्रह्मास्वादसहोदर मानने के सदृश है। जब भोज द्वारा शृंगार को एक रस माना गया है तब इसे एक विशिष्ट दार्शनिक रूप दिया गया है। जब कि शृंगार का सामान्य अर्थ स्त्री-पुरुष का प्रेम है। इन्होंने इन दोनों अर्थों को पृथक्-पृथक् रखा है। जो भोज के दृष्टिकोण को समझना चाहते हैं वे डॉ. राघवन द्वारा संपादित शृंगारप्रकाश (भाग १, प्रति २, पृ. ४३५-५१३) का अध्ययन करें। अभिनवभारती में आये शान्त रस के शुद्ध पाठ के लिए दे. डॉ. राघवन लिखित 'नंबर आफ़ रसाज़' ग्रन्थ (पृ. ९२-१०६=अभिनवभारती भाग १, पृ. ३३३-३४२)।

कतिपय लेखकों के मत में अद्भुत ही एक मात्र रस है। साहित्यदर्पणकार (३. २-३) के अनुसार उसके प्रपितामह नारायण ने चमत्कार या विस्मय को ही इसका सार माना है। धर्मदत्त की उक्ति को इन्होंने उद्धृत किया है। (दे. ऊपर पृ. २८९, टिप्पणी ३.)।

डॉ. डे ने अपने लेख 'दी थिअरी आफ़ रस' (आशुतोष मुकर्जी सिल्वरजुबली समारोह में समर्पित, भाग ३, पृ. २४०-२५३) में नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय में प्रस्तुत इस सूत्र की अभिनवगुप्त-लिखित टीका दी गई है। (भाग २, पृ. २७४-२८८) इन पृष्ठों में लोल्लट, शंकुक, नायक और अभिनवगुप्त के मतों का विस्तृत विवेचन हुआ है। स्थानाभाव के कारण इन सभी मतों तथा इनके आक्षेपों का विवेचन यहां संभव नहीं है। रसास्वाद के विषय में आदि लेखकों के सिद्धान्तों की विशेषताओं का संक्षेप में निरूपण करूंगा। महत्त्वपूर्ण प्रश्न है: 'रस की स्थिति किस में है?'[1] 'रस का स्वरूप क्या है?' 'इस की उत्पत्ति कैसे होती है और इसका आस्वाद कैसे लिया जाता है?' संक्षेप में लोल्लट का मत इस प्रकार है: 'मूल रूप में रस का संबन्ध नायक राम इत्यादि से होता है (जैसे राम सीता के प्रति प्रेम की अभिव्यक्ति करते हैं और नाटककार इसे उपयुक्त शब्दों में व्यक्त करता है)। नट के कुशल अभिनय के कारण प्रेक्षक उसमें राम के मनोभावों का आरोपण करता है। प्रेक्षक को नट द्वारा प्रस्तुत प्रेम के इस अभिनय से आनन्द मिलता है। 'विभावा . . . रसनिष्पत्तिः' आदि शब्दों का यही अर्थ है। इस मत के अनुसार प्रेक्षक अभिनीत विषय के मूल अर्थ का रसास्वाद नहीं करता। लोल्लट का तात्पर्य केवल इतना ही है कि नट द्वारा

---

1. तौत का यह मत (ऊपर पृ. २११) ध्यान देने योग्य है कि मूल नायक, नाटककार अथवा कवि और प्रेक्षक अथवा पाठक की अनुभूति एक समान होती है। नट तो केवल अभिनय करता है, परन्तु कतिपय ग्रन्थकारों के अनुसार, नट को रसास्वाद से वंचित रखने का कोई कारण नहीं है।

प्रस्तुत राम के अभिनय को प्रेक्षक साक्षात् राम मानकर आनन्द का अनुभव करते हैं। अभिनवगुप्त अथवा मम्मट ने लोल्लट के मत की स्पष्टतः व्याख्या नहीं की—तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः। स्थायी भवत्यनुपचितः। स चोभयोरपि मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्येऽनुकर्तरि च नटे रामादिरूपतानुसन्धानबलादिति। (अ. भा. भाग १, पृ. २७४); रसस्वरूप एव तावद्विप्रतिपत्तयः प्रतिवादिनाम्। तथा हि पूर्वावस्थायां यः स्थायी स एव व्यभिचारिसम्पातादिना प्राप्तपरिपोषोऽनुकार्यगत एव रसः। (लोचन, पृ. ८३); नटे तु तुल्यरूपतानुसन्धानवशादारोप्यमाणः सामाजिकानां चमत्कारहेतुः (काव्यप्रकाश ४. ५-६ पर प्रदीपनाम टीका, पृ. ७४)। यहाँ राम में मूल रस (शृंगार) की उत्पत्ति होती है। अतः यह मत उत्पत्ति-वाद कहलाता है। शंकुक के विचार में रस अनुमान का विषय है। अभिनय-कुशल नट बड़ी चतुराई से वास्तविक नायक के कार्यों का अभिनय करता है और प्रेक्षक को एक क्षण के लिए अभिनेता और वास्तविक नायक में साम्य प्रतीत होता है। और नट द्वारा प्रस्तुत अनुभाव और व्यभिचारी भावों से राम आदि के प्रेम का अनुमान लगता है। इस प्रकार वह राम के प्रेम का मन से साक्षात्कार करके रसास्वाद लेता है। यहाँ रस का निरूपण प्रेक्षक से सम्बद्ध है। परन्तु अनुकरण की चतुराई से इसे अनुमान का विषय माना गया है (अनुकरणरूपो रसः)। यह ध्यान देने योग्य है कि शंकुक ने रसविवेचन प्रेक्षक की दृष्टि से किया है। इनके मत में रस प्रेक्षक द्वारा अनुमित होता है। मूल नायकगत स्थायी भावों की स्थिति नट में अनुमित होती है (यद्यपि वे मूलतः उसमें नहीं होते) क्योंकि नट द्वारा विभावों का चतुराई से अपने अभिनय में उपस्थापन किया जाता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि नट के भाव मूल नायक के ही भाव हैं। उस क्षण में प्रेक्षक नट और मूल नायक के अंतर को भूल जाते हैं। इस अनुमित स्थिति में विशेष सौन्दर्य होता है जो कि सामान्य अनुभूति और अनुमान से सर्वथा भिन्न होता है। अतः प्रेक्षक की रसानुभूति अनुमानाश्रित है। अभिनवभारती (भाग १, पृ. २७४-७८) के कई पृष्ठों में इस मत की व्याख्या और समीक्षा हुई है। इसके विरुद्ध अनेक आपत्तियाँ उठाई हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण यह है कि प्रत्यक्ष ज्ञान से ही चमत्कार उत्पन्न होता है न कि अनुमान से। (एतदप्यहृदयग्राहि यतः प्रत्यक्षमेव ज्ञानं सचमत्कारं, नानुमित्यादिरिति लोकप्रसिद्धिमवधूयान्यथा कल्पने मानाभावः। काव्यप्र. पृ. ४-५ पर प्रदीप नामक टीका, पृ. ७७) भट्टनायक के मत के लिए दे० ऊपर पृ. २१२-२१३। भट्टनायक ने इस को अनुमान का विषय नहीं माना और उन्होंने यह भी अस्वीकार किया है कि रस को जिस रूप में प्रस्तुत किया जाता है उसी

रूप में प्रेक्षक उसका आस्वाद नहीं लेता। इन्होंने रसास्वाद को परब्रह्म-साक्षात्कार की कोटि में रखा है। चूंकि परब्रह्म आनंदमय है अतः रस का आस्वाद भी आनंद-मय है। इन्होंने अभिधा के अतिरिक्त भावकत्व व्यापार अथवा भोग या भोगी-कृति, ये दो और शब्द-शक्तियां मानी हैं। प्रथम शक्ति से राम-सीता आदि विभाव प्रेक्षक या पाठकों के समक्ष उपस्थित होते हैं। वे विभाव साधारणीकृत होते हैं। प्रेक्षक के मन में रतिभाव जागृत होता है तब प्रेक्षक या पाठक आनंद की अनुभूति करते हैं। पर आनंद सामान्य अनुभव अथवा स्मृति से भिन्न होता है जिसकी समता परब्रह्मास्वाद से की जा सकती है। अभिनवभारती (नाट्य-शास्त्र, भाग १, पृ. २७८-७९) में उल्लेख आया है: 'तस्मात् काव्ये दोषाभाव-गुणालंकारमयत्वलक्षणेन, नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण, निविडनिजमोहसंकटता निवारणकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मना अभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्व-व्यापारेण भाव्यमानो रसोऽनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन रजस्तमोऽनुवेधवैचित्र्य-बलाद्हृदि विस्तारविकासलक्षणेन सत्त्वोद्रेकप्रकाशानंदमयनिजसंविद्विश्रान्ति-विलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यत इति।' लोचन से विदित होता है कि नायक ने रस को काव्य अथवा नाटक की आत्मा स्वीकार किया है और इसे व्यंग्य-रूप में माना है। 'रसः। स च काव्यव्यापारैकगोचरो रसध्वनिरिति। स च ध्वनिरेवेति स एव मुख्यतयात्मेति'। (लोचन पृ. १८), और 'रसस्य शब्दवाच्यत्वं तेनापि नोपगतमिति व्यंग्यत्वमेव' (लोचन पृ. २३)। भट्टनायक ध्वनि-संप्रदाय से दो बातों में अपनी मत-भिन्नता रखते हैं। प्रथम यह कि रसानुभूति का वर्णन तथा विश्लेषण नहीं किया जा सकता; और ध्वनित, रूप में ही रस काव्य की आत्मा है न कि वस्तु अथवा अलंकार जैसा कि ध्वन्या-लोक (पृ. १८) में माना गया है। अभिनवगुप्त के मत में रस अभिव्यक्ति है वह कार्य या ज्ञाप्य[1] नहीं है। इन्होंने भट्टनायक प्रस्तुत अभिधा व्यतिरिक्त दो अन्य शक्तियों को नहीं माना। इनके मत में रति-आदि भाव प्रेक्षकों के मन में सुप्त रहते हैं, ये विभावादि की सहायता से जागृत होते हैं और रस की अवस्था को प्राप्त करते हैं। इन मतों का विस्तृत विवेचन काव्यप्रकाश (४) और लोचन (पृ. ३०, ६८-७०) में देखिए। रस को काव्य की आत्मा मानने का भरत का दृष्टिकोण निम्नलिखितों ने स्वीकार किया है: रुद्रभट्ट (श्रृंगारतिलक

---

1. दे. लोचन, पृ. ६९ 'अतश्चर्वणात्राभिव्यंजनमेव न तु ज्ञापनं, प्रमाणव्यापारवत् नाप्युत्पादनम्। हेतुव्यापारवत्। ननु यदि नेयं ज्ञाप्तिर्न वा निष्पत्तिः, तर्हि किमेतत्। . . . .अतश्च रसोऽयमलौकिकः।

में), अग्निपुराण (वाग्वैदध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम् । अ. ३३६. ३३), काव्यमीमांसा (पृ. ६, रस आत्मा), मम्मट, रुय्यक, शौद्धोदनि (अलंकारस्तु शोभायै रस आत्मा परे मनः, अलंकारशेखर, पृ. ६)। इनके अतिरिक्त अनेक लेखकों ने रस को काव्य की आत्मा माना है। अभिनवगुप्त के मत में व्यंजना-शक्ति से रस अभिव्यक्त होता है और रस-प्रतीति होती है जिसका विश्लेषण और वर्णन किया जा सकता है। इन्होंने भट्टनायक के भावकत्व (साधारणी-करण) को अस्वीकार किया है और भोग को न मानकर रस-प्रतीति, रसा-स्वाद अथवा रसचर्वणा का ही उल्लेख किया है। भरत की यह उक्ति ध्यान देने योग्य है (६. पृ. ७१): 'नानाभावाभिनयव्यंजितान् वागंगसत्त्वोपेतान् स्थायि-भावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः तस्मान्नाट्यरसा इति व्याख्याताः।' और फिर कहा है: 'एवमेते काव्यरसाभिव्यक्तिहेतव एकोनपंचाशद्भावाः प्रत्यवगंतव्याः । एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसाः निष्पद्यन्ते।' भट्टनायक (नाट्यशास्त्र, भाग १, पृ. ८०, जी. ओ. एस.) ने भावकत्व (साधारणीकरण)[1] और भोजकत्व इन दो व्यापारों की कल्पना की है। भट्टनायक की स्थापना के विरुद्ध दो प्रमुख आपत्तियाँ उठाई गई हैं। इसमें कोई प्रमाण नहीं है कि अभिधा के अतिरिक्त दो और व्यापारों की आवश्यकता है। जिस 'भुक्ति' को ज्ञान से परे मानते हैं वह एक प्रकार की अनुभूति ही है और इसका अन्तर्भाव अभि-व्यक्ति-सिद्धान्त में ही हो जाता है।

अलंकार-संप्रदाय

अलंकार[2] शब्द प्राचीन काल से चला आ रहा है। रुद्रदामन् के शिलालेख के अनुसार द्वितीय शताब्दी ई. सन् में साहित्यिक गद्य और पद्य को अलंकृत करना आवश्यक माना जाता था। नाट्यशास्त्र (अ. १७. १-५) में ३६ लक्षणों (दो भिन्न-भिन्न पाठ) की गणना की गई है। नाट्य में प्रयुक्त काव्य में इन की स्थिति थी। शनैः शनैः ये लक्षण लुप्त हो गये और इनमें से कतिपय को (जैसे हेतु, लेश आदि को) कई प्राचीन आलंकारिकों (जैसे दण्डी-आदि) ने अलंकार के रूप में स्वीकार किया है। भूषण अथवा विभूषण नामक प्रथम लक्षण की

1. साधारणीकरणं चैतदेव यत्सीतादिविशेषाणां कामिनीत्वादिसामान्येनो-पस्थितिः (प्रदीप, पृ. ७८)।

2. अलंकृति शब्द ऋग्वेद में 'अरंकृति' के रूपमें मिलता है। 'का ते अस्त्यरंकृतिः सूक्तैः कदा नूनं ते मघवन् दाशेम' (ऋग्वेद ७. २९. ३)।

परिभाषा इस प्रकार है : 'अलंकारैर्गुणैश्चैव वहुभिः समलंकृतम् । भूषणैरिव-चित्रार्थैस्तद्भूषणमिति स्मृतम् ।' (नाट्यशास्त्र १७. ६, जी. ओ. एस., भाग २, पृ. ३५०) इससे स्पष्ट होता है कि भूषण नामक लक्षण में अलंकार और गुणों का समावेश होता है। नाट्यशास्त्र (१७. ४३, पृ. ३२१, के. एम. ग्रं. १६. ४३ और जी. ओ. एस. १६. ४०, भाग २) में उपमा, रूपक, दीपक और यमक इन चार अलंकारों को नाटक के अलंकार माना गया है। 'काव्यं ग्राह्यम-लंकारात्। सौन्दर्यमलंकारः।' (काव्या. सू. १. १. १-२) में वामन ने अलंकार शब्द को दो अर्थों में प्रयुक्त किया है। यहाँ अलंकार का अर्थ सुंदर[1] वस्तु से है। इन्होंने उपमा आदि अलंकारों से भी अलंकार शब्द का संवन्ध दिखाया है क्योंकि इनसे काव्य सुन्दर वनता है। इसी प्रकार दण्डी ने भी अलंकार शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया है जैसा कि नीचे दिखाया गया है ।

इस संप्रदाय के प्रमुख प्रतिनिधि भामह और उद्भट हैं। दण्डी, रुद्रट और प्रतिहारेन्दुराज को भी इसी संप्रदाय में रखा जा सकता है। यह कहना उपयुक्त नहीं है कि वे रस-सिद्धान्त से अपरिचित थे (दे. ऊपर पृ. ३४१)। उद्भट ने रसवत् की परिभाषा इस प्रकार दी है: 'रसवद्दर्शितस्पष्टशृंगारादिरसा-

---

1. वामन के मत में काव्य ललित कला है और इसका उद्देश्य सौन्दर्याभिव्यक्ति है। निम्न प्रश्न विवादास्पद हैं : 'सौन्दर्य का क्या विशिष्ट गुण है ? क्या यह आत्मपरक है या वस्तुपरक है ? क्या कवि या कलाकार सौन्दर्य-रचना में नीति का उपदेश देने का अधिकारी है ? अथवा उसका क्षेत्र नीति-उपदेश से भिन्न है ?' मैं इन प्रश्नों की गहराई में जाने का मोह संवरण करता हूं। सौन्दर्य का संसार नीति और सत्य के संसार से परे अथवा भिन्न है। काव्य ललित कला का एक भाग है अतः इसका उद्देश्य प्रत्यक्ष नीति-उपदेश करना अथवा अंतिम सत्य का अन्वेषण करना नहीं है। कवि का कर्तव्य अपने और अपनी कला के प्रति सत्य रहना है तथा निजी अनुभवों को उत्तम से उत्तम शैली में व्यक्त करना है। नाटक के मांध्यम से वह परोक्ष-रूप में नीति का उपदेश कर सकता है। ध्वन्या. (३. पृ. २२४) में निम्न उक्ति आई है : 'शृंगाररसांगैरुन्मुखीकृताः सन्तो हि विनेयाः सुखं विनयोपदेशं गृह्णन्ति । सदाचारोपदेशरूपा हि नायकादिगोष्ठी विनेय-जनहितार्थमेव मुनिभिरवतारिता ॥' दे. डॉ. वी. एल. अत्रे लिखित 'साइका-लॉजी आफ़ ब्यूटी' (जरनल आफ़ वनारस-यूनिवर्सिटी, भाग ६, पृ. ४३-५५)। माघ ने रमणीयता का वर्णन इस प्रकार किया है : 'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः' (४-१७)।

दयम् । स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम् ॥' (४) इसमें इन्होंने स्थायीभाव, विभाव अथवा व्यभिचारी भाव आदि पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख किया है। अगले श्लोक में इन्होंने ९ रसों के नाम गिनाये हैं। दण्डी ने भी रसवत् और ऊर्जस्वि की परिभाषा करते हुए इस प्रकार कहा है : 'मधुरं रसवद्-वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः' (१. ५१) । वे आठों रस और उनके स्थायी भावों से पूर्णतः परिचित हैं— 'इह त्वष्टरसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम्' (२. २९२); 'प्राक् प्रीतिर्दर्शिता सेयं रतिः शृंगारतां गता (२. २८१) ।' काव्या. २. २८३, २८५, २८७ भी देखिए। रुद्रट ने कहा है 'तस्मात्तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्' (१२. २) । ये ग्रन्थकार रस के अस्तित्व से भली भाँति परिचित थे। परन्तु इसे सामान्य काव्य पर कैसे घटाया जाय, इसका उन्हें ज्ञान नहीं था। इन्हें काव्य में अलंकार ही महत्त्वपूर्ण लगते थे यहाँ तक कि इन्होंने रसों को अलंकारों से गौण माना और इनका रसवत् आदि अलंकारों के रूप में उल्लेख किया। भामह और दण्डी ने अलंकार और गुणों में कोई विशेष अंतर नहीं माना। भामह और दण्डी, दोनों ने भाविक को गुण माना है—('भाविकत्वमिति-प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्' (३. ५२ और काव्यादर्श २. ३६४) । अलंकार का व्यापक अर्थ लेकर दण्डी ने दस गुणों को अलंकार माना है—'काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते। काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः' (२.१ और ३) । दण्डी ने काव्यादर्श (२. ३६७) में कहा है कि नाटकगत संधि के ६४ अंग, वृत्ति के १६ अंग और अन्य परम्परागत ३६ लक्षण (नाट्यशास्त्र-गत रंगमंच से संबद्ध) अलंकार होते हैं ('यच्च सन्ध्यंगवृत्यंग लक्षणाद्यागमान्तरे। व्यावर्णितमिदं चेष्टमलंकारतयैव नः') । अलंकारसर्वस्व, (पृ. ३, ९) में कहा गया है—'इह तावद्भामहोद्भटप्रभृतयश्चिरंतनालंकारकाराः प्रतीयमानमर्थं वाच्योपस्कारकतयालंकारपक्षनिक्षिप्तं मन्यन्ते ।........ उद्भटादिभिस्तु गुणालंकाराणां प्रायशः साम्यमेव सूचितम्।.....तदेवमलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्।' तरल में 'अभाव एव ध्वनेरिति भामह-प्रभृतयो मन्यन्ते' यह उक्ति आई है (पृ. २४) । इससे यह विचार उत्पन्न हो सकता है कि भामह ध्वन्यभाववादी थे। परन्तु यह सर्वथा उपयुक्त नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि भामह, दण्डी और अन्य लेखक इस बात से परिचित नहीं थे कि काव्य की आत्मा प्रतीयमान अर्थ है और उन्होंने अपनी रचना में ध्वनि या गुणीभूतव्यंग्य शब्दों का प्रयोग भी नहीं किया। उन्होंने अप्रस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति, आक्षेप आदि की परिभाषाओं में प्रतीयमान अर्थ का पर्याप्त अन्तर्भाव कर लिया है (जो कि ध्वन्यालोक का गुणीभूतव्यंग्य है) । उदाहरणार्थ, 'यत्रोक्ते

गम्यतेन्योर्थस्तत्समानविशेपणः । सा समासोक्तिः' (भामह २. ७९)। पर्या-योक्त अलंकार में वे ध्वनि के शेष सभी तत्त्वों को समाविष्ट कर सकते थे। जगन्नाथ ने वलपूर्वक सत्य वात कही है: 'ध्वनिकारात्प्राचीनैर्भामहोद्भटप्रभृतिभिः स्वग्रन्थेषु कुत्रापि ध्वनिगुणीभूतव्यंग्यादिशब्दा न प्रयुक्ता इत्येतावितैव तैर्ध्वन्यादयो न स्वीक्रियन्त इत्याधुनिकानां वाचोयुक्तिरयुक्तैव। यतः समासोक्तिव्याजस्तुत्यप्रस्तुतप्रशंसाद्यलंकारनिरूपणेन कियन्तोऽपि गुणीभूत-व्यंग्यभेदास्तैरपि निरूपिताः । अपरश्च सर्वोऽपि व्यंग्यप्रपंचः पर्यायोक्तकुक्षौ निक्षिप्तः । न ह्यनुभावसिद्धोऽर्थो वालेनाप्यपह्नोतुं शक्यते । ध्वन्यादि-शब्दैः परं व्यवहारो न कृतः । न ह्येतावतानङ्गीकारो भवति'। (रसगंगाधर, पृ. ४१४-४१५) यद्यपि भामह और दण्डी ने ध्वनि अथवा व्यंग्य को काव्य में व्याप्त तत्त्व नहीं माना फिर भी इन्होंने वक्रोक्ति अथवा अतिशयोक्ति को वहुत महत्त्व दिया है और इन्हें सभी अलंकारों के मूल में निहित माना है। (दे. भामह २. ८५ 'सैषा सर्वैव.' और 'अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम् । वागीश-महितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम् ॥' काव्या. २. २२०) वक्रोक्ति के अर्थ के लिए दे. नीचे लिखित १२वाँ प्रकरण। रुद्रट ने (ऊपर पृ. १४५ दे.) भाव नामक अलंकार की परिभाषा दी है। इस में कोई वस्तु (तथ्य) व्यंग्य होती है। इन्होंने लुप्तोत्प्रेक्षा का (९. १३) उदाहरण प्रस्तुत किया है। अतः यह भी व्यंग्य के अर्थ से अपरिचित नहीं थे। भामह और दण्डी ने अलंकारों को जो महत्त्व दिया उसका परवर्ती आचार्यों ने भी अनुसरण किया। भामह ने लिखा है, 'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्' (१. १३)। यद्यपि मम्मट भी ध्वन्यालोक के कट्टर अनुयायी हैं फिर भी इनका अलंकार-विवेचन ग्रन्थ में विवेचित सभी विपयों से अधिक विस्तृत है। विभिन्न लेखकों द्वारा उल्लिखित अलंकारों की संख्या २०० से भी अधिक है। अलंकारों की अधिक जानकारी के लिए दे. आई. ए., भाग ४१, सन् १९१२, पृ. २०४-८; प्रो. सोवानी-लिखित 'हिस्ट्री एण्ड सिग्नीफिकेन्स आफ अलंकाराज़' के लिए दे. एनल्स वी. ओ. आर. आई., भाग १., पृ. ८७-९८; एनल्स बी. ओ. आर. आई., भाग २, पृ. ६९-७२ पर देखिए प्रो. पी. के. गौड़ का 'अलंकार-वर्गीकरण'; 'साइकालॉजिकल वेसिस आफ़ अलंकाराज़' के लिए दे. मुकर्जी सिल्वरजुवली ग्रन्थ ३, पृ. ६६१ से आगे; डॉ. दे-लिखित 'हिस्ट्री आफ़ संस्कृत पोइटिक्स, भाग २, पृ. ४१-९४; प्रो. एच. आर. दिवेकर लिखित 'ले फ्लाज डे रेटारिके डा ले इन्ड' १९३०; डॉ. राघवन-लिखित 'इंडियन कल्चर', भाग ३, पृ. ६७५-७०५ और 'सम कन्सेप्ट्स' इत्यादि, पृ. ४८-९१ के लिए दे. 'यूज़ एण्ड अब्यूज़ आफ़ अलंकाराज़ इन संस्कृत

लिटरचर', शृंगारप्रकाश, भाग १, पृ. ३६१-४१७ में दे. 'भोजा'स कन्सेप्शन आफ़ अलंकाराज़'।

अलंकारों के विषय में अनेक प्रश्न उद्भूत होते हैं। उदाहरणार्थ, अलंकार-वर्गीकरण, गुणों तथा अलंकारों का भेद, अलंकार-संख्या और रस तथा ध्वनि-सिद्धान्त में उनका स्थान, आदि। यहाँ इन सब विषयों का केवल संक्षिप्त विवेचन ही किया जायगा। ऐसा प्रतीत होता है कि भामह (१. १५ 'शब्दाभिधेयालंकारभेदादिष्टं द्वयं तु नः') ने अलंकारों को शब्द तथा अर्थ की दृष्टि से दो वर्गों में विभाजित किया है (दे. ५. ६६ भी)। दण्डी ने भी इसी वर्गीकरण का अनुसरण किया है क्योंकि उन्होंने दूसरे परिच्छेद में अर्थालंकारों का तथा तीसरे में यमक आदि शब्दालंकारों का विस्तृत विवेचन किया है। उद्भट ने प्रथम चार शब्दालंकारों की गणना की है तदुपरान्त उन्होंने अर्थालंकारों का विवेचन किया है। उन्होंने श्लेष (४थे में) को अर्थालंकार माना है, परन्तु इसका शब्दश्लेष और अर्थश्लेष में विभाजन किया है। मम्मट ने उनके इस मत की कटु आलोचना की है। रुद्रट ने अनुप्रास-यमक आदि शब्दालंकारों की गणना की है (२.१३) और अर्थालंकारों (७. ९) का उल्लेख किया है। उन्होंने अर्थालंकारों के विभाजन के विषय में चार आधार माने हैं (दे. ऊपर पृ. १४३)। सरस्वतीकण्ठाभरण (२. १) में भोज ने अलंकारों को शब्द, अर्थ और उभय—इन तीन वर्गों में विभाजित किया है। प्रत्येक विभाग में चौबीस अलंकार गिनकर उनकी सोदाहरण परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उन्होंने उपमा, रूपक, अपह्नुति, अर्थान्तरन्यास-आदि अलंकारों को उभयालंकार (शब्द तथा अर्थ) वर्ग में रखा है। अग्निपुराण, चमत्कारचन्द्रिका आदि के कतिपय लेखकों ने उनके इस मत का अनुसरण किया है। भोज (सरस्वतीकण्ठा., ५.८) ने वाङ्मय को 'वक्रोक्ति, रसोक्ति और स्वभावोक्ति' में विभाजित किया है। उन्होंने इस विषय की शृंगारप्रकाश में व्याख्या की है और गुणों तथा रसों को भी अलंकारों में समाविष्ट कर लिया है। अलंकार-सर्वस्व में अलंकारों के सात उपयुक्त वर्ग बनाये हैं जो इस प्रकार हैं: सादृश्य (उपमा, रूपक); विरोध (विरोध, विभावना, विशेषोक्ति); शृंखलाबन्ध (कारणमाला, एकावली); तर्कन्याय (एकलिंग, अनुमान); काव्यन्याय (यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति); और लोकन्याय (प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित); गूढार्थप्रतीति (सूक्ष्म, व्याजोक्ति)। प्रतापरुद्रयशोभूषण (पृ. ३३७-३९) में अलंकार-वर्गीकरण के आधार का उल्लेख आया है और गुणों से उनका अंतर स्पष्ट किया गया है (संघटनाश्रयाः गुणाः शब्दार्थाश्रयास्त्वलंकाराः)।

स्थानाभाव के कारण मैं इस प्रश्न की गहराई में नहीं जा सकता। भरत ने चार अलंकारों और दस गुणों का उल्लेख किया है अतः उनके अनुसार अलंकार और गुणों में अवश्य अंतर होगा। यद्यपि उन्होंने इसका स्पष्टीकरण नहीं किया। दण्डी ने अलंकार के व्यापक अर्थ के अन्तर्गत गुणों का समावेश किया है जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है। उन्होंने अलंकारों की निम्न प्रकार से परिभाषा की है—'काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते। ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कात्स्न्येंन वक्ष्यति' (काव्यादर्श, २. १)। भामह का गुणविवेचन नितांत स्वल्प है। इन्होंने काव्यालंकार (२. १-३) में माधुर्य, प्रसाद और ओजस् इन तीन गुणों की परिभाषा की है। दण्डी ने उदाहरण देकर दस गुणों की परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं। इनके दस गुण वे ही हैं जो भरत (१७. ९६-१६.९६ जी. ओ. एस. सं., पृ. ३३४), काव्यादर्श (१. ४१) और वामन (३. १. ४) ने गिनाये हैं। यद्यपि इनकी परिभाषाओं में प्रायः अंतर है। वामन के अनुसार गुणों की परिभाषा इस प्रकार है: 'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। तदतिशय-हेतवस्त्वलंकाराः' (का. सू. ३. १-२)। इन्होंने आगे कहा है कि गुण नित्य हैं और गणना करके इन्होंने शब्द के गुणों तथा अर्थ के दस गुणों की गणना और परिभाषा की है। ध्वन्यालोक में गुण तथा अलंकारों का संवन्ध स्थापित किया गया है। जब रूपक के माध्यम से रस और ध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित किया गया तब रस-सिद्धान्त के विद्वानों को गुणों और अलंकारों का स्थान भी निर्धारित करना पड़ा। ध्वन्यालोक (२.७) के अनुसार, 'जिस प्रकार वीरता-आदि आत्मा के गुण माने जाते हैं, कटक-आदि आभूषण. शरीर के अंगों पर धारण किये जाते हैं इसी प्रकार माधुर्य, ओज और प्रसाद रसों (आत्मा) के गुण हैं'—'तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः। अङ्गाश्रितास्त्वलंकाराः मन्तव्याः कटकादिवत्' (ध्व. २. ७)॥ यह भी बताया गया है कि माधुर्य प्रमुखतः विप्रलंभ शृंगार और करुण के लिए उपयुक्त है। ओज-गुण रौद्ररस के लिए तथा प्रसाद सभी रसों के लिए उपयुक्त है। जब शृंगार प्रमुख रस होता है तो इसकी निष्पत्ति अनुप्रास-सहायक नहीं होती। शृंगार, विशेषतः विप्रलंभ, में यमक का उपयोग असंगत है (ध्व. २. १५-१६)। मम्मट आदि अधिकांश परवर्ती ग्रन्थकारों ने तीन गुण माने हैं। जिस प्रकार वीरता आत्मा का विशिष्ट गुण[1] है इसी प्रकार माधुर्य आदि आत्मा के तीन गुण हैं। इनका

1. एवमेते ह्यलंकारा गुणा दोषाश्च कीर्तिताः। प्रयोगमेषां च पुनर्वक्ष्यामि रससंश्रयम्॥ (नाट्यशास्त्र, १७. १०८)

रसों से स्थायी संबन्ध है और अलंकार शरीर पर धारण किये जाने वाले अलंक्रारों के समान हैं— 'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः। उत्कर्ष-हेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥ उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्। हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥' काव्यप्र., ८.१-२)। अधिकांश आलंकारिकों ने इस मत का अनुसरण किया है।

समय-समय पर अलंकार-संख्या में परिवर्तन आता गया है। भरत ने केवल चार अलंकारों का उल्लेख किया है। कुछ प्राचीन ग्रन्थकारों ने पाँच अथवा आठ अलंकारों का वर्णन किया है (दे. ऊपर पृ. ६९)। विष्णुधर्मोत्तरपुराण से विदित होता है कि अलंकार अठारह थे (दे. ऊपर पृ. ६९)। भट्टि, दण्डी, भामह, उद्भट और वामन के अनुसार अलंकारों की संख्या तीस और चालीस के बीच है। मम्मट ने ६१, रुय्यक ने लगभग ७५, चन्द्रालोककार ने १०० तथा कुवलयानंद ने ११५ अलंकारों की परिभाषाएँ दी हैं। ध्वन्यालोक (पृ. ९) में ध्वन्यभाववादियों का यह मत दिया गया है: 'सहस्रशो हि महात्मभिरन्यैरलंकारप्रकाराः प्रकाशिताः प्रकाश्यन्ते च।'

यह ध्यान देने की वात है कि एक ही अलंकार के विभिन्न नाम हो सकते हैं जैसे स्वभावोक्ति और जाति; यथासंख्य, क्रम अथवा संख्यान। कई बार विभिन्न अलंकारों के लिए एक ही नाम प्रयुक्त होता है जैसा कि आक्षेप अलंकार के विषय में स्पष्ट है। व्यक्तिविवेक (पृ. ८८) में कहा गया है कि यद्यपि अलंकार अनेक हैं फिर भी कुशल कवि थोड़े ही अलंकारों का प्रयोग करता है। उपमा अलंकारों का प्राण है। जव यह ध्वनित होता है तव अधिक सरस वनता है। व्याजस्तुति, सहोक्ति, विनोक्ति, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, व्यतिरेक आदि अलंकारों के पृथक्-पृथक् अध्ययन के लिए दे. डा. नोवेल, जे. डी. एम. जी. भाग ६६, पृ. २८३-२९३ और भाग ६७, पृ. १-३६; दे. प्रो. भट्टाचार्य-लिखित 'नियोवुद्धिस्ट न्युक्लिअस इन अलंकारशास्त्र', जे. ए. एस. बी. भाग २२, १९५६ प्रति १, पृ. ४९-६६ तथा श्री अनंतलाल ठाकुर लिखित 'इन्पलुएंस ऑफ़ बुद्धिस्ट लॉजिक ऑन अलंकारशास्त्र', जी. ओ. आई. बड़ौदा, भाग ७ (पृ. २५७-२६१)। इस लेख में लेखक ने पारिभाषिक शब्दों का अनुसंधान किये विना दुराग्रहपूर्ण मत प्रतिपादित किया है। उदाहरणार्थ, उनका आग्रह है कि स्वसंवेदन, विप्रतिपत्ति, नान्तरीयक, अविनाभाव आदि शब्द एकांततः वौद्ध तर्कशास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं। 'नान्तरीयक' शब्द महाभाष्य (१. २. ३९) में और श्लोकवार्तिक तथा वाक्याधिकरण (श्लोक ३४३) में भी आता है। 'विप्रतिपत्तिः' शब्द कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अंतिम श्लोक में आता है। यह बात ध्यान में

रखनी चाहिए कि ये शब्द जिस संस्कृत वौद्धग्रन्थ में आये हैं उसकी रचना ईसा-पूर्व द्वितीय शताब्दी में हुई है। 'विप्रतिपत्ति' शब्द जैमिनी के पूर्वमीमांसासूत्र में कई वार विरोध के अर्थ में आया है (५. १. १८; ८. १. ३२; ९. ३. १५)।

११. रीति-सम्प्रदाय

इस संप्रदाय के प्रमुख प्रतिनिधि आचार्य वामन हैं। दण्डी ने भी रीतियों के विषय में पर्याप्त लिखा है। अधिकांश परवर्ती अलंकार-लेखकों ने भी इस विषय में थोड़ा-वहुत अवश्य लिखा है। वामन ने निजी दृष्टि से गुण और अलंकार में अंतर माना है (ऊपर पृ० ३७६)। वामन ने ओज, प्रसाद, श्लेष, समता, समाधि, माधुर्य, सौकुमार्य, उदारता, अर्थव्यक्ति, कान्ति इन शब्दों का तथा भाव के दस गुणों का उल्लेख किया है। दण्डी ने भी ये ही दस गुण गिनाये हैं परन्तु उन्होंने शब्द-गुण और भावगुण पृथक्-पृथक् रूप में नहीं माने हैं। गुण-सिद्धान्त बहुत प्राचीन है। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि रुद्रदामन् के एक शिलालेख (१५० ई. सन्) में माधुर्य, कान्ति, उदारता आदि कतिपय गुणों का उल्लेख आया है। कौटिल्य ने भी कतिपय गुणों का उल्लेख किया है। यह ध्यान देने की वात है कि कौटिल्य (२.९) ने राजकीय आदेश में अर्थक्रम, संबन्ध, परिपूर्णता, माधुर्य, औदार्य और स्पष्टता—ये छः गुण आवश्यक माने हैं। परन्तु नाट्यशास्त्र के अनुसार इन गुणों की संख्या दस है और माधुर्य, उदार अथवा उदात्त गुण भी इन्हीं में आते हैं। इससे स्पष्ट है कि काव्यशास्त्र के सिद्धान्त और व्यवहार की दृष्टि से कौटिल्य का समय नाट्यशास्त्र और रुद्रदामन् से वहुत पूर्व का होगा। वाण, भरत को छोड़कर काव्यशास्त्र के सभी उपलब्ध ग्रन्थकारों के पूर्ववर्ती हैं। इनके अनुसार विभिन्न प्रदेशों के कवियों में विभिन्न काव्यगुण होते हैं, 'श्लेषप्राय-मुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम्। उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षरडंवरः ॥' (हर्षचरित, प्रस्तावना, श्लोक ७)। इसमें दाक्षिणात्य और गौड दो महत्त्वपूर्ण शब्द आये हैं। वाण दाक्षिणात्य नहीं थे, अतः उन पर प्रादेशिकता या स्थानीय पक्ष-पात का आरोप नहीं लगाया जा सकता। दण्डी ने रीति शब्द का बिल्कुल प्रयोग नहीं किया है। इसके विपरीत उन्होंने प्रत्येक स्थल पर मार्ग शब्द का प्रयोग किया है (काव्यादर्श, १. ९, ४०, ६६, ७५, १०१)। उन्होंने स्पष्ट रूप में कहा है कि एक-दूसरे से तनिक भिन्न प्रकार की अनेक भाषा-सरणियाँ हैं। साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि वे वैदर्भ और गौडी का ही उल्लेख करेंगे, क्योंकि इनका पारस्परिक अंतर बहुत स्पष्ट है। यह रोचक वात है कि उन्होंने

गौडीय मार्ग या पद्धति का उल्लेख पौरस्त्य रूप में किया है और गौडों के विषय में वाण द्वारा प्रयुक्त 'डंवर' शब्द का प्रयोग किया है--'इत्यनालोच्य वैषम्यमर्थालंकारडंवरो। अवेक्ष्यमाणा ववृधे पौरस्त्या काव्यपद्धतिः ॥' (१. ५०)। पौरस्त्य के लिए काव्यादर्श (१. ८३) भी देखिये। इसके विपरीत उन्होंने दाक्षिणात्य शब्द का प्रयोग वदर्भ मार्ग के लिए किया है: 'अतो नैवमनुप्रासं दाक्षिणात्याः प्रयुञ्जते', १. ६०)। इन्होंने एक स्थल (१. ९२) पर वर्त्म शब्द का प्रयोग किया है और यह भी उल्लेख किया है कि गौडों की अत्युक्ति में बहुत रुचि थी। काव्यमीमांसा (अ. ७, पृ. ३०) में भी मार्ग शब्द प्रयुक्त है---'किमर्थं पुनरनुपदेश्ययोर्ब्राह्मपारमेश्वरयोर्वाक्यमार्गयोरुपन्यासः---इत्याचार्याः ।' सरस्वतीकण्ठाभरण में कहा गया है कि वैदर्भ आदि विभिन्न पद्धतियों को मार्ग कहते हैं। 'वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इति स्मृतः। रीङ्गताविति धातोः सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते।' (२.२७ वीं कारिका, निर्णय सा.सं. १९३४)। ध्वन्यालोक (३.५२, पृ. २९०) में इस प्रकार उल्लेख आया है: 'एतद्ध्वनिवर्णनेन निर्णीतं काव्यतत्त्वमस्फुटस्फुरितं सदशक्नुवद्भिः प्रतिपादयितुं वैदर्भी गौडी पाञ्चाली चेति रीतयः प्रवर्तिताः'। संभवतः इसका संकेत वामन से है। ध्वन्यालोक में रीति-विवेचन को स्थान नहीं मिला। इसके विपरीत इसमें वृत्तियों और संघटना का विस्तार से वर्णन हुआ है। नाट्यशास्त्र (१७. ९६) में इन्हीं दस गुणों की गणना आई है। नाट्यशास्त्र में गुणों और अलंकारों को गौण स्थान मिला है (१७. १०८)। दस गुणों के विषय में दे. नाट्यशास्त्र, के. एम. सं. १६. ९७-१०८ और अभिनवभारती, भाग २, जी. ओ. एस., पृ. ३३४, अ. १६. ९६-११२। नाट्यशास्त्र के १७वें अध्याय में गुणों का ३६ अन्य काव्यभूषणों के साथ वर्णन हुआ है। जब कि इस ग्रन्थ में रस को प्रमुख स्थान दिया गया है। दण्डी ने गुणों को बहुत महत्त्व दिया है और उनका लगभग संपूर्ण ग्रन्थ गुणों और अलंकारों के विवेचन से ही परिपूर्ण है (१. ४०-१०१)। उनके ग्रन्थ में शब्द तथा अर्थ के अलंकारों को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है और सामान्यतः गुणों और अलंकारों में कोई अंतर नहीं दिखाया गया (दे. पृ. ३७४)। जब कि वामन ने दोनों के अन्तर को स्पष्ट किया है। वामन के मत में दस गुण वैदर्भ मार्ग, अथवा रीति के, सार हैं। जब कि गौडी मार्ग सामान्यतः दस गुणों के विरोधी तत्त्वों तथा उनके अभाव की स्थिति होती है। केवल अर्थव्यक्ति, उदारता और समाधि को छोड़कर, क्योंकि ये दोनों मार्गों के अनुयायियों के लिए आवश्यक हैं ('इति वैदर्भमार्गस्यप्राणाः दशगुणाः स्मृताः। एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि ॥' काव्या., १. ४२;

१. ७५, ७६, १०० भी देखिए।) वैदर्भी रीति में भी गद्य के लिए ओज आवश्यक माना जाता था परन्तु पद्य के लिए नहीं, जब कि गौडीय मार्ग के अनुसार पद्य में भी ओज को उच्चतम स्थान दिया गया है। उन्होंने समाधि नामक गुण को काव्य का सर्वस्व माना है ('अन्य धर्मस्ततोन्यत्र लोकसीमानुरोधिना। सम्यगाधीयते यत्र स समाधिः स्मृतो यथा ।। कुमुदानि निमीलन्ति' इत्यादि); परन्तु अर्थ यह नहीं कि उनके अनुसार समाधि काव्य की आत्मा है। संभवतः ये शब्द आलंकारिक रूप में प्रयुक्त हुए हैं। भामह ने वैदर्भी और गौडी शैली के इन दो भेदों को स्वीकार नहीं किया है (१. ३१-३)। वामन ने इस बात को बल देकर कहा है कि काव्य की आत्मा रीति है। विशिष्ट पदरचना अर्थात् शब्दों की विशिष्ट व्यवस्था अथवा नियोजन को रीति कहते हैं। यह वैशिष्ट्य गुण में होता है (रीतिरात्मा काव्यस्य। विशिष्टा पदरचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा। काव्या. सू., १. २. ६-८)। इन्होंने वैदर्भी, गौडीया और पांचाली तीन रीतियों का उल्लेख किया है और कहा है कि वैदर्भी रीति में सभी दस गुण होते हैं जबकि प्रयोग में विशेषतः ओज और कान्ति गुण ही आते हैं। पांचाली रीति में विशेषतः माधुर्य और सौकुमार्य गुण आते हैं (१. २. ११-३)। उन्होंने 'गाहन्तां महिषाः' (शाकुन्तल २. ६), 'दोर्दण्डाञ्चित' (महावीरचरित १. ५४) और 'ग्रामेऽस्मिन् पथिकाय' (अमरु. १३१) को क्रमशः तीनों रीतियों के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किया है। उन्होंने इन तीनों रीतियों के नामों का स्पष्टीकरण किया है :—'विदर्भादिषु दृष्टत्वात्तत्समाख्या' (काव्या. सू., १. २. १०); 'विदर्भगौडपाञ्चालेषु देशेषु तत्रत्यैः कविभिर्यथास्वरूपमुपलब्धत्वाद्देशसमाख्या। न पुनर्देशैः किञ्चिदुपक्रियते काव्यानाम्' (वृत्ति)। नाट्यशास्त्र, दंडी और वामन द्वारा प्रस्तुत विभिन्न गुणों की परिभाषाओं में पर्याप्त अन्तर है यद्यपि कतिपय परिभाषाओं में समानता है। स्थानाभाव के कारण अधिक विस्तृत विवेचन संभव नहीं है। एक दो उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं—नाट्यशास्त्र (१६. ९९) में ओज की परिभाषा इस प्रकार दी गई है : 'समासवद्भिर्विविधैर्विचित्रैश्च पदैर्युतम्। सा तु स्वरै(सानुस्वारैः ?)-रुदारैश्च तदोजः परिकीर्त्यते ।।'[1] दण्डी ने ओज की परिभाषा इस प्रकार दी है : 'ओजः समासभूयस्त्वम्'। वामन ने कहा है :—'गाढबन्धत्वमोजः' (३.१.५)

---

1. यह परिभाषा प्राचीन के. एम. संस्करण, १८९४ में आई है। चौखम्बा सं. में ओज की परिभाषा आई है : 'अविगीताविहीनोऽपि स्यादुदात्तानुभावकः। यत्र शब्दार्थसम्पत्तिस्तदोजः परिकीर्तितम् ।।' (१७. १०३)।

और 'अर्थस्य प्रौढिरोजः' (३. २. २) । नाट्यशास्त्र में समाधि की परिभाषा दी गई है : 'अभियुक्तैर्विशेषस्तु योऽर्थस्यैवोपलभ्यते । तेन चार्थेन सम्पन्नः समाधिः परिकीर्त्यते ॥' (१६. ९७) । परन्तु वामन ने समाधि को 'आरोहावरोहक्रमः समाधिः' (३. १. १३) और 'अर्थदृष्टिः समाधिः' (३. २. ७) कहा है । दण्डी के लिए दे. काव्यादर्श (१. ९३ और १००) । अलंकार-सांप्रदायिकों ने उन गौण अलंकारों को भी महत्त्व दिया है जिनके बिना भी काव्य-रचना संभव है । रीति-संप्रदाय ने अलंकार-संप्रदाय से अधिक उन्नति की । यद्यपि ये काव्य की वास्तविक आत्मा तक नहीं पहुंचे फिर भी उस के अधिक निकट पहुंच गये हैं । इन्होंने केवल अलंकारों को काव्य का सारतत्त्व मानने की अपेक्षा गुणों को यह स्थान प्रदान किया । रीति-संप्रदायवादियों को अभी यह विदित नहीं हुआ था कि गुणों का सम्वन्ध किस तत्त्व से है । वे काव्य के वास्तविक तत्त्व के विषय में अभी स्पष्ट धारणा नहीं वना सके थे । इसीलिए रीति-संप्रदाय के विषय में ध्वनिकारिका (३. ५७) में कहा गया है : 'अस्फुटस्फुरितम्' इत्यादि । वामन ने अपनी वक्रोक्ति (सादृश्याल्लक्षणा) में सभी अविकसित वाच्य ध्वनियों का अन्तर्भाव कर दिया है और रसों को कान्तिगुण ('दीप्तरसत्वं कान्तिः', काव्या. सू., ३. २. १४) में समाविष्ट कर लिया है । गुणों का वास्तविक संबन्ध काव्य के आत्मतत्त्व रस से है । ध्वन्यालोक में माधुर्य को शृंगार का विशिष्ट गुण माना गया है । विप्रलम्भ और करुण रस में यह अपने चरम रूप में पहुंच जाता है । रौद्र, वीर और अद्भुत रस में ओज की स्थिति होती है और प्रसादगुण की सभी रसों में होती है (ध्वनिकारिका, २. ८-११) । भामह ने वहुत संक्षेप में गुणों का निरूपण किया है और माधुर्य, ओज और प्रसाद तीन ही गुणों का उल्लेख किया है (२. १-३) । माघ को, जिनका उल्लेख पृ. ११३ पर आया है जो कि ७५० ई. सन् में हुए थे, केवल तीन गुणों की जानकारी थी । उन्होंने कहा है : 'नैकमोजः प्रसादो वा रसभावविदः कवेः ।' (शिशुपालवध, २. ८५) । मम्मट, हेमचन्द्र आदि परवर्ती लेखकों ने इन तीनों को ही माना और शेष गुणों को या तो इन्हीं तीन गुणों में अन्तर्भूत कर दिया है अथवा उन्हें दोषाभावरूप माना है । विभिन्न लेखकों ने रीतियों की संख्या भिन्न-भिन्न मानी है । राजशेखर ने काव्यमीमांसा (अ. ७, पृ. ३१) में एक

---

1. सरस्वतीकं., २. २७ में कहा गया है : 'वैदर्भादिकृतः . . . . रीतिरुच्यते ।' ऊपर पृ. ३७९ पर उद्धृत और दे. यही श्लोक साहित्यमीमांसा, पृ. ८७ पर ।

श्लोक उद्धृत किया है। इसमें तीन रीतियों के वे ही नाम दिये हैं जो वामन ने दिये हैं। परन्तु इन्होंने अपनी कर्पूरमंजरी में वच्छोमी (वत्सगुल्म से वना है जो वरार का वर्तमान वाशीम नगर है), माअही (मागधी) और पञ्चालिआ का उल्लेख किया है। रुद्रट और अग्निपुराण (अ. ३४०) में (लाटीया को मिलाकर) चार रीतियों का उल्लेख किया गया है (दे. २.४-६)। दण्डी के समान वाग्भटालंकार ने केवल दो का उल्लेख किया है। वाग्भट के काव्यानुशासन में वामन के समान तीन रीतियों का उल्लेख किया गया है। जब कि भोज ने छः की गणना की है। इस में वामन की तीन रीतियों के अतिरिक्त आवन्ती, मागधी और लाटी की वृद्धि की गई है।

अव वृत्ति, प्रवृत्ति और इनके रीति के साथ संबंध का निरूपण किया जाता है। भरत ने नाट्यशास्त्र (२२, जी.ओ.एस. सं., अ. २०) में भारती, सात्त्वती, कैशिकी और आरभटी इन चार वृत्तियों के रहस्यमय उद्गम का उल्लेख करके इनके चार अंगों (दे. ऊपर पृ. ३४) का निरूपण किया है। नाट्यशास्त्र (पुराना के. एम. सं. सं. २०. ६२) में वृत्तियों को नाट्य[1] की माताएं कहा गया है (वृत्तयोनाट्यमातरः) और श्रृंगार तथा हास्य में कैशिकी वृत्ति; वीर, रौद्र और अद्भुत में सात्त्वती; भयानक, वीभत्स और रौद्र में आरभटी तथा करुण और अद्भुत में भारती वृत्ति की स्थिति मानी है। साहित्यदर्पण में भी इन्हें 'मातृकाः' कहा गया है और रसों में इनकी स्थिति के विषय में थोड़ी मत-भिन्नता है। रसार्णवसुधाकर (पृ.६९-७१) में भी वे ही नियम प्रस्तुत किये गये हैं. वहाँ वृत्तियों के रहस्यमय उद्गम काऔर उनके काल्पनिक नामों का उल्लेख आया है (जैसे भार से भारती, केश से कैशिकी)। ध्वन्यालोक (३. ३३) के अनुसार रसानुकूल उचित शब्दार्थ के प्रयोग को विभिन्न वृत्तियां कहा जाता है 'रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः। औचित्यवान्यस्ता एता वृत्तयो विविधाः स्मृताः ॥' और इस कारिका की वृत्ति इस प्रकार है : 'व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते। तत्र रसानुगुण औचित्यवान् वाच्याश्रयो यो व्यवहारस्ता एता कैशिक्याद्या वृत्तयः। वाचकाश्रयाश्चोपनागरिकाद्याः।

---

1. चौ. सं. में (अ. २२. ६४, जी. ओ. एस., भाग ३, पृ. १०५, अ. २०-७०) 'वृत्तयो नाट्यसंश्रयाः' पाठ आया है। 'नाट्यमातरः' पाठ की लोचन (पृ. २२६) ने पुष्टि की है। सागरनंदिन् (नाटकलक्षणरत्नकोष में) की १३८६ वीं पंक्ति में 'नाट्यस्य मातरः' पाठ आया है। अभिनवभारती (भा. १५. २२) में यह उल्लेख आया है : 'श्रृंगाररसस्य तु नामग्रहणमपि न तया (कैशिक्या) विना शक्यमिति।'

वृत्तयो हि रसादितात्पर्येण संन्निवेशिताः कामपि नाट्यस्य काव्यस्य च छायामावहन्ति । रसादयो हि द्वयोरपि तयोर्जीवभूताः। इतिवृत्तादि तु शरीरभूतमेव।' इससे स्पष्ट है कि इतिवृत्त नाट्य अथवा काव्य का शरीर है, उपनागरिका आदि अन्य वृत्तियों का संवन्ध वाचक शब्दों से है। ध्वन्यालोक (३. १९१-२०२) में उल्लेख आया है: 'यदि वा वृत्तीनां भरतप्रसिद्धानां कैशिक्यादीनां काव्यालंकारान्तरप्रसिद्धानामुपनागरिकाद्यानां वा यदनौचित्यमविषये निवन्धनं तदपि रसभंगहेतुः' (नाट्यशा. १. ४६, चौख. सं. ४५-४६ और जी. ओ. एस. सं., भाग १, अ. १. ४५-४६)। नाट्यशास्त्र के अनुसार कैशिकी का प्रयोग केवल स्त्री-पात्रों द्वारा ही किया जाना उचित है। उद्भट (वर्ग १) ने तीन शब्दवृत्तियों की निम्न परिभाषा दी है: 'शषाभ्यां रेफसंयोगैष्टवर्गेण च योजिता। परुषा नाम वृत्तिः स्याद् ह्लह्वह्याद्यैश्च संयुता॥ सरूपसंयोगयुतां मूर्ध्नि वर्गान्त्ययोगिभिः। स्पर्शैर्युतां च मन्यन्ते उपनागरिकां बुधाः। शेषैर्वर्णैर्यथायोगं रचिता कोमलाख्यया। ग्राम्यां वृत्तिं प्रशंसन्ति काव्येष्वादृतबुद्धयः॥

काव्यप्रकाश (८) में प्रथम माधुर्य, ओजस् और प्रसाद गुणों के अनुरूप शब्द-संयोजन का स्पष्टीकरण किया गया है और कहा गया है कि 'उपनागरिका वृत्ति माधुर्यसूचक अक्षरों से वनती है, परुषावृत्ति ओजसूचक अक्षरों से और कोमला (जिसे कई ग्राम्या भी कहते हैं) इन दोनों में निर्दिष्ट अक्षरों से भिन्न अक्षरों से वनती है।' काव्यप्रकाश में उल्लेख आया है कि वामन और अन्य लेखक उपनागरिका, परुषा और कोमला को क्रमशः वैदर्भी, गौडी और पांचाली रीति मानते हैं 'एतास्तिस्रो वृत्तयो वामनादीनां मते वैदर्भी गौडी पांचालाख्या रीतयो मताः' (काव्यप्रकाश ९, पृ. ४९८)। रुद्रट ने (२. ४-६) असमस्त, किंचित् समस्त अथवा अधिक समस्त शब्दों के आधार पर वैदर्भी, पाञ्चाली, लाटीया और गौडीया इन चार रीतियों का निरूपण किया है। रुद्रट ने (२.१९) अनुप्रास की पांच वृत्तियों—मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता और भद्रा का उल्लेख किया है। ये सव कतिपय अक्षरों और संयुक्त व्यंजनों के नियोजन पर आधृत हैं। इनके मधुरा और परुषा भेद काव्यप्रकाश के उपनागरिका और परुषा से मिलते हैं। परन्तु रुद्रट ने इनका प्रयोग अनुप्रास तक ही सीमित कर दिया है। नाट्यशास्त्र (१४. ३६) में आवन्ती, दाक्षिणात्य, पाञ्चाली और मागधी इन चार प्रवृत्तियों का उल्लेख किया गया है। इसमें कहा गया है कि प्रवृत्ति का[1] संवन्ध वेशभूषा,

---

1. 'प्रवृत्तिरिति कस्मात्? उच्यते, पृथिव्यां नानादेशवेषभाषाचारवार्ताः ख्यापयतीति प्रवृत्तिः।....तत्र दाक्षिणात्यास्तावद् बहुनृत्तगीतवाद्या कैशिकी-

भाषा और देश के विभिन्न रीति-रिवाजों से है । दाक्षिणात्य प्रवृत्ति में प्रचुर-नृत्य, गायन और संगीत होता है; कैशिकी में शरीरावयवों का कुशल, मनोरंजक और कोमल अभिनय होता है । सरस्वतीकण्ठाभरण (२. ३) में रीति और वृत्तियों को २४ अलंकारों में समाविष्ट कर लिया गया है । तदुपरान्त रीति के वैदर्भी, पाञ्चाली, गौडीया, आवन्तिका, लाटीया और मागधी छः भेद और वृत्ति के छः भेद (कैशिकी व अन्य तीन भेद और मध्यमारभटी तथा मध्यमकैशिकी) बताए गए हैं । इन परस्पर-विरोधी मतों के उपरान्त में काव्यमीमांसा (३, पृ. ९) का मत उद्धृत करना उपयुक्त समझता हूं । इसके मत में 'तत्र वेषविन्यास-क्रमः प्रवृत्तिः, विलासविन्यासक्रमो वृत्तिः, वचनविन्यासक्रमो रीतिः ।' सागर-नन्दिन् (ना. ल. र. को., पृ. ४४) में 'विलास. . . . .वृत्ति' शब्द लिये गये हैं और कहा गया है कि भारतीवृत्ति वैदर्भ, गौडीय और पाञ्चाल रीतियों की अंग है (पृ. ५२, १२३१-३३ पंक्तियां), सात्त्वती पाञ्चाली की (पृ. ५५, १३०२ पंक्तियां) की, कैशिकी वैदर्भी की (पृ. ५७, पंक्ति १३४६) और आरभटी गौडी की (पृ. ५८, पंक्ति १३२५) । विष्णुधर्मोत्तर पु. (३. २०. ५३-६०) में कहा गया है कि वृत्तियों का स्थान प्रवृत्तियों में होता है) ।

(रीति, वृत्ति और प्रवृत्ति के लिए) दे. डॉ. राघवन का वृत्ति पर लेख (मद्रास जे.ओ. आर, भाग ६, पृ. ३४६-३७०, भाग ७, पृ. ३३-५२, पृ. ९१-११२, 'सम कन्सेप्ट्स' इत्यादि पृ. १८२-१९०, शृंगारप्रकाश पृ. १९६-२१५) रीतियों के विस्तृत अध्ययन के लिए दे. आई. एच. क्यू., भाग ३, पृ. ३७५-३९४, गौडी पर प्रो. एस. पी. भट्टाचार्य का लेख; 'कन्सेप्ट्स आफ़ रीति एण्ड गुण'. (१९३७) नामक डॉ. पी. सी. लाहिरी का लेख तथा इन्हीं का आई. एच. क्यू., भाग ९, पृ. ४४८ के आगे का लेख 'थिअरी आफ़ रीति एण्ड गुण इन अग्निपुराण' तथा 'वामन'स थिअरी' नामक पृ. ८३५ से आगे का लेख । दे. डॉ. राघवन के लेख आई. एच. क्यू., भाग १०, पृ. ७६७-७७९ पर, कुप्पुस्वामी भाष्य-भाग, पृ. ८९-११८, 'हिस्ट्री आफ गुणास', 'शृंगारप्रकाश' भाग १, पृ. २५८-३६० और 'समकन्सेप्ट्स' इत्यादि में रीति पर पृ. १३१-१८१, वृत्तियों के इतिहास के लिए 'कुन्तक'ज़ कन्सेप्शन आफ़ गुणाज़' के लिए आई. एच. क्यू., भाग ८, पृ. २५७. २६६ । डॉ. दे का लेख 'गौडी रीति', न्यू. आई. ए., भाग १, पृ. ७४-७६ में । उपर्युक्त लेखों से रीति और गुण का विषय अत्यन्त स्पष्ट हो गया है ।

प्रायाः चतुरमधुरललिताङ्गाभिनयाश्च ।' नाट्यशास्त्र, १४. पृ. १६५ (अ. जी. एस., भाग २, पृ. २०५, अ. १३ और काव्यमाला सं. अ. १३., पृ. २१६) ।

एक अन्य शब्द जो प्रयुक्त होता है वह है 'पाक'। वामन ने (काव्यालंकार सूत्रवृति १. ३. १५ में) इस श्लोक का उल्लेख किया है : 'यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम्। तं शब्दन्यासनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते ॥' इसका काव्यमीमांसा में (पृ. २०) 'वामनीयाः' का मत कहकर उल्लेख किया गया है। तदुपरान्त अवन्तिसुन्दरी का मत दिया गया है कि यह अशक्ति है, पाक नहीं है। क्योंकि महाकवि एक विषय को ही विभिन्न रूपों में व्यक्त कर सकते हैं। काव्य-मीमांसा में (पृ. २०-२१) नारिकेलपाक, क्रमुकपाक, मृद्वीकापाक आदि अनेक पाकों का उल्लेख है। एकावली में (पृ. २२) पाक की विभिन्न परिभाषाएं दी गई हैं जिसका यहां उल्लेख नहीं किया जाता है। अग्निपुराण के संदर्भ के लिए ऊपर देखिए।

ध्वन्यालोक में अनेक स्थलों पर संघटना (३. २, ५) शब्द का नियोजन हुआ है। इसका विवेचन 'ध्वनि-संप्रदाय' के अन्तर्गत हो चुका है।

१२. वक्रोक्ति-सिद्धान्त

वक्रोक्ति का प्रयोग साहित्य में बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है। इसके अनेक अर्थ हैं। बाण (कादम्बरी, गद्यांश ४४, लेखक का संस्करण तथा पीटर्सन का पृ. ५१) ने 'वक्रोक्तिनिपुण विलासीजन' (वक्रोक्तिनिपुणेन विलासिजनेन) का उल्लेख किया है। एक अन्य स्थान पर शुक और ईर्ष्यालु सारिका के पारस्परिक विवाद के विषय में चन्द्रापीड क्रीडालाप करता है : 'एषापि बुध्यत एवैतावतीर्वक्रोक्तीः, इयमपि जानात्येव परिहासजल्पितानि।.... अभूमिरेषा भुजंगभङ्गि-भाषितानाम्' (पीटर्सन सं., पृ. १९५-९६)। यहां वक्रोक्ति का प्रयोग क्रीडालाप अथवा परिहास-जल्पित[1] के अर्थ में हुआ है। अमरुशतक (२३) में भी यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त है : 'सा पत्युः प्रथमेऽपराधसमये सख्योपदेशं विना, नो जानाति सविभ्रमांगवलनावक्रोक्तिसंसूचनम्' दण्डी ने इस शब्द का प्रयोग स्वभावोक्ति के विपरीतार्थ में किया है। उन्होंने कहा है कि सामान्यतः श्लेष वक्रोक्ति को चमत्कारपूर्ण बनाता है—श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्। भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् ॥' (२. ३६३) वक्रोक्ति श्लेष पर आधारित भाषण की चमत्कारपूर्ण पद्धति है। यह सामान्य

1. यह आश्चर्य की बात है कि कादंबरी के इन उदाहरणों के होते हुए भी डॉ. दे. ने वक्रोक्तिजीवित (सं. १, पृ. ११, भूमिका) में लिखा है कि सुबन्धु और बाण ने वक्रोक्ति का उल्लेख नहीं किया है।

भाषण-पद्धति से भिन्न होती है। भामह ने इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। इनके अनुसार सभी अलंकारों में वक्रोक्ति उपकारक होती है (२. ८५)। इन्होंने सभी अलंकारों के मूल में वक्रोक्ति की स्थिति अनिवार्य मानी है। उदाहरणार्थ, 'वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः (१. ३६); 'हेतुश्च......नालंकारतया मतः। समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः॥' (२. ८६); 'वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते।' (५. ६६); 'वक्रवाचां कवीनां ये प्रयोगं प्रतिसाधवः' (५. २३)। लोचन (पृ. २६०) में भामह (१. ३६) को उद्धृत किया गया है और उसकी निम्न प्रकार से व्याख्या की गई है: 'शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानम्।' वक्रोक्ति पर दिये गये बल से काव्य की दो विशेषताएं स्पष्ट होती हैं। यद्यपि कविता में सामान्य भाषण से शब्द लिये जाते हैं फिर भी कविता के शब्दों का चुनाव असामान्य होता है। अर्थात् इसकी भाषासरणि भिन्न होती है। कवि वस्तुओं के चमत्कारपूर्ण संबन्ध को काव्य में व्यक्त करता है जो कि जनसामान्य की पहुंच से परे होता है। वक्रोक्तिजीवितकार ने वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। परन्तु वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा सिद्ध करने में इन्होंने अतिचार किया है। इस विषय में इनका मत अलंकार-संप्रदाय से मिलता-जुलता है। मत के विस्तृत उल्लेख के लिए देखिये ऊपर भाग १, पृ. २२७-२८। जयरथ के मत में वक्रोक्ति का जन्म कविप्रतिभा (पृ. ९) से होता है। (अलं. स., पृ. ९) 'वक्रोक्तिजीवितकारः पुनर्वैदग्ध्यभङ्गि-भणितिस्वभावां बहुविधां वक्रोक्तिमेव प्राधान्यात् काव्यजीवितमुक्तवान्।' इस पर जयरथ ने 'वक्रोक्ति....रुच्यते' (ऊपर पृ. २२७) को उद्धृत किया है और कहा है 'काव्यजीवितमिति काव्यस्यानुमापकम्। तां विना काव्यमेव न स्यादित्यर्थः। यदाह—विचित्रो यत्र वक्रोक्तिवैचित्र्यं जीवितायते—इति'। (वक्रोक्तिजीवित, १. ४२)। 'व्यापारस्येति कविप्रतिभोल्लिखितस्य कर्मणः। प्रतिभानिर्वर्तितत्वमन्तरेण हि वक्रोक्तिरेव न स्यादिति।' कुन्तक-प्रस्तुत 'वैदग्ध्य-भङ्गीभणितिः' यह परिभाषा अवन्तिसुन्दरी से ग्रहण की गई है। 'विदग्ध-भणितिभङ्गिनिवेद्यं वस्तुनो रूपं न नियतस्वभावमिति अवन्तिसुन्दरी' (काव्य-मीमांसा, पृ. ४६)। प्राचीन काल में विदग्ध शब्द का प्रयोग विद्वत् का विरुद हुआ करता था। इसका तात्पर्य प्रेमपत्र लिखने में निपुण और कवित्वमय तथा चतुरभाषण में कुशल होता है। दे. ध्वन्या. 'प्रसिद्धश्चेयमस्त्येव विदग्धविद्वत् परिषत्सु' इत्यादि (पृ. ३००); ध्व. पृ. २५० 'विदग्ध परिषत्सु'। मालती-माधव (१) में जब मकरन्द 'रमणीय एष वः सुमनसां संनिवेशः' इत्यादि

द्व्यर्थक शब्दों को सुनता है तब वह सविस्मय कहता है : 'अहो वैदग्ध्यम्!' भङ्गि शब्द के लिए उपर्युक्त कादंबरी का उद्धरण, पृ. ३८४ तथा ध्वन्या. पृ. २०९, ३६२ और लोचन पृ. २२४ देखिए । भणिति शब्द वासवदत्ता (११वां प्रस्ता-वनात्मक श्लोक) में आया है : 'अविदितगुणापि सत्कविभणितिः कर्णेषु वमति मधु-धाराम् ।' दे. ध्वन्या. पृ. ३०४ पर 'भणितिकृतं वैचित्र्यमात्रं'। वामन ने वक्रोक्ति को एक अलंकार-मात्र माना और इसे एक पूर्णतः भिन्न अर्थ प्रदान किया—'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः' अर्थात्—वक्रोक्ति, सादृश्य पर आधारित लक्षणा का नाम है। इन्होंने इसका यह उदाहरण प्रस्तुत किया है : 'उन्मिमील-कमलं सरसीनां कैरवं च निमिमील मुहूर्तात्' (अत्र धर्माबुन्मीलननिमीलने सादृश्याद्विकाससंकोचौ लक्षयतः) । यह काव्यादर्श (दे. १. ९३-९४) का समाधि गुण है। रुद्रट ने वक्रोक्ति को शब्दालंकार मान कर इसके काकुवक्रोक्ति और श्लेषवक्रोक्ति दो भेद किये हैं। इस विषय में इनका अनुसरण मम्मट, वाग्भटालंकार, रुय्यक, वाग्भट का काव्यानुशासन, एकावली और हेमचन्द्र ने किया है। परन्तु रुय्यक ने वक्रोक्ति को अर्थालंकार मानकर कहा है : 'वक्रोक्तिशब्दश्चालंकारसामान्यवचनोपीहालंकारविशेषे संज्ञितः' (पृ. २२२) । इससे स्पष्ट है कि रुद्रट और रुय्यक की वक्रोक्ति का क्षेत्र भामह, दण्डी और कुंतक की वक्रोक्ति[1] से संकुचित है। वक्रोक्ति-सिद्धान्त की उत्पत्ति वास्तव

---

1. काव्यशास्त्र-संबन्धी ग्रन्थों में एक ही अर्थ के द्योतक 'विच्छित्ति' और 'वैचित्र्य', 'चारुत्व' और 'चमत्कार' ये चार शब्द बार-बार आते हैं। विच्छित्ति के लिए दे० ध्वन्यालोक (पृ० १५९), लोचन (पृ० ५, ९), व्यक्तिविवेक व्याख्या (पृ० ४४), अलंकारसर्वस्व (पृ. ५८) और वैचित्र्य के लिए दे० ध्व० (पृ. २४३), तथा लोचन (पृ. ५) । 'विच्छित्ति शोभिनैकेन भूषणेनेव कामिनी। पदद्योत्येन सुकवेर्ध्वनिना भाति भारती ॥' (ध्व. पृ. १५९, परिकर श्लोक १) । वक्रोक्ति शब्द ध्व. (पृ. १०) में आया है। लोचन ने इस श्लोक को मनोरथ का माना है। चारु के लिए दे० ध्व. (पृ. ३२, ३९, ४२, १७८ (३. १०); आनदो निर्वृत्त्यात्मा चमत्कारापरपर्यायः, (लोचन पृ. १३); अभिनवभारती (भाग १, पृ. २८१) में कहा गया है 'सर्वथा रसनात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रसः ।...तथाहि लोके सकलविघ्नविनिर्मुक्ता संवित्ति । एवं चमत्कार-निवशरसनास्वादनभोगसमापत्तिलयविश्रान्त्यादिशब्दैरभिधीयते ।' (काव्य. प्र. ४, पृ. ९३ में कहा गया है 'अलौकिकचमत्कारकारी शृंगारादिको रसः ।' रसगंगाधर (पृ. ४) 'में लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतश्चमत्कारपरपर्यायोऽनुभवसाक्षि-

में अलंकार-संप्रदाय से ही हुई है अतः इसे पृथक् मान्यता देना अनावश्यक है।

राघवपांडवीय (१. ४१) में कहा गया है : 'सुवन्धुर्वाणभट्टश्च कविराज इति त्रयः। वक्रोक्तिमार्गनिपुणाश्चतुर्थो विद्यते न वा।' पीटर्सन ने अपने द्वितीय प्रतिवेदन, पृ. ६४ पर वाण के लिए मेण्ठ-विषयक एक श्लोक हरिहारावलि नामक पांडुलिपि से उद्धृत किया है : 'वक्रोक्त्या मेण्ठराजस्य वहन्त्या सृणिरूपताम्। आविद्धा इव धुन्वन्ति मूर्धानं कविकुञ्जराः॥' साहित्यमीमांसा ने (पृ. ११५) वक्रोक्तिजीवित के समान ही ध्वनि, वर्ण, पदार्थ, वाक्य, प्रकरण और प्रवन्ध में वक्रत्व की स्थिति स्वीकार की है। सरस्वतीकण्ठाभरण (पृ. ८) में वाङ्मय को वक्रोक्ति, रसोक्ति और स्वभावोक्ति इन तीन भागों में विभक्त किया गया है तथा रसोक्ति को सर्वाधिक सहृदय-ग्राह्य माना है। दे. भोज के 'शृंगारप्रकाश' भाग १, पृ. १२०-१४४ पर डॉ. राघवन का 'भोज एण्ड वक्रोक्ति' नामक लेख।

१३. ध्वनि-संप्रदाय

ध्वन्यालोक के विवेचन के लिए दे. ऊपर पृ. १९९-२०१। ध्वनि-सिद्धान्त रस का ही अभिवृद्ध रूप है। काव्य के क्षेत्र में इसने रस-सिद्धान्त को व्याप्त कर दिया। रस का संबंध पूर्णतः नाट्य-कृति से था। नाट्य का प्रमुख प्रयोजन विभाव अनुभाव आदि की सहायता से शृंगार-करुण आदि रसों की निष्पत्ति करना है। इसके लिए एक विस्तृत रचना की आवश्यकता होती है। परन्तु यदि एक ही सुंदर श्लोक हो तो उस में इस प्रकार की रस-निष्पत्ति संभव नहीं है। भले ही इससे एक या अधिक रस-तत्त्वों का अनुमान लगाया जा सके। यदि केवल रस को ही काव्य की आत्मा माना जाए तो इस प्रकार के स्फुट श्लोक काव्यत्व की परिधि से वाहर हो जायेंगे। ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि रस सदैव ध्वनित होता है, वाच्य नहीं होता। अतः इसी तर्क का आधार लेकर ध्वन्यालोक में उस काव्य को श्रेष्ठ माना है जिसमें सुंदर व्यंग्यार्थ हो : 'अयमेव हि महाकवेर्मुख्यो व्यापारो यद्रसादीनेव मुख्यतया काव्यार्थीकृत्य तद्व्यक्त्यनुगुणत्वेन शव्दानामर्थानां चोपनिवन्धनम्। एतच्च रसादितात्पर्येण काव्यनिवन्धनं भरतादावपि सुप्रसिद्धमेवेति. . . . .। रसादयो हि द्वयोरपि तयोः (काव्यनाट्ययोः) जीवभूताः' (ध्वन्या., पृ. २२५-२६), सारभूतो ह्यर्थः स्वशव्दानभिधेयत्वेन प्रकाशितः सुतरामेव शोभामावहति।

को जाति विशेषः' यह उक्ति आई है। दे. डॉ. राघवन, एन्नल्स आफ़. बी. ओ. आर. आई, भाग १६, पृ. १३१ से आगे, जे. ओ. आर. मद्रास भाग ६. पृ. २१८-२२२ और सम कन्सेप्ट्स, पृ. २६८-२७१।

प्रसिद्धिश्चेयमस्त्येव विदग्धविद्वत्परिषत्सु यदभिमततरं वस्तु व्यंग्यत्वेन प्रकाश्यते न साक्षाच्छब्दवाच्यत्वेनैव' (ध्व०, पृ० ३००) । यद्यपि किसी भी वाक्य अथवा शब्द से व्यंग्यार्थ निकल सकता है फिर भी सभी शब्दों अथवा वाक्यों को काव्य नहीं माना जा सकता; परन्तु वे ही शब्द और वाक्य काव्य बन सकते हैं जिनमें विशिष्ट गुण हों, जिनकी रचना-पद्धति विशिष्ट हो तथा जिन में रमणीय व्यंग्य हो। (दे. लोचन, पृ. ३२) 'तेन सर्वत्रापि न ध्वननसद्भावेऽपि तथा व्यवहारः। आत्मसद्भावेऽपि क्वचिदेव जीवव्यवहार इत्युक्तं प्रागेव।' ध्वन्यालोक में ध्वनि को गुण, वृत्ति अथवा लक्षणा मानने वालों के मत का खंडन किया है। (दे. ध्व., १. १७) 'भक्त्या बिभर्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः। अति व्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तया।।' ध्व. (पृ. १८) में व्यंग्यार्थ को रसादि, अलंकार और वस्तु इन तीन भेदों में विभक्त किया है: प्रथम में न केवल नौ रस अन्तर्भूत होते हैं वरन् इनके आभासों का भी इसी में अन्तर्भाव होता है। वस्तुध्वनि का अर्थ यह है कि जिस में ध्वन्यर्थक[1] शब्दों से वस्तु ध्वनित की जाती है।. अलंकारध्वनि का तात्पर्य यह है कि जो ध्वनित वस्तु है वह काल्पनिक होती है न कि वास्तविक। यदि उसका विस्तार से शब्दों में वर्णन किया जाय तो वह अलंकार का रूप धारण कर लेती है।[2] यहां रसध्वनि तथा अन्य भेदों की व्याख्या अनावश्यक है। 'कविता सबल मनोवेगों के उच्छलन का नाम है' यह जो वर्ड्सवर्थ का मत है इससे मिलता-जुलता ध्वन्यालोक का भी मत है। ('क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः' पृ. ३१). जब वाल्मीकि ने शिकारी के हाथ से प्रेमी क्रौञ्च पक्षियों के वध

---

1. वस्तुध्वनि का एक उदाहरण निम्न है—'पथिक नात्र स्रस्तरमस्ति मनाक् प्रस्तर स्थले ग्रामे। उन्नतपयोधरं प्रेक्ष्य यदि वससि तदा वस।।' स्रस्तरं कटाद्यास्तरणं पाषाणमयेऽस्मिन् ग्रामे नास्ति किन्तु मेघो वर्षणाय उन्नमतीति दृष्ट्वा यदि वससि तदा वस।' पयोधर का अर्थ स्तन भी होता है।. यहां वाच्यार्थ यह है कि पत्थर की शय्या पर ही विश्राम करना होगा परन्तु बादल उठ रहे हैं अतः तुम संभवतः आगे न जा सको इसलिए यहीं विश्राम करो; परन्तु इसमें वस्तुध्वनि यह है—'यद्यप्युपभोगक्षमोऽसि तदा आस्स्व।'

2. अलंकारध्वनिका एक उदाहरण लीजिए: 'निरुपादानसंभारमभित्तावेव तन्वते। जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने।।' शंकर के पास कोई सामग्री नहीं है फिर भी वे आश्चर्यपूर्ण जगत् की रचना करते हैं। अतः वे सबसे बड़े हैं। अतः इसमें व्यतिरेकालंकार ध्वनित है।

का दृश्य देखा तब उनकी कल्पना जागृत हुई और उनका मनोवेग कविता के रूप में फूट पड़ा; लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि मुनि स्वयं दुःखी थे और यह भी नहीं कि कविता के अध्ययन के बाद पाठक दुःखी होता है। क्योंकि यदि ऐसा होता तो किसी को भी कविता पढ़ने में आनंद की अनुभूति नहीं होती। दे. लोचन, पृ. ३१ 'तेन रस एव वस्तुत आत्मा वस्त्वलंकारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्याद् उत्कृष्टौ तौ इत्यभिप्रायेण ध्वनिः काव्यस्यात्मेति सामान्येनोक्तम्। प्राथमिकानामभ्यासार्थिनां यदि परं चित्रेण व्यवहारः प्राप्तपरिणतीनां तु ध्वनिरेव प्राधान्येन काव्यमिति स्थितमेतत्।' अलंकारसर्वस्व (पृ. १३-१४) में ध्वन्यालोक के सिद्धान्त का स्पष्ट और सरल वर्णन इस प्रकार किया है: 'वाक्यार्थस्यैव व्यंग्यरूपस्य गुणालंकारोपस्कर्तव्यत्वेन प्राधान्याद्विश्रान्तिधामत्वादात्मत्वं सिद्धान्तितवान्। व्यापारस्य विषयमुखेन स्वरूपप्रतिलम्भात्तत्प्राधान्येन प्राधान्यात्स्वरूपेण विदितत्वाभावाद्विषयस्यैव समग्रभरसहिष्णुत्वम्। तस्माद्विषय एव व्यंग्यनामा जीवितत्वेन वक्तव्यः। यस्य गुणालंकारकृतचारुत्व परिग्रहसाम्राज्यम्। रसादयस्तु जीवितभूता नालंकारत्वेन वाच्याः। अलंकाराणामुपस्कारकत्वाद्रसादीनां च प्राधान्येनोपस्कार्यत्वात्। तस्माद् व्यंग्य एव वाक्यार्थीभूतः काव्यजीवितमित्येष एव पक्षो वाक्यार्थविदां सहृदयानामावर्जकः।' ध्वन्यालोक में काव्य के ध्वनिकाव्य, गुणीभूतव्यंग्य और चित्र—ये तीन भेद किये गये हैं। अंतिम भेद में सभी शब्द तथा अर्थ के अलंकारों का अन्तर्भाव होता है। दे. ध्वनिकाव्य के लिए ध्व. २. ४., पृ. ८२; गुणीभूतव्यंग्य के लिए ३. ३५, पृ. २५६ और चित्रकाव्य के लिए ३. ४२-४३, पृ. २७५-२७६. परन्तु ध्वन्यालोक के अनुसार कवि को रसहीन काव्य की रचना करने में कभी भी शक्ति का अपव्यय नहीं करना चाहिए। 'एतच्च चित्रं कवीनां विशृंखलगिरां रसादितात्पर्यमनपेक्ष्यैव काव्यप्रवृत्तिदर्शनादस्माभिः परिकल्पितम्। इदानींतनानां तु न्याय्ये काव्यनयव्यवस्थापने..... एव न शोभते।' (पृ. २७७, ऊपर पृ. १६६ पर उद्धृत) अनुप्रास और यमक के विषय में इनके विचार द्रष्टव्य हैं (२. १५. १६, पृ. १०३-१०४)। ध्वनि को काव्य की आत्मा निर्धारित करने के उपरान्त गुण तथा अलंकारों के उपयुक्त स्थान का निर्धारण किया गया है। (ध्व. पृ. ७५ 'तमर्थमवलम्बन्ते' इत्यादि) पृ. ३७८-७९ पर निम्न वृत्ति आई है: 'ये तमर्थं रसादिलक्षणमङ्गिनं सन्तमवलम्बन्ते ते गुणाः शौर्यादिवत्। वाच्यवाचकलक्षणान्यङ्गानि ये पुनराश्रितास्तेऽलंकारा मन्तव्याः कटकादिवदिति।' रीति के विषय में (३. ४७, पृ. २९०) इन्होंने कहा है कि इनकी व्याख्या गुणों की स्थिति के अनुसार होती है (जैसा कि लोचन में पृ. २९० पर कहा गया

है : 'रीतिर्हि गुणेष्वेव पर्यवसायिता') । इसमें संघटना (ध्व. ३. २, ५, ६) का भी निरूपण किया गया है जो वर्ण-रचना या पद-रचना ही है ।[1] काव्यप्रकाश (८) में कहा गया है : 'अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा' और निम्न कारिका पर इस में लिखा गया है 'विकटा संघटना ओजस्' (पृ. ४८६) और इसके असमासा, मध्यसमासा और दीर्घसमासा तीन प्रकार बताये गये हैं । इन में से प्रत्येक किसी एक अथवा अनेक रसों में उपयुक्त होती है (यद्यपि यह नियम अटल नहीं है) । गुणों का स्वरूप संघटना के समान नहीं है और वे संघटनाश्रित भी नहीं हैं । परन्तु संघटना का औचित्य रस, वक्ता और विषय द्वारा निर्धारित किया जाता है (दे. ध्व. पृ. १६४-१६९) । शब्दों पर आधृत उपनागरिका आदि वृत्तियां और अर्थ पर आधृत कैशिकी आदि वृत्तियां रीतियों के समकक्ष होती हैं । अर्थात् रीतियों के समान ये भी काव्य की आत्मा रस पर आधृत होती हैं । ध्वन्यालोक, पृ. २२६ से तुलना कीजिए : 'तत्र रसानुगुण औचित्यवान् वाच्याश्रयो यो व्यवहारस्ता एताः कैशिकाद्या वृत्तयः । वाचकाश्रयाश्चोपनागरिकाद्याः । वृत्तयो हि रसादितात्पर्येण संनिवेशिताः कामपि नाट्यस्य काव्यस्य च छायामावहन्ति । रसादयोहि द्वयोरपि तयोर्जीवभूता इतिवृत्तादि तु शरीरभूतमेव ।।' दे. ध्वन्या., पृ. २०० और २९१ भी । उपनागरिका, परुषा और ग्राम्या (कतिपय इसे कोमला करते हैं) इन तीन वृत्तियों का ही उद्भट, मम्मट (९) तथा अन्य लेखकों ने उल्लेख किया है । 'शषाभ्यां रेफसंयोगैष्टवर्गेण च योजिता। परुषानाम वृत्तिः स्याद् ह्लह्वह्याद्यैश्च संयुता । सरूपसंयोगयुतां मूर्ध्नि

---

1. ध्वन्या. ३. २ पर कहा गया है कि असंलक्ष्यक्रमध्वनि वर्ण, पद, वाक्य, संघटना और प्रबन्ध में व्यक्त होती है और लोचन के मत में 'संघटना पदगता वाक्यगता च । संघटितवाक्यसमुदायः प्रबन्धः' (पृ. १५९) । ध्वन्यालोक (३. ५) में असमासा, मध्यसमासा और दीर्घसमासा ये तीन प्रकार संघटना के बताये गये हैं । ध्वन्या. पृ. १६६ पर लिखा गया है 'तस्मान्न गुणाः संघटनास्वरूपा न च संघटनाश्रया गुणाः ।' संघटना और गुण दोनों थोड़ा-बहुत स्वतंत्र व्यक्तित्व रखते हैं ('तस्मादन्ये गुणा अन्या च संघटना', पृ. १६९) । ओजस् गुण रौद्ररस में उपयुक्त होता है । परन्तु 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' (वेणीसंहार ३) में ओजस् गुण है किन्तु असमासा संघटना है । 'अनवरतनयनजललवनिपतनपरिमुषितपत्रलेखान्तम् । करतलनिषण्णमबले वदनमिदं कं न तापयति ।।' इसमें शृंगार (जिसमें सामान्यतः कम समास होने चाहिए) और दीर्घसमासा संघटना है ।

वर्गान्त्ययोगिभिः । स्पर्शैर्युता च मन्यन्ते उपनागरिकां बुधाः ।। शेषैर्वर्णैर्यथायोगं कथिता कोमलाख्यया ।' उद्भट के मत में उपनागरिका शृंगार में, परुषा वीर और रौद्र में और कोमला हास्य में उपादेय होती है । रुद्रट (२. १९) ने मधुरा, ललिता, प्रौढा, परुषा और भद्रा--ये पांच वृत्तियां गिनाई हैं । नाट्य-शास्त्र में भारती, कैशिकी, सात्त्वती और आरभटी--ये चार वृत्तियां मानी गई हैं । ध्वन्यालोक में आये काव्यशास्त्र संबन्धी सभी तत्त्वों का उत्तरवर्ती लेखकों ने अप्रत्यक्ष रूप में अनुसरण किया है । लोचन के अनुसार ध्वनि शब्द के पांच अर्थ होते हैं । ध्वन्या. (१. १३) के अनुसार ध्वनि का तात्पर्य एक विशेष प्रकार के काव्य से है । ('यत्रार्थः . . . व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः') लोचन (३९ पृ.) में यह उल्लेख आया है : 'कारिकया तु प्राधान्येन समुदाय एव वाच्यरूपमुखतया ध्वनिरिति प्रतिपादितम् ।' प्रथम कारिका के अनु-सार ध्वनि काव्य की आत्मा है । ('आत्मशब्दस्य तत्त्वशब्देनार्थं विवृण्वानः' इत्यादि, लोचन, पृ. ३) अतः ध्वनि का दूसरा अर्थ काव्य के सार अथवा व्यंग्य से है । लोचन में कारिका १. १७, पृ. ६० के विषय में निम्न उल्लेख आया है : 'अत्रोक्तप्रकार इति पंचस्वार्थेषु योज्यम् । शब्देऽर्थे व्यापारे व्यंग्ये समुदाये च ।।' शब्द और वाच्यार्थ को ध्वनि (ध्वनतीति) कहते हैं । और व्यंग्य को ध्वनि (ध्वन्यते इति) कहते हैं । लोचन (पृ. २१) के अनुसार ध्वनि का अर्थ व्यापार (ध्वनन) ही है : 'तस्मादभिधातात्पर्यलक्षणाव्यतिरिक्तश्च चतुर्थोऽसौ व्यापारो ध्वनन-द्योतन-व्यंजनप्रत्यायनावगमनादिसोदरव्यपदेश-निरुक्तोऽभ्युपगन्तव्यः ।' अतः रसगंगाधर में 'ध्वनिकृतामालंकारिकसरणि व्यवस्थापकत्वात्' (पृ. ४२५) उक्ति आई है । भामह, दण्डी, उद्भट, वामन और रुद्रट ने शब्द, अर्थ, गुण, अलंकार और दोषों के विषय में विस्तार से लिखा है । ध्वनि-सांप्रदायिकों के अनुसार इन सब तत्त्वों का महत्त्व गौण है । वे तो केवल काव्य के वाह्य रूप हैं । अतः हमें इनकी अपेक्षा काव्य के आंतरिक भाव या आशय पर विशेष ध्यान देना चाहिए । वेदान्त के अनुसार अनुभूत वस्तु जिस प्रकार अन्तिम सत्य नहीं है वरन् वास्तविकता का आभास है उसी प्रकार शब्द और व्यक्त अर्थ को काव्य का वाह्य रूप कहा जाने लगा और पाठकों में संप्रेपित भाव को काव्य का सार-तत्त्व कहा जाने लगा । काव्य के दो प्रयोजन समझे गये प्रथम, उत्कृष्ट कोटि का आनंद देना (सद्यः परनिर्वृतये) और दूसरे, चरित्र-निर्माण-विषयक उपदेश देना । जब ध्वनि अथवा रस को काव्य की आत्मा कहा जाता है (काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति) तो उस समय हम आत्मा और आनंद के विषय में उपनिषदों की भाषा (आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्) का प्रयोग कर रहे हैं ।

काव्यास्वाद अथवा नाट्य-दर्शनजन्य आनन्द एक प्रकार का आध्यात्मिक आनंद है जो कि किसी वेदान्तानुयायी व्यक्ति को ब्रह्म में लीनता प्राप्त करने से मिलता है। अतः मम्मट ने रस को ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन्' मान्य हैं। परन्तु इन दोनों अनुभवों में अन्तर है । कला की अनुभूति चिरस्थायी नहीं होती। जब प्रेरक तत्त्व हट जाते हैं तब यह भी लुप्त हो जाती है। जब कि ब्रह्म-स्थिति का आनंद स्थायी है। कलानुभूति में नैतिक उदात्तता आवश्यक नहीं, जब कि उच्च आध्यात्मिक जीवन नैतिक अनुशासन के बिना संभव नहीं। ध्वनि-सिद्धान्त को सामान्य स्वीकृति प्राप्त होने से पूर्व प्रतीहारेन्दुराज (पृ. ८०-८६, निर्णय सां.), वक्रोक्तिजीवित, भट्टनायक और महिमभट्ट का विरोध सहना पड़ा। ध्वनि-सिद्धान्त के ऐतिहासिक और समालोचनात्मक सर्वेक्षण के लिए दे. 'इंडियन कल्चर' भाग ११, पृ. २३३-२४१, 'आनन्दवर्धन'स ट्रीटमेंट आफ़ रस इन रिलेशन टु ध्वनि' लेख, जे. ओ. आर. मद्रास, भाग १७, पृ. ८०-९१; ध्वनि, गुण, रीति और वृत्ति आदि के विवेचन के लिए दे. जर्नल आफ बाम्बे-यूनिवर्सिटी भाग १८, प्रति २, पृ. ५७-७२। ये सब लेख डॉ. के. कृष्णमूर्ति-लिखित हैं।

१४. काव्य-वर्गीकरण

आधुनिक ग्रन्थों के समान प्राचीन ग्रन्थों में भी काव्य के महाकाव्य, गेय और दृश्य (नाटक) वर्ग बनाये गये हैं। काव्य का वर्गीकरण विभिन्न दृष्टियों से किया जाता है। दण्डी ने प्रथम गद्य, पद्य और मिश्र इन तीन वर्गों में काव्य-का वर्गीकरण किया है। काव्य के लिए गद्य, पद्य आदि बाह्य स्वरूप के बंधन के विषय में अंग्रेजी साहित्यकारों में मतभेद है तो भी प्रो. मोल्टन आदि विद्वानों ने काव्य के लिए पद्य की आवश्यकता स्वीकार की है। सभी संस्कृत-साहित्यकारों ने काव्य के लिए पद्य की एकांत आवश्यकता पर बल नहीं दिया है। यहां तक कि वामन आदि ने यह भी कहा है: 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' (का. सू. वृ., १. ३. २१)। दण्डी ने पद्यमय काव्य के सर्गबन्ध अथवा महाकाव्य, मुक्तक, कुलक (पंचश्लोकी), कोष और संघात (परस्पर-असम्बद्ध श्लोकों का संग्रह) ये प्रकार स्वीकार किये हैं। गद्य के कथा, आख्यायिका और चम्पू—इन प्रकारों की गणना की है। मिश्रकाव्य में नाटक और अन्य प्रकारों का अंतर्भाव होता है। दण्डी ने काव्य को संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में भी विभाजित किया है जब कि रुद्रट (२. ३१) ने संस्कृत, प्राकृत, मागध, पिशाच, शूरसेन और अपभ्रंश

ये छः भेद किये हैं। भामह-निरूपित काव्य-वर्गीकरण के लिए दे. ऊपर पृ. ८२। वामन ने काव्य को गद्य और पद्य में विभाजित किया है। प्रथम के वृत्त-गन्धि, चूर्ण और उत्कलिकाप्राय तीन भेद किये हैं। पद्य के अनेक प्रकार हैं परन्तु इन्होंने गद्य और पद्य के केवल अनिवद्ध और निवद्ध (अर्थात् प्रवन्ध) ये दो वर्ग ही गिनाये हैं। इन्होंने इस बात पर वल दिया है कि संपूर्ण काव्यों में नाटक उत्तम है। 'संदर्भेषु दशरूपकं श्रेयः (१. ३. ३०)। हेमचन्द्र ने (८वां अध्याय) काव्य को प्रेक्ष्य और श्रव्य में विभाजित किया है। प्रेक्ष्य के पाठ्य और गेय भेद वताकर अनेक उपभेद किये हैं। श्रव्य को महाकाव्य, आख्या-यिका, कथा, चम्पू और अनिवद्ध में विभाजित किया है। इन्होंने भाषा की दृष्टि से काव्य के संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और ग्राम्यापभ्रंश भेद किये हैं। कथा नामक काव्य-भेद के आख्यान, निदर्शन, प्रवह्लिका, मतल्लिका, मणिकुल्या, परिकथा, खंडकथा, सकलकथा, उपकथा आदि उपभेद किये हैं। काव्य के विभिन्न भेदों के लिए दे. ध्वन्यालीक, पृ. १७४ से आगे और लोचन।

१५. काव्य-दोष

काव्यशास्त्र-संवंधी ग्रंथों में यह विषय वहुत महत्त्वपूर्ण है। भामह के (१.१२) अनुसार कवि न होना अधर्म नहीं है। कवि न होने का अर्थ रोग अथवा दंड का भागी होना भी नहीं। परन्तु वुरा कवि होना, ज्ञानी पुरुषों के अनुसार, मृत्यु के समान है। काव्यादर्श ((१.७) के अनुसार काव्यगत छोटी से छोटी त्रुटि को भी क्षम्य नहीं समझना चाहिए। यह त्रुटि सुन्दर शरीर पर कोढ़ के दाग के समान है जिससे घृणा का भाव उत्पन्न होता है। भरत ने दस दोषों का उल्लेख किया है (१७. ८८, जी. ओ. एस. १६. ८८, भाग २, पृ. ३३१)। देखिए ऊपर पृ. ११० भी। दंडी और भामह ने क्रमशः दस और ग्यारह दोषों का उल्लेख किया है। परन्तु उन्होंने पद, वाक्य और वाक्यार्थ संवंधी दोषों के भेद वैज्ञानिक दृष्टि से नहीं किए। वामन ने ये भेद किए हैं। मम्मट आदि अन्य उत्तरवर्ती लेखकों ने इन भेदों को स्वीकार किया है। ध्वन्यालोक के अनुसार जिस रचना में रस-निष्पत्ति होती है उसमें विभिन्न प्रकार के औचित्य की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए (पृ. १७८ से आगे)। साथ ही प्रमुख रस के विरोधी तत्त्वों का वहिष्कार किया जाना चाहिए, क्योंकि उनसे रस-दोष उत्पन्न होते हैं (पृ. १९९ से आगे)। रसदोष के लिए देखिए मम्मट (७)। मम्मट (१०म उल्लास) ने अलंकारों के कई दोषों का उल्लेख किया

है। उन्होंने स्पष्ट किया है कि ये दोष सप्तम उल्लास में विवेचित दोषों के अन्तर्गत ही आते हैं। दोषों का पूर्णतः वहिष्कार संभव नहीं है, परन्तु इन दोषों के भी स्तर हैं जिन में रसदोष सवसे निकृष्ट है। साहित्यदर्पण (१.२) में कहा गया है—'सर्वथा निर्दोषस्यैकान्तमसंभवात् ।' कुमारिल की निम्न चेतावनी भी ध्यान देने योग्य है—'न चाप्यतीव कर्तव्यं दोषदृष्टिपरं मनः । दोषोप्यविद्यमानोपि तच्चित्तानां प्रकाशते ॥' यह उक्ति अर्जुनवर्मदेव (अमरुशतक, श्लोक ७२) और व्यक्तिविवेककार द्वारा उद्धृत है। दोषों के विषय में देखिये डॉ. राघवन-संपादित शृंगारप्रकाश, भाग १, पृ. २१६-५७; तथा डॉ. कृष्णमूर्ति का रससिद्धान्त-संबंधी लेख, आई. एच. क्यू., भाग २०, पृ. २१७-२३२।

१६. काव्यशास्त्र पर अन्य शास्त्रों का प्रभाव

व्याकरणशास्त्र ने काव्यशास्त्र को सवसे अधिक प्रभावित किया है। ध्वन्यालोक (पृ. ४७-८) के अनुसार ध्वनि शब्द वैयाकरणों से ग्रहण किया गया है (दे. ऊपर पृ. १९८ 'प्रथमे हि' आदि)। उन्होंने स्फोट के द्योतक ध्वनि शब्द का प्रयोग उसी प्रकार किया जैसे कि कविता में शब्दों द्वारा ध्वनित अर्थ का आभास मिलता है (व्यंजकत्वसाम्यात्)। स्फोट एक सर्वव्यापी, अमर और अनश्वर शब्द-सिद्धान्त है। ध्वनि से इसका आभास मिलता है। वाक्यपदीय का प्रथम श्लोक इस प्रकार है—'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्। विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥' शब्द और अक्षर भाषाव्यापार-विश्लेषणार्थ प्रयुक्त पद्धतियाँ हैं। जब हम एक शब्द का उच्चारण करते हैं तो इसके अन्तिम अक्षर में इसके पूर्व आये अक्षरों के संस्कारों का समावेश होता है। इन संस्कारों से हमारे मन में भाव का उद्गम होता है। अतः इसे शब्द[1] कहते हैं। नाद अथवा ध्वनि अभिव्यंजक होते हैं और स्फोट अभिव्यंग्य। लोचन (पृ. ४७) में कई श्लोक वाक्यपदीय (१, ८४, १०३ आदि) से उद्धृत हैं।

---

१. पदेन वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा इव। वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ॥ (वाक्यपदीय १. ७३); नादैराहित बीजायामन्त्येन ध्वनिना सह। आवृत्तपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोवधार्यते ॥ (वाक्यपदीय १. ८६) स्फोट-सिद्धान्त के लिए दे. जरनल अन्नामलाई यूनि. नि., भाग १, पृ. २३१-२४०; भाग २, पृ. १०९-११९; जयन्तभट्ट-कृत न्यायमंजरी (षष्ठ आह्निक), वाक्यपदीय भाग १ और शब्दकौस्तुभ।

'व्यक्तशब्दानां तथा श्रूयमाणा ये वर्णा नादशब्दवाच्या अन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्याः स्फोटाभिव्यंजकास्ते ध्वनिशब्देनोक्ताः।' स्फोट-सिद्धान्त बहुत पुराना है। पाणिनि ने स्फोटायन नामक पूर्ववर्ती का उल्लेख किया है: 'अवङ स्फोटायनस्य' (पा. ६. १. १२३)। महाभाष्य में बताया गया है कि शब्द नित्य है अथवा कार्य। व्याडि के संग्रह में प्रमुखतः इसी का विवेचन हुआ है—'संग्रहे प्राधान्येनैतत्परीक्षितम्, नित्यो वा स्यात् कार्यो वेति।' (भाग १, पृ. ६, कीलहार्न)। वेदान्त-सूत्र (१. ३. २८) पर शंकर-रचित भाष्य देखिये। भागवतपुराण (१२. ६. ४०) के अनुसार स्फोट और ब्रह्म एक ही हैं। काव्यप्रकाश में यह उल्लेख आया है: 'संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा' (२. पृ. ३२)। यह उक्ति महाभाष्य (भाग १, पृ. १९) की 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः' उक्ति पर आधारित है। भामह (६. २१) का मत भी इसी पर आधारित है। काव्यप्रकाश (२. पृ. ३३) में वाक्यपदीय की 'नहि गौः स्वरूपेण गौः' इत्यादि उक्ति उद्धृत मिलती है। काव्यप्रकाश (पृ. ६३) में वाक्यपदीय (२. २१७-८) से निम्न उद्धरण भी लिया गया है—'संयोगो विप्रयोगश्च'। ये उक्तियाँ उस शब्द के अर्थ-निर्धारण में सहायक सिद्ध होती हैं जिसका निर्देश एक से अधिक अर्थों की ओर हो। भामह (२. ३३ 'वतिनापि क्रियासाम्यं'), उद्भट (कारिका १. १५ से आगे), काव्यप्रकाशकार और साहित्यदर्पणकार ने उपमा के उपभेदों के लिए व्याकरण के नियमों, अर्थात् 'क्यच्' इत्यादि पाणिनि के सूत्रों का आधार लिया है। 'लिम्पतीव' श्लोक का विवेचन करते समय दण्डी (२. २२७) ने महाभाष्य के शब्दों का उल्लेख किया है। काव्यप्रकाश में की गई विभावना की परिभाषा (क्रियायाः प्रतिषेधेपि) 'क्रिया का अर्थ हेतु है' वैयाकरणों के इस मत पर आधारित है। वामन (५म अधिकरण) और भामह (६. ३०-६१) दोनों ने शब्दों की व्याकरण-संबंधी शुद्धता का विवेचन किया है।

तर्कशास्त्र में शब्दशक्ति (अभिधा) का विवेचन होता है। आलंकारिकों ने अभिधावृत्तिमातृका, शब्दव्यापारविचार, त्रिवेणिका, वृत्तिवार्तिक आदि ग्रंथों में इसी विषय का वर्णन किया है। आलंकारिकों ने अनुमान को अलंकार माना है। काव्यलिंग-अलंकार तर्क-शब्दावली से भी ध्वनित होता है। 'ध्वनि अनुमान के अन्तर्गत आती है'—इस मत की स्थापना करने के लिए महिमभट्ट ने 'व्यक्तिविवेक' की रचना की। ऐसा प्रतीत होता है कि शंकुक के अनुसार रस अनुमेय है और विभाव अनुमापक। सांख्यदर्शन का अलंकारों पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ा, परन्तु भट्टनायक के रस-सिद्धान्त का विवेचन करते समय सत्त्व, रजस् और तमस् का बहुधा उल्लेख आया है। (उदाहरणार्थ, अभिनव-

भारती, भाग १, पृ. २७९ और पृ. २८३ पर 'तत एव कापिलैर्दुःखस्य चांचल्यमेव प्राणत्वेनोक्तं रजोवृत्ति वदद्भिः') । 'पुरुष भोक्ता है, कर्ता नहीं'—सांख्यदर्शन के इस सिद्धान्त से भोग अथवा भोगीकृति शब्द ध्वनित होता है।

अलंकारशास्त्र के कतिपय सिद्धान्त पूर्वमीमांसादर्शन से भी ग्रहण किये गए हैं। काव्यप्रकाश का 'संकेतित...... जातिरेव वा' मत पूर्वमीमांसा के 'आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात्' (जै. १. ३. ३३) मत से मिलता-जुलता है। 'तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्' (काव्यप्रकाश २) और 'तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः पदार्थान्वयबोधने' (साहित्यदर्पण २. २०) आदि मत अभिहितान्वयवाद पर आधारित हैं। कुमारिल और पार्थसारथि मिश्र (न्यायरत्नमाला में) ने अभिहितान्वयवाद का आधार लिया है। काव्यप्रकाश (२ और ५) में अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद का उल्लेख आया है। काव्यप्रकाश में 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति', 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' उल्लेख आये हैं (५. पृ. २२५-२७)। इन विषयों का विवेचन पूर्वमीमांसा में हुआ है। प्रथम के लिए देखिये जै. ३. ८. १२। काव्यप्रकाश (२, पृ. ६१) के 'फलं संवित्तिः प्रकटता वा' आदि शब्दों में प्रभाकर और कुमारिल के सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति मिलती है। साहित्यदर्पण और अलं. सं. के अनुसार अर्थापत्ति अलंकार है। पूर्वमीमांसा में इसे प्रमाण माना गया है। रुद्रट, काव्यप्रकाशकार, साहित्यदर्पणकार तथा अन्य ग्रंथकारों ने पूर्वमीमांसा (उदाहरणार्थ जै. १. २. ३४, ३. ७. ३३) में आये सुप्रसिद्ध पारिभाषिक शब्द परिसंख्या को अलंकार माना है।

रसास्वादजन्य परमानन्द की स्थिति का वर्णन करने के लिए चमत्कारचन्द्रिका, मन्दारमरन्दचम्पू (९वाँ विन्दु) और रसगंगाधर (पृ. २३) आदि कतिपय ग्रंथों में उपनिषद्[1] से 'रसो वै सः' अवतरण उद्धृत मिलता है। काव्यप्रकाश में रस को 'ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन्' कहा गया है (दे. ऊपर, पृ. ३६०)। इन लेखकों ने रस, आनन्द और आत्मा को सामान्यतः एक-जैसा माना है। बृहदारण्यकोपनिषद् (४. ३. २१) में निम्नलिखित सुन्दर अवतरण आया है: 'तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्। तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामं रूपं शोकांतरम्। अत्र पिताऽपिता भवति ....तीर्णो हि तदा सर्वान् शोकान् हृदयस्य भवति'। ब्रह्मसूत्र (१. १. १२-१९) में तै. उप. के इस वाक्य का विवेचन किया गया है। साथ ही उनका भी जिन में 'आनंदमयात्मा' उल्लेख आया है।

1. 'रसो वै सः। रसो ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' (तै. उप., ब्रह्मानन्दवल्ली, ७)।

संस्कृत-काव्यशास्त्र के ग्रंथ और ग्रंथकार

१९२३ के संस्करण में अभिनय, संगीत और कामशास्त्र के ग्रंथ सम्मिलित नहीं थे, किंतु साधारणतया काव्यशास्त्र-संबंधी विवरण पुस्तिकाओं में एतद्विषयक ग्रंथों को सम्मिलित किया गया है। १९२३ के संस्करण में नाट्यशास्त्र-संबंधी ग्रंथ भी पूरे सम्मिलित नहीं हुए। प्रस्तुत सूची डॉ. राघवन द्वारा संपादित आवफ्रेट के केटलोगस केटलोग्रम के आधार पर बनाई गई है। उसमें केवल अ से प्रारंभ होने वाले ग्रंथ और ग्रंथकारों का निर्देश है। डॉ. राघवन के एतद्विषयक अन्य निबंधों का भी परिशीलन किया गया है। इसी प्रकार नीचे लिखी रचनाएँ भी उद्धृत हैं—डॉ. हरीचंद-कृत 'कालिदास एट ला आर्ट पोइटिक डि ला इंड' (Kalidas et L' Art Poetique de L' Inde) तथा डॉ. डे कृत 'संस्कृत अलंकारशास्त्र का इतिहास' प्रथम भाग (History of Sanskrit Poetics, V. I)। शेष कृतियाँ अन्य हस्तलिखित सूचियों तथा विवरणों पर आधारित हैं। अनेक स्थानों पर मौलिक विवरणों पर पर्यालोचन किया गया है, यथा—इंडिया ऑफिस केटलॉग, प्रो. मित्र की सूचनाएँ, भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना की हस्तलिखित सूचियाँ, गवर्नमेंट ओरिएंटल मैन्युस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी का भाग २२, त्रिवेंद्रम पैलेस लाइब्रेरी की हस्तलेख सूची भाग ६, तंजौर के सरस्वती महल-पुस्तकालय हस्तलिखित सूची भाग ९, तथा बूलर, भांडारकर, पीटर्सन आदि की रिपोर्ट। हस्तलिखित सूचियों में दिये गए संदर्भ अति संक्षिप्त तथा प्रायः भ्रामक हैं। एक ही ग्रंथ विभिन्न नामों द्वारा कई स्थानों पर दिया गया है। इस शब्द का प्रयोग काव्यशास्त्र के समान आयुर्वेद-संबंधी ग्रंथों के नामों में भी मिलता है। फलस्वरूप बहुत-से आयुर्वेद-विषयक ग्रंथ इन सूचियों में आ गए हैं। विवादरत्नाकर (पृष्ठ ४७७) में लाटसूत्र, जो कि लाट्यायन श्रौत सूत्र (१.३.१९) का निर्देशक है, के स्थान पर नाटसूत्र कर दिया गया है। उद्धरण का पर्यालोचन करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है। डॉ. हरीचंद ने अपनी सूची (पृष्ठ ३५) में नाटसूत्र पर प्रश्नचिह्न लगाया है। उन्होंने ग्रंथ और ग्रंथकारों की पृथक् सूचियाँ न देकर दोनों को मिला दिया है। ग्रंथकारों के नाम मोटे अक्षरों में दिये हैं। संभवतया मुझ से कुछ टीकाकारों के नाम छूट गए हैं, विशेषतया काव्यप्रकाश पर। मुद्रित संस्करणों के निर्देश भी पूरे नहीं आये। जो संक्षेप अपने-आप में स्पष्ट हैं उनका स्पष्टीकरण आवश्यक नहीं समझा गया। उदाहरण के रूप में, काव्यप्रकाश के लिए 'काव्यप्र.' का प्रयोग किया गया है, किंतु

संकेत-सूची में उसकी व्याख्या नहीं दी गई है। ग्रंथ के प्रारंभ में दी गई संक्षेप-सूची में जो नाम आ चुके हैं, उनकी पुनरावृत्ति भी नहीं की गई। इस सूची में दिये गए मुख्य संक्षेप निम्नलिखित हैं—

अ—अध्याय

अनु.—अनुसार

व. व. रा. ए. सो.—वांवे ब्रिटिश रॉयल एशियाटिक सोसायटी

आ. पू.—आनंदाश्रम प्रेस, पूना संस्करण

इ. ओ. के.—इंडिया आफिस केटलॉग ऑफ मेन्युस्क्रिप्ट्स

उ.—उद्धृत

गोडे.—'स्टडीज इन इंडियन लिट्रेरी हिस्ट्री'

ज. झा. इंस्टी.—जर्नल आफ गंगानाथ झा रिसर्च इंस्टीट्यूट, इलाहावाद

टी.—टीका या टीकाकार

नि.—निर्देश

निर्ण.—निर्णयसागर प्रेस, वंवई

न्यू. ई. ए.—न्यू इंडियन एंटीक्विटी

न्यू. के. के.—न्यू केटलॉगस केटलॉग्रम, संपादक डॉ. राघवन

वं. सं. सी.—वंवई संस्कृत सीरिज

भा. ओ. इंस्टी.—भांडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना की हस्तलिखित सूची

म. सू.—मद्रास गवर्नमेंट संस्कृत मेन्युस्क्रिप्ट्स की हस्तलिखित ग्रंथसूचियां

रा. सूच.—राजेंद्रलाल मित्र द्वारा दी गई हस्तलिखित-ग्रंथ विषयक सूचनाएँ

ले.—लेखक

वि.—विवरण

वि. वै. इंस्टी.—विश्वेश्वरानंद वैदिक रिसर्च इंस्टीट्यूट, होशियारपुर

हु. रि.—हुल्श, रिपोर्ट्स ऑन मेन्युस्क्रिप्ट्स

अणुरत्नमंडन अथवा रत्नमंडन—रत्नशेखरसूरि के शिष्य, कविशिक्षा पर जल्पकल्पलता नामक टीका के रचयिता। रत्नशेखर का निधन १४६०-६१ ई. में हुआ, यह लेखक १५वीं शती के मध्य वर्तमान था।

अतिरात्रयज्वन्—आच्चान दीक्षित के पुत्र नारायण दीक्षित के पंचम पुत्र, अप्पय दीक्षित प्रथम के भाई, चित्रमीमांसादोषधिक्कार के लेखक। समय—

लगभग १६६१-१६७० ई., देखो हु. रि., भाग २, पृ. ५१, १२६।

अनंत—साहित्यकल्पवल्ली का लेखक।

अनंत—कामसमूह का लेखक।

अनंतदास—अपने पिताकृत साहित्यदर्पण पर लोचन टीका का लेखक, मुद्रण का समय १४वीं शती, देखो ऊपर पृष्ठ ३०४।

अनंतपंडित—गोदावरी के निकट पुण्यस्तंभ के निवासी त्र्यंबक पंडित के पुत्र, रसमंजरी पर व्यंग्यार्थकौमुदी नामक टीका के रचयिता, बनारस सं. सी. में मुद्रित; रचना-काल १६३६ ई., चंद्रभानु के लिए रचित।

अनंताचार्य—काव्यलक्षणपरिष्कार के लेखक, दे. न्यू. के. के. भाग १, पृ. १४२।

अकबरसाहिश्रृंगारदर्पण—लेखक पद्मसुंदर, जैन विद्वान्, गंगा ओरिएटंल सीरिज, सं. १ बीकानेर में मुद्रित (१९४३), प्राध्यापक सी. के. राजा द्वारा संपादित, श्लोक मुगल सम्राट् अकबर को संबोधित करते हैं, चार उल्लास, रुद्र-कृत श्रृंगारतिलक का अनुसरण किया है, हस्तलिखित प्रति का समय १५९६ ई. है। नौ रस स्वीकार किये हैं।

अकबरसाहिश्रृंगारमंजरी—सुल्तान अब्दुलहसन के गुरु संत अकबरशाह-विरचित इसी नाम के तेलगु-ग्रंथ का संस्कृत-अनुवाद, समय सत्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध, देखो—कुन्हनराजा अभिनंदन-ग्रंथ (पृ. ३२५-३३५) में डॉ. राघवन का निबंध तथा उनके द्वारा विस्तृत टिप्पणी के साथ संपादित। प्रकाशक—पुरातत्त्व विभाग, हैदराबाद, सन् १९५१।

अच्युत—भीमसेन ने इनका निर्देश काव्यप्रकाश के टीकाकार के रूप में किया है।

अच्युतराय—साहित्यसार तथा उसकी टीका सरसामोद के रचयिता; ये नासिक के समीप पंचवटी के निवासी थे। रचना-काल १८३१ ई., मुद्रक—निर्णय-सागर प्रेस।

अजितसेन देवयतीश्वर—अलंकारचिंतामणि और श्रृंगारमंजरी (तीन अध्याय) के रचयिता, इसे आलपा-निवासी विट्ठलदेवी के पुत्र जैन राजकुमार कामीराय के लिए रचा गया, समय १००० ई., देखो न्यू. के. के., पृ. ६९ ए।

अनन्तार्य—शिंगराचार्य के पुत्र, कविसमयकल्लोल के रचयिता, इन्होंने नञ्जराज-यशोभूषण, प्रतापरुद्रीय तथा धर्मसूरि का उल्लेख किया है। समय—१४०० ई. के पश्चात्।

अप्पयदीक्षित—देखो न्यू. के. के. (भाग १, पृष्ठ ३१७-२१), इसके पृष्ठ ३७२ पर आया है कि अप्पयदीक्षित ने वेंकटपतिराय (१५८५-१६१४) के लिए कुवलयानंद की रचना की। विधिरसायन में आया है कि उस समय वे अति वृद्ध थे।

अप्पय्यदीक्षित—आच्चान् दीक्षित के पुत्र, प्रथम अप्पय्यदीक्षित के भाई, अलंकार-तिलक के रचयिता।

अभिधावृत्तिमातृका—ले. मुकुलभट्ट, जो कल्लटभट्ट के पुत्र थे। देखो न्यू. के. के., पृष्ठ २१८।

अभिनयदर्पण—ले. नंदिकेश्वर, मुद्रक—कलकत्ता सं. सी., मूल पाठ व अंग्रेजी-अनुवाद। अनुवादक डॉ. मनमोहन घोष, १९०१ में मराठी-अनुवाद, प्रकाशक गायकवाड़ ट्रांसलेशन सीरिज़, वड़ौदा, देखो नंदिकेश्वर की टिप्पणी।

अभिनवगुप्त—चुखल के पुत्र, उपनाम नरसिंहगुप्त, देखो न्यू. के. के., पृ. ४७-४८ व २३६-२४३।

अभिनवभारती—टी. भरत-कृत नाट्यशास्त्र, मुद्रक गा. ओ. सी., देखो न्यू. के. के., पृ. ४७-४८।

अमरचंद्र—काव्यकल्पलता के सह-लेखक, अलंकारप्रबोध के रचयिता, देखो काव्यकल्पलता, पृ. ९०, काशी सं. सी. में जिनदत्तसूरि के शिष्य, समय १३०० का मध्य।

अमृतानंदयोगी—अलंकारसंग्रह के रचयिता, १८८७ में कलकत्ता में मुद्रित; अन्य संस्करणों के लिए देखो अलंकारसंग्रह।

अयोध्याप्रसाद—रसतरंगिणी के टीकाकार।

अरिसिंह—काव्यकल्पलता के सह-लेखक, समय १३०० का मध्य।

अर्थालंकारमंजरी—ले. वल्लभभट्ट के पुत्र त्रिमल्लभट्ट, सुधींद्रयति-विरचित मधुधारा के टीकाकार।

अलक—अलंकारसर्वस्व के टीकाकार, रत्नशेखर द्वारा काव्यप्रकाश की टीका में उल्लिखित (देखो पीटर्सन की रिपोर्ट, भाग २, पृ. १७)।

अलक—काव्यप्रकाश के सह-लेखक, देखो—पीटर्सन की रिपोर्ट, पृ. २७१-२७३।

अलंकारकारिका—डेक्कन कालेज, पूना का हस्तलिखित ग्रंथसंग्रह (सन् १८७५-७६), ग्रंथ सं. २२६।

अलंकारकुलप्रदीप—ले. लक्ष्मीधर के पुत्र विश्वेश्वर, समय १८वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध, मुद्रक—काशी सं. सी.।

अलंकारकौमुदी—लेखक का नाम अज्ञात, सात किरणों पर व्याख्या, व्याख्याकार का नाम अज्ञात।

अलंकारकौमुदी—ले. वल्लभभट्ट (आधुनिक), बंबई ग्रंथमाला, भाग २ में मुद्रित। समय—१८८९ ई.।

अलंकारकौस्तुभ—ले. कविकर्णपूर, उपनाम—परमानन्ददास सेन, राधा व कृष्ण-संबंधी कारिकाओं में काव्यशास्त्र के नियम १० किरणों में उदाहृत हैं, लेखक का जन्मकाल—१५२४ ई., अन्य रचनाएँ—चैतन्यचंद्रोदय, (१५७२ ई.) एस. पी. भट्टाचार्य द्वारा १९२६ में संपादित, ग्रंथकार ने उज्ज्वलनीलमणि का अनुसरण किया है।

टीकाएँ—

(१) विश्वनाथ चक्रवर्ती-कृत सारबोधिनी, समय १८८९ ई., मुर्शिदाबाद में मुद्रित।

(२) राधाचरण के पुत्र वृंदावनचंद्र द्वारा विरचित दीधितिप्रकाशिका।

(३) लोकनाथ चक्रवर्ती की टीका।

(४) चक्रवर्ती के शिष्य सार्वभौमकृत टीका, देखो न्यू. के. के., पृ. २९२

अलंकारकौस्तुभ—ले. अण्णयार्य के पुत्र वेंकटाचार्य, इसमें ६ शब्दालंकार और १०८ अर्थालंकार वर्णित हैं।

अलंकारकौस्तुभ—ले. कल्याण सुब्रह्मण्य, आश्रयदाता—त्रावनकोर-नरेश श्री रामवर्मन् (समय १७५८-१७९८ ई.) इसमें केवल अर्थालंकारों का वर्णन है।

अलंकारकौस्तुभ—ले. लक्ष्मीधर के पुत्र विश्वेश्वर। ६१ अलंकारों का सोदाहरण वर्णन किया है, चित्रमीमांसा और रसगंगाधर का उल्लेख किया है, समय—१८०० का पूर्वार्द्ध, काव्यमाला सीरिज में मुद्रित।

विवरण नामक स्वोपज्ञ टीका

अलंकारकौस्तुभ—ले. श्रीनिवासदीक्षित।

अलंकारक्रममाला—ले. दामोदरभट्ट हर्षे, स्वोपज्ञ टीका।

अलंकारग्रंथ—ले. काशीलक्ष्मण कवि, समय—१७वीं शती का अंतिम भाग, तंजौरनरेश शाहजी (१६८४-१७११) के प्रशस्ति-विषयक उदाहरण।

अलंकारचंद्रिका—देखो, कुवलयानंद पर टिप्पणी।

अलंकारचंद्रिका—ले. गोपीनाथ।

अलंकारचंद्रिका—ले. विद्यानिधि के पुत्र रामचंद्र न्यायवागीश, देखो काव्यचंद्रिका टी.—अलङ्कारमञ्जूषा—रामचन्द्रशर्मा-कृत।

अलंकारचंद्रिका—ले. नारायणदेव।

अलंकारचंद्रोदय—वेणीदत्त शर्मा द्वारा ६ अध्यायों में विरचित।

अलंकारचिंतामणि—ले. अजित सेन, ५ परिच्छेदों में । मुद्रक—काव्याम्बुधि (न्यू., के. के. भाग १, पृ. २९३) टीका अथवा टीकाकार का नाम अज्ञात ।

अलंकारचिंतामणि—ले. गदाधर के पुत्र रामचंद्र राजगुरु ।

अलंकारचूड़ामणि—ले. श्रीनिवास दीक्षित के पुत्र राजचूड़ामणि दीक्षित, इनकी अनेक कृतियों में काव्यदर्पण भी एक है ।

अलंकारचूड़ामणि—देखो हेमचन्द्र-विरचित काव्यानुशासन ।

अलंकारतिलक—ले. भानुदत्त, देखो न्यू. के. के., पृ. ३०९ ।

अलंकारतिलक—ले. अप्पय्य दीक्षित (द्वितीय) देखो—आल इंडिया ओरिएंटल कान्फ्रेंस का विवरण, पृ. १७६-१८० ।

अलंकारतिलक—ले. वाग्भट, स्वोपज्ञ काव्यानुशासन की टीका में उल्लिखित ।

अलंकारतिलक—ले. श्रीकर मिश्र ।

अलंकारदर्पण—ले. अज्ञात, (प्राकृत भाषा में) अलंकारविषयक १३४ श्लोक । देखो—इंडियन एंटीक्विटी, भाग ४, पृ. ८३ ।

अलंकारदर्पण—ले. विश्वेश्वर पर्वतीय, मु. काशी सं. सी. ।

अलंकारदीपिका—देखो कुवलयानंद ।

अलंकारनिकप (अथवा निकर्ष)—ले. सुधींद्रयोगी, मध्व के अनुयायी सुधींद्र-योगी की प्रशस्तिविषयक, उदा. द्वारा अर्थालङ्कार विवेचन किया गया है ।

अलंकारनिरुक्तिका—देखो चंद्रालोक ।

अलंकारप्रकरण—लेखक अज्ञात ।

अलंकारप्रकाशिका—ले. अज्ञात, काव्यप्रकाश और मल्लिनाथ का उपयोग किया है ।

अलंकारप्रबोध—ले. अमरचंद्र, स्वोपज्ञ काव्यकल्पलतावृत्ति (इंडिया ऑफिस केटलॉग, भाग ३, पृष्ठ ३४०) में उल्लिखित ।

अलंकारभाष्यकार—जयरथ-कृत विमर्शिनी में इसका उल्लेख है; देखो इंडिया ऑफिस केटलॉग, भाग ३, पृष्ठ २८५ ।

अलंकारभूषण—ले. अज्ञात ।

अलंकारभेदनिर्णय—ले. अज्ञात ।

अलंकारमकरंद—ले. कोल्लूरि राजशेखर, (१७६०-१७७२ ई. के लगभग) ।

अलंकारमंजरी—रुय्यक-कृत अलंकारसर्वस्व (पृ. १८) के उल्लेखानुसार इसके रचयिता रुय्यक हैं, परंतु यह पूर्ण स्पष्ट नहीं है कि यह कृति उनकी अपनी है (जैसा डॉ. एस. के. दे की सं. अलं. शा. का इति., भाग १, पृ. १९५ व न्यू. के. के., पृ. २९५ से प्रकट होता है); जयरथ इस विषय में अस्पष्ट है ।

अलंकारमंजरी अथवा अर्थालंकारमंजरी—ले. वल्लभभट्ट के पुत्र त्रिमल्ल भट्ट, स्वोपज्ञ योगतरंगिणी में वे वीरसिंहावलोक को उदाहृत करते हैं (समय १३८३-१४९९ ई. के बीच) (देखो—बुक्स ऑफ बॉम्बे रॉयल एसियाटिक सोसायटी, हस्तलेख-सूची, पृष्ठ ४२।

अलंकारमंजरी—ले. सुखलाल, चंद्रालोक के अनुसार।

अलंकारमंजरी—ले. वेणीदत्त।

अलंकारमंजरी—ले. विजयीन्द्रयति के शिष्य सुधीन्द्रयति, जिन की मृत्यु १६२३ ई. में हुई। अलंकारमंजरी पर इनकी स्वोपज्ञ 'मधुधारा' नामक टीका है, देखो—तंजौर सरस्वती महल पैलेस लाइब्रेरी, हस्तलिखित ग्रंथ-सूची, भाग ९, पृ. ३९७१-७३।

अलंकारमंजूषा—ले. नाहनाभाई के पुत्र देवशंकर पुरोहित, गुजराती ब्राह्मण, सूरत के निकट स्थित, रानेर-निवासी। मुख्यतः इसमें अलंकार का निरूपण प्रथम पेशवा माधवराव (१७६१-७२ ई.) तथा उनके पितृव्य रघुनाथ-राव के प्रशस्तिसूचक उदाहरण द्वारा किया गया है। संपादक—श्री एस. एल. कत्रे, सिंधिया ओरिएंटल सीरिज का प्रथम ग्रंथ, १९४० ई.। देखो भांडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, भाग १५, पृ. ९२-९६, व भाग २१, पृ. १५२-१५४।

अलंकारमंजूषा—अलंकारचन्द्रिका अथवा काव्यचंद्रिका की टीका, वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई तथा अन्यत्र मुद्रित।

अलंकारमणिदर्पण—ले. प्रधान वेंकप्पय्य, रचना-काल—१७६३-१७८० ई.।

अलंकारमणिहार—ले. कृष्णब्रह्मतंत्रपरकालस्वामी, मुद्रक—मैसूर राज्य ओरिएंटल लाइब्रेरी सीरिज।

अलंकारमंडन—ले. मंडनमंत्री, रचना-काल १९१८ ई., अहमदाबाद में मुद्रित।

अलंकारमयूख—ले. अज्ञात।

अलंकारमहोदधि—आठ तरंगों में, ले. मलधारिनरेंद्रप्रभ, वस्तुपाल के अनुरोध पर विरचित, ३०४ मूल कारिकाएँ तथा ९८२ उदाहरण श्लोक सहित। इस पर अर्थालङ्कारवर्णन नामक स्वोपज्ञ टीका है, जिसका रचना-काल संवत् १२८२ (१२२५-२६ ई.), मूल तथा टीका गायकवाड़ ओरिएंटल सीरिज में मुद्रित।

अलंकारमीमांसा—भागवत पर योगेश्वर-कृत वासनाभाष्य में उ., बी. बी. आर.

ए. एस. मेन्युस्क्रिप्ट्स केटलॉग (बुक्स ऑफ बोंबे रॉयल एसियाटिक सोसायटी), पृ. २८८-८९।

अलंकारमीमांसा—ले. गोपालाचार्य के पुत्र श्री कृष्णसूरि।

अलंकारमुक्तावली—ले. नृसिंह के पुत्र रामसुधी। इस पर कृष्णसूरि ने रत्न-शोभाकर नामक टीका लिखी है। देखो न्यू. के. के., भाग १, पृ. २९५।

अलंकारमुक्तावली—ले. कृष्णयज्वन्, रचना-काल १६वीं शती, देखो—ब्रह्म-विद्या, मई, १९४३।

अलंकारमुक्तावली—ले. श्रीनिवास।

अलंकारमुक्तावली—ले. यज्ञेश्वर के पुत्र लक्ष्मीधर दीक्षित, देखो—हु. रि., भाग ३, पृ. ८-९।

अलंकारमुक्तावली—ले. लक्ष्मीधर के पुत्र विश्वेश्वरभट्ट, समय—१८वीं शती, पूर्वार्द्ध, मुद्रक—काशी सं. सी.।

अलंकारमौक्तिकमाला—ले. रामार्य के पुत्र कृष्ण।

अलंकाररत्नाकर—ले. त्रयीश्वर मित्र के पुत्र शोभाकर मित्र, १०७ सूत्रों में, वृत्तिवार्तिक (पृष्ठ २०) तथा रसगंगाधर (पृष्ठ २८१, जहाँ उल्लेख है कि अप्पय्य ने कुवलयानंद में इसका अनुसरण किया है) में उ., समय—१२००-१५५० ई. के मध्य, देवीस्तोत्र में यशस्कर ने इसका उपयोग किया है जिस पर रत्नकंठ ने टीका लिखी है। प्रो. सी. आर. दिवाकर द्वारा संपादित तथा ओरिएंटल बुक एजेंसी, पूना द्वारा प्रकाशित; टी.—स्वोपज्ञ रत्नोदाहरण, देखो—भा.ओ. इंस्टी., भाग १२, पृष्ठ १७।

अलंकाररत्नाकरप्राकृतगाथासंस्कृतीकरण—

अलंकाररत्नाकर—ले. यज्ञनारायण, तंजौर के रघुनाथनायक साहित्यरत्नाकर के भी ले.। देखो तंजौर-सूची, भाग ९, पृष्ठ ३९७४-७५।

अलंकाररहस्य—ले. महादेव के पुत्र प्रभाकर, स्वोपज्ञ रसप्रदीप में उ., रचना-काल—१५८३ ई. (पृष्ठ ८-१०)।

अलंकारराघव—कोण्डुभट्ट के पुत्र तथा तिरुमलयज्वन् के भ्राता चेरुकूरि यज्ञेश्वर दीक्षित; इसमें रसार्णवसुधाकर तथा साहित्यचिंतामणि का उल्लेख हुआ है।

अलंकारलक्षणानि—ले. शंभुनाथ, दक्कन कालेज हस्तलिखित ग्रंथ-सूची, संख्या

४०७, पृ. १८९२-९५ पर रचनाकाल संवत् १७९७ (१७४० ई.) दिया हुआ है।

अलंकारवादार्थ—ले. अज्ञात, साहित्यदर्पण के परिच्छेदों का विवेचन।

अलंकारवार्तिक—जयरथकृत विमर्शिनी (पृष्ठ ७१) पर अलंकारसर्वस्व के लेखक की कृति के रूप में निर्दिष्ट।

अलंकारविचार—इसमें प्रतापरुद्रीय का उपयोग हुआ है, देखो—तंजौर-सूची, भाग ९, पृष्ठ ३९७८-७९।

अलंकारवृत्ति अथवा मुग्धमेधाकर—ले. रत्नमंडनगणि; देखो—भा. ओ. इंस्टी., भाग १२, पृ. २२१, रचनाकाल—१५०० ई. का मध्य।

अलंकारव्याकरण (सूत्रों में)—ले. कात्यायन।

टी.—वृत्ति—ले. वररुचि, कृत्रिम देखो—न्यू. के. के., भाग १, पृष्ठ २९७।

अलंकारशतक—प्रायः चंद्रालोक की भांति।

अलंकारशास्त्रसंग्रह—ले. रामसुब्रह्मण्य।

अलंकारशास्त्रसर्वस्वसंग्रह—ले. अज्ञात, देखो—तंजौर-सूची, भाग ९, पृष्ठ ४१०८-९।

अलंकारशिरोभूषण—ले. रामानुजाचार्य के पुत्र कंदलार्य, भूतपूर्व हैदराबाद राज्य (वर्तमान आंध्र) द्वारा संरक्षित एवं प्रकाशित।

अलंकारशिरोमणि अथवा अलंकारचूडामणि—ले. राजचूडामणि; स्वरचित काव्यदर्पण में उ.।

अलंकारशेखर—ले. केशवमिश्र, देखो—पृष्ठ ३१५-१७ उपर्युक्त।

अलंकारशेखर—ले. वल्लभभट्ट के पुत्र जीवनाथ, अपरनाम त्रिमल्ल या तिर्मल, अर्थालंकार पर ४३ छंदों में लिखित।

टी.—मधुधारा—ले. विजयेंद्र के शिष्य सुधींद्रयति।

अलंकारसंग्रह—ले. अज्ञात, देखो—मद्रास गवर्नमेंट हस्तलेख-सूची, भाग २२, पृष्ठ ८६०६।

अलंकारसंग्रह—ले. अमृतानंदयोगी, मन्वभूपति के आदेशानुसार विरचित, काव्य और नाटक पर ११ अध्यायों में विभाजित, ७२५ कारिकाएँ तथा ४०० उदाहरण-श्लोक, रचनाकाल—१४०० ई. का उत्तरार्द्ध, मुद्रक—

आड्यार सीरिज (१९४९) ई. तथा वकटेश्वर ओरिएंटल सीरिज़, तिरुपति, देखो—ज. झा. इंस्टी., भाग ७ ।

अलंकारसमुद्गक—ले. कृष्णराम के पुत्र शिवरामत्रिपाठी, रचनाकाल—१८०० ई. । इन्होंने ३४ पुस्तकें लिखी हैं, देखो—स्टेन्ससूची, पृष्ठ २९२ ।

अलंकारसर्वस्व—ले. अज्ञात ।

अलंकारसर्वस्व—ले. केशवमिश्र, स्वरचित अलंकारशेखर (पृष्ठ ९) पर उ. ।

अलंकारसर्वस्व—ले. रुय्यक, देखो—पृ. २७५-२८५ ।

टी.—जयरथकृत विमर्शिनी, देखो—पृष्ठ २८५, समुद्रबंधकृत टी., देखो—पृष्ठ २८५, मुद्रित त्रिवेंद्रम संस्कृत सीरिज़, १३०० ई. का उत्तरार्द्ध ।

संजीवनी टी.—ले. श्रीविद्याचक्रवर्ती, देखो—पृष्ठ २८६, उपर्युक्त; वीरबल्लाल (होयसल) के दरवार में वर्तमान तथा संस्कृत-सार्वभौम, प्राकृतपृथ्वीधर, पैशाचीपरमेश्वर आदि १७ उपाधियों से अलंकृत; रचना-काल—१४०० ई. का प्रारम्भ, काव्य-प्रकाश पर संप्रदायप्रकाशिनीबृहट्टीका में इस टीका का उल्लेख है ।

अलक-कृत टी.—सारमुच्चय (काव्यप्रकाश की टी.) में रत्नकंठ द्वारा निर्दिष्ट ।

अलंकारसामान्यलक्षण—

अलंकारसार—जयरथकृत विमर्शिनी में उ., देखो—पृष्ठ २८५, उपर्युक्त ।

अलंकारसार—ले. गोवर्धनभट्ट के पुत्र बालकृष्णभट्ट, ले. वल्लभाचार्य का अनुयायी था, दस उल्लासों में रचित, कुवलयानंद तथा चित्रमीमांसा का उल्लेख है, देखो—दक्कन कॉलेज हस्तलिखित ग्रंथसूची, सं. २३ (वर्ष १८८१-८२), लिपिकाल संवत् १७५८, रचनाकाल—१६२५-१७०० ई. के मध्य ।

अलंकारसार—ले. कवीश्वरराज ।

अलंकारसार—ले. नृसिह ।

अलंकारसार—ले. भावदेव, ८ अध्याय, कारिकाओं में रचित, देखो—न्यू. के. के., पृ. २९९ ।

अलंकारसारसंग्रह—ले. उद्भट, देखो—पृष्ठ १३३-१३९, उपर्युक्त, टी.—प्रति-

हारेंदुराजकृता लघुवृत्ति टी., देखो, पृष्ठ १३८ उपर्युक्त; ९२५-९५० ई. के लगभग मुद्रित ।

राजानकतिलककृत उद्भटविवेक टी.—रचना-काल—११००-११२५ ई. के लगभग, देखो—पृष्ठ १३८-१३९ उपर्युक्त, गायकवाड़ ओरिएंटल सीरिज में मुद्रित, पृष्ठ २९५ पर काव्यादर्शकर्ता सोमेश्वर ने तिलक पर एक कारिका का उल्लेख किया है, प्रो. आर. सी. पारीक ने सोमेश्वर के संकेत की भूमिका में तिलक का समय ११३५-५० और ११६० के मध्य निर्धारित किया है ।

अलंकारसारस्थिति अथवा कुवलयानंदखंडन—ले. भीमसेन दीक्षित, अजितसिंह (१६८०-१७२५ ई.) के राज्यकाल में जोधपुर में विरचित, देखो—रा. सूच. भाग १०, पृष्ठ २०९ ।

अलंकारसारोद्धार—ले. भीमसेन दीक्षित, स्वोपज्ञ काव्यप्रकाशव्याख्या सुधासागर में उल्लेख ।

अलंकारसुधा—कुवलयानंद पर नागेशभट्ट-कृत टीका ।

अलंकारसुधाकर—कृष्णमिश्र साहित्यरत्नाकर की टीका ।

अलंकारसुधानिधि—मायण के पुत्र सायण को समर्पित, सायण के अनुज भोगनाथ द्वारा रचित उदाहरण-श्लोकों में सायण की प्रशस्ति की गई है, इसे उदाहरणमाला नाम दिया गया है, १३८५ ई. के लगभग विरचित, रत्नापण (पृष्ठ ४४) तथा वृत्तिवार्तिक (पृष्ठ १९) पर उल्लेख, देखो इं. ए., भाग ४४, पृष्ठ २२-२४; इंडियन कल्चर (वर्ष १९४०), पृष्ठ ४३९-४४ ।

अलंकारसूत्र—ले. शौद्धोदनि, देखो—अलंकारशेखर, पृष्ठ ३१५-३१७, उपर्युक्त ।

अलंकारसूत्र—जयरथ-कृत विमर्शिनी (पृष्ठ १५०) पर उल्लेख ।

अलंकारसूत्र—(७५ सूत्रों में) जिसे वात्स्यायन की रचना माना जाता है, देखो—हु. रि., भाग १, पृष्ठ २३ ।

अलंकारसूत्र—एक अन्य सूत्र-ग्रंथ, जिस पर कृष्णावधूत ने चमत्कारचामीकर नामक भाष्य लिखा है । इनकी मृत्यु बीसवीं शती के प्रारंभ में हो गई ।

अलंकारसूत्र—ले. चन्द्रकान्ततर्कालंकार, हाल ही में की रचना, देखो—हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोइटिक्स, भाग १, पृष्ठ ३२८; १८९९ ई. में कलकत्ता में मुद्रित ।

अलंकारसूर्योदय—ले. कोण्डुभट्ट के पुत्र चेरुकूरि यज्ञेश्वरदीक्षित, अलंकारराघव के लेखक ।

अलंकारस्फुरण—ले. वनाद्रिनाथ के पुत्र रूपनारायण, इसमें कुवलयानंद का अनुसरण है। देखो—वेयन्न ओरिएंटल जर्नल, तिरुपति, भाग ८, (संस्कृत-अंश), पृष्ठ ६३।

अलंकारागम—ले. कवींद्राचार्य।

अलंकारानुक्रमणिका—ले. अज्ञात।

अलंकारेंदुशेखर (५ प्रकरणों में—नायक, काव्यस्वरूप, शृंगार, दोष-गुण तथा अलंकार)—ले. श्रीशैलवंश के दासमाचार्य के पुत्र वेंकट नृसिंह। देखो—मद्रास गवर्नमेंट हस्तलिखित ग्रंथ-सूची, भाग २२, संख्या १२९७८।

अलंकारेंदुशेखर—ले. उपर्युक्त, लक्षणमालिका पर विरचित।

अलंकारेश्वर—शिवरामद्वारा स्वोपज्ञ सुबंधु की वासवदत्ता टी. (पृष्ठ ४) पर उल्लेख।

अलंकारोदाहरण—ले. शृंगार के पुत्र जयरथ, अलंकारसवस्व पर स्वोपज्ञ टी. विमर्शिनी का उल्लेख किया है, रुय्यक के अलंकारसर्वस्व में इसमें से उदाहरण संग्रहीत हैं।

अलंकारोदाहरण (निवद्धदेवीस्तोत्र)—ले. यशस्कर, दक्कन कालेज, संख्या २४१ (वर्ष—१८७५-७६), भा. ओ. इंस्टी., भाग ७, पृष्ठ ३५।

अल्लट अथवा अलट—देखो अलक; उपर्युक्त।

अल्लराज अथवा मल्लराज—रसरत्नप्रदीपिका के रचयिता, राजा हम्मीर के पुत्र।

अवंतिसुंदरी—काव्यमीमांसाकार राजशेखर की पत्नी, देखो—पृष्ठ २१२ तथा २१७, उपर्युक्त।

अश्मकुट्ट—नाट्यशास्त्र का एक लेखक, नाटकलक्षणरत्नकोश में अनेक वार उल्लेख।

अष्टनायिकादर्पण—ले. भगवत्कवि।

अष्टनायिकालक्षणं—

आगमचंद्रिका—देखो, उज्ज्वलनीलमणि के अंतर्गत।

आंजनेय—नाट्यशास्त्र का लेखक, भावप्रकाशन (पृ. २५१) पर उ.।

आदिभरत—देखो पृष्ठ २६-२७, उपर्युक्त।

आनंद—काव्यप्रकाश पर निदर्शन टी. के लेखक।

आनंदचंद्रिका—उज्ज्वल नीलमणि की टी.।

आनंददास—रससुधार्णव का लेखक।

आनंदवर्धन—ध्वन्यालोक का रचयिता, देखो—पृष्ठ १६१-२०३, उपर्युक्त।

आनंदशर्मा—रसमंजरी की टी. के रचयिता, त्र्यम्बक के पुत्र।

अपराजिति—राजशेखरकृत काव्यमीमांसा (पृष्ठ ४५) पर उल्लेख, देखो—
जर्नल ऑफ ओरिएंटल रिसर्च, मद्रास, भाग ६, पृष्ठ १६९-१७० ।

आमोद—रसमंजरी की टीका ।

आशाधर—सल्लक्षण के पुत्र, रुद्रट पर टी. के रचयिता, देखो पृष्ठ १५६, उपर्युक्त ।

आशाधर—धरणीधर के शिष्य तथा रामजी के पुत्र, कुवलयानंद की टी. के रचयिता, भट्टोजिकृत सिद्धांतकौमुदी में उ., समय—१६५०-१७०० ई. । कोविदानंद व त्रिवेणिका के भी लेखक । देखो—न्यू. इं. ए., भाग ६, पृष्ठ १४० (इसमें कादंबिनी टी. का निर्देश है), कुछ भाग प्रकाशित ।

इंदुराज—अभिनवगुप्त के गुरु, देखो पृष्ठ २०४-२०७ ।

उज्ज्वलनीलमणि—ले. रूपगोस्वामी, देखो पृष्ठ ३१०-३१५, उपर्युक्त ।

टी.—रूपगोस्वामी के भतीजे जीवगोस्वामी-कृत लोचनरोचनी टी., देखो पृष्ठ ३१४-१५ । विश्वनाथ चक्रवर्तीकृत आनंदचंद्रिका टी., १६९४ ई. में रचित । मुद्रक—काव्यमाला सीरिज (मूलपाठ सहित) लेश प्रटीका—देखो रा. सूच., भाग २, पृष्ठ ३०, संख्या ५८०, आगमचंद्रिका टी.—देखो आफ्रेट भाग १, पृष्ठ ६२ ए ।

उक्तिगर्भ—काव्यमीमांसा, पृष्ठ १ पर उल्लेख, देखो पृष्ठ १, उपर्युक्त ।

उज्ज्वलपदा—ले. गोपाल के पुत्र यशस्विकवि, साहित्यकौतूहल के टी., रचनाकाल—१७३० ई. ।

उतथ्य—काव्यमीमांसा, पृष्ठ १ पर उल्लेख, देखो पृष्ठ १, उपर्युक्त ।

उत्प्रेक्षामंजरी—ले. वरदाचार्य ।

उदाहरणचंद्रिका—देखो काव्यप्रकाश तथा कुवलयानंद ।

उदाहरणदीपिका अथवा प्रदीप—काव्यप्र. पर नागेश की टी. ।

उदाहरणमाला—देखो, अलंकारसुधानिधि ।

उदाहरणविवरण—ले. अज्ञात ।

उद्योत—काव्यप्रकाशप्रदीप की टी. ।

उद्भट—देखो पृष्ठ ४८, १३३-१३९, उपर्युक्त ।

उद्भटविवेक—ले. राजानकतिलक, देखो पृष्ठ १३८-१३९ ।

उपमन्यु—काव्यमीमांसा, पृष्ठ १ पर उल्लेख, देखो पृष्ठ १, उपर्युक्त ।

उपमासुधानिधि—ले. सर्वपल्ली अयंगर ।

ऋजुवृत्ति—देखो काव्यप्र. ।

एकषष्ट्यलंकारप्रकाश—देवनाथ, गोविंदठक्कुर, जयराम तथा अन्य लेखकों की कृतियों से संग्रहीत। देखो—रा. सूच., भा. ४, संख्या १४४७।

एकावली—ले. विद्याधर। देखो पृ. २९२-९३।

टी.—मल्लिनाथकृत तरल टी.। रामेश्वरभट्ट के पौत्र तथा माधवभट्ट के पुत्र प्रभाकरकृत प्रकाश टी. जन्म १५६४ ई.।

एकावली—ले. महामहेश्वरकवि।

औचित्यविचारचर्चा—ले. क्षेमेंद्र। देखो पृष्ठ २६४-२६६, उपर्युक्त।

औद्भटाः—काव्यमीमांसा (पृष्ठ २२, ४४) में उल्लेख।

औपकायन—काव्यमीमांसा में उल्लेख, देखो पृष्ठ १, उपर्युक्त।

औमापतम्—ले. उमापति, गवर्नमेंट ओरिएंटल हस्तलिखित ग्रंथ-पुस्तकालय, मद्रास-सीरिज में १८५७ ई० में प्रकाशित, ३८ अध्याय (७५ पृष्ठ मुद्रित) प्रायः छन्द में। मुख्यतः श्रुति, स्वर, राग, वेणु तथा वीणा, ताल, मण्डल, मृदंग, नृत्य (तांडव तथा लास्य) का विवेचन; चार प्रकार के नृत्य (भारती, सात्वती, कैशिकी, आरभटी); शरीर, वक्ष, आदि के आसन; ४३ प्रकार की हस्त, चरण, भ्रामरी आदि आसन; मुद्रा, अभिनय, नर्त्तन; नव रस तथा उनके विभाव-अनुभाव; नृत्य व नृत्त का भेद, आदि; संगीतरत्नाकर के टी. कल्लिनाथ द्वारा उल्लेख।

कच्छपेश्वर दीक्षित—कालहस्तीश्वर के पौत्र तथा वासुदेव के पुत्र, रस तथा भावों के संबंध में रचित रामचंद्रयशोभूषण (३ अध्याय) के रचयिता; उदाहरण-श्लोक वोम्मराज की प्रशंसा में हैं। देखो मद्रास गवर्नमेंट-सूची, भाग २२, संख्या १२९५०।

कंदालयार्य—अलंकारयशोभूषण के रचयिता, वेंकट के दरबार में वर्तमान।

कमलाकरभट्ट—धर्मशास्त्र पर अनेक कृतियों के रचयिता तथा काव्यप्र. के टी., देखो— पृष्ठ २७५।रा. सूच., संख्या १, उपर्युक्त। इन्होंने १६१२ ई. में निर्णयसिंधु की रचना की।

कर्णपूर अथवा कविकर्णपूर—उपनाम परमानंददाससेन, शिवानंदसेन के पुत्र। अलंकारकौस्तुभ के रचयिता।

कर्णभूषण—ले. गंगानंद मैथिल; विभाव-अनुभाव-व्यभिचारिभाव-स्थायिभाव तथा रस से संबंधित ५ अध्यायों में, कई छंद कर्ण को संबोधित कर लिखे हैं। भाग २, पृ. ३२ पर भानुकवीश्वर द्वारा जृंभा को ९वाँ सात्त्विक भाव गिनने का उल्लेख है; बीकानेर के श्रीकर्ण (१५०५-१५२६ ई.) के तत्त्वावधान में विरचित। मुद्रक—निर्ण. प्रेस।

कर्पूररसमंजरी—ले. वालकवि ।

कलाधर—काव्यप्रकाश पर कारिकावली के रचयिता । देखो काव्यप्र. ।

कल्पवल्ली—भावप्रकाशन, पृष्ठ १३१-१४२ पर उल्लेख, जिसके अनुसार भाव-प्रकाशन के लेखक ने कल्पवल्ली का रस, भाव, रसानुभूति, रसाभास तथा अन्यसंभोगदुःखिता नायिका की अवस्था के संबंध में अनुसरण किया है।

कल्पलता—भावप्रकाशन, पृष्ठ ७५ पर उल्लेख, भावप्रकाशन में कल्पलता में निर्दिष्ट शब्द की चार शक्तियों (वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य तथा तात्पर्य) के अनुसरण पर विवेचन ।

कल्याणकल्लोल—ले. महाराजकुमार कल्याणदास, देखो—वि. वै. इंस्टी., पृष्ठ २३२, संख्या २९१६ ।

कल्याणसुब्रह्मण्य—अलंकारकौस्तुभ का रचयिता । समय १८०० ई. ।

कविकंठपाश—देखो मद्रास-सूची, सं. १२८०२-३ के अनुसार पिंगल पर आधारित ।

कविकंठहार—ले. अज्ञात ।

कविकंठाभरण—ले. क्षेमेंद्र, देखो पृष्ठ २६५ ।

कविकर्णपूर—दे. कर्णपूर उ. ।

कविकर्णिका—ले. क्षेमेन्द्र, दे., पृ. २६५, उ. ।

कविकर्पटी अथवा कर्पटिका—ले. शङ्खधर, ये कान्यकुब्ज-निवासी गोविन्दचन्द्र-के दरवारी कवि थे, समय १२वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में । मु. दरभंगा, १८९२ ई. ।

कविकल्पलता—ले. देवेश्वर अथवा देवेन्द्र, जो मालवा-नरेश के अमात्य वाग्भट के पुत्र थे; अरिसिंह तथा अमरचन्द द्वारा रचित काव्यकल्पलता पर आधारित; रचना—१४वीं शता. के आरम्भ में (B. I. Series) तथा गायकवाड़ सीरीज (१८९१ ई.) द्वारा अनेक वार मुद्रित ।

इस पर निम्न टीकाएँ हैं—

(१) देवेश्वर-कृत टीका ।

(२) वेचाराम सार्वभौम-कृत टी. ।

(३) रामगोपालकविरत्न-कृत टी. ।

(४) सूर्यकवि-कृत—वालवोधिका (१६वीं शता. पूर्वार्द्ध) ।

(५) विवेक ।

कविकल्पलता—अलङ्कारशेखर (पृ. ४८) में उल्लिखित (श्रीपाद के अनु.)।

कविकल्पलता—ले. राघवचैतन्य।

कविकल्पलतिका—ले. अज्ञात।

कविकौतुक—ले. माधव के पुत्र विष्णुदास। स्वरचित शिशुप्रबोधालङ्कार में उल्लिखित।

कविकौस्तुभ—ले. भिकंभट्ट के पुत्र रघुनाथ (१७५८-१८२०)। दे. गोडे. भाग ३, पृ. ३५-३६।

कविगजाङ्कुश—काव्यालङ्कार कामधेनु में उल्लिखित।

कविचन्द्र—काव्यचन्द्रिका के रचयिता, कवि कर्णपूर के पुत्र, समय १६ वीं शती का उत्तरार्द्ध।

कवितावतार—(१० विहारों में), ले. पुरुषोत्तम, नागभूपाल विषयक उदाहरण।

कविनन्दिका अथवा नन्दिनी अथवा काव्यप्र. भावार्थ—ले. रामकृष्ण। रचनाकाल—१६०१ ई०।

कविप्रिया—ले. केशवदास; ओरछानरेश वीरसिंहदेव (१६०८-१६२७ ई.) के आश्रित; रचनाकाल—१६०१ ई. में विरचित। दे. डिपार्ट. ऑफ लेटर्स, कलकत्ता यूनि., भाग १३, पृ. १३४ (ले. सीताराम)।

कविप्रिया—ले. आचार्य विनयचन्द्र; १२५० ई. के लगभग।

कविशिक्षा—ले. जयमङ्गल, जयसिंह सिद्धराज (१०९४-११४३ ई.) के समसामयिक तथा जैन।

कविशिक्षावृत्ति—अमरचन्द्र-कृत काव्यकल्पलता पर टी.; देखो काव्यकल्पलता।

कविसञ्जीवनी—ले. श्रीनिवास।

कविसमयकल्लोल—ले. अनन्तार्य १४वीं शती के उत्तरवर्ती।

कवीन्द्रकण्ठाभरण—ले. लक्ष्मीधर के पुत्र विश्वेश्वरभट्ट, मु. का. मा. सीरीज के अष्टम गुच्छ अलङ्कारकौस्तुभ के अन्तर्गत। इस पर ग्रन्थकार द्वारा स्वोपज्ञ टी. है।

कात्यायन—नाटकलक्षणरत्नकोश के उल्लेखानुसार नाट्यशास्त्र के रचयिता।

कान्तिचन्द्र—काव्यदीपिका के रचयिता; १९०० ई. में कलकत्ता में मुद्रित।

कामदेव—काव्यमीमांसा द्वारा उल्लिखित, दे. पृ. १।

कामदेव—रतिमञ्जरी के रचयिता।

कामधेनु—वामनकृत काव्यालङ्कारसूत्र की टीका, दे. पृ. १४७ ऊपर।

कामसमूह—ले. अनन्त (नागर ब्राह्मण, आनन्दपूर्ण के शिष्य, मण्डनमंत्री के पुत्र

तथा नारायण के पौत्र थे)। रचनाकाल १४५७ ई.; दे. गोडे. जे. ओ. आर. मद्रास, भाग १४, पृ. ७४-८१।

कारिकार्थप्रकाशिका—ले. रघुदेव, काव्यप्र. के टीकाकार।

काव्यकलाप—ले. अज्ञात।

काव्यकल्पलता—उपनाम कवितारहस्य (४ प्रतापों में विभाजित)—ले. अरिसिंह तथा अमरचन्द्र; रचनाकाल १३वीं शताब्दी का मध्यभाग। इस पर निम्न टीकाएँ हैं—

अमरचन्द्रकृत कविशिक्षावृत्ति—इससे पता चलता है कि मूल ग्रन्थ के कुछ अंश अमरचन्द्र-कृत हैं तथा टीका सम्वत् १४५५ (१३९६ ई.) में लिखी गई। उद्धरण के लिए दे. भाण्डारकर रिपोर्ट १८८३-८४, पृ. ३१२-१३ तथा इंडिया ऑफिस कलकत्ता, भा. ३, पृ. ३३९-४१। उक्त दोनों तिथियाँ अर्थात् सम्वत् १४५५ व १४७५ सम्भवतः ग्रन्थ की प्रतिलिपि की तिथियाँ हैं। मु. चौखंभा संस्कृत सीरीज।

परिमल—उपरिनिर्दिष्ट।

मञ्जरी—इसका उल्लेख ग्रन्थकार की अन्य कृति परिमल में मिलता है।

मकरन्द—शुभविजयगणि-कृत, १६०९ ई.।

काव्यकौतुक—ले. भट्टतौत, रचनाकाल ९५० ई. के लगभग; दे. इंडिया आफिस की रिपोर्ट, पृ. १७९, २१८-२२१, इस पर निम्न टीकाएँ हैं—

अभिनवगुप्तकृत विवरण—दे. पृ. १७९, टिप्पणी १ तथा २।

काव्यकौस्तुभ—(९ प्रभाओं में विभाजित) ले. बलदेव विद्याभूषण। विद्याभूषण नाम से प्रसिद्ध साहित्यकौमुदी नामक काव्यप्रकाश की टीका भी है।

काव्यकौमुदी—ले. अज्ञात।

काव्यकौमुदी—ले. देवनाथ, काव्यप्र. की टी.।

काव्यकौमुदी—ले. रत्नभूषण, १० परिच्छेदों में विभाजित, रचनाकाल—१८वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध।

काव्यचन्द्रिका—कवि कर्णपूर के पुत्र कविचन्द्र द्वारा विरचित और १५ अध्यायों में विभाजित, ऊपर निर्दिष्ट।

काव्यचन्द्रिका—ले. विद्यानिधि के पुत्र रामचन्द्र विद्यावागीश। कोमिल्ला में १८८५ ई. में मुद्रित।

काव्यडाकिनी—ले. गङ्गानन्दकवीन्द्र (मैथिल)। मुद्रक—सरस्वती भवन सी.;

पुस्तक पाँच दृष्टियों अर्थात् अध्यायों में विभक्त है और उनमें दोषों का निरूपण है। र.—१६वीं शताब्दि का प्रथम चरण।

काव्यतत्त्वविचार—ले. हलधररथ।

काव्यतत्त्वविवेचककौमुदी—ले. कृष्णकिङ्कर, काव्यप्र. पर टीका।

काव्यतिलक—ले. लक्ष्मीधर के पुत्र तथा अलंकारकौस्तुभ के रचयिता विश्वेश्वर।

काव्यदर्पण—ले. अज्ञात; दे. भाण्डार. ओ. रि. इं., ग्रंथसूची, खण्ड १२, पृ. ५४-५५।

काव्यदर्पण—का. प्र. पर टीका, ले. मधुमति गणेश।

काव्यदर्पण—ले. रत्नपाणि, ग्रन्थकार के पुत्र रवि द्वारा रचित का. प्र. की टीका में इनका उल्लेख है।

काव्यदर्पण—रत्नखेट श्रीनिवास के पुत्र राजचूड़ामणि दीक्षित; १० उल्लासों में विभाजित, लेखक ने ग्रन्थ के अन्त में स्वरचित कृतियों का उल्लेख किया है, कुछ भाग वाणीविलास प्रेस, श्रीरङ्गम् में मु., इस पर रविपण्डित कृत टीका है।

काव्यदर्पण—ले. श्रीनिवास दीक्षित।

काव्यदर्पण—ले. मनोधर; का. प्र. पर टीका।

काव्यदीपिका—ले. कान्तिचन्द्र, नव छात्रों के लिए संकलन।

काव्यदीपिका—ले. गोविन्द।

काव्यनिर्णय—ले. धनिक; दशरूपावलोक में उल्लिखित, दे. २४ ८उप; रचनाकाल १००० ई.।

काव्यनौका—का. प्र. पर टीका।

काव्यपरिच्छेद—

काव्यपरीक्षा—ले. श्रीवत्सपदलाञ्छन, ५ उल्लासों में विभाजित, इस पर ग्रन्थकार द्वारा सूचित टीका है, हस्त. प्रति १५५० ई., दे. इं. ओ. हस्तलिखित ग्रंथ सूची, खण्ड ३, पृ. ३४२, सम्पा. डॉ. पी. एल. वैद्य, दरभंगा, १९५६ ई.।

काव्यप्रकाश—ले. मम्मट (१०५०-११०० ई.), अनेक संस्करण। उक्त ग्रन्थ की सभी टीकाओं को तिथिक्रमानुसार रखना कठिन है। अतः प्रसिद्ध व पूर्ववर्ती टीकाओं को प्रथम तथा पूर्ववर्ती व कम प्रसिद्ध टीकाओं को पश्चात् स्थान दिया गया है। जिन टीकाओं का उल्लेख हस्तलिखित ग्रंथ-सूची की टिप्पणी में है, साथ ही जिनके लेखकों का नाम नहीं मिलता, उन्हें प्रस्तुत सूची में सम्मिलित नहीं किया गया। टीकाओं के नाम—

संकेत—राजानक रुय्यक-कृत, दे. पृ. २७१, २७४-७५; रचना-काल

११३५-६० ई; कलकत्ता ओरिएंटल जरनल, खण्ड, २ में मुद्रित।

संकेत—माणिक्यचन्द्र-कृत, रचनाकाल ११५९-६० ई; देखो पृ. २७४, ऊपर, मुद्रण—आनन्द सीरीज (पूना) तथा डॉ. शामशास्त्री द्वारा, मैसूर में।

संकेत अथवा काव्यादर्श टी.—सोमेश्वरकृत, भाऊदाजी संग्रह, वुर्क्स ऑफ बोंबे रॉयल एसियाटिक सोसायटी (दे. हस्त. ग्रन्थों की सूची पृ. ४५) ग्रन्थ के अन्त में दिये गये लेख से ज्ञात होता है कि सं. १२८३ में अन्य हस्तलिखित ग्रन्थ से इसकी प्रति. की गई, जिससे उक्त कृति का समय १२२५ से पूर्व का निश्चित होता है। उक्त टी. १९५९ ई. में राजस्थान पुरातन ग्रन्थ-माला, जोधपुर से २ खण्डों में प्रकाशित हुई। प्रथम खण्ड में काव्यप्र. मूल तथा सोमेश्वर-कृत टी. तथा द्वितीय खण्ड में विद्वत्तापूर्ण भूमिका व कई उपयोगी अनुक्रमणिकाएँ दी गई हैं।

वालचित्तानुरञ्जनी टी.—ले. नरहरिसरस्वतीतीर्थ (वाराणसी)। इसके अनु. टीकाकार का जन्म सं. १२९८ (१२४१-४२ ई.) है।

दीपिका अथवा जयन्ती टी.—ले. जयन्तभट्ट, रचनाकाल सं. १३५० (१२९४ ई.) इनके पिता भारद्वाज, गुजरात के वाघेला-नरेश सारङ्गदेव (१२७७-१२९७ ई.) के मुख्यामात्य के पुरोहित थे; दे. भांडारकर रिपोर्ट, १८८३-८४, पृ. ३२६।

वाचस्पतिमिश्र-कृत टी.—इसका उल्लेख विश्वनाथ-कृत मम्मट की टी. तथा चण्डीदास-कृत दीपिका टी. (पृ. १३१) में मिलता है। उक्त वाचस्पति मिश्र, भामती के रचयिता वाचंस्पति तथा चिन्तामणि-संज्ञक अनेक धर्मशास्त्र-संवंधी ग्रन्थों के रचयिता वाचस्पतिमिश्र से भिन्न है।

विवेक टी.—श्रीधर सन्धिविग्रहिक-कृत। इसका उल्लेख विश्वनाथ-कृत काव्यप्र. दर्पण (१२२५ ई. लगभग) तथा चण्डीदास-कृत दीपिका (पृ. २९, ५९, ६२, ११७) में मिलता है। यह संस्कृत कालेज, कलकत्ता सीरीजं द्वारा १९५९ ई. में प्रकाशित तथा प्रो. एस. भट्टाचार्य द्वारा सम्पादित है। केवल प्रथम भाग में ४ उल्लास हैं।

दीपिका टी.—चण्डीदास-कृत, सरस्वती-भवन सीरीजं (वाराणसी) में

में मुद्रित। उक्त कृति की रचना ले. द्वारा अपने मित्र लक्ष्मणभट्ट के अनुरोध पर की गई। ध्वनिसिद्धान्तसंग्रह भी इनकी अन्य कृति है। इनका मिलान साहित्यदर्पण के रचयिता विश्वनाथ के पितामह के अनुज चण्डीदास से किया जा सकता है। इनके अनु. इनके पितामह नारायण ने धर्मवत्त को त्रिकलिंग के राजानरसिंह के दरवार में पराजित किया। इनकी दीपिका (पृ. ११८) में खण्डनकृत का उल्लेख है। अतएव इनका समय १३०० ई. के लगभग निश्चित होता है।

दर्पण टी.—साहित्यदर्पण के रचयिता विश्वनाथ द्वारा रचित। दे. पृ. २९६-३०४ ऊपर समय (१३००-१३८० ई.)।

सम्प्रदायप्रकाशिनी अथवा बृहट्टीका—विद्याचक्रवर्ती-कृत, रचनाकाल १४वीं शती। इन्होंने काव्यप्र. पर लघुटीका भी लिखी, मुद्रक त्रिवेन्द्रम् सं. सीरीज ; दे. भा. ओ. रि. इं. (वार्षिक विवरण), खण्ड १४, पृ. २५०।

साहित्यदीपिका टी.—भास्कर-कृत। इसका उल्लेख गोविन्दठक्कुर ने किया, रच.—१५वीं शती से पूर्व।

विस्तारिका टी.—परमानन्द चक्रवर्तीकृत, इसमें दीपिका, विश्वनाथ तथा प्रतापरुद्रीय का भी उल्लेख मिलता है। ये अलङ्कारसर्वस्व के रचयिता एवं टीकाकार श्री विद्याचक्रवर्ती (जिन्होंने मम्मट पर भी टीका लिखी) से भिन्न हैं। स. १४००-१५०० ई.।

प्रदीप टी.—गोविन्दठक्कुर-कृत; ये केशव व सोनादेवी के ज्येष्ठ पुत्र कवि श्रीहर्ष (नैषधकार से भिन्न) के बड़े भाई रुचिकर कवि के मित्र तथा काव्य व साहित्य के क्षेत्र में अपने सौतेले भाई के शिष्य थे। रचनाकाल—१४०० ई. के अनन्तर और १५५० ई. के लगभग से पूर्व, मुद्रक निर्णय. प्रे. बम्बई। ग्रन्थकार की अन्य कृति उदाहरणदीपिका है।

प्रभा प्रटीका—वैद्यनाथ तत्सत्-कृत, मुद्रक काव्यमाला सीरीज़, बम्बई।

उदाहरणचन्द्रिका प्रटीका—वैद्यनाथ-कृत, इ. ओ. के., भाग ३, पृ. ३२९। सं. ११५१ रचनाकाल—१६८३-८४ ई.। मुद्रक काव्यमाला संस्कृत सीरीज़ बम्बई।

उद्योत प्रटीका—नागेशभट्ट-कृत, मुद्रक—आ. पू.।

तिलक टी.—जयराम न्यायपञ्चानन-कृत, इसका उल्लेख श्रीवत्स-लाञ्छन तथा भीमसेन ने किया है। रचनाकाल—१५००-१७०० ई. के बीच, उद्धरण के लिए देखो—पीटरसन-कृत द्वितीय रिपोर्ट, पृ. १०७।

सारबोधिनी टी.—श्री वत्सलाञ्छन अथवा श्रीवत्सवर्मा द्वारा रचित; सम्वत् १६६५ में इसकी प्रतिलिपि की गई। रत्नकण्ठ तथा भीमसेन ने इसका उल्लेख किया है। रच.—१४००-१६०० ई. के बीच।

पण्डितराज-कृत टी.—रत्नकण्ठ ने इसका उल्लेख किया है। ये प्रसिद्ध टीकाकार जगन्नाथ पण्डितराज से भिन्न हैं। दे. स्टीन (कृत) सूची, पृ. २७ तथा के. पी. जायसवाल-कृत, मिथिला हस्तलिखित ग्रन्थ-सूची, खण्ड २, पृ. २४। उक्त ग्रन्थ की प्रतिलिपि शक सम्वत् १५५९ (१६३७ ई.) में की गई।

दर्पण टी.—मनोधर उपनाम रत्नपाणि-कृत—इनके पिता भवेश-पुत्र अच्युत शिवसिंह के अमात्य थे। रवि ने अपनी मधुमती में इसका उल्लेख किया है। रचनाकाल १५४० ई.।

मधुमती टी.—मनोधर उपनाम रत्नपाणि के पुत्र रवि द्वारा रचित; इन के पितामह अच्युत, मिथिला-नरेश शिवसिंह के अमात्य थे। उक्त टी. का नामकरण टीकाकार ने अपनी पुत्री के नाम पर किया, कमलाकर नें इसका उल्लेख किया है। रचनाकाल १४६०-१५०० ई.।

भावार्थचिन्तामणि अथवा आदर्श टी.—महेश्वरन्यायालङ्कार-कृत, रचनाकाल १७वीं शती का पूर्वार्द्ध।

कमलाकरभट्टकृत टी.—रचना स्वपुत्र अनन्त के लिए। इन्होंने १६१२ में निर्णयसिन्धु भी लिखा। मु. वाराणसी में; दे. हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, खण्ड १, पृ. ४३७।

निदर्शन अथवा शितिकण्ठविबोधन टी.—राजानकानन्द-कृत, रच.; गत-कलि ४७६६ (१६६५ ई.), दे. स्टीन (कृत) सूची, पृ. २६, २७।

सारसमुच्चय टी.—राजानकानन्द के मित्र राजानकरत्नकण्ठकृत, इनके अनुसार इन्होंने जयन्ती व अन्य टीकाओं का निबन्धन किया।

रच. १६४८-८१ ई. के वीच, दे. पीटरसन (द्वारा लिखित) रिपोर्ट (पृ. १७), जिसमें ग्रन्थकारों की एक तालिका दी गई है।

नरसिंहमनीपा टी.—नरसिंहठक्कुर-कृत, इनका अवतरण गोविन्दठक्कुर से पाँचवी पीढी में हुआ। भीमसेन ने इसका उल्लेख किया है, इसमें मधुमतीकार और कमलाकर का उल्लेख है। रच.—१६२०-१७०० ई. के वीच।

उदाहरणचन्द्रिका टी.—रामभट्ट के पुत्र वैद्यनाथ तत्सत्-कृत, काव्य-प्र. के दृष्टान्तों पर, इन्होंने काव्यप्रकाशप्रदीप पर प्रभा टी. भी लिखी। रच. सम्वत् १७४० (१६८३-८४ ई.)। मुद्रक काव्यमाला सीरीज, वम्वई।

सुधासागर टी.—शिवानन्द के पुत्र भीमसेन दीक्षित-कृत (इनके पितामह मुरलीधर एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। रच. सम्वत् १७७९ (१७२२-२३ ई.); इसमें अनेक टीकाकारों का उल्लेख है। मुद्रक चौखंभा संस्कृत सीरीज।

साहित्यकौमुदी टी.—वलदेव विद्याभूषण अथवा विद्याभूषण-कृत, टी. (भरतसूत्र नाम से) केवल कारिकाओं पर। चैतन्यमतानुयायी रच. १७६० ई.।

कृष्णानन्दिनी प्रटी.—स्वयं ग्रन्थकार द्वारा रचित, मुद्रक काव्यमाला सीरीज।

उद्योत टी., उदाहरणप्रदीप टी.—नागेश्वर अथवा नागोजि-कृत; रचना-काल १८वीं शती. का प्रथम चरण, देखो पृ. ३२४-२५ ऊपर, दोनों के मुद्रक आ. पू.।

कृष्णमित्राचार्य-कृत टी.—टीकाकार देवीदत्त के पौत्र व रामनाथ के पुत्र थे।

गदाधरचक्रवर्ती-कृत टीका।

सारदीपिका टी.—गुणरत्नमणिकृत; दे. भा. आ. इंस्टी., हस्तलेख-सूची खण्ड १२, पृष्ठ ११२। हस्तलिखित प्रति सम्वत् १७४२ में लिपित।

साहित्यचूड़ामणि टी.—गोपालभट्ट अथवा लौहित्यभट्ट गोपाल-कृत, रच. १७५० ई. के लगभग, मुद्रक त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरीज।

चिन्नतिम्म के पुत्र तिरुवेंकट द्वारा रचित टी.—इसमें गोपाल-कृत टी. का उल्लेख है।

रङ्गनाथ के पुत्र नारायण दीक्षित द्वारा रचित टी.—रचनाकाल १७वीं शती का अन्त ।

लीला टी.—मिथिलानिवासी कृष्णदेव के पुत्र व भवदेवठक्कुर के शिष्य भवदेव द्वारा विरचित—रचनाकाल १६४९ ई. ।

भानुचन्द्र-कृत टी.

यज्ञेश्वर यज्वन्-कृत टी.—दे. मद्रास गवर्न. हस्त-सूची, खण्ड २२, पृ. ८६२३ ।

रत्नेश्वर-कृत टी.—भोज पर स्वरचित टी. में उल्लेख ।

राजानन्द-कृत टी.

विजयानन्द-कृत टी.—हस्तलिखित प्रति में लिखी तिथि १६८३ ई. है ।

दीपिका टी.—दुर्गादास के पुत्र शिवनारायणदास द्वारा रचित, रचनाकाल १७वीं शती. का आरम्भ ।

सुबुद्धिमिश्र-कृत टी.—चक्रवर्ती द्वारा इसका उल्लेख किया गया है ।

अर्थप्रकाशिका टी.—रघुदेव-कृत, देखो कारिकार्थप्रकाशिका ।

अवचूरि टी.—राघवकृत ।

उदाहरणदर्पण टी.

उदाहरणविवरण टी.—ले. अज्ञात ।

ऋजुवृत्ति टीका—तिम्माजिमन्त्री के पुत्र नरसिंहसूरि द्वारा रचित, केवल कारिकाओं पर टी. की गई है ।

कविनन्दिका अथवा नन्दिनी टी.—रामकृष्ण-कृत ।

कारिकावलि टी.—कलाधर-कृत ।

काव्यकौमुदी टी.—देवनाथ-कृत, रचनाकाल सं. १७१७ (१६६०-६१ ई.)। देखो भा. ओ. इंस्टी., हस्तलेख-सूची, खण्ड १२, पृ. ८१ ।

काव्यदर्पण टी.—मधुमतिगणेश-कृत ।

पदवृत्ति टी.—नागराज केशव-कृत ।

भावार्थ टी.—रामकृष्ण-कृत, देखो ऊपर, कविनन्दिनी ।

मधुररसा टी.—कृष्णद्विवेदी-कृत ।

रसप्रकाश टी.—श्रीकृष्णशर्मा-कृत ।

रहस्यनिबन्ध टी.—भास्कर-कृत ।

रहस्यप्रकाश टी.—रामनाथविद्यावाचस्पति-कृत । इन्होंने भवदेव की संस्कार-पद्धति पर १६०३ ई. में एक टी. लिखी ।

रहस्यप्रकाश टी.—जगदीश भट्टाचार्य-कृत, ये १७वीं शती. के आरम्भ में नवद्वीप के निवासी थे। हस्त. प्रति इनके शिष्य द्वारा शक सं. १५७९ में लिखी गई। देखो रा. सूच. ४, पृ. २२५।

विवरण टी.—गोकुलनाथ उपाध्याय-कृत, रचनाकाल १६५०-१७३० ई.।

विजयपदी टी.—शिवरामत्रिपाठी-कृत।

श्लोकदीपिका टी.—गोविन्दठक्कुर-कृत, देखो ऊपर उदाहरणदीपिका।

श्लोकदीपिका—अनन्त के शिष्य जनार्दन व्यास-कृत।

सार टी.—रामचन्द्र-कृत।

साहित्यचन्द्र टी.—केवल कारिकाओं पर।

सुबोधिनी टी.—वेङ्कटाचलसूरि-कृत।

सुमनोमनोहरा टी.—ले. गोपीनाथ, रचनाकाल १७वीं शती का अंत।

काव्यप्रकाशखण्डन अथवा काव्यामृततरङ्गिणी—ले. अज्ञात। दे. रा. सूच., खण्ड ८, संख्या २६७४।

काव्यप्रकाशखण्डन—ले. सिद्धिचन्द (१५८७-१६६६ ई.), आर. सी. पारिख द्वारा प्रकाशित, सत्रहवें अखिल भारतीय पुरातत्त्व सम्मेलन का विवरण, पृ. २५२।

काव्यमञ्जरी—दे. कुवलयानन्द।

काव्यमीमांसा—ले. राजशेखर। देखो पृ. २०८-१८, ऊपर, रचना-काल १०वीं शती का प्रथम चरण।

काव्यरत्न—ले. केशवमिश्र। स्वरचित अलंकारशेखर में उल्लेख; देखो पृ. ३१७ ऊपर, रचनाकाल १६वीं शती का उत्तरार्द्ध।

काव्यरत्न—ले. विश्वेश्वर, देखो अलङ्कारकौस्तुभ (विश्वेवर-कृत)।

काव्यरत्नाकर—राजाराम के आत्मज बेचाराम न्यायालङ्कार-कृत।

काव्यरसायन—

काव्यलक्षण—ले. अज्ञात, इसमें काव्य व रूपक के लक्षणों का निरूपण किया गया है।

काव्यलक्षणविचार—ले. अज्ञात, इसमें चित्रमीमांसा तथा रसगङ्गाधर का उल्लेख है। मद्रास सूची., भा. २२, संख्या १२९७९।

काव्यविलास—राघवेन्दु के पुत्र चिरञ्जीव भट्टाचार्य द्वारा रचित (२ परिच्छेदों में), मुद्रक सरस्वती-भवन सीरीज, रस तथा अलंकारों की विवेचना की गई है। उदाहरण ग्रन्थकार द्वारा स्वरचित; रचनाकाल १७०३ ई.।

काव्यवृत्तिरत्नावलि—(९ प्रकरणों में)—ले. नारायण । देखो तंजौर सूची, खण्ड ९ पृ. ४०१२-१४ ।

काव्यशिक्षा—गङ्गादास-कृत, (१४२५ ई. लगभग) दे. गोडे. खण्ड १५, पृ. ५१२-२२ तथा खण्ड २४, पृ. ३१२ ।

काव्यशिक्षा—ले. विनयचन्द्र ।

काव्यसरणि—अप्पयदीक्षित-कृत । वृत्तवार्तिक (पृ. २०) में इसका एक स्रोत के रूप में उल्लेख है। रचनाकाल १५५० ई. से पूर्व ।

काव्यसारसंग्रह—ले. श्रीराम दीक्षित (३ भागों में) । इसमें काव्य-लक्षण, वर्ण-संग्रह तथा सुभाषितसंग्रह-विषयक समीक्षा है । रचनाकाल १८०० ई. लगभग ।

काव्यसुधा अथवा साहित्यसुधा—

काव्यादर्श—ले. दण्डी, देखो पृष्ठ ८४-१०२, रचनाकाल ६६०-६८० ई. के लगभग । इस पर निम्न टीकाएँ हैं—

रत्नश्री (बौद्ध) कृत टी.—रचनाकाल ११वीं शती के द्वितीय चरण में; दरभंगा इन्स्टीट्यूट द्वारा १९५७ ई. में प्रकाशित ।

तरुण वाचस्पति-कृत टी.—(प्रो. रङ्गाचार्य द्वारा सम्पादित) १३वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध, देखो पृष्ठ १०५ ।

तरुण वाचस्पति के पुत्र केशव भट्टारक द्वारा रचित टी.— देखो जर्नल ऑफ ओरिएंटल रिसर्च, मद्रास, खण्ड १३, भा. ४, पृ. ३०५-३०६ (डॉ. राघवन) ।

हृदयंगमा टी.—ले. अज्ञात, प्रो. रंगाचार्य द्वारा २ परिच्छेदों में सम्पादित ।

चन्द्रिका टी.—त्रिशरण तटभीम-कृत ।

मार्जन टी.—केशव के कनिष्ठ भ्राता एवं विश्वधर के पुत्र हरिनाथ द्वारा रचित, देखो पृष्ठ १३३, रचनाकाल १५७५-१६७५ ई. के बीच ।

दण्ड्यर्थमुक्तावली टी.—गदाधर के पुत्र नरसिंहसूरि द्वारा रचित ।

रसिकरञ्जनी टी.—विश्वनाथ-कृत ।

काव्यतत्त्वविवेककौमुदी अथवा विवरण टी.—कृष्णकिङ्कर तर्कवागीश-कृत, दे. पृ. १३३ ।

श्रुतानुपालनी टी.—वादिजङ्घल-कृत, देखो पृष्ठ १३३ उप., इसमें दशरूप का उल्लेख किया गया है । मु. श्रीनिवास प्रेस, तिरुवय्यरु ।

वैमल्यविधायिनी टी.—जगन्नाथ के पुत्र मल्लिनाथ (प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ से भिन्न) द्वारा रचित ।

त्रिभुवनचन्द्र उपनाम वादिसिंह (जैन) द्वारा रचित टीका.—बंगाक्षरों में मुद्रित ।

भगीरथ-कृत टी. ।

विजयानन्द-कृत टी.—हस्त. प्रति सं. १६८३ में लिखी गई, देखो पृष्ठ १३३, उपर्युक्त ।

यामुन अथवा यामुनेय-कृत टी.—देखो पृष्ठ १३३, उप. ।

काव्यादर्श—ले. सोमेश्वर, देखो काव्यप्र. के अन्तर्गत ।

काव्यानुशासन—ले. हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई.) मुद्रक काव्यमाला सीरीज इस पर निम्न टीकाएँ हैं—

अलङ्कारचूड़ामणि टी.

विवेक टी. ले. हेमचन्द्र तथा दोनों का मुद्रण काव्यमाला सीरीज ।

काव्यानुशासन—नेमिकुमार के पुत्र वाग्भट (समय १४वीं शती सम्भवतः) द्वारा विरचित, देखो पृष्ठ २९५-९६ ।

टी.—ले. कृत अलंकारतिलक टी., मुद्रक—काव्यमाला सीरीज ।

काव्यामृत—ले. श्रीवत्स (१४००-१६०० ई. के बीच) ।

काव्यामृततरङ्गिणी—काव्यप्र. खण्डन की भाँति ।

काव्यार्थगुम्फ—माथुरमिश्रगङ्गेश के पुत्र हरिप्रसाद द्वारा विरचित । देखो, काव्यालोक के अन्तर्गत ।

काव्यार्थचूड़ामणि—

काव्यालङ्कार—ले. भामह, देखो पृष्ठ ७८-८८ उपर्युक्त, समय (७००-७५० ई.) ।

टी.—विवरण अथवा विवृत्ति टी.—उद्भट-कृत; देखो पृष्ठ १३४-३५, समय ८०० ई. लगभग ।

काव्यालङ्कार—ले. रुद्रट, देखो पृष्ठ १५१-६० (समय ८२५-८७५ ई.) । मुद्रक काव्यमाला सीरीज ।

टी.—वल्लभदेव-कृत टी.—देखो पृष्ठ १५५-१६०; समय ९००-९३० ई. के लगभग ।

टिप्पन टी.—नमिसाधु-कृत (१०६९ ई. में) मुद्रक काव्यमाला सीरीज ।

आशाधर-कृत टी.—देखो पृष्ठ १५६ में टिप्पणी २, उपर्युक्त, समय १२४० ई. ।

काव्यालङ्कारकामधेनु—ले. गोपेन्द्रतिप्प भूपाल, वामनकृत काव्यालंकारसूत्र पर टी. देखो, पृष्ठ १४७ उपर्युक्त; रचनाकाल १५वीं शती के आसपास; बनारस संस्कृत सीरीज में अनेक बार मुद्रित ।

काव्यालङ्कारशिशु प्रबोध अथवाशिशु प्रबोधालंकार—श्रीभाल-कुलोत्पन्न जीवन के पुत्र पुन्जराज द्वारा विरचित ।

काव्यालंकारसारसंग्रह—ले. उद्भट, देखो अलंकारसारसंग्रह ।

काव्यालंकारसूत्र—वामन द्वारा स्वरचित वृत्ति के साथ; देखो पृष्ठ १३९-४७ उपर्युक्त ।

टी.—कामधेनु टी.—गोपेन्द्रतिप्प अथवा त्रिपुरहरभूपाल द्वारा विरचित, मुद्रक वनारस संस्कृत सीरीज।

सहदेवकृत टी.—

साहित्यसर्वस्व—महेश्वर (माहेश्वर ?) सुवुद्धिमिश्र कृत ।

काव्यालोक—ध्वन्यालोक का अन्य नाम ; देखो पृष्ठ १८४-१९० उपर्युक्त तथा ध्वन्यालोक के अन्तर्गत ।

काव्यालोक—(७ प्रकाशों में) गङ्गेश्वर के पुत्र हरिप्रसाद द्वारा विरचित, रचनाकाल—१७२८ ई. ।

काव्यालोक—अप्पय्यदीक्षित द्वारा चित्रमीमांसा (पृ. २७, ५३) में उल्लिखित काव्यालोक न तो उक्त काव्यालोक ही प्रतीत होता है और न ही ध्वन्यालोक ।

काव्यालोकलोचन—देखो, ध्वन्यालोकलोचन (के अन्तर्गत) ।

काव्येन्दुप्रकाश—सामराज दीक्षित के पुत्र कामराज दीक्षित द्वारा विरचित, इनके पिता ने १६८१ ई. में श्रीरामचरित लिखा, अतएव कामराज का समय १७०० ई. के आस-पास प्रतीत होता है ।

काशीलक्ष्मणकवि—अलंकार ग्रन्थ के रचयिता, रचना—तंजौर के राजकुमार शाहजी (१६८०-१७३०) ई. की प्रशस्ति में ।

काश्यप—इनका उल्लेख हृदयंगमा द्वारा दण्डिन के पूर्ववर्ती अलंकारशास्त्र के प्रणेता के रूप में तथा अभिनवगुप्त के द्वारा नाट्यशास्त्र के रचयिता के रूप में किया गया है । देखो पृष्ठ २-३; अभिनव इन्हें भरत से पूर्व-वर्ती मानते हैं; "गदतो मे निबोधत-इत्यनादेरषष्ठी येन मद्वचनमात्र न केवलं प्रमाणं यावत्कश्यपमुनि प्रभृतिरपि यन्निरूपितम् ।" अभिनव-भारती, भूमिका, पृष्ठ १० की टिप्पणी में, भूमिका-खण्ड २ ।

किरणावली—ले. शशधर ।

कीर्तिधर—अभिनवभारती में उल्लेख, पृष्ठ ५२ उपर्युक्त ।

कुचुमार—काव्यमीमांसा में इसका उल्लेख है ; देखो पृष्ठ १ उपर्युक्त ।

कुन्तक—वक्रोक्तिजीवित के रचयिता ; देखो पृष्ठ २२५-२३६ ; समय ९५०-१००० ई. के बीच ।

कुमारस्वामी—मल्लिनाथ के पुत्र प्रतापरुद्रीय पर रत्नापण के टी. ; समय १५वीं शती, मुद्रक बम्बई सं. सी.।

कुम्भ—मेवाड़ के एक राजा; रसरत्नकोश (११ परिच्छेदों में) के रचयिता, समय—१५वीं शती का पूर्वार्द्ध।

कुरविराम—कुवलयानन्द व दशरूप के टी., देखो हु. रि. ; पृष्ठ ११।

कुवलयानन्द—ले. अप्पयदीक्षित, देखो पृष्ठ ३१७-२१ ; रचनाकाल के संबंध में मतभेद, १५५०-१६२० के बीच अधिक संभव तिथियाँ।

टी.—अलङ्कारचन्द्रिका टी.—रामचन्द्र के पुत्र वैद्यनाथ द्वारा (१६६३ ई. के आसपास) विरचित; अनेक संस्करण।

अलंकारसुधा टी.—नागेशभट्ट कृत—रचनाकाल १८वीं शताब्दी का प्रथम चरण।

कारिकादीपिका टी.—रामजीभट्ट के पुत्र आशाधर द्वारा विरचित, मुद्रक निर्ण. प्रेस।

रसिकरञ्जनी टी.—गङ्गाधर (अप्पय्यदीक्षित के शिष्य के पौत्र) द्वारा विरचित : समय १७०० ई. लगभग, कुम्भकोनम में मुद्रित।

विषमपदव्याख्याषट्पदानन्द—नागेशभट्टकालकृत—यह अलंकार सुधा टी. से भिन्न है। संदर्भ के लिए दे. स्टीन (कृत) सूची, पृ. २७०-७१।

काव्यमंजरी टी.—न्यायवागीश भट्टाचार्य-कृत।

मथुरानाथ कृत टी.—

रामचरणतर्कवागीश-कृत टी.—रचनाकाल १७०१ ई.।

प्रभा टी.—गोपीनाथ-कृत।

लघ्वलङ्कारचन्द्रिका टी.—देवीदत्तकृत।

कुवलयानन्दखण्डन उपनाम अलंकारसारस्थिति—भीमसेन दीक्षित-कृत। रचनाकाल १७२३ ई. ; देखो अलंकारस्थिति उपर्युक्त।

कुवलयामोदिनी—

कूटसन्दोह—रामानुजकृत।

कृशाश्व—पाणिनि (४. ३. १११) द्वारा उल्लिखित नटसूत्र के रचयिता।

कृष्ण—अलंकारमणिहार के रचयिता।

कृष्ण—अलंकारमौक्तिकमाला के रचयिता।

कृष्ण—साहित्यतरङ्गिणी के रचयिता।

कृष्णकिंकर तर्कवागीश—काव्यतत्त्वविवेचककौमुदी (काव्यप्र. पर टी.) के रचयिता।

कृष्णदीक्षित अथवा कृष्णयज्वा—रघुनाथभूपालीय के रचयिता।

कृष्णद्विवैदी—मधुररीसा (काव्यप्र. पर टी.) के रचयिता।

कृष्णशर्मा—मन्दारमरन्दचम्पू व रसप्रकाश के रचयिता। ये गुहपुर-निवासी वासुदेव योगीश्वर के शिष्य थे; समय १६०० ई. के अनन्तर।

कृष्णमित्राचार्य—देवीदत्त के पौत्र व रामनाथ के पुत्र, काव्यप्र: पर एक टीका के रचयिता।

कृष्णानन्दिनी—साहित्यकौमुदी पर टीका।

कृष्णावधूत—चमत्कारचामीकर के रचयिता।

केशवभट्ट—रसिकसञ्जीवनी के रचयिता। ये वल्लभाचार्य के आत्मज विठ्ठलेश्वर के शिष्य हरिवंशभट्ट के पुत्र थे; समय अनुमानत: १६वीं शताब्दी का उत्तरार्ध।

केशवदास—कविप्रिया के रचयिता। इन्द्रजित की एक दरबारी गणिका प्रवीनराय के अनुरोध पर १६०१ ई. में रचना की गई। दे. डिपार्टमेंन्ट ऑफ लेटर्स कलकत्ता यूनि-खण्ड १३, पृष्ठ १,३४।

केशवमिश्र—अलंकारशेखर के रचयिता, पृष्ठ ३१५-१७ उपर्युक्त; समय—१६वीं शती का उत्तरार्द्ध।

कोविदानन्द—ले. रामाजिपुत्र आशाधर, १६५०-१७०० ई. के बीच। देखो, न्यू. इं. ए., खण्ड ३, पृष्ठ ३७-३९ तथा खण्ड ६ में डॉ. राघवन की टिप्पणी।
टी.—कादम्बिनी टी.—स्वयं ग्रन्थकार-कृत, संस्कृत साहित्य-परिषद् पत्रिका, कलकत्ता द्वारा धारावाहिक प्रकाशित।

कोहल—नाट्यशास्त्र के रचयिता। देखो पृष्ठ २४-२५, उपर्युक्त।

क्षेमहंसगणि—वाग्भटालंकार पर समासान्वय टिप्पण टी. के रचयिता।

क्षेमेन्द्र—औचित्यविचार चर्चाके रचयिता; देखो पृष्ठ २६४-६६, उपर्युक्त; समय ९९०-१०६६ ई.।

गङ्गाधर—रसपद्माकर के रचयिता।

गङ्गाधर (मैथिल)—कर्णभूषण तथा काव्यडाकिनी के रचयिता (दे.)।

गङ्गानन्द—वनमाला के रचयिता।

गङ्गाराम जडि—रसमीमांसा के रचयिता। इन्होंने १७३२ में भानुदत्त-कृत रसतरङ्गिणी पर नौका टी. भी लिखी, दोनों का मुद्रण बनारस में हुआ।

गणेश—रसोदधि (रसतरङ्गिणी पर टी.) के रचयिता।

गदाधरभट्ट—काव्यप्रकाश के एक टी.।

गदाधरभट्ट—गौरीपति के पुत्र, रसिकजीवन के रचयिता।

गर्ग—सागरनन्दी द्वारा उल्लिखित नाट्यशास्त्र के रचियता।

गानाभट्ट—उपनाम विश्वेश्वर—दिवाकर के पुत्र; चन्द्रालोक पर सुधा उपनाम राकागम टी. के रचयिता, समय १७वीं शताब्दी का उत्तरार्ध।

गुणरत्नगणि—काव्यप्र. पर सारदीपिका टी. के रचयिता।

गुणरत्नाकर—ले. नरसिंह; १०० अलंकारों का निरूपण किया गया है। तंजौर महाराज सरफौजी (१६८४-१७१०) के तत्त्वावधान में लिखी गई।

गुरिजालशायी—देखो, रङ्गशायी।

गुरुमर्मप्रकाश—ले. नागेशभट्ट, रसगङ्गाधर पर टी.।

गूढार्थप्रकाशिका—बालकृष्ण पायगुण्ड, चित्रमीमांसा पर टी.।

गोकुलनाथ (मैथिल)—पीताम्बर व उमादेवी के पुत्र; रसार्जव तथा काव्यप्र. पर एक टी. के रचयिता; समय १६७५-१७२५ के बीच।

गोदवर्मयशोभूषण—अरुणगिरिकवि द्वारा अर्थालंकारों पर रचना; १९४६ ई. में त्रिवेन्द्रम में प्रकाशित।

गोपाल उपनाम वोपदेव—कौण्डिन्यगोत्रीय नृसिंह के पुत्र; रसमञ्जरी पर विलास अथवा विकास टीका के रचयिता, समय-संबंधी विवरण के लिए दे. पृ. ३०७ उप.।

गोपालभट्ट—हरिवंशभट्ट के पुत्र, भानुकृत रसमञ्जरी पर रसिकरञ्जनी के रचयिता; इनकी शृंगारतिलक पर रसतरङ्गिणी नामक टी. तथा काव्यप्र. पर भी एक टी. है।

गोपालभट्ट—साहित्यचूडामणि (काव्यप्र. पर टी.) के रचयिता।

गोपालभट्ट—कुमारस्वामी द्वारा रत्नापण (पृष्ठ ९३) में उल्लिखित; १५वीं शताब्दी से पूर्व।

गोपीनाथ—काव्यप्र. तथा साहित्यदर्पण पर सुमनोहरा टी. के रचयिता।

गोपेन्द्रतिप्पभूपाल अथवा त्रिपुरहर—कामधेनु के रचयिता; वामन पर कृत टी. में भूमिका के ८वें श्लोक में गोपेन्द्रत्रिपुरहर नाम है।

गोवर्धन—अलङ्कारशेखर (पृष्ठ २७, ३७) में उल्लिखित।

गोविन्द—काव्यदीपिका के रचयिता।

गोविन्दठक्कुर—काव्यप्रदीप व श्लोकदीपिका के रचयिता; देखो, काव्यप्र. (उपर्युक्त) के अन्तर्गत।

घण्टक—अभिनवभारती द्वारा उल्लिखित; देखो पृष्ठ ५३।

घासीराम—रसचन्द्र (१६९६) ई. तथा रसकौमुदी के रचयिता।

चक्रवर्ती—देखो, परमानन्दचक्रवर्ती तथा श्री विद्याचक्रवर्ती।

चण्डीदास—काव्यप्र. पर दीपिका टी. के रचयिता।

चन्द्रकान्ताकणिङ्कार—अलङ्कारसूत्र के रचयिता।

चन्द्रचूड़—पुरुषोत्तमभट्ट के पुत्र, प्रस्तावचिन्तामणि के रचयिता; सन्दर्भ के लिए देखो पीटरसन-कृत अलंकारसूची, सं. २२३।

चन्द्रालोक—महादेव-सूनु जयदेव पीयूषवर्ष-कृत; देखो पृष्ठ २९०-९२ उपर्युक्त; समय १२००-१२५० ई., अनेक संस्करण।

टी.—शरदागम अथवा प्रकाश टी.—वलभद्र के पुत्र प्रद्योतन भट्टाचार्य द्वारा विरचित काशी सं. सी. में मुद्रित; देखो पृष्ठ २९२ उपर्युक्त; रामचन्द्रदेव के पुत्र राजकुमार वीरभद्र द्वारा आश्रित; दे. अड्यर लाइब्रेरी बुलेटिन, खण्ड ५, तथा फुटकर टिप्पणी पृष्ठ ३५-३६; रचनाकाल १५८३ ई.।

राकागम अथवा सुधा टी.—गानाभट्ट-कृत, रचना-काल १७वीं शती के उत्तरार्ध में।

रमा टी.—वैद्यनाथपायगुण्ड-कृत, (१७५०-१८०० ई.) लगभग।

शारदशर्वरी—मुद्गलरामचन्द्र-सूनु विरूपाक्ष-कृत; देखो तंजौर-सूची, खण्ड ९, पृ. ४०३६-३८।

प्रदीपिका अथवा दीपिका।

वाजचन्द्रकृत टी.—

वुधरञ्जनी—ले. श्रीवेङ्कसूरि।

चन्द्रिकाकार—ध्वन्यालोक पर चंद्रिका टी. के ले., अभिनवगुप्त द्वारा उल्लिखित; समय—९००-९५० ई. के मध्य; देखो पृष्ठ २०७ उपर्युक्त।

चन्द्रिका—काव्यादर्श की टी., ऊपर देखो।

चमत्कारचन्द्रिका—ले. सिंहभूपाल के आश्रित, विश्वेवर; ८ विलासों में विभक्त; रस को छोड़कर शेष विषयों में इसमें भोज का अनुसरण किया गया है; शान्तरस को रसों में स्थान नहीं दिया गया; यह काव्य के सम्बन्ध में उपनिषदों का 'रसो वै सः' श्लोक उद्धृत करने वाली सम्भवतः सर्वप्रथम रचना है; समय—१४वीं शती का पूर्वार्ध; देखो इण्डिया ऑफिस, सूची-भाग ७, पृष्ठ १५०७ तथा एनल्स ऑफ भण्डार०, भाग १६, पृष्ठ १३१-१३९ (डॉ. राघवन)।

चमत्कारचामीकर—अलङ्कारसूत्र का कृष्णावधूत-कृत भाष्य।

चारायण—नाटकलक्षणरत्नकोश पंक्ति ३९२ में नाट्यशास्त्र के सम्बन्ध में तथा कामसूत्र १. १.१२ और १. ५.२२ में उल्लिखित।

चित्रधर—वीरतरङ्गिणी के लेखक।

चित्रमञ्जूषा—ले. गङ्गाधरकवि; ७३ श्लोकों में विभक्त; रचनाकाल १८५३ ई.; देखो एनल्स ऑफ भण्डार, भाग ३०, पृ. ४१।

चित्रांगद—काव्यमीमांसा, पृष्ठ १ पर उल्लिखित; ऊपर देखो पृष्ठ १।

चित्रमीमांसा—ले. चित्रधर उपाध्याय; देखो जायसवाल-कृत मिथिला पाण्डु.-सूची-भाग २, पृष्ठ ३९ तथा राजेन्द्र. नोटिस २८।

चित्रमीमांसा—ले. अप्पय्यदीक्षित; ऊपर देखो पृ. ३१७-८ तथा अप्पय्य।
टी.—

1. गूढार्थप्रकाशिका—ले. बालकृष्ण पायगुण्ड; देखो तिथि के लिए भाग १, पृष्ठ ४६१-६२।
2. दोषधिक्कार—ले. अप्पय्य के छोटे भाई के पौत्र अतिरात्र यज्वन्; समय लगभग १६३७ ई.।
3. सुधा—रामबल के पुत्र तथा परमानन्द के शिष्य धरानन्द।
4. चित्रालोक।

चित्रमीमांसाखण्डन—ले. जगन्नाथपण्डितराज; ऊपर देखो पृष्ठ ३२४।

चिरञ्जीवभट्टाचार्य—काव्यविलास तथा शृङ्गारतटिनी के ले.; देखो काव्यविलास; १७वीं शती के पूर्वार्ध।

छाया—देखो गङ्गारामजडि।

जगदीशतर्कालङ्कार—काव्यप्र. की रहस्यप्रकाश टीका के ले.; १७वीं शता. का आरम्भ।

जगद्धर—रत्नधर तथा दमयन्ती के पुत्र; सरस्वतीकण्ठाभरण के चौथे परिच्छेद के टीकाकार (टीका निर्ण. प्रे. द्वारा मुद्रित); समय—लगभग १४६० ई.; स्टीन-सूची, पृ. १५२१ में पाण्डु. पर निर्दिष्ट तिथि शाके १५२१.।

जगन्नाथपण्डित—रसगङ्गाधर के ले.; ऊपर देखो पृष्ठ ३२१-३२५।

जगबन्धुतर्कवागीश—रामचन्द्र-कृत काव्यचन्द्रिका के टीकाकार।

जनार्दनव्यास—अनन्त के शिष्य; काव्यप्र. की श्लोकदीपिका टी. के ले.।

जयकृष्ण मौनी—देखो कृष्णभट्ट।

जयदेव—चन्द्रालोक के ले., ऊपर देखो।

जयन्तभट्ट—काव्यप्र. की जयन्ती टीका के ले.।

जयमङ्गल—कविशिक्षा के ले., ऊपर देखो।

जयमङ्गल—भट्टिकाव्य की टी.; ऊपर देखो पृ. ७३-७४।

जयरथ—अलङ्कारसर्वस्व की विमर्शिनी तथा अलङ्कारोदाहरण टीकाओं के ले.; ऊपर देखो पृष्ठ २८५।

जयराम—काव्यप्र. की तिलक टीका के ले.।

जयन्ती—काव्यप्र. की जयन्तभट्ट-कृत टीका।

जल्पकल्पलता—ले. अणुरत्नमण्डन अथवा रत्नमण्डनगणि०; ये रत्नशेखरसूरि के शिष्य थे जिनकी मृत्यु संवत् १५१७ (१४६०-६१ ई.) में हुई।

जिनप्रभसूरि—विदग्धमुखमण्डन के टीकाकार; समय—१३वीं शता. का अन्तिम चतुर्थांश तथा १४वीं शता. का प्रथम चतुर्थांश।

जिनवर्धनसूरि—वाग्भटालङ्कार के टीकाकार; जिनराजसूरि के शिष्य तथा लगभग १४०५ से १४१९ ई. तक खतरगच्छ में राजपुरोहित।

जिनवल्लभसूरि—प्रश्नोत्तर (प्रहेलिका और समस्याएँ) के ले.।

जीवगोस्वामी—उज्ज्वलनीलमणि की लोचनरोचनी टीका के ले.; ऊपर देखो पृष्ठ ३१४-३१५; समय—१६वीं शताब्दी।

जीवनाथ—अलङ्कारशेखर के ले., ऊपर देखो।

जीवराजदीक्षित—रसतरङ्गिणी की सेतु टीका के ले.; ब्रजराज के पुत्र; साम-दीक्षित के पौत्र, जो १७वीं शती के उत्तरार्द्ध में हुए।

तण्डु—नाट्यशास्त्र के एक ले.; ऊपर देखो पृष्ठ २०३।

तत्त्वपरीक्षा—काव्यप्रकाश पर सुबुद्धिमिश्र-कृत टी.।

तत्त्वालोक—ले. आनन्दवर्द्धन, देखो पृष्ठ २०३, टिप्पणी १, उपर्युक्त।

तत्त्वोक्तिकोश—ले. महिमभट्ट, व्यक्तिविवेक में उल्लिखित; ऊपर देखो पृष्ठ २५४।

तरल—एकावली की मल्लिनाथकृत टीका; वम्वई संस्कृत सीरीज में मुद्रित; समय—लगभग १४वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में।

तरुणावाचस्पति—काव्यादर्श के टीकाकार; ऊपर देखो पृ. १०५ (तिथि के लिए) और पृष्ठ १३३।

ताराचन्द्र—विदग्धमुखमण्डन की विद्वन्मनोरमा टीका के ले.।

तिलक—उद्भटविवेक के ले.; देखो पृष्ठ १३२९; समय लगभग ११००-११२५ई.।

तिलक—जयरामकृत काव्यप्र. की टी.।

तिरुवेङ्कट—काव्यप्र. के टीकाकार।

तोत अथवा तौत—काव्यकौतुक के ले.; अभिनवगुप्त द्वारा उल्लिखित; देखो पृष्ठ २१८-२२; समय ९५०-९८० ई.।

त्रिभुवनचन्द्र—काव्यादर्श के टीकाकार।

त्रिमल्लभट्ट अथवा तिरुमल अथवा तिर्मल—काशीनिवासी; अलङ्कारमञ्जरी के ले., ऊपर देखो।

त्रिलोचनादित्य—नाट्यलोचन के ले.; शाकुन्तल में राघवभट्ट तथा रघुवंश में दिनकर द्वारा उल्लिखित; समय १४वीं शती के मध्य से पूर्व।

त्रिवेणिका—ले. रामजीभट्ट के पुत्र आशाधर; ऊपर देखो आशाधर; सरस्वती-भवन सीरीज में मुद्रित।

त्रिशरणभटतभीम—काव्यादर्श की चन्द्रिका टीका के ले.; देखो हाल की इण्डैक्स पृष्ठ ६३।

त्र्यम्बक—नाटकदीप के ले.।

दण्डी—काव्यादर्श के ले.; देखो पृष्ठ ८८-१०२; समय लगभग ६६०-६८० ई.।

दत्तक—कुट्टनीमत श्लोक ७७, १२२ तथा कामसूत्र १. १.२ भाग २.५५ व भाग ६.४४ में उल्लिखित; कई पाण्डु. में इनका नाम दन्तिल दिया है, कामशास्त्र के वैशिक भाग के एक ले.।

दत्तिल—कुट्टनीमत में भरत और विशाखिल के साथ तथा रसार्णवसुधाकर (पृष्ठ ८) में नाट्यशास्त्र के एक ले. के रूप में उल्लिखित; ऊपर देखो पृष्ठ २५, ५६।

दन्तिल—ऊपर देखो पृष्ठ २५, २७; सम्भवतः दत्तिल।

दर्पण—रत्नेश्वरकृत सरस्वतीकंठाभरण के तीन परिच्छेदों की टीका; काव्यमाला सीरीज में मुद्रित।

दर्पण—भट्टनायक-कृत हृदयदर्पण की भांति, देखो पृष्ठ २२१-२२५, उपर्युक्त।

दर्पण—काव्यप्र. की विश्वनाथकृत टीका।

दशरूप—ले. विष्णु के पुत्र धनञ्जय; ऊपर देखो पृष्ठ २४३-२४८; कई बार प्रकाशित; समय ९७४-९९६ ई.;

टी.—

१. अवलोक—ले. विष्णु के पुत्र धनिक; ऊपर देखो पृष्ठ २४६-२४८; लगभग १००० ई.।

२. नृसिंह द्वारा अवलोक टीका की टीका, देखो पृष्ठ २४७, उपर्युक्त।

३. देवपाणिकृत टीका—विक्रमोर्वशीय में रङ्गनाथ द्वारा उल्लिखित समय १६५६ ई. से पूर्व।

४. बहुरूपमिश्र-कृत टीका—ऊपर देखो पृष्ठ २४७।

५. कुरविराम-कृत टीका—

दर्शकरूपपद्धति—ले. कुरविराम; हु. रि., भाग १, संख्या ५५४।

दशरूपकपरिभाषा—ले. शिङ्गभूपाल; समय लगभग १३३० ई.।

दशरूपकविवरण—यह दशरूपक की टीका नहीं, बल्कि एक स्वतन्त्र रचना है; देखो मद्रास सरकार पाण्डु. सूची, भाग २२, क्रमसंख्या १२८९२।

दामोदरभट्ट हर्षे—अलङ्कारक्रममाला तथा उसकी टीका के ले.।

दिनकर—रसतरङ्गिणी के टीकाकार।

दीधितिप्रकाशिका—ले: वृन्दावनचन्द्र; कविकर्णपूरकृत अलङ्कारकौस्तुभ की टीका; ऊपर देखो।

दीपिका—कई टीकाओं का नाम; देखो काव्यप्र. तथा चन्द्रालोक के अन्तर्गत।

दुर्गादास—विदग्धमुखमण्डन के टीकाकार।

दुष्करचित्रप्रकाशिका—सरस्वतीकंठाभरण की लक्ष्मीनाथभट्ट-कृत टीका।

देवदत्त—शृङ्गाररसविलास के ले.।

देवनाथ—काव्यप्र. तथा रसिकप्रकाश की टीका काव्यकौमुदी के ले.।

देवपाणि—दशरूप के टीकाकार।

देवशङ्करपुरोहित—नाहनाभाई के पुत्र; समय १८वीं शता. का उत्तरार्ध; अलङ्कारमञ्जूषा के ले.।

देवीदत्त—कुवलयानन्द की लघ्वलङ्कारचन्द्रिका टीका के ले.।

देवेश्वर अथवा देवेन्द्र—कविकल्पलता के ले.; ऊपर देखो।

धनञ्जय—दशरूप के ले., ऊपर देखो; समय ९७४-९९६ ई.।

धनिक—दशरूप की अवलोकटीका के ले., ऊपर देखो; समय लगभग १००० ई.।

धरानन्द—चित्रमीमांसा के टीकाकार, ऊपर देखो।

धर्मदत्त—साहित्यदर्पण में उल्लिखित; ऊपर देखो, पृष्ठ ३०१।

धर्मदाससूरि—विदग्धमुखमण्डन के ले.; ऊपर देखो।

धर्मसूरि अथवा धर्मसिंह अथवा धर्मपण्डितपर्वतेश अथवा पर्वतनाथ के पुत्र तथा साहित्यरत्नाकर के ले.; समय १५वीं शती का पहला चतुर्थांश; मद्रास तथा नलौर में मुद्रित; देखो इ.वि. राघवाचार्य-कृत एन.आई. ए., भाग २, पृ. ४२८।

टीका—नौका—ले. लक्ष्मणसूरि के पुत्र तथा वेङ्कटाचार्य के शिष्य वेङ्कटसूरि।

धिषण—काव्यमीमांसा पृ. १ पर उल्लिखित; ऊपर देखो पृष्ठ १।

धूर्तिल—भरतकृत नाट्यशास्त्र में उल्लिखित; ऊपर देखो, पृष्ठ २४।

ध्वनिकार अथवा ध्वनिकृत्—देखो ध्वन्यालोक के अन्तर्गत तथा ऊपर पृष्ठ १६१।

ध्वनिप्रदीप—ले. श्रीमाल-कुलीन जीवन के पुत्र पुञ्जराज।

ध्वनिविवेक—

ध्वनिसंग्रह—ट्रीनियल सूची, भाग ६; पृष्ठ २३७१-७२।

ध्वनिसिद्धान्तसंग्रह—ले. चण्डीदास; काव्यप्र. की स्वयं चण्डीदास-कृत टीका में उल्लिखित, पृष्ठ १३, १०४।

ध्वन्यालोक अथवा काव्यालोक अथवा सहृदयालोक—ले. आनन्दवर्धन; काव्य-माला सीरीज तथा दूसरे कई प्रकाशकों द्वारा मुदित; ऊपर देखो पृष्ठ १६१-२०८; समय लगभग ८५०-८७५ ई.।

टीकाएँ—

१. अञ्जन—देखो मद्रास सरकार पाण्डु. लाइब्रेरी सूची, क्रमसंख्या १२८९५।

२. चन्द्रिका—लोचन में उल्लिखित; ऊपर देखो पृष्ठ २०७।

३. लोचन—ले. अभिनवगुप्त; ऊपर देखो पृष्ठ २०३-२०७; समय ९८०-१०२० ई.।

४. कौमुदी—ले. उदयोतुङ्ग; ऊपर देखो पृष्ठ २०७-२०८; समय लगभग १४८० ई., प्रथम उद्योत, महामहो. कुप्पुस्वामीशास्त्री द्वारा सम्पादित।

५. ध्वनिगाथापञ्जिका—ले. रत्नाकर उपनाम—काश्मीरकाचार्य; इसमें ध्वन्यालोक में आये प्राकृत-श्लोकों की व्याख्या है; ऊपर देखो, पृष्ठ २०८।

नखकुट्ट—नाट्यशास्त्र (१.३३, जी. ओ. सूची) में भरतपुत्र के नाम से तथा सागरनन्दी द्वारा उल्लिखित।

नञ्जराजयशोभूषण—ले. शिवराम के पुत्र नरसिंहकवि अथवा अभिनव-कालिदास; उदाहरण-श्लोक वीरभूप-पुत्र नञ्जराज को लक्ष्य कर लिखे गए हैं।

नञ्जराज मैसूर के राजा कृष्णराज वाडियर द्वितीय का श्वसुर सर्वाधिकारी तथा सेनापति था; देखो पूना ओरिएण्टलिस्ट, भाग ५, पृष्ठ २१७-२२०।

नट्सूत्र—ले. शिलालिन्; पाणिनि ४.३, ११०-११ पर उद्धृत ; ऊपर देखो पृष्ठ ३३५।

नन्दिकेश्वर—काव्यमी. पृष्ठ १ पर उल्लिखित (ऊपर देखो, पृष्ठ १); ३३० छन्दों में अधिनयदर्पण के ले.; कलकत्ता संस्कृत सीरीज के अन्तर्गत डॉ. एम. एम. घोष के सम्पादन में इंग्लिश-अनुवाद तथा प्रस्तावना के सहित प्रकाशित; ए. के. कुमारस्वामी तथा डुगिराला गोपालकृष्णैय्या द्वारा अनुवादित। कैम्ब्रिज १९१७; सङ्गीतरत्नाकर १.१.१७ में संगीत के एक अधिकारी विद्वान् के रूप में उल्लिखित; देखो अभिनवभारती की भण्डार. प्रतिलिपि पृष्ठ ४१७, अध्याय २९

'इत्येवं नन्दिकेश्वरमतानुसारेणायं चित्रपूर्वरङ्गपूर्वविधिरिति'; कामकला, अभिनय, संगीत आदि से सम्वन्धित कई उत्तरवर्ती ग्रंथों से उनका नाम जोड़ा जाता है।

नन्दिमत—अभिनवभारती, भाग १, पृष्ठ १७१ पर उल्लिखित।

नमिसाधु—रुद्रटकृत काव्यालङ्कार के टीकाकार; देखो पृष्ठ १५५; टीका का रचनाकाल १०६९ ई.।

नरसिंह अथवा नृसिंहकवि—शिवरामसुधी के पुत्र; नञ्जराजयशोभूषण के ले., देखो पृष्ठ १५५; रचनाकाल १०६९ ई.।

नरसिंह—कृष्ण के पौत्र तथा गदाधर के पुत्र; काव्यादर्श की मुक्तावली टीका के ले.।

नरसिंहठक्कुर—काव्यप्र. की नरसिंहमनीषा टीका के ले.; ऊपर देखो।

नरसिंह—गुणरत्नाकर के ले., ऊपर देखो।

नरसिंहमनीषा—काव्यप्र. की नरसिंहठक्कुर-कृत टीका।

नरसिंहसूरि—तिम्माजि के पुत्र; काव्यप्र. की ऋजुवृत्ति टीका के ले.।

नरसिंहाचार्य अथवा वेङ्कटनृसिंहकवि—अलङ्कारेन्दुशेखर के ले., ऊपर देखो।

नरसिंहसूरि—रसनिरूपण के ले.; रत्नापण, पृष्ठ २२४ पर उद्धृत।

नरहरिसरस्वतीतीर्थ—काव्यप्र. की वालचिन्तानुरञ्जनी टीका के ले.; जन्म १२४१-४२ ई.।

नरहरिभट्ट—विदग्धमुखमण्डन की श्रवणभूषण टीका के ले.।

नवरसतरङ्गिणी—रसतरङ्गिणी के समान।

नागरसर्वस्व—ले. पद्मश्री जो एक वौद्धानुयायी थे; ३८ परिच्छेदों में विभाजित; कलकत्ता में तथा गुजराती प्रेस, वम्वई में मुद्रित; परिच्छेद १३ भाव, हाव के विषय में है, अधिकांश भाग कामसूत्र के अनुकरण पर कामकला के बारे में है और कई स्थानों पर अश्लीलता भी आ गई है; इसमें कुट्टनीमत का उद्धरण है, तथा यह सागरनन्दी, शाकुन्तल और शार्ङ्गधरपद्धति में राघवभट्ट द्वारा उद्धृत है; समय ११०० ई. से पूर्व तथा ८०० ई. के पश्चात्।

नागराजकेशव—काव्यप्र. की पदवृत्तिटीका के ले.।

नागेश अथवा नागोजिभट्ट—कई टीकाओं के ले., ऊपर देखो पृष्ठ ३२४-२५।

नाटकचन्द्रिका—ले. रूपगोस्वामी; ऊपर देखो पृष्ठ ३१३-३१४; समय लगभग १४७०-१५५४ ई.।

नाटकदर्पण—ले. रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र; गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज में

मुद्रित; ४ विवेकों में विभाजित; रामचन्द्र का जीवनकाल ११५०-११७५ ई.; ये सिद्धराज (१०९३-११४३ ई.) तथा कुमारपाल (११४३-११७२ ई.) के समकालीन तथा हेमचन्द्र के शिष्य थे; इसमें दशरूपावलोक से भी अधिक उदाहरण हैं; विषयरूपक के १२ भेद तथा कई उपरूपक; सर्वप्रथम प्रो. लेवी ने इसके बारे में जर्नल एशियाटिक (१९२३) में लिखा; इन्होंने देवीचन्द्रगुप्त के संबंध में जो लिखा है उसका ऐतिहासिक महत्त्व है।

नाटकदीप—ले. त्र्यम्बक।

टीकाएँ—

१. रामकृष्णपण्डित-विरचित टीका।

२. किसी अज्ञात ले. द्वारा विरचित टीका।

नाटकपरिभाषा—ले. अनन्त अथवा अनपोत के पुत्र शिङ्गभूपाल; समय लगभग १३३० ई., पद्य में।

नाटकप्रकाश—रत्नापण पृष्ठ १३ पर उल्लिखित।

नाटकमीमांसा—ले. रुय्यक; अलङ्कारसर्वस्व तथा व्यक्तिविवेकटीका (पृष्ठ ३२) में उल्लिखित; ऊपर देखो पृष्ठ २७९।

नाटकलक्षण—ले. पुण्डरीक।

नाटकलक्षणरत्नकोश—ले. सागरनन्दी; डब्लिन के प्रो. एम. डिलोन् द्वारा सम्पादित (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९३७)

नाटकावतार—मोहनदास द्वारा रसोदधि में उल्लिखित।

नाट्यदर्पण—नाटकदर्पण के अनुसार।

नाट्यप्रदीप—राघवभट्ट द्वारा शाकुन्तल में नान्दी के विषय में उद्धृत।

नाट्यप्रदीप—ले. सुन्दरमिश्र औजागरि; रचना-काल १६१३ ई.; देखो इण्डिया ऑफिस सूची, भाग ३, पृष्ठ ३४७-३४८।

नाट्यलोचन—ले. त्रिलोचनादित्य; ऊपर देखो, सम्भवतः सागरनन्दी के पश्चात्।

टीका—अञ्जन—ले. स्वयं त्रिलोचनादित्य।

नाट्यशास्त्र—ले. भरत; ऊपर देखो पृष्ठ १०-४७; १०० वर्ष ईसा-पूर्व से ३०० ई. के बीच।

टीका—अभिनवभारती अथवा नाट्यवेदविवृति—ले. अभिनवगुप्त; ऊपर देखो पृष्ठ ४७; समय लगभग १००० ई.।

नाट्यशास्त्र की टीकाओं के लिए ऊपर देखो, पृष्ठ ४७-५५।

नाट्यशास्त्र—ले. वसन्तराज; मल्लिनाथ द्वारा शिशुपालवध २.८ में वसन्त-राजीय के नाम से उल्लिखित; छंदों में विरचित; समय १४०० ई. से पूर्व; ले. कुमारगिरि का राजा था; देखो इण्डिया ऑफिस पाण्डु. सूची, भाग ७, पृ. १५७५-७६ जहाँ काय्यनेम का कथन है कि उसने स्वरचित शाकुन्तल की टीका में कुमारगिरि के राजा वसन्तराज के नाट्यशास्त्र का अनुसरण किया है।

नाट्यसर्वस्वदीपिका—६००० श्लोक, ५ स्कन्धों तथा ३२ अध्यायों में आदिभरत की टीका; ऊपर देखो पृष्ठ २७; इसमें सरस्वतीकंठा-भरण, सङ्गीतरत्नाकर आदि सङ्गीत-सम्बन्धी कई रचनाओं का उल्लेख है।

नाट्यार्णव—ले. नन्दिकेश्वर; रसरत्नप्रदीपिका द्वारा उद्धृत।

नान्ददेव—भरतभाष्य अथवा सरस्वतीहृदयालङ्कार के ले.; ऊपर देखो पृष्ठ ६१-६३।

नायक—देखो भट्टनायक।

नायिकादर्पण अथवा नायिकावर्णन—ले. रामकवि; ४९ कारिकाओं में विभाजित।

नारद—गान्धर्ववेद के निर्माता। ऊपर देखो पृष्ठ १९, ४३; भावप्रकाशन में लिखा है कि भरत ने नारद से ब्रह्मा में से रसों के विकास के बारे में ज्ञान प्राप्त किया।

नारायणदीक्षित—रङ्गनाथ के पुत्र तथा काव्यप्र. के टीकाकार; समय लगभग १७वीं शता. का अन्त।

नारायणभट्ट—रसतरङ्गिणी के ले.; उज्ज्वलनीलमणि की विश्वनाथ-विरचित टीका पृ. २५ पर उल्लिखित।

निदर्शन—काव्यप्र. की राजानकानन्दविरचित टीका।

निर्मलभट्ट—ऊपर देखो त्रिमल्लभट्ट।

नीलकण्ठ—चित्रमीमांसादोषधिक्कार के लेखक, ऊपर देखो।

नूतनतरि—रसतरङ्गिणी की टीका; ऊपर देखो।

नृसिंह—अलङ्कारसार के ले.।

नृसिंहभट्ट—दशरूप के टीकाकार।

नृसिंहकेशव—पाण्डवराजयशोभूषण (पाण्ड्यराज ?) के ले.।

नृसिंहठक्कुर—काव्यप्र. की नृसिंहमनीषा-टीका के ले.।

नेमिसार—रसतरङ्गिणी की साहित्यसुधाटीका के ले.।

नौका—रसतरङ्गिणी की गङ्गारामजडि-विरचित टीका; रचना-काल १७४२ ई.।

नौका—साहित्यरत्नाकर की लक्ष्मणसूरि के पुत्र वेङ्कटसूरि-विरचित टीका; बनारस में १८८४ ई. में मुद्रित।

पक्षधर—भीमसेन द्वारा काव्यप्र. के एक टीकाकार के रूप में उल्लिखित।

पञ्चसायक—ले. ज्योतिराश; मोहनदासकृत रसोदधि में उल्लिखित; टीका लक्ष्यवेधन—ले. साहिव्रम।

पण्डितराज—उपनाम रघुनन्दन; काव्यप्र. के टीकाकार; रत्नकण्ठ द्वारा उल्लिखित; समय १६३७ ई. से पूर्व।

पदवृत्ति—काव्यप्र. की नागराजकेशवकृत टीका।

पदार्थदीपिका—ले. गौरनार्य, विषय : अलङ्कार; मद्रास सरकार पाण्डु. सूची, भाग २२, क्रमसंख्या १२९५१, १२९५२।

पद्मश्री—ले. नागरसर्वस्व; ऊपर देखो। पृ. ४२५

पद्मसुन्दर—अकबरसाहिश्रृङ्गारदर्पण के ले., ऊपर देखो।

परमात्माविनोद—ले. गुणोदधि।

परमानन्दचक्रवर्ती—काव्यप्र. की विस्तारिका टीका के ले.।

पराशर—काव्यमीमांसा पृष्ठ १ पर उल्लिखित। ऊपर देखो, पृष्ठ १।

पाण्डवराजयशोभूषण (पाण्ड्यराज ?)—ले. नृसिंह।

पाल्यकीर्ति—काव्यमीमांसा पृ. ४६ पर उल्लिखित।

पितामह—इनका एक श्लोक नाटकलक्षणरत्नकोश में उद्धृत है।

पीयूषवर्ष—चन्द्रालोक के ले. जयदेव का उपनाम।

पुञ्जराज—जीवनेन्द्र के पुत्र; ध्वनिप्रदीप तथा काव्यालङ्कारशिशुप्रबोध के ले.।

पुण्डरीक—नाटकलक्षण के ले.।

पुण्डरीकरामेश्वर अथवा पौण्डरीकरामेश्वर—रससिन्धु के ले.; ऊपर देखो; समय लगभग १४००-१४५० ई.।

पुण्यानन्द—कामकलाविलास के ले.।

पुरुषोत्तम सुधीन्द्र—कवितावतार के ले., ऊपर देखो।

पुरुषोत्तम—साहित्यदर्पण अध्याय ९ पर गौडीयारीति के सम्बन्ध में उद्धृत।

पुलस्त्य—काव्यमी. पृष्ठ १ पर उल्लिखित (ऊपर देखो, पृष्ठ १)।

प्रकाशवर्ष—रसार्णवालङ्कार के ले.; देखो इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, भाग ४, खण्ड १ पर रोमनलिपि में दिया आगम (टैक्स्ट) का अन्त और देखो वही पृ. ७७०-७८० (डॉ. दे) तथा जर्नल ऑफ ओरिएंटल रिसर्च, मद्रास, भाग ८, पृष्ठ २६७-२७६; समय १०५० ई. के पश्चात्।

प्रचेतायन्—काव्यमीमांसा पृष्ठ १ पर उल्लिखित (ऊपर देखो पृष्ठ १)।

प्रतापरुद्रयशोभूषण—ले. विद्यानाथ; ऊपर देखो पृष्ठ २९३-२९५; समय—१४वीं शता. का प्रथम चतुर्थांश; वम्बई संस्कृत सीरीज में निम्न दो टीकाओं सहित मुद्रित—

टीकाएँ—

१. रत्नापण—ले. मल्लिनाथ के पुत्र कुमारस्वामी; १५वीं शताब्दी।

२. रत्नशान—रत्नापण के पश्चात्।

प्रतिहारेन्दुराज—मुकुलभट्ट के पुत्र तथा उद्‌भट-विरचित अलङ्कारसारसंग्रह के टीकाकार; ऊपर देखो पृष्ठ १३३, २०५-७; समय ९२५-९५० ई.।

प्रदीप—गोविन्दठक्कुर-विरचित काव्यप्र. की टीका।

प्रदीपकृत अथवा प्रदीपकार—देखो गोविन्दठक्कुर।

प्रद्योतनभट्टाचार्य—चन्द्रालोक की शरदागमटीका के ले.; रचनाकाल १५८३ ई.; ऊपर देखो पृष्ठ २९२।

प्रधानिवेङ्कय्यामात्य—अलङ्कारमणिदर्पण के लेखक (१४००-१४५० ई.)।

प्रभा—काव्यप्र. की प्रदीपटीका की टीका।

प्रभा—गोपीनाथ-विरचित साहित्यदर्पण की टीका।

प्रभाकर—महादेव के पुत्र तथा रसप्रदीप (रचनाकाल १५८३ ई.) तथा अलङ्काररहस्य के लेखक; अलङ्काररहस्य रसप्रदीप में उद्‌धृत है।

प्रश्नोत्तर—ले. जिनवल्लभसूरि; समय लगभग १११० ई.।

प्रस्तावचिन्तामणि—ले. पुरुषोत्तम के पुत्र चन्द्रचूड; ५ उच्छ्‌वासों में विभाजित; विषय—काव्यवर्णन।

प्रस्तावरत्नाकर—ले. पुरुषोत्तम के पुत्र हरिदास; रचनाकाल १५५७ ई.।

प्रियातिथि—अभिनवभारती में उल्लिखित; ऊपर देखो पृ. ५३।

वलदेव—शृङ्गारहार के लेखक; ऊपर देखो।

बलदेवविद्याभूषण—काव्यकौस्तुभ तथा काव्यप्र. की एक टीका के लेखक, ऊपर देखो।

वादर—सागरनन्दी द्वारा नाट्यशास्त्र के लेखक के रूप में उल्लिखित।

वादरायण—सागरनन्दी द्वारा नाटकलक्षणरत्नकोश में उल्लिखित।

वालकवि—कर्पूररसमञ्जरी के ले.; लगभग १५३५-१५४५ ई.।

बालकृष्ण पायगुण्ड—चित्रमीमांसा के टीकाकार; ऊपर देखो।

वालकृष्ण—गोवर्धन के पुत्र तथा अलङ्कारसार के ले.; ऊपर देखो।

वालचित्तानुरञ्जिनी—ले. नरहरिसरस्वतीतीर्थ; काव्यप्र. की टीका।

वालवोधिका—कविकल्पलता की सूर्यदास अथवा सूर्यकवि-विरचित टीका; समय लगभग १५४० ई.; देखो आफ्रेट, भाग १, पृ. ७३१ तथा भाग २, पृष्ठ १७५।

वालरामवर्मयशोभूषण—ले. सदाशिव दीक्षित; इसमें ५ दृश्यों का वसुलक्ष्मीकल्याण नाटक भी दिया गया है जिसका नायक वालरामवर्मा है; देखो त्रिवेंद्रम महल पाण्डु. सूची, भाग ६, पृ. २३५४; उदाहरण-श्लोकों में राजा वालरामवर्मा की स्तुति की गई है।

विन्द्वलङ्कार—ले. हरिहर, एकावली पृ. २४२ पर उल्लिखित; एकावली पृ. १९ पर हरिहर का जिक्र है जो त्रिवेदी (नोट्स, पृ. ३४८) के विचार में अर्जुनवर्मदेव ही है (समय १२११-१२१६ ई.) ।

बुधरञ्जनी—चन्द्रालोक की वेङ्कालसूरि-विरचित टीका।

वेचारामसार्वभौम—कविकल्पलता के टीकाकार।

भगवत्कवि—अष्टनायिकादर्पण के लेखक।

भगवद्भट्ट—रसतरङ्गिणी की नूतनतरि टीका के लेखक।

भागीरथ—काव्यादर्श के टीकाकार।

भट्टगोपाल—देखो गोपालभट्ट।

भट्टगोपाल—अभिनवभारती में उल्लिखित; ऊपर देखो पृष्ठ ५३।

भट्टतौत—देखो तौत।

भट्टनायक—हृदयदर्पण के ले.; ऊपर देखो पृष्ठ २२१-२५; ९३५-९८५ ई.।

भट्टयन्त्र—अभिनवभारती में उल्लिखित; ऊपर देखो पृ. ५३।

भट्टवृद्धि—अभिनवभारती में उल्लिखित; ऊपर देखो पृ. ५३।

भट्टसुमनस्—अभिनवभारती में उल्लिखित; ऊपर देखो पृ. ५३।

भट्टि—भट्टिकाव्य के ले.; समय ५७५-६५० ई.; ऊपर देखो पृष्ठ ७२-७८।

भट्टिकाव्य—पिछली देखो।

टीकाएँ—

१. जयमङ्गल—निर्णय. द्वारा मुद्रित।

२. मल्लिनाथ—बम्वई संस्कृत सीरीज में मुद्रित।

भट्टेन्दुराज।

ऊपर देखो पृ. २०४-२०७ तथा २३८; समय—९६०-९९० ई.

भरत—नाट्यशास्त्र के ले., ऊपर देखो पृष्ठ १०-४७।

टीका अभिनवभारती—गायकवाड ओरिएंटल सीरीज में मुद्रित; ऊपर देखो पृष्ठ. ४७।

भरतवृद्ध—ऊपर देखो पृष्ठ २६।

भरतशास्त्रग्रन्थ—ले. लक्ष्मीधर; देखो एनल्स ऑफ भण्डार, भाग १५, पृष्ठ २४०-२४२; समय १५५०-१५७२ ई.; इसमें कविकण्ठपाठ, भावप्रकाश तथा भरतार्णव का उल्लेख है।

भरतसंग्रह—ले. विद्याचक्रवर्ती।

भरतसूत्रवृत्ति—लेखक वलदेवविद्याभूषण अथवा त्रिद्याभूषण, काव्यप्र० की टीका।

भरतार्णव—ले. नन्दिकेश्वर पृ. ४२७ ।

भवदेव—काव्यप्र. की लीलाटीका के ले.; ऊपर देखो ।

भानुकर—सम्भवत: भानुदत्त का दूसरा नाम, ऊपर देखो पृ. ३०६; कुछ पाण्डु. में भानुदत्त की रचनाएँ भानुकर-रचित बताई गई हैं, उदाहरणार्थ अलंकारतिलक की पाण्डु. (बी. बी. आर. ए. एस. हस्तलेख-सूची, पृष्ठ ४१) तथा कुछ टीकाएँ जैसे परिमलटीका ।

भानुचन्द्र—काव्यप्र. के टीकाकार ।

भानुदत्त—मिथिलानिवासी; रसमञ्जरी, रसतरङ्गिणी आदि कई ग्रन्थों के ले.; ऊपर देखो पृष्ठ ३०४-३१०; समय १४५०-१५०० ई. ।

भानुभावप्रकाशिनी—महादेवविरचित रसमञ्जरी की टीका ।

भामह—रक्रिलगोमी के पुत्र तथा काव्यालङ्कार के ले.; समय ७००-७५० ई.; कई बार मुद्रित । (ऊपर देखो, पृष्ठ ७८-८१) ।

भामहविवरण—ले. उद्भट; ऊपर देखो पृ. १३४-३५ ।

भावतरङ्गिणी—

भावप्रकाश, भावप्रकाशिका अथवा भावप्रकाशन—ले. भट्टगोपाल के पुत्र शारदातनय; १० अधिकारों में गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज द्वारा मुद्रित; देखो—अड्यार लाइब्रेरी बुलेटिन, सं. १९, भाग १ व २ में डॉ. राघवन का लेख, ११७५-१२५० ई.; अलङ्कारसूत्र तथा नाट्यशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए बहुत महत्वपूर्ण टीका । इसके कुछ भागों के लिए देखो भाग ५, पृ. ७९१ ।

भावप्रदीप—देखो आफ्रेट, भाग १, पृष्ठ ४०८ ।

भावमिश्र—मिश्रभटक के पुत्र तथा शृङ्गारसरसी के ले. ।

भावलवव्याख्या—

भावविवेक—भाव के विषय पर; ट्रिइनियल सूची, मद्रास, भाग ६, पृष्ठ ७१५१ ।

भावार्थ उपनाम काव्यनन्दिका—रामकृष्णविरचित काव्यप्र. की टीका ।

भावार्थचिन्तामणि—महेश्वर-विरचित काव्यप्र. की टीका ।

भाषाविभूषण—ले. गोपालदास ।

भास्कर—काव्यप्र. की साहित्यदीपिकाटीका के ले., ऊपर देखो; काव्यप्रदीप (पृष्ठ २५, २०१) पर उल्लिखित ।

भाष्यकाराचार्य—वरदगुरु के ले. तथा साहित्यकल्लोलिनी के ले.; ले. ने यह स्पष्ट लिखा है कि उन्होंने रसार्णवसुधाकर से सहायता ली है; समय १३५० ई. के पश्चात्; विषय : नाट्य, सन्धि, नायक, उपरूपक, काव्यलक्षण; देखो मद्रास सरकार पाण्डु. सूची, भाग २२, क्रमसंख्या १२९६४ ।

भीमसेनदीक्षित—काव्यप्र. की सुधासागर टीका के ले.; रचनाकाल १७२३ ई.; इसके अतिरिक्त अलङ्कारसारोद्धार, कुवलयानन्दखण्डन (अलङ्कार-सारस्थिति) के ले.।

भीमेश्वरभट्ट—रङ्गभट्ट के ले. तथा रससर्वस्व के ले.।

भूदेव शुक्ल—रसविलास के ले.; लगभग १५५० ई.; देखो एनल्स ऑफ भण्डार., भाग १३, पृष्ठ १८३ (प्रो. गोडे); इसके अतिरिक्त ५ दृश्यों में धर्म-विजय नामक नाटक के ले.।

भोजदेव अथवा भोजराज—सरस्वतीकण्ठाभरण तथा शृङ्गारप्रकाश के ले.; ऊपर देखो पृष्ठ २५७-२६३; पहला ग्रन्थ कई वार प्रकाशित हो चुका है और दूसरे का एक भाग ही अब तक प्रकाशित हुआ है; १००५ से १०५४ ई. तक राज्य किया।

मकरन्द—मुगल वादशाह अकवर के समकालीन हरिविजय सूरि के शिष्य शुभ-विजयगणि-विरचित काव्यकल्पलता की टीका; रचनाकाल संवत् १६६५ (१६०८-९ ई.)।

मङ्ख अथवा मङ्खक—कहा जाता है कि अलङ्कारसर्वस्व की एक वृत्ति इनकी रचना है; ऊपर देखो पृष्ठ २७७-७८; समय लगभग ११२५-११५० ई.।

मङ्गल—काव्यमीमांसा में राजशेखर द्वारा उद्धृत (पृष्ठ ११, १४, १६, २०); ऊपर देखो पृष्ठ १४४।

मङ्गलमयूखमालिका—ले. वरदाचार्य।

मञ्जीरध्वनिकोमल—

मतङ्ग—नाट्यशास्त्र तथा सङ्गीत के एक प्राचीन ले.; ऊपर देखो पृष्ठ ५८; समय ७५० ई. से पूर्व।

मथुरानाथ शुक्ल—साहित्यदर्पण तथा कुवलयानन्द के टीकाकार।

मदनोदय—शाकुन्तल १ में राघवभट्ट द्वारा तथा कुट्टनीमत श्लोक २२ में वात्स्यायन की भाँति कामशास्त्र के एक ले. के रूप में उल्लिखित।

मधुधारा—सुधीन्द्रयति-विरचित अलङ्कारमञ्जरी की टीका।

मधुमतिगणेश—काव्यप्र. की काव्यदर्पण टीका के ले.।

मधुमति—रत्नपाणि के पुत्र रविविरचित काव्यप्र. की टीका; ऊपर देखो।

मधुररसा—कृष्णद्विवेदी-विरचित काव्यप्र. की टीका।

मनोधर उपनाम रत्नपाणि—काव्यप्र. की काव्यदर्पण टीका के ले.।

मन्दारमरन्दचम्पू—ले. कृष्णशर्मा तथा चन्द्रदेवशर्मा; ११ बिन्दुओं में विभाजित; कवियों के लिए एक विशद सूचना-ग्रन्थ; समय १६०० के पश्चात्;

विषय : छंद, श्लेष, यमक, चित्रबन्धु, नाटक, रूपक तथा उसके अंग, नायिका, नायक, रस, वृत्ति, अलङ्कार आदि; इसका एक श्लोक इस प्रकार है : 'अथ भोजनृपादीनां मतमत्र प्रकाश्यते। रसो वैस इति श्रुत्या रस एकः प्रकीर्तितः ॥' ९वाँ बिन्दु, पृष्ठ १०७; काव्यमाला सीरीजि में मुद्रित। स्वोपज्ञ 'माधुर्यरञ्जनी' टीका; मूलपाठ व टीका निर्ण. द्वारा मुद्रित।

मम्मट—काव्यप्रकाश तथा शब्दव्यापारविचार के ले.; ऊपर देखो पृष्ठ २६६-२७५ ई.; समय १०५०-११०० ई.; सम्भवतः सङ्गीतरत्नावलि भी मम्मट की रचना है; देखो एनल्स ऑफ भण्डार०, भाग १६, पृष्ठ १३१-१३९।

मर्मप्रकाश—गुरुमर्मप्रकाश का दूसरा नाम, ऊपर देखो।

मल्लराज—ऊपर देखो अल्लराज।

मल्लिनाथ—एकावली की तरल टीका के ले.; ऊपर देखो पृ. २९२-९३।

मल्लिनाथ—जगन्नाथ के पुत्र तथा काव्यादर्श की वैमल्यविधायिनी टीका के ले.।

महादेव—रसमञ्जरी की भानुभावप्रकाशिनी तथा रसतरङ्गिणी की रसोदधि टीकाओं के ले.।

महिमभट्ट—व्यक्तिविवेक तथा तत्त्वोक्तिकोश के ले.; ऊपर देखो पृष्ठ २४५-२५७; पहली बार त्रिवेंद्रम सीरीज में रुय्यक-विरचित टीका-सहित मुद्रित; समय १०२०-११०० ई.।

महेश्वर—काव्यप्र. की भावार्थचिन्तामणि उपनाम आदर्श टीका के ले.।

महेश्वर—वामनविरचित काव्यसूत्र की साहित्यसर्वस्व टीका के ले.।

माणिक्यचन्द्र—काव्यप्र. की सङ्केत टीका के ले., ऊपर देखो; रचनाकाल—११५९-११६० ई.; आनन्द. द्वारा तथा मैसूर में मुद्रित।

मातृगुप्ताचार्य—अभिनवभारती, सागरनन्दी, भावप्रकाश आदि द्वारा नाट्यशास्त्र के एक ले. के रूप में उल्लिखित; ऊपर देखो पृष्ठ ५४-५५; समय ७वीं शताब्दी का पूर्वार्ध।

मानसिंह—साहित्यसार के ले.।

मारुति उपनाम आञ्जनेय—भावप्रकाशन पृष्ठ ११४ पर नाट्यशास्त्र के एक ले. के रूप में उल्लिखित।

मार्जन—हरिनाथ-विरचित काव्यादर्श तथा सरस्वतीकंठाभरण की टीका।

मुकुलभट्ट—अभिधावृत्तिमातृका के ले.; निर्णय. द्वारा मुद्रित; ऊपर देखो पृष्ठ २१८; समय ९वीं शताब्दी का अन्तिम चतुर्थांश।

मुक्तावलि---ले. गदाधर के पुत्र तथा काव्यादर्श के टीकाकार नरसिंहसूरि।

मुग्धमेधाकर---ले. अणुरत्नमण्डनगणि अथवा रत्न.; विषय : अलंकार; समय लगभग १४६१ ई.।

टीका---देखो भण्डार० पाण्डु. सूची, भाग १२, पृ. २२२।

मुरारिमिश्र---भीमसेन द्वारा काव्यप्र. के टीकाकार के रूप में उल्लिखित।

मेधावी उपनाम मेधाविरुद्र---भामह तथा नमिसाधु द्वारा उल्लिखित; देखो ऊपर पृष्ठ ६३-६४।

मोहनदास---रसोदधि के ले.।

यज्ञनारायणदीक्षित---साहित्यरत्नाकर के ले.; आफ्रेट भाग २, पृष्ठ १०८।

यज्ञेश्वर दीक्षित---कोण्डुभट्ट के पुत्र; अलङ्काररराघव, अलङ्कार-सूर्योदय तथा साहित्यरत्नाकर के ले.; ऊपर देखो।

यशस्कर---अलङ्काररत्नाकर-संनिवद्ध देवीस्तोत्र।

यशस्वी---गोपाल के पुत्र; साहित्यकौतुहल तथा उसकी उज्ज्वलपदा टीका के ले.; पाण्डु. (इण्डिया ऑफिस सूची, भाग ३, पृष्ठ ३३७) की नकल, १७३० ई. में की गई।

यशोवन्तयशोभूषण---ले. रामकर्ण; राजपूताना के एक राजा की स्तुति में विरचित।

यामुन उपनाम यामुनेय---काव्यादर्श के टीकाकार।

यायावरीय---काव्यमीमांसा के राजशेखर का उपनाम; ऊपर देखो।

रघुदेव---काव्यप्रकाशकारिकार्थप्रकाशिका के टीकाकार; उन्होंने केवल उन कारिकाओं की व्याख्या की है जो उनके विचार से भरत-विरचित हैं; देखो राजेन्द्र० नोटिस, भाग १०, क्रमसंख्या ४२४२।

रघुनाथ उपनाम पण्डितराज---काव्यप्रकाश के टीकाकार; पाण्डु. पर निर्दिष्ट तिथि १६३७ ई.।

रघुनाथभूपालीय---ले. कृष्णदीक्षित; इसमें काव्यप्र. तथा विद्यानाथ का उल्लेख है।

टीका साहित्य सामाज्य---ले. सुरीन्द्रपूज्यपाद के शिष्य सुमतीन्द्रयति।

रङ्गशायी उपनाम गुरिजालशायी---रसमञ्जरी की आमोदटीका के ले.; देखो डॉ. राघवन-लिखित शृङ्गारमञ्जरी (हैदरावाद) की प्रस्तावना, पृष्ठ १३-१४।

रतिकल्लोलिनी---ले. सामराज; रचनाकाल १७१९ ई.; देखो एनल्स ऑफ भण्डार., भाग १०, पृष्ठ ५८-५९।

रतिमञ्जरी---ले. कामदेव; ६३ कारिकाएँ; देखो पाण्डु. सूची, पृष्ठ ४८।

रतिरहस्य---ले. कुक्कोक; १० अध्यायों में विभाजित; रचनाकाल १३वीं शता.; मल्लिनाथ द्वारा उद्धृत।

रत्नकण्ठ—काव्यप्र. की सारसमुच्चय टीका के लेखक ।

रत्नदर्पण—रत्नेश्वर-विरचित सरस्वतीकण्ठाभरण की टीका; निर्णय. द्वारा मुद्रित ।

रत्नपाणि उपनाम मनोधर—अच्युत के पुत्र; काव्यप्र. की काव्यदर्पण टीका के लेखक, ऊपर देखो ।

रत्नभूषण—१० परिच्छेदों में काव्यकौमुदी के लेखक; १९वीं शती. का मध्य ।

रत्नमण्डनगणि अथवा अणुरत्न.—मुग्धमेधाकर तथा जल्पकल्पलता के लेखक ।

रत्नमाला—ले. लक्ष्मणभट्ट; विषय : अप्रस्तुतप्रशंसा, प्रहेलिका आदि ।

रत्नशाण—एक अज्ञात लेखक की प्रतापरुद्रयशोभूषण की टीका, ऊपर देखो ।

रत्नशोभाकर—कृष्णसूरि विरचित अलङ्कार मुक्तावलि की टीका, ऊपर देखो ।

रत्नाकर अथवा अलङ्काररत्नाकर—ले, शोभाकरमित्र ।

रत्नापण—कुमारस्वामी-विरचित प्रतापरुद्रयशोभूषण की टीका; ऊपर देखो ।

रत्नेश्वर—सरस्वतीकंठाभरण की रत्नदर्पण टीका के ले.; उन्होंने इसे राजा रामसिंह देव के कहने पर लिखा ।

रमा—वैद्यनाथपायगुण्ड-विरचित चन्द्रालोक की टीका; ऊपर देखो ।

रवि—काव्यप्र. की मधुमती टीका के ले. ।

रसकल्पवल्ली—ले. रामगोपालदास (१६वीं शती.); इसमें सङ्गीतदामोदर का उद्धरण है ।

रसकलिका—ले. रुद्रभट्ट; देखो मद्रास सरकार पाण्डु. लाइब्रेरी, क्रमसंख्या २२४१, ३२७४ तथा 'रसों की संख्या' पर डॉ. राघवन का लेख ।

रसकल्लोल—ले. दीनकृष्णदास; रचनाकाल १४९० ई., जब गजपति पुरुषोत्तम का राज्य था; देखो इंडियन एंटीक्विरी, भाग १, पृष्ठ २१५ ।

रसकौमुदी—ले. घासीरामपण्डित, विषय : ९ रसों की विशेषताएँ ।

रसकौमुदी—ले. अज्ञात; विषय : अलङ्कार; देखो कलकत्ता ओरिएण्टल जर्नल, भाग ३, पृष्ठ ३५-३७ (प्रो. गोडे) ।

रसकौमुदी—ले. श्रीकण्ठ; २ खण्डों, (पूर्वखण्ड व उत्तरखण्ड) तथा १० अध्यायों में विभाजित; सङ्गीत तथा साहित्य का अध्ययन; पाण्डु. पर निर्दिष्ट तिथि १५९६ ई. है ग्रंथ १५६९-१५९६ के मध्य रचा गया; देखो भण्डार. पाण्डु. सूची भाग १२, पृष्ठ ४६३-४६६; ले. नवानगर का जाम शत्रुशल्य (१५६९-१६०८ ई.) के आश्रित थे; देखो एनल्स ऑफ़ भण्डार., भाग १४, पृष्ठ १२९ ।

रसकौस्तुभ—ले. वेणीदत्त; देखो मिथिला पाण्डु. सूची., भाग २, पृष्ठ ४४, क्रम-संख्या ३४ ।

रसगङ्गाधर—ले. जगन्नाथ पण्डितराज; ऊपर देखो पृष्ठ ३२१-३२४, जीवनकाल १६२०-१६६५ ई.।

टीका मर्मप्रकाश—ले. नागेशभट्ट जो शृङ्गवेर के राजा राम के आश्रित थे; काव्यमाला सिरीज में मुद्रित।

रसचन्द्र रसगन्ध—ले. घासीरामपण्डित; रचनाकाल १६९६ ई.; ४ अध्यायों में विभाजित; विषय नायक, नायिका, अनुभावादिगण तथा रस।

रसचन्द्रिका—ले. लक्ष्मीधर के पुत्र विश्वेश्वरभट्ट; इसमें अप्पय तथा जगन्नाथ उद्धृत हैं; १८वीं शती का आरम्भ; काशी संस्कृत सीरीज में मुद्रित।

रसतरङ्गिणी—ले. हरिवंशभट्ट के पुत्र गोपालभट्ट द्वारा रुद्रभट्ट-विरचित शृंगार-तिलक की टीका।

रसतरङ्गिणी—रुद्रटविरचित काव्यालङ्कार की टीका; ऊपर देखो पृष्ठ १५६।

रसतरङ्गिणी—ले. नारायणभट्ट; विश्वनाथचक्रवर्ती-विरचित उज्ज्वलनीलमणि की टीका, पृष्ठ २५ पर उल्लिखित।

रसतरङ्गिणी—ले. भानुदत्त; ८ तरंगों में विभाजित; रसरत्नदीपिका पृष्ठ ५० पर दिया गया एक श्लोक इसमें उद्धृत है; ऊपर देखो पृष्ठ ३०४-३०५।

टीकायें—

१. अयोध्याप्रसाद-विरचित टीका।
२. दिनकर-विरचित टीका।
३. नूतनतरि—ले. भगवद्भट्ट।
४. नौका—ले. नारायण के पुत्र और नीलकण्ठ के शिष्य गङ्गारामजडि; रचनाकाल १७४२ ई.; बनारस (१८८५) में मुद्रित, देखो जर्नल ऑफ़ ब्राम्बे यूनि., भाग ११, खण्ड २, पृष्ठ ८४-८९।
५. रसिकरञ्जिनी—ले. विश्वेश्वर के पुत्र वेणीदत्त भट्टाचार्य, रचनाकाल १५५३ ई.।
६. रसिकरञ्जिनी—हरिवंशभट्ट के पुत्र गोपालभट्ट।
७. रसोदधि—ले. गणेश; पाण्डु. पर निर्दिष्ट तिथि १६९८ ई.।
८. रसोदधि—ले. महादेव।
९. साहित्यसुधा अथवा काव्यसुधा—ले. भीमसाह महाराजाधिराज के पुत्र नेमिसाह; भण्डार. पाण्डु भाग १२, पृष्ठ २३४-२३५; सम्भवतः इसके वास्तविक लेखक दिनकर थे।
१०. सेतु अथवा सेतुप्रबन्ध—ले. व्रजराजदीक्षित के पुत्र जीवराज;

जडि-विरचित नौकाटीका का इसमें उल्लेख है; अतः इसका; रचनाकाल १७५० ई. के पश्चात् होना चाहिये।

रसतरङ्गिणी—ले. देवनाथ के पुत्र रामानन्द; देखो मिथिला पाण्डु. सूची, भाग २, पृष्ठ ५१, क्रमसंख्या ३७।

रसदीर्घिका—ले. विद्याराम, ५ सोपानों में विभाजित; रचनाकाल १७०६ (१६४९-१६५०ई.); ले. ने इसमें स्वरचित उदाहरण दिए हैं।

रसनिरूपण—ले. नरहरि; रत्नापण, पृष्ठ २२४ पर उल्लिखित।

रसपारिजात—ले. भानुदत्त, बद्रीनाथ झा द्वारा सम्पादित तथा मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर द्वारा प्रकाशित।

रसप्रकाश—कृष्णशर्म विरचित काव्यप्र. की टीका।

रसप्रदीप—ले. रामेश्वर के पौत्र और माधव के पुत्र प्रभाकर; सरस्वती-भवन सीरीज में मुद्रित; रचनाकाल १५८३ ई. जब ले. की आयु १९ वर्ष थी।

रसबिन्दु—ले. अज्ञात; देखो भण्डार. पाण्डु. सूची, भाग १२, पृष्ठ २४६; इसमें रसमहोदधि का उल्लेख है।

रसमञ्जरी—ले. गणेश्वर अथवा गणनाथ के पुत्र भानुदत्त अथवा भानुक; ऊपर देखो पृष्ठ ३०४-३०५; समय १४५०-१५०० ई.।

टीकायें—

१. आमोद—ले. रङ्गशाली के पुत्र गुरिजालशायी; इसमें परिमल की तीव्र आलोचना की गई है; समय १७वीं शती. का पूर्वार्ध।

२. परिमल—ले. शेषनृसिंह के पुत्र, शेषकृष्ण के भाई तथा भट्टोजि दीक्षित के गुरु शेषचिन्तामणि; देखो १८८३-८४ की भण्डारकर रिपोर्ट, पृष्ठ ३६५-३६६; भांडारकर सूची भाग ६, पृष्ठ १४५-१४७, भाग १७, पृष्ठ २४३-२५८; समय १६वीं शताब्दी का मध्य भाग।

३. प्रकाश—ले. शिवभट्ट के पुत्र नागेशभट्ट काल (अथवा काले); बनारस संस्कृत सीरीज़ में मुद्रित; समय १८वीं शताब्दी का प्रथम चतुर्थांश।

४. भानुभावप्रकाशिनी—ले. महादेव।

५. रसिकरञ्जन—ले. कामराज के पुत्र तथा जीवराम के पिता व्रजराजदीक्षित; समय १८वीं शताब्दी का पूर्वार्ध।

६. रसिकरञ्जिनी—ले. हरिवंशभट्ट के पुत्र गोपालभट्ट जो एक द्राविड़ ब्राह्मण थे।

७. विकास अथवा विलास—ले. नृसिंह के पुत्र गोपाल अथवा वोपदेव;

समय १५७२ ई.; इसमें प्रदीपकर, वत्सलाञ्छन तथा साहित्यदर्पण का उल्लेख है।

८. व्यङ्ग्यार्थकौमुदी—ले. त्र्यम्बक के पुत्र अनन्त; बनारस संस्कृत सीरीज में मुद्रित; काशी में संवत् १६९२ (१६३५-३६ ई.) में विरचित।

९. व्यङ्ग्यार्थकौमुदी अथवा समञ्जसा—ले. लक्ष्मीधर के पुत्र विश्वेश्वर; देखो राजेन्द्र. नोटिस, भाग ९, पृष्ठ १२२।

१०. व्यङ्ग्यार्थदीपिका—ले. त्र्यम्बक के पुत्र आनन्दशर्मा।

११. स्थूलतात्पर्यार्थ।

१२. रामनाथवैद्य-विरचित टीका।

रसमञ्जरी—ले. तिम्मय के पौत्र, यज्ञेश्वरदीक्षित के पुत्र, कौण्डुभट्ट के शिष्य तथा तिरुमलराज के आश्रित लक्ष्मीधर; बाद में रामानन्दाश्रम नाम अपनाकर यति बन गये।

रसमहार्णव—ले. पीताम्बर के पुत्र गोकुलनाथ जो बनारस में रहते थे; १७वीं शता. के अन्तिम तथा १८वीं शता. के प्रथम चतुर्थांश के बीच।

रसमीमांसा—ले. चमत्कारचन्द्रिका के ले. विश्वेश्वर के गुरु काशीश्वर; देखो एनल्स ऑफ भण्डार., भाग १६; पृ. १३९-१४०; लगभग १३०० ई.।

रसमीमांसा—ले. गङ्गारामजडि; श्लोक-संख्या ११४; बनारस में १८८५ ई. में मुद्रित; समय १८वीं शता. का दूसरा चतुर्थांश।

टीका छाया—ले. स्वयं गङ्गारामजडि।

रसरत्नकोश—ले. राजाधिराज कुम्भ अथवा कुम्भकर्ण; रस, नायक, नायिका तथा अभिनय पर ११ अध्याय; यह ले. के सङ्गीतराज का एक भाग है; देखो एनल्स ऑफ भण्डार., भाग १४, पृष्ठ २५८-२६२ (डॉ. राघवन); समय—लगभग १४२८-१४५९ ई., इसमें कीर्तिधराचार्य तथा अभिनवभरताचार्य का उल्लेख है; देखो रेगनाल्ड-विरचित 'लां रिटारीक़', पृ. ३७९।

रसरत्नप्रदीपिका अथवा रसरत्नप्रदीप—ले. राजा हम्मीर के पुत्र अल्लराज अथवा मल्लराज; ६ परिच्छेद, गद्य-पद्य दोनों में; समय १२५०-१३५० ई.; भारतीय विद्याभवन सीरीज, बम्बई में डॉ. आर. एन. दाण्डेकर के सम्पादन में मुद्रित; कविकङ्कण, चण्डकौशिक तथा भावप्रकाशन की कारिकाएँ इसमें उदधृत हैं, कुंम्भविरचित गीतगोविन्द की टीका में इसका उद्धरण है।

रसरत्नहार--ले. त्रिलोकचन्द्र के पौत्र तथा कृष्णराम के पुत्र शिवरामत्रिपाठी; रस, भाव आदि पर श्लोक; टीका लक्ष्मीविहार--ले. स्वयं शिवराम त्रिपाठी; १८वीं शता. के प्रथम चतुर्थांश के पश्चात्; रसमञ्जरी तथा उसकी व्यंग्यार्थकौमुदी टीका इसमें उद्धृत हैं; काव्यमाला सीरीज़ में मुद्रित--६ गुच्छ तथा १२४ पृष्ठ।

रसरत्नावली--ले. लक्ष्मण के पुत्र वीरेश्वरपण्डित; मुख्य विषय शृङ्गाररस तथा नायिकाभेद।

रसविलास--ले. सुकदेव के पुत्र शुक्लभूदेव; ४ स्तवकों में विभाजित; प्रेमलता द्वारा सम्पादित तथा पूना ओरिएंटल हाउस द्वारा १९५२ में प्रकाशित, मूल्य ५ रुपये; रसगङ्गाधर पर आधारित; रचनाकाल १६६०-१७२० ई.।

रसविवेक अथवा काव्यादर्श--ले. सौजन्यभूषण के अनुज, नाम अज्ञात; तञ्जौर पाण्डु., भाग ९, पृष्ठ ४०७४, वेङ्कटेश्वर इंस्टीट्यूट द्वारा १९५६ ई. में मुद्रित।

रससमुच्चय--देखो आफ्रेट., भाग १, पृष्ठ ४९६।

रससर्वस्व--ले. रंगभट्ट के पुत्र भीमेश्वरभट्ट।

रससागर--शिशुपालवध १५.८९ में राग की परिभाषा के लिये मल्लिनाथ द्वारा उद्धृत।

रससिन्धु--ले. पौण्डरीक रामेश्वर; १४ रत्नों में विभाजित; इसमें दर्पण, रसतरङ्गिणी तथा भानुदत्त का उल्लेख है; समय--१५००-१५५० ई.।

रससुधाकर--रूपगोस्वामि-विरचित नाटकचन्द्रिका में तथा मल्लिनाथ द्वारा रघु ६.१२ में उल्लिखित; इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि यह और रसार्णव सुधाकर दोनों एक ही ग्रन्थ हैं।

रससुधार्णव--ले. आनन्ददास।

रससेतु--जीवराज-विरचित रसतरङ्गिणी की टीका।

रसामृतशेष--ले. रूपगोस्वामी।

रसामृतसिन्धु--

रसार्णव अथवा रसार्णवसुधाकर--ले. अनन्त (अथवा अनपेति) के पुत्र तथा वेङ्कटागिरि के राजा (लगभग १३३० ई.) शिङ्गभूपाल; त्रिवेंद्रम् संस्कृत सीरीज़ में मुद्रित; ए. एन. कृष्णा द्वारा दी गई तिथि (१३४०-१३६० ई.) ठीक लगती है क्योंकि अनपोत माधवनायक से सम्बन्धित श्रीरंगम् प्लेटों पर शक १३४३ (१४२१ ई.) तिथि दी गई है; देखो जर्नल ऑफ ओरिएंटल रिसर्च, बड़ौदा, भाग ७, पृष्ठ २५-३३।

रसार्णवालङ्कार—ले. प्रकाशवर्ष; देखो मद्रास, भाग ८, पृष्ठ २५-३३ तथा शृङ्गारप्रकाश भाग १, पृष्ठ २०४ पर डॉ. राघवन।

रसिकजीवन—ले. गौरीपति के पुत्र गदाधरभट्ट; १० प्रबन्धों में विभाजित; कई ले. और उनकी कृतियों का इसमें उल्लेख है; १५०० ई. के पश्चात्।

रसिकप्रकाश—ले. देवनाथ; काव्यकौमुदी भी इसी ले. की रचना है।

रसिकप्रियां—ले. केशवदास जो ओरछा के राजा वीरसिंह के आश्रित थे; रचना-काल १६०१ ई.; देखो डिपार्टमेंन्ट ऑफ लेटर्स, कलकत्ता विश्वविद्या-लय, भाग १३, पृष्ठ १-३४ तथा पेटर्सन भाग ६, पृष्ठ ३७९।

रसिकरञ्जन—ले. सामराज के पौत्र तथा कामराज के पुत्र व्रजराजविरचित रसमञ्जरी की टीका।

रसिकरञ्जिनी—वेणीदत्तविरचित रसतरङ्गिणी की टीका; रचनाकाल १५५३ ई.।

रसिकरञ्जिनी—गङ्गाधरविरचित कुवलयानन्द की टीका।

रसिकरञ्जिनी—हरिवंशभट्ट के पुत्र गोपालभट्टविरचित रसमञ्जरी की टीका।

रसिकरञ्जिनी—विश्वनाथ विरचित काव्यादर्श की टीका।

रसिकसञ्जीवनी—ले. हरिवंश के पुत्र हरिवंश; १३ विलासों में विभाजित; विषय : नायिका, मान, प्रणय, शृङ्गार इत्यादि; समय १६वीं शता. का उत्तरार्द्ध।

रसिकसर्वस्व—रसिकप्रिया में उद्धृत; राजा कुम्भ-विरचित गीतगोविन्द की टीका; देखो पुस्तक का निर्णय. संस्करण १९४९, पृष्ठ ५१, ५५, ५६।

रसोदधि—ले. गणेश; रसतरङ्गिणी पर लिखित पाण्डुलिपि पर निर्दिष्ट तिथि १६९८ ई.।

रसोदधि—ले. महादेव; विषय : रसतरङ्गिणी।

रहस्य—किरातार्जुनीय ३.६० व १४.४१ पर मल्लिनाथ द्वारा तथा अलङ्कार-शेखर पृष्ठ ४० व ८३ पर उद्धृत।

रहस्यदीपिका अथवा तिलक—जयराम विरचित काव्यादर्श की टीका।

रहस्यप्रकाश—ले. जगदीश; विषय : काव्यप्र.।

राकागम—विश्वेश्वरभट्ट-विरचित चन्द्रालोक की टीका; ऊपर देखो।

राघव—काव्यप्र. पर अक्वूरिटिप्पण के ले.।

राघवचैतन्य—कविकल्पलता के ले.।

राजचूड़ामणिदीक्षित—श्रीनिवासदीक्षित व कामाक्षी के पुत्र; अलङ्कारशिरोमणि (अथवा चूड़ामणि), काव्यदर्पण चित्रमञ्जरी तथा अन्य कई ग्रन्थों के ले.।

राजशेखर—काव्यमीमांसा के ले.; ऊपर देखो पृष्ठ २०८-२१८; समय ९००-९२५ ई.।

राजशेखर—अलङ्कारमकरन्द के ले.; समय लगभग १७६०-१७७२ ई.।

राजहंसोपाध्याय—वाग्भटालङ्कार के टीकाकार; पाण्डुलिपि पर निर्दिष्ट तिथि १४३० ई.।

राजानन्द—काव्यप्र. के टीकाकार।

रामकर्ण—यशोवन्तयशोभूषण के ले., ऊपर देखो।

रामकवि अथवा रामशर्मा—नायिकावर्णन अथवा दर्पण के ले.।

रामकृष्ण—काव्यप्र. की भावार्थ अथवा कविनन्दिनी टीका के ले.; ऊपर देखो।

रामचन्द्र—नाटकदर्पण अथवा नाट्यदर्पण के ले.; ऊपर देखो।

रामचन्द्र—काव्यप्र. की काव्यप्रकाशसार टीका तथा अलङ्कारचन्द्रिका की अलङ्कारमञ्जूषा टीका के ले.।

रामचन्द्रदीक्षित—शब्दभेदनिरूपण के ले.।

रामचन्द्रन्यायवागीश—काव्यचन्द्रिका के ले.।

रामचन्द्रयशोभूषण—ले. कच्छपेश्वर; वोमराज के सम्मानार्थ।

रामचरण—साहित्यदर्पण के टीकाकार; समय १७०० ई.।

रामनाथविद्यावाचस्पति—काव्यप्र. की रहस्यप्रकाश टीका के ले.; समय १७वीं शता. का प्रथम चतुर्थांश।

रामदेवचिरञ्जीव भट्टाचार्य—काव्यविलास तथा शृङ्गारतटिनी के ले.।

रामपण्डित—रसकौमुदी के ले.।

रामसुधीवर—अलङ्कारमुक्तावली के ले.; ऊपर देखो।

रामसुब्रह्मण्य—अलङ्कारशास्त्रसंग्रह के ले.।

रामानन्द—रसतरङ्गिणी के ले.।

रामानन्दाश्रम अथवा लक्ष्मीधर दीक्षित—अलङ्कारमुक्तावली तथा रसमञ्जरी के ले.।

रामानुज—कूटसन्देह के ले.।

राहुल—अभिनव. तथा ना. ल. र. को. द्वारा नाट्यशास्त्र के ले. के रूप में उल्लिखित; ऊपर देखो पृ. ५४।

रतिवृत्तिलक्षण—ले. विट्ठलेश्वर अथवा विट्ठल दीक्षित।

रूचक—देखो रुय्यक।

रुचिनाथमिश्र—रसप्रदीप पृष्ठ ६, ७, ९ पर प्रभाकर द्वारा उल्लिखित।

रुचिमिश्र—भीमसेन द्वारा काव्यप्र. के एक टीकाकार के रूप में उल्लिखित।

रुद्रट—काव्यालङ्कार के ले.; ऊपर देखो पृष्ठ १५१-१६० ।

रुद्रभट्ट—शृङ्गारतिलक के ले.; ऊपर देखो पृष्ठ १५६-१६० ।

रुय्यक——अलङ्कारसर्वस्व तथा अन्य कई ग्रन्थों के ले.; ऊपर देखो पृष्ठ २७५-२८६.

रूपगोस्वामी—उज्ज्वलनीलमणि के ले.; ऊपर देखो पृष्ठ ३१०-३१५ ।

रूपनारायण—अलङ्कारस्फुरण के ले. ।

लक्षणदीपिका—ले. आयंप्रभु के पुत्र गौरनार्य; प्रवन्धदीपिका और पदार्थदीपिका दो अन्य नामों से भी जानी जाती है; ६ प्रकाशों में विभाजित; इसमें साहित्यचूड़ामणि का उल्लेख है; मद्रास पाण्डु. भाग २२, क्रमसंख्या १२९५१ ।

लक्षणदीपिका—ले. अच्चलुमन्त्रि के पुत्र गौरनार्य; इसमें कविकण्ठपाश, चमत्कार-चन्द्रिका, साहित्यचन्द्रोदय तथा साहित्यरत्नाकर का उल्लेख है; यह ऊपर दी गई लक्षणदीपिका से भिन्न प्रतीत होती है; देखो मद्रास पाण्डु., भाग २२, क्रमसंख्या १२९५२ ।

लक्षणमालिका—ले. नरसिंहाचार्य; विषय : नायक, काव्य, रस, अलङ्कार तथा नाटक ।

टीका अलङ्कारेन्दुशेखर—ले. श्रीशैलनृसिंहकवि ।

लक्षणरत्नावलि—ले. अप्पय्यदीक्षित ।

टीका सम्भवतः स्वयं अप्पय-विरचित; देखो तञ्जौर पाण्डु. भाग ९, पृष्ठ ४०७९-४०८६ तथा जर्नल ऑफ ओरिएंटल रिसर्च, मद्रास, भाग ४, पृष्ठ २४२-२४४ ।

लक्ष्मणभट्ट—रत्नमाला के ले. ।

लक्ष्मीधर—तिम्मय के पौत्र, यज्ञेश्वर के पुत्र तथा कोण्डुभट्ट के भाई व शिष्य; अलङ्कारमुक्तावली तथा रसमञ्जरी के ले. ।

लक्ष्मीधर—भरतशास्त्रजन्य के ले.; देखो एनल्स ऑफ भण्डार. भाग १२, पृष्ठ २४१-२४२ (प्रो. गोडे) भरत. का रचनाकाल लगभग १५५०-१५७२ ई. ।

लक्ष्मीनाथभट्ट—दुष्करचित्रप्रकाशिका टीका के ले.; समय लगभग १६०० ई. ।

लघ्वलङ्कारचन्द्रिका—ले. कुवलयानन्द के टीकाकार देवीदत्त ।

लाटभास्कर अथवा भास्कर—साहित्यदीपिका के ले. ।

लीला—भवदेवविरचित काव्यप्र. की टीका।
लोकनाथ—अलङ्कारकौस्तुभ के टीकाकार।
लोचन—अभिनवविरचित ध्वन्यालोक की टीका, ऊपर देखो पृष्ठ २०४-२०७।
टीका कौमुदी—ले. राजा उदयोतुङ्ग; ऊपर देखो पृष्ठ २०७-२०८; समय लगभग १४८० ई.; महामहो. प्रो. कुप्पुस्वामी द्वारा मद्रास में प्रकाशित।
लोचनरोचनी—ले. उज्ज्वलनीलमणि के टीकाकार जीवगोस्वामी; ऊपर देखो पृ० ३१४-३१५; जीवगोस्वामी का जीवनकाल १४७०-१५५४ ई.।
लोल्लट—भरतनाट्यशास्त्र के टीकाकार; ऊपर देखो पृष्ठ ५०-५१; जीवन-काल ८००-८४० ई.।
लौहित्यभट्ट गोपाल अथवा भट्टगोपाल—साहित्यचूडामणि के ले.; समय १५वीं शता. से पूर्व।
वक्रोक्तिजीवित—ले. कुन्तक; ऊपर देखो पृष्ठ २२५-२३६।
वक्रोक्तिजीवितकार अर्थात् कुन्तक—ऊपर देखो पृष्ठ २२५-२३६।
वत्सवर्मन् अथवा वत्सलाञ्छन—काव्यप्र. की सारबोधिनी टीका के ले.; ऊपर देखो।
वनमाला—ले. भानु की पौत्री के पुत्र गङ्गानन्द; देखो मिथिला पाण्डु. सूची, भाग २, पृ. ६२, क्रमसंख्या ४४।
वरदाचार्य—उत्प्रेक्षामञ्जरी तथा मङ्गलमयूखमालिका के ले.।
वररुचि—काव्यादर्श की हृदयंगमा टीका में कश्यप के साथ काव्यशास्त्र के एक प्राचीन ले. के रूप में उल्लिखित।
वल्लभदेव—राजानक आनन्ददेव के पुत्र; उपनाम—परमार्थचिह्न; रुद्रटविरचित काव्यालङ्कार के टीकाकार; ऊपर देखो पृष्ठ १५५; समय ९००-९३०ई.।
वल्लभभट्ट—अलङ्कारकौमुदी के ले.।
वसन्तराज—कुमारगिरि के राजा; नाट्यशास्त्र पर वसन्तराजीय नामक ग्रन्थ के ले.।
वसन्तराजीय—वसन्तराज विरचित नाट्यशास्त्र; समय—१४०० ई.।
वाग्भट—सोम के पुत्र, वाग्भटालङ्कार के ले.; ऊपर देखो पृष्ठ २८६-७; जीवनकाल १२वीं शता. का पूर्वार्द्ध।
वाग्भटालङ्कार—ऊपर देखो।
टीकाएँ—
१. आदिनाथ अथवा जिनवर्धन-विरचित टीका, आदिनाथ १४०५-

१४१९ ई. में विरचित, सरतरगच्छ के पुरोहित थे; ग्रन्थमाला वम्बई द्वारा मुद्रित; पाण्डु. की नकल संवत् १६१० अर्थात् १५५३-४ ई. में की गई; भण्डार. पाण्डु.सूची, भाग १२, पृष्ठ ३२३।

२. समासान्वयटिप्पण—ले. क्षेत्रहंसगणि।

३. विवरण—ले. अनन्तभट्ट के पुत्र गणेश; पाण्डु. कीं नकल १७१३ ई. में की गई।

४. जिनतिलकसूरि के शिष्य राजहंसोपाध्याय-विरचित टीका; पाण्डु. की नकल १४३० ई. में की गई; देखो भण्डारकर रिपोर्ट, १८८३-४ ई., पृष्ठ १५६,२७९; समय १३५०-१४०० ई.।

५. सकलचन्द्र के शिष्य समयसुन्दर, विरचित टीका, टीका का रचना-काल—१६३६ ई. अहमदावाद में।

६. अवचूरि—ले. अज्ञात।

७. कृष्णशर्म-विरचित टीका।

८. ज्ञानप्रमोदिका—ले. वाचनाचार्य ज्ञानप्रमोदगणि; रचनाकाल संवत् १६८१ (१६२४-२५ ई.)।

वाग्भट्ट—नेमिकुमार के पुत्र; काव्यानुशासन के ले.; ऊपर देखो पृष्ठ २९५-६; समय—१४वीं शता.।

वाचस्पति—काव्यप्र. के टीकाकार।

वात्स्यायन—अलङ्कारसूत्र के ले.; ऊपर देखो।

वातचन्द्र—चन्द्रालोक के टीकाकार।

वादिजजङ्घलं—काव्यादर्श के टीकाकार।

वामन—काव्यालङ्कारसूत्र और वृत्ति के ले.; ऊपर देखो पृ. १३९-१४७ तथा रत्नापण (पृष्ठ १२२)।

वासुकि—भावप्रकाशन (पृष्ठ ३७, ४७, ६९) में नाट्यशास्त्र के ले. के रूप में उल्लिखित...भावप्रकाशन पृष्ठ ३७ पर वासुकि-रचित श्लोक (नाना-द्रव्यौ..नयैः सह) भावप्रकाशन में उद्धृत वासुकि-कृत श्लोक (नाना-द्रव्यौ...नयैः सह) नाट्यशास्त्र (६-३९) से संबंधित है (जी. ओ. एस., भाग १, पृष्ठ २९४)।

विजयवर्णी—शृङ्गारार्णवचन्द्रिका के ले.; देखो एन. सी. सी., पृष्ठ ६९।

विजयानन्द—काव्यादर्श के टीकाकार।

विठ्ठलेश्वर अथवा विठ्ठलदीक्षित अथवा अग्निकुमारवल्लभाचार्य के पुत्र; जन्म १४१४ ई.; कई ग्रन्थों के रचयिता; देखो आफ्रेट पाण्डु., भाग १, पृष्ठ ५७२।

विदग्धमुखमण्डन—ले. धर्मदाससूरि; ४ परिच्छेदों में विभाजित; विषय: प्रहेलिका और चित्रकाव्य; कई वार मुद्रित (जैसे हैवरलिन्स संकलन में और निर्णय. द्वारा); रत्नापण (पृष्ठ १२२) तथा शार्ङ्गधरपद्धति में उल्लिखित; समय ११वीं शता. का पूर्वार्ध; प्रो. गोडे प्र. ग्रन्थ में डॉ. राघवन का कथन है कि शृङ्गारप्रकाश में इनके नाम का उल्लेख है।

टीकायें—

१. जिनप्रभसूरि-विरचित टीका; ज्ञात जन्म और मृत्यु तिथियां १२९३ व १३०९ ई.।
२. आत्माराम अथवा स्वात्माराम योगीन्द्र-विरचित टीका।
३. विद्वन्मनोहरा—ले. ताराचन्द्र।
४. वीटिका—ले. गौरीकान्त भट्टाचार्य।
५. श्रवणभूषण—ले. नरहरिभट्ट।
६. सुबोधिनी—ले. त्रिलोचन।
७. शिवचन्द्र-विरचित टीका।
८. वासुदेव के पुत्र दुर्गादास-विरचित टीका।
९. अवचूर्णि।

विद्याचक्रवर्ती—मम्मट, रुय्यक, भरतसंग्रह और सम्भवतः रसमीमांसा के टीकाकार; देखो एनल्स ऑफ भण्डार. भाग १६, पृष्ठ १४०; समय—१४वीं शता. के लगभग।

विद्याधर—एकावली के ले.; ऊपर देखो पृष्ठ २९२-२९३; समय १२८५-१३२५ ई.।

विद्यानाथ—प्रतापरुद्रयशोभूषण के ले.; ऊपर देखो पृष्ठ २९३-२९५; समय १४वीं शता. का प्रथम चतुर्थांश।

विद्याभूषण—काव्यप्रकाश कारिकाओं की साहित्यकौमुदी टीका के रचयिता।

विद्याराम—रसदीर्घिका के ले.।

विद्वन्मनोहरा—ताराचन्द्र विरचित विदग्धमुखमण्डन की टीका।

विनयचन्द्र—काव्यशिक्षा के ले.।

विमर्शिनी—जयरथविरचित अलङ्कारसर्वस्व की टीका।

विरूपाक्ष—चन्द्रालोक की शारदशर्वरी टीका के ले.।

विवेक—कविकल्पलता की टीका ।

विश्वनाथ—काव्यादर्श के टीकाकार ।

विश्वनाथकविराज—चन्द्रशेखर के पुत्र; साहित्यदर्पण तथा काव्यप्र. की दर्पण टीका के ले.; ऊपर देखो पृष्ठ २९६-३०४; समय १३००-१३८४ ई. ।

विश्वनाथ चक्रवर्ती—उज्ज्वलनीलमणि की आनन्दचन्द्रिका टीका के ले. जिसे उन्होंने शक १६१८ (१६९४ ई.) में पूरा किया ।

विश्वनाथ—साहित्यसुधासिन्धु के ले.; १७ वीं शता. ।

विश्वेश्वर पण्डित—लक्ष्मीधर के पुत्र; अलङ्कारकुलप्रदीप, अलङ्कारकौस्तुभ, अलङ्कारमुक्तावली, कवीन्द्रकर्णाभरण, काव्यतिलक, रसचन्द्रिका तथा रसचन्द्रिका की व्यंग्यार्थकौमुदी टीका के ले.; रसचन्द्रिका में उनकी एक दूसरी पुस्तक शृङ्गारमञ्जरी का उल्लेख है; समय १८वीं शता. ।

विश्वेश्वर—उपनाम गागाभट्ट—रामकृष्ण के पौत्र और दिनकर के पुत्र; चन्द्रालोक की एकागम टीका के ले.; जीवनकाल १६२०-१६८५ ई. ।

विषमपदी—रसगङ्गाधर की टीका ।

विषमपदी—शिवरामत्रिपाठी-विरचित काव्यप्र. की टीका ।

विष्णुदास—महादेव के पुत्र; कविकौतुक और शिशुप्रबोधकाव्यालङ्कार के ले. ।

विस्तारिका—परमानन्दचक्रवर्ती विरचित काव्यप्र. की टीका ।

वीरतरङ्गिणी—ले. चक्रधर; विषय : गाम्भीर्यादिगुण, रीति और दोष; मिथिला पाण्डु. सूची, भाग २, पृष्ठ ६५, क्रमसंख्या ४६ ।

वीरनारायण—साहित्यचिन्तामणि के ले. ।

वीरेश्वर—रसरत्नावलि के ले. ।

वृत्तदीपिका—ले. कृष्ण अथवा जयकृष्णमौनी ।

वृन्दावनचन्द्र तर्कालङ्कार—अलङ्कारकौस्तुभ की दीधितिप्रकाशिका टीका के ले. ।

वेङ्कटनृसिंहकवि—लक्ष्मणमालिका की अलङ्कारेन्दुशेखर टीका के ले. ।

वेङ्कटसूरि—साहित्यरत्नाकर की नौका टीका के ले. ।

वेङ्कटाचार्य—श्रीशैलवंश के अण्णाचार्य के पुत्र; अलङ्कारकौस्तुभ के ले. ।

वेङ्कटाचलसूरि—काव्यप्र. के टीकाकार ।

वेङ्कटय्यप्रधान—अलङ्कारमणिदर्पण के ले. ।

वेङ्गलसूरि—चन्द्रालोक पर बुधरञ्जनी टीका के ले. ।

वेचाराम—कविकल्पलता के टीकाकार ।

वेणीदत्तशर्मन्—अलङ्कारचन्द्रोदय तथा रसतरङ्गिणी की रसिकरञ्जनी टीका के ले.; समय—लगभग १५८३ ई. ।

वैद्यनाथतत्सत्—विठ्ठल के पौत्र और रामचन्द्र के पुत्र; गोविन्दठक्कुर-विरचित काव्यप्रकाशदीप की प्रभा टीका तथा उदाहरणचन्द्रिका के ले. जिसमें काव्यप्र. में आये उदाहरणों की व्याख्या है; प्रभा के काव्यमाला सीरीज़ संस्करण में स्पष्टतः वैद्यनाथतत्सत् को उसका ले. बताया गया है; उदाहरणचन्द्रिका के लिये देखो पैटर्सन रिपोर्ट भाग २, पृष्ठ १०८, कलकत्ता संस्कृत कालेज पाण्डु. सूची भाग ५४, अलवर पाण्डु. क्रमसंख्या, तथा इन्डिया ऑफिस पाण्डु. क्रमसंख्या ११५१। इन सब में वैद्यनाथतत्सत् को ही उदाहरणचन्द्रिका का ले. बताया गया है; उदाहरणचन्द्रिका का रचनाकाल संवत् १७४० अर्थात् १६८३-८४ ई. (इन्डिया ऑफिस पाण्डु. भाग ३, क्रमसंख्या ११५१, पृष्ठ ३२२ पर यही तिथि दी गई है)।

वैद्यनाथ पायगुण्ड—चन्द्रालोक की रमा तथा कुवलयानन्द की अलङ्कारचन्द्रिका टीकाओं के ले.; रमा के गुजराती प्रेस संस्करण में उनके कुल का कोई उल्लेख नहीं है ; किन्तु अलङ्कारचन्द्रिका के जीवानन्द द्वारा सम्पादित संस्करण में उन्हें रामभट्ट का पुत्र बताया है; मेरा विश्वास है कि दोनों वैद्यनाथ अलग-अलग व्यक्ति हैं, यद्यपि कई पाण्डु. में उनमें भेद नहीं किया गया है; आफ्रेट (भाग २, पृष्ठ १४६) ने तो वैद्यनाथ पायगुण्ड को भी तत्सत्कुलीन बताया है; वास्तव में पायगुण्ड महाराष्ट्र की एक प्रसिद्ध जाति का नाम है; पैटर्सन रिपोर्ट भाग २, पृष्ठ १०८ तथा कलकत्ता संस्कृत कालेज पाण्डु. सूची भाग ७, पृष्ठ ५४।

वैमल्यविधायिनी—जगन्नाथ के पुत्र मल्लिनाथ विरचित काव्यादर्श की टीका।

वोपदेव—नृसिंह के पुत्र गोपाल का दूसरा नाम; रसमञ्जरी की विलास अथवा विकास टीका के ले.; टीका का रचनाकाल १५७२ ई.।

वैमल्यविधायिनी—जगन्नाथ के पुत्र मल्लिनाथ-विरचित काव्यादर्श की टीका।

वोपदेव—नृसिंह के पुत्र गोपाल का दूसरा नाम; रसमञ्जरी की विलास अथवा विकास टीका के ले.; टीका का रचनाकाल १५७२ ई.।

व्यक्तिविवेक—ले. महिमभट्ट; ऊपर देखो पृष्ठ २४८-२५६; १०२०-११०० ई. टीका व्याख्या अथवा विचार, अलङ्कारसर्वस्व के ले. द्वारा; त्रि. सं. सी. द्वारा मुद्रित।

व्यंग्यार्थकौमुदी—त्र्यम्बकपण्डित के पुत्र अनन्तपण्डित-विरचित रसमञ्जरी की टीका; रचनाकाल १६३५ ई.।

व्यंग्यार्थकौमुदी अथवा समञ्जसा—लक्ष्मीधर के पुत्र विश्वेश्वर-विरचित रसमञ्जरी की टीका; देखो राजेन्द्र. नोटिस, भाग ९, पृष्ठ १२२।

व्यंग्यार्थदीपिका—त्र्यम्बक के पुत्र आनन्दशर्मन्-विरचित रसमञ्जरी की टीका।

व्यास—भावप्रकाशन में रस और नाट्यशास्त्र के एक ले. के रूप उल्लिखित (पृष्ठ ५५, ६९, २५१)।

व्रजराजदीक्षित—रसमञ्जरी पर रसिकरञ्जन टीका के ले.।

शकलीगर्भ—अभिनवगुप्त द्वारा उल्लिखित, ऊपर देखो पृष्ठ ४९; जीवनकाल ८००-८४० ई.।

शङ्कुक—नाट्यशास्त्र में रससूत्र के व्याख्याता के रूप में अभिनवगुप्त द्वारा उल्लिखित, ऊपर देखो पृष्ठ ५०-५१।

शङ्खधर—कविकर्पटिका के ले.; कान्यकुब्ज के राजा गोविन्द के दरबारी कवि (१११३-११४३) ई.); काथवाटे की रिपोर्ट (१८९१-९५) क्रम-संख्या ४६७ (पृष्ठ १५ और १२४) पर इसी नाम को शङ्कुचर लिखा गया है।

शब्दभेदनिरूपण—ले. रामचन्द्र दीक्षित, दे. तञ्जौर पाण्डु., भाग ९, पृष्ठ ४०९०-९१।

शब्दभेदनिरूपण—ले. तञ्जौर के राजा शाहिन्द्र के आश्रित; वेङ्कटकृष्ण, देखो तञ्जौर पाण्डु., भाग ९, पृष्ठ ४०९१-९२ (१६८४-१७१० ई.)।

शब्दरूपनिरूपण—ले. नारायण, देखो शाहमहाराज पर तञ्जौर पाण्डु भाग ९, पृष्ठ ४०९२।

शब्दव्यापारविचार—ले. मम्मट, ऊपर देखो पृष्ठ २७४; निर्ण. द्वारा मुद्रित।

शब्दार्थचिन्तामणि—ले. चिन्दम्वरकवि।

शब्दालंकारमञ्जरी—

शम्भुनाथ—अलङ्कारलक्षण के ले.।

शरच्चन्द्रिका—ले. सुब्रह्मण्यशास्त्री।

शरदागम—चन्द्रालोक की प्रद्योतनभट्टाचार्य-विरचित टीका; ऊपर देखो पृष्ठ २९२; रचनाकाल १५८० ई.; काशी संस्कृत सीरीज में मुद्रित।

शशधर—किरणावली के ले.।

शाण्डिल्य—रसार्णवसुधाकर में नाट्यशास्त्र के एक ले. के रूप में उल्लिखित।

शातकर्णि—ना. ल. र. को. द्वारा नाट्यशास्त्र के ले. के रूप में उद्धृत (सूत्र-धार-विषयक पंक्ति ११०१)।

शारदशर्वरी—ले. चन्द्रालोक की विरूपाक्ष-विरचित टीका।

शारदातनय—भावप्रकाशन के ले.; समय—११७५-१२४० ई.; गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज में मुद्रित।

शार्ङ्गराजीय—ले. लक्ष्मणकवि।

शिङ्गभूपाल---रसार्णवसुधाकर नाटक परिभाषा के ले.; समय १३३० ई. के लगभग।

शिलालिन्---ले. पाणिनि के अनुसार नटसूत्र के ले.; ऊपर देखो पृष्ठ ३३५।

शिवचन्द्र---ले. विदग्धमुखमण्डन के टीकाकार।

शिवनारायणदास---दुर्गादास के पुत्र तथा काव्यप्र. के टीकाकार।

शिवरामत्रिपाठी---त्रिलोकचन्द्र के पौत्र तथा कृष्णराम के पुत्र; अलंकाररसमुद्गुरु, रसरत्नहार, लक्ष्मीविहार और विषमपदी (काव्यप्र. की टीका) के लेखक; जीवनकाल १८वीं शता. के आरम्भ में; उलवर पाण्डु. के उद्धरण सं. २३६ में कहा गया है कि उन्होंने ३० से अधिक ग्रन्थ लिखे।

शितिकण्ठविबोधन अथवा निदर्शन---राजानकानन्दविरचित काव्यप्र. की टीका; रचनाकाल १६६५ ई.।

शिवनारायणदास---काव्यप्र. के टीकाकार; जीवनकाल १७वीं शता. का आरम्भ।

शिशुप्रबोधालङ्कार---ले. माधव के पुत्र विष्णुदास; देखो आफ्रेट., भाग २, पृष्ठ १५६-बी, जहाँ कहा गया है कि फ्लोरण्टीन पाण्डु. में इसके केवल अध्याय ६ और ७ हैं।

शिशुप्रबोधालङ्कार---ले. जीवनेन्द्र के पुत्र परिमल।

शुभविजयगणि---काव्यकल्पलता की परिमल-विरचित टीका।

शृङ्गारकौस्तुभ---

शृङ्गारचन्द्रोदय---प्रस्तावचिन्तामणि में उद्धृत।

शृङ्गारतटिनी---ले. चिरञ्जीवभट्टाचार्य, समय-१८वीं शता. का पूर्वार्ध।

शृङ्गारतरङ्गिणी---ले. श्रीनिवासाचार्य।

शृङ्गारतिलक---ले. रुद्रभट्ट; ऊपर देखो पृष्ठ १५६-१६०; रुद्रभट्ट का जीवनकाल ९५० ई. और १११० ई. के बीच टीका रसतरङ्गिणी---ले. हरिवंशभट्टके पुत्र गोपालभट्ट।

शृङ्गारदर्पण---ले. पद्मसुन्दर; ऊपर देखो अकबरसाहिशृङ्गारदर्पण।

शृङ्गारदीपिका---ले. भानुदत्त, यह निश्चित नहीं है कि रसमञ्जरी का ले. और प्रस्तुत भानुदत्त एक ही हैं।

शृङ्गारदीपिका---ले. पेद्दकोमटि के पुत्र वेम; देखो ईस्ट इण्डिया, भाग ११, पृष्ठ ३१५।

शृङ्गारपवन---

शृङ्गारप्रकाश---ले. भोज, ऊपर देखो पृष्ठ २५९-६० भोज का शासनकाल १००५-१०५४ ई.।

शृङ्गारभेदप्रदीप—विप्रलम्भ पर हरिहर-विरचित १० अवस्थाएँ; रसचन्द्रिका में उद्धृत, पृष्ठ ५५।

शृङ्गारमञ्जरी—ले. विश्वेश्वर जिसे उन्होंने अपनी ही एक और पुस्तक रस-चन्द्रिका में उद्धृत किया है।

शृङ्गारमञ्जरी—ले. अजितसेन; ३ अध्याय और १२८ परिच्छेद; विषय : दोष, गुण, अर्थालङ्कार; समय १०वीं शता. का उत्तरार्द्ध।

शृङ्गारमञ्जरी—ले. अकबरसाहि; ऊपर देखो अकबरसाहिशृ.।

शृङ्गारमण्डन—ले. मण्डन, जो मालवराज के मंत्री थे; रचनाकाल १४००-१४४८ ई.।

शृङ्गारमाला—ले. बाबूराम के पुत्र सुखलाल; ३ विरचन; रचनाकाल सम्वत् १८०१; उलवर पाण्डु. क्रमसंख्या १०८३, उद्धरण सं. २३०।

शृङ्गाररत्नाकर—

शृङ्गाररसमण्डन अथवा शृंगारमंडन—ले. प्रसिद्ध संत वल्लभाचार्य के पुत्र विठ्ठलेश्वर, १० उल्लासों में विभाजित; ले. की जन्मतिथि १५१५ ई. देखो भांडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट सूची, १२, पृष्ठ ३५०-३५१।

शृङ्गाररसविलास—ले. देवदत्त।

शृङ्गारलता—ले. सुखदेवमिश्र।

शृङ्गारविधि—

शृङ्गाररसरसी—ले. भटकमिश्र के पुत्र भावमिश्र।

शृङ्गारसार—ले. कामेश्वर के पुत्र और गोडवर्तिकुल वेङ्कटनारायण दीक्षित; ६ उल्लासों में विभाजित। कहा जाता है कि उन्होंने ८ भाषाओं में ग्रन्थरचना की।

शृङ्गारसारावलि—ले. वेङ्कटनारायण।

शृङ्गारसारिणी—ले. चित्रधर।

शृङ्गाररसारोदधि—ले. सुधाकर पौण्डरीकयाजिन्।

शृङ्गारहार—ले. केशव के पुत्र बलदेव; पाण्डु. पर अंकित तिथि १८४५ ई.।

शृङ्गारादिरस—अपूर्ण; राजेन्द्र. नोटिस, भाग २, क्रमसंख्या ६०६ में मुद्रित।

शृङ्गारामृतलहरी—ले. नरहरिबिन्दुपुरन्दर के पुत्र सामराजदीक्षित; काव्य-माला गुच्छ १४ में मुद्रित; उन्होंने रस, सात्त्विक भाव आदि का निरूपण करते हुए तै. उ. (२.७) के 'रसो वै सः' वाक्य को उद्धृत किया है, (देखो सूची से पहले अंतिम पैरा) १६८१ ई. में श्रीरामचरित नामक नाटक लिखा। वे रतिकल्लोलिनी के कर्त्ता सामराज (१७१९ ई.) से

भिन्न प्रतीत होते हैं। इन्होंने अपनी पैतृक परंपरा का उल्लेख नहीं किया। देखो भांडारकर सूची, भाग १०, पृष्ठ १५८-१५९ (प्रो. ग्रोड)।

शृङ्गारार्णवचन्द्रिका—ले. विजयवर्णिन्।

शेष—काव्यमीमांसा में उल्लिखित।

शेषचिन्तामणि—भानुदत्त-विरचित रसमञ्जरी की परिमल टीका के रचयिता; राजेन्द्र. नोटिस, भाग ९, क्रमसंख्या ३११५ में जो तिथि सम्वत् १६०९ अर्थात् १५५२-३ ई. दी गई है, वह सम्भवतः इसकी रचना तिथि है।

शोभाकरमित्र—अलङ्काररत्नाकर के ले. ऊपर देखो।

शौद्धोदनि—केशवमिश्र-विरचित अलङ्कारशेखर में दिये गये अलङ्कारसूत्र के ले.।

श्यामदेव—काव्यमीमांसा पृष्ठ ११, १३, १७ पर उल्लिखित।

श्यामराज—सामराज के समान।

श्रवणभूषण—ले. नरहरिभट्ट।

श्रीकण्ठ—रसकौमुदी के ले.; पाण्डु. की प्रतिलिपि संवत् १६५२ में हुई।

श्रीकरमिश्र—अलङ्कारतिलक के ले.।

श्रीकृष्णशर्मा—काव्यप्र. पर रसप्रकाश टीका के रचयिता।

श्रीधरसान्धिविग्रहिक—काव्यप्र. पर विवेक टीका के रचयिता।

श्रीनिवासदीक्षित—अलङ्कारकौस्तुभ, काव्यदर्पण, काव्यसारसंग्रह तथा साहित्य-सूक्ष्मसरणि के ले.; ऊपर देखो; वे सम्भवतः राजचूड़ामणि दीक्षित के पिता थे।

श्रीपाद—केशवमिश्र के अलङ्कारशेखर में उल्लिखित।

श्रीवत्सलाञ्छन अथवा श्रीवत्सवर्मा—रसगङ्गाधर में उल्लिखित काव्यप्र. की सारबोधिनी टीका के ले.; इसके अतिरिक्त काव्यपरीक्षा और काव्यामृत के ले.।

श्रीवत्साङ्कमिश्र—यमकरत्नाकर के ले. जीवनकाल १०वीं शता.।

श्रीविद्याचक्रवर्ती—देखो विद्याचक्रवर्ती।

श्रीहर्ष अथवा हर्ष—भरत के नाट्यशास्त्र पर वार्तिक के ले.; ऊपर देखो पृष्ठ ५९-६०।

श्रुतानुपालिनी—ले. काव्यादर्श के टीकाकार वादिजङ्घल; ऊपर देखो पृष्ठ १२५।

श्रुतिरञ्जिनी—ले. नारायणपण्डित।

श्लोकदीपिका अथवा उदाहरणदीपिका—काव्यप्र. की टीका; ले. गोविन्दठक्कुर।

श्लोकदीपिका—काव्यप्र. की टीका; ले. जनार्दन व्यास।

श्वेतारण्यनारायण—औचित्यविचारचर्चा की सहृदयतोषिणी टीका के ले.।

षट्पदानन्द (विषमपदव्याख्यान)—कुवलयानन्द की टीका, ले. नागेशभट्ट; ऊपर देखो षट्सहस्रीकृत अर्थात् भरत-विरचित नाट्यशास्त्र; देखो धनिक की दशरूप पर वृत्ति, ४.२ ।

सङ्केत—काव्यप्र. पर माणिक्यचन्द्र की टीका, देखो पृ. २७४ ।

सङ्केत—काव्यप्र. पर माणिक्यचन्द्र की टीका, देखो पृ. २७४ ।

सङ्केत—काव्यप्र. पर रुय्यक की टीका; देखो पृ. २७९ ।

सङ्गीतदामोदर—ले. श्रीधर कविचक्रवर्ती के पुत्र शुभङ्कर; रचनाकाल १५वीं शता.; प्रिन्सिपल गौरीनाथशास्त्री तथा गोविंदगोपाल मुखोपाध्याय द्वारा सम्पादित और कलकत्ता संस्कृत कालेज रिसर्च सीरीज में ७ स्तवकों में प्रकाशित १९६०; प्रस्तावना-पृष्ठ १३-४०, मूलपाठ-पृष्ठ १-१२४, स्रोत व संदर्भ-पृष्ठ १२५-१३६; विषय : भाव, हाव, अनुभाव, नायिका, नायक, नाट्यशास्त्र, रस, सङ्गीत आदि ।

सङ्गीतरत्नाकर—ले. निःशङ्क शार्ङ्गदेव यादव सिङ्घण के आश्रित (१२१०-१२४७ ई.) आनन्द. द्वारा मुद्रित ।

टीकायें—

१. कलानिधि—ले. विजयनगर–निवासी चतुरकल्लिनाथ; रचनाकाल १६०८ ई. से पूर्व; आनन्द. द्वारा मुद्रित ।

२. सुधाकर—ले. सिंहभूपाल, आडयार लाइब्रेरी द्वारा आंशिक रूप में मुद्रित; रचनाकाल १३३० ई. ।

सञ्जीवनी अथवा सर्वस्वसञ्जीवनी—विद्याचक्रवर्ती-विरचित अलंकार सर्वस्व की टीका; रचनाकाल १४ शता. से पूर्व ।

सदलङ्कारचन्द्रिका—

सदाशिवदीक्षित—वालरामवर्म यशोभूषण के ले.; ऊपर देखो ।

समयसुन्दर—वाग्भटालङ्कार के टीकाकार, ऊपर देखो ।

समयसुन्दरगणि—अष्टलक्षार्थी अर्थात् अर्थरत्नावली के ले.; अष्टल. का रचनाकाल सम्वत् १६४६ (१५८९-९० ई.), लाहौर में; देखो काथवाटे की रिपोर्ट (१८९१-९५), क्रमसंख्या १३५३ ।

समुद्रबन्ध—अलंकारसर्वस्व के टीकाकार; जीवनकाल १३०० ई. । त्रिवेंद्रम संस्कृत सीरीज द्वारा मुद्रित ।

संप्रदायप्रकाशिनी (बृहती टीका)—विद्याचक्रवर्ती-विरचित काव्यप्र. की टीका, ऊपर देखो ।

समञ्जसा अथवा व्यंग्यार्थकौमुदी—ले. भानुदत्त-विरचित रसमञ्जरी के टीकाकार विश्वेश्वर ।

समासान्वयटिप्पण--क्षेमहंसगणि-विरचित वाग्भटालङ्कार की टीका।
सरसामोद—ले. अच्युतरायमोडक-विरचित साहित्यसार की टीका।
सरस्वतीकण्ठाभरण--ले. भोज, ऊपर देखो पृष्ठ २५७-२६४।

टीकायें—

१. आजड-विरचित टीका।
२. रत्नदर्पण--ले. रत्नेश्वर; रचनाकाल १४वीं ई., ऊपर देखो पृष्ठ २६३; (काव्यमाला सीरीज में ३ परिच्छेदों में मुद्रित)।
३. जगद्धर-विरचित टीका।
४. भट्टनृसिंह-विरचित टीका; देखो भोज के शृङ्गारप्रकाश पर डॉ. राघवन, भाग १; पृष्ठ ४१८ से आगे विशेषतःपृष्ठ ४३२-४३४।
५. मार्जन—ले. हरिनाथ।
६. दुष्करचित्रप्रकाशिका—ले. लक्ष्मीनाथभट्ट; रचनाकाल १७वीं शता. के पूर्वार्द्ध में।
७. हरिकृष्णव्यास-विरचित टीका।

सरस्वतीतीर्थ—काव्यप्र. पर वालचित्तानुरञ्जनी टीकाकार सर्वेश्वराचार्य द्वारा साहित्यसार में निर्दिष्ट।
सहदेव--वामनरचित काव्यालङ्कारसूत्र के टीकाकार।
सहस्राक्ष—काव्यमी. पृष्ठ १ पर निर्दिष्ट। देखो।
सहृदयलीला-- ले. रुय्यक--काव्यमाला सीरीज तथा पिशल द्वारा प्रकाशित; समय ११२५-११५० ई.।
सहृदयालोक—ध्वन्यालोक के समान।
सागरनन्दी द्वारा नाटक लक्षण रत्नकोश में निर्दिष्ट।
सामराज दीक्षित—रतिकिल्लोलिनी के ले.; देखो एनल्स ऑफ भण्डार. भाग १०, पृष्ठ १५८-१५९।
सामराजदीक्षित—शृङ्गारामृतलहरी के ले., ऊपर देखो।
सायण--अलङ्कारसुधानिधि के ले.
सारबोधिनी—उपर देखो वत्सलाञ्छनरचित काव्यप्र. की टीका।
सारसमुच्चय—रत्नकण्ठ रचित काव्यप्र. की टीका; ऊपर देखो।
साहितीसार—ले. वेङ्कटराम के पुत्र सीताराम।
साहित्यकण्टकोद्धार—ले. का नाम नहीं दिया; नारायण के पुत्र द्वारा विरचित, देखो ट्रिनियल सूची, भाग ६, उपविभाग १, क्रमसंख्या ५०६८, पृष्ठ ६९३५।

साहित्यकलिका—ले. शंकरमिश्र; देखो मिथिला पाण्डु. सूची, भाग २, पृ. ७१; क्रमसंख्या ५३।

साहित्यकल्पद्रुम—रचना-संबंधी टिप्पणियों का कोष; बीकानेर पाण्डु. में बी. मित्रा; पृष्ठ २८७; क्रमसंख्या ६१६।

साहित्यकल्पवल्ली—ले. भास्कराचार्य, वरदगुरु के वंशज; काव्यप्र. तथा रसार्णव-सुधाकर पर आधारित; भाष्यकार का अर्थ रामानुज से है।

साहित्यकुतूहल—ले. रघुनाथ; विषय : चित्रकाव्य; तंजौर की रानी दीपाबाई के आश्रित; समय १६७५-१७१२ ई. के बीच; बम्बई विश्वविद्यालय का बी. जर्नल भाग १०; पृष्ठ १३२।

साहित्यकौतूहल—ले. यशस्विकविपुत्र गोपाल; छंदों में।

टीका—उज्ज्वलपदा ले. यशस्विकवि; पाण्डु. १७३० ई. में।

साहित्यकौमुदी—ले. विद्याभूषण; काव्यप्र. में आनेवाली कारिकाओं की टीका; के. एम. सीरीज में प्रकाशित।

टीका—कृष्णनन्दिनी—ले. विद्याभूषण।

साहित्यचन्द्र—काव्यप्र. में आने वाली कारिकाओं की टीका, जिन्हें यहाँ भरत-विरचित कहा गया है; बी. उलवर सूची, उद्धरण-क्रमसंख्या १०४६।

साहित्यचन्द्रिका—

साहित्यचन्द्रोदय—लक्षणदीपिका में निर्दिष्ट मद्रास पाण्डु. भाग २२, पृष्ठ ८६९५।

साहित्यचिन्तामणि—ले. वीरनारायण; ७ परिच्छेद : ध्वनि, शब्दार्थ, ध्वनि-भेद; गुणीभूतव्यंग्य, दोष, गुण, अलङ्कार। देखो मद्रास पाण्डु. सूची भाग २२, क्रमसंख्या १२९६५, पृष्ठ ८७०८-१०; रचनाकाल १४ शता. का अन्तिम भाग; तंजौर पाण्डु. भाग ९, क्रम-संख्या ५३०९, पृष्ठ ४१००, इसके १३ परिच्छेद बताये गये हैं।

साहित्यचूड़ामणि—ले. भट्टगोपाल।

पुस्तक में ले. ने प्रदीपकृत साहित्यदर्पणश्रीपाद का उल्लेख किया है; रचनाकाल सम्वत् १६४०, जब ले. १९ वर्ष के थे।

साहित्यदर्पण—ले. विश्वनाथ कविराज; देखो ऊपर पृष्ठ २९६-३०४; रचनाकाल १३००-१३८० ई.; निर्णय. द्वारा प्रकाशित।

टीकायें—

लोचन—ले. विश्वनाथ के पुत्र अनन्तदास; देखो ऊपर पृ. ३०४ मुद्रित।

प्रभा—ले. गोपीनाथ।

मथुरानाथशुक्ल की टीका।

रामचरण की टीका—रचनाकाल १७०० ई.; निर्णय. द्वारा मुद्रित ।

विज्ञानप्रिया—ले. महेश्वरभट्ट; मुद्रित; देखो ऊपर पृष्ठ ३०४ ।

साहित्यदीपिका—काव्यप्र. की भास्करमिश्र विरचित टीका; दूसरा नाम काव्यालङ्काररहस्य निबन्ध; पृष्ठ २५, २०४, ३०८, ३२९ पर प्रदीप द्वारा उद्धृत; रचनाकाल १५०० ई. से पूर्व ।

साहित्यबोध—ले. सीताराम ।

साहित्यमञ्जूषा—रत्नागिरि जिले में स्थित सङ्गमेश्वर के निवासी बल्लाल के पुत्र दाजी द्वारा रचित; श्लोक-संख्या ४५५; रचना-काल १८२५ ई. ।

टीका कुञ्जिका—ले. वाजीपंत के पुत्र देखो ब. ब. रा. ए. सो., पृष्ठ ५२ ।

साहित्यमीमांसा—ले. रुय्यक, ऊपर देखो पृष्ठ २८०-२८२; रचनाकाल ११२५-११५० ई.; त्रिवेंद्रम संस्कृत सीरीज में मुद्रित ।

साहित्यमुक्तावली—

साहित्यरत्नाकर—ले. पर्वतनाथ के पुत्र धर्मसूरि; १० तरंगों में विभाजित; रचनाकाल लगभग १६वीं ई.; देखोब. ब. रा. ए. सो., पृष्ठ ५२; न्यू इं. एं., भाग २, पृष्ठ ४२८-४४१ ।

टीकायें—

मन्दर—ले. मल्लादिलक्ष्मणसूरि ।

नौका—ले. लक्ष्मणसूरि के पुत्र वेङ्कटसूरि ।

साहित्यविलास—ले. चतुर्भुज; देखो मिथिला पाण्डु. सूची-भाग २, पृष्ठ ८१ ।

साहित्यसंग्रह—ले. शम्भुदास, ऊपर देखो ।

साहित्यसर्वस्व—वामनविरचित काव्यप्र. की टीका, टीकाकार महेश्वर अथवा महेश्वर सुबुद्धिमिश्र; देखो आफ्रेट की बोडलीन पाण्डु. सूची क्रमसंख्या ४८८, पृष्ठ २०७; रचनाकाल १८६४ ई. ।

साहित्यसाम्राज्य—कृष्णदीक्षित-विरचित रघुनाथभूपालीय की टीका; ले. सुमतीन्द्रयति ।

साहित्यसार—ले. अच्युतरायमोडक ऊपर देखो; १२ रत्नों में विभाजित; श्लोक-संख्या १३१३; शक् सम्वत् १७५३ (१८३१ ई.) में पूर्ण हुई ।

टीका सरसामोद—ले. अच्युतरायमोडक; पुस्तक और टीका निर्णय. द्वारा मुद्रित ।

साहित्यसार—ले. मानसिंह ।

साहित्यसार—ले. सर्वेश्वराचार्य; ६ प्रकाशों में विभाजित; जर्नल ऑफ ट्रावनकोर यूनिवर्सिटी, भाग २, क्रमसंख्या २; पृष्ठ १-१६ पर मुद्रित ।

साहित्यसुधा अथवा काव्यसुधा—ले. रसतरङ्गिणी के टीकाकार नेमिसाह।

साहित्यसुधासिन्धु—ले. त्रिमल्लदेव के पुत्र विश्वनाथ; ८ तरंगों में विभाजित; ले. मूलतः गोदावरी पर स्थित धारासुर के निवासी, बाद में बनारस में निवास; रचनाकाल सम्वत् १६४९ बनारस में; देखो उलवर पाण्डु सूची-उद्धरण २३५।

साहित्यसूक्ष्मसरणि—ले. श्रीनिवासदीक्षित।

साहित्याब्धि—ले. वेणीदत्त; देखो तञ्जौर पाण्डु-सूची भाग ९, पृष्ठ ४१०३।

सिंहदेवगणि—वाग्भटालङ्कार के टीकाकार, काव्यमाला सीरीज में मुद्रित।

सिंहभूपाल अथवा शिंगभूपाल—रसार्णसुवधाकर; ऊपर देखो।

सीताराम—वेङ्कटराम के पुत्र; साहितीसार के ले.।

सुखदेवमिश्र—शृङ्गारलता के ले.।

सुखलाल—अलङ्कारमञ्जरी के ले.; गङ्गेशमिश्र और हरिप्रसाद के शिष्य; जीवनकाल लगभग १७४० ई.।

सुधा—ले. रामवल के पुत्र धरानन्द; अप्पय्यदीक्षित-विरचित चित्रमीमांसा के टीकाकार।

सुधा अथवा राकागम—ले. गागाभट्ट अथवा विश्वेश्वरभट्ट; चन्द्रालोक के टीकाकार; रचनाकाल १७वीं शता. का उत्तरार्द्ध।

सुधाकर—शृङ्गारसारोदधि के ले. देखो सन् १८९१-१८९५ की काठवाटे की रिपोर्ट, क्रमसंख्या ७१०, पृष्ठ ४६।

सुधासागर अथवा सुधोदधि—भीमसेन-विरचित काव्यप्र. की टीका; रचना-काल १७२३ ई.।

सुधीन्द्रयति अथवा योगिन्—अलङ्कारनिकष अथवा अलङ्कारमञ्जरी तथा मधुधारा के ले.; ऊपर देखो।

सुन्दरमिश्र—१६१३ ई. में लिखी नाट्यप्रदीप के ले.।

सुबन्धु—भावप्रकाशन के एक ले. के रूप में उल्लिखित; पृष्ठ २३८ (सुबन्धुर्नाटकस्यापि लक्षणं प्राह पञ्चधा)।

सुबुद्धिमिश्र—वामन-विरचित काव्यालङ्कारसूत्र पर साहित्यसर्वस्व के ले.; नरसिंहठक्कुर, रत्नकण्ठ तथा भीमसेन द्वारा काव्यप्र. के टीकाकार के रूप में उल्लिखित; देखो पैटर्सन की दूसरी रिपोर्ट का पृष्ठ १७, जहाँ सुबुद्धिमिश्र की टीका और तत्त्वपरीक्षा दोनों का उल्लेख है।

सुबोधिनी—काव्यप्र. की वेङ्कटाचलसूरिविरचित टीका।

सुवोधिनी—त्रिलोचन-विरचित विदग्धमुखमण्डन की टीका; देखो स्टीन की पाण्डुलिपि., पृष्ठ २७४।

सुब्रह्मण्यशास्त्री—शरच्चन्द्रिका के ले.।

सुमतीन्द्रयति—सुरीन्द्रपूज्यपादं के शिष्य और साहित्यसाम्राज्य के टीकाकार।

सुमनस्—गेयाधिकार में अभिनवभारती द्वारा उद्धृत, देखो पृष्ठ ४३४, भांडारकर की प्रतिलिपि।

सुमनमनोहरा—काव्यप्र. की गोपीनाथविरचित टीका।

सुरानन्द—काव्यमीमांसा में उल्लिखित, पृष्ठ ७५।

सूर्यकवि—कविकल्पलता की वालवोधिका टीका के रचयिता।

सेतु अथवा सेतुप्रवन्ध—रसतरङ्गिणी पर व्रजराजदीक्षित के पुत्र जीवराज द्वारा लिखी टीका; नौका नामक टीका का द्वेषपूर्ण खंडन किया है (भूमिका-श्लोक ९); उलवर पाण्डुलिपि, उद्धरण २२६।

सोमनार्य—नाट्यचूड़ामणि के ले.; पुस्तक की टीका तेलुगु में है।

सोमेश्वर—भरद्वाज-गोत्र के भट्टदेवक के पुत्र; काव्यप्र. पर काव्यादर्श अथवा काव्यप्रकाशसङ्केत टीका के रचयिता।

सौभाग्यक्रमदीपिका—९ रसों के सम्वन्ध में।

स्वात्मारामयोगीन्द्र—विदग्धमुखमण्डन के टीकाकार।

हरि—रुद्रट-विरचित काव्यालङ्कार के सम्वन्ध में नेमिसाधु द्वारा प्राकृत में काव्य-शास्त्र के एक लेखक के रूप में उल्लिखित।

हरिकृष्णव्यास—सरस्वतीकण्ठाभरण के टीकाकार।

हरिश्चन्द्र—ताराचरणविरचित शृङ्गाररत्नाकर में उल्लिखित।

हरिदास—पुरुषोत्तम के पुत्र; प्रस्तावरत्नाकर (रचनाकाल १५५७ ई.) के ले.; देखो आफ्रेट की कलकत्ता पाण्डुलिपि सूची, भाग १, पृष्ठ ३६०।

हरिनाथ—काव्यादर्श पर मार्जन टीका तथा सरस्वतीकंठाभरण पर मार्जन टीका के रचयिता।

हरिप्रसाद—माथुरमिश्रगङ्गेश के पुत्र; काव्यार्थगुम्फ तथा काव्यालोक के ले.; रचनाकाल १७१८-१७२८ ई.।

हरिलोचनचन्द्रिका—ऊपर देखो रमा।

हरिहर—शृङ्गारभेदप्रदीप के ले., ऊपर देखो एकावली, पृष्ठ २४२ पर दीपक पर हरिहर का एक श्लोक दिया गया है।

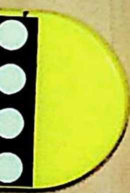
हर्ष अथवा श्रीहर्ष—नाट्यशास्त्र पर वार्तिक के ले.; ऊपर देखो पृ. ५९-६०; सागरनन्दी ने हर्षविक्रमनराधिप का उल्लेख किया है और भावप्रकाशन,

पृ. २३८ पर हर्ष का नाट्यशास्त्र के एक ले. के रूप में उल्लेख किया गया है।

हलधररथ—काव्यतत्त्वविचार के लेखक।

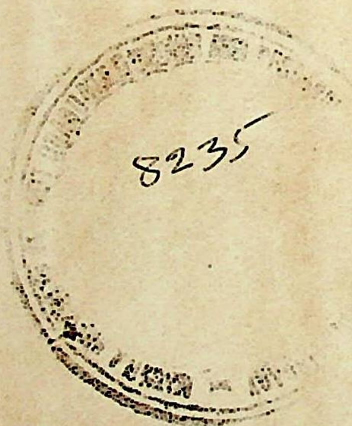
हृदयदर्पण—ले. भट्टनायक; देखो ऊपर पृ. २२१-२२५; जीवन-काल ९००-१००० ई. के मध्य।

हेमचन्द्र—काव्यानुशासनवृत्ति, अलङ्कारचूड़ामणि तथा विवेकटीका के रचयिता; देखो पृष्ठ २८७-२९०; जीवनकाल १०८८-११७२ ई.।



कैर




8235

